भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

(INDIAN POLITICAL SYSTEM)

•

डॉ. एम. पी. राय
एम. ए., पी-एच. डी.
एवं
शशी के. जैन
बी. ए. आनर्स (राजनीति)

कॉलेज बुक डिपो
प्रकाशक एवं सप्लायर्स
त्रिपोलिया बाजार (आतिश गेट के पास)
जयपुर–2 (राजस्थान)

TOPICS FOR STUDY

1 Landmarks in India's National Movement, 1885-1947. The Liberal, the Extremist and the Gandhian Period of National Movement.

2 Outline study of Government of Indian Acts of 1909, 1919 and 1935. The Constituent Assembly—Its structure and approach

3 Outline study of Indian Constitution—Federalism : The Indian Presidency, Office of Prime Minister, Parliament and the Supreme Court Amendments and Amending Process

4 The nature and determinants of Indian Politics. State Politics in India. Office of the Governor and its working.

5 The Party System and Pressure Groups Elections India's Foreign Policy

Published by College Book Depot, Tripolia Bazar, Jaipur-2

Printed at S L. Printers, Jaipur

प्रकाशकीय

जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभा चुनाव-परिणामों एवं राजनीतिक गिरगिटों के रंग बदलने की घटनाओं को अपने पृष्ठों में समेटे हुए *'भारतीय राजनीतिक व्यवस्था' का यह नवीन संस्करण* पाठक-जगत के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष हर्ष है। भारतीय संविधान और लोकतन्त्र का अध्ययन विश्व के सभी देशों के लिए आकर्षण का विषय है। 1977 और 1980 के चुनाव, भारतीय लोकतन्त्र की सुदृढ़ता और भारतीय मतदाताओं की राजनीतिक जागृति के उदाहरण है। 1977 में जिस मतदाता ने श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनकी पार्टी को आपात्कालीन ज्यादतियों के कारण, सत्ता से हटा दिया था, उसने ही 1980 मे उनको एक बार फिर सत्ता सौंप दी है क्योंकि वह जनता पार्टी और लोकदल की खिचड़ी सरकारों के आन्तरिक कलह और देश की राजनीतिक अस्थिरता से ऊब चुका था। किस प्रकार शान्तिपूर्वक लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के माध्यम से शक्ति-सम्पन्न सरकारो के तख्ते बदले जा सकते है, यह ब्रिटिश और अमेरिकी लोकतन्त्र के लिए भी अनुकरणीय है।

भारतीय संविधान में, विश्व के श्रेष्ठ संविधानों की विशेषताएँ अपनाई गई हैं और भारतीय राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, न्यायपालिका और संसद् की शक्तियो तथा अधिकारो पर विश्व के संविधान-विशेषज्ञों ने अध्ययन किए है। 15 जुलाई, 1979 को देसाई सरकार के पतन के बाद भारत के राष्ट्रपति की जो भूमिका रही उसने देश-विदेश के संविधान-विशेषज्ञों और राजनेताओं का ध्यान आकर्षित किया और फिर जनवरी, 1980 के चुनाव-परिणामों ने इस बात की पुष्टि कर दी कि राष्ट्रपति ने भारत को राजनीतिक स्थिरता पुनः प्रदान करने के लिए संविधान की सीमाओं के भीतर रहते हुए जो कदम उठाए वे कितने विवेकपूर्ण और दूरदृष्टि वाले थे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भिक अध्याय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं देश के सांविधानिक इतिहास पर प्रकाश डालते है और भारतीय संविधान की विभिन्न विशेषताओं का विवेचन करते हैं। अगले कुछ अध्यायों मे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप, सिद्धान्त और व्यवहार में भारतीय संघवाद, मौलिक अधिकारों तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों; भारतीय राष्ट्रपति और उसके व्यावहारिक स्वरूप, *भारतीय संसद और उसकी कार्य-प्रणाली, मन्त्रि-परिषद और प्रधान मन्त्री,*

उच्चतम न्यायालय और न्यायिक पुनरावलोकन की उभरती हुई प्रवृति; राज्यपाल, मुख्य मन्त्री, राज्य-व्यवस्थापिका और राज्य-न्यायपालिका के महत्त्वपूर्ण पक्षों का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् राज्य राजनीति, दलीय व्यवस्था व दबाव समूह, निर्वाचन एव भारत की विदेश-नीति पर प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में, यह पुस्तक *भारत के सांविधानिक विकास, संविधान और राजनीतिक व्यवस्था* का विवेचन है।

पुस्तक को परीक्षोपयोगी बनाने के लिए विश्वविद्यालय के गत परीक्षाओं के प्रश्नों को पुस्तक के अन्त मे अभ्यासार्थ दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक मे, डॉ एम. पी. राय द्वारा लिखित 'भारतीय सरकार एव राजनीति' मे से पर्याप्त सामग्री ली गयी है एव नवीनतम सामग्री सहित सम्पादन किया है शशी के जैन ने। जिन स्रोतो से पुस्तक को रुचिकर एवं विश्वसनीय बनाने मे सहायता ली गई है उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं। पाठकों के रचनात्मक सुझाव आमन्त्रित है।

अनुक्रमणिका

1

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ एवं कॉंग्रेस की स्थापना

(THE BEGINNING OF NATIONAL MOVEMENT AND THE FOUNDATION OF INDIAN NATIONAL CONGRESS)

15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ और 26 जनवरी 1950 को देश एक पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य घोषित किया गया। यही वह दिन है जब हमारे देश मे हमारा अपना संविधान, हमने स्वय अपने ऊपर लागू किया। पर, यह मगल-मुहूर्त यों ही नही आ गया। इसकी कीमत स्वाधीनता सग्राम के सैनिकों ने बार-बार अपने लहू और त्याग से चुकाई। 1857 का व्यापक सिपाही विद्रोह अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध भारतीयो का प्रथम स्वाधीनता संग्राम था। विद्रोह को निर्दयता से कुचल दिया गया पर देश जाग गया था। इसके बाद समय-समय पर अंग्रेजी शासको ने शासन-व्यवस्था मे कुछ सुधार किए और शासन के कार्यों मे थोड़ा-थोड़ा भारतीयों का सहयोग लेना आरम्भ किया। किन्तु सुधारों की गति बहुत धीमी थी, अतः राष्ट्रवाद की भावना तेजी से पल्लवित होने लगी। अनेक राष्ट्रीय संगठनों का उदय हुआ और अन्त में 1885 मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीव पडी। बाद के भारतीय स्वाधीनता अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास बन गया। कांग्रेस के नेतृत्व में ही भारतीयों ने 1947 मे स्वतन्त्रता प्राप्ति तक निरन्तर संघर्ष किया। दुर्भाग्यवश इस देश की दो महान् जातियों—हिन्दू और मुसलमानो में एकता कायम नही हो सकी। विदेशी हुकूमत ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को हर सम्भव प्रोत्साहन दिया। मुस्लिम लीग ने पृथकतावादी आन्दोलन चलाया, पाकिस्तान की मांग की और अन्ततः विभाजन की कीमत पर देश को आजादी मिली।

राष्ट्रीय जागरण अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ

अथवा

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कारण

भारत में राष्ट्रीय चेतना का अभाव तो कभी नही रहा लेकिन यह अवश्य है कि पाश्चात्य सम्पर्क और ब्रिटिश राज्य के विस्तार और फलस्वरूप पाश्चात्य

शिक्षा के प्रारम्भ और विकास के कारण भारतीय राष्ट्रीय चेतना को अभूतपूर्व बल मिला, उसने एक नई दिशा प्राप्त की और अपना वह साकार स्वरूप ग्रहण किया जिसके फलस्वरूप देश आजाद होकर रहा। स्वतन्त्रता संग्राम का सूत्रपात तो 1857 की असफल क्रान्ति से ही हो चुका था, तथापि आजादी की सांविधानिक लड़ाई 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद शुरू हुई। भारत में राष्ट्रीयता के उदय का उल्लेख 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना के साथ इसलिए किया जाता है क्योंकि कांग्रेस की स्थापना के पूर्व में देश की स्वतन्त्रता का संघर्ष बिखरा हुआ और अशक्त था जबकि कांग्रेस ने स्वतन्त्रता संघर्ष को एक आन्दोलन के रूप में चलाया, इसे अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की और आजादी के संघर्ष में सदैव ही 'केन्द्र' का कार्य किया। जैसा कि आर. सी. मजूमदार ने लिखा है—"कांग्रेस ही वह धुरी थी जिसके चारों ओर स्वतन्त्रता की महान् गाथा की विविध घटनाएँ गठित हुईं।"

यह देखना उपयुक्त होगा कि भारत के राष्ट्रीय जागरण अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ होने के कारण क्या थे। भारतीय राष्ट्रवाद विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों तथा कारणों के संयोग का परिणाम था, तथापि निम्नलिखित कारणों और तत्त्वों ने विशेष भूमिका अदा की—

(1) **भारत का गौरवपूर्ण अतीत**—भारत प्राचीनकाल में धन की दृष्टि से सोने की चिड़िया कहा जाता था और ज्ञान की दृष्टि से विश्व-गुरु कहलाता था। दुर्भाग्यवश कालान्तर में भारत की अवनति होती गई। लेकिन समय-समय पर जब-जब भारत में अनेक महापुरुष पैदा हुए उन्होंने भारत को प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव की याद दिलाई तथा उनको जाग उठने का आह्वान किया। इस प्रकार भारत में सुषुप्त राष्ट्रीयता की भावना एक बार फिर जाग उठी। इस बार वह बुझी नहीं, वल्कि उसने प्रबल राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

(2) **भारत का राजनीतिक एकीकरण**—अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना से पूर्व देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। उनकी अपनी-अपनी शासन-व्यवस्था थी। अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर सारे देश में एक-सी शासन-व्यवस्था स्थापित की। उनके अधीन सारा देश एक राजनीतिक तथा प्रशासनिक सूत्र में बँध गया। यद्यपि इस प्रशासनिक एकता की स्थापना में अंग्रेजों का निजी स्वार्थ अधिक था, तथापि इससे सामान्य राष्ट्रीय एकता का विकास हुआ और अखण्ड तथा स्वतन्त्र भारत का विचार विकसित हुआ। यह विचार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव बन गया।

(3) **1857 की क्रान्ति**—इस क्रान्ति ने, जो यद्यपि विफल हो गई, प्राचीन और सामन्तवादी प्रथाओं पर आघात कर सम्पूर्ण जनता में राष्ट्रीय चेतना की लहर फैला दी। एडवर्ड थॉम्पसन के अनुसार "क्रान्ति के बाद भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति एक उत्कट घृणा की भावना छा गई थी और क्रान्ति का विचार आते ही उनमें अंग्रेजों से बदला लेने की भावना बलवती हो जाती थी।"

(4) **सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन**—19वीं शताब्दी में भारत में अनेक सामाजिक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन हुए। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन आदि ने देश में राष्ट्रीयता का विकास किया। राजा राममोहनराय ने भारतीयों को अन्धविश्वास त्यागने के लिए सचेत किया। स्वामी दयानन्द ने यह आवाज बुलन्द की कि भारत भारतवासियों के लिए है और भारत माँ को स्वतन्त्र कराना उनका धर्म है। स्वामी विवेकानन्द ने भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी भारत की महानता को सिद्ध कर दिया। इन सब आन्दोलनों के कारण भारतीयों के हृदय में देश-प्रेम की जो भावना जाग्रत हुई वह भारत को स्वतन्त्र करके रही।

(5) **पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव**—अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत में पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का प्रसार हुआ। अंग्रेजों ने सस्ते बाबू तैयार करने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी भाषा की शिक्षा दी। यद्यपि उन्होंने 'सस्ते और गोरी चमड़ी के भक्त बाबुओं' की फौज तैयार कर ली, तथापि अंग्रेजी साहित्य ने देशभक्त भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाओं को अधिक प्रबल बना दिया। पढ़े-लिखे देश भक्त भारतीय अपने साथियों को बताने लगे कि अंग्रेज हमें गुलामी की शिक्षा देते हैं, उनका साहित्य आजादी की शिक्षा देता है।

अंग्रेजी भाषा का एक बड़ा लाभ यह हुआ कि देशवासियों को एक सामान्य भाषा की प्राप्ति हो गई। अतः शिक्षित भारतीय अपने विचारों का आपस में आदान-प्रदान कर सके। इससे देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के बीच सम्पर्क और मेल-जोल भी बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप भारतीयों में संगठित होने की भावना घर करने लगी।

(6) **समाचार-पत्र और साहित्य**—किसी भी देश के वातावरण को बनाने-बिगाड़ने में साहित्य और समाचार-पत्रों का बड़ा हाथ रहता है। अंग्रेजी शासनकाल में छापेखाने खुले और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास हुआ। अब समाचार-पत्र भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित होने लगे। इन पत्रों से एक बड़ा लाभ तो यह हुआ कि देश के कोने-कोने में देश के राष्ट्रीय नेताओं के भाषण पहुँचने लगे। दूसरा लाभ यह हुआ कि इन पत्रों ने अंग्रेजों के अन्यायपूर्ण कारनामों की कठोर आलोचना करना आरम्भ किया जिससे भारतीयों में निर्भीकता पैदा हुई। अब राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगीं। भारतीय प्रेस और साहित्य ने देश में राष्ट्रीयता को जमाने में कोई कसर नहीं रखी।

(7) **आन्तरिक शान्ति**—अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना से पहले भारत के छोटे-छोटे राज्य परस्पर युद्धरत रहते थे। इस अशान्ति और अराजकता की स्थिति में राष्ट्रीय भावनाओं के विकास की आशा नहीं की जा सकती थी, लेकिन अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के बाद देश में आन्तरिक शान्ति स्थापित हो गई। बाह्य आक्रमण के भय से भी सुरक्षा हो गई। इससे एक ऐसा वातावरण बन गया जिसमें लोग समाज-सुधार की ओर ध्यान देने लगे और राष्ट्रीयता का प्रचार करने लगे।

(8) **बाह्य सम्पर्क**—भारत का प्राचीनकाल से ही विदेशों से

था, किन्तु पारस्परिक संघर्ष के कारण यह सम्पर्क टूट सा गया। अंग्रेजों द्वारा भारत में साम्राज्य स्थापित कर लेने के बाद भारत एक बार फिर विदेशों से, विशेष कर पश्चिमी देशों से सम्पर्क स्थापित हो गया। भारतीयों ने विदेशों के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन के बारे में बहुत कुछ सीखा और समझा। इंग्लैंड जैसे देश में, उन्हें प्रजातन्त्रात्मक शासन देखने को मिला। अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम ने भारतीयों को आजाद होने की प्रेरणा दी। फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने भारतीयों को स्वतन्त्रता और समानता का सन्देश दिया। इस प्रकार विदेशी सम्पर्क ने भारतीयों को राष्ट्रीय प्रेम से ओतप्रोत कर दिया।

(9) **आवागमन एवं संचार साधनों का विकास**—अंग्रेजों ने अपने शासन-काल में भारत में यातायात और संचार साधनों का विकास किया। उनका उद्देश्य यह था कि एक तो उनकी शासन-व्यवस्था मजबूत हो जाए और दूसरे वे भारत से अधिकाधिक आर्थिक लाभ उठा सकें। किन्तु जहाँ अंग्रेजों की स्वार्थ-पूर्ति हुई, वहाँ इन कदमों से राष्ट्रीयता का प्रसार भी हुआ। यात्राएँ सुगम हो गईं और विभिन्न प्रान्तों के लोग आसानी से एक दूसरे से मिलने लगे। नेताओं के लिए देश भर में यात्रा करना और भारतीयों को संगठित करना सुगम हो गया। अब यह स्थिति उत्पन्न हो गई कि यदि देश के किसी भी कोने में राष्ट्रीयता की लहर फूटती तो वह समस्त देश में फैल जाती।

(10) **आर्थिक शोषण**—अंग्रेजों ने भारत के आर्थिक शोषण की नीति अपनाई। उन्होंने 'सोने की चिड़िया' (भारत) को लूटा। वे भारत से कच्चा माल सस्ते दामों पर इंग्लैंड भेजने लगे और इंग्लैंड का निर्मित माल अधिक दामों में भारत को बेचने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों के उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए और अंग्रेजों का व्यवसाय उन्नति करता गया। अकेले सूती वस्त्र उद्योग में ही करोड़ों लोग रोजी से हाथ धो बैठे। अंग्रेजों ने भारतीय कृषि की भी उपेक्षा की। एक ओर तो उद्योग-धन्धों से बेकार लोग कृषि की ओर झुके और दूसरी ओर सरकार ने कृषि की उन्नति पर कोई ध्यान नहीं दिया, अतः देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई। पढ़े-लिखे लोग भी अंग्रेजों की नीति के शिकार बने। अंग्रेजों ने ऊँची नौकरियों के दरवाजे भारतीयों के लिए बन्द कर दिए। छोटी नौकरियों के वेतन बहुत कम रखे।

इन सब कारणों से व्यवसायी, किसान और पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी शासन के विरुद्ध हो गए। उनमें राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत हुए जो भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में ज्वालामुखी बनकर फूट पड़े।

(11) **जातीय भेदभाव**—सन् 1857 की क्रान्ति के बाद से ही अंग्रेजों और भारतीयों में जातीय भेदभाव बढ़ता गया। क्रान्ति से पूर्व दोनों जातियों में अच्छा सम्बन्ध था। क्रान्ति के बाद अंग्रेजों में यह अहंकार छा गया कि एक अंग्रेज का जीवन कई भारतीयों के बराबर है, अतः अब वे भारतीयों का अपमान करने लगे। इतना ही नहीं अंग्रेज भारतीय नारियों का सतीत्व भी लूटने लगे। 'काली चमड़ी'

की कोई इज्जत नही रही। 'गोरी चमडी' खुदा बन गई। इन परिस्थितियो ने भारतीयो के क्रोध को भडका दिया। इससे राष्ट्रीय चेतना के विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला।

(12) **लॉर्ड लिटन की साम्राज्यवादी नीति**—लॉर्ड लिटन की साम्राज्यवादी नीति से देश में राष्ट्रीय चेतना को विशेष बल मिला। उसका शासनकाल (1876-81) भारतीय राष्ट्रीयता के बीजारोपण का समय कहलाता है। जब देश मे भयकर अकाल पड रहा था तब लिटन ने महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने के लिए सन् 1877 में दिल्ली मे अत्यन्त खर्चीला दरबार आयोजित किया। यह घर जला कर तमाशा देखने वाली घटना थी। भारतीयो को इस घटना से बड़ा क्षोभ हुआ।

इसके अतिरिक्त लॉर्ड लिटन ने ब्रिटिश-साम्राज्य के विस्तार के लिए द्वितीय अफगान युद्ध मे भारत का करोडों रुपया नष्ट कर दिया। अकाल और गरीबी से त्रस्त भारतीय इन सब घटनाओं से भडक उठे। इतना ही नही, लिटन ने ाारतीय 'शस्त्र विधेयक' लागू किया। इसके अनुसार प्रत्येक भारतीय को शस्त्र रखने के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य था, लेकिन अग्रेज के लिए नही। इसी प्रकार एक 'वर्नाक्यूलर प्रेस कानून' लागू किया गया। इसके द्वारा भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। लिटन के शासन काल मे ब्रिटिश वस्त्र मिलो के लाभ के लिए बहुत अनुचित कदम उठाए गए। भारत मे उन पर लगे आयात-कर को हटा दिया गया और दूसरी ओर भारतीय कपडे पर चुंगी लगा दी गई।

लॉर्ड लिटन के ये सभी कारनामे अंग्रेजो के लिए दु खदायी सिद्ध हुए। उसके कारनामों ने भारतीयों के क्रोध को बहुत अधिक भडका दिया। उसमें अंग्रेजो से छुटकारा पाने का उत्साह दुगुना हो गया।

(13) **इलबर्ट सम्बन्धी विवाद**—राष्ट्रीय आन्दोलन को इलवर्ट बिल सम्बन्धी विवाद ने भी बहुत प्रोत्साहन दिया। लॉर्ड रिपन के शासन काल मे सन् 1883 मे इलवर्ट विधि-मन्त्री था। उसने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमे कहा गया था कि सभी न्यायाधीशो को, चाहे वे अंग्रेज हो या भारतीय, समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। लेकिन भारतीयों से घृणा करने वाले अंग्रेजों को यह बात सहन नहीं हुई। उन्होंने इसका तीव्र विरोध किया। अंग्रेजी सरकार झुक गई और इलवर्ट विधेयक बदल दिया गया। इस घटना से भारतीयों को भारी आघात पहुंचा। उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेजी सरकार अल्पसख्यक अग्रेजो की है, बहुसंख्यक भारतीयो की नही। फलस्वरूप उनमे राष्ट्रीय चेतना पहले से अधिक बलवती हो गई।

इन सब कारणों से भारतवासियों में राष्ट्रीयता के भाव पनपते गए और अन्त मे सन् 1885 मे इण्डियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। इसी कांग्रेस के नेतृत्व मे राष्ट्रीय आन्दोलन धीरे-धीरे तेज होता गया। स्थिति यह बन गई कि कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन दोनो अलग-अलग चीजे न रहकर एक ही बन गई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885)

भारत में राष्ट्रीय क्रान्ति का प्रथम विस्फोट 1857 में हुआ और संविधानिक रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन का वास्तविक सूत्रपात 1885 में कांग्रेस की स्थापना के साथ हुआ. लेकिन इसके पूर्व प्रारम्भिक राजनीतिक संस्थाओं ने भी देश में राजनीतिक आन्दोलन के लिए एक धरातल तैयार करने में सहायता की। राजा राममोहन राय ने 1828 में विभिन्न धर्म संस्थाएँ स्थापित कीं जो धार्मिक तथा नैतिक प्रश्नों के अतिरिक्त सामाजिक और राजनीतिक मामलों पर वाद-विवाद करती थी। 1838 में एक संस्था स्थापित हुई थी जिसका नाम 'साधारण ज्ञान सभा' (सोसायटी फार इक्वीजीशन आफ जनरल नालेज) था। यहाँ ऐसे विषयों पर विचार विनिमय होता था, जैसे जूरी द्वारा मुकदमे का निर्णय, समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, सरकारी विभागों में बेगार। 1834 में बंगाल की ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी की स्थापना हुई। उसका उद्देश्य लोगों की स्थिति, देश के कानूनों, संस्थाओं और साधनों के विषय में सूचनाएँ एकत्र करने और उन्हें प्रचारित करने और ऐसे अहिंसात्मक तथा वैध तरीके अपनाना था, जिससे देश का भला हो, सब वर्गों के अधिकारों का विस्तार हो और भारतीय प्रजा के सभी वर्गों के हितों को आगे बढ़ाया जाए।

1851 में ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन की स्थापना की गई। इसके प्रथम अध्यक्ष थे राधाकान्त देव और सचिव थे देवेन्द्र नाथ ठाकुर। ये चाहते थे कि स्थानीय प्रशासन और शासन पद्धति में सुधार हो। ये यह चाहते थे कि ब्रिटिश जनता को ब्रिटिश प्रशासन के सम्बन्ध में भारत की जनता की भावनाओं से अवगत कराया जाए। 1852 के अगस्त में जगन्नाथ शंकर सेठ, दादाभाई नौरोजी, नौरोजी फर्दूनजी, भाऊदाजी और दूसरों ने मिल कर बम्बई एसोसिएशन की स्थापना की। उसका उद्देश्य था—"जनता के कष्टों का पता लगाना, अधिकारियों को ऐसे उपाय सुझाना जिसमें सार्वजनिक भलाई हो, भारत तथा इंग्लैण्ड के अधिकारियों को वर्तमान बुराइयों को दूर करने और सामान्य हित के उपाय सुझाना।" मद्रास प्रेसीडेन्सी में इसी प्रकार का संगठन था जिसका नाम 'मद्रास नेटिव एसोसिएशन' था। उसका जन्म 1853 में कम्पनी के अधिकार-पत्र के नवीनीकरण के आने से ठीक पहले हुआ था। इसने ब्रिटिश संसद् का ध्यान 'प्रेसीडेन्सी' के निवासियों की शिकायतों और अभावों की ओर दिलाया। इस प्रकार से भारत का शासन इंग्लैण्ड के राजा के हाथों में जाने के पहले ही शिक्षित वर्ग ने जनमत संगठित कर प्रशासन की गलतियों और त्रुटियों के विरुद्ध शिकायतें प्रस्तुत करना शुरू कर दिया। उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन के पश्चिमी तरीकों को अपनाया व जान गए थे कि अपनी शिकायतों को दूर कराने के लिए उन्हें भारत तथा इंग्लैण्ड की सरकारों का ध्यान आकृष्ट करना है।

तत्कालीन की परिस्थितियों में धार्मिक सुधारक मंच पर आए। उनका उद्देश्य धर्म की भावना को फिर से जगाना और लोगों को मनुष्यता के प्रति कर्त्तव्य

की याद दिलाता रहा। धार्मिक सुधार आन्दोलन से साहित्यिक नवजागरण हुआ और उससे राष्ट्रीय भावना को और गरीबों तथा पददलितों से सहानुभूति को बहुत उत्तेजना मिली। कवियों, उपन्यासकारों, निबन्ध लेखकों, पत्रकारों, इतिहासकारों सबने राष्ट्रीय जागरण में हाथ बँटाया। वक्ताओं और लेखकों ने जनता को संसार के स्वतन्त्रता आन्दोलनों, आयरलैण्ड के होमरूल तथा इटली के एकीकरण आन्दोलन और स्वतन्त्रता आन्दोलन के सम्बन्ध में बताया। 'सोमप्रकाश' पत्र ने 1858 में मेजिनी, गेरीबाल्डी, कावूर और स्काटलैण्ड के वीर विलियम वालेस पर एक लेखमाला प्रकाशित की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1857 में इटली के उत्थान तथा उसके इतिहास और सिक्खों की वीरता की प्रशंसा में व्याख्यान दिए। बंकिमचन्द्र चटर्जी (1838–94) ने ऐसे उपन्यासों को लिखने में अपनी अनुपम प्रतिभा का उपयोग किया, जिनसे देश भक्ति की भावना उत्पन्न होती थी। इस प्रकार जो भावना उत्पन्न हुई, उसका व्यावहारिक परिणाम निकला। 'नेशनल सोसायटी' की स्थापना हुई जिसके मुख्य नेताओं में राजनारायण बोस नवगोपाल मित्र थे। उन्होंने एक विद्यालय, एक दवाखाना, एक समाचार-पत्र और एक अखाड़ा स्थापित किया। पश्चिम से लौट कर विवेकानन्द ने अपने व्याख्यानों में स्वतन्त्रता की दुन्दुभी बजाई और तरुण भारत से कहा कि उठ खड़े हो, साहसी बनो और जनता की सेवा करो। तब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आनन्द मोहन बोस, शिवनाथ शास्त्री और कृष्ण मोहन बनर्जी ने मिलकर 1876 में इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना की। इस संस्था के तत्वावधान में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1877–78 में भारत का दौरा किया और 1878 के देशी भाषा प्रेस अधिनियम और लाइसेन्स अधिनियम के विरोध और किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए आन्दोलन हुए।[1]

उपरोक्त सभी संगठनों (बंगाल का ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन, बॉम्बे एसोसिएशन, इण्डियन एसोसिएशन आदि) ने विभिन्न माँगों के पक्ष में एक राजनीतिक वातावरण अवश्य तैयार किया, लेकिन इनमें से किसी को भी राजनीतिक स्वाधीनता की कोई संकल्पना नहीं थी, अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाना उनका उद्देश्य नहीं था, राष्ट्रीय अभ्युदय के किसी सांगोपांग कार्यक्रम का भी उनके पास अभाव था। वे प्रायः बड़े जमींदारों, व्यापारियों अथवा थोड़े से चोटी के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के संगठन थे। फिर भी, इन संगठनों ने देश के विभिन्न भागों में राजनीतिक चेतना जगाने का बहुमूल्य काम किया। 1885 में जिस इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई उसका पथ प्रशस्त करने में इन संगठनों का बहुत बड़ा हाथ रहा।

राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना (1885)

देश के विभिन्न प्रान्तों और नगरों में अनेक राजनीतिक संगठनों की स्थापना हो गई, तथापि देश में एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन का अभाव खटकता रहा। एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन स्थापित करने की दिशा में

1 डॉ. ताराचन्द : भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 482

उठाने का श्रेय एक सेवानिवृत्त सरकारी अधिकारी सर ए. ओ. ह्यूम को है जिन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जनक कहा जाता है । श्री ह्यूम ने 1 मार्च, 1883 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक पत्र लिखकर उनसे मातृभूमि की उन्नति में जुट जाने की अपील की ताकि "भारतीय राष्ट्र का बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्जागरण हो सके तथा उसके लिए एक अनुशासित सुसज्जित सेना तैयार हो सके ।" श्री ह्यूम के पत्र ने शिक्षित नवयुवकों के मन पर गहरी छाप डाली ।

इस पृष्ठभूमि में सन् 1884 में थियोसोफिकल कनवेन्शन हुआ जिसमें देश के प्रमुख बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय संस्था की स्थापना के विचार को मूर्त रूप देने का निश्चय किया । दिसम्बर, 1884 में 'इण्डियन नेशनल यूनियन' स्थापित की गई जिसके प्रयत्नों से 28 दिसम्बर, 1885 को बम्बई की गोकुलदास तेजपाल संस्कृत पाठशाला के विशाल भवन में एक कान्फ्रेंस का आयोजन हुआ । इसमें भारत के सब क्षेत्रों के 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया । पर्याप्त वाद-विवाद के बाद नई संस्था का नाम 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' (Indian National Congress) रखा गया । इस प्रकार वह महान् राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था अस्तित्व में आई जिसके नेतृत्व में 62 वर्ष तक देश ने आजादी की लड़ाई लड़ी और अन्ततः 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्रता प्राप्त की ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म पर टिप्पणी करते हुए डॉ. ताराचन्द ने लिखा है—

"कांग्रेस का जन्म भारत के राजनीतिक इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी । इसने एक नवयुग के आगमन की घोषणा की । राष्ट्रीय एकता के युग की घोषणा जो ऊपर से लादी नहीं गई थी, बल्कि जनता के संकल्प की अभिव्यक्ति थी । कांग्रेस उस नए समाज की प्रवक्ता थी, जो प्लासी के बाद 100 साल के दौरान हुए आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप विकसित हुआ था । यह उस प्रक्रिया की पूर्णता थी जिससे सभी भारतीयों का वैयक्तिक रूप से और साथ ही सामूहिक रूप से सम्बन्ध था । पर 1885 में यह बताना कठिन था कि कांग्रेस का क्या भविष्य होगा । इस तरह की सभी संस्थाओं की तरह इसे भी बहुत बुरे समय से यानी जनता की उदासीनता और सरकार की नाराजगी के युगों से गुजरना पड़ा । इन मंजिलों में गुजर कर ही वह ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को चुनौती देने की एक शक्तिशाली औजार बन सकी ।"

कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य

कांग्रेस की स्थापना क्यों हुई अथवा इसकी स्थापना का वास्तविक उद्देश्य क्या था—इस सम्बन्ध में विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं । एक ओर यह कहा जाता है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए की गई थी तो दूसरी ओर विभिन्न विद्वान् कांग्रेस को भारतीय राष्ट्रीयता का माध्यम बतलाते हैं ।

जो विद्वान् यह मानते है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा हेतु की गई थी, उनका कहना है कि 'कांग्रेस के जनक' ए. ओ ह्यूम एक अवकाश-प्राप्त अंग्रेज पदाधिकारी थे जिन्हें तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन का आशीर्वाद और अनेक ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का समर्थन प्राप्त था। ह्यूम ने ब्रिटिश शासकों की 'पूर्व-निश्चित गुप्त योजना' के 'नापाक इरादों का साधन' बनकर कांग्रेस की स्थापना के लिए भरसक प्रयास किया। 1857 की क्रान्ति के बाद ह्यूम और उनके अंग्रेज अधिकारियों को यह विश्वास हो गया था कि भारतीय जनता मे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अशान्ति फैल रही है। भारतीय जनता की राष्ट्रीयता जाग उठी है, अत. सम्भव है कि भारतीय युवक राष्ट्रीय विद्रोह का शक फूंक दें। इसी विद्रोह के भय से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने कांग्रेस जैसी संस्था की स्थापना की। उनका उद्देश्य था कि भारतीय जनता का क्रोध कांग्रेस के माध्यम से शब्दो द्वारा निकलता रहे और सशस्त्र क्रान्ति की सम्भावना समाप्त हो जाए। सर वेडरबर्न के शब्दो मे "भारतीयों की शक्तिशाली और बलशाली भावनाओ के निकास के लिए एक रक्षा-कवच की आवश्यकता थी और यह रक्षा कवच कांग्रेस से अच्छा और कोई नही हो सकता था।" ह्यूम ने सर आकलैंड कालविन को अपने एक पत्र मे लिखा भी था—कांग्रेस स्थापना की योजना का उद्देश्य ब्रिटिश शासको के कर्मो के फलस्वरूप उत्पन्न एक प्रबल एवं बढती शक्ति के निकास के लिए रक्षा-नली (Safety Valve) का निर्माण करना है। लॉर्ड डफरिन ने भी कांग्रेस की स्थापना को इसीलिए स्वीकृति दी क्योंकि वे एक ऐसे उत्तरदायी सगठन की खोज में थे जिसके माध्यम से ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनमत का सही पता लग सके। लाला लाजपतराय, डॉ० नन्दलाल चटर्जी आदि ने यही प्रस्थापित किया है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य के हितो को ध्यान मे रखते हुए की गई। लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक यंग इण्डिया' मे लिखा है—'कांग्रेस की स्थापना के मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को खतरे से बचाना था, भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करना नही। ब्रिटिश साम्राज्य का हित प्रमुख था, भारत का गौण और यह कोई नही कह सकता कि कांग्रेस ने इस उद्देश्य का पालन नहीं किया।" डॉ० नन्दलाल चटर्जी के अनुसार "उस समय भारत पर ऐसे आक्रमण का विशेष भय था जिसके निवारण के लिए भारतीय आन्दोलन को ठीक दिशा मे बदल देना आवश्यक था। उन्ही के शब्दों मे, कांग्रेस रूसी हथकण्डों के निवारण के लिए बनाई गई थी। यही कारण है कि जब रूसी आक्रमण के भय का अन्त हो गया तो भारत सरकार का व्यवहार कांग्रेस के प्रति एकाएक बदल गया।'

दूसरी विचारधारा के अनुसार कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीयता को एक देश-व्यापी सगठन द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करना था। कांग्रेस की स्थापना के पीछे देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना का अस्तित्व था। स्वय लाला लाजपतराय ने स्वीकार किया है कि ह्यूम के उद्देश्य सच्चे थे, उनके विचार उच्च थे, उनके हृदय में स्वतन्त्रता की गहरी भावना थी और उनका हृदय भारत

की दुर्दशा और गरीबी पर रोता था।" उमेश चन्द बनर्जी के अनुसार, ह्यूम का मुख्य उद्देश्य प्रमुख भारतीय राजनीतिज्ञों को देश की सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिए वर्ष में एक बार एकत्र करना था। दूसरे शब्दों में, भारतीय राष्ट्रीय महासभा (जिसका नाम कांग्रेस पड़ा) एक सामाजिक सम्मेलन की तरह कार्य करने के लिए बनाई गई थी। डॉ ताराचन्द ने लिखा है—"1885 में कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के साथ ही सारे भारत में नई जिन्दगी के स्पन्दन अनुभूत हुए। भारत के इतिहास में यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। पहली बार देशी या विदेशी सरकार के द्वारा नहीं, बल्कि कुछ दृढ़चित्त मातृभूमि के अग्रगामी सेवकों के द्वारा जो भारत के विभिन्न भागों से आए थे, राजनीतिक एकता को उभार कर सामने रखा गया, वे बम्बई में एकत्र हुए और भारत के भविष्य पर चिन्तन और विचार-विमर्श करते रहे। उन्होंने तत्कालीन शासक वर्ग को एक साहसपूर्ण चुनौती दी और यह चेतावनी दी कि भारत अब आगे अपने भाग्य को विदेशियों के हाथों में सम्पूर्ण रूप से छोड़ने के लिए तैयार नहीं है और वह अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए कटिबद्ध है। कांग्रेस ने नेतृत्व दिया और देश ने उसका पथ-प्रदर्शन स्वीकार किया। सच्ची बात तो यह है कि कांग्रेस जनता की आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति थी। यह भारत के पद दलन से उत्पन्न व्यग्रता भरी हूक थी और साथ ही दासता के विरुद्ध संग्राम के लिए दुन्दुभीनाद भी था। ब्रिटिश शासन की भलाई में आस्था से शुरू करते हुए एक पीढ़ी के अन्दर कांग्रेस ने आत्मशासन की माँग की ओर कदम बढ़ाया।" डॉ जकारिया ने निर्णयात्मक शब्दों में लिखा है—"लोकतन्त्र भारतीय और ब्रिटिश समर्थकों के संयुक्त प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इस महान् राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ। इस कार्य में इन्हें प्रमुख प्रेरणा संकीर्ण राष्ट्रीय भावों से नहीं अपितु सत्य और न्याय के उदात्त विचारों के प्रति सच्ची लगन और भक्ति से मिली, जिनके समर्थकों को वे अपने देश के लिए गौरव की बात मानते थे और जो पिछली शताब्दी के दोनों देशों के पारस्परिक सहयोग से किए गए कार्यों का सुखद परिणाम थीं।"

प्रथम विचारधारा के वजन को स्वीकार करते हुए भी दूसरी विचारधारा अधिक तर्कपूर्ण और सही लगती है और इस बात से इन्कार करना कठिन है कि ह्यूम को भारतीयों से सहानुभूति थी और वे भारतीयों को संगठित करना चाहते थे।

1885 से 1905 के बीच कांग्रेस के उद्देश्य, कांग्रेस की उपलब्धियाँ कांग्रेस का प्रभाव और उसके प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण

कांग्रेस के उद्देश्य

दिसम्बर, 1885 में बम्बई में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ जिसमें 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इनमें प्रायः सभी अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग विशेषकर वकील, कुछ बम्बई के व्यापारी और बंगाल के जमींदार थे। कुछ अंग्रेज भी उपस्थित थे। इस प्रथम अधिवेशन में ही कांग्रेस ने माँग की कि—

(1) केन्द्र में और प्रान्तों में विधान परिषदों का विस्तार किया जाए,

निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढाई जाए तथा उन्हे सभी विषयों पर प्रश्न पूछने और बजट पर वाद-विवाद करने के अधिकार दिए जाएँ,

(2) उच्च सरकारी नौकरियों मे भारतीयो को भी पूरा अवसर दिया जाए,

(3) सैनिक व्यय मे कमी की जाए, तथा

(4) एक शाही आयोग भारतीय प्रशासन की जाँच करे।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में जो व्याख्यान और प्रस्ताव हुए, वे नरम शब्दावली में थे और उनमे ब्रिटिश शासकों के प्रति काफी सम्मान प्रदर्शित किया गया था। अध्यक्ष के भाषण मे बहुत नरमी के साथ सरकार से कहा कि "अधिकारी वर्ग के प्रति राजभक्ति का इजहार करती हुई कांग्रेस सिर्फ इतनी मांग करती है कि सरकार के आधार को विस्तृत किया जाए और जनता को सरकार मे उसका उचित और जायज हिस्सा दिया जाए।"

1885 के प्रथम अधिवेशन मे यह निश्चित किया गया कि कांग्रेस का अधिवेशन प्रतिवर्ष बारी-बारी से भारत के किसी नगर में होना चाहिए। 1888 तक कांग्रेस के अधिवेशनों में उपरोक्त मांगों को विनम्रता के साथ दुहराया जाता रहा। इन दिनों की कांग्रेस का जो दृष्टिकोण था वह दादाभाई नौरोजी के इन शब्दों में मूर्त हुआ—

"हम ब्रिटिश प्रजा हैं, हम अपने हकों की मांग कर सकते हैं—अगर ब्रिटेन की सर्वश्रेष्ठ संस्थाओ से हमे वंचित रखा जाता है तो फिर भारत को अंग्रेजों के स्वामित्व में रहने से क्या लाभ है? यह तो एक और एशियाई निरकुश शासन मात्र होगा।"

इतिहासकार डॉ० ताराचन्द के अनुसार—"प्रारम्भिक वर्षों के कांग्रेस अधिवेशनो की कार्यवाही बहुत संजीदा बल्कि दबे हुए ढंग से होती थी। प्रस्तावों और व्याख्यानों मे किसी प्रकार का क्रान्तिकारी जोश दृष्टिगोचर नही होता था। नरमी ही इनकी विशेषता होती थी। अध्यक्षीय भाषणों मे ब्रिटिश शासन की अच्छाइयां गिनाई जाती थी, यह आश्वासन दिया जाता था कि भारत ताज के प्रति वफादार है और इसकी पुनरावृत्ति की जाती थी कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहना चाहता है। कांग्रेस की मांग मे अवज्ञा या चुनौती का स्वर न होकर आग्रह और प्रार्थना का स्वर ही होता था। पर प्रारम्भ से ही उनका रुख मौलिक सांविधानिक परिवर्तनों की ओर था। प्रथम कांग्रेस में ही सर्वोच्च और स्थानीय कौंसिलों के विस्तार, उनमें काफी संख्या मे चुने हुए सदस्यो को लेने और उनके कार्यों के विस्तार की बात कही गई। इस प्रकार जिम्मेदार सरकार के स्थान पर ऐसी सरकार की मांग की गई जिसका आधार जनता के प्रतिनिधियों के साथ सलाह हो।"

1885 से 1905 तक कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के सामने बहुत मामूली मांगें रखी जैसे—व्यवस्थापिका सभाओ का विस्तार हो, उनमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की संख्या मे वृद्धि, केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों में अधिक भारतीयों

का समावेश, न्यायपालिका की कार्यपालिका से स्वतन्त्रता, भारत मन्त्रि-परिषद् में भारतीयों को स्थान, भारतीयों के लिए सैनिक और नागरिक सेवाओं में अधिकाधिक नौकरियों की व्यवस्था, शस्त्र कानून के सम्बन्ध में परिवर्तन, मुकदमों की सुनवाई में जूरी प्रथा को अधिक मान्यता आदि। राजनीतिक सुधारों की माँग के साथ-साथ कांग्रेस ने जनता की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर भी विचार किया। इस सम्बन्ध में समय-समय पर सुझाव प्रस्तुत किए गए। इनमें प्रमुख ये थे—भूमि-करों में कमी हो, सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो, भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाए, विदेशों को अनाज के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया जाए, प्रशासनिक व्यय कम किया जाए आदि।

1896-97 तथा 1899-1900 के दुर्भिक्षों से भारत की दुर्दशा एकदम स्पष्ट हो गई और साथ ही ब्रिटिश हुकूमत की उदासीनता भी। एक ओर करोड़ों भारतीय भूख से पीड़ित थे और बड़ी संख्या में लोग मर रहे थे जबकि दूसरी ओर अन्न देश से बाहर भेजा जा रहा था। कांग्रेस ने कलकत्ता में 1901 में हुए अपने 17वें अधिवेशन में इस स्थिति पर गहरी चिन्ता प्रकट की। महाराजा जे. एन. राय (स्वागत समिति के अध्यक्ष) ने कहा—"प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न मूल रूप से आर्थिक प्रश्न है और शीघ्र ही विश्व के बाजार रणक्षेत्र बन जाएँगे जहाँ विभिन्न राष्ट्रों के भाग्य का फैसला होगा।" इसी अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें दुर्भिक्षों की पुनरावृत्ति पर खेद प्रकट किया गया। प्रस्ताव में कहा गया कि दुर्भिक्षों के मुख्य कारण निम्न हैं—

(अ) देशी उद्योग-धन्धों की अवनति
(ब) भारतीय पूंजी का निष्कासन
(स) कर-भार अधिक होना एवं
(द) प्रशासन के सैन्य व नागरिक विभागों में धन का अपव्यय।

कांग्रेस ने इसी अधिवेशन में खर्च में कमी, देश के साधनों के विकास, कृषि विकास और उद्योगों के विकास की माँग की।

इस काल में कांग्रेस की नीति नरम थी। कांग्रेस मुख्यतः एक सुधारवादी राजनीतिक संगठन थी, कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं। कांग्रेस पर उदारवादियों का प्रभुत्व था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, फीरोजशाह मेहता जैसे उदारवादी राष्ट्रवादी कांग्रेस पर छाये हुए थे। "इन लोगों का ब्रिटिश सरकार की जन्मजात न्यायप्रियता तथा प्रजातान्त्रिक भावनाओं में असीम विश्वास था क्योंकि वे अंग्रेजी पढ़े और अंग्रेजी संस्कृति तथा आदर्शों में ढले हुए देश के एक छोटे से विशिष्ट वर्ग का नेतृत्व करते थे। वे भारत में नौकरशाही के आलोचक थे और भारतीयों को शासन में अधिक अधिकार दिए जाने के पक्षपाती, किन्तु उनका अंग्रेजों की सदाशयता में तथा ब्रिटिश संस्थाओं की श्रेष्ठता में अटूट विश्वास था। वह समझते थे कि भारत सांविधानिक उपायों द्वारा ही, ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग की नीति का पालन करते हुए, धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन के

अन्तर्गत, स्व-शासन के लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाएगा। इन उदारवादियों की विचारधारा और कार्यक्रम में बहुत सी दुर्बलताएँ थीं। उन सबका मूल कारण सम्भवतः यही था कि उन्होंने भारत और इंग्लैण्ड के हितों को परस्पर सम्बद्ध मान लिया था। फिर भी, यही लोग भारतीय राष्ट्रवाद के सूत्रधार थे और इन्हीं के द्वारा महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर किए गए सार्वजनिक विचार-विमर्श से जनता मे राजनीतिक चेतना जगनी प्रारम्भ हुई।"

कांग्रेस ने चाहे नरम नीति बरती, लेकिन वह भारतीयों के हितों की रक्षा के लिए काम करती रही। वह विदेशों में भी भारतीयों के हितों की रक्षा के प्रति सतर्क रही। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार होता था उसका कांग्रेस ने कड़ा विरोध किया। कांग्रेस को अपने प्रयत्नों में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली, फिर भी भारतीयों का असन्तोष व्यक्त होता रहा। 1905 में बंगाल का विभाजन किए जाने पर भारतीयों मे असन्तोष का तूफान उठ खड़ा हुआ। बंग-भंग का उद्देश्य एक मुस्लिम आबादी से पूर्ण अलग प्रान्त का निर्माण करना था। कर्जन की नीति हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस मे लड़ाने की और उनमें फूट डालने की थी। बंग-भंग की घटना ने केवल बंगाल में ही नही वरन् सारे देश में विद्रोह को उग्र रूप दे दिया। देश में स्थान-स्थान पर सभाएँ होने लगी। विदेशी माल का बहिष्कार किया जाने लगा, स्वदेशी वस्तुओं का स्वागत होने लगा। अंग्रेजी शासन के स्वेच्छाचारी व्यवहार से कांग्रेस के अनेक लोगों का उदारवादी उपायों पर से विश्वास हट गया। 1905 से उदारवादी नेतृत्व को उग्र पन्थियों द्वारा चुनौती दी जाने लगी और 1907 में कांग्रेस स्पष्ट रूप से दो खेमों मे विभाजित हो गई— उदारवादी या नरमवादी खेमा और उग्रवादी खेमा। दोनों खेमे 1915 तक अलग-अलग काम करते रहे। 1916 मे, मुख्यतः एनी बेसेन्ट के प्रयत्नों से, दोनों पक्षों मे मेल हो गया, लेकिन यह मेल चिरस्थायी न रह सका। इस समय तक नरमपन्थियों के नेतृत्व को एक नए राजनीतिक क्षेत्र से भी चुनौती मिलने लगी। इस समय तक महात्मा गाँधी एक अखिल भारतीय नेता के रूप मे उभरने लग गए थे और उन्होंने तथा उनके अनुचारियों ने शीघ्र ही लगभग सभी अन्य राजनीतिक नेताओं के प्रभाव को मात दे दी और नरमपन्थियों का प्रभाव तेजी से घटने लगा। अतः उन्होंने कांग्रेस से पृथक् होकर 1918 मे भारतीय उदारवादी संघ (Indian Liberal Federation) की स्थापना की और इसके माध्यम से अपनी उदारवादी-मितवादी परम्पराओं पर डटे रहकर अपनी देशभक्ति का परिचय देते रहे। वास्तव मे 1918 के बाद एक बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप मे उदारवादी अथवा नरमपन्थी अपना प्रभाव खो बैठे।

कांग्रेस की उपलब्धियाँ

कांग्रेस विनम्र निवेदन करती रही लेकिन वर्षों तक उसकी माँगो का प्रभाव अंग्रेज शासकों पर नहीं पड़ा, लेकिन वह कांग्रेस की माँगों के प्रति उदासीन भी नहीं रह सकी। कांग्रेस को पहली सफलता तब मिली जब 1892 का

कौंसिल एक्ट' पारित किया गया। "1889 में कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के एक वरिष्ठ सदस्य, चार्ल्स ब्रेडला उपस्थित थे। ब्रेडला भारतीय मामलो मे सक्रिय रुचि दर्शाते रहे थे जिसके कारण ब्रिटिश संसद् मे लोग उन्हे 'भारत के लिए सदस्य' के नाम से सम्बोधित करने लगे थे। ब्रेडला ने विधान परिषदो मे सुधार के विषय को लेकर, कांग्रेस की मांगो के आधार पर ब्रिटिश ससद् के लिए एक विधेयक का प्रारूप बनाया था। वे चाहते थे कि इस विधेयक पर भारतीय नेताओं के परिपक्व विचार और प्रतिक्रियाएँ एकत्र कर उनका भी यथासम्भव विधेयक मे समावेश कर सके। अतः बम्बई अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमे भारत मे प्रतिनिधिक संस्थाओं की योजना की एक रूपरेखा दी गई थी। प्रस्ताव के समर्थकों मे थे पण्डित मदनमोहन मालवीय, विपिन चन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जी० सुब्रह्मण्यम अय्यर तथा अन्य। इंग्लैण्ड वापस पहुँच कर फरवरी 1890 मे चार्ल्स ब्रेडला ने हाउस ऑफ कामन्स के सामने अपना 'भारतीय परिषद् सशोधन विधेयक' प्रस्तुत किया। विधेयक के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदो का विस्तार होना था, सदस्यों की संख्या बढ़नी थी, परिषदों को आंशिक रूप मे निर्वाचन के सिद्धान्त पर सगठित किया जाना था तथा उन्हे अधिक अधिकार दिए जाने थे। 1889 के कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन मे पास की गई योजना तथा ब्रेडला के इस विधेयक को बाद मे 'होमरूल स्कीम' और 'होमरूल बिल' आदि नामो से पुकारा गया। चार्ल्स ब्रेडला का विधेयक पारित तो न हो सका और ब्रेडला की भी 1891 में मृत्यु हो गई किन्तु ब्रेडला के इस प्रयास की विशेष महत्ता है क्योंकि पहली बार इसमें भारतीय परिषदो मे निर्वाचित सदस्यो का प्रावधान किया गया और बाद मे लिबरल पार्टी की विजय होने पर इसी विधेयक के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने अपना भारतीय परिषद् विधेयक पेश किया। ससद् द्वारा पारित होने के बाद यही 1892 का अधिनियम बना।" अधिनियम द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदो की संख्या पहले से बढ़ा दी गई। गवर्नर जनरल को परोक्ष निर्वाचन प्रणाली का सूत्रपात करने का अधिकार मिला। अधिनियम द्वारा कुछ नियमो के भीतर रहते हुए विधान परिषद् के सदस्यो को कार्यकारिणी परिषद् से प्रश्न पूछने और बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया। ये अधिकार गवर्नर जनरल के विधान परिषद् और प्रान्तीय विधान परिषदों दोनो को दिए गए।

गुरमुख निहालसिंह ने लिखा है कि "सन् 1892 का अधिनियम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रयत्नों का परिणाम था।" इस अधिनियम के माध्यम से कांग्रेस की सफलता का मूल्यांकन करना अधिक उपयुक्त होगा। डॉ० काश्यप ने लिखा है : "यद्यपि 1892 के अधिनियम द्वारा विधान परिषदों के सदस्यों को दिए गए अधिकार अत्यन्त सीमित थे तथा अब भी उन्हे मतदान करने, प्रस्ताव अथवा विधेयक उपस्थित करने तथा पूरक प्रश्न आदि के आवश्यक अधिकार नही मिले थे, किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 1892 के अधिनियम ने यह स्वीकार कर लिया

था कि विधान परिषदों का कार्य केवल मात्र विधायी अथवा परामर्श देने का नही था और इस दृष्टि से यह अधिनियम प्रतिनिधिक सरकार की स्थापना की ओर प्रथम प्रमुख कदम था। पहली बार, इस अधिनियम ने शासन मे कुछ प्रतिनिधिक अंश का समावेश किया तथा भारतीय सदस्यों को भी सरकारी विधेयकों पर तथा बजट जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो पर विचार प्रकट करने तथा सरकार के कृत्यों के बारे में प्रश्न पूछने के कुछ न कुछ अधिकार प्रदान किए। निस्सन्देह यह अधिनियम सांविधानिक सुधारों की दिशा में प्रगति का चरण था। किन्तु आज जब हम देखते हैं तो यह लगता है कि जो कुछ किया गया वह सारहीन और खोखला था। वस्तुत उस समय भी वह कांग्रेस की मांग और आशाओं से बहुत कम था। विधान परिषदों के गैर-सरकारी सदस्यों के भाषणों में, तत्कालीन समाचार-पत्रों मे छपे लेखों मे तथा भारतीय कांग्रेस की बैठकों में व्याख्यानों और प्रस्तावों आदि सभी में 1892 के सुधारों के प्रति अपर्याप्तता और असन्तोष का भाव साफ-साफ अभिव्यक्त किया गया था।"

1892 के भारतीय परिषद् अधिनियम के पास हो जाने के बाद कांग्रेस की मांगों में सर्वाधिक महत्त्व इस मांग को दिया गया कि आई. सी. एस. की परीक्षा भारत और इंग्लैण्ड मे साथ-साथ हुआ करे। कांग्रेस के प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ नही गए क्योंकि भारतीयो की इस मांग के समर्थन मे ब्रिटिश लोकसभा ने एक प्रस्ताव पास किया। यह अलग बात है कि इंग्लैण्ड और भारत दोनों ही जगह अधिकारियों ने इस प्रस्ताव को क्रियात्मक स्वरूप नही दिया। 1893 मे कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता, दूसरी बार, दादाभाई नौरोजी ने की जिन्हे इसी बीच ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया। कांग्रेस के लिए यह एक गौरव की बात थी कि उसका एक सदस्य विदेशी हुकूमत की संसद का सदस्य था। कांग्रेस ने अपने विभिन्न अधिवेशनों में न केवल कतिपय राजनीतिक प्रश्नों की ओर विदेशी शासन का ध्यान आकर्षित किया बल्कि भारत के व्यावसायिक और औद्योगिक दोनो प्रकार के हितो की रक्षा का भी प्रयत्न किया। कांग्रेस ने सरकार से 1898 के राजद्रोह विधेयक (Sedition Act of 1898) तथा 1904 के सरकारी विधेयक (Official Secrets Act of 1904) जैसे दमनकारी कानूनो को हटा लेने का बार-बार निवेदन किया। सी. वाई. चिन्तामणि ने लिखा है—1905 तक कांग्रेस समतल पथ पर दौड़ती रही। सार्वजनिक महत्ता का ऐसा कोई भी विषय नही जिसने उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न किया हो और विभिन्न विषयो पर पास किए गए प्रस्तावों में व्यक्त विचार आन्दोलन के नेताओं की राजनीतिक बुद्धिमत्ता के साक्षी थे।[1]

भारतीयों पर कांग्रेसियों का प्रभाव

कांग्रेस की सफलता और उसके प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए डॉ. नागचन्द ने लिखा है—

1 C Y. *Chintamani* : Indian Politics since the Mutiny, p 46.

कांग्रेस के आदर्शों ने भारत के विभिन्न वर्गों पर तथा अंग्रेजों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डाले। परम्परागत सामन्तवादी वर्गों में से बचे हुए लोग और नए जमींदार चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, भयभीत हो गए। कांग्रेस उस राजनीतिक व्यवस्था के लिए खतरे के रूप में दिखाई पड़ी, जिसने उसे जन्म दिया और पाला-पोसा था और इस प्रकार से कांग्रेस के जन्म से ही उसके सामने अव्यवस्था तथा अनिश्चित भविष्य का एक चित्र उभर आया। फलत. यह वर्ग अपनी पालिका ब्रिटिश सरकार की ओर खिंचा और पहले से ही अधिक जोर से उससे चिपक गया।

जहाँ तक व्यापारी वर्ग का सम्बन्ध था, इसकी जरूरतें तात्कालिक और स्थायी थीं। ज्यों-ज्यों यह वर्ग अपनी स्थायी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में जागरुक होता गया और यह देखने लगा कि ब्रिटिश सरकार किस तरह से उनकी पूर्ति के मार्ग में रोड़ा अटका रही है त्यों-त्यों वह कांग्रेस की तरफ खिंचता चला गया क्योंकि कांग्रेस देश के आर्थिक विकास के लिए उत्सुक थी, जिससे जनता की कमरतोड़ गरीबी दूर हो।

अब रह गई विशाल जनता। ब्रिटिश अधिकारी बड़े नाज के साथ यह दावा करते थे कि हम खेतों में काम करने वाले काश्तकारों के हितों के रक्षक और अभिभावक हैं। पर तथ्य इसके बिलकुल विपरीत था जैसा कि दादाभाई नौरोजी ने दिखाया। महाजन, जमींदार और सरकार के टुच्चे कर्मचारी करोड़ों मूक जनता का शोषण करते थे। देर में ही सही उनको महाजनों के चंगुल से छुड़ाने तथा लोभी जमींदारों के हाथों से बचाने का उपाय किया गया, पर भूमि-व्यवस्था और न्याय की सारी पद्धति ऐसी थी जिससे यह प्रयास बहुत कुछ व्यर्थ हो गया।

जनता में आमतौर से बहुत अज्ञान फैला हुआ था इसलिए वह कांग्रेस के महत्त्व को ठीक नहीं समझ सकी, पर कांग्रेस ने बहुत ही सराहनीय लगन के साथ उनका पक्ष लिया और उनकी शिकायतों को दूर कराने के लिए लड़ना शुरू किया। इस प्रकार से कांग्रेस उनकी सच्ची हितैषी तथा प्रतिनिधि संस्था के रूप में धीरे-धीरे उभरने लगी।

बुद्धिमान लोगों ने कांग्रेस के महत्त्व को पहचाना और उन्होंने यह भी ताड़ लिया कि उसकी सगत और नरम भाषा के पीछे असली उद्देश्य क्या है। ब्रिटिश संसद् के एक सदस्य स्लैग ने, जो 1885–86 के जाड़ों में भारत आए, अपने देशवासियों से कहा कि इस स्थिति को समझें और भलमनसाहत के साथ भारतीय मांगें मंजूर करें। उन्होंने कहा—"कांग्रेस के गम्भीर महत्त्व को घटा कर देखना मूर्खता होगी। यह बाइबिल में वर्णित बेलशजार प्रासाद की दीवारों पर लिखे लेख की अवज्ञा करना है।" संसद् के एक दूसरे सदस्य, सेमुअल स्मिथ ने भारत का भ्रमण करने के बाद स्लैग की बातों को प्रतिध्वनित करते हुए कहा—"देशी लोगों के राजनीतिक अधिकारों को बढ़ाने तथा उनमें से सबसे अच्छे लोगों को देश के प्रशासन में अधिक संख्या में नियुक्त करने का समय आ गया है।"

कांग्रेस ने सुधार सम्बन्धी अनेक मांगें ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखीं, लेकिन

राष्ट्रीय स्वाधीनता की ओर उसने कोई कदम नही उठाया। यह स्वीकार करना होगा कि उन दिनों कांग्रेस स्वतन्त्रता के लक्ष्य से बहुत दूर रही, राष्ट्रीय आन्दोलनों के गुणों से वंचित रही और इसलिए उसे जनता का वह समर्थन प्राप्त था जो एक राष्ट्रीय आन्दोलन को प्राप्त होना चाहिए। वह मुख्यतया कुछ शहरी शिक्षित मध्यम-वर्गीय लोगों की संस्था थी।

कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण

प्रारम्भ में कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण कोई चिन्ताजनक नही था। कांग्रेस की स्थापना में अंग्रेजों का सहयोग रहा था, सरकार ने उसकी स्थापना के विचार का स्वागत किया था और उसके संस्थापकों को प्रोत्साहित किया। कई भारतीय और अंग्रेज सरकारी पदाधिकारियों ने कांग्रेस की स्थापना में भाग लिया था और कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन पर भारत के वायसराय लॉर्ड डफरिन ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को राजकीय भवन में एक भोज दिया। तीसरे अधिवेशन के अवसर पर मद्रास के गवर्नर ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को राजकीय भवन में एक प्रीतिभोज पर आमन्त्रित किया था और स्वागत समिति के अध्यक्ष सर टी. माधवराव ने "कांग्रेस को ब्रिटिश शासन की महान विजय और गौरव की वस्तु" कहा था। सरकार द्वारा कांग्रेस को जो समर्थन प्रारम्भ में प्राप्त था उसके कारण कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा-नली (Safety Valve) की प्राप्ति बतलाया जाता है। आशय यह हुआ कि प्रारम्भिक दिनों में कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश शासन का दृष्टिकोण सहयोग और सहानुभूति का था।

लेकिन 1888 में सरकार की कांग्रेस सम्बन्धी नीति में परिवर्तन के लक्षण प्रकट होना प्रारम्भ हो गया। शासक वर्ग का सहयोग सन्देह में बदलने लगा और इसका एक मुख्य कारण था—भारत में राष्ट्रीय भावना के प्रसार में गति आना। अंग्रेजों को यह अनुभूति होने लगी कि कांग्रेस की प्रगति से भारत में राष्ट्रीय भावना के प्रचार प्रसार को बल मिलेगा जिससे विश्व मे ब्रिटिश साम्राज्य को खतरा पैदा हो सकता है। अतः विदेशी शासक कांग्रेस के प्रति सशंकित हो उठे और खुले रूप में कांग्रेस का विरोध करने लगे। ब्रिटिश शासन का बदलता हुआ दृष्टिकोण तब स्पष्ट हो गया जब एक भोज के अवसर पर लॉर्ड डफरिन ने कहा—"अब कांग्रेस का झुकाव राजद्रोह की ओर हो गया है, परन्तु यह संस्था शिक्षित भारतीयों का नाम मात्र का प्रतिनिधित्व करती है।" डफरिन ने कांग्रेस को 'सूक्ष्म अल्पसंख्यकों' (Microscopic Minority of the People) की प्रतिनिधि संस्था कहा। अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने खुली आलोचना आरम्भ कर दी और मांग की जाने लगी कि सरकार कांग्रेस के विस्तार पर रोक लगाए। कांग्रेस का जो चौथा अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ, उसमें विशेष कठिनाइयां प्रस्तुत हुईं। यू. पी. के गवर्नर सर ऑकलैण्ड कालविन के विरोध के फलस्वरूप सम्मेलन के लिए मकान नहीं मिला और दरभंगा नरेश को राजकीय भवन के सामने का भवन खरीद कर कांग्रेस को देना पड़ा। कालविन को दरभंगा-नरेश के इस कदम से इतना क्षोभ हुआ कि

दौरा करने के बहाने इलाहाबाद से बाहर चला गया। अगले वर्ष ही सरकार ने यह आदेश निकाल दिया कि भविष्य मे कोई भी राजकीय कर्मचारी कांग्रेस के अधिवेशन मे शामिल नही हो सकेगा। षडयन्त्रकारी कार्यों और समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार ने नियम और कानून बनाए। सरकारी विरोध बढ़ता गया लेकिन कांग्रेस की लोकप्रियता मे कमी नही आई। वह दिन-प्रतिदिन अधिक शक्तिशाली होती चली गई। सरकार देशवासियों को आपस में लड़ाने की पूर्व-परिचित नीति का अब राजनीतिक क्षेत्र मे खुलकर प्रयोग करने लगी। कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों को संगठित करने के प्रयास किए गए। 1857 की क्रान्ति के पूर्व और बाद में भारतीय मुसलमान अंग्रेजों के विशेष कोप-भाजन रहे थे, लेकिन अब कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ने के साथ-साथ सरकार मुसलमानों के प्रति अपने रुख मे परिवर्तन करती गई। मुसलमानो को विशेष सुविधाएँ दी गईं और उन्हें अपनी विशेष माँगें रखने का प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश नौकरशाही ने भारत की दो प्रमुख जातियों के मध्य 'भेद की खाई' अधिक गहरी करने की कोशिश की। राष्ट्रीय एकता की भावना पर कुठाराघात करके सरकार ने शुरू-शुरू में ही राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल डालने का असफल प्रयास किया। मुसलमानों का प्रयोग 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के साधन के रूप में किया जाने लगा।[1] कांग्रेस के 1888 के चौथे अधिवेशन मे शेख रजा हुसैन ने धड़ल्ले के साथ कहा—"मुसलमान नही बल्कि उनके मालिक सरकारी हुक्काम है जो कि कांग्रेस के विरुद्ध है।"



1 *Sitaramaya, P.*: The History of the Indian National Congress, p. 108.

2

राष्ट्रीय आन्दोलन का उदारवादी युग
(THE LIBERAL PERIOD OF NATIONAL MOVEMENT)

सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना से लेकर 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को मुख्यतः तीन भागों अथवा युगों में विभाजित किया जाता है—

(1) राष्ट्रीय आन्दोलन का उदारवादी युग (1885–1905)
(2) राष्ट्रीय आन्दोलन का उग्रवादी युग (1906–1919)
(3) राष्ट्रीय आन्दोलन का गांधीवादी युग (1920–1947)।

सन् 1885 में स्थापित कांग्रेस पर 1905 में बंग-विभाजन तक उदारवादियों अथवा नरमवादियों (Moderates) का प्रभुत्व रहा। लार्ड कर्जन के बंगाल-विभाजन के कदम से सारे देश में असन्तोष और आक्रोश की एक लहर फैला दी और कांग्रेस में भी उग्रवादी विचारधारा ने जोर पकड़ा। उग्रवादियों द्वारा उदारवादियों को चुनौती दी जाने लगी और 1907 में कांग्रेस का सूरत विभाजन हुआ, कांग्रेस स्पष्ट रूप से दो खेमों में विभाजित हो गई—उदारवादी खेमा और उग्रवादी खेमा। दोनों खेमें 1915 तक अलग-अलग काम करते रहे, 1916 में मध्यस्थों के प्रयत्नों से (जिसमें एनी बेसेन्ट ने मुख्य भूमिका अदा की), दोनों पक्षों में मेल हो गया, लेकिन यह मेल स्थायी नहीं रह सका। उदारवादियों अथवा नरमपन्थियों का प्रभाव तेजी से घटता गया, अतः उन्होंने कांग्रेस से अलग होकर 1918 में भारतीय उदारवादी संघ की स्थापना कर ली। इसके बाद एक प्रधान राजनीतिक शक्ति के रूप में उदारवादी अपना प्रभाव खो बैठे।

उदारवादियों में प्रमुख स्तम्भ थे—महादेव गोविन्द रानाडे (1842–1901), दादाभाई नौरोजी (1825-1917), फीरोजशाह मेहता (1845-1915), सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848–1925), गोपाल कृष्ण गोखले (1866–191[illegible]) श्रीनिवास शास्त्री (1869–1946) आदि।

उदारवादी विचारधारा[1]
(The Moderate or Liberal School)

उदारवाद ग्रेट-ब्रिटेन मे सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्धान्त था—विशेषकर उस समय जब उसकी शक्ति का विस्तार भारत मे हुआ। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक नेता इस सिद्धान्त से प्रभावित हुए और उन्होंने भारतीय जनता मे उदारवादी धारणाओ के प्रचार का प्रयत्न किया। राजनीतिक क्षेत्र मे उन नेताओ ने उदारवादी परम्पराओ के अनुरूप नागरिक अधिकारो और प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की माँग करते हुए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नए उपयोगी अध्याय का सूत्रपात किया।[2] उनका आर्थिक राष्ट्रवाद, यद्यपि कट्टर उदारवाद रूपरेखा पर नही था, तथापि उन नए सामाजिक वर्गों के हितों के अनुकूल था जो धीरे-धीरे देश मे प्रमुखता धारण करते जा रहे थे। उदारवाद का एक नवीन पहलू राजनीतिक विरोध के प्रति एक सयत अथवा मितवादी दृष्टिकोण (Moderate approach) था। इस दृष्टिकोण की प्रभावशीलता को उन कई भारतीय नेताओं ने चुनौती दी, जो 20वी शताब्दी के प्रारम्भ मे एक प्रबल राजनीतिक शक्ति बनकर उभरे। तभी से, प्रारम्भिक नेता और उनके अनुयायियो को प्राय: 'नरमपथी' (Moderates) और उनके नेतृत्व को चुनौती देने वालो को 'उग्रपथी' (Extremists) कहा जाने लगा।

नरमपथी नेताओ ने स्वय यह महसूस किया कि उनके चिन्तन और दर्शन मे उदारवाद और मितवाद (Liberalism and Moderation) का सम्मिश्रण है। उदारवादी नेताओ मे शीर्षस्थ, गोपाल कृष्ण गोखले ने अपने गुरु महादेव गोविन्द रानाडे के उस स्पष्टीकरण का उल्लेख किया जो उन्होंने नरमपंथी विचारधारा के सन्दर्भ मे दिया था—

"उदारवाद और मितवाद (Liberalism and Moderation) हमारे संघ के प्रमूल या सिद्धान्त होगे। उदारवाद की भावना में जाति और धर्म के मत-मतान्तरों से मुक्ति, मनुष्य और मनुष्य के बीच न्याय की कामना करने वाले सभी लोगो के प्रति श्रद्धा शासको के प्रति वैधानिक रूप मे उचित स्वामिभक्ति पर साथ ही कानूनी हक के रूप मे लोगों के लिए समानता के अधिकार की माँग सन्निहित है। मितवाद मे यह विचार सन्निहित है कि उन आदर्शों अथवा लक्ष्यों के लिए व्यर्थ मे पागल न हुआ जाए जिन्हें प्राप्त करना असम्भव है अथवा जो पहुँच से बहुत दूर है, बल्कि प्रतिदिन उन आदर्शों और अधिकारो की प्राप्ति के लिए स्वाभाविक विकास के रूप मे कदम उठाए जाते रहें, जो निकटवर्ती हों और जिन्हें आपसी समझदारी तथा सद्भावना से प्राप्त किया जा सकता हो।"

सन् 1885 मे अपने जन्म से लेकर 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर उन्हीं नेताओ का प्रभुत्व रहा जो उपरोक्त विचारो से सहमत थे। अत: यदि हम

1 अवस्थी एव अवस्थी : 'आधुनिक भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चिन्तन" से उद्धृत, पृष्ठ 135-49.

2 *K. P Karunakaran* Continuity and Change in Indian Politics

युग को उदारवाद का ही युग कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। इस उदारवाद को ह्यूम, वेडरबर्न, दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे, मदन मोहन मालवीय, श्रीनिवास शास्त्री, हृदयनाथ कुंजरू एन. आर. जैकर आदि विचारकों और नेताओं ने अपना मार्गदर्शन तथा नेतृत्व प्रदान किया। इन्होंने उदारवादी चिन्तन का विकास किया तथा देश के सामाजिक-राजनीतिक जीवन मे विभिन्न रूप मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत का पुनर्जागरण इन्ही प्रारम्भिक नेताओं के द्वारा हुआ और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भी इन्हीं के हाथों हुई। *1905 से इन नेताओं के प्रमुत्व को, इनके नेतृत्व* को, उग्रपंथियों द्वारा चुनौती दी जाने लगी और 1907 मे कांग्रेस स्पष्ट रूप से दो खेमो में विभाजित हो गई—उदारवादी खेमा और उग्रवादी खेमा। दोनों खेमे 1915 तक अलग-अलग काम करते रहे। 1916 में, मुख्यत. एनी बेसेन्ट के प्रयत्नों से, दोनों पक्षों मे मेल हो गया, लेकिन यह मेल चिरस्थायी न रह सका। इस समय तक नरमपंथियों के नेतृत्व को एक नए राजनीतिक क्षेत्र से भी चुनौती मिलने लगी। इस समय तक महात्मा गांधी एक अखिल भारतीय नेता के रूप मे उभरने लग गए थे और उन्होंने तथा उनके अनुयायियो ने शीघ्र ही लगभग सभी अन्य राजनीतिक नेताओं के प्रभाव को मात दे दी, और नरमपंथियो का प्रभाव तेजी से घटने लगा। अतः उन्होंने कांग्रेस से पृथक् होकर 1918 में भारतीय उदारवादी संघ (Indian Liberal Federation) की स्थापना की और इसके माध्यम से अपनी उदारवादी-मितवादी परम्पराओं पर डटे रहकर अपनी देशभक्ति का परिचय देते रहे। वास्तव में 1918 के बाद एक बडी राजनीतिक शक्ति के रूप में उदारवादी अथवा नरमपंथी अपना प्रभाव खो बैठे।

उदारवादियों की माँगें, मनोवृत्ति और कार्य-पद्धति
(Demands, Trends and Methods of the Liberal School)

उदार राष्ट्रवादी, जिन्हें 'प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादी' भी कहा जाता है, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रान्तिकारी रूप देने के पक्ष मे नहीं थे। उनका विचार था कि भारत मे राष्ट्रीय चेतना के उदय का प्रधान श्रेय ब्रिटिश शासन को है और *ब्रिटिश शासन ने ही भारत के सामाजिक जीवन को पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति* का स्पर्श देकर उसमें लोकतन्त्र एवं स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत की है, अत. यह उचित है कि देश में राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र मे स्वाभाविक रूप मे धीरे-धीरे सुधार लाने की चेष्टा की जाए। ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति रखने मे हिचक न हो और ब्रिटिश सरकार भी भारतीयो की आकांक्षाओं और कठिनाइयो को समझ कर उन्हें दूर करे तथा ऐसी संस्थाएँ स्थापित करे जिनमें भारतीयो का प्रतिनिधित्व हो और वे सरकार तथा शासन को उन्नत करने के सम्बन्ध मे सुझाव दे सकें उदारवादियों ने एकदम क्रान्तिकारी रूप में नही वरन् क्रमिक सुधारों मे विश्वास प्रकट किया। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे बडी नरम शब्दावली मे व्याख्यान और प्रस्ताव हुए तथा ब्रिटिश शासकों के प्रति काफी सम्मान प्रदर्शित किया गया।

अध्यक्षीय भाषण में बड़ी विनम्रता के साथ कहा गया—"अधिकारी वर्ग के प्रति राजभक्ति का इजहार करती हुई कांग्रेस सिर्फ इतनी माँग करती है कि सरकार के आधार को विस्तृत किया जाए और जनता को सरकार में उसका उचित और जायज हिस्सा दिया जाए।"[1] वस्तुतः प्रारम्भिक वर्षों के कांग्रेस अधिवेशनों (जिनमें उदारवादियों का ही प्रभुत्व था) की कार्रवाई बहुत संजीदा बल्कि दबे हुए ढंग से होती थी। प्रस्तावों और व्याख्यानों में किसी प्रकार का क्रान्तिकारी जोश दृष्टिगोचर नहीं होता था। माँगों में अवज्ञा अथवा चुनौती का स्वर न होकर आग्रह और प्रार्थना का स्वर ही होता था। पर प्रारम्भ से ही रुख मौलिक सांविधानिक परिवर्तनों की ओर था।[2]

उदारवादियों अथवा नरमपंथियों या प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों की मांगों, मनोवृत्ति और कार्य-पद्धति का स्पष्ट आभास और उनके वास्तविक मन्तव्यों का समुचित मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त होगा कि हम विषय-वस्तु को प्रमुख शीर्षकों में विभाजित करते चलें।

साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन

उदारवादियों का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक काम उनके साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन था। वे यह अच्छी तरह समझते थे कि ब्रिटिश आर्थिक साम्राज्यवाद में निहित उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन रखना है। अतः, उपनिवेशवादी ढाँचे पर खड़ी सरकार की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण आर्थिक नीतियों के विरोध में उदारवादियों अथवा प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों ने प्रभावशाली तर्क रखे तथा आन्दोलन आयोजित किए। "इस दौर के राष्ट्रवादियों ने भारत की बढ़ती हुई गरीबी की चिन्ता अपने लेखों और भाषणों में निरन्तर की और उसे ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण से जोड़ा। दादाभाई नौरोजी ने इशारा किया कि भारतवासी मात्र परजीवी-दास थे। वे अमेरिकी गुलामों से भी बदतर थे क्योंकि, कम-से-कम उनकी देख-रेख उन अमेरिकी मालिकों द्वारा की जाती थी जिनकी वे सम्पत्ति थे।"[3] इन राष्ट्रवादियों ने "परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग के विनाश और आधुनिक उद्योगों के विकास को बाधित करने वाली सरकार की आर्थिक नीतियों की निन्दा की।"[4] उदारवादी नेताओं ने यह विश्वास प्रकट किया कि विदेशी पूंजी का अस्वस्थ निवेश न केवल वर्तमान वरन् भावी पीढ़ी के लिए भी एक गम्भीर आर्थिक तथा राजनीतिक खतरा पैदा करने वाला है।

उदारवादियों ने देश की गरीबी को दूर करने के लिए सुझाव दिया कि भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को—विशेषकर आधुनिक उद्योगों को विकसित किया जाए और भारतीय उद्योग को वित्तीय सुविधाएँ सुलभ की जाएँ। देश के उद्योगों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों ने 'स्वदेशी के विचार'

1-2 ताराचन्द : वही, पृष्ठ 482.
3-4 बिपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, बरुण दे : स्वतन्त्रता संग्राम, पृष्ठ 58.

को भी प्रचारित किया। उन्होंने भू-राजस्व में हुई भारी वृद्धि को कम करने के लिए आन्दोलन चलाया और सरकार से माँग की कि राज्य द्वारा सचालित कृषि बैंको से किसानों को कम ब्याज पर ऋण देने की तथा सिचाई सुविधाओं की व्यवस्था की जाए। कराधान और व्यय के तत्कालीन स्वरूप में भी पूर्ण परिवर्तन करने का उन्होंने आग्रह किया। ब्रिटिश शासकों को स्पष्ट किया गया कि कराधान की जो प्रणाली प्रचलित थी उससे गरीबो पर भारी बोझ पड़ता था।

प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों ने उस पर ऊँची रकम खर्च किए जाने की निन्दा की जिसका इस्तेमाल एशिया और अफ्रीका में ब्रिटेन का आधिपत्य बनाए रखने के लिए होता था। उन्होंने उस नागरिक सेवा के खर्च पर भी आक्रमण किया जिसके सदस्यों को देश के आर्थिक विकास के अनुपात से बहुत अधिक वेतन दिया जाता था। उन्होंने निन्दा की उस सरकारी नीति की जो विदेश व्यापार और रेलों के विकास की अभिवृद्धि इसलिए कर रही थी ताकि उत्पादित माल का आयात और कच्चे माल का निर्यात बढे। उनका कहना था कि व्यापार और यातायात की नीतियाँ इस तरह चलाई जानी चाहिए जिससे देश के भीतर आर्थिक विकास हो।

प्रशासनिक सुधार

उदारवादियो ने दमनकारी प्रशासनिक कदमो की निर्भय आलोचना की और प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा अक्षमता को दूर करने की आवाज उठाई। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार-आन्दोलन था—प्रशासनिक सेवा की उच्चतर श्रेणी के पदों का भारतीयकरण। "यह माँग आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक आधार पर प्रस्तुत की गई।" आर्थिक आधार यह था कि यूरोपवासियों को दिए जाने वाले ऊँचे वेतनों के कारण भारतीय वित्त पर भारी बोझ पड़ता था। राजनीतिक आधार यह था कि यूरोपीय नागरिक प्रशासक भारतीय आवश्यकताओं की उपेक्षा करते थे तथा भारतीय पूँजीपतियो की कीमत पर यूरोपीय पूँजीपतियों के पक्ष-पोषक थे। नैतिक आधार यह था कि उसने भारतीय चरित्र को बोना बना दिया था और उसे स्वदेश में ही हीनता की स्थिति मे ला पटका था। उदारवादियों ने इस बात से भी अप्रसन्नता और विरोध प्रदर्शित किया कि पुलिस तथा सरकारी एजेन्टों का व्यवहार जन-साधारण के प्रति क्रूर और दमनकारी था। उदारवादियो की यह माँग भी बड़ी दूरदर्शितापूर्ण थी कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् किया जाए ताकि जनता को कुछ सुरक्षा प्राप्त हो सके। उन्होंने यह भी माँग की कि सरकार जन-कल्याणकारी कार्यों का अधिकाधिक विकास करे और जनता में शिक्षा के प्रसार में विशेष रुचि ले। तकनीकी तथा उच्चतर शिक्षा के लिए आधुनिक सुविधाएँ और चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुविधाएँ विस्तृत करने की माँग भी की गई।

आधुनिक राज्य और समाज की माँग

कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं ने जागरण के विचारो और जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वकालत की। उन्होने केवल थोड़े से इने-गिने व्यक्तियो दी गई विशेष सुविधाओ को अन्यायपूर्ण बतलाया और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

सामाजिक समानता के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने की अपील की। उन्होंने हिन्दू समाज के पुनर्निर्माण के लिए अतीत के आदर्शो अथवा 'रामराज्य' का गीत नही गाया बल्कि यह पुनर्निर्माण राज्य और समाज के उन आधुनिक सिद्धान्तों के आधार पर किए जाने की माँग की जिनका विचार उन्होने पाश्चात्य विद्वानो और दार्शनिकों से ग्रहण किया था। उदारवादी-मितवादी नेता अतीत के पुनरुज्जीवन मे नही, भविष्य के सुधारों मे विश्वास करते थे और यह बात महत्त्वपूर्ण है कि गोखले ने 'सिविल मैरिज' जैसे सामाजिक सुधारों का स्वागत ही नही किया वरन् इन सुधारो को लागू करने मे राज्य की भूमिका पर भी जोर दिया। गोखले ने निम्नजातीय हिन्दुओ की नैतिक और सामाजिक दशाओं को ऊपर उठाने के प्रश्न को राष्ट्रीय आत्म-हित (National self-interest) के साथ जोड दिया और कहा कि यदि हम अपने देशवासियों के एक बड़े हिस्से को अज्ञान और अवनति तथा हिकारत (घृणा) के गड्ढे मे धकेले रहे तो यह आशा कैसे कर सकते हैं कि हम अपनी राष्ट्रीय आकाँक्षाओं को पूरा कर सकेंगे और अपने देश को विश्व के अन्य राष्ट्रों के बीच सम्मानपूर्ण स्थान दिला सकेंगे। 1897 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए सी शकरन नायर ने इस प्रकार के प्रश्नो पर नरमपंथियो (Moderates) के विचारो को इस रूप में व्यक्त किया—

"हम, यदि आवश्यक हो तो हमारी व्यवस्था से उन सब बातों को दूर करना चाहते है जो उन्नति के मार्ग मे बाधक है। हम उन बातों को ग्रहण करना चाहते हैं जो हमे पश्चिमी सभ्यता मे अच्छी दिखाई दें। यह सब एक उस सरकार के अन्तर्गत असम्भव है जो किसी एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था अथवा धर्म के किसी विशिष्ट स्वरूप का पक्ष ले और दूसरी की उपेक्षा करे, जैसा कि भारत की कुछ प्राचीन सरकारो ने किया था। हिन्दू धर्म के एकान्तवास (Isolation) को भंग करने के लिए, उन्मुक्त सामाजिक सम्पर्क और कार्य की एकता के मार्ग मे आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए, निम्न वर्गों तक शिक्षा का वरदान प्रसारित करने के लिए, स्त्रियो की दशा पुरुषो के समकक्ष लाने के लिए, हमे एक कठोरतापूर्वक धर्म निरपेक्ष सरकार की निरन्तरता की आवश्यकता है और यह उचित है कि हम ऐसी सरकार के प्रति उदारवादी चिन्तन और प्रगति से परिपूर्ण सहानुभूति रखें।"

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा

उदारवादी अथवा नरमपंथी नेता राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध थे। उनके मन में प्रारम्भ से ही आधुनिक नागरिक अधिकारो (भाषण, प्रेस, विचार और सगठन बनाने की स्वतन्त्रता) के प्रति तीव्र आकर्षण था। यही कारण था कि जब कभी विदेशी हुकूमत ने इन नागरिक अधिकारों को सीमित करने अथवा कुण्ठित करने का प्रयत्न किया, तभी उन्होंने जोरदार ढंग से बचाव किया और सरकार पर अस्वस्थ कदम न उठाने का दबाव डाला। उदाहरणार्थ जब 1880–90 के दौरान सरकारी गोपनीयता को बनाए रखने के नाम पर समाचार-पत्रो की आलोचना करने के अधिकार को खत्म करने का प्रयास किया गया तो इसका भारी विरोध हुआ।

"राष्ट्रीय समाचार-पत्र और राजनीतिक संगठन नागरिक अधिकारों पर हुए इस आक्रमण (तिलक तथा अनेक नेताओं और सम्पादकों की गिरफ्तारी) का मुकाबला करने के लिए कमर कस कर तैयार हो गए और देशव्यापी विरोध आन्दोलन आयोजित हुआ।" जब सरकार ने भाषण तथा प्रेस की स्वतन्त्रता को कम करने और पुलिस के अधिकार बढ़ाने के लिए नए कानून बनाए तो इनका देशव्यापी विरोध किया गया। वास्तव में इसी के साथ-साथ नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का संघर्ष स्वतन्त्रता के संघर्ष का एक अविच्छिन्न अंग बन जाने वाला था।[1]

भारतीय एकता की सर्वोपरि आकांक्षा

तत्कालीन परिस्थितियों में भारत जैसे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के लिए आवश्यक था कि देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोग भारतीय एकता की अवधारणा को स्वीकार कर लें। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक नेताओं ने इस अवधारणा के प्रचार-प्रसार में गहरी रुचि ली, यह उनकी प्रथम आकांक्षा रही। 1876 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इटालियन एकता के शिल्पी मैज़िनी के जीवन की ओर अपने देशवासियों का ध्यान आकर्षित किया।[2] दादाभाई नौरोजी तथा अन्य नेताओं ने भारत के विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच खाई को पाटने और देश को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने की आवश्यकता पर बल दिया। उदारवादियों के इन प्रयत्नों के फलस्वरूप शिक्षित भारतीयों में राष्ट्रीय एकता के विचार का विकास हुआ। 1905 में गोखले ने इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया कि "लोगों के मस्तिष्क मुक्ति के लिए कार्यरत एक और संयुक्त भारत के विचार से परिचित हो चले हैं। एक राष्ट्रीय लोकमत का निर्माण किया जा चुका है, देश के विभिन्न प्रान्तों में परस्पर सहानुभूति के निकट बन्धन विकसित हो चुके है, सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में जाति और सम्प्रदाय की पृथकताएँ पूर्वापेक्षा कम बाधक हैं तथा राष्ट्रीय अस्तित्व की सम्मानपूर्ण चेतना सारे देश में प्रसारित हो चुकी है।"

सांविधानिक सुधार तथा स्वशासी सरकार की माँग

प्रारम्भिक नेता इस विश्वास को लेकर चले थे कि क्रमिक सुधार और अधिक प्राप्त करते हुए भारत को अन्ततः एक स्वशासी सरकार की माँग की दिशा में बढ़ना चाहिए। तत्कालीन परिस्थितियों में वे यह उचित समझते थे कि स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में एक-एक करके कदम उठाए जाएँ। यद्यपि उनकी माँगों में चुनौती और आक्रोश का स्वर न होकर आग्रह तथा प्रार्थना का स्वर होता था, लेकिन प्रारम्भ से ही वे मौलिक सांविधानिक परिवर्तनों पर बल देने लगे थे। प्रथम काँग्रेस में सर्वोच्च और स्थानीय कौंसिलों के विस्तार, उनमें काफी संख्या में चुने हुए सदस्यों को लेने और उनके कार्यों के विस्तार की बात कही गई। इस प्रकार जिम्मेदार सरकार के स्थान पर ऐसी सरकार की माँग की गई जिसका आधार जनता के प्रतिनिधियों के

1 विपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, बरुण दे : वही, पृष्ठ 65.
2-3 *K. P. Karunakaran : op. cit., p. 32.*

साथ सलाह हो। यही प्रस्ताव बाद के अधिवेशनों में भी बराबर दोहराया जाता रहा।[1] प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों ने विधायक कौंसिलों अथवा विधान-परिषदों के अधिकारों को व्यापक बनाने और सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि करने की माँग की ताकि वे प्रश्न पूछ सकें, बजट पर बहस कर सकें और आए दिन प्रशासन की समालोचना कर सकें। उदारवादियों तथा उसके प्रयत्नों से उत्पन्न सार्वजनिक दबाव का ही परिणाम था कि सरकार ने पुरानी व्यवस्था में संशोधन करके नया भारतीय विधान परिषद् विधेयक, 1892 पास किया जिसके अन्तर्गत गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई, सदस्यों को बजट पर बोलने का अधिकार भी दिया गया, पर मत देने का अधिकार नहीं मिला। यह अधिनियम भारतीयों के असन्तोष को कुछ भी कम नहीं कर सका, बल्कि उन्हें यही लगा कि उनकी माँगों का मजाक उड़ाया गया। अत परिषद् में गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों के बहुमत की माँग की गई और सबसे बड़ी माँग यह रखी गई कि जनकोष पर गैर-सरकारी भारतीय नियन्त्रण होना चाहिए। यह नारा निश्चय ही महत्त्वपूर्ण था "बिना प्रतिनिधित्व के कराधान नहीं।"[2]

राजनीतिक कार्य के तरीके

प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों ने जो कार्य पद्धति अपनाई, उसी की वजह से उन्हें 'नरमपंथी' की उपाधि मिली। उदार राष्ट्रवाद में अथवा नरम पंथवाद में असांविधानिक प्रणाली को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। सब मिलाकर, प्रारम्भ में कांग्रेस एक सुधारवादी संगठन थी, कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं। उदारवादी राष्ट्रवादियों का ब्रिटिश सरकार की जन्मजात न्यायप्रियता और प्रजातान्त्रिक भावनाओं में असीम विश्वास था, क्योंकि वे अंग्रेजी पढ़े और अंग्रेजी संस्कृति तथा आदर्शों में ढले हुए देश के एक छोटे से विशिष्ट वर्ग का नेतृत्व करते थे। वे भारत में नौकरशाही के आलोचक थे और भारतीयों को शासन में अधिक अधिकार दिए जाने के पक्षपाती थे, किन्तु उनका अंग्रेजों की सदाशयता में तथा ब्रिटिश संस्थाओं की श्रेष्ठताओं में अटूट विश्वास था।[3] वे समझते थे कि भारत सांविधानिक उपायों द्वारा ही, ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग की नीति का पालन करते हुए, धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत, स्वशासन के लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाएगा। इन उदारवादियों की विचारधारा और कार्यक्रम में बहुत-सी दुर्बलताएँ थी तथा उन सबका मूल कारण सम्भवत यही था कि उन्होंने भारत और इंग्लैण्ड के हितों को परस्पर सम्बद्ध मान लिया था।

सामान्यत. जन-आन्दोलनों का हम जो अर्थ लेते है, उस रूप में "उदारवादी नेताओं ने किसी जन-आन्दोलन को प्रोत्साहन नहीं दिया।" हिंसात्मक और क्रान्तिकारी मार्ग में उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं था। वे प्रार्थनाओं, प्रार्थना-पत्रों,

1 ताराचन्द, वही, पृष्ठ 183.
2 विपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी वरुण दे : वही, पृष्ठ 66
3 सुभाष कश्यप : सांविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, पृष्ठ 56-57.

प्रदर्शनों, प्रतिनिधि मण्डलों और स्मरण-पत्रों द्वारा सरकार से अपनी न्याययुक्त माँगों का आग्रह करते थे। उन्हे आशा थी कि स्वाधीनता से प्रेम करने वाली और वैधानिकता का दम भरने वाली ब्रिटिश जाति भारत के साथ आवश्यक न्याय करेगी। उदार राष्ट्रवादी पक्के देशभक्त थे, किन्तु अपने समय की मर्यादाओं और सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि से बँधे हुए थे। उनके प्रभाव के कारण ही कांग्रेस सरकार की आलोचना करने मे अत्यन्त प्रतिष्ठा और संयम रखती थी। डॉ. पट्टाभि सीतारमय्या ने उदारवादियों की वैधानिक पद्धति को इंगित करते हुए कहा कि वे अधिकारियों के समक्ष देश और जनता के दु:खों को अकाट्य तथ्य के रूप मे रखते थे, उनके सामने अकाट्य तर्क पेश करते थे और शासन से प्रार्थना करते थे कि वह उनकी माँगो को शीघ्र से शीघ्र पूर्ण करने का आश्वासन दे। गोखले ने 1905 मे कांग्रेस के अध्यक्ष पद से कहा था—"हमारा भाग्य अंग्रेजों के साथ जुड़ा हुआ है, चाहे वह अच्छे के लिए हो या बुरे के लिए।"

अंग्रेज विचारकों से उदारवादी नेताओं ने स्वतन्त्रता, समानता, लोकतन्त्र और प्रतिनिधि संस्थाओं, व्यक्तिगत गौरव आदि के प्रेरणास्पद विचार ग्रहण किए थे, अतः उनके हृदय में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रति गहरा प्रेम था और मार्गदर्शन के लिए वे इंग्लैण्ड का मुँह देखते थे। ब्रिटिश शासन के प्रति उनकी निष्ठा का एक बड़ा कारण यह था कि 18वीं शताब्दी की अर्द्ध-अराजक अवस्था से अंग्रेजों ने मुक्त किया था और देश में शान्ति तथा व्यवस्था, आवागमन के साधनों और कुशल प्रशासकीय प्रणाली की स्थापना की थी। इन सभी बातों से प्रभावित उदारवादी नेता देश की क्रमशः राजनीतिक मुक्ति के समर्थक थे और सुदूर भविष्य में स्वतन्त्र भारत की कामना भी करते थे, पर तत्कालीन परिस्थितियों में शासन से सम्बन्ध-विच्छेद के पक्ष मे नहीं थे, क्योंकि उन्हें पूरा भय था कि ब्रिटिश शासन के घट जाने अथवा शिथिल पड़ जाने से देश मे पुन अव्यवस्था और अराजकता फैल सकती है। भारतीय उदारवादी ब्रिटिश नौकरशाही में गम्भीर त्रुटियाँ और असंगतियाँ देखते थे, उन पर प्रकाश डालते थे और आशा करते थे कि ब्रिटिश शासन अन्त में उनकी माँगों पर उदारतापूर्वक अपनी स्वीकृति की मुहर लगा देगा। हथेली पर सरसों जमाने की नीति के वे कायल नही थे, क्रमबद्धता ही उनके दर्शन की विधायक थी।

उदारवादियों ने सांविधानिक आन्दोलन और स्वेच्छिक प्रयत्नों का मार्ग ग्रहण किया। ए. अप्पादोराय के अनुसार उदारवादी चिन्तन ने सांविधानिक प्रतिरोध का महत्त्व दो बातो पर आधारित किया। प्रथम, सिद्धान्त पर कोई समझौता नहीं हो सकता, पर जब एक बार सिद्धान्त पर सहमति हो जाए तो क्रमिक स्तरो द्वारा उसे प्राप्त किया जाए। रानाडे और अम्बेदकर का विचार था कि राजनीतिक वार्ताएँ आदि इस बात से प्रेरित होनी चाहिए कि "सम्भव क्या है?" दूसरे शौर्यपूर्ण राजनीतिक तरीकों के अपनाए जाने से पहले उनके लिए तैयारी कर लेनी चाहिए। सी. वाई. चिन्तामणी ने सुझाव दिया था कि लोगों के बीच आपसी फूट, सम्प्रदायवाद और जातिवाद जैसी सामाजिक सीमाओं को, प्रत्यक्ष राजनीतिक तरीकों को प्रभावशाली

रूप मे अपनाने से पूर्व ही, दूर कर लेना चाहिए ।[1] श्रीनिवास शास्त्री ने, जो कि एक प्रमुख उदारवादी नेता थे, बिलकुल ठीक कहा था कि लोकमत की गतिशीलता सांविधानिक प्रतिरोध (Constitutional agitation) का आधार है ।[2]

उदारवादी नेताओं ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक महत्त्व के सभी विषयों को स्पर्श किया और सभी वर्गों की आवश्यकताओं में दिलचस्पी ली, लेकिन वे एक प्रबल जन-आन्दोलन को संगठित करने में सफल नहीं हो सके और इसलिए ब्रिटिश शासन पर अपने प्रयत्नों का वांछित प्रभाव नहीं डाल सके । उन्होंने कानूनी आन्दोलन में विश्वास किया, लेकिन उसे भी वे देशव्यापी स्तर पर संगठित करने या निरन्तर चलाते रहने मे सफल नहीं हुए । इसका एक कारण कोष की नितान्त कमी थी, वे निरन्तर धन के अभाव में रहे, अधिसंख्यक राजनीतिक नेताओं को अपनी ही कमाई का सहारा था जो प्राय बहुत अल्प थी । बहुत कुछ इसीलिए प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों मे , वकालत और पत्रकारिता के दो स्वतन्त्र पेशों के लोगों की प्रधानता रही ।[3]

जनता की भूमिका

उदारवादी चिन्तन से प्रभावित कांग्रेस जनमत को अपने साथ लेकर नही चल सकी । एक तो जनता मे आम तौर से बहुत अज्ञान फैला हुआ था, अतः वह कांग्रेस के महत्त्व को ठीक नही समझ सकी, और दूसरे नेतागण ने भी राजनीतिक प्रश्नो के मामले मे जनता मे विश्वास नही किया । सामाजिक आधार की यह संकीर्णता प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों की मूलभूत कमजोरी रही । वे इस भ्रम में डूबे रहे कि भारतीय जनता मे वह चरित्र और क्षमता नही है जिसके बल पर वह आधुनिक राजनीति मे भाग ले सके और साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध सफल संघर्ष कर सके । लेकिन —"यहाँ पर नरमपथी नेताओं ने एक भयंकर भूल की । उन्होंने जनता के केवल सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को देखा । उन्होंने यह नही देखा कि केवल जनता के पास ही शौर्य और बलिदान के गुण है जिनकी एक लम्बे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष मे आवश्यकता है । केवल जनता ही उनकी राजनीतिक मांगो को आगे बढ़ाने की वास्तविक शक्ति दे सकती थी, यहाँ तक कि समय के साथ-साथ उनके सांस्कृतिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को दूर भी किया जा सकता था ।"

उदारवादी-नरमपथी नेता यह मानकर चले कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध 'एक जुझारू जन-संघर्ष' तभी सम्भव है जब देश के विविध वर्ग के लोग एक राष्ट्र के रूप मे संयुक्त कर दिए गए हो । पर यहाँ भी उन्होंने गलती की क्योंकि "वास्तव मे देश के एक राष्ट्र के रूप मे संयुक्त हो जाने की स्थिति संघर्ष के ही दौरान आई ।" जनता के प्रति इस प्रकार की भ्रामक धारणा से वास्तव मे राष्ट्रीय आन्दोलन की गति को

1-2 *A. Appadorai* Indian Political Thinking—From Naoroji to Nehru, p 28
3 विपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी वरुण दे : वही पृष्ठ 68.

प्राणवान नहीं बना सकी। यह एक खेदजनक तथ्य था कि राष्ट्रवादिता के प्रारम्भिक दौर में जनता को एक निष्क्रिय भूमिका निभाने का दायित्व दिया गया। पर यदि हम निष्पक्षता से देखें तो उदारवादी नेताओं के इस गलत रुख का कारण भी स्पष्ट नजर आता है। जनता में उस समय अलग-अलग वर्ग थे, मतभेद गहरे और व्यापक थे, तथा उन्हें यह अनुमान सम्भवतः नहीं हो सका था कि यदि "जुझारू जन-संघर्ष" की फिजा पैदा कर दी गई तो बिखरे मतभेद हवा में उड़ जाएँगे और राष्ट्रीय आन्दोलन की वेगवती धारा में सब वर्गों के लोग साथ-साथ डूबने और तैरने को कमर कस लेंगे।

जो भी हो, जन-समर्थन के अभाव में सरकार को समुचित चुनौती नहीं दी जा सकी और उदारवादी नेताओं ने यही सोचा कि तत्कालीन परिस्थितियों में सरकार को चुनौती देने का मतलब वक्त से पहले ही दमन को न्योता देना है। गोखले ने कहा भी—"आप यह महसूस नहीं करते कि सरकार के पीछे कितनी अपार शक्ति है। यदि आपके सुझाव के अनुसार कांग्रेस कुछ करेगी तो सरकार को पाँच मिनट में ही उसका गला घोंट देने में कठिनाई नहीं होगी।" वस्तुतः बाद के राष्ट्रवादियों और उन नरमपंथियों में इसी मामले में असहमति थी। उन्हें भारतीय जनता की संघर्ष करने की क्षमता में पूरा विश्वास था। इसलिए उन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक जुझारू जन-संघर्ष चलाने की योजना की पैरवी की। उन्हें यकीन था कि सरकार के दमन से आन्दोलन का गला नहीं घुटेगा बल्कि जनता शिक्षित होगी और साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने का उसका इरादा पहले से ज्यादा मजबूत होगा।

सरकारी प्रतिक्रिया

राष्ट्रीय कांग्रेस की रीति-नीति शासन को नहीं भाई। डॉ. ताराचन्द के अनुसार "जिन प्रस्तावों में जिम्मेदार सरकार की माँग की जाती थी और सरकारी कार्यों की आलोचना करते हुए व्याख्यान दिए जाते थे, विशेषकर साम्राज्यवादी विस्तार नीति और युद्धों की निन्दा के प्रस्ताव, वे ब्रिटिश शासकों को बहुत अखरते थे। इससे भी अधिक नाराज वे उन पुस्तिकाओं पर हुए, जिनमें भारतीयों की शिकायतों का ब्यौरा था। कहना न होगा कि पुस्तिकाओं का प्रकाशन लगातार राजनीतिक आन्दोलन की योजना का एक अंश था। यह गतिविधि बढ़ते हुए आन्दोलनों और तनाव की पूर्व सूचना थी तथा आयरलैण्ड के होमरूल आन्दोलन के साथ इसकी समता की जा सकती थी।"

यह तथ्य बहुत जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय कांग्रेस अथवा अन्य राष्ट्रवादी संगठन और व्यक्ति या समाचार-पत्र अपने कार्य-क्षेत्र को—अपनी गतिविधियों को सीमित नहीं रखेंगे। प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों द्वारा आम जनता में जो राजनीतिक चेतना विकसित की जाने लगी उसे अंग्रेज शासक बर्दाश्त नहीं कर सके। वायसराय कर्जन ने कांग्रेस को एक 'गन्दी चीज' कहा और कुछ अं... प्रशासकों ने तो कांग्रेस पर यह अभियोग तक लगाया कि उसे रूस से पैसा ... है। बढ़ते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन का मुकाबला करने के लिए ब्रिटिश ...

'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर और अधिक बल दिया तथा सैय्यद अहमद खाँ, राजा शिव प्रसाद तथा अन्य ब्रिटेन समर्थक व्यक्तियों को एक काँग्रेस-विरोधी आन्दोलन शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया। साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने के लिए बडी चालाकी के साथ हिन्दी और उर्दू के विवाद का फायदा उठाया गया तथा कट्टरपन्थी हिन्दुओं द्वारा आरम्भ किए गए 'गौ-वध बन्द' आन्दोलन का इस्तेमाल भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया। भारतीय मामलों के मन्त्री किम्बरले ने 25 अगस्त, 1893 को वायसराय लैंसडाउन को लिखा—"यह आन्दोलन हिन्दुओं और मुसलमानों के सारे मेल-जोल को असम्भव बना देता है। इस तरह वह भारतीय जनता को एकबद्ध करने के कांग्रेस के आन्दोलन की जड काट देता है।" 1890 और 1900 के बीच ब्रिटिश सरकार के प्रयास हुए कि उमेशचन्द्र बनर्जी, न्यायाधीश रानाडे और गोखले जैसे कुछ पुराने कट्टरपन्थी नेताओं को उग्रवादी समझे जाने वाले दादाभाई नौरोजी और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे नेताओं से पृथक् कर दिया जाए। 1905 के बाद कांग्रेसी नेताओं में जब मतभेद स्पष्ट उभर आए तो ब्रिटिश शासकों ने दोनों गुटों (नरमपन्थियों और उग्रपन्थियों) में फूट डाल देने का कृत-सकल्प प्रयत्न किया।

ब्रिटिश अधिकारियों ने 'डाँट-पुचकार' की नीति का भी अनुसरण किया। डॉ विपिनचन्द्र आदि के अनुसार "एक तरफ दिखावे के लिए रियासतें और दूसरी तरफ राष्ट्रवादिता के विकास को खत्म करने के लिए निर्ममतापूर्ण दमन का आश्रय लिया गया। नागरिक सेवाओं में भर्ती के लिए अधिकतम आयु सीमा में रियायत, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के लिए सम्भावनाओं को बढाकर जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं के अधिकारों को व्यापक करके और भारतीय परिषद् विधेयक, 1892 को पारित करके राष्ट्रवादियों की अपेक्षाकृत अधिक नरमपन्थी वर्ग के लोगों को सन्तुष्ट किया गया। लेकिन उसी के साथ कमजोर दिल वालों को दहलाने के लिए दमन की नीति भी अपनाई गई।" 1898 में वायसराय एल्गिन ने धमकी दी—"भारतवर्ष तलवार के बल पर जीता गया था और तलवार के बल पर ही उसे ब्रिटिश कब्जे में रखा जाएगा।" कानूनों द्वारा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता सीमित करदी गई और पुलिस तथा दण्डनायकों के अधिकार बढा दिए गए। शिक्षा, उसके संगठन और पाठ्य-पुस्तकों पर अधिकाधिक नियन्त्रण की नीति अपनाई गई तथा उसके आधुनिक उदार चरित्र को बदल देने की योजनाएँ आगे बढाई गईं। वास्तव में अंग्रेजों की नीति ने 19वीं शताब्दी का अन्त आते-आते यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद प्रगतिशील तत्वों को पीछे धकेलते हुए प्रतिक्रियावादी शक्तियों से गठजोड करने और भारत में बढती हुई राजनीतिक चेतना को कुचल देने के लिए सन्नद्ध है।

उदारवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Evaluation of Liberation)

प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों अथवा उदारवादियों और नरमपन्थियों को

व्यावहारिक धरातल पर अधिक सहायता नहीं मिली। ब्रिटिश सरकार ने उनकी माँगों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। यदा-कदा वह किसी छोटी माँग को स्वीकार भी कर लेती थी, परन्तु शासन में कोई मौलिक परिवर्तन करने और भारतीयों को शासन में भागीदार बनाने को तैयार नहीं हुई। ब्रिटिश शासकों ने उदारवादी नेताओं के साथ उपेक्षापूर्ण बर्ताव किया और उनकी राजनीति की खिल्ली उड़ाई। लाला लाजपतराय के शब्दों में "अपनी शिकायतों का निवारण कराने और रियायतें पाने के लिए उन्होंने 20 साल से अधिक समय तक कमोबेश जो निरर्थक आन्दोलन चलाया उसमें उनको रोटियों के बजाय पत्थर मिले।" प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादी आम जनता को अपने पक्ष में नहीं ले सके। उनकी राजनीति की खिल्ली उड़ाते हुए आलोचकों ने कहा कि वह 'लगड़ी' और 'आधे मन' की थी तथा उनकी याचिकाओं और निवेदन के उनके तरीके भीख माँगने जैसे थे। यह भी कहा गया कि कुछ अपवादों को छोड़कर अधिसंख्यक उदारवादी-नरमपन्थी नेताओं ने न तो व्यक्तिगत त्याग किए और न ही निजी तकलीफें उठाईं। उनका कार्यक्रम भी पूँजीवाद के संकीर्ण दायरे में सीमित रहा। वे यह सोचकर नहीं चले कि भारत का विकास पूँजीवादी चौखटे से बाहर हो सकता है। फलस्वरूप आम जनता पर उनकी अपीलों का गहरा असर नहीं पड़ा और राजनीतिक कार्यक्रम को आगे ले जाने की उनकी क्षमता सीमित रह गई। उदारवादियों की विचारधारा और कार्यक्रम में अनेक दुर्बलताएँ छाई रहीं और इस सबका एक मूल कारण यह रहा कि उन्होंने भारत और इंग्लैण्ड के हितों को परस्पर सम्बद्ध मानने की भूल की।

उदारवादियों-मितवादियों पर जो भी आरोप लगाए जाएँ और उनके विपक्ष में जो भी कहा जाए, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी नरम नीति और कुछ सीमा तक कार्य-प्रणाली में क्रियाशीलता के अभाव के बावजूद उन्होंने उपयोगी कार्य किए जिनके महत्त्व को कम नहीं आँका जा सकता। 'यदि हम उन अपरिमित कठिनाइयों को ध्यान में रखें, जिनका उन्हें अपने काम के सिलसिले में मुकाबला करना पड़ा—तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनका अमल नामा काफी रोशन है। व्यापक अर्थ में यह उनकी उपलब्धि ही थी, जिसने बाद के राष्ट्रीय आन्दोलनों को अधिक उन्नत अवस्था तक पहुँचाया।" प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अपने समय की सर्वाधिक प्रगतिशील शक्तियों का प्रतिनिधित्व किया और भारतीय राजनीति में एक निर्णायक मोड़ की स्थिति को सम्भव बनाया। उनके उपयोगी कार्यों का मूल्यांकन निम्न बिन्दुओं से भली भाँति किया जा सकेगा —

1 उदार राष्ट्रवादियों ने प्रेस और प्लेटफार्म से राजनीतिक माँगों का डट कर प्रचार किया, फलस्वरूप शिक्षित भारतीय प्रभावित हुए और देश के राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगे। उन्हें व्यापक स्तर पर राजनीतिक चेतना पैदा करने में सफलता मिली। शिक्षित वर्ग में यह भावना विकसित हुई कि उनका सम्बन्ध एक राष्ट्र से है—भारत नाम के राष्ट्र से। उदारवादियों-मितवादियों ने देशवासियों को इस दृष्टि से जागरूक किया कि उनके राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक हित

एक है तथा उन सभी का एक ही शत्रु है जो साम्राज्यवाद के रूप मे मौजूद है। जनता मे जनतन्त्र और नागरिक स्वतन्त्रता के विचारों के प्रचार-प्रसार मे उन्हे निश्चित रूप से सफलता मिली।

2. उदार राष्ट्रवादियो ने सरकारी कार्यो की नरम आलोचना की, किन्तु इसके द्वारा उन्होंने शासन की त्रुटियो को प्रकट किया और जनता के सामने सरकार के नग्न रूप को ला खडा किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के वास्तविक चरित्र का पर्दा फाश करने मे उन्होने दिशा-निर्देशक का काम किया।

3 उदारवादियों-नरमपन्थियो ने लगभग सभी महत्त्वपूर्ण आर्थिक प्रश्नों को भारत की राजनीतिक स्वाधीनता की समस्या के साथ जोडा और इस प्रकार देश के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक एव आर्थिक पहलुओ को सफलतापूर्वक उजागर किया। उनके आर्थिक आन्दोलन ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नैतिक आधारशिला की धज्जियाँ उडा दी और ब्रिटिश शासन की सदाशयता के भ्रामक विश्वास को बुरी तरह डगमगा दिया। ब्रिटिश साम्राज्य की सभी असलियत को उघाड़ कर उन्होंने भावी राजनीतिक आन्दोलन के लिए व्यापक सामाजिक आधारशिला प्रस्तुत करदी।

4. 1885 और 1905 के बीच का समय भारतीय राष्ट्रवाद का बीजारोपण का समय था और उदारवादी चिन्तकों ने इस बीज को अच्छी तरह और गहराई से बोया। उन्होने देशवासियो को जाग्रत किया कि वे साम्प्रदायिक और प्रान्तीय धरातलो से ऊपर उठें तथा अपने हृदय मे सामान्य राष्ट्रीयता की भावना विकसित करें। यह एक महत्त्वपूर्ण सफलता थी कि उन्होने सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार-विमर्श के लिए एक रंग-मच प्रदान किया तथा भावी राजनीतिक आन्दोलन के लिए प्रबल जनमत का सगठन करने का वातावरण पैदा कर दिया। डॉ. विपिनचन्द्र आदि के शब्दो मे "उन्होने अपनी राष्ट्रवादिता को सतही सवेगों और अस्थाई भावनाओं को जाग्रत करने के आग्रह या स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अमूर्त अधिकार या धुँधले अतीत को याद दिलाने की अपील पर आधारित नही किया, वरन् उसकी जगह पर उसे आधुनिक साम्राज्यवाद के पेचीदा ढाँचे के भावुकता से मुक्त और गहरे विश्लेषण तथा भारतीय जनता और ब्रितानी शासन के हितों के मुख्य अन्तर्विरोध की जमीन मे गाड़ा। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसा समान राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसने भारत के विभिन्न वर्गों के लोगो को विभाजित करने की जगह एकबद्ध कर दिया। बाद मे भारतीय जनता उस कार्यक्रम से सम्बद्ध हुई और उसने एक सशक्त सघर्ष शुरू किया।"

अत यह कहा जा सकता है कि अपनी कतिपय असफलताओ के बावजूद प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियो ने राष्ट्रीय आन्दोलन की एक ऐसी ठोस नीव रखी जिस पर उसका अगला विकास सम्भव हुआ। गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा था—"इसमे कोई सन्देह नही कि आने वाली पीढियो को देश-सेवा के कार्य मे सफलताएँ मिलती रहेंगी। हमें, यानी वर्तमान पीढी के लोगो को, अपनी असफलताओं के बावजूद उसकी सेवा करके सन्तुष्ट होना चाहिए क्योंकि ये सफलताएँ कठोर भले

ही हों, शक्ति उन्हीं से फूटेगी जिससे अन्ततः महान् कार्य पूरे होंगे।" गुरुमुख निहालसिंह का यह मूल्यांकन उपयुक्त है कि "प्रारम्भिक कांग्रेस ने राजभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति, आवेदन आदि ही नहीं अपितु भिक्षा-वृत्ति के बावजूद भी उन दिनों राष्ट्रीय जागरण, राजनीतिक शिक्षा, भारतीयों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने और उनमें सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने का कठिन परिश्रम किया था।" अन्त में, डॉ. पट्टाभि सीतारमय्या ने ठीक ही लिखा है कि "प्रारम्भिक कांग्रेसियों की भीरुता और भिक्षावृत्ति को उपहास की दृष्टि से देखना बड़ा सरल है, परन्तु "उस समय जब भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कोई नहीं था, उन लोगों ने जो रुख ग्रहण किया था, उसके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव में छः फीट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गड़े हुए हैं क्या उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो है जिनके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। पहले उपनिवेशों के ढंग का स्वशासन फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होमरूल, इसके बाद स्वराज्य और सबके ऊपर जाकर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिल एक के बाद एक बन सकी है।"

फीरोजशाह मेहता
(Pherozshah Mehta, 1845–1915)

फीरोजशाह मेहता संविधानवादी और उदारवादी थे तथा भारत के लिए ब्रिटिश शासन के लाभों में उनकी आस्था जीवन-पर्यन्त बनी रही। पर साथ ही ब्रिटिश शासन के दोषों को प्रकट करने में भी उन्होंने अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक साहस और निर्भीकता प्रदर्शित की। फीरोजशाह ने इलबर्ट बिल के विरोध में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वे उन व्यक्तियों में थे जिनका सम्पर्क कांग्रेस के साथ प्रारम्भ से ही रहा। कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम के निर्माण में उन्होंने बहुत प्रमुख भूमिका निभाई। "कई वर्ष तक वे कांग्रेस के पीछे एक वास्तविक शक्ति के रूप में थे। उन्होंने जो कुछ भी कार्य किया वह अधिकतर उन समितियों, शिष्ट-मण्डलों और प्रतिनिधि-मण्डलों द्वारा ही किया जिसके वे सदस्य चुने गए थे। 1907 में उन्होंने नरम-दल की ओर से सूरत-कांग्रेस के अवसर पर कांग्रेस-कार्य में कुछ क्रियात्मक भाग लिया। इसके बाद वे दृष्टि से बिलकुल ही ओझल हो गए। लाहौर-कांग्रेस के 24 वें अधिवेशन के जब वे सभापति चुने गए तब यकायक उन्होंने कांग्रेस के सभापति का आसन ग्रहण करने से 5 दिन पहले स्तीफा दे दिया। अतः उसके स्थान पर पण्डित मदन मोहन मालवीय कांग्रेस के सभापति चुने गए।"

ब्रिटिश सरकार ने फीरोजशाह को *1894* में सी. आई. ई. और *1903* में के. सी. आई. ई. के खिताब दिए। श्री मेहता ने सन् *1913* में बम्बई क्रोनिकल (Bombay chronical) की स्थापना की। गुर्दे के आपरेशन के लिए वे इंगलैण्ड गए और वहीं 5 नवम्बर *1915* को उनकी जीवन लीला समाप्त हो गई।

फीरोजशाह मेहता के राजनीतिक विचार और उनकी कार्य पद्धति

जन-इच्छा, संसदीय प्रणाली और सांविधानिक साधनों में आस्था—फीरोज

शाह मेहता और उदारवादी-मितवादी भारतीय चिन्तन के प्रवक्ता थे। मेहता का संसदीय प्रणाली और सांविधानिक मार्ग में अडिग विश्वास था। जनता की इच्छाओं और संकल्पों, सद्भावना, आदर्श तथा प्रेम पर आधारित राजनीतिक शक्ति में उनकी आस्था थी। वे चाहते थे कि जनता का राष्ट्र-प्रेम शान्तिपूर्ण उपायों से आगे बढ़े। मेहता का कहना था कि राजनीतिक शक्ति का वास्तविक आधार नैतिकता है और कोई भी सरकार अन्ततोगत्वा जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं पर ही निर्भर रह सकती है। जो सरकार जनइच्छा का विरोध करके शक्ति और भय पर स्थित रहने की चेष्टा करती है, उनका पतन निश्चित है। मेहता इस बात के विरोधी थे कि अधीनस्थ राज्य अथवा औपनिवेशिक जनता के प्रति साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा शक्ति-प्रयोग की नीति अपनाई जाए। मेहता ने संसदीय प्रणाली में अपनी निष्ठा प्रकट की। उनकी मान्यता थी कि कार्यपालिका को विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। सांविधानिक साधनों में उनका अडिग विश्वास जीवन-पर्यन्त रहा। स्वभाव से वे रूढ़िवादी थे, अतः आकस्मिक और अहिंसात्मक परिवर्तनों के स्थान पर 'क्रमिक तथा व्यवस्थित प्रगति' में विश्वास करते थे। राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने सदैव केवल संविधानिक साधनों के प्रयोग का ही समर्थन किया और उग्रवादी नेताओं की नीतियों तथा साधनों का कड़ा विरोध किया।

ब्रिटिश शासन और भारत के साथ उसके सम्बन्धों की उपयुक्तता में विश्वास—दादाभाई नौरोजी और महादेव रानाडे के समान ही फीरोजशाह मेहता भी ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे और ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्पर्क बनाए रखने में ही भारत का हित देखते थे। उनका कहना था कि हमें ब्रिटिश राज्य को विवशतापूर्वक सहन करने की अपेक्षा एक दैविक इच्छा समझकर स्वीकार करना चाहिए। भारत में ब्रिटिश राज्य तलवार पर आधारित नहीं था, क्योंकि बुद्धिमान ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की नीति न्याय पर आधारित थी। श्री मेहता का विचार था कि सम्पूर्ण प्रजा के लिए समानता और न्याय के आधार पर भारत पर शासन करने की ब्रिटिश नीति को बड़े सोच-विचार के बाद अपनाया गया है और यह नीति किसी निर्बल भावना पर आधारित नहीं है अथवा केवल सम्मान या न्याय भावना से प्रेरित होकर नहीं अपनाई गई है वरन् इसलिए भी अपनाई गई है कि यह स्वयं ब्रिटेन के भी हित में है। मेहता को ब्रिटिश संस्कृति, सदाशयता और राजनीतिक दूरदर्शिता में भारी विश्वास था। मेहता, ब्रिटिश शासन की श्रेष्ठता और सर्वोच्चता को स्वीकार करते हुए भी उन जोशीले अंग्रेजों और आंग्ल-भारतीयों की पोल खोलने तथा खिल्ली उड़ाने में नहीं चूके जिन्होंने व्यावसायिक लाभ प्राप्त करने की नीति अंगीकार की थी।

भारतीय स्वतन्त्रता के आदर्श का उपदेश नहीं—फीरोजशाह मेहता ने कांग्रेस के सांविधानिक और राष्ट्रीय स्वरूप की कामना की, लेकिन साथ ही यह भी चाहा कि वह ब्रिटिश ताज के प्रति वफादार बनी रहे क्योंकि भारत का सुख और कल्याण तथा सुशासन ब्रिटिश राज्य के अभाव में सम्भव नहीं है। फीरोजशाह को आशा थी कि ब्रिटिश शासकों की कृपा से किसी दिन मैकाले का यह स्वप्न पूरा होगा कि भारतीय भी गौरवपूर्ण नागरिकता की सुख-सुविधाओं का उपयोग करें।

स्वतन्त्र अधिकारों द्वारा स्थानीय स्वशासन का समर्थन—फीरोजशाह मेहता उदारवादी विचारो से ओतप्रोत थे और स्वतन्त्रता तथा मानव अधिकारो के उपासक थे। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने देशवासियो को सदैव प्रेरणा दी कि वे अपने अधिकारो के प्रति जागरुक बनें और सांविधानिक मार्ग द्वारा उन्हें प्राप्त करने के लिए तत्पर रहें। किसी भी प्रकार की निरंकुशता उन्हें असह्य थी, लेकिन उनका विरोध शक्तिशाली होते हुए भी मर्यादित होता था। श्री मेहता ने आर्म्स एक्ट तथा प्रेस एक्ट जैसे प्रतिक्रियावादी कानूनो का कड़ा विरोध किया और इल्बर्ट बिल का प्रबल समर्थन किया। श्री मेहता अन्य भारतीय उदारवादी-मितवादी नेताओं के समान सत्ता के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध थे और स्थानीय स्वायत्तता के विकास के आकांक्षी थे। रानाडे और बनर्जी आदि की भाँति फीरोजशाह मेहता ने भी स्थानीय निकायों की शक्तियों का प्रसार करने पर बल दिया। मेहता को विश्वास था कि यदि स्थानीय निकायों को उपयुक्त नियन्त्रण सहित कुछ वास्तविक शक्तियाँ और जिम्मेदारियाँ सौंपी जाएँ तो वे सही मायनो मे अच्छे ढ़ग से काम कर सकेंगे।

राजनीतिक पुनर्जागरण के लिए शिक्षा पर बल—शिक्षा के विस्तार मे ब्रिटिश शासन के कार्यकलापो मे श्री मेहता को आस्था थी। उनका विश्वास था कि भारतीयो के जीवन मे सार्वजनिक एवं वैयक्तिक दायित्व तथा वफादारी के उच्च आदर्शो का समावेश केवल शिक्षा के माध्यम से ही किया जाना सम्भव है। किन्तु उनकी बौद्धिक प्रेरणा का मुख्य स्रोत पाश्चात्य संस्कृति थी। उनका यह विश्वास देशभक्ति के गौरव के अनुकूल नही था कि भारत का पुनरुद्धार पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति द्वारा ही सम्भव था।

जन-साधारण के कष्टों के प्रति सहानुभूति—मेहता मे जन-साधारण के प्रति व्यापक सहानुभूति थी। वे चाहते थे कि कांग्रेस जन-साधारण की तकलीफो को समझे, प्रकाश मे लाए और उनके निराकरण का प्रयत्न करें। कांग्रेस के सम्बन्ध में प्रायः दो आरोप लगाए जाते थे—एक तो यह कि कांग्रेस राजद्रोह के लिए लोगों को प्रेरित करती है और दूसरा यह कि कांग्रेस अल्पमत लोगों की संस्था है जिसका जन-साधारण से कोई सम्बन्ध नही। जहाँ तक प्रथम आरोप का सम्बन्ध था, मेहता ने अपनी पूरी सामर्थ्य और शक्ति से उसका खण्डन किया। दूसरे आरोपो को उन्होंने इतनी विनम्रता के साथ स्वीकार किया कि आरोपकर्त्ता के लिए बचाव का रास्ता ही बन्द हो जाता था। उनका तर्क था कि भारत राजनीतिक दृष्टि से अभी तक इतना जागरुक नही हो पाया था कि साधारण जनता राजनीति में क्रियाशील रहे, और वैसे उन्होंने कहा कि यदि कांग्रेस साधारण जनता से अधिक सम्बद्ध नही है तो भी उसके नेता तो जन-साधारण से सम्बद्ध हो सकते है और ऐसा करने मे उन्हे कोई कष्ट नही होगा।

श्री मेहता जीवन-पर्यन्त जन साधारण की आस्थाओं के आधार स्तम्भ

रहे और उनकी मृत्यु पर देशवासियों के हर वर्ग ने गहरा आघात अनुभव किया। मेहता सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वस्थ सुधारों और प्रगति के पोषक रहे।

गोपाल कृष्ण गोखले
(Gopal Krishna Gokhale, 1866–1915)

गोपाल कृष्ण गोखले की महानता इस बात में थी कि राजनीति में उन्होंने नैतिक मूल्यों को स्थान दिया तथा विभिन्न हलचलों, राजनीतिक झंझावातों और उग्रवादियों के प्रतिरोध के बावजूद बड़े धैर्य और संयम के साथ सांविधानिक मार्ग पर चलते रहे। गोखले ने सदैव क्रमिक सुधारों का पक्ष लिया और भारत के लिए एकाएक स्वशासन की माँग को अव्यावहारिक माना। ब्रिटिश चरित्र और परम्परा में, ब्रिटिश उदारवादिता में उन्हें सदैव विश्वास बना रहा और वे कहते रहे कि न्यायप्रिय अंग्रेजों को जिस दिन विश्वास हो जाएगा कि भारत स्वशासन के लिए सक्षम है, वे यह अधिकार भारतीयों को दे देंगे। पर अन्य उदारवादी नेताओं की भाँति गोखले का भी जीवन के अन्तिम वर्षों में ब्रिटिश सरकार पर से विश्वास डगमगाने लगा और वे स्पष्ट रूप से यह शिकायत करने लगे कि नौकरशाही स्वार्थपूर्ण है तथा खुल्लमखुल्ला राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विरुद्ध होती जा रही है।

गोपाल कृष्ण गोखले 1884 में एलफिन्सटन कालेज, बम्बई से बी. ए. पास करने के उपरान्त पूना के एक अंग्रेजी स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए जो आगे चलकर विख्यात फर्ग्युसन कॉलेज के रूप में विकसित हुआ। गोखले इस कालेज से 1902 में प्रिंसिपल पद से रिटायर हुए। 22 वर्ष की अल्प आयु में ही गोखले बम्बई विधान परिषद् के सदस्य बन गए। श्री गोखले ने 1889 में कांग्रेस में प्रवेश किया। 1902 में गोखले केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्य बने। परिषद् में उनके बजट-भाषण बहुत ही तर्कपूर्ण और आकर्षक हुए। उन्होंने परिषद् के सदस्य के रूप में नमक कर को हटाने, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को शुरू करने, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के साथ भेदभाव न बरतने, सरकारी व्यय कम करने आदि की दिशा में बड़े प्रभावी रूप में अपनी शक्ति लगाई। 1905 में गोखले बनारस कांग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए। केवल 39 वर्ष की आयु में इस गौरवपूर्ण पद पर पहुँचने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। 1907 के सूरत-विच्छेद के बाद गोखले ने कांग्रेस के कार्यकलापों में महत्त्वपूर्ण भाग लिया और नरम दल के नेता के रूप में वे अनेक वर्षों तक कांग्रेस के कर्णधार का काम करते रहे। भारत के प्रतिनिधि के रूप में गोखले अनेक बार इंग्लैण्ड गए। गोखले जनता की आकांक्षाओं को वायसराय तक पहुँचाते थे और सरकार की कठिनाइयों को कांग्रेस। गोखले ने 1909 के सुधारों का पहले स्वागत किया, लेकिन बाद में सुधारों के व्यावहारिक रूप पर घोर निराशा प्रकट करते हुए नौकरशाही के कार्यों की कटु आलोचना की। 1912 में वे दक्षिण अफ्रीका गए और रंग-भेद नीति विरोधी आन्दोलन में उन्होंने गांधीजी को सहायता दी।

गोखले एक व्यावहारिक आदर्शवादी और राजनीति के क्षेत्र में सच्चे उदारवादी थे। उनकी मान्यता थी कि कांग्रेस को भारतीय प्रशासन में धीरे-धीरे

सुधारों का आन्दोलन करना चाहिए। गोखले का यह भी विश्वास था कि देश का पुनर्निर्माण राजनीतिक उत्तेजना की आँधी से नही बल्कि धीमे-धीमे ही हो सकता है। गोखले नौकरशाही के विरुद्ध थे और जनतन्त्र सरकार के समर्थक। उन्होने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया और यह माँग की कि भारत में भारतीयों को सरकारी सेवाओं में प्रवेश मिले, निर्वाचन प्रणाली का प्रारम्भ हो तथा सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाए। ब्रिटिश सरकार गोखले को एक छिपा हुआ राजद्रोही (A Seditionist in disguise) समझती थी, क्योंकि वे सरकार की निर्भीक आलोचना करने से नही चूकते थे। गोखले नरम राष्ट्रीयता के अनुयायी थे, अत: तिलक जैसे उग्रवादी नेता उन्हे एक कमजोर दिल का नरम नेता (A faint-hearted moderate) कहते थे। पर दृष्टिकोण न ब्रिटिश सरकार का सही था और न उग्रवादियों का। गोखले राजद्रोही या क्रान्तिकारी नही थे चूँकि वे सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार का विद्रोह उत्पन्न नही करना चाहते थे। वे तो केवल याचिकाओं और संविधानिक आन्दोलनों द्वारा भारत मे ब्रिटिश नौकरशाही के दोषो को समाप्त कर भारतीयों के लिए अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहते थे। अन्य उदारवादियों के समान वे भी भारत के लिए स्वशासन के आकांक्षी थे, लेकिन यह स्वशासन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही होना था।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे यद्यपि गोखले का सरकारी नेकनीयती पर से विश्वास डगमगाने लगा, तथापि उन्हे यह पक्का विश्वास बना रहा कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलन को गति मिलेगी और 25 वर्षों में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त होगी।"[1] गोखले ने भारत के सुधारो की एक योजना तैयार की जिसे 'गोखले की राजनीतिक वसीयत" कहा जाता है।

गोखले का राजनीतिक दर्शन और उनकी कार्यविधि

गोपाल कृष्ण गोखले भारतीय राजनीति के महान उदारवादी नेता और राजनीतिक गुरु थे जिन्होंने तत्कालीन भारतीय राजनीति और प्रशासन में क्रमिक सुधारो का पक्ष लिया तथा एकाएक स्वशासन की माँग को अव्यावहारिक माना। क्रान्ति या विप्लव के विचारो से वे कोसो दूर थे। सार्वजनिक जीवन का वे आध्यात्मीकरण करना चाहते थे। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति और साधुवृत्ति के कारण ही महात्मा गांधी ने उन्हे अपना राजनीतिक गुरु माना।

ब्रिटिश उदारवाद में विश्वास, प्रजातान्त्रिक आधार पर निर्मित साम्राज्यवाद की आलोचना—गोखले की धारणा थी कि अन्ततः एक नवीन अंग्रेज राजनीतिज्ञता का उदय होगा जो भारत के साथ न्याय करेगी। गोखले ब्रिटिश साम्राज्वादी शासकों की न्याय और उदारता की भावना को उकसा कर उन्हें भारत को अपने साम्राज्य के भीतर ही स्वशासन देने को तैयार करना चाहते थे। गोखले का विचार था कि उग्रवादी साधनों से भारत का अहित ही होगा। "वे कहा करते थे कि मनोवैज्ञानिक

1 दुर्गादास : भारत—कर्जन से नेहरू और उनके पश्चात्, पृष्ठ 54.

विधि से कार्य करके ही ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती है कि अंग्रेज तथा भारतवासी दोनों अपने हितों को एकरूप समझने लगें।"[2] गोखले ने प्रजातिक आधारों पर निर्मित साम्राज्यवाद को निम्न कोटि का साम्राज्यवाद कहा। इस बात से उन्हे बडा कष्ट पहुँचता था कि अंग्रेज भारतवासियों को शासित मानकर उनके प्रति हीन सा व्यवहार करें।

सहयोग की कामना—अपने समकालीन उदारवादियों की भाँति गोखले ही भारत के लिए ब्रिटिश शासन के कल्याणकारी स्वरूप में विश्वास करते थे। उनकी धारणा थी कि ब्रिटेन के साथ सम्पर्क बनाए रखने से भारतीयो की बौद्धिक प्रतिभा चमकेगी, दृष्टिकोण विकसित होगा और भावी भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। भारत को विश्व-राष्ट्रों के समुदाय के बीच एक सम्मानित स्थान प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सहायता और सम्पर्क अपेक्षित था। गोखले इस बात के लिए आभार प्रदर्शित करते थे कि अशान्त और अराजक भारत में अंग्रेजों ने आकर शान्ति स्थापित की। पाश्चात्य शिक्षा, गोखले की दृष्टि में भारत के लिए एक मुक्तिदायिनी शक्ति थी और भारत मे इसका अधिकाधिक विस्तार होना चाहिए था। गोखले के अनुसार यदि भारतीयों ने पाश्चात्य शिक्षा का बहिष्कार किया तो यह एक गम्भीर भूल होगी। गोखले ने यद्यपि ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश भारत सहयोग में आस्था प्रकट की, लेकिन ब्रिटिश शासको के साम्राज्यवादी रवैये की निर्भीक आलोचना करने से वे कभी पीछे नही हटे। उन्होने भारत वासियों को उत्तरदायित्व के पदों से वंचित रखने की नीति को अनुचित ठहराया। उन्होंने कहा कि इससे भारतीयो के व्यक्तित्व का ह्रास होगा और उनका नैतिक स्तर गिरेगा। गोखले ने नौकरशाही के हाथो मे केन्द्रीयकरण की बुराइयों को प्रकट किया। भारत के प्रति शोषणवादी अर्थनीति की भी उन्होंने तार्किक आलोचना की।

राष्ट्रीय दृढ़ता और एकता में विश्वास—गोखले ने राष्ट्रीय एकता का सन्देश दिया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को भारत राष्ट्र के लिए कल्याणकारी माना। गोखले ने ऐसे किसी भी आन्दोलन का स्वागत नही किया जिसके फलस्वरूप इन दोनो जातियों मे वर्ग-चेतना के प्रसार का भय हो। लोकमान्य तिलक ने गणपति और शिवाजी उत्सवो के प्रति उन्होंने कोई रुचि नही दिखाई। गोखले ने 12 जून, 1905 को 'भारत सेवक समिति' (Servants of India Society) नामक संस्था की स्थापना की। सोसाइटी मे संविधान की प्रस्तावना मे ब्रिटिश सम्बन्ध को भारत के हित-साधन के लिए एक प्राकृतिक विधान मान लिया गया। संविधान मे चरित्र तथा क्षमता-निर्माण पर जोर दिया गया और कहा गया कि सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मीकरण अनिवार्य है। हृदय स्वदेशानुराग से इतना ओत-प्रोत हो जाना चाहिए कि उसकी तुलना मे और सभी तुच्छ जान पडने लगे। ऐसी उत्कट देशभक्ति जाग्रत होनी चाहिए जो मातृभूमि के लिए त्याग करने का प्रत्येक अवसर पाकर प्रफुल्लित हो उठे।

1 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वही, पृष्ठ 71.

राजनीति का आध्यात्मीकरण—गोखले राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकता से अनुरंजित करना चाहते थे। राष्ट्र के निर्माण के लिए नैतिक चरित्र का उत्थान और सामाजिक उत्तरदायित्वों का भान आवश्यक है। गोखले सदैव साध्य के ऊपर साधनों की प्रधानता पर बल देते थे। उन्हें भय था कि यदि साधनों की पवित्रता और चरित्र की उत्कृष्टता में विश्वास न रखा गया तो भारतीय अपनी समस्याओं का सन्तोषजनक समाधान नहीं कर सकेंगे और उन्हें भविष्य में जो स्वशासन या स्वराज्य प्राप्त होगा, उसका भी सुन्दर फल वे नहीं चख सकेंगे।

स्वशासन और संवैधानिक आन्दोलन की धारणा—अपने समकालीन उदारवादी नेताओं की भाँति गोखले भी भारत के लिए स्वशासन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत चाहते थे। गोखले का विश्वास था कि ब्रिटिश नौकरशाही के फलस्वरूप प्रशासन में जो आर्थिक और अन्य दोष प्रवेश कर गए थे, उनका निराकरण स्वशासन द्वारा ही हो सकता था। अस्वशासन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था—"ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण को प्रतिष्ठित करना, विधान परिषदों का विस्तार और सुधार करते-करते उन्हें वास्तविक निकाय बना देना और जनता को सामान्यतः अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने देना।" 1905 में बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने कहा—"कांग्रेस का लक्ष्य यह है कि भारत भारतीयों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रशासित होना चाहिए। एक निश्चित समयावधि में भारत में ऐसी ही सरकार गठित हो जानी चाहिए जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य स्वशासित उपनिवेशों की सरकार है।"

गोखले का संवैधानिक साधनों में, संवैधानिक आन्दोलन में अटल विश्वास था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन के लक्ष्य को वे संवैधानिक तरीकों से ही प्राप्त करना चाहते थे। इलाहाबाद में 4 फरवरी 1907 को अपने भाषण में गोखले ने संवैधानिक आन्दोलन (Constitutional Agitation) का अभिप्राय एक ऐसा आन्दोलन बतलाया जिसमें संविधानिक सत्ताओं (Constituent authorities) की कार्रवाई द्वारा ही वांछित परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है। गोखले के अनुसार प्रथम तो संविधानिक आन्दोलन में हिंसा, विद्रोह, सशस्त्र क्रान्ति अथवा विदेशी आक्रमण की सहायता या आमन्त्रण आदि की पद्धतियों को स्थान नहीं मिलता। याचिकाएँ, न्याय के लिए प्रार्थना, निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्ताव और यहाँ तक कि विरोध प्रकट करने और न चुकाना [illegible] संविधानिक पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। [illegible] authorities) द्वारा ही [illegible] लिए निराशाओं के बावजूद [illegible] पर यह दबाव प्रभावशाली [illegible] और उसका दृढ़ विश्वास [illegible] "भिक्षावृत्ति" (Mendicancy) [illegible] किया। [illegible]

अनुचित था, क्योंकि गोखले ने भिक्षावृत्ति का नही वरन् आत्म-निर्भरता और बलिदान का संदेश दिया था ।

सत्ता के केन्द्रीकरण का विरोध—गोखले सत्ता के केन्द्रीकरण के पक्ष मे नही थे । भारतीयो को उनके अधिकार तभी प्राप्त हो सकते थे जब ब्रिटिश सरकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाती । गोखले की मान्यता थी कि सत्ता का केन्द्रीकरण प्रशासकीय निरंकुशता को बढाता है ।

प्रशासकीय सुधारों की आकांक्षा और तत्कालीन माँगें—गोखले भारत मे वित्तीय, प्रशासकीय और आर्थिक सुधारो के जबर्दस्त समर्थक थे । गोखले का विचार था कि ब्रिटिश शासन मे बढते हुए सैनिक व्यय (Growing Military Expenditure) और बढते हुए गृह-व्यय (Increasing Home Charges) के फलस्वरूप भारतीयो के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने पर कोई ध्यान नही दिया है । गोखले ने ब्रिटिश नौकरशाही व्यवस्था के दोषों की ओर सकेत किया । उन्होंने कहा—इस नौकरशाही के तीन मुख्य दोष थे—(1) यह व्यवस्था अत्यधिक केन्द्रीकृत है, (2) भारतीय शिक्षित वर्ग को सत्ता से बाहर रखना असन्तोषजनक है, एवं (3) अधिकारी प्रत्येक प्रश्न पर अपनी सत्ता बनाए रखने की दृष्टि से अपनी सत्ता के हितो की दृष्टि से विचार करते है, तथा लोगो के हितों को गौण समझते है । गोखले ने सरकार पर निरन्तर इस बात के लिए दबाव डाला है कि जन-कल्याण पर अधिक व्यय करे, सरकारी कर्मचारियो की सख्या घटाए, सैनिक व्यय कम करें तथा आर्थिक और प्रशासनिक सुधार के लिए आवश्यक कदम उठाए ।

गोखले ने बनारस कांग्रेस की अध्यक्षता करते समय नौ तात्कालिक माँगें प्रस्तुत की और सरकार से आग्रह किया कि इन माँगों को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति के लिए प्रयास किए जाएँ । ये माँगें थी—(1) विधान परिषदो का सुधार किया जाए, उसके लिए निर्वाचित सदस्यो का अनुपात बढाकर आधा कर दिया जाए तथा ऐसी व्यवस्था की जाए कि बजट परिषदो द्वारा ही पारित किए जाएँ, (2) इण्डिया कौन्सिल मे कम से कम तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किए जाएँ, (3) देश के सभी जिलो मे सलाहकार परिषदो की रचना की जाए और जिलाधीश प्रशासन के महत्त्वपूर्ण मामलो मे अनिवार्य रूप से इन परिषदो की राय ले, (4) भारतीय लोक सेवाओं की न्यायिक शाखा के लिए नियुक्तियाँ वकील वर्ग मे से की जाएँ, (5) न्यायिक तथा कार्यपालिका विभागों का पृथक्करण, (6) भारी सैनिक व्यय मे कटौती, (7) प्राथमिक शिक्षा का प्रसार (8) देहाती जनता को ऋण के बोझ से राहत देना, तथा (9) औद्योगिक तथा प्राविधिक (तकनीकी) शिक्षा का विकास तथा प्रसार । ये माँगें भारतीय उदारवाद के राजनीतिक दर्शन का सारांश प्रकट करती है ।

स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन—गोखले 'बहिष्कार' को एक ऐसा अस्त्र मानते थे, जिसका प्रयोग और कोई चारा बाकी न रहने पर ही किया जाना चाहिए ।

शासितों की शिकायतों की ओर शासकों का ध्यान आकृष्ट करने का यह एक ऊपयोगी साधन था। गोखले इसे विधि-सम्मत हथियार मानते थे। स्वदेशी आन्दोलन उनके लिए एक देशभक्ति पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार का आन्दोलन था। अधिक व्यावहारिक रूप मे यह आर्थिक ही था।

गोखले जीवन-पर्यन्त अपने महान राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों के लिए संघर्ष करते रहे। यद्यपि उनकी राजनीतिक धारणाएँ पश्चिमी विचारों से प्रेरणा लिए थी, परन्तु उन्होंने पश्चिम की धारणाओ को भारतीय हितो के मापदण्ड के ऊपर रखा, पश्चिम के दर्शन को भारत की परिस्थितियो के अनुसार ढालना और संशोधित करना चाहा। ब्रिटिश शासन की भारत विरोधी सभी नीतियो का उन्होने डटकर सांविधानिक ढंग से विरोध किया और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने ढ़ग से आगे बढ़ाया।



3 राष्ट्रीय आन्दोलन का उग्रवादी युग

(THE EXTREMIST PERIOD OF NATIONAL MOVEMENT)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दूसरे चरण की शुरूआत उग्रवादी राजनीति के उदय के साथ हुई। उदारवादी अथवा मितवादी विचारधारा का प्रभाव 1905 तक तथा कुछ-कुछ उसके बाद भी बना रहा, लेकिन 19वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक ऐसी निराशाजनक घटनाएँ घटीं जिससे उदारवादी-मितवादी विचारों और कार्यों के प्रति असन्तोष बढ़ता गया। उदारवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई और नरम वैधानिक साधनों के स्थान पर उग्र साधनों को अपनाए जाने पर बल दिया जाने लगा। वैसे 'उग्रवाद' (Radicalism or Extremism) शब्दावली के प्रयोग के उदय की समीक्षा करते हुए लोकमान्य तिलक ने, जो कि स्वयं एक उग्रवादी थे, कहा था कि हमारी नीतियों के सन्दर्भ में दो नए शब्द हाल ही में अस्तित्व में आए हैं, और वे हैं नरमपन्थी (Moderates) तथा उग्रवादी (Extremists)। ये शब्द वस्तुत: समय के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रखते हैं, अत: समय के अनुसार ही इनमें परिवर्तन आ जाएगा। आज के उग्रवादी कल नरमपन्थी बन जाएँगे, ठीक उसी प्रकार कि आज के नरमपन्थी कल उग्रवादी थे।[1] यहाँ उग्रवाद से हमारा मन्तव्य उन लोगों के राजनीतिक दर्शन से है जो भारत में 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'उग्रवादी' समझे जाते थे।

उग्रवादियों में लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल और उनके समर्थक मुख्यत: थे। 1916 से 1918 की अवधि में श्रीमती एनी बेसेन्ट और इण्डियन होम रूल लीग में उनके सहयोगी भी सरकार तथा उदारवादी नेताओं द्वारा उग्रवादी माने जाते थे।[2]

उग्रवाद : राजनीतिक दर्शन और आधारभूत अवधारणाएँ (Extremism : Its Political Philosophy and Basic Assumptions)

लाल-बाल-पाल और अरविन्द घोष जैसे नए नेताओं ने तत्कालीन भारतीय

1 *B. G. Tilak* : Speeches. (Poona, 1908), p. 21

2 *K. P. Karunakaran* . वही, पृष्ठ 56.

राजनीति में एक नूतन प्राणधारा का विकास किया। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन की रागिनी में नया स्वर भरा, उसे नई गति और नई दिशा प्रदान की। मांगों और प्रार्थनाओं का स्थान अब राष्ट्रीय आन्दोलन और क्रान्ति की पुकार ने ले लिया। ये नेता उग्रवादी कहलाए क्योंकि उनका दृष्टिकोण उदार अथवा सुधारवादी न होकर क्रान्तिकारी था। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सक्रिय विरोध करने पर जोर देते थे। उनका विश्वास था कि हाथ पाँव जोड़कर अंग्रेजों से प्रार्थनाएँ करने तथा स्वतन्त्रता की भीख मांगने से कभी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। उसके लिए स्वावलम्बन, संगठन और संघर्ष की आवश्यकता होती है।[1]

लोकमान्य तिलक ने कहा कि अपने उद्देश्यों से नहीं बल्कि अपने तरीकों या अपनी पद्धति से उनके दल ने 'उग्रवादी' नाम अर्जित किया है। उग्रवादियों का उद्देश्य वही था जो नरमपन्थियों का था और वे भी ब्रिटिश शासन को समूल उखाड़ने के पक्ष में नहीं थे, बल्कि चाहते थे कि देश के प्रशासन में लोगों को भाग लेने की शक्ति व्यापक स्तर पर मिले, लेकिन उनकी (उग्रवादियों की) चिन्तन शैली यह थी कि नौकरशाही पर दबाव डाला जाना चाहिए ताकि वह यह अनुभव करे कि सब कुछ ठीक ठाक नहीं चल रहा है।[2] तिलक ने अपने दल की स्थिति की व्याख्या करते अधीनस्थ पदों के अन्य सब पदों से वंचित है। इस प्रश्न का जो उत्तर है, उसके सम्बन्ध में हमारा तथाकथित नरमपन्थियों से मतभेद है। नरमपन्थी अब भी आशा करते है कि प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर, किसी अखबार को समर्थन देकर अथवा अपने उद्देश्य की नैतिकता की दुहाई देकर इंग्लैण्ड में सार्वजनिक मत को प्रभावित किया जाए। पर उग्रवादियों का इस पद्धति पर से विश्वास हट चुका है। उग्रवादी दूसरे ही तरीकों का निश्चय कर चुके हैं। हमारा उद्देश्य आत्म-निर्भरता है, भिक्षा-वृत्ति नहीं। स्वदेशी आन्दोलन के अलावा, हमारा विश्वास बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध में भी है।[3]

इसी प्रकार के विचार दूसरे उग्रवादी नेताओं द्वारा भी व्यक्त किए गए। लाला लाजपतराय ने कांग्रेस के प्रारम्भिक नरमपंथी नेताओं की इस बात के लिए आलोचना की कि वे ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश राष्ट्र से प्रार्थना की भाषा में बात करते थे। लाला लाजपतराय का कहना था कि प्रार्थना तो हमें अपने स्वयं के लोगों से और अपने भगवान से करनी है, विदेशी हुकूमत से नहीं। अरविन्द घोष ने कहा कि उग्रवादियों का विश्वास, नरमपंथियों से भिन्न, दूसरे साधनों में है। उदाहरणार्थ, "एक बुरी और दमनकारी वित्तीय व्यवस्था का सही इलाज केवल यही है कि उन लोगों को करारोपण पर नियन्त्रण सौंपा जाए जिनका धन सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। प्रशासकीय निर्दयता को समाप्त करने का प्रभावशाली साधन

1 सुभाष काश्यप : भारत का सांविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, पृष्ठ 50.
2 *K. P. Karunakaran* : वही, पृष्ठ 56.
3 Quoted by *K. P. Karunakaran* : वही, पृष्ठ 57.

केवल यह है कि अनुत्तरदायी सरकार को नहीं बल्कि जनता को कार्यपालिका और न्यायपालिका का नियन्त्रक वेतनदाता बनाया जाए। देश से धन की निकासी को रोकने का केवलमात्र सम्भव तरीका यह है कि एक लोकप्रिय सरकार की स्थापना की जाए जो भारतीय व्यापार और वाणिज्य का संरक्षण और संवर्द्धन करे और जिसका सञ्चालन भारतीय राजधानी से हो तथा जिसमे भारतीय श्रम को रोजगार मिले। देश की राजनीति, 20वी शताब्दी की राजनीति का यही उद्देश्य है जिसे हम सरकार की वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध भारत की जनता के सामने रखना चाहते है।"

लाल-बाल-पाल आदि नेताओ ने "उग्रवादियों" की व्याख्या की, तथापि नही समझना चाहिए कि इस शब्दावली का कोई कठोर और सुनिश्चित अर्थ था, उग्रवादियो को और भी विभिन्न रूपों में परिभाषित किया गया था। उदाहरण के लिए, एक तत्कालीन भारतीय पत्रिका के सम्पादक ने उग्रवादियों को तीन वर्गों में विभाजित किया था—प्रथम वर्ग के लोगों का विचार था कि उन्हे ब्रिटिश शासन से कोई लेना-देना नही है बल्कि उन्हें अपने आत्म-निर्भर प्रयत्नों से अपने समस्त ससाधनो का विकास करना चाहिए। दूसरे वर्ग के लोगों का विचार था कि ब्रिटिश शासन की निरन्तरता हमारी स्वाभाविक प्रगति के विरुद्ध है और हमें अंग्रेजो को अपने देश से बाहर निकाल देने के लिए तैयारी करनी चाहिए और जितना शीघ्र और जितने सर्वोत्तम तरीके से सम्भव हो सके, हमे अंग्रेजो का स्थान ले लेना चाहिए। तीसरे वर्ग के लोगों का मत था कि अंग्रेजो को भारत से अविलम्ब चले जाने और हमें अपने भाग्य भरोसे छोड़ देने की बात स्पष्ट रूप से कह देनी चाहिए।

उग्रवादियो को उनकी पद्धतियों के आधार पर कतिपय विचारकों ने इन तीन वर्गों मे बाँटा था—(1) क्रान्तिकारी, (2) वे व्यक्ति जो क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थे और गुप्त रूप से उनकी सहायता करते थे, किन्तु कानून के भय से स्वय को क्रान्तिकारी स्वीकार नही करते थे, एवं (3) विदेशी प्रभुत्व से छुटकारा पाने को अधीर थे, लेकिन हिंसात्मक पद्धतियो के विरोधी थे।

वास्तव मे यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उदारवाद की भाँति उग्रवाद मे भी उस समय दो विचारधाराएँ मुख्य रूप से विकसित हुई—उग्रवादी (Extremism) और क्रान्तिकारी (Revolutionary)। दोनों ही विचारधाराओं मे मौलिक समानता थी और दोनों का उद्देश्य था—ब्रिटिश शासन से मुक्त होकर पूर्ण स्वराज्य को प्राप्त करना। अन्तर केवल दोनों के साधनो में था। उग्रवादी अशान्तिपूर्ण और सक्रिय साधनों मे विश्वास करते थे, आतंकवाद मे नही। उनका विश्वास ब्रिटिश वस्तुओं और संस्थानों के बहिष्कार द्वारा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण मे था। इसके विपरीत क्रान्तिकारी हिंसा और आतंकवाद में विश्वास करते थे तथा हिंसात्मक क्रान्ति के बल पर स्वराज्य प्राप्ति की आशा करते थे। विचारधाराओं की तुलनात्मक विवेचना करते हुए गुरुमुख निहालसिंह ने लिखा है—

"इन दोनों मे धार्मिक भावना समाई हुई थी, पर दोनों का मार्ग भिन्न था। दोनों ही विचारधाराओं के नेतागण साहसी व्यक्ति थे। उनमे आत्म-बलिदान और

स्वतन्त्रता की भावना भरी थी, प्रबल देश-प्रेम व्याप्त था और विदेशी राज्य के प्रति घृणा थी। पुराने कांग्रेसियो की भाँति उन्हे अंग्रेजों की उदारता और सच्चाई मे विश्वास नही था। उनकी राजनीतिक भिक्षावृत्ति मे भी उन्हे कोई निष्ठा नही थी। उन्हे तो आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र कार्यों मे विश्वास था। इन नेताओ की प्रेरक भावनाएँ एक ही थी। वे भारत और उसकी जनता के पश्चिमीकरण के खिलाफ थे। वे प्रबल ही नही वरन् उग्र राष्ट्रवादी थे जिनका उद्देश्य था—स्वतन्त्र भारत फिर प्राचीन वैभव, समृद्धि और पवित्रता से परिपूर्ण हो। दोनों मे भेद केवल मार्ग का था।"

आधारभूत मान्यताएँ

उग्रवादी चिन्तनधारा पर अपना मत अभिव्यक्त करते हुए डॉ सुभाष काश्यप ने लिखा है, "उग्रवाद ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति तो क्रान्तिकारी भावना का द्योतक था ही, वह भारतीय राष्ट्रीयता की उदारवादी प्रवृत्ति और सुधारवादी नेताओ के विरुद्ध भी विद्रोह का शंखनाद था।" 1904, 1905 और 1906 के अपने अधिवेशनो मे कांग्रेस ने सांविधानिक सुधारों की आवश्यकता पर जोर तथा 'स्वराज' के अपने उद्देश्य की घोषणा की। स्वराज्य का अर्थ उस समए वैसी ही शासन-व्यवस्था था जैसी कि स्वशासित उपनिवेशो मे। कांग्रेस ने यह भी माँग की कि विधान परिषदो का तुरन्त विस्तार किया जाए ताकि उनमे "जनता का अधिक और सचमुच प्रभावी प्रतिनिधित्व तथा देश के प्रशासनिक और आर्थिक मामलो मे कुछ ज्यादा नियन्त्रण हो सके।" उग्रवादियो ने "ब्रिटिश सरकार के विरोध मे स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन आरम्भ किए जिनके द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन और सांविधानिक विकास के इतिहास में एक नए अध्याय की रचना हुई।"[1]

उग्रवादियों का राजनीतिक आन्दोलन जिन कतिपय आधारभूत मान्यताओ पर टिका था, उन्हें डॉ. के. पी. करुनाकरन ने निम्नवत प्रस्तुत किया है[2]—

(1) यह समझते हुए कि ब्रिटिश जनता को प्रार्थना करने से भारतीयों के कष्टों या शिकायतों मे कमी की बात अयथार्थवादी है, एक राजनीतिक आन्दोलन खड़ा करना।

(2) भारत की ये शिकायतें केवल नागरिक सेवाओ के भारतीयकरण, भारतीय सैनिक व्यय मे कमी और आर्म्स एक्ट जैसे विशिष्ट विधानों तथा बंग-विभाजन जैसे प्रशासकीय कदमो के विरोध तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि वे देश के प्रशासन में भारतीयों के अधिक हाथ बँटाने और ब्रिटेन द्वारा भारत के शोषण को समाप्त करने जैसी अधिक बड़ी और विषम समस्याओ से सम्बन्धित थी।

(3) इन शिकायतों को दूर करने के लिए राजनीतिक आन्दोलन इस दृष्टिकोण से चलाया जाना कि वह आन्दोलन जनता मे राष्ट्रीय आकांक्षाओ को भर सके, और इसी उद्देश्य से 'स्वराज' के लिए लोगों मे उत्साह जाग्रत करना।

1 सुभाष काश्यप : वही, पृष्ठ 60.
2 *K. P. Karunakaran* · वही, पृष्ठ 60.

(4) आन्दोलन की तकनीक इन विचारों पर आधारित थी—(अ) भारत के महान अतीत के गौरव प्राचीन इतिहास के गौरवपूर्ण युग और शिवाजी जैसे ऐतिहासिक वीरों का सन्दर्भ देना, (आ) लोगों में धार्मिक उत्प्रेरणाएँ जगाना—देश को एक देवी के रूप में प्रस्तुत करना और राजनीतिक आन्दोलन के प्रति जोश जगाने के लिए दुर्गा पूजा जैसे कार्यो और उत्सवों को प्रोत्साहन देना, (इ) राष्ट्रीय शिक्षा का पुनर्गठन, (ई) आर्थिक स्तर पर ब्रिटिश और अन्य विदेशी माल का बहिष्कार तथा स्वदेशी माल को प्रोत्साहन, (उ) राजनीतिक क्षेत्र में भारत मे ब्रिटिश शासन के प्रति असहयोग, और यदि आवश्यक हो तो निष्क्रिय प्रतिरोध, तथा (ऊ) न केवल भारतीय परम्पराओं पर बल्कि भारतीय भाषाओं के विकास पर उत्तरोत्तर अधिकाग्रह करना तथा राष्ट्रीय आन्दोलन मे अधिकाधिक संख्या मे लोगों को खीचने के उद्देश्य से भारतीय परम्पराओ और भारतीय भाषाओ के व्यापक प्रयोग पर आधारित राजनीतिक आन्दोलन संचालित करना ।

श्री करुनाकरन ने लिखा है कि 20वी शताब्दी के आरम्भ में उग्रवादी सम्प्रदाय के राजनीतिक नेता किसी ऐसे राजनीतिक दर्शन के विकास में कोई अभिरुचि नही रखते थे जिसका उद्देश्य राज्य और सरकार तथा सरकार के साथ व्यक्ति के सम्बन्धों आदि का ढांचा प्रस्तुत करना हो, वे तो केवल कुछ तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्यो को प्राप्त करने और उसके लिए राजनीतिक आन्दोलनो को सचालित करने हेतु आवश्यक रण-नीति की खोज में लगे हुए थे । फिर भी उनकी गतिविधियो ने और राजनीतिक आन्दोलन को संचालित करने की उनकी चिंतनधारा ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कुछ ऐसे आधारभूत पहलुओं पर अपनी छाप छोडी जिनमे कि उसका राजनीतिक दर्शन निहित है । यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उग्रवादियों के प्रमुख नेताओ के विचारों मे कोई पूर्ण मतैक्य नही था और कभी-कभी वही व्यक्ति अपने पहले के विचारो मे संशोधन कर देता था अथवा उनमें परिवर्तन के संकेत प्रकट करता था । अतः 'उग्रवादियो का राजनीतिक दर्शन' जैसी शब्दावली का हमें बड़ी सावधानी से प्रयोग करना चाहिए । तथापि यह अवश्य है कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति तत्कालीन भारत में प्रचलित राजनीतिक चिंतन के कतिपय मुख्य लक्षणों का संकेत देती है और उन राजनीतिक आन्दोलनों की विशेषताओं को इंगित करती है जो लाल-बाल-पाल और अरविन्द घोष जैसे नेताओं द्वारा चलाए गए थे ।

उग्रवाद के उदय के कारण
(Causes of the Rise of Extremists)

तत्कालीन भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय के अनेक कारण थे जिनमें से प्रमुख हैं—(1) उदारवादियो के तरीकों की असफलता, (2) ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति, (3) आर्थिक दुर्दशा, (4) प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार, (5) लार्ड कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीति और बगाल का विभाजन, (6) प्लेग का प्रकोप, (7) देश के बाहर की घटनाएँ, (8) धार्मिक राष्ट्रवाद,

(9) राष्ट्रीय साहित्य, (10) पाश्चात्य क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रभाव आदि। यहाँ इन कारणों का कुछ विस्तृत वर्णन अपेक्षित है।

1. कांग्रेस की स्थापना के बाद से ही उसमें लगभग दो दशाब्दियों तक उदारवादियों का प्रभुत्व रहा, लेकिन प्रार्थना आदि के अपने वैधानिक और नरमपंथी तरीकों से वे भारत के हित में कोई विशेष सफलताएँ अर्जित नहीं कर सके। शताब्दी की समाप्ति के समय तक किसानों, मजदूरों और गाँवों के सम्भ्रान्त लोगों के मनों में असन्तोष और निराशा बहुत बढ़ गई। 1892 के अधिनियम के अन्तर्गत किए गए सुधार एकदम नाकाफी थे। कांग्रेस ने प्रतिवर्ष सुधार सम्बन्धी माँगों का प्रस्ताव करना जारी रखा, लेकिन सरकार ने इस अनुरोध की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। "अतः आश्चर्य नहीं कि उन नरमपंथी नेताओं की लोकप्रियता निरन्तर घटने लगी, जो सरकार से सुधार की पैरवी करते जा रहे थे। जो अवश्यम्भावी था, वह घटा। परिस्थितियों ने बड़ी संख्या में उन नेताओं को मैदान में उतार दिया जो अपनी माँगों में आमूल परिवर्तनवादी थे, और जो राष्ट्रवादिता के एक युद्धोन्मुखी रूप में विश्वास करते थे।"[1]

2. ब्रिटिश शासन ने अपनी प्रतिक्रियावादी नीति से भारतीयों को विक्षुब्ध कर दिया। लॉर्ड लैंसडाउन (1888–94) ने ऐसे कानून पास किए जिनके कारण करेन्सी (Currency) सम्बन्धी कठिनाइयाँ शुरू हो गई। लॉर्ड एल्गिन (1894–98) के कार्य-काल में नौकरशाही ने बड़ा अत्याचार किया, बड़ी कठोर नीति अपनाई और दैनिक कार्यों में अन्धाधुन्ध खर्चा किया। 1898 के अन्त में लॉर्ड कर्जन आया जिसने अपने 7 वर्ष के शासन में अत्यन्त क्रूर व्यवहार किया। उसने कलकत्ता कॉरपोरेशन कानून, भारतीय यूनिवर्सिटी एक्ट, आफिशियल सीक्रेट्स एक्ट आदि अनेक दूषित कानून बनाकर देश में असन्तोष की लहर फैला दी। उसकी क्रूर नीति के कारण कांग्रेस की आन्दोलनात्मक शक्ति में वृद्धि हुई।

3. 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारतीयों को भीषण आर्थिक संकटों का, अकालों का, महामारियों का सामना करना पड़ा, लेकिन सहायता कार्य के प्रति उत्तरदायी प्रशासन-यन्त्र बड़ा अपर्याप्त और उत्साहहीन रहा। अतः भारतीयों ने महसूस किया कि यदि राष्ट्रीय सरकार होती तो देशवासियों को इन दुर्दशाओं का सामना नहीं करना पड़ता। सरकार के उपेक्षापूर्ण व्यवहार पर भी उदारवादी नेता सरकार के प्रति निष्ठा और प्रार्थना का राग अलापते रहे, अतः उसकी आलोचनाएँ होने लगीं और नवयुवकों तथा नेताओं के एक बड़े वर्ग में यह निश्चय पनपने लगा कि वे ब्रिटिश शासन का अन्त करेंगे, चाहे उन्हें उग्र और हिंसात्मक मार्ग क्यों न अपनाना पड़े।

4. ब्रिटिश उपनिवेशों के निवासी भारतीयों के साथ होने वाले अन्यायपूर्ण, अभद्र और असभ्य व्यवहार ने भारत में उग्रवादी विचारों को प्रोत्साहन दिया।

1 विपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण दे : वही, पृष्ठ 79.

भारतीयों को इस बात से कष्ट पहुँचा कि प्रवासी देशवासियों के साथ दुर्व्यवहार का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की जाति-भेद की नीति और उदासीनता है।

5. लॉर्ड कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीति से उग्रवाद को बड़ा संबल मिला। कर्जन ने जाति-भेद की नीति को बड़ा प्रोत्साहित किया और यहाँ तक कह दिया कि पश्चिमी लोगों में सभ्यता है जबकि पूर्वी लोगों में मक्कारी पाई जाती है। भारतीयों को अयोग्य समझते हुए अंग्रेजों के साथ उसने हर क्षेत्र में खुल कर पक्षपात किया। उसने एकीकृत और केन्द्रित शासन की कठोर नीति अपनाई तथा अनेक अन्यायपूर्ण कानून बनाकर देश में असन्तोष की लहर फैला दी। कर्जन द्वारा 1905 में बंग-भंग ने न केवल बंगालियों में अपितु सारे देश में घोर असन्तोष और राष्ट्रीयता की प्रबल लहर को जन्म दिया। बंगाल के विभाजन का कोई वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक आधार नहीं था। उसका एक मात्र उद्देश्य था "बढ़ती हुई बंगाली राष्ट्रीयता को रोकना।" कर्जन के इस कदम से लोगों का उदारवादी साधनों पर विश्वास एकदम उठ गया और उग्रवाद अंगड़ाई लेकर उठ बैठा।

6. सन् 1897–98 में बम्बई प्रान्त में फैलने वाले भीषण प्लेग के निवारणार्थ सरकार ने सराहनीय ढंग से कार्य नहीं किया और जब तिलक ने सरकार की निन्दा की तो उनके साथ दुर्व्यवहार किया गया। इससे जनता में उत्तेजना फैल गई और कांग्रेस में उग्रवादी विचारधारा को प्रश्रय मिला।

7. देश के बाहर ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने न केवल भारत प्रत्युत एशिया की सारी जनता पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला। इन घटनाओं ने "भारतीय लोगों में एक युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादिता की भावना पैदा करने में मदद की। विशेषकर 1868 के बाद जापान के एक आधुनिक और शक्तिशाली देश के प्रादुर्भाव के रूप में भारतवासियों को एक नई उम्मीद दी। जापान ने साबित कर दिया था कि एशिया का एक पिछड़ा हुआ देश भी अपने प्रयत्नों से विकास कर सकता है और बिना पश्चिमी देशों की सहायता के शक्तिशाली बन सकता है। 50 वर्षों से कम की अवधि में ही जापान एक औद्योगिक राष्ट्र और मजबूत सैनिक शक्ति बन गया था। उसने सभी के लिए प्रारम्भिक शिक्षा और एक सक्षम आधुनिक प्रशासन की व्यवस्था की थी। भारत के लिए अनुसरण करने का एक उदाहरण वहाँ था। इसी तरह 1896 में इटली पर इथियोपिया की और 1905 में रूस पर जापान की विजय से यह सिद्ध हो गया था कि गोरों का दूसरे लोगों से बेहतर होने का दावा झूठा है।" आयरलैंड, रूस, मिस्र, तुर्की और चीन की जनता के संघर्ष से भारतीय लोगों पर यह साबित हो गया था कि अपने सिद्धान्तों के लिए तकलीफें सहने को तैयार एक संगठित देश सर्वाधिक शक्तिशाली देश तक से संघर्ष कर सकता है।

8. भारत में धार्मिक राष्ट्रवाद ने उग्रवादियों को बहुत अधिक प्रभावित किया। स्वामी विवेकानन्द राजनीतिक नेता नहीं थे, पर उन्होंने दुर्बलता को पाप और मृत्यु बतला कर उसे नष्ट कर देने का सन्देश दिया। उन्होंने चाहा कि भारतीय राष्ट्र के भविष्य का निर्माण दूरदर्शिता और दृढ़ता से किया जाए। धार्मिक राष्ट्रवाद

को जाग्रत करने में दयानन्द, विवेकानन्द आदि महापुरुषों का वस्तुत भारी योगदान रहा और लाल-बाल-पाल आदि उग्रवादी नेता इस धार्मिक राष्ट्रवाद से बड़े प्रेरित हुए । उन्होंने विवेकानन्द के इस सन्देश को गाँठ बाँध लिया कि "जो चीज तुम्हें शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक रूप से दुर्बल बनाती है, उसे जहर की तरह तिरस्कृत करो । उसमें कोई जीवन नही है । वह सत्य नही हो सकती ।" तिलक ने अपने भाषणों और लेखों द्वारा जनता से आग्रह किया कि वह आत्मविश्वासी, स्वाभिमानी और निर्भय बने । उन्होंने परम्परागत गणेशपूजा का संगठन किया और जनता में राष्ट्रवादी विचारों के प्रचार के लिए शिवाजी पर्व की शुरुआत की । वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने महाराष्ट्र के किसानों को सलाह दी कि अकाल, सूखा आदि के समय वे लगान देना बन्द कर दें । लाजपत राय ने पाश्चात्य सभ्यता के पीछे दौड़ने वाले भारतीयों की कटु आलोचना की और उन्हें अपने अतीत के वैभव को अपनाने का सन्देश दिया । विपिनचन्द्र पाल ने काली और दुर्गा का आह्वान कर दलितों को जगाया । अरविन्द घोष ने देश के सपूतों को सन्देश दिया—"स्वतन्त्रता हमारे जीवन का ध्येय है और इसकी प्राप्ति हिन्दू धर्म से ही सम्भव है ।" पुनरुत्थानवादी नेताओं ने धर्म की आड़ में उग्र राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया और देश का नवयुवक वर्ग उग्र एवं क्रान्तिकारी मार्ग के माध्यम से देश के स्वाधीनता संग्राम के लिए तैयार हो गया ।

9. नए राष्ट्रीय साहित्य निर्माण ने उग्रवादिता के विकास में बहुत सहायता प्रदान की । अलक्रोमर ने 30 जून, 1908 को ब्रिटिश संसद में कहा था—"भारत में वर्तमान बेचैनी या असन्तोष को पैदा करने वाला सबसे बड़ा कारण शिक्षा-पद्धति है । वास्तव में हम अपने द्वारा बोई गई फसल काट रहे हैं । भारत में राष्ट्रीय साहित्य व समाचारों के अतिरिक्त विदेशी साहित्य ने भी नई राष्ट्रीयता को सुदृढ़ किया ।"

10. भारतीय नवयुवकों के दृष्टिकोण को उग्रवादी बनाने में पाश्चात्य क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का भी बड़ा हाथ रहा । फ्रांस, इटली, जर्मनी और अमेरिका के राष्ट्रीय आन्दोलन ने तथा क्रान्तिकारी उपायों ने और सफलताओं ने बहुत से भारतीयों में यह भाव भर दिया कि केवल सांविधानिक मार्ग से ही विदेशी साम्राज्य से छुटकारा सम्भव नही है । देश की आजादी के लिए शक्ति, विद्रोह और क्रान्ति का मार्ग अपनाना आवश्यक है । इटली के मैजिनी, गैरीबाल्डी तथा कवूर के कारनामों ने भारतीय नवयुवकों में तहलका मचा दिया । आयरलैंडवासियों के खूनी बलिदान भारतीय नवयुवकों के आदर्श बन गए ।

इन सभी कारणों का मिलाजुला परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के भीतर एक वामपथ का उदय हुआ जो उग्रवादी कहा जाने लगा । 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में लाला लाजपत राय ने भारतीयों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संग्राम करने को तैयार होने का आह्वान किया । 1906 के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में उग्रवादी व उदारवादी दलों के मध्य मतभेद बड़ा तीव्र हो गया और

अगले ही वर्ष 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस संगठन दो दलों 'नरम अथवा उदारवादी तथा गरम अथवा उग्रवादी' दलों में विभाजित हो गया। अधिवेशन में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में उग्रवादियों ने 'स्वराज्य', राष्ट्रीय शिक्षा और 'बहिष्कार' सम्बन्धी प्रस्तावों के पास किए जाने का आग्रह किया। उदारवादियों ने इनका विरोध किया। झगड़ा इतना बढ़ा कि उदारवादियों ने उग्रवादियों को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया। इसके बाद 1916 तक कांग्रेस पर उदारवादियों का आधिपत्य रहा। 1916 में ही उग्रवादी और उदारवादी फिर से साथ-साथ आए। वस्तुतः 20वीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की तीन विभिन्न धाराएँ थीं—एक उदारवादी, दूसरी उग्रवादी तथा तीसरी आतंकवादी क्रान्तिकारी। आतंकवादी भी उग्रवादी राष्ट्रीयता का ही अंग थे, किन्तु वे विदेशी शासन से मुक्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का प्रयोग आवश्यक और उचित समझते थे। महाराष्ट्र में वीर सावरकर और श्यामजी वर्मा ने आतंकवादी आन्दोलन का संगठन किया। बंगाल में बंग-भंग के दिनों में इसका विस्फोट हुआ और बीरेन्द्र घोष तथा भूपेन्द्रनाथ दत्त जैसे लोगों ने इसका नेतृत्व किया। लगभग इसी समय पंजाब में क्रान्तिकारी समितियों की स्थापना हुई। सरदार अजीतसिंह, भाई परमानन्द, उनके छोटे भाई बालमुकुन्द तथा लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन करने में पहल की। भारत के बाहर भी क्रान्तिकारी कार्यशील थे—इंग्लैण्ड में श्याम जी, कृष्णवर्मा और वीर सावरकर, फ्रांस में मैडम कामा और अमेरिका में लाला हरदयाल तथा अन्य लोग।[1]

उग्रवादियों की पद्धति और कार्यक्रम
(Method and Programme of the Extremists)

उग्रवादियों का उद्देश्य 'स्वराज' की प्राप्ति था। तिलक कहा करते थे—"स्वराज मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" उग्रवादी चाहते थे कि भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के आधार पर ही शासन संस्थाओं का निर्माण हो। नरमपंथी पद्धतियों को निरर्थक प्रयास मानते हुए वे सक्रिय विरोध की नीति अपना कर भारत के लिए स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना को उत्सुक थे। उग्रवादियों के लिए स्वराज्य केवल राजनीतिक ही नहीं बल्कि नैतिक और धार्मिक आवश्यकता थी और इसे प्राप्त करना उनका सर्वोपरि एवं पवित्र लक्ष्य था।

उग्रवादियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सक्रिय प्रतिकार पर बल दिया। उदारवादियों के प्रतिकूल उग्रवादी यह मानकर चले कि भारत और ब्रिटेन के हितों में 'वैर-कैर' का सम्बन्ध है तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ भरपूर सहयोग करने के मार्ग पर चलता भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। उदारवादियों का विश्वास था कि भारत के राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विशुद्ध वैधानिक उपाय ही श्रेयस्कर है, वहाँ उग्रवादियों की दृष्टि में ब्रिटिश शासन सर्वथा

1 सुभाष काश्यप : वही, पृष्ठ 60–61.

प्रतिगामी था जिसका खुला विरोध करना अनिवार्य था। राजनीतिक भिक्षा-वृत्ति और अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर रहने की बजाय वे चाहते थे कि भारतीय अपनी शक्ति पर भरोसा करें। स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित करते हुए उग्रवादियों का कहना था कि हम इसे 'राजभक्ति' के पारितोषिक के रूप में प्राप्त नही कर सकते। उग्रवादी जिस पद्धति और कार्यक्रम पर चले, उसे अग्रानुसार रखना उपयुक्त होगा—

1. उग्रवादियों ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहकारिता के प्रतिफल अवज्ञा की नीति का प्रचार किया। तिलक ने टिप्पणी की—"राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ना पड़ेगा। उदार दल सोचता है कि यह अधिकार समझाने बुझाने से प्राप्त हो सकते है। हम सोचते हैं कि ये तीव्र दबाव से ही प्राप्त हो सकते है।" विपिन चन्द्र पाल ने कहा—"यदि सरकार स्वतः स्वराज्य का दान करती है तो मैं उसे धन्यवाद दूंगा, लेकिन मैं उसे स्वीकार नही करूंगा जब तक कि मैं उसे स्वयं हासिल न कर पाऊँ।" उग्रवादियो का संगठन-शक्ति और आत्मनिर्भरता पर आग्रह था। वे जनमत को जाग्रत कर तीव्र राजनीतिक आन्दोलन चलाकर विदेशी हुकूमत पर अधिक से अधिक दबाव डालकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति में विश्वास करते थे। उनकी पद्धति थी—मातृभूमि के लिए देशवासी कष्ट सहन करें, त्याग करें और आत्म निर्भरता के सहारे अधिकारपूर्वक अपने हकों को प्राप्त करें। लाला लाजपतराय ने कहा था—"एक अंग्रेज सबसे अधिक घृणा भिखारी से करता है। मेरा विचार है कि भिखारी हैं भी इसी योग्य कि उनसे घृणा की जाए। अतः आइए, हम अंग्रेजों को दिखादें कि हम भिखारी नही है।" विपिनचन्द्र पाल का संदेश था—"हमे अपने राष्ट्र की शक्तियों को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि जो शक्ति हमारे विरुद्ध हो वह हमारे समक्ष झुकने के लिए बाध्य हो जाए।" तिलक ने ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग का निषेध करते हुए घोषणा की थी कि विदेशी शासन एक अभिशाप है और नौकरशाही की नीव हिलाने के लिए आत्म-निर्भर तथा स्वतन्त्र कार्य करने की आवश्यकता है।

2. उग्रवादियो का विश्वास सक्रिय विरोध और सत्याग्रह में था। लाला लाजपतराय ने सक्रिय विरोध के दो मुख्य लक्षण बताए थे—प्रथम, भारतीयों के हृदय से ब्रिटिश शासकों की शक्तिशालिता और परोपकारिता की भावना को सम्पूर्णतः मिटा दिया जाए, एवं द्वितीय, देशवासियों के मन में स्वतन्त्रता के लिए प्रेम और त्याग तथा कष्ट सहने के लिए तत्पर रहने की भावना जाग्रत की जाए। उग्रवादियों ने इसलिए सहयोग की अपेक्षा 'सक्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का कार्यक्रम राष्ट्र के सम्मुख रखा। उनके इस कार्यक्रम मे वहिष्कार, स्वदेशी और शिक्षा सम्मिलित थी। वहिष्कार से अभिप्राय: विदेशी वस्तुओ, स्वदेशी सरकार तथा विदेशी सरकार की नौकरी का वहिष्कार था। स्वदेशी से तात्पर्य स्वदेशी वस्तुओं, स्वदेशी सरकार और स्वदेशी व्यवस्था की स्थापना से था। आर्थिक वहिष्कार के राजनीतिक महत्त्व के सम्बन्ध में विचारो में कोई मतैक्य नही था। कुछ 'मितवादियो' (Moderates) के अनुसार अपने प्रान्त के विभाजन के विरुद्ध यह

बंगालियों की घृणा और उनके क्रोध की अस्थाई अभिव्यक्ति मात्र था तो कुछ दूसरों का विचार था कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार देश में औद्योगिक विकास को गति देगा। कुछ नेताओं ने स्वदेशी माल के उत्पादन को प्रोत्साहन देने का तो समर्थन किया, लेकिन बहिष्कार की अवधारणा का विरोध किया। परन्तु, बहुतों का विचार यह था कि बहिष्कार एक ऐसा राजनीतिक हथियार है जो देश को विदेशी शासकों से छुटकारा दिलाने और स्वतन्त्रता के मार्ग पर आगे बढ़ाने में सहायक होगा।[1] विपिनचन्द्र पाल का अभिमत था कि "स्वदेशीवाद अथवा बहिष्कार केवल एक आर्थिक आन्दोलन ही नहीं है। ""स्वदेशीवाद जब स्वयं को राजनीति से आबद्ध कर लेता है तो वह बहिष्कार बन जाता है और यह बहिष्कार सक्रिय प्रतिरोध का एक आन्दोलन (A movement of Passive Resistance) है। यह आन्दोलन लोगों के इस दृढ़ निश्चय का आन्दोलन है कि वे न केवल राष्ट्र के उद्योगों को बचाएँगे बल्कि समाज में उन शक्तियों का निर्माण भी करेंगे जो कि निष्क्रिय पद्धतियों (Passive Methods) द्वारा स्वराज की समस्या का निदान करेंगी।"[2] अरविन्द घोष के अनुसार, "बहिष्कार का अन्तिम उद्देश्य भारत में विदेशी प्रशासन को पंगु बना देना था। उनकी दृष्टि में आर्थिक माल का बहिष्कार उस व्यापक बहिष्कार का एक अंग था जिसके अनुसार उस हर वस्तु का बहिष्कार कर देना था जो कि 'ब्रिटिश' हो।"

3. उग्रवादियों के कार्यक्रम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'राष्ट्रीय शिक्षा' थी। उग्रवादी नेताओं ने इसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी थीं। विपिनचन्द्र पाल का कहना था कि "राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्रीय रूपरेखाओं के आधार पर चलाई जाए, जो राष्ट्र के प्रतिनिधियों द्वारा नियन्त्रित हो और जो इस प्रकार नियन्त्रित तथा संचालित की जाए कि राष्ट्रीय भाग्य (National destiny) की प्राप्ति इसका उद्देश्य बने।" अरविन्द घोष का अभिमत था कि राष्ट्रीय शिक्षा वह है जो हमें अतीत की महानता का पाठ पढ़ाती है और वर्तमान का पूर्ण सदुपयोग करने की शिक्षा देती है ताकि एक महान् राष्ट्र का निर्माण किया जा सके। श्री घोष का आग्रह था कि हमें भारत के अविस्मरणीय अतीत से प्राप्त समग्र ज्ञान, चरित्र और उच्च विचारों की रक्षा करनी चाहिए और साथ ही हमें यूरोप के सर्वोत्तम ज्ञान को ग्रहण करके उसे अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुकूल ढालना चाहिए। वास्तव में अरविन्द पूर्व और पश्चिम के आदर्श-समन्वय के आकांक्षी थे। राष्ट्रीय शिक्षा की अवधारणा को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ और 1906 में कलकत्ता में शिक्षा की राष्ट्रीय परिषद् (National Council of Education) इस दिशा में एक सर्वाग्रणी संस्था थी।

4. बहिष्कार, स्वदेशी आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षण ब्रिटिश शासन के प्रति निर्भीक विरोध की नूतन प्राण-धारा के प्रतीक थे। साथ ही उग्रवाद की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह थी कि वह धार्मिक भावना के साथ समन्वित था। अरविन्द

1 *K. P. Karunakaran*, वही, पृ. 68–69.
2 Quoted by *Karunakaran* वही, पृ. 69–70.

ने घोषणा की थी—"राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर के पास से आती है।" उग्रवादी नेताओं के मस्तिष्कों में हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान की गहरी छाप थी। ए. आर. देसाई के शब्दों में, "उग्रवादी नेताओं ने हिन्दुओं के वैदिक अतीत, चन्द्रगुप्त तथा अशोक के स्वर्णिम युगों, राणा प्रताप और शिवाजी के शौर्यपूर्ण कृत्यों तथा 1857 की नेत्री झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के देश-प्रेम की स्मृति को पुनः ताजा कर दिया।"[1] महाराष्ट्र में तिलक ने शिवाजी और गणपति महोत्सव के माध्यम से भारतीयों को जगाने, उनमें आत्म-बल और संगठन का सचार करने का प्रयत्न किया तो विपिन चन्द्र पाल ने राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण को शक्ति-पूजा के प्राचीन आदर्श का प्रतीक बताया। अरविन्द ने सन्देश दिया—"हमारे सभी आन्दोलनों में स्वतन्त्रता ही जीवन का ध्येय है और हिन्दू धर्म हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता है।"

5. उग्रवादी चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू राष्ट्र की सामूहिक स्वतन्त्रता (Collective Freedom of the Nation) पर आग्रह था। वे इस सामूहिक स्वतन्त्रता को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी चाहे न मानते हों, पर उससे पृथक् अवश्य मानते थे। इस दृष्टि से उग्रवादियों का राजनीतिक दर्शन उन मितवादियों के दर्शन से भिन्न था जो सदैव व्यक्ति के नागरिक और अन्य अधिकारों पर बल देते थे।[2]

उग्रवाद 1906 से 1919 तक तत्कालीन भारतीय राजनीति में प्रधान स्थान प्राप्त किए रहा। बाद में महात्मा गाँधी के पदार्पण के साथ भारतीय राजनीति में समन्वयकारी युग का प्रादुर्भाव हुआ; लेकिन उग्रवाद और आतंकवाद बुझा नहीं वरन् समय-समय पर अपने विस्फोट से राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को गति देता रहा। उग्रवाद का रूप समय और परिस्थितियों के साथ बदलता रहा, लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि लाल-बाल-पाल, घोष आदि उग्रवादी विचारकों ने हिंसा और क्रान्ति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। ये विशेषताएँ तो उग्रवाद के प्रति विस्फोटक स्वरूप 'आतंकवाद' की रहीं। पुनश्च, यह भी स्मरण रखना होगा कि उदारवादियों और उग्रवादियों की पद्धति और उनकी चिन्तन धारा में अन्तर होते हुए भी आत्मा में दोनों में वस्तुतः विरोध नहीं था। दोनों ही देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत थे तथा एक दूसरे के लक्ष्य बहुत हद तक परस्पर पूरक थे। उदारवादी अधिकांशतः वाणी के क्षेत्र में कार्यरत थे तो उग्रवादी कर्म के क्षेत्र में। सर जॉन कमिंग (Sir John Curmming) ने 'पॉलिटिकल इण्डिया' में उग्रवाद और उदारवाद के सम्बन्ध में लिखा है—

"कांग्रेस के सम्पूर्ण इतिहास में, समय-समय पर बने दलों के नामों के नीचे, तरीकों के आधार पर विभाजित दो विचारधाराओं के दर्शन होते हैं। एक विचारधारा

1 *A. R. Desai* : Social Background of Indian Nationalism, p. 300
2 *K. P. Karunakaran* : वही, पृष्ठ 82.

के मानने वाले ने एक भारत के लिए स्वशासन और स्वभाग्य निर्धारण के ध्येय को अपनाया है जिसका दर्शन ब्रिटिश उग्रवादियों जैसा रहा है। इसे दक्षिणपंथी विचारधारा (Rightist School of Thought) कहा जा सकता है। दूसरी अर्थात् वामपंथी विचारधारा के समर्थकों ने स्वशासन के ध्येय से वर्तमान संस्थाओं को क्षीण बनाकर उनके स्थान पर नई संस्थाएँ निर्मित करने के द्वारा करना चाहा है। इसका झुकाव सीधी असंसदीय कार्रवाइयों की ओर रहा है।"

उग्रवादी राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाने में सफल हुए। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में मध्यम वर्ग को समाविष्ट किया और जन-साधारण के बीच राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार के महत्त्व को व्यावहारिक रूप में समझा। बहिष्कार आन्दोलन के सन्दर्भ में लाला लाजपतराय ने कहा—"हम सरकारी भवनों से अपने मुखों को हटाकर जनता की झोंपड़ियों की ओर फेरना चाहते हैं। सरकार से अपील करने के सम्बन्ध में हम अपने मुखों को बन्द करना पर अपनी जनता से एक नई अपील करने के सम्बन्ध में उन्हें खोलना चाहते हैं।" कांग्रेस के अन्दर रहकर उग्रवादियों ने इस बात का सफल प्रयास किया कि संगठन ब्रिटिश शासन के प्रति अपना रुख बदले, कुछ उग्र रूप धारण करे और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति सक्रिय विरोध तथा आत्म-निर्भरता की नीति अपनाए। उग्रवादियों के अविराम प्रयत्नों के फलस्वरूप ही कांग्रेस ने बहिष्कार और स्वदेशी का प्रोग्राम स्वीकार किया। ब्रिटिश शासन ने उग्रवादी देशभक्तों को देश-निर्वासन का दण्ड दिया और उनके विरुद्ध तरह-तरह के दमनकारी कानूनों का निर्माण किया परन्तु इस नवीन राष्ट्रवादी आन्दोलन को कुचला नहीं जा सका। दमन नीति का उल्टा यह परिणाम हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने क्रान्तिकारी रूप धारण कर लिया। हजारों नवयुवक देश और विदेश में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति के लिए संगठित होने लगे और स्वदेशी तथा बहिष्कार की राजनीति बम और गोली की राजनीति में परिणत हो गई।

आतंकवादी और क्रान्तिकारी
(Terrorists and Revolutionaries)

20वीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की तीन विभिन्न धाराएँ थीं—एक उदारवादी, दूसरी उग्रवादी तथा तीसरी आतंकवादी क्रान्तिकारी। "आतंकवादी भी उग्रवादी राष्ट्रीयता का ही अंग थे किन्तु वे विदेशी शासन से मुक्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का प्रयोग आवश्यक और उचित समझते थे।" क्रान्तिकारी अथवा आतंकवादी विचारधारा का विस्फोट महाराष्ट्र में हुआ, जहाँ 1899 में मि. रैण्ड तथा ले. आयरेस्ट को गोली का शिकार बना दिया गया। ये दोनों ही अधिकारी महाराष्ट्र में अपनी क्रूर नीति के कारण कुख्यात थे। महाराष्ट्र में वीर सावरकर, श्यामजी वर्मा, गणेश सावरकर और चापेकर बन्धु क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के नेता थे। बंगाल में क्रान्तिकारी पार्टी के नेता थे—वरीन्द्र कुमार घोष (अरविन्द घोष के छोटे भाई) और भूपेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई)। पंजाब में सरदार अजीतसिंह, भाई परमानन्द, उनके छोटे भाई बालमुकुन्द तथा

लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन करने में पहल की। भारत के बाहर भी क्रान्तिकारी क्रियाशील हुए। इंग्लैण्ड में श्यामजी, कृष्ण वर्मा और वीर सावरकर ने, फ्रांस में मैडम कामा ने और अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के संगठन में अग्रणी भूमिका निभाई।

आतंकवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय के कारण

आतंकवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलन मुख्यतः उन्ही घटनाओं और परिस्थितियों का परिणाम था जिनके कारण उग्र राष्ट्रवाद का विकास हुआ। वास्तव में यह उग्र राष्ट्रीयता का ही एक रूप था जो उससे कहीं अधिक तीव्र, हिंसात्मक तथा क्रान्तिकारी था। उग्रवादी (Extremist) हिंसा और तोड़-फोड़ मे विश्वास नही करते थे जबकि आतंकवादी और क्रान्तिवादियों की इन साधनों में पूरी आस्था थी। सावरकर, चापेकर आदि का कहना था, "प्राण देने से पूर्व प्राण ले लो।" ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं के प्रति जो घोर प्रतिक्रियावादी और दमनकारी नीति अपनाई उसने अनेक उग्रवादियों को आतंकवादियों तथा क्रान्तिकारियों मे बदल दिया। आतंकवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय और विकास मे निम्नलिखित कारण विशेष रूप से उत्तरदायी बने—

1. आतंकवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन एक मध्यमवर्गीय आन्दोलन था जिसमें अधिकांशतः पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवकों ने भाग लिया। मध्यम वर्ग न केवल आर्थिक रूप से विशेष पीड़ित था वरन् उग्रवादी विचारधारा से भी काफी प्रभावित था तथापि सर वेलेण्टाइन शिरोल का यह कहना ठीक नही है कि आतंकवाद पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध कट्टरपंथी ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ। गैरट का स्पष्ट मत है कि "क्रान्तिकारी आन्दोलन ब्राह्मणों द्वारा आयोजित षड्यन्त्र नही था वरन् बंगाल और पंजाब में इसके नेता अन्य जाति के भी थे।"

2. 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में चारो ओर आर्थिक असन्तोष व्याप्त था और विदेशी सरकार की आर्थिक नीति से जनता बहुत ही क्षुब्ध थी। अकालो, महामारियो और भूचालों के कारण जनता की गरीबी निरन्तर बढती जा रही थी। अधिक दरिद्रता और अधिक असन्तोष के कारण क्रान्तियो का जन्म होता है और भारत में भी यही हुआ।

3. आतंकवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमनकारी नीति मुख्य रूप से उत्तरदायी बनी। लॉर्ड कर्जन की नीति ने आतंकवाद को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। उसके आफिशियल सीक्रेट्स एक्ट, भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, बंगाल विभाजन जैसे कार्यों ने आतंकवाद को बढ़ाने में निर्णायक भूमिका अदा की। इन कार्यों के विरुद्ध आयोजित जन-आन्दोलन को सरकार ने निर्दयता के साथ कुचलना चाहा जिसके फलस्वरूप लोगों में उत्तेजना फैली और वे हिंसक हो उठे। जोशीले नवयुवको ने सभाओं, जुलूसों, बहिष्कार आदि के तरीकों को असफल होते देख आतंकवादी साधन अपनाना शुरू कर दिया। 1908 में भारत सचिव लॉर्ड मोर्ले ने भारत के वायसराय लॉर्ड मिण्टो को लिखा भी था—

"राजद्रोह तथा अन्य अपराधो के सम्बन्ध मे जो दिल दहला देने वाले दण्ड दिए जा रहे हैं, उनके कारण मै बहुत अधिक चिन्तित और चकित हूँ। हम व्यवस्था चाहते है लेकिन व्यवस्था लाने के लिए घोर कठोरता के प्रयोग से सफलता प्राप्त नहीं होगी। इसका परिणाम उल्टा होगा और लोग बम का सहारा लेंगे।" 1910 में लॉर्ड मान्टेग्यू ने भी स्वीकार किया कि "दण्ड संहिता की सजाओ ने और चाकू चलाने की नीति ने साधारण एवं विगड़े नवयुवकों को शहीद बनाया है तथा विप्लवकारी पत्रो की संख्या बढ़ा दी है।"

4. उदारवादियो अथवा नरमपंथियो के सांविधानिक आन्दोलन की विफलता से जोशीले नवयुवको के कदम उग्रवाद, आतंकवाद की ओर बढ गए। उन्हें विश्वास हो गया कि विदेशी शासकों के सामने प्रार्थनाएँ करने, हाथ-पैर जोड़ने से कोई लाभ नही होगा। उनका स्वाभिमान हिंसक रूप में जाग उठा, वे शक्ति-सचय के लिए बेचैन हो उठे और उग्र से उग्र साधनो का सहारा लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति की आकांक्षा करने लगे।

5. रूस, इटली आदि की गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाओं से भारत के जोशीले नवयुवकों को प्रेरणा मिली। उनमे भी यह चाह पैदा हुई कि विदेशी क्रान्तिकारी गुप्त संस्थाओं के नमूने पर वे अपनी गुप्त सस्थाएँ देश-विदेश मे कायम करें और विदेशी सत्ता को उखाड फेंके।

आतंकवादी आन्दोलन की प्रकृति और कार्य-प्रणाली

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद *अथवा आतंकवाद लाल-बाल-पाल,* घोष आदि के राजनीतिक उग्रवाद से सर्वथा भिन्न था। उग्रवादी उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति से असन्तुष्ट होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय विरोध का प्रतिपादन करते थे, लेकिन यह विरोध अथवा सघर्ष शान्तिमय और दबावपूर्ण होता था जिसमे हिंसा को प्रश्रय नहीं दिया गया था। इसके विपरीत क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी हिंसा और आतंकवाद मे विश्वास करते थे। क्रान्तिकारी नवयुवक उदार राष्ट्रवादियो के ठकुरसुहाते दृष्टिकोण से सहमत नही थे—उनका विचार था कि जो साम्राज्यवाद पाशविक बल पर आधारित है उसे हम शान्तिपूर्ण आन्दोलन की साधन प्रणाली से नहीं बल्कि हिंसा द्वारा ही जड़ से उखाड़ सकते हैं। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमनकारी नीति ने उनकी धारणा को और पुष्ट कर दिया था।

क्रान्तिकारी 'बम्ब नीति' (The cult of the Bomb) मे विश्वास करते थे। साध्य को साधन से अधिक श्रेष्ठ मानते थे—उनकी दृष्टि मे साध्य की पवित्रता साधनों का औचित्य थी। अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उन्होंने गुप्त हत्याओं, खुली हत्याओं द्वारा, सरकारी सम्पत्ति के विनाश, तोड-फोड आदि का सहारा लेने मे कुछ भी अनुचित नही समझा। क्रान्तिकारी अथवा आतंकवादी युवक लोगों को व्यायाम सिखलाते थे, क्रान्ति का पाठ पढाते थे, अस्त्र-शस्त्र चलाने का प्रशिक्षण देते थे और बम्बो का निर्माण करना सिखाते थे। वे लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा भी देते थे जिसमे भारत के महान् गौरव के गीत होते थे और जिसका उद्देश्य भारतीयों

मे दासता के प्रति घृणा उत्पन्न करनी थी। वे धार्मिक ग्रन्थो के उद्धरण से लोगो के प्राणों की बलि देना और शत्रु के प्राण लेना सिखाते थे। ग्रातकवादी-क्रान्तिकारी कोरे हत्यारे ग्रथवा डाकू नही थे—ये पक्के देशभक्त थे जिनमे राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे देशभक्ति, ग्रादर्शवाद और बलिदान की भावनाओं से ओतप्रोत थे। उनमे अपनी मातृभूमि के लिए सिर कटा देने की तमन्ना थी। मातृभूमि के लिए बड़े मे बड़ा बलिदान करने में उन्हें कोई हिचक न थी। क्रान्तिकारियो का जीवन अनुशासित था और कोई भी दमनकारी कानून, ग्रमानुषिक व्यवहार, ग्राजन्म कारावास अथवा फाँसी का फँदा उन्हे ग्रपने निश्चित मार्ग से विचलित नही कर सकता था। उनका उद्देश्य अराजकता फैलाना नही था बल्कि विदेशो शासको के दिल मे यह भय पैदा कर देना था कि देशभक्तो की हत्याओ का बदला हत्या होगा। उन्हे राष्ट्र का अपमान मन्जूर न था, उन्होने रैन्ड तथा उसके सहायक लेफ्टिनेन्ट को इसीलिए गोली मारी कि उन्होंने लोगो की धार्मिक भावनाओ का कोई ख्याल न रखते हुए उन पर निर्मयता से अत्याचार किया। चापेकर बन्धु अपने इस कार्य से अमर हो गए। उधमसिंह ने इंग्लैण्ड मे जनरल डायर की हत्या इसलिए की कि उसने पजाब के जलियाँवाला बाग मे बिना चेतावनी दिए निर्दोष और निहत्थे औरत, मर्द और बच्चो को गोलियो से भून दिया। मदनलाल धीगरा ने भारत मन्त्री के ए. डी. सी., कर्जन वाइली को इण्डिया ग्राफिस मे इसलिए गोली मार दी कि गणेश सावरकर को दण्ड दिलाने मे उसका हाथ था। सौण्डर्स की हत्या इसलिए की गई कि उसने लाला लाजपतराय पर लाठियो से इतनी बौछार की कि जिससे कुछ दिनो बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। क्रान्तिकारियो ने 'ईंट का जवाब पत्थर से', 'गोली का जवाब गोली से' देने की नीति अपनाई।

भारतीय क्रान्तिकारियो ने यूरोपीय क्रान्तिकारी आन्दोलनो की कार्यप्रणाली का अध्ययन किया। उन्होने जार कालीन रूस के गुप्त क्रान्तिकारी सगठनो की कार्य-पद्धति से शिक्षा ग्रहण की और हिंसक कार्यवाहियों तथा राजनीतिक हत्याओ को अपने कार्यक्रम मे प्रमुख स्थान दिया। उनका विश्वास था कि इन कार्यों से ब्रिटिश प्रशासको के हृदय मे आतंक उत्पन्न हो जाएगा तथा सम्पूर्ण शासनतन्त्र हिल उठेगा। अपने ग्रान्दोलन को चलाने के लिए सरकारी खजाने को लूट लेने तथा डकैतियाँ डालने का कार्य भी आतंकवादियो के कार्यक्रम मे शामिल था। क्रान्तिकारियों ने देश और विदेश में पत्रों द्वारा आतंकवाद को फैलाने का कार्य किया। विदेशों मे 'इण्डियन होम रूल सोसाइटी' तथा 'गदर पार्टी' जैसी सस्थाओं की स्थापना की गई जो 'इण्डियन सोशियोलाजिस्ट', 'हिन्दुस्तान गदर', 'न्यू इण्डिया', 'नवशक्ति वन्दे मातरम्' आदि पत्रो द्वारा क्रान्ति का प्रचार करती थी। क्रान्तिकारी साहित्य का वितरण किया जाता था और विदेशी क्रान्तिकारियो की जीवनियों का प्रान्तीय भाषाओं मे अनुवाद किया जाता था। क्रान्तिकारी नवयुवकों ने विदेशी शक्तियों से सैनिक प्रशिक्षण तक प्राप्त किया। समय पाकर उन्होने 1915 में जर्मन सैनिकों के मिलकर 1,857 के नमूने पर भारत मे एक बार पुन. विद्रोह उकसाने की

बनाई और इसी उद्देश्य से श्री पिल्लई ने बर्लिन में भारतीय दल (Indian National Party) का गठन किया जिसे जर्मन जनरल स्टाफ के साथ मिला दिया गया। लाला हरदयाल, बरकत उल्ला, तारकनाथ दास, के. सी. चक्रवर्ती आदि इसके अन्य प्रमुख सदस्य थे। तथाकथित 'विद्रोह' के लिए तीन केन्द्र स्थापित किए गए—बंगाल के लिए बटाविया, पंजाब के लिए बैंकॉग तथा मुसलमानों के लिए काबुल। बंगाल के लिए सत्येन्द्र सेन को तथा यू. पी. व पंजाब के लिए पिंगले को अमेरिका से भेजा गया। लेकिन देशद्रोही कृपालसिंह ने पंजाब पुलिस को सारी योजना का भेद दे दिया जिससे वह समय से पूर्व ही नष्ट कर दी गई। क्रान्तिकारियों का दमन किया गया, भारतीय सेनाओं से हथियार छीन लिए गए और अनेक क्रान्तिकारियों को फाँसी पर लटका दिया गया। लाहौर षड्यन्त्र केन्द्र इसी घटना से सम्बन्धित था।

संक्षेप में, क्रान्तिकारी-आतंकवादियों के कार्यक्रमों में निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं—

(1) पत्रों की सहायता से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया जाए और शिक्षित लोगों के मस्तिष्क में दासता के प्रति घृणा पैदा की जाए।

(2) राष्ट्रीय वीरों तथा शहीदों के चरित्र-अभिनय द्वारा मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए जनता में उत्साह जगाया जाए। संगीत, नाट्य, साहित्य द्वारा बेकारी और भूख से पीड़ित लोगों को निडर बना कर, राष्ट्र की बलिवेदी पर मर-मिटना सिखाया जाए।

(3) शत्रुओं को प्रदर्शनों और आन्दोलनों द्वारा व्यस्त रखकर अपनी क्रान्तिकारी योजनाओं को आगे बढ़ाया जाए। बम्ब बनाए जाएँ, अस्त्र-शस्त्र किसी भी रूप में उपलब्ध किए जाएँ और विदेशों से आग्नेयास्त्र प्राप्त किए जाएँ।

(4) चन्दा, दान और क्रान्तिकारी डकैतियों द्वारा व्यय के लिए धन का प्रबन्ध किया जाए।

(5) नवयुवकों को क्रान्तिकारी आन्दोलन में भर्ती किया जाए, उन्हें सैनिक प्रशिक्षण दिया जाए, अनुशासित किया जाए तथा उनके दिल में फाँसी तथा भूख का भय मिटा दिया जाए।

राजद्रोह सम्बन्धी जाँच समिति (Sedition Committee, 1918) ने अपने प्रतिवेदन में आतंकवादी कार्यक्रमों का विस्तार से विवरण दिया था। आतंकवादी क्रान्तिकारी साहित्य द्वारा अपने विचारों का प्रचार करते थे। शिवाजी एवं भवानी की पूजा द्वारा विदेशी शासकों के हृदय में आतंक उत्पन्न करते थे। क्रान्तिकारियों को आदेश था कि वे मृत्यु की परछाईं की भाँति छिपे रहकर विदेशी अधिकारियों पर घातक हमले करें। उन्हें सिखाया गया था कि वे अपने उन भाइयों को कभी न भूलें जो जेलों में पड़े सड़ रहे थे अथवा मर गए या पागल हो गए थे।

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का उत्तर काल

क्रान्तिकारियों के षड्यन्त्र, राजनीतिक डाकेजनी तथा अंग्रेज अधिकारियों की हत्या की घटनाएँ बढ़ती गईं और अंग्रेज सरकार यह कल्पना कर घबरा रही

थी कि कहीं अंग्रेज संगठन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन उग्रवादी क्रान्तिकारियों के हाथों में न चला जाए। अतः ब्रिटिश सरकार ने यह नीति अपनाई है कि उदारवादियों से समझौता करने का प्रयास किया जाए और दमन द्वारा उग्रवादियों को कुचल दिया जाए। तदनुसार ब्रिटिश सरकार ने एक ओर तो दमन चक्र पूरी तेजी से गतिमान बनाया और दूसरी ओर कुछ ताजा सांविधानिक सुधार करने की दिशा में कदम उठाए। साथ ही, राष्ट्रीय आन्दोलन को अन्दर से तोड़ने-फोड़ने के उपाय भी किए जाने लगे। राष्ट्रीयता को क्षीण करने के लिए साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया जाने लगा। इन विभिन्न कारणों से क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद में शिथिलता आने लगी और जब भारत के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी का अवतरण हुआ तो क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की उपयोगिता तेजी से शून्य हो गई थी। गांधी की तकनीक ने देशभक्त भारतीयों को अत्यन्त प्रभावित किया और आतंकवाद की बढ़ती हुई लहर को न केवल पीछे धकेल दिया बल्कि शनैः-शनैः उसे लगभग शान्त ही कर दिया। फिर भी अहिंसा का जादू क्रान्तिकारी भावना को समूल नहीं मिटा सका। समय-समय पर न्यूनाधिक रूप में संगठित पद्धति से राजनीतिक आतंकवाद की छिपाई हुई हरकतों में रह-रहकर उसका विस्फोट होता रहा। आजादी के दीवानों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त करने की क्रान्तिकारी असफल चेष्टा में अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। गांधीवादी आन्दोलन ने प्रबल जनमत को अपने पक्ष में कर लिया, तथापि राष्ट्रवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में हिंसा अथवा उसकी धमकी सदैव विद्यमान रही और ब्रिटिश शासन को हटाने में उसने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से महती भूमिका अदा की। 1942 की क्रान्ति और आजाद हिन्द फौज के स्वातन्त्र्य संग्राम तथा भारतीय नौ सेना के विद्रोह ने अंग्रेजों को स्पष्ट चेतावनी दे दी कि यदि वे स्वेच्छा से शीघ्र ही भारत छोड़कर नहीं चले जाएँगे तो उन्हें क्रान्तिकारी विस्फोटों के द्वारा भारत से खदेड़ दिया जाएगा।

भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन का मूल्यांकन हमें उसकी असफलता से नहीं अपितु क्रान्तिकारियों की देशभक्ति और बलिदान से करना चाहिए। इस आन्दोलन के द्वारा राष्ट्र प्रेम की जो भावना जाग्रत हुई, उससे राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्तिशाली आधार प्राप्त हुआ।

आतंकवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता के कारण

(1) क्रान्तिकारियों का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था अतः वे विभिन्न प्रान्तों में अपने आतंकवादी कार्यों का संगठन और समन्वय नहीं कर सकते थे।

(2) आतंकवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन भारत की जनता को रास नहीं आ सका। यह आन्दोलन लोकप्रिय नहीं बन सका और केवल मध्यम वर्ग के जोशीले शिक्षित नवयुवकों तक सीमित रहा। जनता के समर्थन के बिना कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

(3) भारतीय राजनीति के अधिकांश नेता, जो मध्यम वर्ग के थे, आतंकवादी और हिंसात्मक कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। [illegible]

प्रति सहानुभूति का अभाव रहा। बहुसंख्यक हिन्दू भी आतंकवादियों के प्रति उदासीन रहे, क्योंकि उनकी प्रकृति ही स्वभावत: शान्तिवादी थी।

(4) आतंकवादी आन्दोलन मुख्य रूप से विफल इसलिए हुआ क्योंकि सरकार ने घोर दमनकारी नीति अपनाई। राजद्रोहात्मक समाजों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए 1907 में 'सेडीशंस मीटिंग्स एक्ट' (Seditions Meetings Act) बनाया गया। 1908 में फौजदारी कानून में इस रूप में संशोधन कर दिया गया कि अवांछित नवयुवकों को कठोर से कठोर दण्ड दिया जा सके। आतंकवादी अपने समाचार-पत्रों द्वारा क्रान्तिकारी विचारों का प्रसार न कर सकें, इस उद्देश्य से 1908 में समाचार-पत्र सम्बन्धी कानून और 1910 में प्रेस सम्बन्धी कानून बनाए गए। 1911 में विद्रोही सभाओं सम्बन्धी कानून बनाया गया जिसके द्वारा अधिकारियों को सभाओं पर पूरा नियन्त्रण रखने और अस्त्र-शस्त्र द्वारा बल प्रयोग करने के विस्तृत अधिकार मिले। सरकार ने राजनीतिक बन्दियों के साथ बहुत ही निर्दयता का व्यवहार किया। प्राणदण्ड देना, काला पानी की सजा देना, देश-निर्वासन, कठोर शारीरिक यातनाएँ आदि आम बात हो गई। सरकार की कठोर दमनकारी नीति का परिणाम यह निकला कि जनसामान्य आतंकित और भयभीत हो गया जिससे क्रान्तिकारियों को उसका समर्थन नहीं मिल सका।

(5) क्रान्तिकारी अनुशासित, उत्साही और बलिदानी प्रकृति के थे लेकिन विदेशी हुकूमत से लड़ने के लिए उनके पास अस्त्र-शस्त्रों का अभाव था। चोरी छिपे जो हथियार प्राप्त होते थे, वे बहुत अपर्याप्त थे। सरकारी पुलिस और गुप्तचर विभाग हाथ धोकर पीछे पड़ा रहता था। थोड़े से अस्त्र-शस्त्रों के बल पर जनता के सहयोग के अभाव में, विदेशी हुकूमत से टकराकर कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

(6) भारत के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी के अवतरण ने क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की क्रमश: अधोगति शुरू कर दी। गाँधी जी की टैकनिक ने आतंकवाद की बढ़ती हुई लहर को न केवल पीछे धकेल दिया बल्कि शनै:-शनै: उसे लगभग शान्त ही कर दिया। फिर भी अहिंसा का जादू क्रान्तिकारी भावना को मूलतः नहीं मिटा सका। समय-समय पर न्यूनाधिक रूप से संगठित पद्धति में राजनीतिक आतंकवाद की छितराई हुई हलचलों में उसका विस्फोट होता रहा। सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर और जतीन्द्रनाथ दास जैसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के भक्तों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त की असफल चेष्टा में अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया।

गृह शासन अथवा होम रूल आन्दोलन
(The Home Rule Movement)

भारत के स्वाधीनता संग्राम में समय-समय पर अनेक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिनमें से अधिकांश, एक दूसरे से कुछ भिन्न होते हुए भी, इसी उद्देश्य से प्रेरित थे कि विदेशी शासन अपना रवैया बदले और भारतीयों को शासन में अधिकाधिक उत्तरदायित्व सौंपे तथा अन्त में भारत को मुक्त कर दे। होम रूल

अथवा गृह शासन आन्दोलन, जो 1916 मे शुरू हुआ, का उद्देश्य वैधानिक तथा शान्तिमय उपायों से भारत के लिए गृह शासन अथवा स्वराज्य प्राप्त करना था। होम रूल आन्दोलन की शुरुआत सर्वप्रथम तिलक ने की। उन्होंने 23 अप्रैल, 1916 को पूना मे 'होम रूल लीग' की स्थापना की। इसके लगभग छः माह बाद ही श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भी मद्रास में 'अखिल भारतीय होम रूल लीग' की स्थापना की। दोनों लीगों का उद्देश्य एक ही था, अतः लखनऊ अधिवेशन के बाद तिलक एव बेसेन्ट ने मिल-जुल कर इस आन्दोलन को संचालित करने का निश्चय किया। 1917 में होम रूल आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गया। यह आन्दोलन शान्तिपूर्ण और वैधानिक था, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसे दबाने के लिए बहुत ही कठोरता से काम लिया। कठोरता से तो आन्दोलन दबाया नही जा सका, किन्तु जब भारत मन्त्री माण्टेग्यू ने अपनी यह ऐतिहासिक घोषणा की कि युद्धोपरान्त भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाएगी तो होम रूल आन्दोलन शिथिल पड गया। माण्टेग्यू की घोषणा से भारत के राजनीतिक नेताओं को यह आशा बन्ध गई कि शीघ्र ही भारत में सन्तोषजनक सुधारों का सूत्रपात होगा।

होम रूल आन्दोलन का प्रारम्भ और विकास

1907 मे कांग्रेस के सूरत-विच्छेद और 1909 के मोर्ले-मिण्टो सुधारों के बाद भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में निष्प्राणता सी आ गई थी। 1914 मे भारतीय राजनीतिक जीवन ने पुनः करवट ली। 1914 में लोकमान्य तिलक कैद से मुक्त होकर वापिस आ गए। उस समय उनकी लोकप्रियता आकाश छू रही थी, वे भारतीय जन-जीवन के हृदय के हार बने हुए थे। स्वदेश लौटते ही उन्होंने नेशनलिस्ट पार्टी का पुनर्गठन करके उग्रवादियों मे पुनः 'नए प्राण' फूंकना शुरू कर दिया। इसी वर्ष श्रीमती एनी बेसेन्ट भी भारत के राजनीतिक अखाड़े मे कूद पडी। इस आयरिश महिला ने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन में नूतन प्राणधारा का सचार किया। थियोसोफिकल आन्दोलन के नेता के रूप मे श्रीमती एनी बेसेन्ट का नाम पहले से ही विश्व-विख्यात हो चुका था।

श्रीमती बेसेन्ट 1914 में ही लन्दन में 'होम रूल लीग' स्थापित कर चुकी थी और अब भारत में उसकी स्थापना के लिए प्रयत्नशील हुई। कांग्रेस में प्रवेश करके उन्होंने कांग्रेस से निवेदन किया कि वह होम रूल आन्दोलन प्रारम्भ करे। मुख्यतः श्रीमती बेसेन्ट के प्रयत्नों से ही 1916 के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन ने कांग्रेस के नरम और गरम दोनों दलों में पुनः मेल हो गया। तिलक तथा उनके अनुयायियों को राष्ट्रीय संस्था मे पुनः प्रवेश मिला और इस प्रकार लगभग 10 वर्षों के अन्तराल के बाद कांग्रेस मे पुनः नवजीवन का संचार हुआ।

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने 1914 मे 'दी कामन-वील' (The Common-Weal) और 'न्यू इण्डिया' (New India) नामक दो पत्र निकालने शुरू किए और उनके माध्यम से गृह शासन अथवा होम रूल के विचारों का प्रसार करना शुरू कर दिया। इन पत्रों में ही श्रीमती बेसेन्ट भारत के लिए 'स्वशासन', 'स्वराज्य या

स्वराज्य आदि की मांग की और भारतीयों को एक नवीन राजनीतिक आन्दोलन शुरू करने की प्रेरणा दी। 1 सितम्बर, 1916 को श्रीमती बेसेन्ट ने मद्रास में 'अखिल भारतीय होम रूल लीग' (All India Home Rule League) की स्थापना की और सारे भारत में होम रूल लीग की शाखाएं खोलने का प्रयत्न किया था। उल्लेखनीय है कि इससे लगभग 6 मास पूर्व 28 अप्रैल, 1916 को तिलक बेलगांव (पूना) में महाराष्ट्र होम रूल लीग की स्थापना कर चुके थे। 1914 में मांडले जेल से छूटने के बाद लोकमान्य तिलक एनी बेसेन्ट के होम रूल लीग के ... कांग्रेस में शामिल हो चुके थे। वे राष्ट्र में नई जागृति पैदा करना चाहते थे और कांग्रेस को एक अधिक क्रान्तिकारी, अधिक लड़ाकू और अधिक सक्रिय संस्था बनाना चाहते थे। अप्रैल, 1916 में बेलगांव में होम रूल लीग की स्थापना की घोषणा कर दी। तिलक ने होम रूल आन्दोलन का पहला संगठन आरम्भ किया। केसरी और 'मराठा' द्वारा तिलक ने होम रूल आन्दोलन का प्रचार बड़े जोर-शोर से शुरू कर दिया। तब एनी बेसेन्ट ने इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की। तिलक ने उनका पूरा समर्थन किया और दोनों नेताओं ने अपने सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलकर कार्य करने का निश्चय किया। सारे देश में होम रूल की लहर व्याप्त हो गई, देश भर में सभाएं आयोजित की गईं और भाषण दिए गए। अनेक उदारवादी कांग्रेसी भी होम रूल आन्दोलन में शामिल हो गए। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे लोकमान्य तिलक, श्रीमती एनी बेसेन्ट, श्री एस. सुब्रह्मण्य, बी. पी. वाडिया, जिनराजदास, एन. सी. केलकर, जॉर्ज अरुण्डेल आदि। प्रेस और मंच की सहायता से होम रूल आन्दोलन प्रबल रूप में चलाया गया। 1917 में एनी बेसेन्ट भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षा चुनी गईं। कांग्रेस लीग योजना के बाद जब थोड़े समय के लिए मुस्लिम लीग ने भी राष्ट्रीय उद्देश्यों को स्वीकार किया तो मोहम्मद अली जिन्ना भी होम रूल लीग में शामिल हो गए और उन्हें बम्बई शाखा का अध्यक्ष चुन लिया गया।

होम रूल आन्दोलन के नेताओं ने—विशेषकर तिलक और एनी बेसेन्ट ने—देश के विभिन्न नगरों की यात्राएँ कीं, सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिए और आन्दोलन को प्रबलता प्रदान की। देश के विभिन्न भागों में होम रूल संस्थाएँ स्थापित हुईं। फलस्वरूप सारे देश में उत्तेजना और आशा का वातावरण पैदा हो गया। पण्डित नेहरू के शब्दों में "देश के वातावरण में बिजली दौड़ गई थी और हम नवयुवक एक अजीब उत्साह तथा स्फूर्ति का अनुभव कर रहे थे।" जनता में यह आशा जाग्रत हो गई कि होम रूल आन्दोलन व्यर्थ नहीं जाएगा, इसका सुपरिणाम शीघ्र ही सामने आएगा। पूना और मद्रास की होम रूल लीगें यद्यपि पृथक्-पृथक् थीं, किन्तु दोनों में पूर्ण सहयोग था। दोनों ही होम रूल लीगें संवैधानिक साधनों द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहती थीं। दोनों के सदस्य एक दूसरे के सदस्य थे।

तिलक और एनी बेसेन्ट दोनों ही ओजस्वी थे। दोनों स्वशासन की मांग

'उपहार' रूप में नहीं बल्कि 'अधिकार या हक' के रूप में करते थे। तिलक ने स्वराज्य की माँग को नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी आधारों पर न्यायोचित ठहराया और यह विश्वास व्यक्त किया कि स्वराज्य की प्राप्ति भारतीय राष्ट्रवाद का एक महान विजय होगी। तिलक की होम रूल लीग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य चाहती थी और यह ब्रिटिश संसद् के वैधानिक अधिनियम के द्वारा ही सम्भवतः हो सकता था। लीग की इच्छा थी कि भारत की राजनीतिक माँगों के आधार पर संसद् में एक विधेयक प्रस्तुत किया जाए और इसके लिए इंग्लैण्ड में आन्दोलन चलाया जाए। तिलक प्रथम महायुद्ध काल को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए दैवी अवसर मानते थे। जब कभी भी तिलक को युद्ध-सम्मेलनों में आमन्त्रित किया जाता था तो वे 'स्वशासन' (Self-Government) और 'समान प्रतिष्ठा' (Equality of Status) के प्रश्न को युद्ध-सहायता के प्रश्न के साथ जोड देते थे।[1] तिलक का कहना था कि यदि भारतीयों को 'लकड़हारा' और 'माश्की' ही समझा जाता है तो फिर उन्हें लड़ने के लिए कहना उचित नहीं है। उनका कहना था, "स्वरक्षा और स्वराज्य सदैव साथ-साथ चलते है।"[2]

श्रीमती एनी बेसेन्ट होम रूल आन्दोलन के प्रचार में तिलक से पीछे नहीं थीं। उन्होंने अपने भाषणों में स्पष्ट रूप से बताया कि भारत स्वशासन क्यों चाहता है। स्वशासन को 'अधिकार या हक' के रूप में मानते हुए श्रीमती बेसेन्ट ने कहा—"भारत युद्धकालीन राजभक्ति का इनाम नहीं मानता, वह अपने बेटों के रक्त और बेटियों के आँसुओं के बदले में स्वतन्त्रता की किश्तों का सौदा नहीं कर सकता। वह तो एक राष्ट्र होने के नाते अपने अधिकार चाहता है तथा साम्राज्य की प्रजा की भिन्न जातियों के बीच न्याय की माँग करता है।"

होम रूल आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य

गृह शासन अथवा होम रूल आन्दोलन एक वैधानिक और शान्तिपूर्ण आन्दोलन था जिसका उद्देश्य भारत में स्वशासन की स्थापना करना था। यह 'याचना' आन्दोलन एक अधिकारपूर्ण माँग की अभिव्यक्ति था अर्थात् स्वशासन की माँग कोई नहीं थी बल्कि 'भारतीयों का जन्म सिद्ध अधिकार' था। भारतीयों को स्वशासन दिलाने के मुख्य उद्देश्य के अतिरिक्त होम रूल आन्दोलन के कुछ और भी तात्कालिक उद्देश्य थे। इसका पहला उद्देश्य था कि स्थानीय संस्थाओं और विधानसभाओं में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का स्वशासन स्थापित किया जाए। दूसरा उद्देश्य यह था कि जब भारतीय तन-मन-धन से युद्ध में अंग्रेजों की सहायता कर रहे हैं तो उन्हें स्वशासन देकर सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। तीसरा उद्देश्य, भारतीय राजनीति को उग्रधारा की ओर जाने से रोकना था। श्रीमती बेसेन्ट ने तत्कालीन आतंकवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन की नब्ज पहचानी और यह निष्कर्ष निकाला कि

1 *G. N. Singh* : Landmarks in Indian Constitutional and National Movement, p. 279.

2 टी. वी. पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, पृष्ठ 395

यदि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को समुचित नेतृत्व प्रदान नहीं किया गया तो उस पर आतंकवादियों, क्रान्तिकारियों का आधिपत्य हो जाएगा। अत: उन्होंने शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक आन्दोलन चलाकर भारतीयों के ध्यान को दूसरी ओर मोड़ देने की चेष्टा की। उनका उद्देश्य यह था कि भारतीय राजनीति की शिथिलता को समाप्त किया जाए। श्रीमती बेसेन्ट ने होम रूल चलाकर भारतीय जनता को झकझोर दिया। उन्होंने कहा —"मैं भारत में वैधानिक का कार्य कर रही हूँ और सब सोने वालों को जगा रही हूँ ताकि वे उठ बैठें तथा अपनी मातृभूमि के लिए कार्य करें।"

होम रूल आंदोलन का दमन

होम रूल आन्दोलन 1917 में अपने शिखर पर पहुँच गया। यह सर्वथा शान्तिपूर्ण और वैधानिक आन्दोलन था किन्तु ब्रिटिश हुकूमत ने इसे दबाने के लिए बहुत कठोरता और वैधानिक आन्दोलन था किन्तु ब्रिटिश हुकूमत ने इसे दबाने के लिए बहुत कठोरता से काम लिया। श्रीमती एनी बेसेन्ट और उनके दो सहयोगियों को गिरफ्तार कर लिया गया। जो प्रेस तथा पत्र होम रूल आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे, उन्हें जब्त कर लिया गया तथा उनसे जमानतें ली गईं। तिलक को पंजाब और दिल्ली में प्रवेश की मनाही कर दी गई। जब श्रीमती बेसेन्ट और उनके सहयोगियों को गिरफ्तार कर लिया गया तो आन्दोलन का स्वरूप भड़क उठा।[1] सारे देश में विरोध और रोष का ज्वार उमड़ पड़ा, देश के विभिन्न स्थानों पर विरोध सभाएँ की गईं और वे राष्ट्रवादी नेता जो अब तक होम रूल संगठन से अलग थे, आन्दोलन में शामिल होकर उसके दायित्वपूर्ण प्रभार पर काम करने लगे। मोहम्मद अली जिन्ना भी आन्दोलन में शामिल हो गए। सर एस. सुब्रह्मण्यम् ने श्रीमती बेसेन्ट और उनके सहयोगियों की गिरफ्तारी के विरोध में अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी।[2] कांग्रेस ने सरकारी दमन-नीति की घोर निन्दा करते हुए नजरबन्द नेताओं को छोड़ने की माँग की। सरकारी दमन चक्र चलता रहा। 1917 के प्रारम्भ में सरकार ने विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने से रोक दिया और होम रूल की सभाओं में उपस्थित होना उनके लिए वर्जित कर दिया। ब्रिटिश सरकार के घोर दमन के बावजूद, होम रूल की उपेक्षा करना सम्भव नहीं रहा। उसे युद्ध में भारतीयों के सहायता की आवश्यकता थी। अत: भारत मन्त्री लॉर्ड माण्टेग्यू ने 20 अगस्त, 1917 की अपनी ऐतिहासिक घोषणा द्वारा "भारत में उत्तरदायी शासन के शनैः-शनैः विकास" का वचन दिया। इस घोषणा ने भारतीय राजनीति की हवा के रुख को एकदम बदल दिया, होम रूल आन्दोलन शिथिल पड़ गया और धीरे-धीरे बिलकुल मुरझा गया। सरकार ने 20 सितम्बर, 1917 को श्रीमती बेसेन्ट और उनके सहयोगियों को रिहा कर दिया।

होम रूल आन्दोलन का महत्त्व

भारतीय राष्ट्रीय "आन्दोलन" में होम रूल आन्दोलन का विशेष महत्त्व है

1 सुभाष काश्यप : सांविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, पृष्ठ 73.

2 टी. वी. पर्वते : वही, पृष्ठ 404.

क्योंकि इसने एक ऐसे समय स्वतन्त्रता की ज्योति को जलाए रखा जब कांग्रेस निस्पन्द और निष्प्राण नजर आती थी। होम रूल आन्दोलन ने सोते हुए भारतीयों को, सोती हुई कांग्रेस को पुनः जगाया और लोगों मे नए विचारो तथा नए उत्साह का संचार किया। इस आन्दोलन ने स्वदेशी, स्वशासन तथा राष्ट्रीय शिक्षा के विचारो का प्रसार किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप लोगो मे एक ऐसा नवजीवन भर उठा जैसा पहले कभी नही था। यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि महात्मा गाँधी के जन-आन्दोलनो की पृष्ठभूमि का काम होम रूल आन्दोलन ने किया। इसने राष्ट्र के समक्ष स्वशासन की एक ठोस योजना प्रस्तुत की और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देश के सभी वर्गों मे 'सयुक्त मोर्चे की भावना' का आह्वान किया। इस आन्दोलन ने यह जता दिया कि यदि कांग्रेस अपने राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति करना चाहती है तो कोई भीख माँगने से काम नही चलेगा। कांग्रेस का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में होना चाहिए जो अपना समय जीवन और राष्ट्र की सेवा में लगा सके। यदि होम रूल आन्दोलन नहीं होता तो 20 अगस्त, 1917 की माण्टेग्यू घोषणा उस समय नही होती और 1919 का अधिनियम आगे लम्बे समय के लिए टल जाता।

लोकमान्य तिलक
(Lokmanya Tilak, 1856–1920)

"स्वशासन मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा"—अधिकांश सजग भारतीयो के होठो पर था। तिलक वे पहले नेता थे जिन्होने राजनीतिक आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए धार्मिक जोश का प्रयोग किया। वे कांग्रेस के उग्रवादी नेता थे, कर्मठ और साहसी सैनानी थे जिन्होंने अपनी अनवरत साधना और महान् बलिदान के द्वारा भारतीय स्वाधीनता के भव्य भवन की नीव डालने मे महत्ती भूमिका अदा की। कांग्रेस के मच पर जो विशाल प्रबुद्ध व्यक्तित्व अब तक आए तिलक उनसे बिलकुल निराले थे, क्योंकि सक्रिय क्रांतिकारी होने के साथ ही वे एक महान् विद्वान भी थे। गीता दर्शन पर उनकी टिप्पणी और 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' नामक वह ग्रन्थ जिसमे हिन्दुओ के आदि ग्रन्थ वेदों का जन्म स्थान आर्कटिक प्रदेश मे सिद्ध किया गया है—उनके विशाल अध्ययन तथा अनुसधान मे उनकी गहरी रुचि का प्रमाण है।

लोकमान्य तिलक (1856–1920) का जन्म एक ऐसे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार मे हुआ था जिसका सम्बन्ध इतिहास के गौरवशाली पेशवाओं से था। 1879 मे उन्होने एल. एल. बी. की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। कॉलिज जीवन से ही उनकी रुचि सार्वजनिक कार्यों की ओर बढ़ती गई। एक शिक्षाशास्त्री के रूप मे उन्होंने पूना न्यू इगलिश स्कूल, दक्षिण शिक्षा समाज (Deccan Education Society) तथा फरग्यूसन कॉलिज के व्यवस्थापक के रूप में ख्याति अर्जित की। सन् 1889 म कांग्रेस मे अपने प्रवेश के बाद मे ही एक राजनीतिक नेता के रूप में कांग्रेस के कार्यकलापो में तिलक ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की। 'अपने ...

तथा 'मराठा' नामक दो पुत्र तथा शिवाजी और गणपति उत्सवों द्वारा उन्होंने जनता में देशभक्ति की भावना फूंक दी तथा उसमें अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की।[1] 1897 में तिलक बम्बई विधान परिषद् के सदस्य चुने गए जहाँ उन्होंने बड़ी निडरता के साथ सरकारी रवैये की कटु आलोचना की। महाराष्ट्र मे अकाल और पूना मे प्लेग के समय जनता के कष्टो के प्रति सरकार के उपेक्षापूर्ण रवैये से क्षुब्ध होकर दो नवयुवकों ने पूना के प्लेग कमिश्नर रैंड तथा एक अन्य अंग्रेज अधिकारी की हत्या कर दी। तिलक का इस हत्याकाण्ड से कोई सम्बन्ध नही था, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन पर हिंसा और राजद्रोह को भड़काने का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया और 18 मास का कठोर कारावास का दण्ड दे दिया।

सन् 1905 मे बंग-भंग के समय तिलक का राजनीतिक कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र से बढ़कर सम्पूर्ण भारत हो गया। 'केसरी' के माध्यम से उन्होने स्वदेशी बहिष्कार और स्वराज्य का सन्देश जन-जन तक पहुँचाया। लाल-बाल-पाल ने देश मे वस्तुतः एक संगठित उग्रवादी दल को राष्ट्रीय रंगमंच पर ला खड़ा किया। काँग्रेस के उदारवादी नेता तिलक के उग्र और यथार्थवादी विचारो से सहमत नही हो सके। अन्ततः 1907 में 'सूरत की फूट' सामने आई। बाद में 1915 तक, जब तक कि मुख्यतः एनी बेसेन्ट के प्रयासों से दोनो दलो मे पुनः एकता स्थापित हो गई, उग्रवादी काँग्रेस के बाहर ही रहकर कार्य करते रहे। 1908 मे तिलक को राजद्रोह के मिथ्या आरोप में पुनः गिरफ्तार करके 6 वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड देकर माण्डले जेल भेज दिया जहां उन्होने अपने दो विख्यात ग्रन्थ रत्नों—'गीता रहस्य' और 'दी आर्कटिक होम इन दि वेदाज' की रचना की। ये दोनो ही ग्रन्थ लोकमान्य तिलक के विशाल ज्ञान, ऐतिहासिक शोध-गाम्भीर्य और विचारों की उत्कृष्टता के परिचायक है। 1914 मे कारावास से मुक्त होने पर तिलक पुनः राष्ट्रीय संगठन के कार्य में पिल पड़े। 1918 मे सर्वसम्मति से काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गए, लेकिन शिरोल केस के सिलसिले मे इंग्लैण्ड चले जाने से वे इस गौरवशाली पद को स्वीकार न कर सके। 21 जुलाई, 1920 को बम्बई में आकस्मिक बीमारी मे स्वाधीनता के इस विकट योद्धा का स्वर्गवास हो गया।

तिलक का राजनीतिक दर्शन और कार्य-पद्धति

तिलक सच्चे अर्थों मे भारतीय उग्र राष्ट्रवाद के जनक थे जिन्होंने भारतीय राजनीति को एक नई दिशा प्रदान करके काँग्रेस को एक जन-आन्दोलन मे परिणत कर दिया। उदारवादियों की निष्क्रिय नीति की प्रतिक्रिया के रूप मे तिलक ने सम्पूर्ण देश को मूर्त और गतिशील विचार देकर अद्भुत जन-जागरण पैदा किया। तिलक की आध्यात्मिक धारणाओं ने उनके राजनीतिक चिन्तन को विशेष रूप मे प्रभावित किया।

1 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वही, पृष्ठ 178.

तिलक का राष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवाद—तिलक की राष्ट्रीय पुनरुत्थानवादी और पुनर्निर्माणवादी भावना थी। तिलक ने भारतीयो मे यह भावना भरने की अथक चेष्टा की कि वेदो और गीता के महान् सन्देशों से नई शक्ति और नई स्फूर्ति ग्रहण करें क्योंकि तभी राष्ट्र वह आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर सकेगा, जिसके बल पर ब्रिटिश नौकरशाही से लोहा लेकर स्वराज्य की स्थापना सम्भव होगी। सुधार के नाम पर प्राचीन का अनादर करना तो राष्ट्रीयता के पतन का सूचक है। तिलक की मान्यता थी कि विभिन्न विचारधाराओ, जाति-भेदों, अस्वस्थ मत-मतान्तरो आदि के कारण देश में राष्ट्रीयता की भावना उस तेजी से नही पनप सकती, जिस तेजी से यह समान भाषा, समान धर्म और समान सस्कृति वाले देश मे पनप सकती है। इसीलिए उन्होने भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वो पर बारम्बार बल दिया। तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास मे सार्वजनिक उत्सवों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उनका कहना था कि उत्सव प्रतीक का काम करते है जिनसे राष्ट्रवाद की भावना पनपती है। तिलक हिन्दू गौरव को डूबते नही देखना चाहते थे, पर इसका अभिप्राय यह भी नही है कि वे कोरे हिन्दू राष्ट्रवादी थे अथवा मुसलमानो के खिलाफ थे। तिलक एक महान् राष्ट्रवादी विचारक और देशभक्त थे, जिनके हृदय मे मुसलमानो के प्रति या अन्य धर्मावलम्बियो के प्रति कोई द्वेषभाव नही था। उनका अपराध केवल यही था कि वे एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ थे जो अन्याय के आगे सिर नही झुका सकते थे और जिन्हें सरकार की इस चाल से घृणा थी कि वह हिन्दुओ के हितो पर कुठाराघात करते हुए मुसलमानो का पक्ष लें, जिन्हे कि वह हिन्दुओ के विरुद्ध उकसाए।

तिलक का राजनीतिक उग्रवाद और आक्रामक राष्ट्रवाद—लोकमान्य तिलक का राष्ट्रवाद बड़ा उग्र और तेजस्वी था तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उनको इसी उग्रवादी राजनीति तथा राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना जाता था। तिलक ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी निरंकुश नीति को सहन नही कर सके। उन्होंने अपना यह स्पष्ट मत रखा कि ब्रिटिश सरकार का उस पर प्रार्थनाओ और नम्र निवेदनो का कोई असर होने वाला नही है, अतः हमें अपनी माँगो को 'हक' (Right) के रूप में रखना चाहिए तथा दबावकारी उग्र साधनो (हिंसात्मक नही) का आश्रय लेकर विदेशी हुकूमत को यह सोचने पर मजबूर कर देना चाहिए कि भारतीयो की माँगों की उपेक्षा करना उचित नही है। 1905 मे बंगाल-विभाजन के अवसर पर तिलक को उग्र राष्ट्रवाद का बिगुल फूँकने का स्वर्ण अवसर मिला।

तिलक ने 'स्वराज्य' का मंत्र फूँका। स्वराज्य प्राप्ति के लिए तिलक तथा उनके उग्रवादी साथियो ने मुख्यतः इन बातों पर जोर दिया—(1) स्वदेशी, (2) बहिष्कार (Boycott), (3) राष्ट्रीय शिक्षा, (4) निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)। यह तिलक का उग्रवादी रुख कांग्रेस के उदारवादियों या नरमपन्थियों से मेल नही खा सका। 1907 के सूरत विच्छेद से पूर्व तक तिलक ने अपने एक भाषण मे राजनीतिक उग्रता का परिचय देते हुए कहा—"हमारा

उद्देश्य स्वशासन है और इसे यथासम्भव शीघ्र ही प्राप्त करना चाहिए। हमारा राष्ट्र आतंकवादी दमन के लिए नहीं है। आप लोग भीरू और कायर न बनें। जब आप स्वदेशी को स्वीकार करते हैं तो आपको विदेशी का बहिष्कार करना होगा।.... हमारा उद्देश्य पुनर्निर्माण है, हमारा स्वराज्य का आदर्श विशिष्ट लक्ष्य है जिसे जन-समुदाय समझे। स्वराज्य से जनता का शासन जनता के लिए होगा। उदारपन्थियो, डरिए मत। बहिष्कार दलित राष्ट्र के लिए एकमात्र साधन है। स्वराज्य और बहिष्कार के उपरान्त हमारा तीसरा आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा है जिसके सम्बन्ध मे पिछली कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किया था।" तिलक का विश्वास संगठन शक्ति और आत्म-निर्भरता मे था। उन्होने जनता को आह्वान किया कि वह राजनीतिक आन्दोलन चलाकर सरकार पर अधिक से अधिक दबाव डाले और मातृभूमि के लिए कष्ट एव त्याग सहन करे।

तिलक ने उदारवादियो की सांविधानिक पद्धति की निष्फलता पर कई लेख लिखे और अपना यह दृढ़ मत व्यक्त किया कि सांविधानिक पद्धति ब्रिटेन जैसे देश मे उपयुक्त हो सकती है जहाँ एक संविधान है, जहाँ "सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी है और मतदाताओ का विश्वास खो देने पर गद्दी से उतार दी जाती है।" तिलक भी अपना भारतीय आन्दोलन कानून पर आधारित नही कर सकते क्योंकि देश पर अनुत्तरदायी और निरंकुश सरकार का शासन है जो कानून को अपने मनमाने ढग से तोड़-मरोड़ सकती है। तिलक ने, उग्रवादी होने के बावजूद हिंसा और क्रान्ति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया और न ही अनावश्यक रूप में सरकारी कानूनो की अवज्ञा के लिए लोगों को प्रेरित किया। तिलक के विरोधियों ने और उनके राज-दर्शन के विदेशी व्याख्याताओं ने उन पर क्रान्तिकारी और हिंसावादी होने का आरोप लगाया है। लेकिन इस प्रकार के सभी आरोप तिलक के राजनीतिक चिन्तन और कार्यकलापों की गलत व्याख्याएँ है। वास्तविकता यही है कि चाहे तिलक का महात्मा गांधी के समान अहिंसा मे विश्वास नही था और स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए एक साधन के रूप मे हिंसा को उन्होंने सर्वथा त्याज्य नहीं माना, तथापि उन्होंने देशवासियों को क्रान्ति और हिंसा की ओर प्रेरित नहीं किया। एक व्यावहारिक राजनीतिक रूप मे तिलक ने सदैव यही अनुभव किया कि तत्कालीन परिस्थितियाँ भारत में हिंसात्मक और क्रान्तिकारी साधनो के प्रयोग के अनुकूल नही थी। सशस्त्र क्रान्ति का समय अभी नही आया था। तिलक का यद्यपि प्रमुख क्रान्तिकारियों से सम्पर्क था, लेकिन उन्होने क्रान्ति को उकसाया नहीं बल्कि युवा क्रान्तिकारियों को सदैव संयत करने का प्रयास किया। हत्या और हिंसा को राजनीतिक साधन के रूप मे ग्रहण करने से वे सदैव कतराते रहे।

स्वदेशी और बहिष्कार— स्वाधीनता संग्राम के इन दो हथियारो को लोकप्रिय बनाने में तिलक ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि स्वदेशी का आरम्भ उदारवादियों ने एक आर्थिक आन्दोलन के रूप मे किया था, लेकिन उग्र राष्ट्रवादियो, विशेषकर तिलक के हाथों मे यह एक राजनीतिक अस्त्र न गया। पश्चिमी भारत में

स्वदेशी और बहिष्कार का आन्दोलन तिलक के साथ पहुँचा। उनके नेतृत्व मे पूना मे बड़े पैमाने पर विदेशी कपड़ो की होली जलाई गई। स्वदेशी ने ही स्वराज्य का रास्ता दिखाया। तिलक की प्रेरणा से इसका प्रयोग जन-जीवन मे एक कार्यक्रम के रूप मे होने लगा। जनता से विदेशी सामान का बहिष्कार कर स्वदेशी अपनाने की अपीलें की गईं। तिलक ने स्वदेशी का व्यापक अर्थ लेते हुए इसका प्रयोग शिक्षा, विचारों और जीवन-पद्धति के रूप मे किया। उन्होंने स्वदेशी का यह अर्थ भी लिया कि शनैः-शनैः विदेशी विचारो को भी भारतीय जन मानस मे लुप्त कर दे। तिलक ने भारतीयो के मन और मस्तिष्क को स्वदेशी बना देना चाहा और इस प्रकार उनमे स्वाधीनता की भावना भर देने का अथक परिश्रम किया।

स्वदेशी की भाँति बहिष्कार का भी मूल उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश सरकार के आर्थिक हितो पर दबाव डाल कर उसे अपनी माँगें मनवाने के लिए विवश कर दिया जाए। तिलक ने बहिष्कार के आस्ति और नास्ति-स्वीकारात्मक और नकारात्मक दोनो पहलुओ पर जोर डाला और कहा कि सर्वप्रथम तो इससे स्वदेशी वस्तुओ के उत्पादन को बढावा मिलेगा और दूसरे ब्रिटिश सरकार भारतीयों की माँगें मानने के लिए विवश होगी। वास्तव मे तिलक ने लोगो को बहिष्कार का मार्ग और इसका राजनीतिक स्वरूप दिखाकर स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त किया। यह बहिष्कार आन्दोलन गाँधीजी के ही असहयोग आन्दोलन की स्पष्टतम पूर्व-सूचना थी। तिलक ने 1906 मे ही जिस असहयोग आन्दोलन का खाका खीचा था उसे ही लगभग 14 वर्ष बाद महात्मा गाँधी ने चलाया।

'तिलक की स्वराज्य' की धारणा—यद्यपि कांग्रेस ने अपने कलकत्ता अधिवेशन मे 'स्वराज्य' को औपचारिक रूप से अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था, लेकिन इसे लोकप्रिय और प्रभावी बनाने की दृष्टि से वह उदासीन ही रही थी। यह तिलक ही थे जिन्होने माण्डले जेल से लौटने पर स्वराज्य का सन्देश घर-घर तक पहुँचाने के लिए एक प्रभावी कार्यक्रम बनाया, इसके लिए होम रूल लीग की स्थापना की, स्वराज्य की स्पष्ट शब्दो मे व्याख्या की और इस बात के औचित्य को सिद्ध किया कि भारत को अविलम्ब स्वराज्य दिया जाना आवश्यक है। 1916 की लखनऊ कांग्रेस मे तिलक ने भारतीयो को मन्त्र दिया, कि "स्वराज्य भारतवासियो का जन्म सिद्ध अधिकार है।" तिलक ने स्वराज्य की माँग को नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी आधारो पर न्यायोचित ठहराया तथा यह विश्वास व्यक्त किया कि स्वराज्य की प्राप्ति भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान् विजय होगी।

सम्भवतः 1916 से पहले तक अरविन्द और विपिनचन्द्र पाल की भाँति तिलक ने भी 'स्वराज्य' का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता से ही लगाया, किन्तु 1916 के लखनऊ अधिवेशन से उन्होंने स्वराज्य की कुछ भिन्न व्याख्या की जो तत्कालीन परिस्थितियो मे अधिक समयानुकूल और व्यावहारिक थी। होम रूल आन्दोलन के दौरान तिलक शब्दों के प्रयोग मे सदैव सतर्क रहे और कहते रहे कि "मैं राजा। सम्राट् के विरुद्ध नही हूँ, मैं तो केवल आंग्ल-भारतीय नौकरशाही को बदलना चाहता..."

हूँ।" तिलक ने अप्रेल 1916 में स्वराज्य (होम रूल) आन्दोलन प्रारम्भ किया और 31 मई 1916 को अहमदनगर मे राजस्व पर अपने पहले भाषण मे कहा कि स्वराज्य का अर्थ सम्राट् के शासन का उन्मूलन करना और किसी देशी रियासत का शासन कायम करना नही है। हमे मन्दिर के देवताओं को नहीं हटाना है, केवल पुजारियों को बदलना है। सम्राट् अपनी गोरी तथा काली प्रजा के बीच भेदभाव नही करते, इसलिए नौकरशाही पुजारियों को बदलने से उनका अहित नही होगा। स्वराज्य का अर्थ यह नही है कि अंग्रेज सरकार के स्थान पर जर्मन सरकार को स्थापित किया जाए। स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि भारत के आन्तरिक मामलों का सचालन और प्रबन्ध भारतवासियों के हाथों में हो। तिलक की होम रूल लीग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य चाहती थी और यह ब्रिटिश संसद् के वैधानिक अधिनियम के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। तिलक की कल्पना थी कि स्वराज्य के अन्तर्गत देश का राजनीतिक ढांचा संघात्मक होगा।

उल्लेखनीय है कि तिलक ने 'स्वराज्य' की अपनी पूर्व धारणा अर्थात् पूर्ण स्वाधीनता की आकांक्षा का परित्याग नही किया था वरन् तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य का व्यावहारिक सुझाव दिया था। यह पूर्ण स्वाधीनता की दिशा मे एक पहला महत्त्वपूर्ण कदम था। अपनी मृत्यु शैया पर पड़े सन्निपात मे तिलक बहुधा देश की दरिद्रता, कांग्रेस और स्वराज्य के सम्बन्ध मे बोलते रहते थे। उनके अन्तिम शब्द थे—"यदि स्वराज्य न मिला तो भारत समृद्ध नही हो सकता। स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।"

जन-शक्ति और जन-सम्पर्क और पत्रकारिता की शक्ति में विश्वास—तिलक ने अपने चिन्तन और कार्यकलापो मे 'जन-शक्ति' को सदैव विशेष स्थान दिया। 1891 मे उन्होने 'केसरी' मे लिखा था कि "जनमत जैसी एक ऐसी चीज होती है जिससे स्वेच्छाचारी और तानाशाह भय खाते हैं, लेकिन ऐसा जनमत यहाँ उत्पन्न करने के लिए हमने कुछ नही किया है।" तिलक ने पत्रकारिता का सहारा लेकर जनता मे चेतना फूंकी और उसे स्वराज्य के प्रति सचेत किया।

शान्ति-सम्मेलन को ज्ञापन—तिलक एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे जो अपने राष्ट्र के हित के लिए कोई भी अवसर नही चूकते थे। अवसर आ जाने पर वे आवेदन पत्र की पद्धति का प्रयोग करने से भी नही हिचकते थे। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस में हुए शान्ति-सम्मेलन के अध्यक्ष को उन्होने एक ज्ञापन पेश किया था जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप में लिखा था कि सम्मेलन में सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति (बीकानेर नरेश और एस. पी. सिन्हा) भारत का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस ज्ञापन मे तिलक ने एशिया और विश्व की राजनीति मे भारत की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक स्थिति का उल्लेख किया और भारत के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार की मांग की। तिलक का ज्ञापन भारत की पर-राष्ट्रनीति का पहला

कुछ अन्य प्रमुख उग्रवादी

लाल-बाल-पाल (लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल) को उग्रवाद की त्रिमूर्ति माना जाता है।

लाला लाजपत राय और उनके राजनीतिक विचार

पंजाब केसरी लाला लाजपत राय (1865–1928) एक महान् राष्ट्रवादी और आधुनिक भारत के अग्रणी राजनीतिक नेता थे जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता का मार्ग प्रदीप्त किया। उनकी 'यंग इण्डिया', 'अनहैप्पी इण्डिया', 'इंग्लैण्डस डेट टु इण्डिया' आदि पुस्तकें उनके विशाल ज्ञान की परिचायक है। लाला लाजपत राय ने राष्ट्रवाद, स्वदेशी, स्वराज्य, स्वतन्त्रता आदि पर निर्भीक विचार व्यक्त किए और तत्कालीन उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षा-वृत्ति को ठुकराते हुए देश को अपने पैरों पर खड़े होने के लिए ललकारा। लाजपत राय का जीवन कर्म और संघर्ष का जीवन था तथा उनका आदर्श भारतीय राष्ट्रवाद (Indian Nationalism) का आदर्श था। इसी आदर्श के लिए उन्होंने काम किया, कष्ट झेले और अन्त में अपने प्राणों की आहुति दे दी।

लाजपत राय ने कहा कि अनेक अंग्रेज राजनीतिज्ञ और संवाददाता भारत में ब्रिटिश शासन के वरदानों की चर्चा करते हैं, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि एक अच्छी सरकार भी स्वशासन (Self-Government) का स्थानापन्न (Subctitute) नहीं हो सकती। क्या स्वतन्त्रता और सम्मान की तराजू पर दुनिया भर के धन को तौला जा सकता है? यदि हमें अपनी आत्मा को खोकर दुनिया का प्रभुत्व मिल जाए तो क्या लाभ? एक गुलाम प्रजा के कोई आत्मा नहीं होती, ठीक उसी तरह जिस तरह कि एक गुलाम व्यक्ति अथवा एक दास के सही अर्थों में आत्मा नहीं होती।

लाजपत ने देश के लिए स्वराज्य की माँग की और स्वतन्त्रता को जीवन का उद्देश्य तथा लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का अर्थ था कि जनता को राष्ट्र के सभी वर्गों और मानव जाति के हित के लिए स्वयं को एक सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र के रूप में संगठित होने का अधिकार हो। स्वराज्य इसी में है कि जनता को अपनी इच्छानुसार शासन चलाने का अधिकार मिले। लाजपत राय ने दादाभाई नौरोजी की भाँति भारत के अनवरत आर्थिक शोषण का भण्डाफोड़ किया। ब्रिटिश आधिपत्य के दौरान भारत के सैनिक और आर्थिक विनाश का एक ऐसा सिलसिला चलाया गया जिसे पूरा होने में लगभग एक शताब्दी लगी और इस अवधि में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने देश को रसातल में बैठा दिया। जहाँ उदारवादी ब्रिटिश न्याय और स्वातन्त्र्य-भावना को उकसा कर धीरे-धीरे स्वराज्य पाना चाहते थे वहाँ लाजपत राय का कहना था कि 'स्वराज्य' कोई घर या कारखाना या नगर नहीं है जिसका निर्माण धीरे-धीरे सीढ़ी-दर-सीढ़ी हो। यदि धीरे-धीरे रेंग-रेंग कर स्वराज्य-प्राप्ति की बात की गई तो जनता का जोश ठण्डा हो जाएगा और पहले से पराधीन देशवासियों की दास-वृत्ति अधिक गहरी हो जाएगी।

लाजपत राय स्वदेशी के समर्थक थे। उनका कहना था कि स्वदेशी भारत की दुःख-दरिद्रता को दूर कर सकती है, तथा इस स्वदेशी का अर्थ है अपने ही देश की

वस्तुओं का प्रयोग। स्वदेशी भावना से देशवासियों में आत्म-निर्भरता, आत्म-सहायता और आत्म-सम्मान की भावना विकसित होगी। स्वदेशी वह प्रभावशाली अस्त्र है जिसके द्वारा हम दासता के बन्धन से छुटकारा पा सकते हैं। लालाजी ने स्वदेशी को देश-भक्ति का पर्यायवाची माना, लेकिन उन्होंने आदर्श आधुनिकता और उदार विचारों का विरोध नही किया। लाजपत राय ने यद्यपि उग्रवादी साधनों में विश्वास प्रकट किया, लेकिन उन्होंने न तो कभी आतंकवाद को प्रोत्साहन दिया और न सशस्त्र क्रान्ति को। उन्हें महसास था कि भारत उस समय एक सैनिक क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए तैयार नही था और यदि देशवासी सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग पर चल पड़ें तो प्रथम तो ऐसी क्रान्ति सफल नही होगी और दूसरे सरकार के निर्मम दमनचक्र से छुटकारा असम्भव हो जाएगा। इसीलिए उनका सन्देश था हमे राष्ट्र के मनोबल का निर्माण, निर्देशन और नियन्त्रण इस प्रकार करना चाहिए कि वह अजय हो उठे। यदि एक पराधीन जाति को आजादी के लिए संघर्ष करना है तो उसे अगडाई लेकर उठ खडा होना चाहिए और अपनी मांग के पीछे एक प्रबल जन-शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। हाथों में हथियार लेने के बनिस्पत देश को मानसिक गुलामी से छुटकारा पाना चाहिए।

लाला लाजपत राय ने ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के कुटिल उद्देश्यों का पर्दाफाश किया। उन्होंने 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) के कुपरिणामों को भारतीय इतिहास के आधार पर स्पष्ट किया। लाजपत राय ने बताया कि ब्रिटिश शासन ने बड़े सुनियोजित रूप से भारत मे साम्प्रदायिकता का प्रसार किया है। लालाजी ने देशवासियों से अपने मतभेदों की खाई पाटने और परस्पर घनिष्ठ रूप से निकट आने की अपील की।

विपिनचन्द्र पाल

विपिनचन्द्र पाल (1851–1932) महान् देशभक्त, अद्भुत ओजस्वी वक्ता और कुशल पत्रकार थे। बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के नए सिद्धान्त का प्रचार करते हुए उन्होंने सारे देश में अपनी वक्तृत्व-शक्ति का सिक्का जमा दिया था। विपिनचन्द्र पाल ने भारतीय राजनीति में एक उदारवादी के रूप में प्रवेश किया, लेकिन ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति ने—विशेषकर बंग-भंग की घटना ने, उनके हृदय में एक तूफान खडा कर दिया और उग्रवादी विचारधारा के पोषक बन गए। लाल-बाल-पाल की त्रिमूर्ति एक युग के रूप में भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर उभर आई। इन तीनों महान् नेताओं के असहयोग से देश मे अभूतपूर्व भावात्मक और व्यावहारिक एकता का वातावरण पैदा हुआ। पाल नए राष्ट्रवाद के पोषक बने। 1908 के बाद उनके राजनीतिक चिन्तन में पुनः परिवर्तन दिखाई दिया और वे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर झुक गए। उनमें उदारवादी प्रवृत्ति ने पुनः बल पकड़ा। 1921 मे कांग्रेस से सदा के लिए नाता तोड लेने के बाद उनका जीवन राजनीति से लगभग अलग-थलग जा पड़ा।

4 राष्ट्रीय आन्दोलन का गाँधीवादी युग

(THE GANDHIAN PERIOD OF NATIONAL MOVEMENT)

अगस्त, 1920 में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व गाँधी जी के हाथ में आ गया। 1947 तक भारतीय राजनीति की बागडोर, अल्पकालीन अपवादों को छोड़कर, उन्हीं के हाथों में रही। 1919 तक राष्ट्रीय आन्दोलन मुख्यतः शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था, लेकिन महात्मा गाँधी ने उसे सच्चे अर्थों में जन-आन्दोलन बना दिया। उनके नेतृत्व में कांग्रेस जनता का संगठन बन गई। गाँधी युग में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति और विचारधारा पूर्णतः नवीन तथा अभिनव रूप में क्रांतिकारी बन गई। गाँधी के नेतृत्व में देश की आजादी के लिए अहिंसात्मक संघर्ष चला, यद्यपि हिंसात्मक क्रान्ति की चिनगारियाँ भी रह-रह कर फूटती रहीं।

मोहनदास करमचन्द गाँधी (1869–1948) गोपालकृष्ण गोखले की प्रेरणा से, प्रथम महायुद्ध के दौरान, जनवरी 1915 में अफ्रीका से वापस आए। गोखले के विचारों ने गाँधीजी को बहुत प्रभावित किया। वे गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। अतः शुरू में गाँधीजी गोखले के अनुयायी और राजभक्त माने जाते थे। सरकार के साथ सहयोग की नीति में उनका दृढ़ विश्वास था। महा द्ध के बीच गाँधीजी ने युद्ध प्रयासों में अंग्रेजी सरकार की पूरी सहायता की और इसके लिए सरकार ने उन्हें केसरी-हिन्द स्वर्ण-पदक से विभूषित किया था। किन्तु भारतीय मंच पर सक्रिय रूप से गाँधीजी ने प्रवेश किया 1919 में रोलेट एक्ट के प्रश्न को लेकर। शुरू का 'सहयोगी' बाद में 'असहयोगी गाँधी' बन गया। सितम्बर, 1920 में ही कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में उन्होंने सरकार के साथ सहयोग तथा मॉण्ट-फोर्ड सुधारों के अन्तर्गत निर्मित व्यवस्थापिका सभाओं के बहिष्कार का प्रस्ताव रख दिया। गाँधी के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन न केवल उनके लिए बल्कि समूचे राष्ट्र के लिए 'क्रान्तिकारी' नए मोड़ का सूचक था।

असहयोग आन्दोलन

(The Non-Co-peration Movement, 1920–22)

असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव पर कांग्रेस की स्वीकृति (1920) : असहयोग-कार्यक्रम

महात्मा गाँधी को यह विश्वास हो गया कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को अपने असहयोग आन्दोलन की पताका के नीचे एकत्र कर सकते हैं। सितम्बर,

1920 के कलकत्ता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में उन्होंने सरकार के प्रति 'अहिंसक असहयोग की नीति' अपनाने का प्रस्ताव रखा जिसके पक्ष मे 1886 और विपक्ष मे 884 मत पडे। कॉग्रेस का नियमित अधिवेशन दिसम्बर, 1920 में नागपुर मे हुआ जिसने कलकत्ता अधिवेशन के असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव को विधिवत् स्वीकार कर लिया गया।

प्रस्ताव में निम्नलिखित असहयोग कार्यक्रम स्वीकार किया गया—

(1) सरकारी उपाधियों तथा अवैतनिक पदों को छोड दिया जाए और म्यूनिसिपल बोर्ड तथा अन्य संस्थाओ में जो लोग नामजद हुए हों वे इस्तीफा दे दें।

(2) सरकारी दरबारो आदि द्वारा किए जाने वाले सरकारी और अर्द्ध सरकारी उत्सवो मे भाग लेने से इन्कार किया जाए।

(3) राजकीय तथा अर्द्ध-राजकीय स्कूलो तथा कॉलेजों से छात्रो को धीरे-धीरे निकाल लिया जाए।

(4) वकीलो तथा मुवक्किलों द्वारा ब्रिटिश अदालतो का धीरे-धीरे बहिष्कार किया जाए और आपसी झगडों को तय करने के लिए पचायती अदालतो की स्थापना की जाए।

(5) फौजी, क्लर्क तथा मजदूरी करने वाले लोग मेसोपोटामिया में नौकरी करने के लिए भर्ती होने से इन्कार करें।

(6) नई कौंसिलो के चुनाव के लिए खड़े हुए उम्मीदवार अपने नाम उम्मीदवारी से वापिस ले लें।

(7) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाए।[1]

जनता से अपील की गई कि एक बड़े पैमाने पर स्वदेशी वस्त्रों को अपनाया जाए और हरेक घर में हाथ की कताई को पुनरुज्जीवित करके बड़े पैमाने पर कपड़ो की उत्पत्ति तुरन्त ही बढाई जाए।[2] अब कांग्रेस का ध्येय बदल दिया गया। कांग्रेस का ध्येय 'शान्तिमय तथा उचित उपायो से स्वराज्य प्राप्त करना' घोषित किया गया।

असहयोग आन्दोलन के कारण

महात्मा गांधी द्वारा असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ क्यों किया, गया इसके पीछे कुछ निश्चित कारण थे—

(1) माण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों के प्रति असन्तोष–प्रथम महायुद्ध के दौरान भारतीयो ने तन-मन-धन से अंग्रेजो की सहायता की थी, किन्तु भारतीयो के सन्तोष के लिए जो मांण्ट-फोर्ड सुधार योजना प्रकाशित की गई उससे भारतीयो को बड़ी निराशा हाथ लगी। कांग्रेस ने 1919 के अपने अमृतसर अधिवेशन में सुधारो के

1 पट्टाभि सीतारमय्या : कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 110–11.
2 वही, पृष्ठ 112.

क्रियान्वयन में सहयोग देने का वादा किया किन्तु 1919 के अधिनियम के दोष इतने गहरे थे कि भारतीय जनता के हित में कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकल सके। मॉण्ट-फोर्ड सुधार योजना ने उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं की, भारत सरकार पर गृह-सरकार का नियन्त्रण पूर्ववत् बना रहा तथा स्थानीय स्वशासन को भी बढ़ावा नहीं मिला। भारतीयों ने इस सुधार योजना को 'अनुदार तथा अपमानजनक' माना विशेषकर शिक्षित वर्ग में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ।

(2) आर्थिक दुर्दशा—महायुद्ध काल में—विशेषकर 1917 से 1920 तक की अवधि में भारतीयों को अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे उनमें काफी असन्तोष फैला। मूल्य वृद्धि, बेरोजगारी, प्लेग और इन्फ्लुएंजा के प्रकोप आदि ने लोगों की आर्थिक कमर तोड़ दी। महामारियों से बहुत से लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा और इनके उत्थान व रोकथाम के लिए सरकार ने जो भी प्रयत्न किए वे अपर्याप्त और असन्तोषजनक थे। भारत की जनता कर्ज के बोझ से दब गई, किसानों तथा मजदूरों की दशा बहुत दर्दनाक हो गई। चम्पारन में किसानों और अहमदाबाद में मजदूरों की आर्थिक दुर्दशा ने महात्मा गाँधी को सत्याग्रह के अस्त्र के प्रयोग का अवसर दिया।

(3) अकाल—1917 में अनावृष्टि के कारण देश में अकाल फैल गया और अनेक व्यक्ति भूख से मृत्यु के शिकार हो गए। सरकार ने जनता के दुख को दूर करने के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया जिससे जन-असन्तोष बढ़ता ही गया।

(4) सरकार का दमन चक्र—यद्यपि लोग सुधार और संगठन के निर्दोष का प्रचार करते थे, तो भी सरकार ने पहले से ही दफा 144 और 108 का दौर प्रारम्भ कर दिया था। राष्ट्रीय आन्दोलन की वैधानिक धारा को कुचलने के लिए सरकार ने प्रेस एक्ट, सेडीशन एक्ट, एक्सप्लोसिव सब्सटेन्स एक्ट, क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट एक्ट आदि दमनकारी कानूनों का आश्रय लिया। क्रान्तिकारियों को फाँसी, कालापानी और कठोर कारावास की सजा देने में कोई कसर नहीं उठा रखी गई। शान्तिपूर्ण सभाओं पर रोक लगाई गई और राष्ट्रीय नेताओं को अनेक स्थानों पर जाने से रोका गया। सरकार की दमनकारी नीति ने जनता में असन्तोष और विद्रोह की लहर फैला दी।

(5) रौलेट एक्ट—युद्धकाल में क्रान्तिकारियों के दमन के लिए भारत सुरक्षा अधिनियम पारित किया गया था जिसकी अवधि युद्धकाल तक ही थी, किन्तु युद्ध के बाद भी सरकार ने दमनकारी कानूनों का निर्माण जारी रखा। वास्तव में सरकार का उद्देश्य केवल क्रान्तिकारी देशभक्तों को ही नहीं वरन् राष्ट्रीय आन्दोलन की सम्पूर्ण धारा को कुचल देना था। अप्रैल, 1918 में सिडनी रौलेट की अध्यक्षता वाली समिति की एक रिपोर्ट की सिफारिश पर सरकार ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में फरवरी, 1919 में दो विधेयक प्रस्तुत किए जिन्हें रौलेट विधेयक (Rowlatt Bills) कहा जाता है। देश भर में इन विधेयकों के विरुद्ध आवाज उठाई गई। इन विधेयकों का विरोध 'काले विधेयक' (Black Acts) कहकर किया

गया, प्रदर्शन किए गए, हड़तालें की गईं। रोलेट एक्ट द्वारा सरकार को जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण करके संदिग्ध व्यक्तियों को जेलों में डाल देने का अधिकार प्राप्त हो गया। मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार मिला कि वे संदिग्ध क्रांतिकारियों को मामूली जांच-पड़ताल के उपरान्त ही नजरबन्दी का आदेश जारी कर सकें। इण्डियन एवीडेंस एक्ट (Indian Evidence Act) की उस धारा को समाप्त कर दिया गया जिसके अनुसार पुलिस अधिकारी के सामने दी गई गवाही सफाई की गवाही नहीं मानी जा सकती थी। रोलेट एक्ट को 'आतंकवादी और अपराध अधिनियम' (Anarchist and Revolutionary Crimes Act) की संज्ञा दी गई। महात्मा गांधी ने इस अधिनियम के विरोध में देशव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। कहीं-कहीं 30 मार्च को और अधिकांश स्थानों पर 6 अप्रैल, 1919 को 'शोक दिवस' तथा हड़ताल का आयोजन किया गया। विरोध में हिन्दुओं और मुसलमानों ने समान रूप से भाग लिया। देश भर में शांतिपूर्ण हड़तालें हुईं, लोगों ने उपवास किए, कहीं-कहीं आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप भी ग्रहण किया। गांधी की गिरफ्तारी के समाचार ने आग में घी का काम किया। फिर भी आन्दोलन आम तौर पर शान्त सा ही रहा। सरकार ने शान्त आन्दोलन को भी बड़ी कठोरता और निर्ममता से दबाने की नीति अपनाई। पंजाब के गवर्नर डायर ने आन्दोलन को 'गोली से कुचलने' का दृढ़ निश्चय किया और कांग्रेसी नेताओं के पंजाब प्रवेश पर निषेध लगा दिया गया।

(6) **जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड**—पंजाब में मार्शल लॉ प्रशासन ने लोगों पर जो अत्याचार किए उसका उदाहरण विश्व में कहीं नहीं मिलता। प्रेस एक्ट तथा सेडीसन एक्ट का खुल्लमखुल्ला प्रयोग किया गया। लोगों के नलों में पानी बन्द कर दिया गया, उनकी बिजली काट दी गई, उन्हें पेट के बल रेंगकर चलने को बाध्य किया गया, स्त्रियों के सामने पुरुषों को नंगा करके पीटा गया, नगर को बिना इजाजत छोड़ने पर पाबन्दी लगा दी गई, सार्वजनिक रसोईघरों को बन्द करवा दिया गया और वकील चुनने की आज्ञा नहीं दी गई। अमृतसर की उत्तेजित जनता को कुचलने के लिए नगर को सेना के अधिकार में सौंप दिया गया जिसका सर्वेसर्वा जनरल डायर था। 12 अप्रैल को शहर में सार्वजनिक सभा करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया और इसकी पूरी सूचना जनता को नहीं दी गई। 13 अप्रैल को, बैशाखी के त्यौहार के अवसर पर सरकार की नीति का विरोध करने पर जलियांवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन हुआ, बाग शहर के बीच में था और चारों ओर से दीवारों से घिरा हुआ था उसमें आने जाने के लिए एक सकड़ी गली थी। जब सभा का कार्य शांतिपूर्वक चल रहा था जो जनरल डायर लगभग 200 देशी और 50 गोरे सिपाहियों को लेकर आ पहुंचा। बाग के एकमात्र दरवाजे को रोक दिया गया और निहत्थी और निर्दोष जनता पर गोलियों की बौछार शुरू कर दी गई। सेना ने गोलियां चलाना तभी बन्द किया जब कारतूस समाप्त हो गए। आतंकग्रस्त भीड़ गोली चलते ही तितर-बितर होने लगी थी, किन्तु दस मिनट बाद तक निहत्थी भीड़ पर गोलियों की बौछार होती रही। जनरल डायर ने तो हथियारों से लैस एक

गाड़ी आर्म्ड कार (Armed Car) भी गोली चलाने के लिए लाया था लेकिन तंग दरवाजे के कारण गाड़ी बाग में नहीं जा सकी। इस हत्याकाण्ड में लगभग 100 से भी अधिक व्यक्ति मारे गए और हजारों बुरी तरह घायल हुए। अधिकारियों ने मृतकों और घायलों की देखभाल के लिए कोई भी प्रबन्ध नहीं किया। जलियाँवाला काण्ड ने सारे देश में भयंकर आक्रोश की लहर फैला दी जिसका विस्फोट असहयोग आन्दोलन के रूप में हुआ।

(7) **खिलाफत आन्दोलन**—मुसलमानों के खलीफा-टर्की-सुल्तान के प्रति ब्रिटिश सरकार की क्रूर नीति से भारतीय मुसलमानों में भी उत्तेजना फैली और उन्होंने अपने आप को 'खिलाफत सम्मेलन' (Khilafat Conference) में संगठित किया। खिलाफत आन्दोलन की माँग थी कि टर्की साम्राज्य का मधारण किया जाए और खिलाफत का एक ऐकिक तथा आध्यात्मिक संस्था के रूप में अविच्छिन्न अस्तित्व बना रहे। खिलाफत आन्दोलन में महात्मा गाँधी का यह विश्वास पक्का हो गया कि वे ब्रिटिश सरकार के दमन का विरोध करने के किसी भी आन्दोलन में हिन्दू और मुसलमानों दोनों को अपने झण्डे के नीचे एकत्रित कर सकते हैं।

इन सब कारणों से महात्मा गाँधी ब्रिटिश सरकार के प्रति कट्टर असहयोगी बन गए। उन्होंने तत्कालीन वायसराय की वापसी की माँग की और कहा कि हत्या-काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को समुचित दण्ड मिलना चाहिए। लेकिन सरकार ने दण्ड देना तो दूर रहा, उलटे अपने कार्यों को उचित ठहराया। केवल जनरल डायर को नौकरी से अलग कर दिया गया, पर पंजाब के गवर्नर तथा भारत के वायसराय के कार्यों की सराहना की गई। ब्रिटिश लॉर्ड सभा में जनरल डायर को माफ करने सम्बन्धी प्रस्ताव लाया गया। उसे ब्रिटिश साम्राज्य का 'शेर' कहा गया तथा इनाम बख्शा गया। महात्मा गाँधी ने 1922 में अहमदाबाद न्यायालय में उन कारणों का उल्लेख किया जिनकी वजह से ब्रिटिश सरकार के प्रति सहयोग की नीति छोड़ने और असहयोग की नीति को अपनाने के लिए बाध्य हो गए।

असहयोग का वेग (1921-22)

गाँधीजी ने सारे भारत की यात्रा कर असहयोग आन्दोलन का प्रचार किया। लोग गाँधी के कहे बिना ही असहयोग आन्दोलन में भाग लेने लगे। पंचायतों का निर्माण हुआ जो सफलतापूर्वक काम करने लगी। उम्मीदवारों ने जो चुनाव में खड़े हुए थे, अपने नाम वापस ले लिए और दो तिहाई से अधिक मतदाताओं ने अपने मत नहीं डाले तथा अनेक स्थानों पर मतपेटियाँ खाली पड़ी रहीं। कौंसिलों के बहिष्कारों में सराहनीय सफलताएँ मिली। देश भर में कितने ही वकीलों ने वकालत छोड़ दी और दिलो-जान से अपने को आन्दोलन में झोंक दिया। राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में आशातीत सफलता दिखाई पड़ी। जनवरी, 1921 के मध्य तक ही हजारों विद्यार्थियों ने अपने कॉलेजों और परीक्षाओं को ठोकर मार दी। राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों का निर्माण किया गया। काशी विद्यापीठ, बंगला तथा पंजाब के राष्ट्रीय विद्यालयों और दिल्ली के जामिया मल्लिया की स्थापना इसी समय की गई। चरखा व…

भारतीयों में स्वदेशी वस्तुओं के लिए प्रेम जाग्रत हुआ तथा देश के कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन मिला।

(3) राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं से बड़ी संख्या में देशभक्त उत्पन्न होने लगे जिससे कांग्रेस को लम्बे स्वातन्त्र्य संघर्ष में कार्यकर्त्ताओं की कमी महसूस नहीं हुई।

आन्दोलन की असफलताओं को प्रकट करते हुए श्री सुभाष बोस ने कहा—"1921 के वर्ष ने देश को निःसन्देह एक सुव्यवस्थित पार्टी संगठन प्रदान किया। इससे पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल और वह भी मुख्यतया बात करने वाली संस्था थी। महात्मा जी ने इसे नया विधान दिया और देशव्यापी बनाया। उन्होंने इसे एक क्रान्तिकारी संगठन में बदल दिया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाए जाने लगे, एक जैसी नीति और एक जैसी विचारधारा हर जगह दिखाई देने लगी। अंग्रेजी भाषा का महत्त्व जाता रहा और कांग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। खादी सब कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई।" कूपलैण्ड के अनुसार—"उन्होंने (गांधीजी) वह किया जो तिलक नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी आन्दोलन में बदल दिया।..........उन्होंने इसे भारतीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने की सीख दी, सांविधानिक दबाव या विवाद और समझौता द्वारा नहीं, बल्कि शक्ति द्वारा जो अहिंसात्मक हो। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को केवल क्रान्तिकारी ही नहीं बल्कि लोकप्रिय भी बना दिया।.......... गांधीजी के व्यक्तित्व ने देहाती इलाकों को उद्वेलित कर दिया था।"[1]

स्वराज्य दल का उदय और अस्त : कौंसिलों में प्रवेश कर असहयोग की नीति

1922 में असहयोग आन्दोलन के स्थगन ने भारतीय राजनीति में नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया। कांग्रेस के अधिकांश नेताओं और जनता में भारी क्षोभ फैला। चितरंजनदास, पं. मोतीलाल नेहरू, एन. सी. केलकर जैसे नेताओं ने विशेष असन्तोष प्रकट किया। सत्याग्रह समिति की रिपोर्ट से स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस में एक नया दल "असहयोग की कमान में एक दूसरी डोर चढ़ाकर उससे नौकरशाही के गढ़, कौंसिल के भीतर से ही तीर छोड़ने का समर्थक था।" 1922 में पुनः यह स्थिति पैदा हो गई जिससे मालूम पड़ने लगा कि कांग्रेस 1907 की भाँति दो दलों में विभक्त हो जाएगी। उसी वर्ष कलकत्ता अधिवेशन में कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर दोनों गुटों में कटु वाक्-संघर्ष हुआ किन्तु हिन्दू मुस्लिम दंगों के कारण विभाजन टल गया और एकता पूर्ववत् बनी रही। 1922 में ही गया कांग्रेस अधिवेशन हुआ जिसके अध्यक्ष चितरंजनदास ने अधिवेशन के समक्ष अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया, किन्तु अपरिवर्तनवादियों की विजय हुई, अर्थात् कौंसिल प्रवेश की नीति को पराजय मिली। असन्तुष्ट चितरंजनदास ने अध्यक्ष पद से और मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के महामन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। तदुपरान्त 1 जनवरी, 1923 को देशबन्धुदास और मोतीलाल ने 'स्वराज्य दल' की स्थापना की।

1 कूपलैण्ड : इण्डिया, ए रि स्टेटमेंट, पृष्ठ 119.

स्वराज्य दल का सिद्धान्त और कार्यक्रम

स्वराज्य दल का लक्ष्य 'स्वराज्य' को प्राप्त करना था। 'स्वराज्य' से उसका अभिप्राय साम्राज्य के अन्तर्गत 'औपनिवेशिक स्थिति' (Dominion Status) को उपलब्ध करना था। स्वराजिस्ट चाहते थे कि निर्वाचनों में पूरा भाग लेकर व्यवस्थापक मण्डलों की अधिक से अधिक सीटों पर कब्जा कर लिया जाए। इस प्रकार व्यवस्थापक मण्डलों में पहुँच जाने के उपरान्त वहाँ सरकार के प्रति असहयोग किया जाए और सरकारी नीति में 'एकरूप, अविच्छिन्न और सतत् रोड़ा' अटकाया जाए। पं. मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चितरंजनदास ने 'अड़गा' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा था—"हमने अपने कार्यक्रम में अड़ंगा शब्द का जो व्यवहार किया है, वह ब्रिटिश संसद् के इतिहास के वैधानिक अर्थ में नहीं। मातहत और सीमित अधिकारों वाली कौंसिलों के उस अर्थ में अड़ंगा डालना असम्भव है क्योंकि सुधार कानून के अन्तर्गत असेम्बली और कौंसिल के अधिकार गिने-चुने हैं, पर हम यह कह सकते हैं कि हमारा विचार अड़गा डालने की अपेक्षा स्वराज्य के मार्ग में नौकरशाही द्वारा डाली गई रुकावटों का मुकाबला करना अधिक है।"

स्वराजिस्टकों का कहना था कि उनका कौंसिल प्रवेश का उपरोक्त कार्यक्रम असहयोग-सिद्धान्त के अनुकूल था। यह सर्वथा उचित था कि नौकरशाही की नाक के नीचे उसके गढ़ (व्यवस्थापिका) में प्रवेश करके असहयोग का झण्डा फहराया जाए। कौंसिलों में प्रवेश करके वे बजटों को रद्द करने के पक्ष में थे और उन सब कानूनी प्रस्तावों को अस्वीकार करना चाहते थे जो नौकरशाही की स्थिति दृढ करने वाले हों। 'अड़ंगा' स्वराज्य दल के कार्यक्रम का विध्वसात्मक पक्ष था। रचनात्मक पक्ष में इसका कार्यक्रम उन प्रस्तावों, योजनाओं और विधेयकों को प्रस्तुत करना था जो राष्ट्रीय जीवन को अधिक प्राणवान् बनाने वाले हों और इस प्रकार अन्त में नौकरशाही को उखाड़ फैंकने में सहायक बनें। कौंसिलों के बाहर स्वराजिस्टों ने महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यों में सहयोग देने का वचन दिया। उन्होंने घोषणा की है कि—ज्योंही हमें मालूम पड़ेगा कि सत्याग्रह के बिना नौकरशाही की स्वार्थपूर्ण हठधर्मी का सामना करना असम्भव है, हम तत्काल कौंसिलों को छोड़कर देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करने में, यदि वह स्वयं ही उस समय तक तैयार न हो सका तो, उनकी (महात्मा गाँधी की) सहायता करेंगे। तब हम बिना हील-हवाले के उनके पीछे हो लेंगे और कांग्रेस की संस्थाओं द्वारा उनके झण्डे के नीचे काम करेंगे जिससे सब मिलकर सत्याग्रह का ठोस कार्यक्रम पूरा कर सकें।

स्वराज्य दल का मूल्यांकन

मॉण्ट-फोर्ड सुधारों और द्वैध-शासन प्रणाली विनष्ट करने के अपने कार्यक्रम को सामने रखकर स्वराज्य दल ने नवम्बर, 1923 के निर्वाचनों में पूरा भाग लिया और कुछ स्थानों पर विस्मयजनक सफलता प्राप्त की। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में 145 सीटों में से 45 सीटें स्वराज्य दल के कब्जे में आ गईं। राष्ट्रवादी और स्वतन्त्र उम्मीदवारों को पराजित किया। उदाहरणार्थ 1924–25 के बजट के

मतापेक्षी भाग को अस्वीकार कर दिया गया और सरकार को उसकी पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार का प्रयोग करना पड़ा। प्रान्तों में स्वराज्य दल ने बंगाल और मध्यप्रान्त में विशेष सफलता अर्जित की। इन दोनों प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली की क्रियान्विति को बिलकुल रोक दिया गया। बंगाल में तीन बार मन्त्रिमण्डल के निर्माण को असम्भव कर दिया गया। स्वराज्य दल की सफलता के सम्बन्ध में एच. एन ब्रेल्सफोर्ड ने कहा—"मेरे विचार से अड़ंगा लगाने की नीति बिलकुल सही थी क्योंकि उसने ब्रिटिश अनुदार दल वालों को भी इस बात का कायल कर दिया कि द्वैध शासन प्रणाली अव्यवहार्य है।"

1925 में देशबन्धु चितरंजनदास की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल की शक्ति में शनैः-शनैः ह्रास होने लगा और दल सरकार के साथ सहयोग करने की दिशा में अधिकाधिक झुकता गया। "व्यवस्थापक मण्डलों को अन्दर से छिन्न-भिन्न कर देने की नीति का स्थान क्रमश व्यवस्थापक मण्डलों में भाग लेने, उनका उपयोग करने और सरकार के साथ सहयोग तक करने की नीति लेने लगी।" बंगाल और मध्य प्रान्त में भी स्वराज्य दल का प्रभाव काफी घट गया। 1926 के बाद से इस दल में फूट पैदा हो गई और वह दो दलों में विभाजित हो गया। एक दल शासन के साथ प्रतियोगी सहयोग करने की नीति का प्रतिपादक था और दूसरा असहयोग करने की नीति का। मतभेद की यह खाई चौड़ी होती गई और 1926 के अन्त होते-होते स्वराज्य दल अपनी अधिकांश शक्ति खो बैठा।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रारम्भ से पूर्व का घटनाक्रम : साइमन कमीशन, नेहरू रिपोर्ट, कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन (1929) और 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव

1922 से 1927 तक का काल बड़ा ही अशान्ति का रहा। इस अवधि में राष्ट्रीय जीवन जाग गया। ग्राम-ग्राम और घर-घर में स्वराज्य के नारे लगने लगे। कांग्रेस से बच्चा-बच्चा परिचित हो गया।

साइमन कमीशन और उसकी असफलता

नवम्बर, 1927 में ब्रिटिश सरकार की ओर से 1919 के शासन विधान के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने के लिए सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन भारत भेजा गया। इस कमीशन के सातों सदस्य अंग्रेज थे। कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य नहीं रखे जाने से भारतीय जनता को बड़ा असन्तोष हुआ। कमीशन का भारत में पूर्ण बहिष्कार हुआ। उसे काले झण्डे दिखाए गए। 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाए गए। सरकार ने अपना दमन-चक्र चलाया। प्रदर्शनकारियों पर लाठियाँ बरसाई गई और घोड़े दौड़ाए गए। लाहौर में पुलिस की लाठियों से लाला लाजपतराय इतने घायल हुए कि कुछ दिनों में चल बसे। लखनऊ में नेहरू और गोविन्द वल्लभ पंत पर लाठियाँ पड़ी।

भारत के विरोध के बावजूद साइमन कमीशन ने दो बार यात्रा की और अपनी रिपोर्ट को, जो मई, 1930 में प्रकाशित हुई, 2 वर्ष से अधिक समय में तैयार

की । साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने देश में पहले से व्याप्त असन्तोष को और भी तीव्र कर दिया । भारतीय लोकमत ने रिपोर्ट को पूर्ण रूप से ठुकरा दिया जिसमें अधिराज्य स्थिति या औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) का कोई जिक्र तक नहीं किया गया, केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए कुछ भी नहीं कहा गया था, प्रान्तो मे रक्षा-कवचों (Safeguards) के साथ उत्तरदायी शासन की स्थापना की बात कह कर महत्वपूर्ण मामलों में गवर्नरों को अपने मन्त्रियों के निर्णयों का उल्लंघन करने की बात कही गई थी और साथ ही साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की दबे स्वरों में निन्दा करते हुए भी उसे अनिवार्य ठहराया गया था । एण्ड्रूज के अनुसार साइमन कमीशन की रिपोर्ट का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसने अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन से सम्पूर्ण देश में सम्पन्न हुए परिवर्तन और जनता की अभिलाषाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ण उपेक्षा की । इसने उस भारत को अपने सम्मुख रखा जो राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भ से तीस वर्ष पूर्व था । राष्ट्रीय जागृति के परिणामस्वरूप उदीयमान युवक भारत का इसमें कोई परिचय नहीं मिलता था ।

पर इन दोषों के बावजूद कमीशन की रिपोर्ट इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थी कि इसमें भारतीय राजनीति की अधिकांश कठिनाइयों और समस्याओं पर प्रकाश डाला गया । कूपलैण्ड के मतानुसार "यह भारतीय समस्याओं का सबसे अधिक सम्पूर्ण अध्ययन था और इसने राजनीति शास्त्र के पुस्तकालय को एक और उच्चकोटि की रचना प्रदान की ।"

सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट

भारतीयों के विरोध ने ब्रिटिश शासन को क्षुब्ध कर दिया । अंग्रेजी सरकार ने चुनौती दी कि भारतीय सम्मिलित रूप से अपना कोई विधान नहीं बना सकते हैं । अंग्रेजो का विश्वास था कि हिन्दू-मुसलमान एक नहीं हो सकेंगे । लेकिन सरकार की चुनौती मंजूर की गई । कांग्रेस द्वारा 1928 में दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया । पं. जवाहरलाल नेहरू इस समिति के मन्त्री बने । समिति ने शीघ्र ही अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की । इसमें भारत के भावी संविधान का ढाँचा प्रस्तावित किया गया । भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग रखी गई ।

नेहरू रिपोर्ट मे निम्नलिखित ठोस सुझाव दिए गए—

(1) भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जाए तथा उसका स्थान ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत अन्य उपनिवेशों के समान हो ।

(2) केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाए । गवर्नर जनरल लोकप्रिय मन्त्रियों के परामर्शानुसार तथा सांविधानिक प्रधान के रूप में कार्य करें ।

(3) केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्विसदनीय हो और मन्त्रिमण्डल उसके प्रति उत्तरदायी रहे । निम्न सदन का चुनाव प्रत्यक्ष पद्धति द्वारा वयस्क मताधिकार पर तथा उच्च सदन का परोक्ष पद्धति से हो ।

(4) प्रान्तों में भी केन्द्र की भाँति उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाए ।

(5) रिपोर्ट में केन्द्र और प्रान्तों के मध्य शक्ति वितरण की योजना प्रस्तुत की गई जिसके अनुसार अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को प्रदान की जानी थी ।

31 दिसम्बर, 1929 को मध्य-रात्रि को प. नेहरू की अध्यक्षता में 'पूर्ण स्वराज्य' सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया गया। कांग्रेस के आदेश से 26 जनवरी, 1930 का दिन सारे देश मे 'स्वतन्त्रता दिवस' के रूप मे मनाया गया जो उस समय से आज तक प्रतिवर्ष बड़े समारोह से मनाया जाता है।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन और गोलमेज सम्मेलन

(Civil Disobedience Movement and Round Table Conference)

'पूर्ण स्वराज्य' का लक्ष्य निश्चित करने के बाद कांग्रेस ने देश भर मे पुनः आन्दोलन करने का निर्णय किया। इसका नेतृत्व गाँधीजी को सौंपा गया।

गाँधीजी की ग्यारह शर्तें

आन्दोलन शुरू करने से पहले गाँधीजी ने सरकार को एक मौका देना उचित समझा और 'यग इण्डिया' मे एक लेख मे उन्होने लॉर्ड इर्विन के समक्ष अपनी ग्यारह शर्तें रखी। कहा गया कि यदि सरकार इन शर्तों को मान ले तो आन्दोलन स्थगित किया जा सकता है। ये शर्तें इस प्रकार थी—

(1) मादक वस्तुओ का निषेध, (2) विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पैंस हो, (3) भूमि कर मे कम से कम 5 प्रतिशत की कमी हो, लगान का घटाना बढ़ाना असेम्बली के हाथ मे हो, (4) नमक पर से कर उठा लिया जाए, (5) कम से कम 50 प्रतिशत कमी फौजी खर्च मे की जाए, (6) ऊँची तनख्वाहों मे 5 प्रतिशत की कमी की जाए, (7) विदेशी कपडो पर सरक्षण कर लगाया जाए, (8) कोस्टल ट्रैफिक रिजर्वेशन बिल पास किया जाए, (9) तमाम राजनीतिक मुकद्दमे उठा लिए जाएँ, (10) खुफिया पुलिस के अधिकारो को सीमित किया जाय, और (11) आत्म-रक्षा के लिए हथियारो के लाइसेन्स दिए जाएँ।

महात्मा गाँधी ने यह भी कहा—अन्य देशों के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दूसरे उपाय भले ही हो, परन्तु भारतवर्ष के लिए अहिंसात्मक असहयोग के सिवाय दूसरा मार्ग नही है। परमात्मा करे, आप लोग स्वराज्य के इस मत्र को सिद्ध और प्रकट करें और स्वाधीनता की जो लड़ाई निकट आ रही है उसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने का वह आपको बल और साहस प्रदान करे।" कांग्रेस के आदेश पर कौंसिलों के 172 सदस्यो ने फरवरी, 1930 तक त्याग-पत्र दे दिए। इनमे से 21 असेम्बली के और 9 राज्य परिषद् के सदस्य थे। उस समय वातावरण सरकार के बिलकुल अनुकूल नही था और गाँधीजी के आन्दोलन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार थी। लॉर्ड इर्विन की घोषणा से स्पष्ट होता था कि ब्रिटिश सरकार भारत को तुरन्त औपनिवेशिक स्थिति प्रदान नही करेगी। गाँधीजी ने सरकार को अपनी योजना के सम्बन्ध मे बहुत देर तक अन्धेरे मे नही रखा। सदा की भाँति इस बार भी 2 मार्च, 1930 को उन्होने लॉर्ड इर्विन को 'अन्तिम चेतावनी' के रूप मे एक पत्र लिखा जिसमे उन्होंने 'सविनय अवज्ञा' का उद्देश्य स्पष्ट किया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ

सरकार द्वारा शर्तों को ठुकरा देने पर महात्मा गाँधी के सामने आन्दोलन

छेड़ देने के अलावा और कोई मार्ग नही बचा। 11 मार्च, 1930 को साबरमती के मैदान मे लगभग 75 हजार व्यक्तियों ने एकत्रित होकर प्रण किया कि जब तक भारत स्वाधीन नही हो जाता तब तक न तो हम स्वय चैन लेंगे और न सरकार को चैन लेने देंगे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ 'दण्डी यात्रा' (Dandı March) की ऐतिहासिक घटना से हुआ। 12 मार्च 1930 को अपने 79 साथियो सहित महात्मा गाँधी ने साबरमती आश्रम से समुद्र तट पर स्थित दण्डी नामक ग्राम के लिए प्रस्थान किया ताकि वहाँ नमक बनाकर सरकारी नमक कानून का उल्लघन किया जाए। लगभग 200 मील की लम्बी यात्रा पैदल चलकर 24 दिनो मे तय की गई। दण्डी पहुँच कर महात्मा गाँधी ने नमक कानून को तोडकर 6 अप्रेल, 1930 को आन्दोलन का उद्घाटन किया। सारे देश में अविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हो गया। यह स्वाधीनता सघर्ष का दूसरा महान् साहसपूर्ण कदम था। नमक कानून तोड़ते ही गाँधीजी ने यह वक्तव्य प्रकाशित किया कि

"नमक-कानून विधिवत् भग हो गया है। अब जो कोई सजा भुगतने को तैयार हो वह जहाँ चाहे वहाँ जब सुविधा देखे, नमक बना सकता है। मेरी सलाह यह है कि सर्वत्र कार्यकर्ता नमक बनाएँ, जहाँ उन्हे शुद्ध नमक तैयार करना आता हो वहाँ उसे काम मे भी लाएँ और ग्रामवासियो को भी सिखा दे, परन्तु उन्हे यह अवश्य जता दें कि कानून छिपकर नही खुल्लमखुल्ला भग करना है।"

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण

गाँधीजी के ऐतिहासिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन के आरम्भ मे जो पृष्ठभूमि थी, उससे हमे उस आन्दोलन के कारणो का पता चल जाता है। तथापि विभिन्न कारणों को अलग-अलग सक्षेप मे रखना उपयुक्त होगा—

1. ब्रिटिश सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को ठुकराकर भारतीयो के लिए संघर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही छोडा।

2. देश की आर्थिक हालत निरन्तर सोचनीय होती जा रही थी और विश्वव्यापी आर्थिक मंदी ने तो हालत और बिगाड दी थी। वस्तुओ की कीमतें बहुत अधिक बढ़ गई थीं और किसानो की हालत इतनी दयनीय हो गई थी कि वे एक गज कपड़ा अथवा एक बोतल मिट्टी का तेल खरीदने की स्थिति मे भी नही रहे थे। दूसरे शब्दों में उनकी हालत इतनी खराब थी कि वे कर, लगान या कर्ज नही चुका सकते थे।[1]

3. औद्योगिक श्रमिको की दशा भी बहुत ही सोचनीय हो गई थी और औद्योगिक सस्थाओ मे हड़तालें आम बात हो गई थी। मेरठ षड्यन्त्र केस मे गिरफ्तार 36 मजदूर नेताओ को लम्बी कैद की सजा होने की घटना ने देश भर के मजदूरो मे सनसनी फैला दी थी और वे संगठित होने लगे थे। पण्डित जवाहरलाल

1 *Polak & Others*: Mahatma Gandhi, p. 173.

नेहरू के शब्दों में श्रमिक आन्दोलन सिद्धान्त एवं संगठन दोनों में वर्ग-चेतनापूर्ण, उग्र तथा खतरनाक हो रहा था।[1]

4 औद्योगिक और व्यावसायिक वर्ग सरकार की नीति से असन्तुष्ट था। सरकार का हर कदम अंग्रेजो को फायदा पहुँचाने का होता था और इसलिए रुपये के मूल्य में भी परिवर्तन कर दिया गया था। अतः यह वर्ग भी सरकार के विरुद्ध कांग्रेस द्वारा संचालित आन्दोलन में भाग लेने के लिए उतावले थे।

5 इस प्रकार भारत मे एक तरह से 'विप्लवकारी स्थिति' बन गई थी। वातावरण इतना अशान्त और उग्र था कि हिंसात्मक संघर्ष की सम्भावना अधिक हो गई थी। महात्मा गाँधी ने समय की नब्ज को पहचानकर ही आर. रेनाल्ड्स के माध्यम से वायसराय लॉर्ड इर्विन को पत्र लिखकर चेतावनी दी थी कि जिसकी वायसराय ने उपेक्षा कर दी थी। कांग्रेस के प्रत्येक उचित निवेदन को भी ठुकराने की नीति सरकार ने अपना ली। सरकार का दमनचक्र रुकता ही न था। रोटी माँगी जाती थी और उत्तर में पत्थर मिलता था। अतः महात्मा गाँधी ने समझ लिया कि अंग्रेज जाति केवल शक्ति द्वारा ही दब सकती है।

इन सभी परिस्थितियों मे गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया।

आन्दोलन का कार्यक्रम, प्रगति और सरकार का दमनचक्र

सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने के पहले महात्मा गाँधी ने अपनी 11 शर्तों अथवा माँगो की सूची वायसराय को भेजी थी।(जिसका उल्लेख पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है) और माँगें भी सविनय अवज्ञा आन्दोलन का कार्यक्रम थी। सारांशतः इस आन्दोलन का कार्यक्रम था—सम्पूर्ण मदिरा निषेध, स्वतंत्रतापूर्वक नमक बनाना, शराब व अफीम तथा विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना देना, सरकारी नौकरियों तथा न्यायालयों तथा शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार करना, चर्खा चलाना, आदि।

जनता ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में 1920–21 के असहयोग आन्दोलन से भी अधिक उत्साह से भाग लिया। जैसे-जैसे आन्दोलन में गति आती गई सरकार का दमनचक्र बढ़ता गया और बर्बरता की सीमा तक पहुँच गया। नेताओं को बन्दी बना लिया गया, निहत्थे सत्याग्रहियो पर लाठियाँ बरसाई गई, प्रदर्शन करने वाली भीड़ों पर गोलियाँ चलाई गई और भारी संख्या में लोगो को गिरफ्तार किया गया। एक अनुमान के अनुसार जनवरी, 1931 तक लगभग 1 लाख लोग जेलों में ठूँस दिए गए।

5 मई की रात को लगभग 1 बजकर 10 मिनट पर महात्मा गाँधी को चुपचाप गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें सम्भावित गिरफ्तारी का पहले से ही आभास था, अतः गिरफ्तार होने से पहले ही उन्होंने दण्डी में अपना अन्तिम संदेश

1 *J. L. Nehru : Autobiography*, p. 172

लिखवा दिया था कि—"मेरी गिरफ्तारी के बाद जनता या मेरे साथियों को घबराना नही चाहिए। इस आन्दोलन का संचालक मैं नही हूँ, परमात्मा है। वह सबके हृदय में निवास करता है। हमें श्रद्धा होगी तो वह अवश्य रास्ता दिखाएगा, हमारा मार्ग निश्चित है। गाँव-गाँव को नमक बीनने या बनाने के लिए निकल पडना चाहिए। स्त्रियों को शराब, अफीम और विदेशी कपडों की दुकानो पर धरना देना चाहिए। घर-घर मे आबाल-वृद्ध सबको तकली पर कातना शुरू कर देना चाहिए और रोज सूत के ढेर लग जाने चाहिएँ। विदेशी वस्त्रो की होलियाँ जलाई जाएँ। हिन्दू किसी को अछूत न मानें। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सब हृदय से गले मिल। बडी जातियाँ छोटी जातियों को देने के बाद बचे हुए भाग से सतोष करें। विद्यार्थी सरकारी मदरसे छोड़ दें और सरकारी नौकर उन पटेलों और तल-हटियों की भाँति नौकरियाँ छोडकर जनता की सेवा मे जुट जाएँ। इस प्रकार आसानी से हमें पूर्ण स्वराज्य मिल जाएगा।"

गाँधीजी की गिरफ्तारी से सारे देश में सनसनी फैल गई। आन्दोलनो की लपटों ने विकराल रूप धारण कर लिया। सरकार का दमन चक्र सत्याग्रहियो को हतोत्साहित नही कर सका और गाँधीजी की अनुपस्थिति मे भी आन्दोलन तीव्र गति से चलता रहा। हड़तालें हुई। गैर-कानूनी नमक बनाया जाना शुरू किया गया। विदेशी वस्त्रो व विदेशी माल का बहिष्कार किया गया और शराब की दुकानो पर धरना दिया गया। सरकारी पदों और पदवियो को छोड़ने की घोषणाएँ होने लगी। भारत के बाहर पनामा के भारतीय व्यापारियो ने 24 घण्टे की हड़ताल मनाई और सुमात्रा के पूर्वी समुद्र तटवासियो (भारतीयों) ने भी ऐसा ही किया। जर्मनी के वस्त्र व्यापारियों को उनके भारतीय आढतियों ने माल भेजने की मनाही कर दी। फ्रांस के पत्र गाँधीजी और उनकी बातो से भरे रहते थे। अमेरिका के विभिन्न दलो के पादरियों ने रैम्जे मैक्डोनल को तार भेजकर अनुरोध किया कि गाँधीजी तथा भारतवासियो के साथ शान्तिपूर्ण समझौता किया जाए। इस प्रकार गाँधीजी की गिरफ्तारी का असर विश्वव्यापी हुआ। भारत में औरतें आन्दोलन में पीछे नही रही। कुलीन घरो की औरतो ने पर्दा त्यागकर आन्दोलन में खुलकर भाग लिया। प्रोग्राम के अनुसार 21, मई 1930 को लगभग 2500 सत्याग्रहियो ने सरोजिनी नायडू तथा अली इमाम के नेतृत्व मे धरसना नमक वर्क्स पर धावा बोला। "गोली की प्रत्येक आवाज सत्याग्रहियों के लिए मातृभूमि की पुकार थी और घायल सत्या-ग्रहियों की दर्द की चीख साहस का संकेत थी।" सविनय अवज्ञा आन्दोलन सम्पूर्णतः भारतीय आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। रामगोपाल के अनुसार "यह सारा मामला भारतीय था, सत्याग्रही भारतीय थे, गोली और लाठी बरसाने वाले सिपाही भारतीय थे। शारीरिक और मानसिक यातना देने वाले भारतीय थे और प्रतिशोध के रूप मे जिन पुलिस कर्मचारियो को दण्डित किया गया वे भी भारतीय थे।"

सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारतीय मुसलमानो को ले तो अधिकांश मुसलमान उस आन्दोलन से पृथक् रहे। "हम गाँधी के साथ शामिल होने से ..."

करते है क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए नही है अपितु भारत के सात करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा के आश्रित बना देने के लिए है।" राष्ट्रवादी और देशभक्त मुसलमानो ने कॉंग्रेस के ध्वज के नीचे खड़े होकर इस आन्दोलन मे खुलकर भाग लिया।

सरकार का दमनचक्र पूरे वेग पर चला। लाठी प्रहार दिन-प्रतिदिन की घटना हो गई और लोगो के प्राणभूत अगो पर आघात किया जाने लगा। कॉंग्रेस को अवैध-सगठन घोषित कर दिया गया। महिलाओ के साथ भी किसी प्रकार की नरमो नही बरती गई। पुलिस द्वारा महिलाओं को पीडन भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास के अत्यन्त काले-कारनामों में से एक है। कर-बन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात ग्रहण, हरण और नीलाम का सहारा लिया। लगभग 3 महीने के आतक, अत्याचार और दमन के बाद सरकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन पर नियन्त्रण करने मे सफल हुई, तथापि आन्दोलन समाप्त न होकर भूमिगत हो गया।

समझौते के प्रयास · गोलमेज परिषद् : गाँधी-इर्विन समझौता, 1931

सरकार का दमन चक्र आन्दोलन को दबाने में असफल रहा। सरकार और सत्याग्रहियो के बीच समझौते के प्रयत्न भी असफल रहे। जेल मे बैठे महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह आन्दोलन को तब तक जारी रखने का निश्चय प्रकट किया जब तक भारत को सार रूप मे स्वतन्त्रता प्रदान न कर दी जाए। साइमन कमीशन की जो रिपोर्ट मई, 1930 मे प्रकाशित हुई उसने भारतीयो को निराश किया और सभी राजनीतिक दलों ने उसके सुझावो को अस्वीकार कर दिया। अब सरकार के सामने गोलमेज परिषद् (Round Table Conference) बुलाने के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं था।

प्रथम गोलमेज परिषद्, नवम्बर 1930

भारतीयो के आन्दोलन से घबरा कर 12 नवम्बर, 1930 को लन्दन मे प्रथम गोलमेज परिषद् अथवा सम्मेलन मे कॉंग्रेस के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय प्रतिनिधि उपस्थित थे। पर उनका मनोनयन वायसराय ने किया था, अतः वे सरकार के पिट्ठू थे।

प्रधान मन्त्री मैकडोनेल्ड ने परिषद् के उद्घाटन भाषण मे तीन आधारभूत सिद्धान्तो की चर्चा की। प्रथम, केन्द्रीय व्यवस्थापिका का निर्माण संघ शासन के आधार पर होगा तथा ब्रिटिश भारत के प्रान्त और भारत के अन्य देशी राज्य सघ शासन की इकाई का रूप धारण करेंगे, द्वितीय, केन्द्र मे यद्यपि उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाएगा, लेकिन सुरक्षा तथा वैदेशिक विभाग गवर्नर जनरल के अधीन रहेंगे, एवं तृतीय अतिरिक्त काल में कुछ रक्षात्मक विधान (Statutory Safeguards) की व्यवस्था रहेगी।

स्वाभाविक था कि वायसराय द्वारा मनोनीत और चुने हुए भारतीय प्रतिनिधि संघ शासन के उपरोक्त सिद्धान्तो को स्वीकार कर लेते। देशी नरेशों ने भी

ब्रिटिश सरकार के इशारे पर, संघ राज्य में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया, केवल संरक्षण (Safeguards) और उत्तरदायी मंत्रियों पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में प्रतिनिधियों में मतभेद पाया गया। श्री जयकर एवं सर तेज बहादुर सप्रु ने भारत के लिए 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की माँग की। श्री जयकर का कहना था कि "यदि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जाएगा तो स्वतन्त्रता की माँग स्वत. समाप्त हो जाएगी।"

सम्मेलन में साम्प्रदायिकता की समस्या बहुत ही विवाद-ग्रस्त रही। मुसलमान पृथक् तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पर अड़े रहे। श्री जिन्ना ने अपनी चौदह सूत्री योजना स्वीकार करने की वकालत की। डॉ अम्बेदकर ने अनुसूचित जातियों के हितों की दृष्टि से पृथक् निर्वाचन मण्डल का समर्थन किया। पर हिन्दू प्रतिनिधि संयुक्त निर्वाचन पद्धति और अल्पसंख्यकों के लिए स्थान-संरक्षण के पक्ष में थे। इस मत-विभिन्नता के कारण साम्प्रदायिकता की समस्या पर कोई मतैक्य नहीं हो पाया। दूसरी ओर कांग्रेस ने, जिसका ध्येय 'पूर्ण स्वराज्य' था, गोलमेज सम्मेलन की किसी भी घोषणा को स्वीकार नहीं किया। 19 फरवरी, 1931 को सम्मेलन अनिश्चित काल के लिए, बिना किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे, स्थगित हो गया। सम्मेलन की समाप्ति पर प्रधान मन्त्री मैकडोनेल्ड ने यह आशा व्यक्त की कि कांग्रेस भविष्य में सम्मेलन में भाग लेगी और भारत के लिए संविधान-निर्माण में मदद देगी। वास्तव में सरकार यह समझ गई कि कांग्रेस की अनुपस्थिति में कोई भी निर्णय फलीभूत नहीं हो सकता।

गाँधी-इर्विन समझौता, 1931 और आन्दोलन की समाप्ति

कांग्रेस के साथ समझौते का मार्ग प्रशस्त करने और द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में उसे शामिल करने की दृष्टि से सरकार ने महात्मा गांधी तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के अन्य सदस्यों को 26 जनवरी, 1931 को मुक्त कर दिया। इसके बाद महात्मा गाँधी एवं लॉर्ड इर्विन में लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ। अन्ततः तेज बहादुर सप्रू एवं श्री जयकर के प्रयत्नों से 17 फरवरी, 1931 को गाँधीजी और लॉर्ड इर्विन की मुलाकात हुई जिसके फलस्वरूप गांधी-इर्विन समझौता 5 मार्च को हुआ। इस समझौते की मुख्य शर्तें थी—

(1) सरकार सभी अध्यादेशों एवं चालू मुकदमों को वापिस ले लेगी।

(2) सरकार उन सभी राजनीतिक कैदियों को छोड़ देगी जिन्होंने हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया था।

(3) सरकार समुद्र के समीप रहने वाले लोगो को बिना कर लिये नमक एकत्र करने और बनाने देगी।

(4) सरकार विदेशी कपड़ों, शराब एवं अफीम की दुकानों पर शान्तिपूर्ण धरणा (Picketing) रखने देगी और उसमें कोई बाधा नहीं डालेगी।

(5) सरकार सत्याग्रहियों की जब्त की हुई सम्पत्ति को वापिस कर देगी

महात्मा गाँधी को भी बदले मे निम्नलिखित बातें माननी पड़ीं—

(1) कॉंग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर देगी ।

(2) महात्मा गाँधी पुलिस की ज्यादतियो के बारे मे निष्पक्ष जाँच की माँग छोड़ देंगे ।

(3) कॉंग्रेस द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी और उत्तरदायी शासन को रक्षा कवचो सहित भारतीयों के हित मे स्वीकार कर लेगी ।

(4) कांग्रेस सब बहिष्कारो को बन्द कर देगी ।

गाँधी-इर्विन समझौते का देश मे मिश्रित स्वागत हुआ । पंडित जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ने समझौते को पसन्द नही किया । कॉंग्रेस के वाम पक्ष ने समझौते को सरकार के समक्ष आत्म-समर्पण की संज्ञा दी जबकि दक्षिण पक्ष ने इस पर संतोष प्रकट किया । के. एम. मुन्शी ने कहा कि "यह भारतीय इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है ।"

"समझौता होते ही कॉंग्रेस कमेटियों तथा संस्थाओं पर से रोक हटा ली गई और वे फिर से जीवित हो गईं । कॉंग्रेसवादियो को यह हिदायत दी गई कि वे सविनय-अवज्ञा, करबन्दी-आन्दोलन और ब्रिटिश माल के बहिष्कार बन्द कर दें । लेकिन नशीली चीजो, सब विदेशी कपड़ों व शराब की दुकानो के बहिष्कार की इजाजत दे दी गई और उन्हे जारी रखने की भी हिदायत कर दी गई । साथ ही यह भी कहा गया कि पिकेटिंग शान्तिमय होना चाहिए, लेकिन इसमें दबाव न रहना चाहिए, विरोधी प्रदर्शन न होना चाहिए, जनता के मार्ग मे रुकावट नही डाली जानी चाहिए और देश के साधारण कानून के अन्तर्गत कोई अपराध नही किया जाना चाहिए । गैर-कानूनी समाचार-पत्रो के प्रकाशन बन्द करने के आदेश भी हुए । इस प्रकार समझौते की हर एक मद के सम्बन्ध मे हिदायतें जारी की गईं और स्वय गाँधीजी ने उन आदेशो के साथ वे शर्तें जोड दीं जो शराब तथा विदेशी कपड़ो की दुकानों पर पिकेटिंग करते समय स्वयं-सेवको को माननी चाहिए ।" संघर्ष तथा सग्राम समाप्त हो गया । जिन कॉंग्रेस दफ्तरो की कल तक कोई हस्ती नही थी उन पर कॉंग्रेसी-झण्डा लहराने लगा ।

लॉर्ड विलिंगडन का वायसराय बनना : शासन द्वारा समझौते का उल्लंघन

18 अप्रेल को लॉर्ड इर्विन ने भारत से प्रस्थान किया । इसके एक दिन पूर्व 17 अप्रेल, 1931 को ही नए वायसराय लॉर्ड विलिंगडन ने अपना कार्यभार संभाला । नए वायसराय देश की स्थिति से अनभिज्ञ थे । प्रतिदिन कॉंग्रेस के दफ्तरो मे शिकायतें आने लगीं कि समझौते की शर्तों का ठीक से पालन नही हो रहा है । कॉंग्रेस ने 'अस्थाई संधि' इस उम्मीद मे की थी कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों मे भी एक समझौता हो जाएगा और सरकार इस दिशा में मददगार होगी । लेकिन ये सब उम्मीदें नाकामयाब हुईं । पुलिस द्वारा सभाएँ भंग करने, कॉंग्रेस कार्यकर्त्ताओं के पर छापा मारने, राष्ट्रीय झण्डे को जलाने, स्त्रियों के साथ [illegible]

की घटनाएँ जोर शोर से शुरू हो गईं। गाँधीजी ने सरकार से जो पत्र-व्यवहार किया उससे स्पष्ट हो गया कि समझौते में कोई दम नही है। अतः उन्होंने अगली अर्थात् द्वितीय गोलमेज परिषद् मे सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। 27 अगस्त, 1930 को गाँधीजी की वायसराय से भेंट हुई। वायसराय ने आग्रह किया कि गाँधीजी स्थाई शान्ति का मार्ग निकालने के लिए सम्मेलन मे भाग लें। अन्त में, गाँधीजी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने पर सहमत हो गए।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन और उसकी असफलता

गाँधी-इर्विन समझौते के अनुरूप लन्दन में दूसरी गोलमेज परिषद् में, जो 7 सितम्बर, 1931 को शुरू हुई, काँग्रेस की ओर से महात्मा गाँधी ने भाग लिया। पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी व्यक्तिगत क्षमता मे परिषद् में सम्मिलित हुए। परिषद् शुरू होने के कुछ ही समय पूर्व ब्रिटिश राजनीतिक रंगमंच पर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। श्रमिक सरकार अपदस्थ हो गई और राष्ट्रीय सरकार बनी और सर सैम्युअल होर, जो पक्के टोरी थे, भारत मन्त्री नियुक्त हुए। द्वितीय गोलमेज परिषद् अपने उद्देश्य मे सफल न हो सकी। यह ठीक है कि इसमें नए सविधान के कुछ ब्यौरे निश्चित कर लिए गए। सघीय न्यायपालिका का ढाँचा, संघीय विधान-मण्डल का सगठन और भारतीय राज्यो के अखिल भारतीय सघ में प्रवेश से सम्बद्ध आदि बात निश्चित हो गई। महात्मा गाँधी ने कृषि के राष्ट्रीय स्वरूप का प्रतिपादन किया और सुरक्षा दलों व वैदेशिक मामलों के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण सहित औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की। लेकिन इस माँग का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। इसके अलावा साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णित ही बना रहा। गाँधीजी ने अल्पसंख्यक वर्गों के साथ समझौते की बातचीत की, लेकिन साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई हल नही निकल सका। सम्मेलन मे महात्मा गाँधी ने 30 नवम्बर, 1931 को अपने भाषण मे स्पष्ट शब्दों में बताया कि अन्य सब दल साम्प्रदायिक हैं। काँग्रेस ही केवल सारे भारत और सबके हितो के प्रतिनिधित्व का दावा करती है। यह कोई साम्प्रदायिक संस्था नहीं है और साम्प्रदायिकता के प्रत्येक रूप की कट्टर शत्रु है। काँग्रेस नस्ल, रंग और धर्म का भेदभाव नही जानती, इसका प्लेटफार्म सबके लिए खुला है। काँग्रेस ही केवल ऐसी संस्था है जिसका प्रभाव 70 हजार गाँवो पर है। काँग्रेस ही सारे अल्पमतों का प्रतिनिधित्व करती है। गाँधीजी के पूर्ण प्रयत्न करने पर ही गोलमेज सम्मेलन हो सका। प्रत्येक प्रतिनिधि ने सम्मेलन में अपनी-अपनी जाति के लिए बढ़ा-चढ़ा कर माँग पेश की। वस्तुतः ब्रिटिश सरकार ने प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि ऐसे ही चुने थे जिनमे कोई समझौता न हो सके। इनना ही नही, ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम प्रतिनिधियों के साथ गठजोड़ कर लिया और उनको काँग्रेस के विरुद्ध प्रयुक्त किया। इन सब परिस्थितियों में सम्मेलन असफल होकर 1 दिसम्बर, 1931 को विसर्जित हो गया।

पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1932–34) और आन्दोलन की समाप्ति

महात्मा गाँधी दिसम्बर, 1931 में इंग्लैण्ड से खाली हाथों वापस लौट आए,

वहां पर स्वाधीनता की समस्या का तनिक भी समाधान नही हुआ। इधर महात्मा गाँधी की अनुपस्थिति मे ब्रिटिश सरकार ने अपना दमन-चक्र तेज कर दिया था और गाँधी-इर्विन समझौते की सब शर्तों का खुला उल्लघन होने लगा था। जब महात्मा गाँधी भारत लौटे उस समय तक प जवाहरलाल नेहरू, खान अब्दुल गफ्फार खाँ आदि विभिन्न नेताओ को गिरफ्तार कर लिया गया था। बगाल, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त तथा मध्य प्रदेश मे अध्यादेशो द्वारा शासन चलाया जा रहा था। बगाल मे तो सैनिक शासन-सा लागू कर दिया था।

लॉर्ड विलिंगडन का रुख इतना कठोर था कि गाँधीजी के सामने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुन प्रारम्भ करने के अलावा कोई रास्ता नही रहा। आन्दोलन का नेतृत्व एक बार फिर गाँधीजी के हाथ मे आया जिन्होने 3 जनवरी, 1932 को ही सम्पूर्ण राष्ट्र को इस अग्नि-परीक्षा का सामना करने के लिए आह्वान किया। ब्रिटिश सरकार तो अपने दमन-चक्र और भी भयानक रूप से चलाने की तलाश में थी। अत. अगले ही दिन 4 जनवरी को महात्मा गाँधी एव काँग्रेस के अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया तथा काँग्रेस को गैर-कानूनी सस्था घोषित कर दिया गया। छोटे बड़े सभी काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को जेलों मे ठूंस दिया गया और पुलिस को यह शक्ति दे दी गई कि वह सन्देह मात्र पर किसी को भी गिरफ्तार कर सके। अनेक काँग्रेसियों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई। सरकार ने आन्दोलन को कुचलने के लिए कितनी नग्न बर्बरता का परिचय दिया इसका पता इसी बात से चल जाता है कि नेताओ के अतिरिक्त लगभग सवा लाख व्यक्तियो को जेलो मे ठूंस दिया था। यह आन्दोलन लगभग 2½ वर्ष तक, 19 मई 1933 तक चलता रहा, जब तक कि वह महात्मा गांधी द्वारा 12 सप्ताह के लिए स्थगित न कर दिया गया। 14 जुलाई, 1933 को महात्मा गाँधी ने जन-आन्दोलन रोक दिया, यद्यपि व्यक्तिगत सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा एक वर्ष तक रही। इस समय तक जनता का उत्साह आन्दोलन के प्रति कम हो गया था और नैतिक पतन के चिन्ह दिखाई देने लग गए थे। अतः 7 अप्रेल, 1934 को महात्मा गाँधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को बिलकुल समाप्त कर दिया। सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस और वी जी. पटेल ने महात्मा गाँधी की इस कार्यवाही की कठोर आलोचना की। यद्यपि आन्दोलन समाप्त हो गया लेकिन ब्रिटिश सरकार काँग्रेस एवं राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने मे बिलकुल असमर्थ रही।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त हो गया लेकिन इसने सिद्ध कर दिया कि भारतीय राष्ट्रीयता स्वतन्त्रता के लिए विशेष लालायित है और स्वतन्त्रता के बारे मे भारतीयो के हृदय मे अब कोई झिझक नही रही है। इस आन्दोलन ने भारत की इस आवाज को बुलन्द कर दिखाया कि अंग्रेजों को अवश्य ही भारत से चले जाना चाहिए। इसने सिद्ध कर दिया कि भारतवासी 'लहू और आँसू' बहाकर भी जीवित रहना जानते हैं और वे अब स्वतन्त्रता से कम किसी भी बात को स्वीकार न करेंगे। आन्दोलन ने अहिंसा की शक्ति को प्रदर्शित कर दिया और यह भी

स्पष्ट कर दिया कि भारतीय महिलाएँ भी स्वाधीनता-प्राप्ति के उद्देश्य के लिए शक्ति, त्याग और बलिदान मे पीछे रहने वाली नही है।

मैक्डोनल्ड अवार्ड अथवा साम्प्रदायिक पंचाट, 1932 (Communal Award 1932)

प्रथम एवं द्वितीय गोलमेज सम्मेलन मे साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल नहीं निकाला जा सका। विदेशी हुकूमत, वास्तव मे, हर प्रकार से साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देना चाहती थी। जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था, तभी ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री रैम्जे मैक्डोनल्ड ने 16 अगस्त, 1932 का विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व के बारे में एक पचाट प्रकाशित किया जिसे 'मैक्डोनल्ड पचाट' या 'साम्प्रदायिक पचाट' के नाम से जाना जाता है। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की समाप्ति के उपरान्त ही ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने कह दिया था कि यदि सम्बन्धित समुदाय साम्प्रदायिक समस्या का सर्वसम्मत हल ढूंढ निकालने मे असफल रहे तो तो ब्रिटिश सरकार को अपनी कामचलाऊ योजना लागू करनी पड़ेगी। साम्प्रदायिक पचाट 8 अगस्त, 1932 को प्रकाशित हुआ। साथ ही यह भी घोषणा की गई कि यदि सरकार को इस बात का विश्वास हो गया कि विभिन्न सम्प्रदायों को एक वैकल्पिक योजना स्वीकार है तो ब्रिटिश सरकार संसद् को सिफारिश करेगी कि साम्प्रदायिक पचाट मे रखी गई योजना के स्थान पर नई योजना को स्वीकार कर लिया जाए।[1]

साम्प्रदायिक पंचाट अथवा मैक्डोनल्ड पंचाट की बातें ये थी—

(1) प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की संख्या दुगनी कर दी गई।

(2) अल्पसंख्यक वर्गों के लिए, जिनमें मुसलमान, सिक्ख तथा भारतीय ईसाई सम्मिलित थे, पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई।

(3) अछूतो को भी हिन्दुओ से अलग निर्वाचन अधिकार देने की घोषणा की गई। इस प्रकार हरिजनों-अछूतों को हिन्दुओ से अलग करने का प्रयत्न किया गया।

(4) प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं मे स्त्रियो के लिए 3 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिए गए।

(5) भू-स्वामियों के लिए सुरक्षित स्थानो पर पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था की गई।

(6) श्रम, व्यवसाय, उद्योग आदि संगठनों को भी व्यवस्थापिकाओं में विशेष स्थान दिए गए।

(7) विभिन्न प्रान्तो में प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में गुरुभार (Weightage) की व्यवस्था की गई, पर उसे लागू विशेष रीति से किया गया।

संक्षेप में इस पंचाट में पृथक् निर्वाचन-पद्धति को न केवल मुसलमानो के लिए कायम रखा बल्कि उसे दलित वर्गों के ऊपर भी लागू कर दिया। मुसलमानो,

1 राजेन्द्र प्रसाद : वही पृष्ठ 208–9.

ईसाइयों, सिक्खों, आँग्ल-भारतीयों तथा महिलाओं तक के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई। श्रम, वाणिज्य, उद्योग जमींदारों तथा विश्वविद्यालयों के लिए भी पृथक् चुनाव-क्षेत्र निर्धारित किए गए। कुल मिलाकर निर्वाचकों को 17 विभिन्न भागों में बाँट दिया गया। स्पष्ट था कि यह साम्प्रदायिक पंचाट भारतीय राष्ट्रवाद को निर्बल करने के लिए और भारत के सम्प्रदायगत तथा वर्ग-गत मतभेदों को उग्र बनाने के लिए किया गया था। यह योजना केवल प्रान्तीय विधान-मण्डलों में ही लागू की जाती थी, केन्द्रीय विधान-मण्डल के निर्णय का प्रश्न अनिश्चित छोड़ दिया गया था। इस पंचाट में पुनः इस तथ्य की पुष्टि कर दी थी कि ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यक वर्गों और विशेष रूप से मुसलमानों के ऊपर बहुत कृपालु थी। "स्पष्ट है कि फूट डालो और राज करो की पुरानी नीति, जिसकी एल्फिस्टन मैल्काम और मैटकाफ के जमाने में जोर शोर से घोषणा की जाती थी, अब सूक्ष्मतर प्रादुर्भावों की तलाश करने के लिए विवश हो गई थी। ब्रिटिश कूटनीति ने निरपेक्षता का अभिनय करना सीख लिया था, लेकिन इस अभिनय का भौंडापन भी साफ दिखाई देने लगा था।"

साम्प्रदायिक पंचाट भारतीय राष्ट्रवाद को कमजोर करने की एक तेज चाल थी। सरकार ने अपना निर्णय भारतीयों पर लाद दिया था क्योंकि कांग्रेस ने सरकार से मध्यस्थता के लिए कभी निवेदन नहीं किया था। यह निर्णय हिन्दुओं के प्रति बहुत ही अन्यायपूर्ण था, विशेषकर इसलिए कि प्रान्तों में (पंजाब और बंगाल में) हिन्दू अल्पमत थे वहाँ उन्हें अपनी जनसंख्या के अनुपात में व्यवस्थापिका सभाओं में कम स्थान दिए गए थे जबकि मुसलमानों और सिक्खों को हिन्दुओं की तुलना में अधिक स्थान देकर पृथकत्व की भावना उभरी हुई थी। भारतीय ईसाइयों, आँग्ल-भारतीयों तथा यूरोपियनों के साथ इतना पक्षपात किया गया था कि भारतीय ईसाइयों को 300 प्रतिशत और यूरोपियनों को 25 हजार प्रतिशत गुरुभार (Weightage) दिए गए। साम्प्रदायिक निर्णय पूर्णतः प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त पर आधारित था जिससे स्पष्टतः एक पूर्ण अधिनायकवादी सरकार की स्थापना की आशंका थी।

गांधीजी का आमरण अनशन और पूना समझौता

पंचाट का राष्ट्रवादियों ने एक स्वर से विरोध किया और महात्मा गांधी ने जेल में ही इसके खिलाफ आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिए। आश्चर्य की बात यह रही कि कांग्रेस कार्य समिति ने इसे न तो स्वीकार किया और न अस्वीकार ही। पर अधिकांश सदस्यों ने इस निर्णय को स्पष्ट रूप से खतरनाक बतलाया। मुस्लिम लीग के लिए निर्णय पूरी तरह 'न्यायसंगत' था ही।

20 सितम्बर, 1932 से आमरण अनशन शुरू करने के बाद ही महात्मा गांधी का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा और उनके जीवन को खतरा पैदा हो गया। आखिर पूना जेल में महात्मा गांधी और हरिजन नेता डॉ. अम्बेडकर के बीच एक समझौता हुआ जिससे हिन्दू समाज की एकता भंग होने का खतरा टल गया। सरकार ने इस

समझौते को अपनी स्वीकृति दे दी। इसे 'पूना पैक्ट' कहा जाता है। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थी—

(1) साम्प्रदायिक पंचाट की तुलना मे हरिजनो को अधिक स्थान दिए गए। पचाट मे उनके लिए प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं मे 71 स्थान सुरक्षित रखे गए थे जबकि पूना पैक्ट मे यह सख्या बढाकर 148 करदी गई।

(2) इन सुरक्षित स्थानो के लिए चुनाव दो स्तरो मे होना निश्चित हुआ। शुरू में हर सुरक्षित स्थान के लिए हरिजन प्रत्याशियो को चुने और अन्त में हिन्दू तथा हरिजन संयुक्त रूप से इन चार प्रत्याशियों मे से एक प्रत्याशी चुने। यह स्वीकार किया गया कि हरिजनों को इस प्रकार का विशेष सरक्षण दस वर्ष के लिए मिलेगा।

(3) हरिजनो को सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो से भी मत देने का अधिकार स्वीकार किया गया।

(4) पूना पैक्ट के बाद गाँधीजी का अनशन टूटा। हरिजनो ने पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की माँग छोडकर सयुक्त निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। महात्मा गाँधी अब अधिक सक्रिय रूप मे हरिजन-उद्धार के कार्य मे लग गए। अच्छाइयो के बावजूद यह कहना होगा कि पूना पैक्ट द्वारा कॉग्रेस ने सिद्धान्ततः हिन्दू समाज मे साम्प्रदायिकतावाद को स्वीकार कर लिया।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन, 1932
(Third Round Table Conference, 1932)

कॉग्रेस की अनुपस्थिति मे ही, जिस समय सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था, तभी गोल मेज परिषद् का तीसरा और अन्तिम अधिवेशन इग्लैण्ड मे नवम्बर, 1932 मे शुरू हुआ जिसमे भारत का प्रतिनिधित्व कट्टर राज भक्तो ने किया। फलस्वरूप यह अधिवेशन प्रतिगामी तत्त्वो की पूर्ण अधीनता मे सम्पन्न हुआ। सम्मेलन लन्दन में 17 नवम्बर से 24 दिसम्बर, 1932 तक चला और भारत सरकार ने ऐसे ही भारतीय प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया जिनसे विरोध की तनिक भी आशा नही थी। इस सम्मेलन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की उप-समितियों की सिफारिशो को विचार-विमर्श करने के लिए मुख्य आधार बनाया गया। इसी आधार पर कुछ निर्णय लिए गए जिन्हे बाद में भारत सरकार द्वारा 1935 के नियम मे स्थान दिया गया। भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा 1935 के अधिनियम मे नागरिको के लिए अधिकार-पत्र की माँग की गई लेकिन सरकार द्वारा इस माँग को अस्वीकृत कर दिया गया। वस्तुतः अनुदार दल भारत को कुछ भी देने के पक्ष मे न था और इसे गुलामी की बेडियो मे मजबूती से जकड़े रहना चाहता था।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन के बाद से भारत छोड़ो आन्दोलन, 1942 से पूर्व तक की मुख्य घटनाएँ : श्वेत-पत्र, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल, अगस्त प्रस्ताव 1940, क्रिप्स मिशन आदि

श्वेत-पत्र, 1933

मार्च, 1933 में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया गया

जिसमें ब्रिटिश सरकार ने उन रूपरेखाओं का सकेत दिया जिनके आधार पर 1935 का अधिनियम बनने वाला था। यह श्वेत-पत्र तीनों गोलमेज सम्मेलनों में लिए गए निर्णयों के आधार पर बनाया गया था और इतना प्रतिक्रियावादी था कि भारत के प्रगतिशील तत्त्व इसे किसी भी रूप में पसन्द नहीं कर सकते थे। अप्रैल 1933 में श्वेत-पत्र में वर्णित सरकारी निर्णयों और प्रस्तावों पर विचार करने के लिए लॉर्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक संयुक्त ससदीय समिति (Joint Parliamentary Committee) नियुक्त की गई जिसमें ब्रिटिश ससद् के दोनों सदनों के कुछ सदस्य लिए गए। इस समिति की रिपोर्ट थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ 11 नवम्बर, 1934 को प्रकाशित हुई। समिति की रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद् द्वारा एक अधिनियम पास किया गया जिस पर अगस्त, 1935 में ब्रिटिश सम्राट की सहमति मिली और जो भारत सरकार का 1935 का अधिनियम कहलाया। इस अधिनियम में पूर्ण स्वराज्य का कहीं जिक्र तक नहीं किया गया।

1935 का अधिनियम, कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों का निर्माण और पदत्याग, पाकिस्तान की मांग

1935 का अधिनियम दोषों से भरा पड़ा था। काफी विचार-विमर्श के बाद कांग्रेस ने इससे सहयोग करने का निश्चय किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत हुए चुनावों में बगाल और पजाब के अतिरिक्त अन्य सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने बहुमत प्राप्त किया। सरकार से यह आश्वासन लेकर कि गवर्नर मन्त्रियों के वैधानिक कार्यों में आए दिन हस्तक्षेप नहीं करेंगे, कांग्रेस ने जुलाई, 1937 में 11 में से 8 प्रान्तों में अपने मन्त्रिमण्डल बनाए। प नेहरू और सुभाष बोस इन मन्त्रिमण्डलों में शामिल नहीं हुए।

3 सितम्बर, 1939 को द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजी सरकार ने बिना कांग्रेसी मन्त्रि मण्डलों की अनुमति लिए ही भारत को भी युद्ध में शामिल कर लिया। अतः विरोध स्वरूप कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने अक्टूबर, 1939 में त्याग-पत्र दे दिया।

मुस्लिम लीग इस घटना से बड़ी प्रसन्न हुई। मुसलमानों ने त्याग के इस दिन को 'मुक्ति दिवस' (Day of Deliverence) के रूप में मनाया। मुस्लिम लीग अब अधिक सक्रिय हो गई। मार्च, 1940 में श्री जिन्ना ने 'द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त' को प्रस्तुत करके पाकिस्तान की मांग रखी। यह मांग लीग के लाहौर अधिवेशन में सर्व सम्मति से स्वीकार कर ली गई।

कांग्रेस का सशर्त सहयोग का प्रस्ताव, जुलाई, 1940

1940 के मध्य महायुद्ध में इंग्लैण्ड की स्थिति बहुत अधिक खराब हो गई और 1 जून 1940 को महात्मा गाँधी ने घोषणा की—"ब्रिटेन के विनाश से हम अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करना नहीं चाहते।" पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा—"इंग्लैण्ड की कठिनाई भारत का सौभाग्य नहीं है।" 7 जुलाई, 1940 को कांग्रेस कार्य समिति ने अपने 'प्रस्ताव' में यह निश्चय किया कि कांग्रेस अपनी सारी शक्ति देश की सुरक्षा

के संगठन में लगा दे और तन-मन-धन से सहयोग दे। कांग्रेस ने दो शर्तों पर अपना सहयोग देने का निश्चय किया —(1) युद्ध के बाद भारत के पूर्ण स्वाधीनता के अधिकार को स्वीकार किया जाए, एवं (2) तात्कालिक कदम के रूप में भारतीय प्रशासन के केन्द्रीय क्षेत्र में एक अस्थाई सरकार की नियुक्ति की जाए जिसमें सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि भाग लें। यह मिली जुली अस्थाई सरकार केन्द्रीय व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों के प्रति उत्तरदायी होगी।

जुलाई, 1940 के प्रस्ताव के माध्यम से कांग्रेस ने तो ब्रिटिश सरकार के प्रति सहयोग का हाथ बढ़ाया लेकिन अनुदार दलीय लॉर्ड लिनलिथगो अपनी जिद्द पर अड़े रहे। वायसराय ने एक वक्तव्य प्रसारित किया जिसका सार यह था कि सरकार भारतीयों को शासन तन्त्र में भाग देने के लिए तो तत्पर है किन्तु उसके राजनीतिक स्वाधीनता के दावे को मानने के लिए तैयार नही है। प्रधान मन्त्री चर्चिल ने घोषणा की—"मैं ब्रिटिश साम्राज्य का प्रधान मन्त्री इसलिए नही बना हूँ कि साम्राज्य का दिवाला ही निकाल दूँ।"

सरकार का अगस्त प्रस्ताव (8 अगस्त, 1940)

महायुद्ध में निरन्तर बिगड़ती हुई स्थिति से अंग्रेज सरकार ने यह महसूस किया कि युद्धकाल मे कांग्रेस का सहयोग जरूरी है। वैधानिक गतिरोध को सुलझाना तात्कालिक आवश्यकता समझी गई। अतः 8 अगस्त, 1940 को शासन की ओर से वायसराय ने एक वक्तव्य प्रसारित किया जो 'अगस्त प्रस्ताव' (August Offer) के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें ये थी —

(1) ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य भारत मे औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना है।

(2) युद्ध के भीषण संकट के समय वैधानिक समस्याओं पर कोई भी निर्णय नही हो सकता लेकिन युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार अविलम्ब एक समिति बनाएगी जिसमें भारत के राष्ट्रीय जीवन के सभी प्रमुख तत्त्व भाग लेंगे। यह समिति भारत के भावी संविधान की रूपरेखा निश्चित करेगी। नए संविधान के निर्माण का उत्तरदायित्व भारतीयों का होगा, लेकिन ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यकों के हितों का ध्यान रखेगी।

(3) तत्काल ही गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति में कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को शामिल होने के लिए निमन्त्रित किया जाएगा।

(4) युद्ध सम्बन्धी मामलों में परामर्श के लिए ब्रिटिश सरकार एक 'युद्ध परामर्श समिति' (War Advisory Council) स्थापित करेगी जिसमें देशी रियासतों और भारतीय राष्ट्रीय जीवन मे दूसरे हितों के प्रतिनिधि शामिल होंगे। यह समिति समय-समय पर नियमित रूप से मिलती रहेगी।

(5) देश की शान्ति और सुरक्षा का ख्याल रखते हुए ब्रिटिश सरकार किसी भी ऐसे दल को सत्ता का हस्तान्तरण नही कर सकती जिसे राष्ट्रीय जीवन के बड़े-बड़े और शक्तिशाली तत्त्व मानने के लिए तैयार न हो।

(6) अन्तरिम काल मे सभी राजनीतिक दल ब्रिटिश सरकार को युद्ध-प्रयासों मे पूरा सहयोग दे और भारत को राष्ट्रमण्डल मे समानता का दर्जा दिलाने मे योग दें।

प्रोफेसर कूपलैण्ड के अनुसार अगस्त प्रस्ताव भारत की वैधानिक समस्या को सुलझाने की दिशा मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सराहनीय प्रयत्न थे। लेकिन भारतीय दृष्टिकोण से ये प्रस्ताव असन्तोषप्रद और निराशाजनक थे। इनमे कांग्रेस की इस माँग का जिक्र तक नही किया गया था कि भारत मे तत्काल ही अस्थाई राष्ट्रीय सरकार स्थापित करदी जाए जिसके हाथ मे प्रतिरक्षा तथा अन्य मामलों का प्रभावशाली नियन्त्रण दिया जाए। अगस्त प्रस्ताव में अल्पसंख्यक वर्गों को यह अधिकार दे दिया गया था कि वे भविष्य मे भारत के सांविधानिक विकास पर, सरकारी सरक्षण की आड में रोक लगा सके। अगस्त प्रस्ताव राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल थे और इसीलिए जब वायसराय ने कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद को बुलाया तो उन्होंने यह निमन्त्रण स्वीकार नही किया। मुस्लिम लीग ने भी अगस्त प्रस्ताव को ठुकरा दिया क्योंकि वायसराय की घोषणा मे 'सयुक्त भारत' की ओर सकेत किया गया था और इसमें 'पाकिस्तान' स्थापना के लिए कोई प्रस्ताव नही था। मुस्लिम लीग ने घोषणा की कि भारत की समस्या का एक मात्र हल पाकिस्तान की स्थापना है तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद मे कांग्रेस और लीग को बराबर प्रतिनिधित्व दिया जाए।

कांग्रेस द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह का आरम्भ और सरकार का झुकना

अगस्त प्रस्ताव मे निराश कांग्रेस ने पुनः महात्मा गाँधी को मार्ग दर्शन के लिए आमन्त्रित किया। सरकार का यह प्रस्ताव जवाहर लाल नेहरू, राजगोपालाचारी आदि उन नेताओं के लिए एक तीव्र आघात था जिनके नेतृत्व मे कांग्रेस ने गाँधी के युद्ध-प्रयत्न सम्बन्धी शान्तिवाद और असहयोग सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था। गाँधी के नेतृत्व मे कांग्रेस ने पुनः असहयोग का मार्ग अपनाया। महात्मा गाँधी ने सांकेतिक विरोध के रूप मे नवम्बर, 1940 मे व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन शुरु किया। यह आन्दोलन पूर्णत शान्तिमय था और इसका उद्देश्य सरकार के युद्ध-कार्यों मे किसी प्रकार की बाधा डालना नही था। ब्रेल्सफोर्ड के शब्दों मे "जिस समय अंग्रेज जाति अपने जीवन-मरण का झूला झूल रही थी, कांग्रेस ने उसके ऊपर कठोर आघात करना अनैतिक समझा और बहुत हल्का आघात किया।" फिर भी सरकार ने सैकडो व्यक्तियों को बन्दी बना लिया।

इस समय युद्ध पूर्व मे फैलने लगा। जून 1941 मे जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया और दिसम्बर, 1941 मे जापान ने मित्र राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान तेजी से आगे बढ़ती हुई भारत की सीमा पर आ डटा। इन परिस्थितियों ने अंग्रेजो को चिन्तित कर दिया। ब्रिटिश सरकार किसी न किसी प्रकार भारत का सहयोग पाने की कोशिश करने लगी। इन्ही दिनो नेताजी

सुभाषचन्द्र बोस गायब होकर गुप्त रूप से विदेश चले गए। उन्होंने जर्मनी और जापान के सहयोग से 'आजाद हिन्द फौज' का संगठन किया और 'दिल्ली चलो' का नारा लगाया। आजाद हिन्द फौज के वीर सैनिकों ने असम की पहाड़ियों और मैदान में अंग्रेजी सैनिकों से डटकर लोहा लिया। परिस्थितियों से बाध्य होकर ब्रिटिश सरकार ने सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को जेल से रिहा कर दिया और अप्रैल, 1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स को कांग्रेस से समझौता करने के लिए भारत भेजा।

क्रिप्स मिशन, 1942

सर स्टेफर्ड क्रिप्स 22 मार्च, 1942 को भारत पहुँचे। उन्होंने विभिन्न पक्षों के सम्मुख भारतीय समस्या के लिए जो प्रस्ताव प्रस्तुत किए और जिन्हें 30 मार्च को प्रकाशित किया गया, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) भविष्य से सम्बन्धित प्रस्ताव, और (2) वर्तमान से सम्बन्धित प्रस्ताव। क्रिप्स-प्रस्ताव में भविष्य के सम्बन्ध में निम्न योजनाएँ थीं—(क) एक नए भारतीय संघ की स्थापना होगी जिसे स्वशासित उपनिवेश का पूर्ण पद प्राप्त होगा। वह किसी घरेलू या बाहरी सत्ता के अधीन नहीं होगा और यदि वह चाहेगा तो ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल से सम्बन्ध भी विच्छेद कर सकेगा। (ख) युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद एक संविधान सभा की स्थापना होगी जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रजवाड़ों दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। (ग) इस प्रयोजन के लिए प्रान्तीय विधान-मण्डलों के निम्न सदनों के सभी सदस्य एक निर्वाचक-मण्डल की स्थापना करेंगे और सानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान सभा का चुनाव करेंगे। संविधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या इस निर्वाचक-मण्डल के कुल सदस्यों की संख्या का दसवाँ भाग होगी। देशी राज्य भी अपनी जनसंख्या के अनुपात से अपने प्रतिनिधि नियुक्त करेंगे। (घ) ब्रिटिश सरकार इस संविधान सभा द्वारा तैयार किए गए संविधान को केवल तभी कार्यान्वित करेगी जबकि निम्नलिखित शर्तें पूरी होती हों—(i) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नए संविधान को स्वीकार करना न चाहे, तो उसे वर्तमान सांविधानिक स्थिति बनाए रखने का अधिकार होगा। यदि किसी प्रान्त की विधान-सभा 60 प्रतिशत बहुमत से संघ में सम्मिलित होने का निश्चय न करे, तो उसके संघ-प्रवेश का अन्तिम निर्णय जन-निर्णय के द्वारा ही हो सकेगा। नई सांविधानिक व्यवस्था में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों को सम्राट की सरकार अलग से एक नया संविधान देने के लिए तैयार होगी। (ii) ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण से सम्बन्धित मामलों के लिए ब्रिटिश सम्राट की सरकार और भारतीय संविधान सभा के बीच एक सन्धि की जाएगी। इस सन्धि में उन सारे विषयों का समावेश होगा जो ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों के हाथों में सत्ता सौंपने से उत्पन्न होंगे। सम्राट की सरकार ने जातीय और धार्मिक अल्प वर्गों की रक्षा के लिए जो वचन दिए हैं, सन्धि में उनकी पूर्ति के लिए ० जाएगी। लेकिन भारत संघ ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के अन्य सदस्य राज्यों के

सम्बन्ध रखना चाहेगा, रख सकेगा। सन्धि मे भारत संघ की इस शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नही होगा।[1]

क्रिप्स प्रस्तावों को भारतीय लोकमत के, प्रत्येक वर्ग ने अस्वीकार किया। गाँधीजी ने कहा कि क्रिप्स योजना ऐसे बैंक के जो कि फेल होने जा रहा हो, पोस्ट-डटेड अथवा आगे की तारीख पड़े चैक के समान थी। पण्डित नेहरू के अनुसार उनके पुराने मित्र क्रिप्स 'शैतान के वकील' बनकर आए थे और उनकी योजना के क्रियान्वयन का परिणाम देश के अनगिनत विभाजनों की सम्भावना के दरवाजे खोल देना था। क्रिप्स योजना को मुस्लिम लीग ने भी यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि इसमे साम्प्रदायिक आधार पर देश विभाजन की माँग नही मानी गई थी।[2] चूँकि क्रिप्स प्रस्ताव भारतीय नेताओ—कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों को अस्वीकार्य थे, अतः उनमे परिकल्पित संविधान सभा की स्थापना नही हुई। दोनो दलों ने इन प्रस्तावो को भिन्न-भिन्न आधारों पर अस्वीकार किया था।[3]

भारत छोड़ो आन्दोलन या अगस्त-क्रान्ति, 1942
(Quit India Movement or August Revolution, 1942)

जब 11 अप्रैल, 1942 को क्रिप्स प्रस्ताव अचानक वापस ले लिए गए और क्रिप्स का एकाएक भारत छोड़ जाना अचानक तथा बड़े ही नाटकीय ढंग से हुआ तो यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि क्रिप्स मिशन का सारा तमाशा उन मित्र देशों की, जो भारत की माँग के प्रति सहानुभूति रखते थे, तथा भारतीयों की आँखों मे धूल झोंकने का प्रयास था। जिस ढग से समझौते की बातचीत भंग हुई, उसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासको और भारतीय नेताओं के बीच की खाई और चौड़ी हो गई तथा सारे देश मे सरकार के विरुद्ध असन्तोष की लहर जोर पकड़ गई।[4]

मार्च, 1942 मे बर्लिन-रेडियो से देश के नाम सुभाष बोस ने अपना पहला सन्देश दिया। वे युद्ध की स्थिति से लाभ उठा कर देश की स्वाधीनता को निकट लाने के पक्ष मे थे और इस काम मे ब्रिटेन के शत्रुओं से सहायता लेना बुरा नही समझते थे। अप्रैल, 1942 के बाद से महात्मा गांधी के विचारों मे भी उग्रता आने लगी। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का तुरन्त समाप्त होना आवश्यक है।" कांग्रेस मे गाँधीजी की विचारधारा की विजय हुई और 14 जुलाई, 1942 को वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी के एक प्रस्ताव मे और बातो के साथ-साथ यह कहा गया कि भारत की स्वाधीनता न केवल भारत के हित मे आवश्यक है, वरन् विश्व की सुरक्षा तथा नाजीवाद, तानाशाही, सैन्यवाद और अन्य

1 सुभाष काश्यप : वही, पृष्ठ 174
2 वही, पृष्ठ 171-72.
3 वही, पृष्ठ 175.
4 वही, पृष्ठ 176.

प्रकार के साम्राज्यवादो का तथा एक देश द्वारा दूसरे देश पर आक्रमण का अन्त करने के लिए भी उतनी ही आवश्यक है।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव, 8 अगस्त, 1942

'वर्धा प्रस्ताव' के उपरान्त कांग्रेस में आन्दोलनकारी विचार उग्र होता गया। 1 अगस्त, 1942 को 'तिलक दिवस' के अवसर पर इलाहाबाद मे प० नेहरू ने कहा—"हम आग के साथ खेलने जा रहे है। हम दुधारी तलवार का प्रयोग करने जा रहे है जिसकी चोट उल्टी हमारे ऊपर भी पड सकती है। पर हम क्या करें ? विवश है।" राजेन्द्र बाबू ने गर्जना की—"हमको इस बार गोली खाने और तोप का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए।" सरदार पटेल बम्बई मे दहाड़े —"इस बार का आन्दोलन थोड़े दिनो का किन्तु बड़ा भयानक होगा।"

7. अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ जिसमे पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद ऐतिहासिक 'भारत छोडो प्रस्ताव' (Quit India Resolution) पास किया गया। प्रस्ताव मे कहा गया—

"यह समिति कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के 14 जुलाई 1942 के प्रस्ताव के 'वर्धा प्रस्ताव' का समर्थन करती है। समिति का विश्वास है कि बाद की घटनाओं ने इसे और भी औचित्य प्रदान कर दिया है और इस बात को स्पष्ट कर दिखाया है कि भारत मे ब्रिटिश शासन का तत्काल ही अन्त, भारत के लिए तथा मित्र राष्ट्रों के आदर्श की पूर्ति के लिए नितान्त आवश्यक है।"[1]

उल्लेखनीय है कि अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव मे 'भारत छोडो' (Quit India) शब्द का प्रयोग नही किया गया था, इस शब्द का प्रयोग तो एक अमेरिकी पत्रकार ने गांधीजी के साथ भेंट मे किया था जिसका प्रयोग बाद मे सरकार, प्रेस और लोगों ने किया। कांग्रेस महासमिति के 'भारत छोडो' प्रस्ताव पास हो जाने के बाद गांधीजी ने लगभग 70 मिनट तक भाषण दिया और 'करो या मरो' (Do or Die) का नारा दिया। गाँधीजी का यह भाषण युगान्तकारी था। गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर भी प्रकाश डालते हुए साफ तौर से कहा—

"पाकिस्तान के सवाल पर मेरे मन में कोई भ्रम नही है। चाहे कुछ भी हो, पाकिस्तान हिन्दुस्तान के बाहर नहीं बन सकता। हम सभी को एक-दूसरे के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर देश की आजादी की कोशिश करनी चाहिए। मैं बड़ा उतावला हूँ। आजादी सबके लिए है, किसी एक जाति या कौम के लिए नही। किसी भी कौम को हिन्दुस्तान की हुकूमत सौप देने की जो मांग मौलाना साहब ने ब्रिटेन के सामने पेश की है, मैं उनका समर्थन करता हूँ। अगर मुसलमानो को हुकूमत सौंप दी जाए तो उससे मुझे कोई रंज नही होगा। अब की जो लड़ाई छिड़ेगी, वह तो सामूहिक लड़ाई होगी। हमारी योजना में गुप्त कुछ भी नहीं है।

1 History of Congress, Vol II, p. 399.

हमारी तो खुली लड़ाई है। हम एक सल्तनत का मुकाबला करने जा रहे हैं और हमारी लड़ाई बिल्कुल सीधी लड़ाई है। इस बारे मे आप किसी भी भ्रम मे न रहे। दिल मे कोई उलझन न रखे। लुक-छिपकर कोई काम न करें। जो लुक-छिपकर काम करते है, उन्हे पछताना पड़ता है।"

भारत छोड़ो आन्दोलन का सूत्रपात, वेग और दमन

8 अगस्त, 1942 के प्रस्ताव मे आन्दोलन शुरू करने की कोई तिथि निर्धारित नही की गई थी और न ही आन्दोलन का कोई विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था। केवल यह कहा गया था कि आन्दोलन गांधीजी के नेतृत्व में शुरू किया जाएगा। किन्तु घटनाचक्र ऐसा घूमा कि 'भारत छोड़ो आन्दोलन' महासमिति के 8 अगस्त के प्रस्ताव के बाद ही शुरू हो गया। सरकार ने अपना कार्यक्रम पहले ही बना लिया था और उसने 9 अगस्त को पौ फटने के पहले ही कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यो और बम्बई के 40 प्रमुख नागरिकों को गिरफ्तार कर लिया। राष्ट्रीय नेताओ का बन्दी किए जाने और सरकार की दमन नीति ने जनता में विद्रोह की भावना पैदा कर दी। आन्दोलन के वेग को और सरकार के दमन-चक्र को दर्शाते हुए डॉ सुभाष काश्यप ने लिखा है कि—

"पहले गिरफ्तारियो के विरोध मे प्रदर्शन हुए। उन्हें कुचला गया। गोलियां चलाई गईं। अश्रुगैस छोडी गई। शीघ्र ही जनता की दबी हुई भावनाएँ उबल पड़ी। फिर तो भीड़ो और पुलिस तथा फौजो के बीच सड़को पर खुली लड़ाई हुई। 'करो या मरो' का नारा देश भर मे गूँज उठा। पुराने नेताओ की अनुपस्थिति मे आन्दोलन का नेतृत्व युवको ने सम्भाला और अंग्रेजी शासन और उसकी निशानियो को मिटाने के लिए उनसे जो कुछ भी बन पड़ा, उन्होंने किया। आन्दोलन अहिंसक न रह सका। फौजी लारियाँ जलाई गईं। अहमदाबाद, मद्रास, बगलौर और सहारनपुर आदि मे मजदूरो की हड़ताल से फैक्टरियो के बन्द हो जाने के कारण लड़ाई का सामान बनाना बन्द हो गया जिसका युद्ध प्रयासो पर प्रभाव पड़ा। सभी संचार साधनो को नष्ट करने का प्रयास किया गया। बहुत सी लाइनो पर रेलो का आना-जाना असम्भव कर दिया गया। कुछ स्थानो पर तो अंग्रेजी शासन की अर्थी निकाल दी गई तथा युवक नेताओ ने अस्थाई सरकारें बनाई। जगह-जगह बिजली के तार काटे गए। पुलिस स्टेशन, रेलवे स्टेशन, डाकखाने और अन्य सरकारी इमारते जलाई गईं। हड़ताल, जुलूस और मीटिंगें, लाठी चार्ज और गोली बारी आए दिन की बात हो गई।

1942 के आन्दोलन मे प्रान्तों मे सबसे आगे थे बंगाल, बिहार, यू० पी०, मद्रास और बम्बई (वर्तमान गुजरात और महाराष्ट्र)। किन्तु, सच यह है कि सारे ही देश ने आन्दोलन मे भाग लिया। सारे देश में नई पीढी ने विशेष कर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो ने, उग्र और शान्तिपूर्ण दोनों ही तरह की कार्यवाहियो मे प्रमुख भाग लिया। बहुत से क्षेत्रो मे ब्रिटिश शासन बिल्कुल समाप्त हो गया और राष्ट्रीय सरकारें काम करने लगी। इन क्षेत्रो को पुनः जीतने में कई-कई दिन और

कहीं-कहीं तो कई-कई सप्ताह लग गए जैसे कि बंगाल के मिदनापुर जिले में और उत्तर प्रदेश के पूर्व जिलों में।

आन्दोलन के कुचलने के लिए सरकार ने दमन-चक्र पूरी शक्ति और नृशंसता के साथ चलाया। सरकार गोलाबारी और बमबारी तक करने से नहीं चूकी। सरकारी ब्यौरे के अनुसार 538 बार गोलियाँ चलाई गईं। हवाई जहाजों से भी मशीनगनों के द्वारा कहीं-कहीं गोलियाँ बरसाना जरूरी समझा गया।

हजारों आदमी गोलियों के शिकार हो गए। हजारों घायल और दर्मियों हजारों को जेलों में ठूंस दिया गया। कितनी ही जगह पूरे गाँव को सजा दी गई और उसकी सारी आबादी की जानें कोड़े मार-मार कर ले ली गई। कुछ प्रदेशों में कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के मकान जला दिए गए। स्कूलों और कॉलिजों के हजारों विद्यार्थियों को तरह-तरह की सजा दी गई। युवकों को बुरी तरह पीटा गया। सरकार में सब तरफ अत्याचार और भ्रष्टाचार बढ़ गया। सरकारी अफसरों और पुलिस द्वारा न्यायालयों की खुली अवहेलना की जाने लगी। हाउस ऑफ कामन्स में चर्चिल के वक्तव्य के अनुसार 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार को अपनी पूरी शक्ति लगानी पड़ी और यह शक्ति थी मुख्यतः भारतीय सैनिकों की, भारतीय अफसरों की और भारतीय पुलिस की। 1857 की तरह 1942 में एक बार फिर अंग्रेजों ने राष्ट्रीय विद्रोह को भारतीयों की ही सहायता से कुचला।"[1]

देश भर में आतंक का शासन फैलाकर सरकार ने लगभग तीन महीने के भीतर ही आन्दोलन को दबा तो दिया लेकिन भूमिगत आन्दोलन चलता रहा और जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफअली तथा राम मनोहर लोहिया जैसे समाजवादी नेताओं ने उसका मार्गदर्शन किया। सच तो यह है कि 1942 में जो व्यापक "भारत छोड़ो आन्दोलन हुआ वह सच्चे अर्थों में स्वचालित जन-आन्दोलन था। जो कुछ हुआ, वह सब सही था या गलत, इस सबका श्रेय अथवा उत्तरदायित्व बहुत कुछ विद्यार्थियों युवकों-युवतियों और इने-गिने समाजवादी नेताओं को ही दिया जा सकता है—कांग्रेस महासमिति अथवा शीर्षस्थ कांग्रेस नेताओं को नहीं।"

भारत छोड़ो आन्दोलन के प्रति अन्य राजनीतिक दलों का दृष्टिकोण

अगस्त, 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के प्रति भारतीय राजनीतिक दलों में 1920-22 के असहयोग आन्दोलन की भाँति ही न तो विचारों में मतैक्यता थी और न ही उद्देश्यों की तत्काल प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई समान दृष्टिकोण ही था। 1930-31 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में जो 'राष्ट्रीय नेतृत्व' उपलब्ध था उसका भारत छोड़ो आन्दोलन में अभाव था। सत्याग्रहियों में 1930 के संयम और अहिंसा की भी कमी थी। कांग्रेस को छोड़कर अन्य राजनीतिक दलों का दृष्टिकोण आन्दोलन के प्रति न केवल उदासीनता का था अपितु निराशा जनक भी था। इस आन्दो- जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफअली, राममनोहर लोहिया तथा अच्युत

1 डॉ. पट्टाभिसीतारामय्या : वही, पृष्ठ 436.

जैसे समाजवादियों को छोड़कर कांग्रेस का साथ किसी ने नहीं दिया। मुस्लिम लीग आन्दोलन से सर्वथा पृथक् रही और कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी पर उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई। जिन्ना ने आन्दोलन की निन्दा की और मुसलमानों से अपील की कि वे आन्दोलन से एकदम दूर रहें। यही नहीं, जिन्ना ने गैर-कांग्रेसी तत्वों से मिलकर अस्थाई सरकार की स्थापना का भी प्रयत्न किया। आन्दोलन के दौरान मुस्लिम लीग का सरकार के प्रति दृष्टिकोण, 'उदार तटस्थता' (Benevolent Neutrality) का रहा। सावरकर जैसे क्रान्तिकारी ने भी, जो हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे हिन्दुओं को आन्दोलन से पृथक् रहने का परामर्श दिया। सर तेजबहादुर सप्रू जैसे उदारवादी नेता के लिए कांग्रेस का प्रस्ताव 'अविचारित और असामयिक' (Ill-considered & Ill Opportune) था। डॉ॰ अम्बेदकर जैसे दलित वर्ग के नेता ने आन्दोलन को 'अनुत्तरदायित्वपूर्ण तथा पागलपन (Irresponsible & Insane) की संज्ञा दी। सिक्ख इस आन्दोलन से न केवल पृथक् रहे अपितु उन्होंने इसकी निन्दा भी की।

1942 के आन्दोलन में सबसे शर्मनाक भूमिका साम्यवादी दल की रही। जब तक रूस ने महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से प्रवेश नहीं किया था तब तक साम्यवादी दल महायुद्ध को साम्राज्यवादियों का युद्ध कहता रहा तथा भारत में भी अंग्रेजी शासकों का तथा युद्ध प्रयासों का कड़ा विरोध करता रहा किन्तु जैसे ही हिटलर ने रूस पर हमला किया और रूस मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में कूदा, वैसे ही रातों-रात भारत के साम्यवादी दल का दृष्टिकोण एकदम बदल गया और उसने महायुद्ध को जन-युद्ध अथवा 'पीपुल्स वार' कहना प्रारम्भ कर दिया। साम्यवादी नेताओं को जेल से छोड़ दिया गया। कांग्रेस नेताओं के जेल में पड़े होने का पूरा फायदा उठाकर साम्यवादियों ने इस काल में अपना संगठन और शक्ति खूब बढ़ाई। सरकार की ओर से भी उन्हें प्रोत्साहन मिला क्योंकि साम्यवादियों ने युद्ध प्रयासों में सरकार की मदद करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। साम्यवादी दल ने मुस्लिम लीग के साथ भी साँठ-गाँठ की और दोनों ने मिलकर कांग्रेसी नेताओं की अनुपस्थिति में तथा अंग्रेज शासकों के सहयोग से पूरा लाभ उठाने की कोशिश की। 1937 में जो मुस्लिम लीग एक भी प्रान्त में अपनी सरकार न बना सकी थी अब पाँच प्रान्तों में पदासीन हो गई। साम्यवादी दल ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग का समर्थन किया। साम्यवादियों को इस नीति से और जो भी लाभ हुए हों, वे राष्ट्रीय आन्दोलन की मूल धारा से दूर जा पड़े, उन्हें कुछ निरादर की दृष्टि से देखा जाने लगा तथा उनके 1942 के आन्दोलन के समय किए गए कामों को विश्वासघात और देशद्रोह माना गया।[1]

महात्मा गाँधी द्वारा अनशन

सरकार की एक घोषणा के अनुसार उसके पास जो सबूत थे उनसे पता चला

1 वही, पृष्ठ 183

था कि स्वयं गाँधी जी और कॉंग्रेस के अन्य शीर्षस्थ नेताओं ने हिंसा के कार्यों को प्रोत्साहित किया। यद्यपि मौलाना आजाद ने 1959 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में खुले आम कहा है कि उन्होंने गिरफ्तारी से पहले कॉंग्रेस कार्यकर्त्ताओं को, हिंसा अथवा अहिंसा जैसे भी हो, सरकार का विरोध करने की सलाह दी थी फिर भी जहाँ तक गाँधी जी का प्रश्न था यह सब असत्य था, गाँधी जी और उनके अहिंसा के आदर्श को बदनाम करने के लिए एक कपोल कल्पना मात्र। ऐसे निराधार आरोपों से दु:खी होकर, और कोई रास्ता खुला न देख, गाँधीजी ने 10 फरवरी, 1943 को आगाखाँ पैलेस में, जहाँ वह नजरबन्द थे, 21 दिन का उपवास किया। उपवास के बीच गाँधी जी की हालत काफी चिन्ताजनक हो गई और उन्हे रिहा न किए जाने के विरोध में वायसराय की कार्यकारिणी के तीन सदस्यों—एच० पी० मोदी, एन० आर० सरकार और एम० एस० अणे—ने 17 फरवरी को त्याग-पत्र दे दिया। 20 फरवरी को सर्वदलीय सम्मेलन ने सरकार से अपील की कि गाँधी जी को तुरन्त और बिना शर्त रिहा किया जाए और भी सैकड़ो अपीलें वायसराय, एमरी और चर्चिल के पास भेजी गई। किन्तु गाँधीजी की बिगड़ती हुई हालत के बावजूद सभी अपीलें ठुकरा दी गई। सरकार को यह विश्वास हो गया था कि गाँधीजी इस उपवास से जीवित नही बचेगे पर वह इसके लिए तैयार थी। यहाँ तक कि लकड़ियाँ खरीद ली गई थी। उपवास के बीच गाँधी जी की हालत कई बार घोर चिन्ताजनक हो गई और डॉक्टर भी आशा छोड़ बैठे किन्तु गाँधीजी ने अदम्य सजीवनी शक्ति का परिचय दिया, सरकार और डॉक्टर दोनो ही के अनुमान गलत साबित हुए, सौभाग्य से सभी भयावह आशंकाओ के विरुद्ध गाँधीजी उपवास पूरा कर पाए और बच गए। पर बाद मे गाँधीजी फिर सख्त बीमार पड़े। डॉक्टरों की राय के अनुसार वे कुछ ही दिन के मेहमान थे। नए वायसराय लॉर्ड वेवल ने सोचा कि गाँधीजी की मौत की जिम्मेदारी सरकार अपने ऊपर क्यो ले अत. गाँधीजी को 6 मई, 1944 को रिहा कर दिया गया।[1]

भारत छोड़ो आन्दोलन की सफलता के कारण और आन्दोलन का मूल्यांकन

1942 का आन्दोलन भारतीय इतिहास में एक महान् आन्दोलन था, लेकिन निम्नलिखित कारणों से वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नही हो सका और शीघ्र ही शिथिल पडकर क्रमशः समाप्त हो गया—

(1) 8 अगस्त, 1942 को आन्दोलन का प्रस्ताव पास करने के तुरन्त बाद ही 9 अगस्त को पौ फटने से पूर्व ही गाँधीजी सहित कॉंग्रेस के प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इस प्रकार आरम्भ से ही आन्दोलन को उचित नेतृत्व प्राप्त नही हो सका। प्रभावी नेतृत्व के अभाव में आन्दोलन लम्बा नही चल सका और न ही उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा मे आगे बढ़ सका।

1 सुभाष कश्यप : वही, पृष्ठ 183–84

(2) सरकार ने आन्दोलन का दमन बहुत ही कठोरता से किया। देश भर मे पुलिस और सेना का राज हो गया जिससे जनता आतंकित हो उठी।

(3) कांग्रेस आन्दोलन को अहिंसात्मक रूप देना चाहती थी, लेकिन नेतृत्व के अभाव मे आन्दोलन हिंसात्मक हो गया और दिशा खो बैठा। हिंसात्मक क्रान्ति के लिए जनता तैयार नही थी।

(4) आन्दोलन मे पूर्व निश्चित योजना और कार्यक्रम का अभाव था। महात्मा गांधी आन्दोलन शुरू करने के पहले सरकार को अन्तिम चेतावनी देना चाहते थे और उन्हे आशा थी कि सरकार का उत्तर प्राप्त होने में एक-दो सप्ताह लग जाएँगे। लेकिन 9 अगस्त को ही वे गिरफ्तार हो गए और फलस्वरूप आन्दोलन के लिए आवश्यक योजना और तैयारी नही की जा सकी।

(5) आन्दोलन को साम्यवादियो, मुस्लिम लीग और दलितवर्ग का समर्थन नही मिला। साम्यवादियो और लीग का सरकार से गठबन्धन था और उनकी कुटिल नीति ने आन्दोलन को गहरा धक्का पहुंचाया।

असफल रहने के बावजूद 1942 का आन्दोलन भारत के स्वाधीनता संघर्ष मे अन्तिम महान कदम था और इसकी व्यापकता ने ब्रिटिश सरकार को यह महसूस करा दिया कि भारत को अब अधिक समय तक गुलामी के शिकजे में नही रखा जा सकता। विश्व के दूसरे देशो को भी भारत की वस्तु स्थिति का पता चल गया और वे अंग्रेजो पर भारत को स्वतन्त्र करने के लिए दबाव डालने लगे। आन्दोलन से भारत की एकता और राष्ट्रीय भावना दृढ़ हुई और इसने विदेशी शासको को बता दिया कि भारतीय जनता देश प्रेम, साहस और धैर्य मे पीछे नही है। डॉ० सुभाष काश्यप ने लिखा है—

"स्वाधीनता के लिए किया गया कोई भी प्रयास, कोई भी आन्दोलन अथवा कोई भी त्याग कभी विफल नही जाता। अन्तिम सिद्धि मे उन सबका अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। अत: 1942 के 'भारत छोडो' आन्दोलन का मूल्यांकन करते समय यह कहना कि आन्दोलन विफल रहा भारी भूल होगी। इसमें सन्देह नही कि आन्दोलन को कुचल दिया गया किन्तु 1947 में स्वाधीनता का जो स्वर्ण-विहान हुआ उसमें आन्दोलन का ही सबसे बड़ा योगदान था। अगस्त, 1942 मे दी गई 'भारत छोड़ो' की ललकार के ठीक पाँच वर्ष बाद ही अंग्रेजों को भारत छोड़ देना पड़ा। 1942 का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन सचमुच 1857 की असफल क्रान्ति के बाद, भारत मे अंग्रेजी राज की समाप्ति के लिए किया गया सबसे बड़ा प्रयास था। जिस प्रकार 1857 की क्रान्ति मूलतः अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सिपाहियों का विद्रोह था, उसी प्रकार 1942 का आन्दोलन मूलतः युवा वर्ग का, मजदूरों का और विद्यार्थियों का विद्रोह था।"[1]

1 वही, पृष्ठ 184-85.

लीग से समझौते के लिए गांधीजी के प्रयत्न और राजगोपालाचारी योजना

जेल से मुक्त होने के बाद महात्मा गांधी ने राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए सरकार से समझौता-वार्ता चलाई और कहा कि कांग्रेस भविष्य में सत्याग्रह आन्दोलन नहीं चलाएगी बशर्ते कि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए कदम उठाया जाए। पर सरकार द्वारा यह शर्त लगाई गई कि कांग्रेस पहले 'भारत छोड़ो आन्दोलन' प्रस्ताव को वापस ले तथा आन्दोलन नीति का परित्याग करदे। दोनों पक्षों में अपनी बात पर आग्रह के फलस्वरूप सांविधानिक गतिरोध पूर्ववत् बना रहा। इसे दूर करने के लिए मार्च, 1944 में श्री राजगोपालचारी ने एक योजना तैयार की जिसमें साम्प्रदायिक समस्या के हल के लिए मुस्लिम लीग से समझौता करने का प्रयास किया गया। राजाजी का यह मत रहा था कि चूंकि मुस्लिम लीग पाकिस्तान की मांग पर अड़ी हुई थी और उसे ब्रिटिश सरकार का समर्थन प्राप्त था, कांग्रेस के सामने इसके सिवाय और कोई शान्तिपूर्ण रास्ता नहीं था कि पाकिस्तान की मांग को स्वाधीनता की अनिवार्य कीमत के रूप में स्वीकार लिया जाए।

मई, 1944 में गांधी जी के जेल से छूटने पर राजाजी ने उनके सामने अपने सुझाव रखे। इस फार्मूले को 10 जुलाई, 1944 को प्रकाशित किया गया। इसकी विशेष धाराएँ इस प्रकार थी—

(1) मुस्लिम लीग द्वारा भारतीय स्वाधीनता की मांग का समर्थन तथा अन्तरिम सरकार में सहयोग का आश्वासन।

(2) महायुद्ध की समाप्ति पर एक ऐसे आयोग की स्थापना जो यह निर्णय करे कि कौन से क्षेत्रों में मुसलमानों का पूर्ण बहुमत है।

(3) मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों को वयस्क मताधिकार या अन्य उचित मताधिकार द्वारा यह तय करने का अधिकार कि वे भारत का अंग रहना चाहते है अथवा पृथक् होना चाहते हैं।

(4) कुछ क्षेत्रों द्वारा पृथक् होने का निर्णय किए जाने की अवस्था में, सुरक्षा, यातायात, वाणिज्य और अन्य आवश्यक मामलों को संयुक्त रखने के लिए परस्पर सन्धि।

(5) आबादी की अदला-बदली केवल स्वेच्छा के आधार पर।

इन्हीं सुझावों को 'सी. आर. फार्मूला' अथवा 'राजा जी फार्मूला' की संज्ञा दी जाती है। इन्हीं के आधार पर गांधीजी और जिन्ना के बीच सितम्बर 1944 में बम्बई में जिन्ना के घर पर 18 दिन तक बातचीत हुई तथा पत्र-व्यवहार चला। जिन्ना ने 'राजा जी फार्मूला' अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह चाहते थे कि मुस्लिम बहुमत वाले 6 प्रान्त पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त, बंगाल और असम पूरे के पूरे बिना किसी जनमत संग्रह के पाकिस्तान बना दिए जाएँ और यदि जनमत संग्रह किया ही जाए तो उसमें केवल मुस्लिम जनता को

ही मताधिकार हो औरों को नही। जिन्ना सुरक्षा, यातायात और वाणिज्य आदि के लिए भी कोई संयुक्त केन्द्रीय सत्ता मानने के लिए तैयार नही थे। वह चाहते थे कि पाकिस्तान पूर्णतया प्रभुता-सम्पन्न तथा हिन्दुस्तान से सब मामलों में बिल्कुल अलग हो। इतना ही नही उन्होने अपने प्रस्तावित पाकिस्तान के पश्चिमी और पूर्वी भागो के बीच एक गलियारे की बेतुकी माँग भी सामने रखी। गाँधीजी के जिन्ना के घर जाकर पाकिस्तान के आधार पर बातचीत करने से नतीजा केवल यह निकला कि जिन्ना और मुस्लिम लीग की शक्ति और हौसले बहुत बढ़ गए और पाकिस्तान की माँग को एक नई प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई।

वेवल–योजना और शिमला कान्फ्रेंस

1945 के प्रारम्भ में लॉर्ड वेवल भारत के नए गवर्नर जनरल बने। उन्होंने जून 1945 मे रेडियो भाषण मे वर्तमान राजनीतिक स्थिति को सुधारने और भारत को 'पूर्ण स्वशासन' के उद्देश्य की ओर आगे बढाने के लिए अपने प्रस्तावो की घोषणा की। इसी भाषण में उसने शीर्षस्थ कांग्रेस नेताओं की जेल-मुक्ति की भी घोषणा की ताकि उनके साथ सरकार आवश्यक विचार-विमर्श कर सके। लॉर्ड वेवल ने शिमला मे 25 जून, 1945 को सर्वदलीय सम्मेलन आमन्त्रित करने का इरादा प्रकट किया जिसमें लगभग 21 नेताओं को बुलाया जाना था।

शिमला सम्मेलन 25 जून को शुरू हुआ जिसमें वेवल योजना की शर्तों पर विचार किया गया। योजना की मुख्य बाते ये थी—(1) सरकार भारत के प्रमुख सम्प्रदायो की इच्छा के विरुद्ध कुछ नही करेगी, (2) वायसराय की कार्यकारिणी का इस प्रकार पुनर्गठन किया जाएगा कि उसमें सवर्ण जातियो के हिन्दुओ और मुसलमानो की सीटें समान हो, (3) कार्यकारिणी मे गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति को छोड़कर शेष सभी सदस्य भारतीय होंगे, (4) सीमान्त और कबायली मसलों को छोड़कर शेष सभी सदस्य भारतीय होंगे, (5) सीमान्त और कबायली मसलों को छोड़कर शेष वैदेशिक मामले भारत मन्त्री के हाथ में रहेंगे, (6) एक ब्रिटिश उच्चायुक्त भारत में नियुक्त होगा जो ब्रिटिश व्यापार और हितों की देखभाल करेगा, (7) कार्यकारिणी परिषद् 1935 के अधिनियम के अनुसार कार्य करेगी, (8) परिषद् लगभग अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की भाँति होगी, (9) इस प्रस्ताव का स्वयं भारतीयों द्वारा बनाए जाने वाले भावी संविधान पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा, एवं (10) प्रान्तो मे गवर्नरी राज्य समाप्त करके उत्तरदायी सरकार स्थापित की जाएगी, मिली-जुली सरकारें बनेगी।

शिमला सम्मेलन सफल नहीं हो सका। कांग्रेस का रुख नरम और सहयोगी रहा, लेकिन मुस्लिम लीग के दुराग्रह का उसे सामना करना पडा। योजना मे 70 प्रतिशत हिन्दुओं को 30 प्रतिशत मुसलमानो के बराबर ठहराया गया था। फिर भी स्वतन्त्रता प्राप्ति की आशा मे कांग्रेस ने यह कड़वी गोली निगल ली, किन्तु श्री जिन्ना इस बात पर डटे रहे कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों का एक मात्र राजनीतिक दल स्वीकार किया जाए। यह आग्रह सर्वथा असगत था। एक राष्ट्रीय

संगठन के रूप में कांग्रेस स्वयं को केवल हिन्दुओं की प्रतिनिधि संस्था के स्तर पर नहीं ला सकती थी। जिन्ना की माँग को स्वीकार कर लेने से कांग्रेस का राष्ट्रीय-स्वरूप ही समाप्त हो जाता। अतः कांग्रेस और पंजाब के यूनियनिस्ट दल को यह स्वीकार नहीं हुआ कि केवल मुस्लिम लीग को ही कार्यकारिणी परिषद् में मुस्लिम सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार दिया जाए। कांग्रेस ने सवर्ण हिन्दुओं की पाँच सीटों में से एक या दो राष्ट्रीय मुसलमानों की और यूनियनिस्ट दल ने एक मुसलमान को अपनी ओर से परिषद् में नियुक्त करने की पेशकश की। जिन्ना इसके लिए तैयार नहीं हुए, और 14 जुलाई, 1945 को लॉर्ड वेवल ने सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी।

आजाद हिन्द फौज पर अभियोग और सेना में विद्रोह

लगभग इसी समय एक महान् ऐतिहासिक घटना घटित हुई और वह थी आजाद हिन्द फौज के अफसरों के विरुद्ध लाल किले में मुकदमे की सुनवाई। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज ब्रिटिश सेना को हराते हुए आसाम की सीमा तक पहुँच गई थी, पर दुर्भाग्यवश इम्फाल और कोहिमा के मोर्चों पर उसे पराजित होना पड़ा। महायुद्ध में जापान द्वारा आत्मसमर्पण कर देने पर आजाद हिन्द फौज की भी पूर्ण पराजय हो गई। इसके बहुत से अफसर जिनमें शाहनवाज, ढिल्लन, सहगल आदि प्रमुख थे, गिरफ्तार कर लिए गए और उन पर नवम्बर, 1945 में मुकदमा चलाया गया। कांग्रेस ने इन वीर सेनानियों के पक्ष में मुकदमा लड़ने का निश्चय किया। मुकदमें के दौरान सम्पूर्ण भारत में उत्साह और पुनर्जागरण की लहर फैल गई। यद्यपि तीनों अभियुक्तों को मृत्यु-दण्ड की सजा दी गई, तथापि जनमत के दबाव से वायसराय ने अपने विशेषाधिकार के अन्तर्गत उन्हें क्षमा कर दिया। आजाद हिन्द फौज की घटना ने ब्रिटिश सरकार को अहसास करा दिया कि भारतीय सैनिकों में भी राष्ट्रीय भावना का ज्वार उठ खड़ा हुआ है।

5 भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति
(ACHIEVEMENT OF INDEPENDENCE IN INDIA)

शिमला सम्मेलन के बाद ही कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। ब्रिटेन में श्रमिक दल सत्तारूढ़ हो गया और श्री एटली प्रधान मन्त्री बने। भारतीयों में सरकार के रवैये के विरुद्ध भारी क्षोभ फैल गया। इतना ही नहीं भारतीय सैनिकों में भी सांविधानिकता की भावना का प्रादुर्भाव हो गया और फरवरी, 1946 मे नौसेना ने विद्रोह भी कर दिया। भारत में ब्रिटिश सत्ता का आधार सेना ही था, जिसमें भारतीय सैनिकों की संख्या बहुत अधिक थी। अब अंग्रेज भारत मे अपनी सत्ता कायम रखने के लिए भारतीय सैनिकों पर भरोसा नहीं रख सकते थे। इस दिशा में उन्होंने भारत छोड़कर चले जाने का निश्चय किया और देश की राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की ओर से मार्च, 1946 में एक और महत्त्वपूर्ण मिशन भारत भेजा गया जो केबिनेट मिशन के नाम से विख्यात है। यह केबिनेट मिशन ब्रिटेन की मजदूर दल सरकार की ओर से भेजा गया था जो भारत को शीघ्रातिशीघ्र स्वतन्त्रता देने के पक्ष मे थी। भारत मन्त्री लारेन्स ने इस बात को व्यक्त करते हुए यह घोषणा कर दी कि ब्रिटिश सरकार को स्वतन्त्रता देने का निश्चय कर लिया है।

केबिनेट मिशन
(Cabinet Mission)

केबिनेट मिशन 24 मार्च, 1946 को दिल्ली पहुँचा। भारत मन्त्री लॉर्ड पैथिक लारेंस, सर स्टेफर्ड क्रिप्स (बोर्ड ऑफ ट्रेड के प्रधान) और ए. वी. अलेक्जेण्डर (फर्स्ट लॉर्ड ऑफ दी एडमिरल्टी) मिशन मे थे। केबिनेट मिशन ने आते ही भारत के विभिन्न नेताओं से बातचीत आरम्भ करदी। लॉरेंस ने लीग को आश्वासन दिया कि उनकी सरकार लीग को कॉंग्रेस के समान ही मुसलमानों के बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था मानती है। क्रिप्स ने कहा कि उनके पास पहले से निर्धारित की गई कोई योजना नहीं है और जो भी निर्णय होगा, वह भारतीयों से वार्ता के उपरान्त ही होगा। इस समय अप्रेल, 1946 में लीग ने अपने अधिवेशन में एक प्रस्ताव मे

यह घोषणा की कि "लीग किसी भी ऐसे संविधान को स्वीकार नहीं करेगी जिसमें *अखण्ड भारत स्वीकार किया जाएगा, साथ ही इसी उद्देश्य के लिए वह किसी विधान-सभा में सहयोग नहीं करेगी।"*

यद्यपि कांग्रेस मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए उपाय ढूंढ निकालने को तैयार थी और इस प्रकार देश के विभाजन को टालना चाहती थी, लेकिन लीग तो पाकिस्तान बनाने के सपने को साकार करने के लिए तुली हुई थी। चूंकि कांग्रेस और लीग में समझौता नहीं हो सका, अतः केबिनेट मिशन ने ही अपनी ओर से अन्त में एक योजना पास की, जिसे 'केबिनेट मिशन योजना' कहा जाता है। यह योजना 16 मई, 1946 को प्रकाशित हुई। इस योजना में दिए गए मुख्य सुझाव इस प्रकार थे—

1. भारत में एक संघ-राज्य स्थापित किया जाए जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी रियासतें सम्मिलित हों। संघ की सरकार वैदेशिक नीति, सुरक्षा तथा यातायात विषयों को सम्भाले, शेष शक्तियाँ प्रान्तों को दे दी जाएँ।

2. संघ-राज्य के शासन में जो कार्यकारिणी और व्यवस्थापन विभाग हैं, उन दोनों में ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतों को प्रतिनिधित्व प्राप्त रहे। व्यवस्थापन विभाग अर्थात् विधान-मण्डल में किसी साम्प्रदायिक प्रश्न पर कोई प्रस्ताव उस समय तक पारित न होगा जब तक कि उस सम्प्रदाय के सदस्यों का बहुमत उसे स्वीकार नहीं कर ले।

3. संघ सूची में जिन विषयों का परिगणन न किया गया हो, वे सब अवशिष्ट विषय (Residuary Powers) प्रान्तों के हाथों में रहें।

4. देशी रियासतों के हाथ में वे सब अधिकार रहें, जिन्हें उन्होंने संघ राज्य को देना स्वीकार न कर लिया हो।

5. प्रान्तों को इस बात की स्वतन्त्रता हो कि वे परस्पर मिलकर अपना पृथक् शासन सम्बन्धी ग्रुप बना सकें और इन ग्रुपों के अपने-अपने कार्यकारिणी व व्यवस्थापन विभाग भी संगठित कर सकें। मिशन ने तीन ग्रुपों का उल्लेख भी किया। पहले ग्रुप में बम्बई, मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश व उड़ीसा रहे। दूसरे ग्रुप में उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, पंजाब व सिंध और तीसरे ग्रुप में बंगाल व असम को रखा गया।

6. संघ और ग्रुपों के संविधान में एक ऐसी धारा की व्यवस्था हो, जिसके द्वारा किसी प्रान्त के विधान-मण्डल के बहुमत द्वारा संविधान की धाराओं पर पुनर्विचार किया जा सके।

7. मिशन ने उपरोक्त सुझावों के आधार पर संविधान-निर्माण के लिए संविधान-सभा की योजना भी प्रस्तावित की। मिशन द्वारा कहा गया कि— (क) प्रत्येक प्रान्त को उसकी जनसंख्या के आधार पर संविधान-सभा में स्थान दिया जाए। लगभग 10 लाख लोगों पर एक सदस्य निर्वाचित हो, (ख) संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष हो। सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय विधान सभाओं

द्वारा किया जाए, (ग) प्रत्येक प्रान्त के स्थान उस प्रान्त की विभिन्न जातियों को उनकी जनसंख्या के आधार पर दिया जाए, (घ) केवल तीन मतदाता संघ बनाए जाएँ—साधारण, मुस्लिम और सिक्ख (केवल पंजाब में)।

8 जब तक विधान-सभा देश के लिए नए संविधान का निर्माण न कर ले, देश का शासन चलाने के लिए एक अस्थाई सरकार की व्यवस्था भी केबिनेट मिशन योजना में प्रस्तुत की गई। प्रशासन और परिवर्तन काल में ब्रिटिश सरकार द्वारा सहायता देने की बात भी कही गई।

9 देशी रियासतों के विषय में यह कहा गया कि रियासतों के साथ सम्बन्ध रखने वाली सर्वोपरि-शक्ति (Paramountcy) इस समय तक ब्रिटिश सम्राट् की सरकार में निहित है। यह सम्भव है कि ब्रिटिश सरकार इस सर्वोपरिता को त्याग कर इसे ब्रिटिश भारत की सरकार को हस्तान्तरित कर दे। पर यह अवश्य है कि जब ब्रिटिश भारत में स्वतन्त्र शासन की स्थापना हो जाएगी, तो ब्रिटिश सरकार के लिए रियासतों के सम्बन्ध में अपनी सर्वोपरि-शक्ति का प्रयोग कर सकना सम्भव नहीं रह जाएगा। इस स्थिति में यह सर्वोपरि-शक्ति देशी रियासतों को ही पुनः प्राप्त हो जाएगी। अब तक रियासतों और ब्रिटिश सरकार में जो राजनीतिक सम्बन्ध है, इस प्रकार उनका स्वमेव अन्त हो जाएगा। इस स्थिति में यह भी सम्भव होगा कि या तो ये रियासतें नई स्वतन्त्र भारतीय सरकार (ब्रिटिश भारत की सरकार) के साथ मिलकर भारतीय संघ (Federation) में शामिल हो जाएं अथवा उसके साथ नए राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करें।

उक्त योजना की कमीशन के सदस्यों ने बड़ी प्रशंसा की तथापि वह निश्चित रूप से काफी दोषपूर्ण थी। लगभग सभी भारतीय नेता उसकी त्रुटियों से भली प्रकार परिचित थे और उन्होंने केबिनेट मिशन से इस सम्बन्ध में वाद-विवाद भी किया। केबिनेट मिशन-योजना की मुख्य त्रुटियाँ संक्षेप में ये थीं—

प्रथम, ब्रिटिश भारत को तीन प्रान्तीय समूहों में विभक्त करते समय कोई ठोस सिद्धान्त नहीं अपनाया गया था। असम को बंगाल के साथ मिलाकर एक प्रान्तीय समूह बनाने की व्यवस्था नितान्त अन्याय संगत थी।[1] असम हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्त था जिसे मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त बंगाल के साथ मिलाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं था। इस व्यवस्था से यह तथ्य प्रकट था कि असम को जान-बूझ कर मुस्लिम लीग को भेंट किया जा रहा था ताकि जिन्ना पाकिस्तान की माँग का परित्याग करके संयुक्त भारत में रहना स्वीकार कर ले। इसी प्रकार पंजाब को उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्तीय समूहों में सम्मिलित करना उचित नहीं था। काँग्रेस समर्थक उत्तर-पश्चिमी-सीमा प्रान्त को काँग्रेस विरोधी समूह में बलपूर्वक शामिल करने की नीति का भी समर्थन नहीं किया जा सकता था। इन प्रान्तीय समूहों के सम्बन्ध में यह भी बड़ी निराशाजनक बात थी कि इनके अन्तर्गत अल्प संख्या वाले

1 Pt. Jawaharlal Nehru's Speech on July 7, 1946.

प्रान्तों को हानि पहुँचाने का पूरा भय था। इस भय के कारण ही सिंध प्रान्त, जिसमे मुस्लिम लीग का जोर था, पंजाब के साथ शामिल नही होना चाहता था।

दूसरे, यद्यपि योजना द्वारा भारत को अखण्ड और सयुक्त रखने का प्रयास किया गया था तथा पाकिस्तान का निर्माण किए बिना ही मुसलमानो को पाकिस्तान जैसी सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गई थी, लेकिन योजना ने मुस्लिम लीग के ही लिए पाकिस्तान की प्राप्ति सर्वथा असम्भव नही बनाई थी। योजना के अन्तर्गत साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तीय समूहो की व्यवस्था करके लीग को प्रोत्साहन दिया गया था। इसके अतिरिक्त संविधान-सभा की व्यवस्था भी इस ढंग से की गई थी कि मुस्लिम लीग पाकिस्तान के निर्माण के लक्ष्य की पूर्ति के लिए सुगमतापूर्वक संघर्ष कर सकती थी। सक्षेप मे केबिनेट मिशन योजना मे पाकिस्तान-निर्माण के अकुर विद्यमान थे। स्वय जिन्ना ने 5 जून, 1946 के अपने भाषण में कहा था "केबिनेट मिशन ने हमारी पाकिस्तान की माँग की ओर जो रवैया अपनाया है वह बडा निंदनीय है। ऐसा करना उनकी एक भारी भूल है। मे आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि भारत के मुसलमान तब तक सन्तुष्ट न होंगे जब तक वे पाकिस्तान के रूप में अपना एक स्वतन्त्र तथा सत्ता सम्पन्न राज्य स्थापित नही कर लेते। यद्यपि मिशन ने कांग्रेस को प्रसन्न और सन्तुष्ट करने के लिए तथ्यो मे कुछ तोड़-मरोड़ किया है, तथापि हमे यह नही भूलना चाहिए कि उनकी इस योजना में भी पाकिस्तान के अंकुर विद्यमान है।"[1]

तीसरे, केबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तावित सविधान-सभा एक निर्धारित और प्रभावहीन सभा थी, जिसका गठन बडा त्रुटिपूर्ण था और जिसकी कार्य-प्रणाली में विभिन्न दोष थे। उदाहरणार्थ भारतीय संघ का सविधान बनाने के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था की गई थी कि प्रान्तों और प्रान्तीय समूहों की रचना के बाद सघ के संविधान का निर्माण किया जाएगा। ऐसा करना वस्तुतः उल्टी गंगा बहाना था। इसी तरह प्रान्तीय समूह के संविधान के लागू होने पर एक प्रान्त को इससे पृथक् होने का अधिकार देना भी सर्वथा गलत था। मिशन द्वारा प्रस्तावित इस संविधान-सभा पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए श्री जयप्रकाश नारायण ने ठीक ही कहा था कि "यह सविधान-सभा अपने गठन मे उस सविधान-सभा से कही अधिक भिन्न है जिसकी रूप-रेखा पण्डित नेहरू ने हमारे सामने रखी थी। इसकी रचना ब्रिटिश सरकार ने की है, अतः हम इसके द्वारा उस स्वतन्त्रता को पाने की आशा कदापि नही कर सकते, जिसके लिए हम संघर्ष कर रहे है। इस संविधान-सभा की अनेक ऐसी त्रुटियाँ है कि जिनका लाभ उठाते हुए ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्र भारत को अपनी इच्छानुसार सविधान नही बनाने देगी।"

चौथे, योजना द्वारा प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के सिद्धान्तों पर आघात किया गया। यह व्यवस्था नितान्त घातक थी कि प्रत्येक प्रान्तीय समूह अपने सयुक्त

1 Mr. Jinnah's speech on June 5, 1946 (*A. C. Banerjee : Constituent Assembly*, p. 84)

सविधान बनाने के अतिरिक्त उसमें सम्मिलित प्रान्तों के संविधानों की भी रचना करेगा। इसका स्पष्ट अभिप्राय था कि उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा असम के प्रदेश, जिनमे कांग्रेस का बहुमत था, अपनी इच्छानुसार संविधान नहीं बना सकेंगे और उसके प्रतिनिधियो को प्रान्तीय समूहो मे बहुमत द्वारा किए निर्णयों के समक्ष झुकना पड़ेगा। स्पष्टतः यह व्यवस्था प्रान्तीय स्वायत्त शासन के सिद्धान्त के एकदम प्रतिकूल थी। बगाल के प्रान्त के लिए भी असम के लोगों की इच्छा के विरुद्ध सविधान बनाना कठिन नही था।

पांचवें, योजना इसलिए भी निन्दनीय थी कि इसमें सिक्खों के साथ न्याय नही किया गया था। सिक्ख नेताओ व प्रतिनिधियो से बिना विचार-विमर्श किए ही पजाब को उत्तर-पश्चिमी प्रान्तीय समूह का अग बना देना सर्वथा अप्रजातान्त्रिक और अनुचित था। इसके अतिरिक्त जहाँ मुसलमानों को विशेष साम्प्रदायिक अधिकार और सरक्षण आदि प्रदान किए गए थे, वहाँ सिक्खों को इस प्रकार की सुविधाओं से पूर्णतः वचित रखा गया था। इसीलिए सिक्ख पथ-कांग्रेस द्वारा एक समिति भी नियुक्त की गई जिसका काम केबिनेट मिशन योजना मे, सिक्ख जाति की इच्छानुसार परिवर्तन न होने पर ब्रिटिश सरकार का विरोध करना था।

छठे, केबिनेट मिशन योजना राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हानिकारक थी क्योंकि इसमें एक दुर्बल केन्द्र की व्यवस्था की गई थी। केन्द्र की वित्तीय शक्तियाँ भी बड़ी सीमित रखी गई थी। केन्द्रीय सरकार को केवल प्रतिरक्षा, विदेशी मामले और यातायात आदि के विभाग सौंपे गए थे। राष्ट्रीय नेता इस बात से अनभिज्ञ न थे कि केन्द्रीय सरकार को स्थिर रखने के लिए उसको सशक्त करना पड़ेगा। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अखिल भारतीय कांग्रेस के अधिवेशन में भाषण देते हुए स्पष्टतः कहा कि "यदि लीग केन्द्रीय सरकार के अधिकार-क्षेत्र को विस्तृत करने के विरुद्ध है तो सविधान-सभा को अवश्य ही इस दिशा मे कोई ठोस पग उठाना पड़ेगा।"

सातवें, योजना में रियासतों सम्बन्धी धाराएँ खतरनाक थी। योजना के अनुसार ब्रिटिश भारत के स्वतन्त्र होने पर ब्रिटिश सरकार की देशी रियासतों सम्बन्धी सर्वोपरिता (Paramountcy) समाप्त होने को थी। किन्तु रियासतों के लिए अखिल भारतीय संविधान में सम्मिलित होना अनिवार्य नही था और वे भारत संघ से पृथक् भी रह सकती थी। यह व्यवस्था भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए एकदम खतरनाक थी क्योंकि इस स्थिति मे भारत पुनः उसी प्रकार के छोटे-छोटे राज्यो में विभक्त हो सकता था जैसा कि वह लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व था।

आठवें, योजना द्वारा प्रान्त, प्रान्तीय समूहों और केन्द्रीय सरकार की जो त्रिसूत्री योजना प्रस्तावित की गई थी, उसे व्यावहारिक रूप देना सम्भव न था। इस योजना पर सफलतापूर्वक कार्य करना असम्भव था। एक ओर प्रान्तों तथा भारतीय समूहो और दूसरी ओर समूहो तथा केन्द्रीय सरकार के मध्य झगड़े होना अनिवार्य था। लीग और कांग्रेस के आपसी मतभेदो मे और भी अधिक बिगाड़ आ जाने का भय भी निहित था।

केबिनेट मिशन योजना की कटु आलोचना की गई, तथापि सभी राजनीतिक दलों ने उसे प्रारम्भ मे स्वीकार कर लिया क्योंकि प्रत्येक दल इसके माध्यम से अपने उद्देश्य की पूर्ति की आशा रखता था। मुस्लिम लीग का स्वार्थ यह था कि योजना मे पाकिस्तान के अंकुर विद्यमान थे। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने संविधान-सभा द्वारा स्वतन्त्रता, संयुक्त और लोकतान्त्रिक भारत के सविधान के बनने की आशा से प्रेरित होकर अपनी स्वीकृति दी। सिक्खों ने यद्यपि योजना पर पहले अपनी अस्वीकृति दी, किन्तु भारत सचिव तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के आश्वासन पर उन्होंने अपने प्रतिनिधि संविधान-सभा मे भेजना मजूर कर लिया। इस प्रकार हिन्दुओं, सिक्खों और मुसलमानों सभी ने किसी न किसी निहित स्वार्थ और उद्देश्य की पूर्ति की आशा से केबिनेट मिशन योजना को स्वीकार करके उसे व्यावहारिक रूप देना मान लिया। मौलाना आजाद के अनुसार "कांग्रेस और लीग द्वारा इस योजना को स्वीकार किया जाना भारतीय इतिहास में एक गौरवपूर्ण घटना थी। इसका अभिप्राय यह था कि भारतीय स्वतन्त्रता की कठिन समस्या का समाधान हिंसा और संघर्ष के उपायों के स्थान पर समझौता-वार्ताओं और सहमति से कर लिया गया है। सम्पूर्ण देश में उल्लास और हर्ष था तथा स्वतन्त्रता की माँग करने में देश की सारी जनता एक थी। हम इस बात से अनभिज्ञ थे कि ये सारी खुशियाँ केवल चन्द दिनों की ही बात है और शीघ्र ही हमे एक असाधारण निराशा का मुँह देखना पड़ेगा।"[1]

संविधान-सभा का चुनाव

केबिनेट मिशन की प्रस्तावित योजना के अनुरूप जुलाई, 1946 मे सविधान-सभा का चुनाव हुआ जिसमें टक्कर मुख्यतः कांग्रेस और लीग के मध्य हुई। संविधान-सभा की कुल सीटों में से 212 सीटें कांग्रेस-प्रत्याशियों और कांग्रेस समर्थकों ने जीती। मुस्लिम लीग के केवल 73 प्रत्याशियों को सफलता प्राप्त हुई। सफल होने वाले शेष 11 सदस्यों में भी कम से कम 6 सदस्य ऐसे थे जिनके समर्थन का कांग्रेस को भरोसा था। कहने का अभिप्राय यह है कि संविधान-सभा के चुनाव मे कांग्रेस ने शानदार सफलता प्राप्त की तथा मुस्लिम लीग को पूर्ण प्रयत्न करने पर भी कई स्थानो पर असम्मानजनक हार खानी पड़ी।

लीग द्वारा केबिनेट योजना पर अपनी स्वीकृति वापिस लेना

संविधान-सभा में कांग्रेस की शक्तिशाली स्थिति को देखकर जिन्ना को बड़ी निराशा हुई। तत्पश्चात् जब कांग्रेस के अन्तरिम सरकार सम्बन्धी सुझाव के अस्वीकार करने पर भी लॉर्ड वेवल ने मुस्लिम लीग के सहयोग से अस्थायी सरकार बनाना स्वीकार न किया तो जिन्ना का क्रोध और भी भड़क उठा। इन सब बातों के फलस्वरूप मुस्लिम लीग ने केबिनेट मिशन योजना के सम्बन्ध में दी गई अपनी स्वीकृति को 29 जुलाई, 1946 को वापिस ले लिया। लीग ने यह भी निश्चय किया कि वह न तो संविधान-सभा मे भाग लेगी और न अस्थायी सरकार में। उसी

1 *Azad*. India wins Freedom, p 151.

दिन उसने यह भी निर्णय किया कि पाकिस्तान की माँग को मान्य कराने के लिए लीग सीधी लड़ाई (Direct Action) प्रारम्भ करेगी।

सीधी कार्यवाही तथा अन्तरिम सरकार

कांग्रेस द्वारा अन्ततः दीर्घकालीन योजना और अन्तरिम सरकार के प्रस्तावों को स्वीकार कर लेने पर 14 अगस्त, 1946 को वायसराय ने केन्द्र में अन्तरिम सरकार के निर्माण के लिए पं जवाहरलाल नेहरू को आमन्त्रित किया। दूसरी ओर मुस्लिम लीग ने सीधी कार्यवाही (Direct Action) शुरू कर दी। 16 अगस्त को कलकत्ता में बड़े खूनी-काण्ड हुए। मौलाना आजाद के शब्दों में "16 अगस्त का दिन भारत के इतिहास में एक अन्धकारपूर्ण दिन था। कलकत्ता महानगरी में खून की अभूतपूर्व होली खेली गई जिसमें गुण्डों ने अपनी मनमानी की। हजारों व्यक्ति मौत के घाट उतारे गए और करोड़ों की सम्पत्ति लूट ली गई।"[1] 20 अगस्त, 1946 को अंग्रेजी समाचार-पत्र 'स्टेट्समैन' (Statesman) ने लिखा—"बंगाल के महान् प्रान्त की राजधानी में यह घृणापूर्ण रक्तपात मुस्लिम लीग का एक ऐसा राजनीतिक पग था जिससे यह स्वयं ही सारे देश में कलंकित हो गई।"[2]

जब कलकत्ता, नोआखाली तथा देश के कुछ अन्य स्थानों पर खून की होली खेली जा रही थी उस समय भी लॉर्ड वेवल इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि मुस्लिम लीग को अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने के लिए राजी कर लिया जाए। अन्त में उन्हें अपने उद्देश्य में 13 अक्टूबर, 1946 को सफलता मिली। जिन्ना ने लियाकत अली, अब्दुर्रब निश्तर, आई आई. चुन्दरीगर, गजनफर अली तथा जोगेन्द्र नाथ मण्डल—इन पाँच व्यक्तियों को अन्तरिम सरकार में लीग की ओर से शामिल होने के लिए मनोनीत किया। मुस्लिम लीग ने इस अन्तरिम सरकार में अपने प्रतिनिधि तो भेज दिए लेकिन लीग की नियत साफ नहीं थी। सरकार में शामिल होने से पूर्व गजनफर अली ने स्पष्ट शब्दों में कहा "हम अन्तरिम सरकार में इसलिए सम्मिलित हो रहे हैं ताकि हम अपने उद्देश्य—पाकिस्तान की पूर्ति के लिए सफलतापूर्वक संघर्ष कर सकें............अन्तरिम सरकार हमारी सीधी कार्यवाही के आन्दोलन का एक और मोर्चा होगी।" प्रकट है कि अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों का भाग लेना और भी दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। इन प्रतिनिधियों ने अन्तरिम सरकार का सफलतापूर्वक कार्य करना कठिन बना दिया और नवम्बर, 1946 में सरदार पटेल को कहना पड़ा, "शासन शक्ति के हस्तान्तरण के समय केन्द्रीय सरकार एक शोचनीय अवस्था में है।" मुस्लिम लीग ने न केवल अन्तरिम सरकार के कार्य में अडंगेबाजी पैदा की वरन् संविधान-सभा के प्रथम अधिवेशन में ही लीग के सदस्यों ने सभा का बहिष्कार करके स्थिति को अत्यधिक बिगाड़ दिया और नई समस्याएँ खड़ी कर दी। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली द्वारा गतिरोध को समाप्त करने के लिए भारतीय नेताओं की एक कॉन्फ्रेंस लन्दन में बुलाई गई जिसका कोई परिणाम नहीं निकला।

1 *Azad* : India wins Freedom, p. 159.
2 Statesman, August 20, 1946.

एटली की घोषणा और माउन्टबेटन योजना

कांग्रेस एवं लीग में सहयोग की कोई सूरत न देखने पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने अपनी सरकार की नीति को स्पष्ट करते हुए सहसा ही 20 फरवरी, 1947 को एक ऐसी घोषणा कर दी जिसने भारत को ही नही वरन् सम्पूर्ण विश्व को आश्चर्य चकित कर दिया। अपनी इस ऐतिहासिक घोषणा में श्री एटली ने कहा—

"सम्राट् की सरकार स्पष्ट रूप से अपने इस निर्णय को सूचित कर देना चाहती है कि वह जून, 1948 तक जिम्मेवार भारतीय के हाथ मे शक्ति सौंप देने का कार्य सम्पन्न कर देगी। ....सम्राट् की सरकार ऐसी भारतीय सरकार को अपना दायित्व सौंपने को उत्सुक है जो जनता के सहयोग की दृढ नीव पर खडी होकर भारत में न्याय और शान्ति से शासन कर सके। इसलिए यह आवश्यक है कि भारत के सब लोग अपने मतभेदों को भुलाकर अगले वर्ष उन पर डाले जाने वाले भारी उत्तरदायित्व को सम्भालने के लिए तैयार हो जाएँ। ....किन्तु यदि निश्चित की गई तारीख तक सविधान-सभा द्वारा कोई विधान नही बनाया जा सका, तो सम्रा् की सरकार को यह सोचना पड़ेगा कि ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार का दायित्व पूरा का पूरा ब्रिटिश भारत किसी एक केन्द्रीय सरकार को या उसे विभक्त करके वर्तमान प्रान्तीय सरकारो को अथवा किसी अन्य ढग से जो सर्वोचित तथा भारतीयों के लिए सर्वाधिक लाभपूर्ण हो, को सौप दिया जाए।"

घोषणा में यह भी कहा गया कि लॉर्ड वेवल के स्थान पर लॉर्ड माउन्टबेटन को वायसराय नियुक्त किया जा रहा है, जो भारतीयो को सत्ता हस्तान्तरित करने का कार्य करेंगे।

उक्त घोषणा के कुछ ही दिन बाद 23 मार्च, 1947 को लॉर्ड माउन्टबेटन ने दिल्ली आकर वायसराय का पद सम्भाल लिया। उन्होंने आते ही गांधीजी तथा अन्य नेताओं से विचार-विमर्श किया। उन्होने पं. नेहरू और सरदार पटेल से आग्रह किया कि वे पाकिस्तान की मांग स्वीकार करलें। अन्ततः, तत्कालीन परिस्थितियों से विवश होकर कांग्रेस माउन्टबेटन के प्रस्ताव से सहमत हो गई। भारत की राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए अपनी योजना और भारत विभाजन की योजना पर स्वीकृति लेने के लिए माउंटबेटन 18 मई, 1947 को ब्रिटेन गए तथा 3 जून, 1947 को वहाँ से लौटकर उन्होंने अपनी योजना प्रकाशित की। योजना प्रकाशित करने से पूर्व उन्होने कांग्रेस और लीग से इस पर स्वीकृति प्राप्त करली थी। इस माउन्टबेटन योजना की मुख्य बातें इस प्रकार थी—

1. वर्तमान परिस्थितियों मे भारत की समस्या का एकमात्र हल भारत का विभाजन है, अतः भारत दो भागो मे विभक्त किया जाएगा।

2 बगाल, पंजाब और असम के विवाद-ग्रस्त प्रान्तों का भी विभाजन किया जाएगा।

3. उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के निवासी जनमत संग्रह द्वारा यह निर्णय करेंगे कि उनके प्रान्त को पाकिस्तान मे सम्मिलित किया जाए अथवा उसे भारत का ही अग रहने दिया जाए।

4. असम के सिलहट जिले में मुस्लिम बहुसंख्या होने से जनमत संग्रह द्वारा इस बात का निर्णय होगा कि वहाँ के लोग पाकिस्तान में मिलना चाहते हैं या भारत में।

5. पंजाब व बंगाल की विधान-सभाएँ पृथक्-पृथक् दो भागों में बनेंगी। एक में मुस्लिम प्रधान जिलों के और दूसरी में गैर-मुस्लिम जिलों के प्रतिनिधि होंगे। दोनों भागों को यह फैसला करने का अधिकार होगा कि वे भारतीय संघ में रहना चाहते हैं अथवा पाकिस्तान में।

6. देश के विभाजन के पश्चात् भारतीय उप महाद्वीप में जो भारत और पाकिस्तान के राज्य स्थापित होंगे उन्हें औपनिवेशिक दर्जा (Dominion Status) प्राप्त होगा। किन्तु दोनों को राष्ट्र मण्डल से पृथक् होने पर अपनी पूर्ण स्वाधीनता घोषित करने का अधिकार होगा।

माउन्टबेटन योजना के अनुसार सत्ता हस्तान्तरण की तारीख भी जून, 1948 के बजाय 15 अगस्त, 1947 निर्धारित कर दी गई। माउन्टबेटन योजना को भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों ने स्वीकार कर लिया और उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए कदम उठाए गए। पंजाब और बंगाल की विधान-सभाओं ने प्रान्तों के विभाजन के पक्ष में निर्णय दिया और ये दोनों प्रान्त दो-दो भागों में विभाजित किए गए। पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल भारतीय संघ के भाग रहे जबकि पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल को पाकिस्तान में सम्मिलित किया गया। सिलहट पूर्वी पाकिस्तान में सम्मिलित हुआ था। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त ने भी पश्चिमी पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निर्णय दिया।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947

लॉर्ड माउन्टबेटन की योजना को स्वीकार कर लेने के बाद लन्दन सरकार ने 4 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक लोक-सभा में पेश किया और 15 दिन के अन्दर संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाकर यह विधेयक अधिनियम बन गया। इस भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 (The Indian Independence Act, 1947) में कुल मिलाकर 15 धाराएँ थीं तथापि यह अधिनियम एक नवीन युग के आरम्भ का सूचक था। इस अधिनियम द्वारा भारत से ब्रिटिश शासन उठ गया। इस ऐतिहासिक अधिनियम की मुख्य धाराएँ इस प्रकार थीं—

1. 15 अगस्त, 1947 को भारत में दो अधिराज्य (स्वतन्त्र उपनिवेश) स्थापित होंगे, जिनके नाम भारत तथा पाकिस्तान (India & Pakistan) होंगे। इन दोनों राज्यों को उसी दिन वे समस्त शक्तियाँ और अधिकार दे दिए जाएँगे जो भारतीय शासन के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार के पास हैं।

2. भारत में बम्बई, मद्रास, बिहार, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी-बंगाल, असम (मुस्लिम क्षेत्रों के अतिरिक्त), दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा और कुर्ग होने थे। पाकिस्तान में पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, बिलोचिस्तान तथा असम का सिल्हट क्षेत्र सम्मिलित किए गए।

3. दोनों अधिराज्यों के प्रदेशों की सीमाएँ निर्धारित कर दी गई और जिन क्षेत्रों को जनमत-संग्रह द्वारा अपनी विधान-सभाओं के निर्णयानुसार अपने भविष्य के सम्बन्ध मे निर्णय करना था, उनके लिए शर्ते निश्चित कर दी गई।

4. भारतीय रियासतों को यह स्वतन्त्रता मिली कि वे चाहे किसी भी अधिराज्य में सम्मिलित हो सकती है।

5. यह व्यवस्था की गई कि जब तक नए संविधान बने तब तक दोनो राज्य 1935 के भारत सरकार अधिनियम मे आवश्यक संशोधन करके शासन करे।

6. यह व्यवस्था की गई कि राज्य सेवाओं के सदस्यो की नौकरी की शर्ते यथापूर्व रहेंगी।

7. 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश भारत मे प्रकाशित कानून उस समय तक लागू रहेंगे जब तक कि नए अधिराज्यो के विधान-मण्डल उनमे किसी प्रकार का संशोधन नही करते।

8. दोनो अधिराज्यो के लिए अलग-अलग गवर्नर जनरल होंगे, लेकिन यदि दोनों अधिराज्य चाहे तो एक ही व्यक्ति को दोनो अधिराज्यो का गवर्नर जनरल बना सकेंगे। भारत सचिव का पद समाप्त हो जाएगा।

9. भारत और पाकिस्तान दोनो को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् होने का अधिकार भी दिया गया।

10. इस अधिनियम को क्रियान्वित करने के लिए गवर्नर जनरल को आवश्यक नियम-उपनियम बनाने का अधिकार मिला।

11. चूंकि दोनो अधिराज्यो मे से किसी एक में भी वैधानिक रूप से बनी हुई संसद् नही थी, अतः दोनो अधिराज्यो की संविधान-सभाओ को विधान-मण्डलों तथा विधान-निर्मात्री संस्थाओं का पद और कार्य सौंपा गया।

भारत मे 1947 का अधिनियम, जिसे 'डोमिनियन संविधान' के नाम से भी पुकारा जाता है, 15 अगस्त, 1947 से 26 जनवरी, 1950 तक चला। 26 जनवरी, 1950 को संविधान द्वारा निर्मित गणतन्त्रीय संविधान भारत में लागू किया गया। उल्लेखनीय है कि लॉर्ड माउन्टबेटन ने 13 अगस्त, 1947 को कराची जाकर पाकिस्तान संविधान-सभा को सत्ता सौंपी और 14 अगस्त की रात्रि को वन्देमातरम् के गीत के साथ भारत को सत्ता हस्तान्तरण हुआ। डोमिनियन मंत्रि-मण्डल में प्रधान मन्त्री नेहरू के नेतृत्व में 14 मंत्री हुए और लॉर्ड माउन्टबेटन भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने।

1947 के अधिनियम ने यद्यपि भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त किया और भारतवासियों के 'स्वतन्त्रता जन्मसिद्ध अधिकार' को स्वीकृति प्रदान की, परन्तु दुर्भाग्य से भारत को दो भागों में विभक्त कर दिया।

भारत-विभाजन के कारण

(Causes Responsible for the Partition of India)

सन् 1947 में भारत का जो विभाजन हुआ, वह कोई आकस्मिक घटना

ह्रास छिपा था और अनेक कारण निहित थे—
नहीं थी। उसके मूल में लम्बा इतिहास की भावना का उदय—कुछ मुस्लिम नेताओं
(1) मुसलमानों में पृथक्हुओं से अलग ढंग से सोचने लगे। विशेषकर सर
के प्रभाव में आकर मुसलमान हिन्दी प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहित किया। देश के
सैयद अहमद खाँ ने इस पृथकताव गई कि उनके और हिन्दुओं के हित पृथक्-
मुसलमानों में यह भावना भर दी
पृथक् हैं। : हावी होने का भय पैदा होना—मुस्लिम लीग
(2) बहुसंख्यक हिन्दुओं लेम नेताओं के प्रभाव से मुसलमानों में यह विश्वास
और कट्टर तथा पृथकतावादी मुस्लिदायी शासन दिया गया तो बहुसंख्यक हिन्दू
जम गया कि यदि भारत को उत्तर जाएँगे।
अल्पसंख्यक मुसलमानों पर हावी होंक पिछड़ेपन का भय—मुसलमानों में यह भी
(3) मुसलमानों में शैक्षदृष्टि से मुस्लिम जनता पिछड़ी हुई है, अतः वह
विचार उत्पन्न हुआ कि शिक्षा की व। इस कारण भी समय बीतने के साथ-साथ
हिन्दुओं से स्पर्द्धा नहीं कर सकेगीर होते गए।
मुसलमान हिन्दुओं से अधिकाधिक सिद्धान्त—सन् 1940 में मुहम्मद अली जिन्ना ने
(4) जिन्ना का द्विराष्ट्र सिद्धित किया। अब मुसलमान इस बात पर तुल
स्पष्ट रूप से द्विराष्ट्र सिद्धान्त प्रतिपा चाहिए।
गए कि उनका अपना अलग देश हो। 'फूट डालो' नीति और मुस्लिम लीग को
(5) ब्रिटिश सरकार कीमुस्लिम रीति-नीति को बहुत प्रोत्साहन दिया।
प्रोत्साहन—ब्रिटिश सरकार ने भी रीति का अनुसरण कर ब्रिटिश सरकार ने अन्य
'फूट डालो और शासन करो' की न्मुसलमानों का पक्ष लिया। मुस्लिम जनता की
सम्प्रदायों को हानि पहुँचा कर भी न किया गया। सन् 1909 में मुसलमानों को
प्रसन्नता के लिए बगाल का विभाजधान-मण्डलों में उन्हें जनसंख्या के अनुपात से
पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। वि इण्डिया कौंसिल व गवर्नर जनरल की कार्य-
अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया औरस्थान सुरक्षित रखे गए। ब्रिटिश सरकार ने ऐसी
कारिणी परिषद् में उनके लिए स्थो और मुसलमानों में मतभेदों की खाई निरन्तर
प्रत्येक नीति अपनाई जिससे हिन्दुओं को अपने पक्ष में करने के लिए जो भी रियायतें
चौड़ी होती जाए। कांग्रेस मुसलमानउनसे अधिक रियायतें पेश कर मुसलमानों को
प्रस्तावित करती, ब्रिटिश सरकार करती। वास्तव में ब्रिटिश सरकार ने ऐसी
अपनी ओर मिलाने की कार्यवाहीभारत के मुसलमान अपनी प्रत्येक बात के लिए
परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी कि भा उन्हें कांग्रेस अथवा हिन्दुओं से समझौता करने
ब्रिटिश सरकार पर निर्भर हो गए 5 और 1947 में मुस्लिम लीग के आन्दोलन में
में कोई रुचि नहीं रही। सन् 194सा दी। हिन्दुओं के किसी भी प्रदर्शन पर उनका
ब्रिटिश नौकरशाही ने सक्रिय सहायाग बिना सरकारी दमन के अपने उग्र और हिंसक
दमन किया गया जबकि मुस्लिम ली
प्रदर्शन करती रही। कांग्रेस की तुष्टिकरण की नीति—भारत-विभाजन
(6) मुसलमानों के प्रति।

के लिए मुस्लिम और ब्रिटिश रवैया ही नहीं वरन् कांग्रेसी रवैया भी उत्तरदायी था। डॉ० लाल बहादुर के शब्दों में, *कांग्रेस ने मुसलमानों को खुश करने का रवैया अपनाया और इस तरह न चाहते हुए भी उन्हें अपनी अनुचित माँगें बढ़ाने को प्रोत्साहन दिया।* मुसलमानों को अपने पक्ष में करने की प्रबल भावना से कांग्रेस ने अनेक बार अपने सिद्धान्तों को भी तिलाञ्जलि दे दी। साम्प्रदायिक रोग अत्यधिक बढ़ गया और अन्ततः भारत का विभाजन हो गया। दुर्भाग्यवश कांग्रेस ने मुसलमानों के पृथकतावादी और आक्रामक स्वरूप को कभी समझने की चेष्टा नहीं की और अन्त समय तक वह इस प्रकार की झूठी आशा पालती रही कि अकस्मात् ही कोई ऐसी बात हो जाएगी जिससे साम्प्रदायिक समस्या दूर हो जाएगी।

कांग्रेस ने सदैव अपने आपको धोखा देने की गलती की थी। कांग्रेस ने मुस्लिम चरित्र को शुरू से ही समझने में भूल करके राजनीतिक दृष्टि से कई गलत कदम उठाए। *पहली बड़ी गलती सन् 1916 में लखनऊ पैक्ट में सम्मिलित होने की, की गई।* इसमें कांग्रेस ने मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन की माँग स्वीकार कर ली। विधान-मण्डलों में मुसलमानों को एक निश्चित अनुपात में स्थान देने की बात स्वीकार करना अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण था। दूसरी गम्भीर गलती सन् 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय के बारे में हुई। कांग्रेस की नीति से मुसलमानों की पृथकतावादी प्रवृत्ति को बल मिला। पुनः एक बड़ी गलती तब की गई जब मुस्लिम लीग को संविधान सभा में भाग लेने के लिए सहमत किए बिना ही अन्तरिम सरकार में सम्मिलित कर लिया गया। *अन्तरिम सरकार में लीगी सदस्यों ने इस प्रकार की* अड़ंगेबाजी की नीति अपनाई जिससे पाकिस्तान स्थापित किए जाने के वातावरण को बल मिला। अन्तरिम सरकार के लीगी सदस्यों ने अपने विभागों के महत्त्वपूर्ण पदों से हिन्दुओं और सिक्ख अधिकारियों को हटाकर ऐसे मुसलमानों को नियुक्त कर दिया जिन पर पाकिस्तान के पक्ष में मिलने का भरोसा किया जा सकता था।

(7) साम्प्रदायिक झगड़े—अन्तरिम सरकार के समय ही विशाल पैमाने पर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए; अतः कांग्रेस कार्यसमिति विवश हो गई कि वह भारत-विभाजन की दृष्टि से विचार करे। फरवरी, 1947 में ब्रिटिश सरकार की इस घोषणा ने भी, कि भारतीयों को बहुत शीघ्र सत्ता सौंपने का निश्चय कर लिया गया है, देश की साम्प्रदायिक स्थिति को बिगाड़ दिया। इस घोषणा से पाकिस्तान-निर्माण के आन्दोलन को काफी सहायता मिली।

(8) कांग्रेस की भारत को शक्तिशाली बनाने की इच्छा—देश के साम्प्रदायिक और राजनीतिक वातावरण से बाध्य होकर मई, 1947 में कांग्रेस ने यह अनुभव किया कि भारत का विभाजन हो जाना आवश्यक है। सरदार पटेल के शब्दों में, "मैंने यह अनुभव किया कि यदि हम विभाजन को स्वीकार न करते तो भारत अनेक टुकड़ों में बँट जाता और बिलकुल बर्बाद हो जाता। एक वर्ष तक पदासीन रहने पर मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय हो गया कि जिस मार्ग पर हम जा रहे थे वह विनाश की ओर ले जा रहा था। मैंने अनुभव किया कि हमारे देश में

एक के बजाय अनेक पाकिस्तान बन जाएँगे तथा प्रत्येक दफ्तर मे पाकिस्तानी सैल होगे।""""" मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि देश का विभाजन कर इन विदेशियों का यहाँ से शीघ्रातिशीघ्र चले जाना ही श्रेयस्कर है। तभी मैंने यह अनुभव किया कि देश को सुरक्षित और समृद्ध बनाने का एक मात्र हल यही है कि शेष भारत को एक कर दिया जाए।"

(9) **अखण्ड भारत के लिए पाकिस्तान**—अनेक नेताओं का विचार था कि राजनीतिक, आर्थिक, भौगोलिक और सैनिक दृष्टिकोण से पाकिस्तान एक कमजोर राष्ट्र सिद्ध होगा और विषम परिस्थितियो तथा आन्तरिक कमजोरियों के कारण वह अधिक दिनों तक नही टिक सकेगा। उन्हें आशा थी कि अन्त में पाकिस्तान समाप्त हो जाएगा और भारत पुन. एक हो जाएगा। आचार्य कृपलानी ने कहा था—"एक दृढ और सुखी प्रजातान्त्रिक भारत अपने से अलग होने वाले भाग को पुनः वापिस ले सकता है, क्योंकि हमारी स्वतन्त्रता भारत की एकता के बिना पूर्ण नही हो सकती।" इस प्रकार की विचारधारा ने तत्कालीन परिस्थितियो मे भारत के विभाजन को प्रोत्साहित किया।

(10) **सत्ता-हस्तान्तरण की धमकी**—ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली द्वारा 20 फरवरी, 1947 को यह घोषणा की गई कि एक निश्चित तिथि तक हर दशा मे भारतीयों को सत्ता सौप दी जाएगी। इस घोषणा से भारतीय नेताओ को भय हो गया कि यदि भारत का विभाजन न हुआ तो सत्ता-हस्तान्तरण के समय गृह-युद्ध छिड़ सकता है और देश दो से अधिक टुकडो मे बँट सकता है। यह भी आशका थी कि यदि भारत-विभाजन के माउण्ट बेटन फार्मूले को स्वीकार न किया गया तो ब्रिटिश सरकार स्वय अपना निर्णय भारतीयो पर लाद देगी जो अधिक हानिकारक सिद्ध होगा।

(11) **सत्ता का लालच**—माइकेल ब्रेचर का विचार है कि कांग्रेसी, 1935 के संविधान के अन्तर्गत, सत्ता का फल चख चुके थे और शीघ्रातिशीघ्र सत्ता हथियाने के पक्ष मे थे। अतः उन्होने भारत के विभाजन को और अधिक टालना उचित नही समझा।

(12) **माउण्टबेटन का प्रभाव**—भारत के विभाजन को मनवाने मे माउण्ट बेटन दम्पत्ति का व्यक्तिगत प्रभाव बहुत अधिक रहा। माउण्टबेटन का विचार था कि देश के विभाजन की कीमत पर भी भारतीयो को आजादी ले लेनी चाहिए और यह अंग्रेजों के लिए भी हितकारी होगा। उनकी व्यावहारिक राजनीतिक चतुरता, प्रशासकीय निपुणता और विनय व्यवहार ने सरदार पटेल, पण्डित -नेहरू आदि नेताओ के हृदय को जीत लिया। जहाँ यह नेता भारत-विभाजन के पूर्ण विरोधी थे वहाँ माउण्ट बेटन के भारत आगमन के एक महीने के भीतर ही वे विभाजन के समर्थक बन गए। इस दिशा मे श्रीमती माउण्ट बेटन की बुद्धिमत्ता और आकर्षक स्वभाव ने बहुत योग दिया।

उपर्युक्त सभी भूलों, प्रभावों और विषम परिस्थितियों ने कांग्रेस के सामने यह समस्या उत्पन्न कर दी कि दो बुराइयों में से एक को चुन लिया जाए अर्थात् या तो सारे देश पर मुस्लिम आधिपत्य हो जाए या भारत-भूमि का विभाजन हो जाए। कांग्रेस ने विभाजन को स्वीकार कर लिया।

भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति में अन्य सहायक तत्त्व

भारत का विभाजन जब कांग्रेस को मान्य हो गया तो इसे मूर्त रूप देने के लिए जुलाई, 1947 में ब्रिटिश संसद् द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम (The Indian Independence Act, 1947) पारित कर दिया गया जिसके द्वारा 15 अगस्त, 1947 को भारत से ब्रिटिश शासन का अन्त हो गया और भारत तथा पाकिस्तान दो अधिराज्यों की स्थापना हो गई जिन्हें ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार दिया गया।

भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति एक महान् ऐतिहासिक घटना थी जिसमें अन्य अनेक तत्त्वों ने सहायता दी। इनमें निम्नलिखित कारण विशेष महत्त्वपूर्ण थे—

(1) **भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति**—भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन उग्रवादी, क्रान्तिकारी और वैधानिक सभी रूप लिए हुए था। सभी जातियों और वर्गों ने एक स्वर से स्वतन्त्र भारत का नारा लगाया था। सन् 1942 का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन अंग्रेजों के लिए भारत छोड़ने की एक स्पष्ट चुनौती थी। आजाद हिन्द फौज और सैनिक विद्रोह ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ हिला दी थी। महायुद्ध के बाद स्वतन्त्रता के बारे में भारतीयों का नारा हो गया था—"अभी नहीं तो कभी नहीं" (Now or Never)। इन परिस्थितियों में अंग्रेज यह समझ गए थे कि अब भारतीयों को स्वतन्त्रता देनी ही होगी।

(2) **महायुद्ध के कारण ब्रिटेन का निर्बल हो जाना**—द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप ब्रिटेन राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इतना कमजोर हो गया था कि उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह भारतीय साम्राज्य का भार वहन करता तथा भारत को बलपूर्वक अपने अधीन रख सकता।

(3) **एशिया में जागरण**—एशिया में जो स्वतन्त्रता आन्दोलन चल रहे थे, उनका भारत पर भारी प्रभाव पड़ा था। राष्ट्रीयता से ओतप्रोत एशियायी राष्ट्रों में भारत अग्रणी था और स्वतन्त्रता के लिए प्रबल प्रयास कर रहा था। एशिया के इस राष्ट्रीय जागरण ने ब्रिटेन को विवश कर दिया कि वह भारत को स्वतन्त्र कर दे।

(4) **ब्रिटेन में मजदूर दलीय सरकार का निर्माण**—सन् 1945 के आम चुनावों में विजय प्राप्त कर मजदूर दल द्वारा सरकार का निर्माण एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना थी। मजदूर दल पहले ही घोषणा कर चुका था कि सत्तारूढ़ होते ही वह भारतीय सांविधानिक गतिरोध को अविलम्ब दूर कर भारतीयों को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। मजदूर दल ने अपनी बात निभाई। मौलाना आजाद के शब्दों में, "भारत को बड़ी तेजी से और सौजन्यपूर्ण तरीके से अंग्रेजों द्वारा छोड़ने के लिए मजदूर सरकार बधाई की पात्र थी।"

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय दबाव**—ब्रिटेन पर भारत को स्वतन्त्र करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव भी बहुत सहायक सिद्ध हुए। जापान और जर्मनी को यह सहन नहीं था कि पराजय के बाद उनके उपनिवेश तो छीन लिए जाएँ और अंग्रेज अपने उपनिवेश कायम रखें। इसके अतिरिक्त अमेरिका भारत को स्वतन्त्रता देने के लिए बार-बार आग्रह कर रहा था। रूस भी अंग्रेजों के उपनिवेशवाद का घोर विरोधी था। सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने ब्रिटिश ससद् में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि, "अमेरिका और रूस जैसी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के दबाव के कारण भारत पर आधिपत्य कायम रखना असम्भव हो गया है।" चीन भी उस समय भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थक था।

(6) **भारतीय शासन अलाभकारी**—द्वितीय महायुद्ध तक भारत औद्योगिक क्षेत्र में काफी प्रगति कर चुका था और युद्ध के बाद इंग्लैण्ड यह समझ गया था कि भारत को अधीन रखना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं रहेगा। इस समय तक इंग्लैण्ड से भारत में आयात बहुत घट गया था। अंग्रेजों ने आर्थिक लाभ के लिए ही भारत पर आधिपत्य स्थापित किया था और अब आर्थिक लाभ के लिए ही उन्होंने भारत को छोड़ देना उपयुक्त समझा।

(7) **ब्रिटिश राज्य और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की देन**—ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत जाने-अनजाने में ऐसे कार्य हुए जो भारत की स्वतन्त्रता के लिए उत्तरदायी थे जैसे—प्रशासकीय एकता, यातायात और सदेशवाहन के साधनों का विकास, शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का विकास आदि। दूसरी ओर कांग्रेस ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी और पूर्ण सक्रिय बना दिया।

(8) **साम्यवाद का भय**—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए कांग्रेस के नेतृत्व में सफलता प्राप्त न होती देख जनता साम्यवाद की ओर झुकने लगी थी। यह स्थिति प्रजातन्त्र के लिए घातक थी और अंग्रेजों को भय हो गया था कि यदि सत्ता का हस्तान्तरण शीघ्र न किया गया तो भारत में साम्यवाद तेजी से पनप सकता है।

15 अगस्त, 1946 को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत के संविधान को पूर्ण करने और शरणार्थियों को बसाने का कार्य सम्पन्न किया गया। देश के सर्वतोमुखी विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का समारम्भ किया गया। अंग्रेज जाते समय अधिराज्यत्व (Paramountcy) केन्द्रीय सरकार को नहीं दे गए, अतः बहुत-सी देशी रियासतों ने स्वतन्त्र रहने की आकांक्षा से भारत की राजनीतिक एकता को संकट पैदा कर दिया। लेकिन तत्कालीन गृह-मन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने बड़ी चतुराई से उन्हें भारतीय संविधान को मानने के लिए राजी कर लिया। देशी रियासतों को भारतीय संघ में शामिल किया गया और देश की एकता की रक्षा की गई।

गांधीवादी युग के प्रमुख नेता

भारतीय राष्ट्रवाद का गांधीवादी युग तिलक की मृत्यु के बाद 1920 से प्रारम्भ होकर 1947 में भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति तक चला। इस युग के प्रमुख

राष्ट्रीय नेता थे—महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आजाद, राजगोपालाचारी आदि। इनमें महात्मा गांधी निश्चित रूप में सबसे प्रमुख थे जिनके नेतृत्व मे स्वाधीनता संग्राम लड़ा गया और जिनके अनुयायी सभी प्रमुख राष्ट्रीय नेता रहे।

महात्मा गांधी का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान
(Contribution of Gandhiji to National Movement)

1920 से *1947* तक के काल में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक जीवन के सभी पक्षों पर गांधीजी के महान् व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ी, अतः इस काल को 'गांधी युग' कहा जाता है।

मोहनदास कर्मचन्द गांधी (1869–1948) का जन्म काठियावाड के अन्तर्गत पोरबन्दर स्थान मे एक बहुत ही धार्मिक परिवार मे हुआ था। मैट्रिक पास करने के बाद कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए 1888 ई० में वे इग्लैण्ड गए और वहां से 1891 ई० मे भारत लौटने पर उन्होने वकालत शुरू की। 1893 ई० में वे एक गुजराती मुसलमान के मुकदमे की पैरवी करने के लिए दक्षिण अफ्रीका गए। वहां गए थे केवल एक वर्ष के लिए किन्तु रहे वहाँ 20 वर्ष। अफ्रीका मे उन्होंने उस अत्याचार को देखा जो वहाँ की गोरी सरकार प्रवासी भारतीयों पर रंग और जातिभेद के नाम पर कर रही थी। सन् 1893 से 1914 तक गांधीजी ने गोरी सरकार के विरुद्ध अहिंसात्मक लडाई लडी और सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया। सन् 1914 मे भारत लौटने पर बम्बई की जनता ने गाँधीजी को महात्मा की उपाधि से विभूषित किया। साबरमती मे उन्होंने एक आश्रम खोला, इसीलिए उन्हें 'साबरमती का सन्त' भी कहा जाता है। उन्होंने भारत में सर्वप्रथम सन् 1917 मे बिहार के चम्पारन जिले में अंग्रेजो द्वारा किसानो पर किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह किया और उन्हे सफलता प्राप्त हुई। तिलक के बाद सन् 1920 में कांग्रेस का नेतृत्व महात्मागांधी के हाथ मे आ गया। तब से लेकर मृत्यु-पर्यन्त वे राष्ट्रीय आन्दोलन के योद्धा, मार्गदर्शक, संयोजक सभी कुछ रहे। उन्होंने सन् 1921, 1930 और 1942 के महान् असहयोग आन्दोलनों का नेतृत्व कर भारतीयो मे क्रियाशीलता पैदा की। इस बीच कई राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए और अन्त मे 1947 ई० में भारत स्वाधीन भी हुआ। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा सहअस्तित्व के महान् समर्थक रहे। यह दुर्भाग्य ही था कि उनके अथक प्रयासों के बावजूद भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच विभेद की खाई गहरी होती गई जिसके परिणामस्वरूप भारत का विभाजन हुआ। महात्मा गांधी को इससे गहरा धक्का लगा। इस स्थिति में 30 जनवरी, 1948 ई० को नाथूराम गोडसे नामक एक व्यक्ति ने उन्हे बन्दूक की गोलियो से घायल कर दिया जिसके परिणामस्वरूप होठो पर ईश्वर का नाम लेते-लेते वे शहीद हो गए।

महात्मा गांधी ने अपने कार्यों मे भारत राष्ट्र के जन-जन के हृदय में स्थान पा लिया और भारतीय जनता ने उन्हें 'राष्ट्रपिता' के नाम से सम्बोधित किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन को उन्होने जन-आन्दोलन का रूप प्रदान किया। उनके आगमन से पहले उदारवादियों ने याचना-पद्धति द्वारा भारतीय जनता के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया, और लाल-बाल-पाल के समय तक भी राजनीति बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग तक ही सीमित रही। महात्मा गांधी ने पहली बार जन-जन को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ दिया। कूपलैण्ड के शब्दो मे "उन्होने वह काम किया, जो तिलक भी नही कर सके थे। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी ही नही, जनप्रिय भी बनाया। जो आन्दोलन नगरो के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, अब वह गाँवो की जनता तक पहुँच गया।"

महात्मा गांधी ने उदारवादियों और उग्रवादियो की राजनीतिक पद्धति की अपूर्णताओ को समझा और परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए 'अहिंसात्मक क्रान्ति' के मार्ग का प्रतिपादन किया। अपने अहिंसात्मक आन्दोलन के बल पर उन्होंने भारत की आजादी प्राप्त करने मे सफलता पायी। महात्मा गांधी का यह कार्य विश्व इतिहास के लिए एक नई चीज था। गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन के माध्यम से एक नवीन कार्यक्रम प्रदान किया जिसके आगे विदेशी हुकूमत को झुकना पडा। गांधी द्वारा सचालित राष्ट्रीय आन्दोलन ने सभी दिशाओ मे भारत को आगे बढाया। गांधीजी ने राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रो मे भी देश को बहुत कुछ दिया। उन्होने कई रचनात्मक कार्यक्रम चलाए —नारी उत्थान, गृह उद्योग का प्रचार नए चरखे चलाना, मद्य-निषेध आदि। अपने रचनात्मक कार्यक्रमो के आधार पर उन्होंने 'सर्वोदयी समाज' के विचार को आगे बढाया।

महात्मा गांधी ने साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता को मिटाने के लिए जो कुछ किया वह अभूतपूर्व था। इसी चेष्टा में उन्हें अपने जीवन की आहुति भी देनी पडी।

महात्मा गांधी ने राजनीति का आध्यात्मीकरण करके न केवल भारतीय समाज और सस्कृति की महानता को जीवित किया, बल्कि सम्पूर्ण मानवता की महान् सेवा की। उन्होने कहा कि धर्म के बिना राजनीति पाप है। मानव समाज मे अनेक कष्ट इसीलिए है कि राजनीति के क्षेत्र मे अनैतिकता का बोलबाला है। यदि राजनीति मे नैतिक मूल्यों का समावेश हो जाए तो मानव समाज की अनेक समस्याएँ अपने आप हल हो जाएँगी। भारतीय संस्कृति राजनीति को धर्म सयुक्त मानती है। प्राचीन भारतीय समाज मे राजनीति धर्म में समाविष्ट थी। दोनों एकाकार थे। लेकिन पश्चिम के प्रभाव से तथा पराधीनता की बेड़ियों के कारण यह स्थिति प्रायः समाप्त हो चुकी थी। महात्मा गांधी ने भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्श को पुनर्जीवित किया और एक बार फिर राजनीति व धर्म को मिलाकर एक कर दिया। देश के स्वाधीनता आन्दोलन को उन्होने एक सन्त की तरह चलाया। प्रेम और अहिंसा पर आधारित नैतिक शक्ति से उन्होंने

निरकुश विदेशी शासन का सामना किया और उसे विवश कर दिया कि वह भारत से हट जाए। राजनीति मे धर्म के समन्वय का उनका कार्य वास्तव मे आधुनिक पीड़ित मानवता को उनकी सबसे महान् देन है।

महात्मा गांधी वास्तव में महामानव थे और भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एक बड़ी सीमा तक उन्ही के कार्यों का लेखा-जोखा है। 30 जनवरी, 1948 को उनकी मृत्यु पर डॉ. स्टेनले जोन्स ने ठीक ही लिखा है—"हत्यारे ने गोलियाँ महात्मा गांधी तथा उनके विचारो का अन्त करने के लिए चलाई थीं, किन्तु फल यह हुआ कि वे विचार स्वच्छन्द हो गए और मानव जाति की धरोहर बन गए। मृत्यु मे वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलशाली हो गए।"



6

मुस्लिम साम्प्रदायिकता–उदय और विकास

(MUSLIM COMMUNALISM–ITS BIRTH AND GROWTH)

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में उदारवाद, उग्रवाद और आतंकवाद का प्रभाव विशेष रूप से प्रथम महायुद्ध के आस-पास तक रहा। गांधी-युग में ये प्रवृत्तियाँ विशिष्ट और प्राथमिक रूप में प्रभावी नहीं रहीं। लेकिन साम्प्रदायिकता की लहर सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन पर छाई रही। इस विष-लहर ने अन्त में देश का विभाजन किया और भारत माँ की छाती में ऐसा गहरा घाव किया जिसका इलाज सदियों तक सम्भव नहीं है। भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में अंग्रेजों ने कोई कसर नहीं रखी। सर्वप्रथम मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय हुआ और तब प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन भी अस्तित्व में आए। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को तीव्रतम रूप में उभारने और अखण्ड भारत के दो टुकड़े करके 1947 में पाकिस्तान का निर्माण करने में मुस्लिम लीग का निर्णायक हाथ रहा जिसकी स्थापना 1906 में हुई थी।

1858 के विद्रोह के बारे में अंग्रेजों का विश्वास था कि इस क्रान्ति में प्रमुख हाथ मुसलमानों का ही था। लगभग 1871 तक ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों के साथ विरोध और हिन्दुओं के साथ पक्षपात की नीति पर आचरण किया। लेकिन इसके बाद ब्रिटिश नीति में एक निश्चित परिवर्तन आया। हिन्दुओं ने अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति से पूरा लाभ उठाया और उनके हृदय में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विचार घर करने लगे। अतः जब अंग्रेजों ने मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति अपनाई, क्योंकि उन्हें डर लगा कि कहीं मुसलमानों पर भी राष्ट्रीयता का रंग न चढ़ जाए। ब्रिटिश सरकार की इस इच्छा-पूर्ति में सर्वाधिक सहयोग सर सैयद अहमद खाँ से मिला। अंग्रेजों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित कर हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालना आरम्भ कर दिया। मुस्लिम राजनीति में सर सैयद ने पदार्पण करके 'दो राष्ट्र सिद्धान्त' (Two Nation Theory) का प्रतिपादन किया। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद तो अंग्रेजों ने भारतीय

राष्ट्रीयता के प्रतिभार के रूप में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का सुविचारित ढंग से संगठन आरम्भ कर दिया। अंग्रेजों की प्रेरणा से 1873 में मुस्लिम एंग्लो-ओरियण्टल रक्षा-परिषद् की स्थापना हुई जिसका मूल उद्देश्य मुसलमानों को ब्रिटिश राज्य की स्वामिभक्त प्रजा बनाना था। इसके कुछ ही समय बाद ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से कांग्रेस के विरुद्ध एंग्लो-मुस्लिम डिफेन्स एसोसिएशन की स्थापना की गई। 1905 में बंगाल का विभाजन किया गया। बंगाल-विभाजन की योजना के मूल में भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच विभाजन की खाई खोदकर राष्ट्रीयता की उमड़ती हुई धारा को अवरुद्ध करने की नीति सक्रिय थी। ब्रिटिश प्रेरणा से ही दिसम्बर, 1906 में, मुस्लिम हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से, मुस्लिम लीग की स्थापना हुई।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता के जन्म के कारण

मुस्लिम साम्प्रदायिकता के उदय और फलस्वरूप मुस्लिम लीग के जन्म के मूल में अनेक कारण थे। अंग्रेज प्रशासकों और गैर-सरकारी अंग्रेज व्यक्तियों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित करने में योग दिया। सर सैयद अहमद खाँ, बेक और लॉर्ड मिण्टो की गतिविधियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण रहीं। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के उदय के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(1) मुसलमानों की अधोगति और उनमें असन्तोष की भावना—भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना से मुसलमानों की स्थिति पर गहरा कुठाराघात हुआ। देश से उनकी राजनीतिक प्रभुता सदा के लिए समाप्त हो गई। सरकारी नौकरियों और दस्तकारी के पतन ने उनकी आर्थिक हालत को भी बिगाड़ दिया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रति मुसलमानों में प्रारम्भ में अरुचि रही, अतः सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के क्षेत्र में वे हिन्दुओं से पिछड़े रहे। अपनी गिरती हुई स्थिति का अहसास करके मुसलमानों में असन्तोष की भावना घर करने लगी। प्रतिक्रिया स्वरूप उनमें राजनीतिक जागरूकता और हिन्दुओं के प्रति द्वेष का विकास हुआ और अन्त में उनकी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को सम्बल मिला।

(2) मुस्लिम सुधार आन्दोलन—बहावी आन्दोलन, अलीगढ़ आन्दोलन और अहमदिया आन्दोलन ने मुस्लिम धार्मिक कट्टरता और साम्प्रदायिकता को उभारा। इन विभिन्न आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय मुसलमानों में यद्यपि राजनीतिक जागृति फैली और उनकी शिक्षा में सुधार हुआ, लेकिन इन आन्दोलनों ने साम्प्रदायिकता की भावना को आगे बढ़ाया। इन आन्दोलनों ने अपने प्रचार में प्रारम्भिक इस्लाम और अरब के अतीतकालीन इतिहास का सहारा लिया। फलस्वरूप इससे न केवल भारतीयों और पश्चिमियों के बीच संघर्ष के बिन्दु उत्पन्न हुए, बल्कि हिन्दुओं और मुसलमानों में भी परस्पर फूट फैली क्योंकि इनमें से प्रत्येक अपने पृथक् आध्यात्मिक स्रोतों और अपनी पृथक् बौद्धिक शक्ति पर भरोसा करता था।[1]

1 डॉ ताराचन्द : 'भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास' दूसरा खण्ड, पृष्ठ 327

(3) **हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव**—19वीं सदी के हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों की प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों में भी धार्मिक जागृति की भावना को बल मिला। सुधार आन्दोलनों के अतिरिक्त तिलक के शिवाजी समारोह और गणपति महोत्सव को कट्टरतावादी मुसलमानों ने विपरीत अर्थों में लिया और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को कट्टर हिन्दू धार्मिकता के साथ सम्बद्ध कर दिया। हिन्दू धर्म-सुधार आन्दोलनों, उत्सवों और कार्यक्रमों से मुसलमानों में शंका के भावों को सम्बल मिला और उनकी साम्प्रदायिकता में उभार आया।

(4) **ब्रिटिश नीति में परिवर्तन : सर सैयद अहमद खाँ और बेक की भूमिका**—हिन्दू राष्ट्रवाद के उदय के साथ ही, विदेशी शासकों की नीति में परिवर्तन आया। मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ और प्रिन्सिपल बेक ने अंग्रेजों और मुसलमानों के मेल की दिशा में विशेष प्रयास किया। सर सैयद ने अपने मुसलमान साथियों को चेतावनी दी कि कांग्रेस ने भारतवर्ष में ब्रिटिश पद्धति के प्रतिनिध्यात्मक शासन की माँग की है। भारतवर्ष में प्रतिनिध्यात्मक शासन का अभिप्राय है बहुमत का शासन और बहुमत के शासन का अभिप्राय है हिन्दुओं का शासन। सर सैयद अहमद खाँ का तर्क था कि चूंकि हिन्दुओं का ही देश के अधिकतर भाग में बहुमत है, अतः वे ही सदैव सत्तारूढ रहेंगे और मुसलमानों को उनकी अधीनता सहनी पड़ेगी। साम्प्रदायिक वातावरण के निर्माण में प्रिन्सिपल बेक की विशेष भूमिका रही। सर सैयद के साम्प्रदायिक विचारों के पीछे थ्योडोर बेक ने एक प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य किया। बेक ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उकसाने और भारत की दो महान् जातियों में फूट डालने, फूट पैदा करने के लिए यहाँ तक कह दिया कि मुसलमान हिन्दुओं के बहुमत के अधीन हो जाएँ—इस स्थिति को मुसलमान कभी चुपचाप स्वीकार नहीं करेंगे। सर सैयद मुख्यतः बेक के प्रभाव से ही राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख हो गए। कांग्रेस से असहयोग करते हुए उन्होंने कांग्रेस के विरोध में एक प्रतिक्रियावादी संगठन की भी स्थापना की। उनके प्रभाव के अन्तर्गत 'सेण्ट्रल नेशनल मोहम्मडन एसोसिएशन' तथा 'मोहम्मडन लिटरेरी सोसाइटी' ने भी कांग्रेस से असहयोग किया। 1886 में सर सैयद ने 'मोहम्मडन एजूकेशन कांग्रेस' की स्थापना की जिसका उद्देश्य शिक्षित मुसलमानों को राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होने से रोकना था। 1883 में उन्होंने 'मोहम्मडन डिफेन्स एसोसिएशन ऑफ अपर इण्डिया' की स्थापना की। इस संगठन का उद्देश्य मुसलमानों को कांग्रेस का विरोध और अंग्रेजों से सहयोग करने की दिशा में प्रेरित करना था।

(5) **'फूट डालो और शासन करो' की नीति**—अंग्रेजों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति द्वारा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को हर प्रकार से बढ़ावा दिया। अशोक मेहता एवं अच्युत पटवर्द्धन ने लिखा है कि—"अपने विख्यात कौशल से, ब्रिटिश शासकों ने अपने को हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच रखकर एक साम्प्रदायिक त्रिकोण (Communal Triangle) के निर्माण का निश्चय किया जिसका वे आधार बनें।" 'फूट डालो और शासन करो' की नीति पर चलते हुए

अंग्रेजों ने सबसे पहले मुसलमानो को सेना मे उच्च पदो से वंचित करके उनका स्थान हिन्दुओं को दे दिया। सरकारी सेवाओ मे भी यही किया गया। कुछ अन्य क्षेत्रो में भी मुस्लिम विरोधी और हिन्दू-पक्षी नीति अपनाई गई। लेकिन 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से उनकी नीति मुस्लिम-पक्षी तथा हिन्दू-विरोधी हो गई। अब अंग्रेज मुसलमानो से सॉठ-गाँठ बढाने लगे और उन्हे साम्प्रदायिक आधार पर विशेप राजनीतिक अधिकार देने की बात करने लगे। विधानसभाओ में पृथक् प्रतिनिधित्व देकर मुस्लिम साम्प्रदायिकता की जड विधिवत् मजबूत बनाई गई।

(6) **पृथक् शिक्षण संस्थाओं की स्थापना**— भारत में नवजागरण के फलस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायो और जातियों के लोग अपनी पृथक् शिक्षण संस्थाएँ खोलने लगे। कुछ शिक्षण संस्थाओं की प्रकृति ऐसी थी जिससे साम्प्रदायिक भावना को प्रोत्साहन मिला। मुसलमानों ने देवबन्द में दारूल-उलूम खोला, आर्य समाजियों ने गुरुकुल स्थापित किए और सनातनियों ने ऋषि कुलो की नीव डाली। धार्मिक आधार पर ही अलीगढ़ मे मुस्लिम विश्वविद्यालय और बनारस मे हिन्दू विश्वविद्यालय का सूत्रपात हुआ। इन संस्थाओं ने विभिन्न सम्प्रदायों को निकट लाने की अपेक्षा एक दूसरे से पृथक् करने मे सहयोग दिया।

(7) **बंगाल का विभाजन** —लॉर्ड कर्जन की कुटिल नीति ने हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव को बढ़ाया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को तेजी से उभारने के लिए कर्जन ने बंगाल के विभाजन की योजना बनाई। उसने मुसलमानो मे यह प्रचार किया कि बगाल के विभाजन की योजना को मुस्लिम समाज के लाभ के लिए लागू किया गया है। डॉ. के. आर बम्बवाल ने ठीक ही लिखा है—"बगाल का विभाजन देशवासियो के विरुद्ध देशवासियो के सम-बल (Counterphase of natives against natives) के कार्यक्रम मे एक कदम था।

इन विभिन्न कारणों से मुस्लिम साम्प्रदायिकता के उदय और विकास को बल मिला। *गैर-सरकारी हस्तियो मे सर सैयद अहमद खाँ, अमीर अली, प्रिन्सिपल* बेक आदि की प्रमुख भूमिका रही और सरकारी हस्तियों मे लॉर्ड मिण्टो का योग उल्लेखनीय रहा।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता (1906–1916)

दिसम्बर, 1906 में मुस्लिम हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। अंग्रेज चाहते थे कि मुसलमानों की नई पीढी को कॉंग्रेस से अलग रखा जाए ताकि मुस्लिम हितों के नाम पर कॉंग्रेस की शक्ति पर अकुश रखा जा सके।

मुस्लिम शिष्टमण्डल, 1906 और पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग, लॉर्ड मिण्टो की भूमिका

1 अक्तूबर, 1906 को, छिपे तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के सकेतानुसार, मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल लॉर्ड मिण्टो से मिला जिसके नेता सर आगा खाँ थे।

मुस्लिम शिष्टमण्डल ने भारत के वायसराय के समक्ष एक स्मृति-पत्र पेश करके निम्नलिखित माँगे पेश की—

(1) मुसलमानो के लिए पृथक् चुनाव क्षेत्र की व्यवस्था हो।
(2) सुधार के बाद बने हुए विधान-मण्डलो मे मुसलमानों को उनकी आबादी से अधिक स्थान दिया जाए।
(3) सरकारी नौकरियाँ मुसलमानो को अधिक दी जाएँ।
(4) सरकारी विश्वविद्यालयो की स्थापना मे सरकारी सहायता दी जाए।
(5) यदि गवर्नर जनरल की कौंसिल में किसी भारतीय को नियुक्त किया जाए तो मुसलमानो के हितो का ध्यान रखा जाए।

लॉर्ड मिण्टो ने मुस्लिम शिष्टमण्डल की साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँगो को सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार भारतीय इतिहास में पहली बार साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को सरकारी स्तर पर स्वीकार कर साम्प्रदायिकता को खुला प्रोत्साहन दिया गया। लॉर्ड मिण्टो ने मुस्लिम शिष्टमण्डल को बलपूर्वक इस बात का आश्वासन दिया कि मुसलमानो के राजनीतिक हितो की अवश्यमेव रक्षा की जाएगी। उन्होंने कहा "आपका यह दावा न्याययुक्त है कि आपकी स्थिति का मूल्यांकन आपकी सख्या-शक्ति के आधार पर नही, अपितु आपकी जाति की राजनीतिक महत्ता और उस सेवा के आधार पर, जो उसने साम्राज्य के प्रति की है होना चाहिए। मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूँ।" लॉर्ड मिण्टो ने यह भी कहा—"मुझे आपकी भाँति इस बात का पूर्ण विश्वास है कि भारतवर्ष में चलाई गई कोई भी निर्वाचन-प्रणाली उपद्रवात्मक असफलता को प्राप्त होगी यदि वह इस महाद्वीप की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के विश्वासो और परम्पराओ की अवहेलना करके जनता को व्यक्तिगत निर्वाचनाधिकार प्रदान करेगी।"[1]

इस प्रकार एक 'सिखाया-पढाया तमाशा' (Command Performance) सम्पन्न हुआ। लॉर्ड मिण्टो कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी सस्था चाहते थे और उनकी कूटनीति सफल हुई। भारत सचिव लॉर्ड मार्ले ने मिण्टो के साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का विरोध किया, वह सयुक्त प्रतिनिधित्व के पक्ष मे थे। लेकिन लॉर्ड मिण्टो अपने विचारों पर अडिग रहा और भारत मे 'मुस्लिम साम्प्रदायिकता का जनक' (Father of Muslim Communalism) बन गया। मुस्लिम शिष्टमण्डल के समक्ष उसका भाषण 'मुसलमानों का अधिकार पत्र' (Charter of Islamic Rights) हो गया। भारत सचिव लॉर्ड मार्ले को अपनी इच्छा और विचारों के विपरीत लॉर्ड मिण्टो का प्रस्ताव मान लेना पड़ा और 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों मे साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् चुनावो की व्यवस्था का समावेश कर दिया गया। इसके बाद तो हिन्दू-मुसलमानो के बीच की खाई बढती ही गई और पृथक् चुनावो

1 जी. एन सिंह : 'भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास', पृष्ठ 208.

का परिणाम हुआ पृथक् राष्ट्रीयता की विचारधारा और अन्त मे देश का विभाजन और दो पृथक् राष्ट्रों की स्थापना ।[1]

मुस्लिम लीग की स्थापना, दिसम्बर 1906

शिमला मुस्लिम प्रतिनिधि मण्डल की सफलता से कट्टरवादी मुस्लिम समाज काफी उत्साहित हुआ । ब्रिटिश समर्थन से प्रोत्साहित होकर 30 दिसम्बर, 1906 को ढाका में मुस्लिम लीग की नीव रखी गई । यह भारतीय मुसलमानो का प्रथम *साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठन था । मुस्लिम लीग की स्थापना के उद्देश्य रखे गए*—

(1) भारतीय मुसलमानो में ब्रिटिश राज्य की तरह भक्ति उत्पन्न करना और यदि ब्रिटिश सरकार की नीति के बारे मे उनमे कोई गलत धारणा हो, तो उसे दूर करना ।

(2) मुसलमानों की माँगों को ब्रिटिश सरकार के सामने रखना और उनके हितों की रक्षा करना ।

(3) उपर्युक्त उद्देश्यों के विरुद्ध न जाते हुए मुसलमानो एवं अन्य जातियो मे यथासम्भव मेल-मिलाप पैदा करना ।

1908 में मुस्लिम लीग ने अमृतसर अधिवेशन में मुसलमानों को आबादी से अधिक स्थान विधान-मण्डलों मे दिए जाने की माँग की । यह माँग भी की गई कि प्रिवी-कौंसिल में यदि एक हिन्दू नियुक्त किया जाए तो मुसलमान भी अवश्य नियुक्त किया जाए तथा सरकारी नौकरियों में मुसलमानो को काफी प्रतिनिधित्व दिया जाए । 1909 के अधिवेशन मे मुस्लिम लीग ने पुनः इन्हीं माँगो को दोहराया और इंग्लैण्ड मे अपने शिष्टमण्डल भेजे । भारत के राष्ट्रवादी नेताओ ने साम्प्रदायिक प्रयत्नों का घोर विरोध किया, पर कोई फल नही निकला ।

1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की स्वीकृति

1909 के अधिनियम (मार्ले-मिण्टो सुधार) मे पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार करके भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में साम्प्रदायिक विष वृक्ष का बीजारोपण कर दिया गया । 1909 के अधिनियम के अन्तर्गत मुसलमानो और गैर-मुसलमानो की मताधिकार सम्बन्धी योग्यताओ मे भी बडा अन्तर रखा गया । उदाहरणार्थ 3000 रु. की वार्षिक आय पर कर देने वाले मुसलमान को मताधिकार प्राप्त था जबकि 3 लाख की आमदनी पर कर देने वाले किसी हिन्दू, पारसी या ईसाई को यह अधिकार नहीं था । इसी तरह वह प्रत्येक मुसलमान जिसे बी.ए. पास किए हुए 5 वर्ष हो गए है, मत दे सकता था जबकि अन्य जातियो के व्यक्ति, जिन्हें 30 वर्ष भी क्यो न हो गए हो, मतदान के अधिकारी नही थे । अधिनियम द्वारा प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध मे मुसलमानो को खास रियायतें दी गई । उन्हें

1 सुभाष काश्यप : वही, पृष्ठ 63.

केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान परिषदो में उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक सदस्यता प्रदान की गई। मुसलमानो को परिषदो मे उचित प्रतिनिधित्व देने के उद्देश्य मे ही अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का आरम्भ किया गया। *1909 के सुधारों ने भारत विभाजन के बीज बो दिए। मुसलमानों को पृथक्* निर्वाचन-प्रणाली दिए जाने से लगभग 6 करोड भारतीय शेष भारतीय जनता से पृथक् हो गए। आगा खाँ के शब्दो में—"लॉर्ड मिण्टो ने हमारी माँगों को स्वीकार करके एक ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात किया जो ब्रिटिश सरकार की भारत सम्बन्धी सॉविधानिक माँगों का आधार बनी रही और जिसके अनिवार्य परिणामो के रूप मे भारत का विभाजन और पाकिस्तान का जन्म हुआ।"

मुस्लिम लीग (1910–1916) : लखनऊ समझौता (1916)

1910 के पश्चात् लीग की प्रतिक्रियावादी नीति कुछ शिथिल पड़ गई। 12 दिसम्बर, 1911 ई को बंग-भंग का अन्त कर दिया गया। अंग्रेजों की नवयुवक तुर्की आन्दोलन को दबाने में सहायता की नीति से भारतीय मुसलमान अंग्रेजो के विरुद्ध हो गए। *अत. कुछ समय के लिए मुस्लिम लीग का उद्देश्य बदल कर* '**ब्रिटिश शासन-सत्ता के अन्तर्गत भारत के लिए उचित स्वशासन की प्राप्ति**' हो गया। 1914 के अधिवेशन में डॉ. अन्सारी तथा मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के प्रयत्नो के फलस्वरूप लीग व कांग्रेस में सहयोग की भावना दृढ हो गई। 1916 मे मि. जिन्ना के प्रयत्न से लीग और कांग्रेस मे लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) हो गया।

लखनऊ समझौते के अनुसार लीग ने कांग्रेस की स्वशासन की माँग को *स्वीकार कर लिया और कांग्रेस ने मुसलमानो के लिए पृथक् निर्वाचन प्रणाली तथा* गुरुभार पद्धति को स्वीकृति दे दी। लखनऊ समझौता भारतीय राष्ट्रीयता की बहुत बड़ी विजय थी जिसमें भारत की दो महान् जातियों ने और दो शक्तिशाली राजनीतिक संस्थाओं ने 'एक कार्यक्रम' अपनाया। नरम और उग्र पक्षों के परस्पर निकट आने से ब्रिटिश भारत की राजनीतिक दृष्टि से जगी हुई सारी जनता का प्रतिनिधित्व अपना रंग लाने लगा। लखनऊ समझौता बहुत ही महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इसके फलस्वरूप भारत की दो बडी राजनीतिक शक्तियों मे गठबन्धन हो गया। लेकिन यह मानना होगा कि कुल मिलाकर यह समझौता लीग की विजय का सूचक था क्योंकि लीग के साथ गठबन्धन करने की लालसा मे कांग्रेस ने जिन सिद्धान्तो (प्रजातन्त्र, संयुक्त निर्वाचन प्रणाली और धर्म-निरपेक्षता) का बलिदान दिया वह देश को बहुत महँगा पड़ा। वास्तव में पाकिस्तान की नीव के तत्त्वों को इस समझौते में देखा जा सकता है। कांग्रेस ने इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँग को स्वीकार करके राष्ट्रीयता की बहुमूल्य आहुति दी। कांग्रेस ने मुसलमानों को जो रियायतें दी ब्रिटिश सरकार ने उन्हें मॉटफोर्ड सुधारो का आधार बना लिया परन्तु लखनऊ पैक्ट मे भारत के लिए डोमिनियनों की तरह की जिस परिस्थिति की माँग की गई थी उसकी ओर सरकार ने कोई ध्यान नही दिया।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता अथवा मुस्लिम लीग के कार्यकलाप (1917–1929)

आँशिक रूप में 1916 के इस समझौते और आँशिक रूप में खिलाफत आन्दोलन के लिए कांग्रेस की सहायता के कारण, 1920–22 के असहयोग आन्दोलन के दौरान दोनों सम्प्रदायों के बीच सहयोग चलता रहा, लेकिन यह एकता शीघ्र ही अस्थायी सिद्ध हो गई। इसी बीच 1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार करके अंग्रेजो ने साम्प्रदायिकता को बढावा देने में कोई कसर नही रखी। इस अधिनियम द्वारा मुसलमानो के लिए प्रचलित साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति को बनाए रखा गया, पंजाब के सिक्खो के लिए साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की व्यवस्था की गई, बम्बई के मरहठो और मद्रास के गैर ब्राह्मणों के लिए बहुल सदस्य चुनाव क्षेत्र में कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गई तथा अन्य हितों एवं वर्गो को प्रतिनिधित्व देने के लिए विशेष चुनाव पद्धति जारी की गई। वास्तव मे यह सब कुछ राष्ट्रीय एकता के प्रतिकूल था। साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति के विस्तार से भारतीयो के पारस्परिक भेदभाव पूर्वापेक्षा अधिक तीव्र हो गए और राष्ट्रीय शक्ति क्षीण होने लगी।

अगस्त-सितम्बर, 1921 मे ही कांग्रेस लीग मे सहयोग के सूत्र ढीले पडते नजर आने लगे। वास्तव मे 1916–22 के कांग्रेस लीग सहयोग काल मे भी उनकी एकता बनावटी ही अधिक थी। 1916 के लखनऊ समझौते से कांग्रेस और मुस्लिम लीग का विलयन (Fusion) नही हुआ था, वरन् दोनो ने अपने-अपने पृथक् संगठन को बनाए रखकर अपना पृथक् अस्तित्व कायम रखा था। खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद के वर्ष भारत के लिए बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण थे क्योंकि इन वर्षो मे साम्प्रदायिक विद्वेष की आग ने भयावह रूप धारण किया। साम्प्रदायिक दंगों का आरम्भ 1921 के मोपला-विद्रोह से हुआ। 1922 से लेकर 1927 तक हिन्दू मुस्लिम उपद्रवों ने इतना भयावह रूप धारण कर लिया कि दोनों महान् जातियों की एकता का प्रायः अन्त हो गया।

इन साम्प्रदायिक दंगों का तात्कालिक कारण बहुत ही तुच्छ थे। जैसा कि श्री बम्बवाल ने लिखा है—"कभी गोवध का सवाल मतभेद उत्पन्न कराके झगड़े करवाता था और कभी दशहरे के जुलूस के अवसर पर मस्जिद के सामने बाजे का प्रश्न। लेकिन ये तो उपद्रवों के ऊपरी कारण थे, असली कारण कुछ गहरे थे। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों मे—भारतवर्ष मे साम्प्रदायिकता यथार्थ साम्प्रदायिकता नही थी, यह साम्प्रदायिक नकाब के पीछे छिपी हुई राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया थी। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति का अभिप्राय कांग्रेस-लीग मैत्री की समाप्ति था। शनैः-शनैः मुस्लिम लीग प्रतिगामी नेतृत्व की अधीनता मे चली गई और मुसलमानो के बीच, हिन्दू राज का हौवा दिखा-दिखाकर अपनी जड़ें मजबूत करनी आरम्भ कर दी। हिन्दुओ के बीच भी साम्प्रदायिक भावनाओ ने उग्र रूप धारण कर लिया। तथाकथित मुस्लिम आधिपत्य के विरुद्ध हिन्दुओ के अधिकारों

की रक्षा करने के लिए हिन्दू महासभा का संगठन किया गया। सच तो यह है कि ये दोनों ही संस्थाएँ न्यस्त स्वार्थों के नियन्त्रण में थी। ये न्यस्त स्वार्थ अपने पारम्परिक विरोध को प्रचण्ड और विषमय साम्प्रदायिक प्रचार में छिपाए रखते थे। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के बीच इन प्रतिगामी तत्वों को निस्पन्द ही पड़ा रहने के लिए बाध्य कर दिया गया था। अब वे अपने सन्यास से समुदित हुए। बहुत से दूसरे गुप्त एजेंटों और लोगों ने जो कि साम्प्रदायिक भेदभाव की सृष्टि कर अधिकारियों को प्रसन्न करना चाहते थे, इसी परम्परा पर काम किया।"

दोनों कौमों में सद्भाव लाने का दिखावा करने और लीग को लोकप्रिय बनाने के लिए मार्च, 1927 में प्रमुख मुस्लिम नेताओं का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव किए गए—

(1) सिन्ध को एक अलग प्रान्त बना दिया जाए।

(2) उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा बिलोचिस्तान की स्थिति अन्य प्रान्तों के समान की जाए।

(3) पंजाब को एवं बंगाल में मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाए।

(4) केन्द्रीय विधान-मण्डल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व एक तिहाई हो।

कांग्रेस ने मुस्लिम सम्मेलन के इन प्रस्तावों से अपनी सहमति प्रकट की और दूसरी ओर मुस्लिम लीग ने कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस के साथ सहयोग करने का निश्चय किया। लेकिन मुस्लिम लीग का एक गुट कांग्रेस के साथ सहयोग करने के पक्ष में नहीं था अतः उसने लाहौर में अपना एक अलग अधिवेशन किया। मुस्लिम लीग में साइमन कमीशन तथा संयुक्त निर्वाचन के प्रश्न पर फूट पड़ गई। लीग के एक गुट ने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय किया तो दूसरा गुट कमीशन के सहयोग करने का पक्षपाती था। वास्तव में लीग में फूट पड़ने का मुख्य कारण भी ब्रिटिश सरकार की ही नीति थी। विदेशी शासक चाहते थे कि कांग्रेस और लीग किसी भी प्रकार 'संयुक्त कार्यवाही' न कर सकें।

1928 में नेहरू रिपोर्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन और गुरुभार को अस्वीकृत कर दिया गया। 1928 के लखनऊ सर्वदलीय सम्मेलन में तो नेहरू रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई, किन्तु बाद में मतभेद उठ खड़े हुए और सरकार ने मुसलमानों को फोड़ने का सफल प्रयत्न किया। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया किन्तु पृथकतावादी तत्वों ने इसका पूर्ण विरोध। पृथक्तावादी तत्वों का नेतृत्व मोहम्मद शफी के हाथों में था, उन्हीं के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का लाहौर में अधिवेशन हुआ। जिन्ना ने, जिनके सभापतित्व में कलकत्ता में लीग का अधिवेशन हुआ था, इंग्लैण्ड से लौटकर शफी दल का समझौता कर लिया। इस प्रकार पृथकतावादी तत्व काफी प्रभावशाली हो गया। 1929 के दिल्ली में लीग के एक विशेष अधिवेशन में जिन्ना साहब ने अपनी चौदह शर्तों वाला कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इन शर्तों ने मुसलमानों की माँग का रूप धारण कर लिया। मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) में इन्हें पूर्ण स्थान दिया गया।

को जोर-शोर से उभारना शुरू कर दिया। जिन्ना किस प्रकार साम्प्रदायिकता का विष उगलते थे इसका एक उदाहरण उनके वे शब्द हैं जो उन्होंने 1937 में लखनऊ के अधिवेशन मे भाषण देते हुए कहा—"अब हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होगी और वन्देमातरम राष्ट्रीय गीत होगा। कांग्रेस के झण्डे को प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा और उसका आदर करना पड़ेगा। जो थोड़ी सी शक्ति और उत्तरदायित्व उनके हाथ में आया है, उसके प्रारम्भ में ही इन बहुमत वालों ने अपनी यह करामात दिखा दी है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिए है।"

पाकिस्तान की माँग

यह वह समय था जब द्वितीय महायुद्ध के बादल अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर छाए जा रहे थे। मुहम्मद अली जिन्ना ने बड़ी चालाकी से काम लेते हुए वायसराय के साथ खूब सौदेबाजी की। युद्ध प्रयासो मे सरकार की सहायता करने के लिए लीग की ओर से दो शर्तें रखी गईं—'एक तो यह कि कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों मे मुसलमानों के साथ न्याय हो और दूसरी यह है कि भारत के लिए कोई भावी सविधान मुस्लिम लीग की अनुमति के बिना न बनाया जाए।" अब तक मुस्लिम पृथकतावादियों ने अपनी मांगो को पृथक् निर्वाचक-मण्डलो, गुरुभार और आरक्षणों तक ही सीमित रखा था, लेकिन 1938 मे हिन्दू और मुस्लिम दो राष्ट्रो का सिद्धान्त सामने आया। मुस्लिम लीग ने यह दावा करना आरम्भ कर दिया कि भारतीय मुसलमान एक 'समुदाय' नहीं, प्रत्युत् एक 'राष्ट्र' है और इसलिए उन्हे राजनीतिक आत्म निर्णय का अधिकार है।

3 सितम्बर, 1939 को द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने अक्टूबर, 1939 में त्यागपत्र दे दिए। मुस्लिम लीग इस घटना से बड़ी प्रसन्न हुई। लीग ने मुसलमानो को 'मुक्ति दिवस' मनाने का आह्वान किया। जिन्ना ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि सारे भारत में मुसलमान 22 दिसम्बर, 1939 को मुक्ति दिवस मनाएँ—इस अभिप्राय से कि अन्ततः कांग्रेसी शासन का अन्त हुआ और उन्हें जीवन मिला।" वायसराय के साथ बार-बार भेंट और साँठ-गाँठ के समाचारों के बीच अगस्त, 1940 में मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पास किया तथा मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों का एक अलग पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न मुस्लिम राज्य स्थापित किए जाने की माँग पेश की जिसमें 'भारत के उत्तर-पश्चिम और पूर्व क्षेत्र' जैसे मुस्लिम बहुल क्षेत्र सम्मिलित होते। उल्लेखनीय है कि भारत के मुसलमानों के लिए पृथक् राज्य का विचार सबसे पहले डॉ० मुहम्मद इकबाल ने 1930 मे इलाहाबाद मे मुस्लिम लीग के एक विशेष अधिवेशन मे प्रगट किया था। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण मे उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना की योजना प्रतिपादित की थी। लेकिन उस समय क्योंकि लोगों ने इसे दार्शनिक की कल्पना का एक चित्र समझा, अतः उनके संकेत पर विशेष ध्यान न दिया गया।

1941 मे मद्रास अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए जिन्ना ने घोषणा की, "मुस्लिम लीग के उद्देश्य उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्व प्रदेशों मे स्वतन्त्र

राज्य की स्थापना है। हम किसी भी दशा मे ऐसा कोई संविधान स्वीकार करने के लिए तैयार नही हैं जो सम्पूर्ण भारत के लिए एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना करता है।" मुस्लिम लीग का अब स्पष्ट उद्देश्य 'पाकिस्तान' की प्राप्ति था। पृथक् मुस्लिम राज्य (पाकिस्तान) की माँग की पूर्ति के लिए जिन्ना ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह ढिंढोरा पीटना शुरू कर दिया कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं को एक स्वतन्त्र राज्य के अन्तर्गत बलात रखना अनुचित है। भारत के मुसलमानों का केवल अल्पमत ही नही बल्कि पृथक् राष्ट्र भी है और उनकी संस्कृति तथा सभ्यता एवं आकांक्षाएँ भिन्न हैं।

1942 से 1947 तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता और भारत का विभाजन

1942 मे कांग्रेस द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया गया तो मुस्लिम लीग ने इस आन्दोलन के प्रति अपनी कोई सहानुभूति प्रगट नहीं की। 1942 से 1944 तक कांग्रेस के लगभग सभी नेता जेल में थे, अतः उनकी अनुपस्थिति का मुस्लिम लीग ने भरपूर लाभ उठाया और मुसलमानों ने कांग्रेस को एक कट्टर हिन्दू संस्था बताया और कहा कि यह भारत मे हिन्दू राज्य कायम करना चाहती है।

लीग ने पाकिस्तान की स्थापना के लिए धुँआधार प्रचार किया, 1946 के प्रान्तरिक चुनावों मे मुस्लिम लीग को 1937 के चुनावों की तुलना में बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई। चुनावों से स्पष्ट हो गया है कि कांग्रेस और लीग दो ही बड़ी राजनीतिक संस्थाएँ भारत में है जो क्रमशः हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती हैं। चुनाव में अपनी असफलता से प्रेरित होकर लीग ने पाकिस्तान की स्थापना के लिए जबर्दस्त आन्दोलन छेड़ दिया। लीग ने आगे की नीति अपनाते हुए अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया और 27–29 जुलाई को लीग की परिषद् ने 'स्वतन्त्र, पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' पाकिस्तान राज्य की स्थापना के लिए 'सीधी कार्यवाही' (Direct Action) की धमकी दी। 16 अगस्त, सीधी कार्यवाही शुरू करने की तारीख तय हुई। सीधी कार्यवाही का उद्देश्य था कि हिन्दुओं की मार-काट कर, साम्प्रदायिक दंगों और आतंक का वातावरण फैलाकर यह सिद्ध करना था कि हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ नही रह सकते है और देश के विभाजन के अतिरिक्त और दूसरा रास्ता है ही नहीं। 16 अगस्त से भीषण साम्प्रदायिक दगों, लूटपाट और हत्याकाण्ड की आग सारे देश में फैल गई और एक वर्ष से भी अधिक समय तक दानवता का नंगा नाच होता रहा।

परिस्थितियों से विवश होकर कांग्रेस ने देश का विभाजन करना स्वीकार कर लिया। गाँधीजी अन्त तक विभाजन करना स्वीकार करने के विरुद्ध रहे। उन्होंने यहाँ तक कहा कि "यदि सारा भारत भी आग की लपटों मे घिर जाए फिर भी पाकिस्तान नही बन सकेगा अथवा भारत का विभाजन मेरे शव पर ही हो सकेगा।" पर आखिर जो होना था सो होकर रहा। 3 जून, 1947 को ब्रिटिश

सरकार ने एक नीति सम्बन्धी वक्तव्य दिया जिसमें दी गई योजना (माउण्टबेटन योजना) में भारत के विभाजन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया गया। योजना पर जो अमल हुआ उसके अनुसार पंजाब के पश्चिमी और बंगाल के पूर्वी जिलों, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, सिन्ध और बिलोचिस्तान ने पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निर्णय किया। अन्तिम परिणामस्वरूप माउण्टबेटन योजना के आधार पर ब्रिटिश संसद् ने 18 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 पास किया जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 से भारत और पाकिस्तान नामक दो डोमिनियनों की स्थापना हो गई। टुकड़ों में विभक्त होकर भारत स्वतन्त्र हो गया, लेकिन ब्रिटिश कूटनीति ने साम्प्रदायिकता का जो विशाल वटवृक्ष तैयार कर दिया था वह आज भी भारत को पीड़ित कर रहा है।

द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त
(Two Nation Theory)

पाकिस्तान के नाम पर सैद्धान्तिक आधार 'द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त' (Two Nation Theory) था। इस सम्बन्ध में 1936 के लीग के बम्बई अधिवेशन में अध्यक्ष सर वाजिद हुसैन ने कहा था कि "इस विशाल महादेश के हिन्दू और मुसलमान दो जातियाँ नहीं वरन् कई माइने में दो राष्ट्र हैं।"

डॉ. इकबाल के विचार—भारत के मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य का विचार सबसे पहले डॉ. मुहम्मद इकबाल ने 1930 में प्रकट किया था। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना की योजना प्रतिपादित की। प्रारम्भ में इकबाल ने स्वयं को राष्ट्रीयता की भावना में ओत-प्रोत विचारक के रूप में प्रस्तुत किया। लेकिन आगे चलकर वे अपने प्रतिक्रियावादी रूप को छिपा नहीं सके। इकबाल का विचार था कि भारतीय मुसलमानों का भविष्य इसी में है कि वे अपने लिए पृथक् राज्य का निर्माण करें। अपने 20 मार्च, 1937 के पत्र में हक-नाल जिन्ना पर इस बात के लिए दबाव डालने का प्रयत्न किया कि जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम सम्पर्क योजना का उचित उत्तर दें और एक पृथक् एवं निश्चित राजनीतिक इकाई के रूप में भारतीय मुसलमानों के उद्देश्यों को स्पष्ट करें।[1] 28 मई, 1937 को अपने एक पत्र में उन्होंने जिन्ना को पुनः लिखा था कि यह आवश्यक है कि भारत का नए सिरे से विभाजन हो और एक या एक से अधिक ऐसे राज्य स्थापित किए जाएँ जहाँ मुसलमानों का पूर्ण बहुमत हो। क्या आप अनुभव नहीं करते हैं कि इस प्रकार की माँग प्रस्तुत करने का समय आ चुका है।

इकबाल ने इस्लामी राज्य के निर्माण की जो माँग की उस पर उस समय तो विशेष ध्यान नहीं दिया गया लेकिन आगे चलकर यही माँग पाकिस्तान के निर्माण का आधार बनी। वास्तव में इकबाल का महत्त्व इस बात में था कि उन्होंने भारतीय

1 एम. एस जैन : वही, पृ. 126.

अनुसन्धानों के लक्ष्यों को एक निश्चित एवं विशिष्ट उद्देश्य पर केन्द्रित कर दिया एव उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा अंग्रेजी राज्य के अधीन एक स्वायत्तता प्राप्त-राज्य का विकल्प रखा। इकबाल ने सर्वप्रथम उत्तर-पश्चिमी भारत के मुसलमानों के लिए एक पृथक् एव स्वतन्त्र राज्य की कल्पना की जिसके स्वरूप को आवश्यकता और बदली हुई परिस्थिति के अनुसार ढाला जा सकता था। इस मांग को पाकिस्तान की मांग का आधार इसलिए कहा जाता है कि जिन आधारों पर इस राज्य की कल्पना की गई थी तथा जिस मिल्लत के हितों की सुरक्षा के लिए इसका औचित्य बताया गया था वे तर्क ही आगे चलकर देश-विभाजन के लिए उत्तरदायी हुए।'

जिन्ना द्वारा सिद्धान्त का विकास—जिन्ना ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त को पूर्ण विकसित किया। वास्तव में मुसलमानों की पाकिस्तान की मांग और द्विराष्ट्र सिद्धान्त का 1937 और 1940 के बीच विकास हुआ। जिन्ना 1940 के आते-जाते सर इकबाल द्वारा सुझाई गई भारत-विभाजन-योजना की व्यावहारिकता अनुभव करने लगे और शीघ्र ही 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' तथा 'पाकिस्तान की मांग' के मुख्य समर्थक बन गए। जिन्ना के नेतृत्व में लीग द्वारा पाकिस्तान की मांग का आधार द्विराष्ट्र-सिद्धान्त ही था जिसे जिन्ना ने लीग के लाहौर अधिवेशन, 1940 में निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया—

"ये हिन्दू धर्म और इस्लाम शाब्दिक अर्थ में धर्म नहीं हैं प्रत्युत ये दो पृथक् और स्पष्ट सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। हिन्दू और मुसलमान कभी एक संयुक्त राष्ट्र के रूप मे हो सकते है, यह कोरा स्वप्न है। हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक सिद्धान्त, सामाजिक रीति-रिवाज, दर्शन और साहित्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। उनका परस्पर रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः दोनों की परस्पर विरोधी भावनाओं पर आधारित सभ्यताएँ पृथक्-पृथक् हैं। जीवन पर दोनों भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। दोनों के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोणों में अन्तर है। यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक आधारों से प्रेरणा मिलती है। उनकी पुरातन गाथाएँ, उनके वीर और उन वीरों की कहानियां पृथक्-पृथक् हैं। प्रायः एक का वीर दूसरे का शत्रु माना गया है और एक की विजय दूसरे की पराजय। ऐसे दो राष्ट्रों को एक राज्य में गूंथने का प्रयत्न अवश्य असन्तोष उत्पन्न करेगा और उस शासन-व्यवस्था का अन्त करके छोड़ेगा जो ऐसा राज्य चलाने का प्रयत्न करेगी।"[1]

द्विराष्ट्र सिद्धान्त में उन सबको, जो भारत को दो पृथक् एक हिन्दू और एक मुस्लिम राज्य के रूप में विभाजन के समर्थक थे, एक नया आधार दिया।[2] अलीगढ़ के मुहम्मद अफ़ज़ल हुसैन कादरी और प्रोफेसर जफरूल हुसैन ने यह दावा किया कि भारत के मुसलमान स्वतः एक राष्ट्र हैं। हिन्दुओं तथा अन्य गैर-मुसलमानी दलों से उनका राष्ट्रीय अस्तित्व सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः सूडेटान जर्मन और चेकों में

1 सुभाष काश्यप : वही, पृ. 169.
2 के. आर. बम्वाल : भारतीय राजनीति और शासन, पृ. 330.

जितना पार्थक्य था, उससे कहीं अधिक पार्थक्य हिन्दुओं और मुसलमानों में है। अल हमजा ने कहा कि भारत एक देश नहीं है, उसमें कई देश हैं और इसलिए उसे कई राष्ट्रों में विभक्त समझना चाहिए।[1]

सिद्धान्त की दुर्बलता—द्विराष्ट्र सिद्धान्त का आधार धर्म था। यह इस बात को लेकर चला था कि धर्म की भिन्नता ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों का एक राष्ट्र के रूप में संगठित होना असम्भव बना दिया है। यह धारणा वास्तव में निराधार थी। राष्ट्रीयता वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति है, यह पारस्परिक एकानुभूति की भावना है। इस एकानुभूति की भावना को जन्म देने वाले कई तत्त्व हैं, धर्म तो उनमें से केवल एक है। भौगोलिक और प्रजातीय तत्त्व, राष्ट्रीय भावना की वृद्धि, सामान्य भाषा और संस्कृति, सामान्य इतिहास और परम्पराएँ आदि तत्त्व भी करते हैं। जहाँ तक भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्बन्ध है, इनमें से अधिकांश तत्त्व उपस्थित हैं।[2]

1971 में बंगला देश के निर्माण ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त की तर्कहीनता को स्पष्ट कर दिया है, बल्कि यूँ कहिए कि दफना दिया है। भारत में धार्मिक भिन्नता के बावजूद जातियों में जो अनेक समान तत्त्व विद्यमान हैं। उन्हें ध्यान में रखते हुए डॉ० बेनीप्रसाद ने ठीक ही कहा है—"संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं जिसे समुद्र तथा पहाड़ों के कारण भारत जैसा अखण्ड रूप प्राप्त हो।"

द्विराष्ट्र सिद्धान्त एक राजनीतिक मूर्खता थी जिसमें मुसलमानों में यह भावना पैदा की गई कि हिन्दुओं से उनका अस्तित्व पृथक् है। इस सिद्धान्त की दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए श्री बम्वाल ने लिखा है—"द्विराष्ट्र सिद्धान्त एक राजनीतिक मूर्खता थी। लेकिन दुर्भाग्यवश राजनीति के क्षेत्र में वे राजनीतिज्ञ और प्रत्येक मूल्य पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए कृतनिश्चय होते हैं, मूर्खताओं का अत्यन्त बुद्धिमत्ता से उपयोग करते हैं। भारतवर्ष में यही हुआ। भारतवर्ष में सांस्कृतिक समन्वय की साधना शताब्दियों से चली आ रही थी, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने उसमें बाधा पहुँचाई और फिर उसके मित्रों सम्प्रदायवादियों ने उनके विकास का पथ अवरुद्ध किया। द्विराष्ट्र सिद्धान्त, जो इस समन्वय-साधना की सम्भावना का ही निषेध करता था, साम्राज्यवादियों और सम्प्रदायवादियों की अभिसन्धि का नैसर्गिक निष्कर्ष था। राष्ट्रीयता मुख्य रूप से भावना का एक मामला है, मानस की एक स्थिति है, शताब्दियों के सामान्य जीवन द्वारा निर्मित सहयोग की एक अनुभूति है, उसे तर्कविहीन परन्तु अनवरत भावुक अपीलों द्वारा विभ्रष्ट किया जा सकता है। भारतवर्ष जैसे देश के बारे में, जहाँ की अशिक्षित जनता को चतुर और कृतसंकल्प प्रचार द्वारा सुगमतापूर्वक धोखे में डाला जा सकता है, यह विशेष रूप से सत्य है। मुस्लिम लीग के नेताओं ने मुस्लिम जनता की अशिक्षा और धार्मिक भावनाओं का पूरा लाभ उठाया और दुर्भाग्यवश उसमें एक पृथक्

1 राजेन्द्रप्रसाद द्वारा उद्धृत : खण्डित भारत, पृ 2.
2 के. आर. बम्वाल : वही, पृ. 331.

राष्ट्रवाद की चेतना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। कोई आश्चर्य नहीं कि पाकिस्तान के नारे ने अधिकांश मुस्लिम जनता का सोत्साह समर्थन प्राप्त किया।"

पाकिस्तान की मांग करने वालों ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त के विरुद्ध एक शक्तिशाली तर्क की उपेक्षा कर दी। यदि भारत के हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं, तो फिर पाकिस्तान की स्थापना होने के पश्चात् उन मुसलमानों का क्या होगा, जो भारत में बच रहेंगे? क्या वे भारत में विदेशियों की तरह रहेंगे? पाकिस्तान में अमुस्लिम का क्या होगा? स्पष्ट है कि दोनों ही राज्यों में शक्तिशाली राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग शेष रहेंगे? लेकिन डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में "राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग दोनों में परस्पर विरोध है।"

जो भी हो, तत्कालीन परिस्थितियों में द्विराष्ट्र सिद्धान्त सफल सिद्ध हुआ और अगस्त, 1947 में अखण्ड भारत के दो टुकड़े हो गए और पाकिस्तान-निर्माण के साथ जिन्ना का स्वप्न साकार हुआ। भारत की साम्प्रदायिक समस्या का प्रादुर्भाव, पोषण और विस्तार ब्रिटिश शासकों ने बड़ी कूटनीति के साथ किया और ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने में पूरी सहायता की जिससे विभाजन अनिवार्य हो गया।



7 भारत परिषद् अधिनियम, 1909

(INDIA COUNCIL ACT, 1909)

लॉर्ड कर्जन के बाद लॉर्ड मिण्टो गवर्नर जनरल बनकर भारत आया और इग्लैण्ड में जॉन मार्ले ने भारत सचिव का पद सम्भाला, उस समय सारे देश में राजनीतिक अशान्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। लॉर्ड मिण्टो ने समझ लिया कि इस राजनीतिक अशान्ति और बढ़ते हुए उग्रवाद तथा आतंकवाद के प्रवाह को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार कुछ कदम उठाए। 1892 के अधिनियम से भारतीय जनता को कोई सन्तोष नहीं हो सका था।

1908 का अन्त होते-होते ब्रिटिश सरकार भी लॉर्ड मिण्टो के इस विचार से सहमत हो गई कि भारत तत्कालीन राजनीति को विस्फोटक बनने से रोकने के लिए विधान-परिषदों में प्रतिनिधिक तत्त्वों को बढ़ावा जाए। अतः फरवरी, 1909 में एक और भारतीय परिषद् विधेयक -इण्डियन कौंसिल बिल 1909—संसद में प्रस्तुत किया गया जो 15 नवम्बर, 1909 को 'भारतीय परिषद् अधिनियम 1909' के रूप सामने आया। इस अधिनियम को मिण्टो-मार्ले-सुधार (Minto-Morley-Reforms) भी कहा जाता है।

अधिनियम के पारित होने के कारण

ब्रिटिश सरकार ने इस अधिनियम को पूर्णतया स्वेच्छा से पारित नहीं किया। कुछ परिस्थितियाँ एक के बाद एक या संयुक्त रूप से उठ खड़ी हुई कि ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकार का अधिनियम पास करके उनका कूटनीतिक ढंग से मुकाबला करना उचित समझा—

1. भारतीय जनमत 1892 के अधिनियम से बहुत असन्तुष्ट था जिसमें उन्हें कोई वास्तविक अधिकार नहीं दिए गए थे। निर्वाचित सदस्यों की संख्या विधान-परिषदों में बहुत थोड़ी थी एवं परिषदों के सदस्यों का बजट तथा कार्यकारिणी पर कोई नियन्त्रण नहीं था।

2. 19वीं शताब्दी के अन्तिम पाँच वर्षों में भारतीयों को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने प्लेग एवं दुर्भिक्ष के प्रतिकार के लिए

बहुत ही शिथिल और धीमी कार्यवाही की। अतः लोगो में सन्देह फैल गया कि सरकार द्वारा प्लेग की बीमारी भारतीय राष्ट्रवाद को दबाने के लिए फैलाई गई है।

3. स्वेच्छाचारी और अहंकारी गवर्नर जनरल लॉर्ड कर्जन ने भारतीयों की भावनाओं को समझने की तनिक भी परवाह नहीं की। उसने अप्रेल, 1900 के कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट द्वारा कलकत्ता कार्पोरेशन की स्थानीय स्वतन्त्रता को कुचल डाला और कार्पोरेशन की कार्यकारिणी को स्वतन्त्र बना दिया। साथ ही 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट द्वारा विश्वविद्यालयों की अन्दरूनी स्वतन्त्रता समाप्त कर दी। यही नहीं, कर्जन ने बंगाल के विभाजन जैसा निन्दनीय कदम उठाया। कर्जन के कार्यों का वास्तविक उद्देश्य भारतीय एकता व राष्ट्रीय भावना को कुचलना था। उसने भारतीयों के नैतिक-स्तर तक की अपमानजनक आलोचना की। परिणामस्वरूप देश में असाधारण हलचल मच गई और जन-साधारण मे जातीयता की भावना प्रचण्ड हो उठी। बंग-भंग विरोधी आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत को अपनी लपेट मे ले लिया। इस विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को बाध्य कर दिया कि वह भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिए शीघ्र ही कोई कदम उठाए।

4. सन् 1905 में जापान के हाथों रूस की पराजय ने सिद्ध कर दिया कि राष्ट्र-प्रेम, देश-भक्ति और आत्म-बलिदान की भावना से परिपूर्ण एशिया का कोई भी देश जापान की तरह महान् और शक्तिशाली बन सकता है। इस घटना ने भारत के राजनीतिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव डाला। भारतीयों में एक नई चेतना उत्पन्न हुई और लोग सोचने लगे कि भारत को पुनः एक महान् शक्ति बनाना चाहिए। ब्रिटिश सरकार भारतीयों की इस महत्त्वाकांक्षी भावना से सचेत हो गई।

5. विदेशों मे भारतीयों से दुर्व्यवहार के कारण जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि राष्ट्रीय सरकार होती तो भारतीयों को विदेशों में अपमान का सामना न करना पड़ता। तिलक जैसे नेता ने यह घोषणा करके ब्रिटिश शासन को चौकन्ना कर दिया कि अपनी घटिया सरकार भी विदेशी बढ़िया सरकार से बहुत अच्छी है।

6. उग्रवादी और आतंकवादी प्रचार भारतीयों में यह विश्वास जगाने लगा कि सांविधानिक आन्दोलन से भारत की दशा नहीं सुधर सकेगी और अंग्रेजों के हाथों से राजनीतिक शक्ति छीनने के लिए किसी न किसी रूप में शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। इस भावना के बल पकड़ने के कारण देश मे क्रान्तिकारी घटनाएँ होने लगी। सरकार के आतंकवादी कार्यों और दमनकारी कानूनों से भारतीय जनमत और भी विक्षुब्ध हो गया।

7. नवम्बर, 1905 मे लॉर्ड कर्जन के स्थान पर लॉर्ड मिण्टो भारत का गवर्नर जनरल बना। इसके एक महिने बाद ही जॉन मार्ले भारत सचिव नियुक्त हुआ। ये दोनों उदार राजनीतिज्ञ सुधारों के रूप मे भारतीयों को कुछ रियायतें देने के पक्ष में थे। अतः जॉन मार्ले ने लॉर्ड मिण्टो को भारतीय संविधान में सुधार करने के लिए कदम उठाने को कहा। लॉर्ड मिण्टो ने सर ए. रुडल (Sir A. Arudel) की

अध्यक्षता में परिषद् के कुछ सदस्यों की एक कमेटी नियुक्त की जिसका काम सुधारों के प्रश्न पर सोच-विचार करके सुझाव पेश करना था।

8. कमेटी ने अक्टूबर 1906 में रिपोर्ट पेश की जिसके आधार पर लॉर्ड मिण्टो ने मार्च, 1907 में अपना एक प्रेनेस भारत सचिव जॉन मार्ले को भेजा। मार्ले ने भारत सरकार को इन सुझावों के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों की राय लेने के लिए कहा। प्रान्तों की राय प्राप्त करने के बाद भारत सरकार ने रिपोर्ट में कुछ परिवर्तन करते हुए संशोधन-पत्र भारत सचिव को भेजा। इस संशोधन-पत्र की आवश्यक छानबीन करने के बाद लॉर्ड मार्ले ने अपने सुझाव ब्रिटिश सरकार को पेश किए।

लॉर्ड मार्ले द्वारा प्रस्तुत सुझावों के आधार पर एक छोटा-सा विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया गया जो पारित होकर मई, 1909 में भारतीय परिषद् अधिनियम (The Indian Councils Act, 1909) कहलाया। इस अधिनियम को सन् 1910 में लागू किया गया।

अधिनियम की विशेषताएँ
अथवा
अधिनियम द्वारा लाए गए परिवर्तन

1. *केन्द्रीय विधान-परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों (Additional Members)* की संख्या 16 से 20 कर दी गई जिससे परिषद् की कुल सदस्य संख्या 69 हो गई। इनमें 37 सरकारी और 32 गैर-सरकारी सदस्य थे। 37 सरकारी सदस्यों में 28 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत (Nominated) और शेष 9 पदेन (Ex-officio) रखे गए। 32 गैर-सरकारी सदस्यों में से 5 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत और शेष 27 निर्वाचित होते थे। निर्वाचित सदस्यों को वर्गों, हितों और श्रेणियों के आधार पर लिए जाने की व्यवस्था की गई।

2. प्रान्तीय विधान-परिषदों (Provincial Legislative Councils) में बंगाल, मद्रास और बम्बई की परिषदों की अधिकतम संख्या 20 से 50 तथा यू. पी. की 15 से 50 तक करदी गई। शेष अल्प-प्रान्तों (पंजाब, बर्मा, असम) के लिए अधिकतम संख्या 30 निश्चित कर दी गई। पर अधिनियम से सम्बन्धित नियमों (Regulations) के अनुसार इन सभी परिषदों के सदस्यों की वास्तविक संख्या कुछ भिन्न रही। प्रान्तीय परिषदों के सदस्य भी सरकारी तथा गैर-सरकारी, मनोनीत और निर्वाचित आदि श्रेणियों में विभक्त थे। निर्वाचित सदस्यों को विविध वर्गों तथा हितों के आधार पर लिए जाने की व्यवस्था की गई। विशेष बात यह की गई कि, परिषदों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया। पर यह बहुमत गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का नहीं था। मनोनीत गैर-सरकारी और निर्वाचित सदस्यों की संख्या मिलाकर सरकारी सदस्यों की संख्या से अधिक रखी गई।

3. विधान-परिषदों के सदस्यों के कार्यों और अधिकारों में कुछ वृद्धि की गई। अब बजट पर वाद-विवाद हो सकता था, पर मत नहीं लिया जा सकता था। व्यवहार में वाद-विवाद का अधिकार बहुत प्रतिबन्धित था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा में सैनिक, राजनीतिक और प्रान्तीय विषय वाद-विवाद की परिधि से बाहर रखे गए। विधान परिषदों में राजस्व-मद के अन्तर्गत टिकट, आगम शुल्क, निर्धारित कर तथा अदालतें और व्यय के शीर्षक के अन्तर्गत प्रतिभाजन तथा क्षतिपूर्ति, कर्ज का ब्याज, धार्मिक व्यय एवं राज्य की रेलो आदि पर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता था।

विधान-परिषदों को सार्वजनिक हित के मामलो पर प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार दिया गया; किन्तु इस प्रकार का अधिकार होना न होना बराबर ही था। परिषदों के अध्यक्ष सार्वजनिक महत्त्व सम्बन्धी किसी भी प्रस्ताव या उसके किसी भी भाग को पेश करने की मनाही कर सकता था। इसके अतिरिक्त परिषदों द्वारा पेश किए गए प्रस्तावों पर अन्तिम निर्णय करने का अधिकार सरकार के पास था। वह इन्हें मानने के लिए बाध्य नही थी।

अधिनियम द्वारा विधान परिषदों के सदस्यों को पूरक प्रश्न करने का अधिकार भी प्रदान किया गया, किन्तु व्यवस्था यह की गई कि जिस सदस्य को अपने मौलिक प्रश्न के उत्तर से सन्तोष नही होता वही पूरक प्रश्न द्वारा उत्तर के स्पष्टीकरण की माँग कर सकता था। सम्बद्ध कार्यकारिणी परिषद् इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नही थी तथा अध्यक्ष को भी यह अधिकार था कि वह प्रश्नों को रोक दे।

4. अधिनियम द्वारा सीमित और भेद-भाव पूर्ण मताधिकार की व्यवस्था की गई। मतदाताओं की योग्यता—सम्पत्ति, करों और उनकी उपाधियो पर आधारित थी। उदाहरणार्थ केन्द्रीय विधान-परिषद् के चुनाव के लिए जमीदारों के चुनाव क्षेत्र से वही जमीदार मतदान कर सकते थे जिनकी काफी आय होती थी (मद्रास मे 1500 रु. वार्षिक आय वाले) या जो काफी धनराशि भूमि कर के रूप में देते थे (सामान्यतः 10 हजार रुपये वार्षिक) या जिन्हें विशेष उपाधियाँ प्राप्त थी (बंगाल में राजा और नवाब की उपाधियो वाले)। प्रान्तीय परिषदों के सदस्य चुनने वाले मतदाताओं के लिए भी इस प्रकार की किन्तु कुछ कम कठोरताएं निर्धारित की गई थी। फलस्वरूप अनेक चुनाव क्षेत्रों में तो मतदाताओं की संख्या 22 से अधिक नही होती थी। यही नहीं केन्द्रीय एव प्रान्तीय परिषदों तथा विभिन्न चुनाव क्षेत्रों की मतदान सम्बन्धी योग्यताएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थी। मुसलमानों और गैर-मुसलमानों की मताधिकार सम्बन्धी योग्यताओ मे बड़ा अन्तर था। उदाहरणार्थ 3000 रु. की वार्षिक आय पर कर देने वाले मुसलमान को मताधिकार प्राप्त था जबकि 3 लाख की आमदनी पर कर देने वाले किसी हिन्दू, पारसी या ईसाई को यह अधिकार नही था। इसी तरह वह प्रत्येक मुसलमान, जिसे बी. ए. पास किए हुए 5 वर्ष हो गए हो, मत दे सकता था जबकि अन्य जातियो के व्यक्ति, जिन्हें 30 वर्ष भी क्यों न हो गए हो, मतदान के अधिकारी नहीं थे।

5. अधिनियम द्वारा प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध मे मुसलमानों को खास रियायतें दी गई। उन्हें केन्द्रीय एव प्रान्तीय विधान परिषदों में उनकी जनसख्या के अनुपात से अधिक सदस्यता प्रदान की गई। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश मे मुसलमानो की जनसख्या कुल सख्या का छठा भाग था किन्तु प्रान्तीय परिषद् के 26 गैर-सरकारी सदस्यो मे 8 मुसलमान थे। यदि ये रियायतें उन्हें प्रान्त में अल्पसख्यक जाति होने के आधार पर दी गई तो पजाब, पूर्वी-बगाल और असम मे रहने वाले हिन्दुओं को भी इसी प्रकार की रियायतें दी जानी चाहिए थी, किन्तु ऐसा नही किया गया। इसके अतिरिक्त मुसलमानो को अपने प्रतिनिधि सीधे भेजने का अधिकार दिया गया जबकि हिन्दुओं को इससे वचित रखा गया।

6 मुसलमानों को परिषदो मे उचित प्रतिनिधित्व देने के उद्देश्य से अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का आरम्भ किया गया। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय परिषदों में कुछ ऐसे मुस्लिम सदस्यों को लेने की व्यवस्था की गई जो केवल मुसलमानो द्वारा ही चुने गए हो। मुसलमानों के पृथक् चुनाव प्रणाली की यह व्यवस्था एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय था क्योंकि इससे भारत की साम्प्रदायिक सुख-शान्ति सदैव के लिए भग हो गई। विश्वविद्यालय, वाणिज्य-सघों, जमींदारो, नगरपलिकाओं, जिला बोर्डों आदि को भी कुछ सदस्य चुनने का अधिकार दिया गया।

7. अधिनियम द्वारा केन्द्रीय एव प्रान्तीय परिषदो के सदस्य बनने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए बडी-बड़ी शर्तें निश्चित की गईं और ये शर्तें भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे भिन्न-भिन्न रखी गई। उदाहरणार्थ, बम्बई, मद्रास व बगाल की विधान-परिषदों का चुनाव केवल वे ही व्यक्ति लड सकते थे, जो उन प्रान्तो की नगरपालिकाओ या जिला बोर्डों के सदस्य थे जबकि उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद् का सदस्य बनने के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं थी। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय परिषदों का चुनाव लड़ने के लिए सम्पत्तिवान होने की एक नई शर्त लगादी गई। पुनश्च, सरकार किसी भी व्यक्ति को चुनाव लडने से रोक सकती थी।

8. भारत के कुछ भागों को प्रतिनिधित्व से वंचित रख दिया गया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, कुर्ग, अजमेर-मेरवाड़ा आदि कुछ प्रदेश सीधे गवर्नर जनरल के आधिपत्य मे थे। साथ ही ये सब प्रदेश ब्रिटिश भारत के एक भाग थे। लेकिन फिर भी इनके एक भी गैर-सरकारी सदस्य को केन्द्रीय परिषद् में सम्मिलित नहीं किया गया और न ही इन प्रदेशों को चुनाव क्षेत्र बनाया गया। इस सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह रही कि ब्रिटिश भारत के ही कुछ भागो से उनके अधिकार से भी अधिक सदस्य परिषदों में सम्मिलित किए गए।

9. 1909 के इस अधिनियम के अन्तर्गत बम्बई एवं मद्रास की कार्यकारिणी परिषदों की सदस्य सख्या 2 से बढा कर 4 कर दी गई। परिषद् गवर्नर जनरल (Governor General in Council) को यह अधिकार दिया गया कि वह अन्य प्रान्तो के लिए भी ब्रिटिश संसद् की स्वीकृति से कार्यकारिणी परिषद् बना सके।

1909 के अधिनियम की आलोचना

यद्यपि मिण्टो-मार्ले सुधार भारत की सांविधानिक प्रगति की ओर एक

महत्वपूर्ण कदम था तथापि ये सुधार भारतीयों के लिए अत्यन्त निराशाजनक सिद्ध हुए। इनके द्वारा उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया गया और न ही सुधार की किसी नई नीति का उद्घाटन किया गया। ये सुधार भारतीयों की दृष्टि में निम्नलिखित आधारों पर कटु आलोचना के पात्र थे --

प्रथम, इस अधिनियम द्वारा भारत में उत्तरदायी शासन-व्यवस्था स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। दिसम्बर, 1908 में ही लार्ड मार्ले ने अपने भाषण में कहा कि "यदि मेरा कार्यकाल या मेरी आयु 20 गुणा भी बढ़ जाए, तो भी मैं भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की एक क्षण के लिए भी कल्पना नहीं करूंगा।"[2] 13 मई, 1909 को लार्ड मार्ले ने पुनः घोषणा की कि "सुधार निकट भविष्य में और आगामी कई पीढ़ियों तक भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति असम्भव है।" भारतीयों को ब्रिटिश शासकों के इस रवैये से बड़ी निराशा हुई। 1909 के सुधारों ने भारतीयों को अपने देश के शासन-प्रबन्ध में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं दिया और शासन कार्यों के अन्तिम निर्णय की शक्ति सरकार के हाथों में ही रही।

मिण्टो-मार्ले सुधार इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए कि इनके लागू होने पर भारतीय राजनीतिज्ञों को परिषदों में सम्मिलित होने का अवसर मिला और उन्होंने अपनी योग्यता तथा दक्षता का सराहनीय प्रमाण दिया। यद्यपि सरकार ने इन गैर-सरकारी सदस्यों के सुझावों को खुल्लमखुल्ला स्वीकार करने की उदारता प्रदर्शित नहीं की लेकिन वह उनके वाद-विवादों से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। उसे अहसास हो गया कि यदि भारतीयों को उचित अवसर प्रदान किए जाएँ तो परिषदों में वे बड़े उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। भारतीयों में भी आत्म-विश्वास का यह जागरण तत्कालीन परिस्थिति में एक बहुत बड़ी बात थी।



जिन्होंने 20 अगस्त, 1917 को अपनी महत्त्वपूर्ण 'मॉण्टेग्यू घोषणा' की, जो भारतीयों की राजनीतिक आकांक्षाओं के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति की परिचायक थी और जिसके आधार पर ब्रिटिश संसद् ने बाद में 1919 का अधिनियम पारित किया।

मॉण्टेग्यू की घोषणा मे ब्रिटिश सरकार की भारत सम्बन्धी नीति के बारे मे चार प्रमुख बातें अन्तर्निहित थीं—

(1) भारतीयों को धीरे-धीरे प्रशासन के प्रत्येक भाग मे अधिकाधिक संख्या मे सम्मिलित किया जाएगा।

(2) भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप मे उत्तरदायी शासन की शनैः-शनैः स्थापना की जाएगी और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु इसमे स्वप्रशासनिक संस्थाओं का विकास किया जाएगा।

(3) इस दिशा मे प्रगति क्रमिक विकास द्वारा की जाएगी।

(4) ब्रिटिश सरकार इस नीति से सम्बन्धित प्रत्येक कदम का निर्णय और उसे लागू करने का समय निश्चित करेगी।

मॉण्टेग्यू-घोषणा भारत के सांविधानिक इतिहास में एक विशेष स्थान रखती है। इससे पहले 1858 मे महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की थी। वह 60 वर्ष तक ब्रिटिश सरकार की भारत सम्बन्धी नीति की आधारशिला बनी रही थी। मॉण्टेग्यू की घोषणा ने महारानी की घोषणा का स्थान ले लिया और एक ऐसी शासकीय नीति का प्रारम्भ किया जो भारत के स्वतन्त्र होने तक ब्रिटिश सरकार की नीति का आधार बन गया। मॉण्टेग्यू-घोषणा वस्तुतः कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थी—

1. इस घोषणा ने भारत को स्वतन्त्रता के मार्ग पर खड़ा कर दिया क्योंकि घोषणा के बाद ब्रिटिश सरकार के लिए भारत मे उत्तरदायी शासन स्थापित करना अनिवार्य हो गया। 1919 के अधिनियम द्वारा इस दिशा में प्रथम कदम उठाया गया और 1935 मे उत्तरदायी शासन की दूसरी किश्त भारतीयों को मिली।

2. इस घोषणा ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को विशेष नैतिक बल प्रदान किया। इसके द्वारा कांग्रेस को राजनीतिक संघर्ष के लिए एक बहुमूल्य आधार मिल गया जिसका आश्रय लेकर वह सरकार से विकेन्द्रीयकरण की दिशा में उचित कदम उठाने की माँग करती रही।

3. यह घोषणा राष्ट्रीय एकता की सफलता की परिचायक बनी। भारतीयों को यह अनुभूति हो गई कि राष्ट्रीय एकता के बल पर सरकार से अपनी मांगें मनवाई जा सकती हैं।

4. इस घोषणा से भारत के सांविधानिक इतिहास में एक नए अध्याय प्रारम्भ हुआ। भारत का स्वराज्य का अधिकार स्वीकार कर लिया गया जिसका स्पष्ट अभिप्राय था कि भारत में स्वेच्छाचारी प्रशासन के स्थान पर सांविधानिक सरकार की स्थापना की जाएगी।

मॉण्टेग्यू की घोषणा त्रुटि-रहित नहीं थी। इसमें बहुत-सी बातें अस्पष्ट और

अनिश्चित थीं। उदाहरणार्थ यह स्पष्ट नहीं किया गया कि भारतीय अपने उत्तरदायी शासन के सम्बन्ध में सरकार द्वारा घोषित लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे या नहीं अथवा कब तक उस उद्देश्य पर पहुँचेंगे। इस घोषणा ने भारतीयों को इस आशा में शान्त कर दिया कि निकट भविष्य में ही उत्तरदायी शासन की पहली किश्त प्राप्त होगी, किन्तु जब भविष्य में यह अनुभव हुआ कि उन्हें पहली किश्त में जो सांविधानिक रियायतें दी गई हैं वे विशेष उपयोगी नहीं हैं तो उन्हें बड़ी निराशा हुई, और उन्होंने फिर से राजनीतिक आन्दोलन शुरू कर दिया।

1919 के अधिनियम के पारित होने के कारण

1909 से 10 वर्ष की अवधि के भीतर ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ और शासन तथा संविधान से सम्बन्धित ऐसे कतिपय परिवर्तन हुए जिन्होंने संयुक्त रूप से 1919 के भारत शासन अधिनियम (Government of India Act, 1919) की पृष्ठभूमि तैयार कर दी अर्थात् जिनके कारण ब्रिटिश सरकार को 1919 का अधिनियम बनाना पड़ा जो पूर्ववर्ती अधिनियमों की अपेक्षा अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण था तथा जिसके द्वारा भारत की नौकरशाही पद्धति को पहली बार गहरा आघात पहुँचा और भारत में उत्तरदायी शासन का वास्तविक रूप आरम्भ हुआ।

प्रथम, सन् 1909 के मिण्टो-मॉर्ले सुधार भारतीयों को सन्तुष्ट करने में पूर्णतः असफल रहे, अतः भारत के राष्ट्रवादी और बुद्धिवादी इन सुधारों का विरोध करके वास्तविक सुधारों की माँग करने लगे।

दूसरे, ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति ने भारतीयों की भावना को गहरी चोट पहुँचाई। गैर-सरकारी सदस्यों के उग्र विरोध करने पर भी केन्द्रीय विधान-परिषद् में कई दमनकारी कानून पारित किए गए। 1910 में भारतीय प्रेस एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता कुचल दी गई। 1911 में राजद्रोह सभा अधिनियम (Seditions Meetings Act) पास किया गया जिसके अनुसार सरकार के विरुद्ध सभाएँ करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। 1913 में राष्ट्रवादियों को दबाने के लिए फौजदारी संशोधन अधिनियम (Criminal Amendment Act, 1913) पास किया गया। इन विविध दमनकारी कानूनों के फलस्वरूप भारतीयों की नागरिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई और उनके हृदय में क्रोध की ज्वाला अधिक प्रचण्ड हो गई। थोड़ी-बहुत शान्ति तभी हो सकी जब अगस्त, 1917 में विख्यात मॉण्टेग्यू-घोषणा हुई और यह आश्वासन दिया गया कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में उत्तरदायी सरकार की धीरे-धीरे स्थापना की जाएगी।

तीसरे, 1909 के सुधारों द्वारा सरकार ने मुसलमानों की मैत्री जीत ली थी किन्तु नौ वर्ष बाद ही यह ऐंग्लो-मुस्लिम मित्रता क्षीण होने लगी क्योंकि एक तो 1911 में टर्की और इटली के मध्य इंग्लैण्ड ने मुस्लिम जगत की इच्छा के विरुद्ध इटली का समर्थन किया; दूसरे ब्रिटिश सरकार ने बंगाल-विभाजन को रद्द करने की घोषणा की। इन दोनों बातों से भारतीय मुसलमानों को बड़ा आघात पहुँचा

इसके अतिरिक्त 1912 के बल्कान-युद्ध ने मुस्लिम जगत को यह परिचय दिया कि यूरोप के ईसाई देश टर्की की राजनीतिक शक्ति को समाप्त करना चाहते है। इन समस्त कार्यों से सरकार और मुसलमानो के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत बिगड़ गए। मुस्लिम लीग के नेताओं ने अपनी नीति मे परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव करते हुए 1913 में यह घोषणा कर दी कि उत्तरदायी शासन की प्राप्ति उनका एक राजनीतिक लक्ष्य है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पहले से ही इसे अपना लक्ष्य बनाए हुए थी। अतः ये दोनो सस्थाएँ एक-दूसरे के निकट आ गईं और ब्रिटिश सरकार के लिए यह सम्भव न रहा कि वह भारतीयो की आकांक्षाओं की एकदम उपेक्षा करदे।

चौथे, जिस समय भारत मे लीग और कांग्रेस के निकट आने से राष्ट्रीय आन्दोलन सशक्त हो रहा था, तभी यूरोप मे प्रथम महायुद्ध छिड गया। भारतीयो ने इस *आपत्तिकाल मे ब्रिटेन को पूर्ण सहयोग दिया और लॉर्ड कर्जन जैसे व्यक्ति को* भी कहना पड़ा कि "समुद्र पार के अभियानो में भारतीयों ने जो प्रसन्नता, भक्ति, सुन्दर अनुशासन और सैनिक साहस प्रकट किया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है।" जन-शक्ति द्वारा सहायता देने के साथ-साथ भारतीयो ने सरकार की अपार धनराशि से भी सहायता की। फलस्वरूप अनेक ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के हृदय मे भारतीय माँगो के प्रति विशेष सहानुभूति पैदा हो गई।

पाँचवें, प्रथम महायुद्ध ने राष्ट्रीय आन्दोलन और उत्तरदायी शासन को माँग को असाधारण बल दिया क्योंकि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ निरन्तर यह घोषणा करते रहे कि यह युद्ध स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और मानव अधिकारो की रक्षा के लिए लडा जा रहा है। भारतीयो ने तर्क दिया कि यदि यह युद्ध संसार मे लोकतन्त्र और मानव अधिकारो की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है तो भारतीयो को भी कम से कम उत्तरदायी शासन अवश्य मिलना चाहिए, और यदि आत्मनिर्णय का अधिकार अरबों जैसी पिछड़ी जाति को दिया जा सकता है तो भारतीयों को उससे वंचित रखना किसी तरह भी उचित नही है।

छठे, भारत के राजनीतिक दलों पर भी युद्ध का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा। *लीग और कांग्रेस, जो 1913 से साथ-साथ काम कर रही थी एक-दूसरे के अधिक* निकट आ गई। 1915 में दोनों के वार्षिक अधिवेशन एक ही साथ बम्बई मे हुए और 1916 मे लखनऊ मे दोनों के संयुक्त अधिवेशन में प्रसिद्ध लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) हुआ। यह समझौता त्रुटिपूर्ण था और इसे कार्य रूप देना सुगम नही था, तो भी इसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को असाधारण बल प्रदान किया और सरकार के लिए उसकी माँगो के प्रति उदासीन रहना अब कठिन हो गया।

सातवें, 1916 मे कांग्रेस के नर्म और गर्म दल पुनः संयुक्त हो गए। इस नई व्यवस्था से राष्ट्रीय आन्दोलन को बड़ा बल मिला।

आठवें, इसी समय तिलक और ऐनीबिसेन्ट द्वारा क्रमशः पूना और मद्रास में होम लीग की स्थापना हुई और अपने-अपने क्षेत्र में उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति आन्दोलन शुरू कर दिया। होम-रूल आन्दोलन का उद्देश्य भारत सरकार की नौकरशाही के

स्थान पर स्वशासन की स्थापना करना था। ब्रिटिश सरकार ने बड़ी क्रूरतापूर्ण ढग से आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न किया। स्वराज्य आन्दोलन ने देश के सामने एक ठोस सांविधानिक योजना रखी, विदेशी राजनीतिज्ञो की राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए सहानुभूति प्राप्त की और सरकार के लिए भारतीयों की माँगो की अवहेलना करना कठिन बना दिया।

नवें, बंगाल के भूतपूर्व लेफ्टिनेन्ट गवर्नर और भारतीय परिषद् के सदस्य विलियम ड्यूक ने 1915 में अपना एक ज्ञापन प्रस्तुत किया जिसमे उसने प्रान्तो में द्वैध शासन लागू करने का सुझाव दिया जो आँशिक रूप से उत्तरदायी होता। ड्यूक ने यह विचार रखा कि पूर्ण उत्तरदायी सरकार की एकदम स्थापना भारत मे सम्भव नही है, अतः मध्यान्तरिक व्यवस्था के रूप मे द्वैध शासन लागू किया जाना चाहिए। यह ज्ञापन भी ब्रिटिश सरकार के रुख मे परिवर्तन लाया।

दसवें, प्रथम महायुद्ध मे भारतीयो की सहायता एवं सहयोग प्राप्त करने के लिए भारत सचिव मॉण्टेग्यू ने 20 अगस्त, 1917 को एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की जिसका आशय था कि भारतीयो को भारत के शासन मे पर्याप्त हाथ बँटाने का अवसर प्रदान किया जाए और धीरे-धीरे उन्हे अपने देश मे स्वशासन प्राप्त करने का मार्ग दिखाया जाए। यह घोषणा स्पष्टतः 1919 के अधिनियम की पूर्वाभिव्यक्ति थी।

इस घोषणा के तीन महिने बाद ही मॉण्टेग्यू भारत आए। उन्होने चेम्सफोर्ड के साथ देश के विभिन्न भागों का दौरा किया, राष्ट्रीय नेताओं से वार्ता की और अनेक सुधार-प्रस्तावों पर विचार किया। तत्पश्चात् 1918 में सुधार सम्वन्धी रिपोर्ट प्रकाशित की गई जिसे 'मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट' कहा जाता है। इस रिपोर्ट के आधार पर सुधार योजना तैयार करने के लिए ब्रिटिश ससद् ने अनेक समितियाँ स्थापित की जिनके सुझावो के आधार पर जून, 1919 मे भारत सरकार विधेयक ब्रिटिश लोकसभा में पेश किया गया। दोनों सदनो से पास होने के बाद यह विधेयक 23 दिसम्बर, 1919 को सम्राट् की स्वीकृति मिलने पर अधिनियम बन गया।

1919 के अधिनियम की प्रस्तावना

1919 का भारत सरकार अधिनियम ब्रिटिश संसद् का एक महत्त्वपूर्ण कदम था जिसके द्वारा भारत की प्रतिनिधि संस्थाओ के विकास मे एक नए युग का प्रारम्भ हुआ।[1] 1919 के सुधारों ने ब्रिटिश भारतीय इतिहास मे तीन नई और महत्त्वपूर्ण बातें की—उत्तरदायी शासन का आरम्भ किया, देशी नरेशों को भारतीय शासन मे, विशेषकर देशी राज्यों से सम्वन्धित विषयों मे साथ लिया और द्वैध शासन-व्यवस्था का प्रवर्तन किया।[2]

अधिनियम की प्रस्तावना (Preamble) में मॉण्टेग्यू की ऐतिहासिक घोषणा में दिए गए सिद्धान्तों को दोहराया गया। सर तेजवहादुर सप्रू ने अधिनियम की प्रस्तावना का विश्लेषण इस प्रकार किया—

1 *N. Srinivasan* : Democratic Government in India, p. 43.
2 *G. N. Singh* : Landmarks in Indian National and Constitutional Development.

(1) ब्रिटिश भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अखण्ड भाग रहेगा।
(2) ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना संसद् की घोषित नीति का लक्ष्य है।
(3) उत्तरदायी शासन धीरे-धीरे ही दिया जा सकता है।
(4) उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्मन्व, एवं स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक विकास।

इस प्रस्तावना द्वारा यद्यपि सुधारों का क्षेत्र निश्चित किया गया है लेकिन यह भारतीयों के लिए निराशाजनक थी क्योंकि—(क) इसमें उनके (भारतीयों के) उत्तरदायी शासन के अधिकार को मान्यता नहीं दी गई थी, (ख) भारत को यह अधिकार नहीं दिया गया था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के एक स्वतन्त्र और समान भागीदार के रूप में स्थान प्राप्त करे, (ग) भारतीयों को जो थोड़ी-बहुत रियायतें दी गईं वे उनकी मांगों के मुकाबले बहुत तुच्छ थी, एवं (घ) भारतीयों के लिए प्रस्तावना में निहित यह सिद्धान्त अपमानजनक था कि उनकी उन्नति और कल्याण के लिए ब्रिटिश संसद् उत्तरदायी है और भारत की सांविधानिक प्रगति से सम्बन्धित प्रत्येक बात का निर्णय वही करेगी।

प्रस्तावना के अन्तिम भाग में कहा गया था कि यदि भारतीय जनता सरकार को सहयोग और उत्तरदायित्व की भावना से सन्तुष्ट रखेगी तभी ब्रिटिश संसद् उन्हें और सांविधानिक रियायतें देने के सम्बन्ध में सोचेगी। यह भारतीयों को एक प्रकार से अप्रत्यक्ष धमकी थी और इससे उनके प्रति ब्रिटिश सरकार का अविश्वास झलकता था।

1919 के अधिनियम की विशेषताएँ या मुख्य लक्षण

1. प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन—द्वैध-शासन—अधिनियम की सबसे मुख्य विशेषता यह थी कि प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन-व्यवस्था स्थापित की गई। द्वैध-शासन व्यवस्था (Dyarchy) लागू करते हुए प्रान्तीय विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया—एक भाग को रक्षित (Reserved) और दूसरे को हस्तान्तरित (Transferred) कहा गया। रक्षित विषयों को गवर्नर की कौंसिल में रखा गया। कौंसिल के सदस्य गवर्नर के ही प्रति उत्तरदायी थे, और व्यवस्थापिका द्वारा नियन्त्रित नहीं किए जा सकते थे। इन विषयों में कानून, राजस्व, शान्ति, कारावास, औद्योगिक मामले, नहर, भूमिकर, दुर्भिक्ष निवारण आदि रखे गए। हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर अपने मन्त्रियों की राय से करता था। ये मन्त्री विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी थे। हस्तान्तरित विषयों में स्थानीय स्वराज्य, जन-स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, सहकारी समिति, उद्योग-धन्धों का विकास आदि रखे गए।

2. प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषद् में अधिक भारतीयों को संयुक्त करना—अधिनियम द्वारा रक्षित क्षेत्र का प्रशासन यद्यपि गवर्नर के अधीन रखा गया, लेकिन प्रान्तों की कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की संख्या पहले से बढ़ा दी गई। मद्रास,

बम्बई, बंगाल की सरकारों के रक्षित भाग के चार सदस्यो मे से दो भारतीय सदस्य लेने की व्यवस्था की गई। शेष छः प्रान्तो में रक्षित भाग के लिए दो सदस्यो मे से एक भारतीय रखा गया। इन सदस्यों की नियुक्ति भारत मन्त्री की सिफारिश पर ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा की जाती थी।

3. प्रान्तीय विधान-परिषदों का पुनर्गठन—अधिनियम द्वारा प्रान्तीय विधान-मण्डल के ढाँचे मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। प्रान्तीय विधान-परिषदो का पुनर्गठन किया गया और उनकी सदस्य सख्या मे वृद्धि की गई। यह व्यवस्था की गई कि बड़े प्रान्तों की विधान-परिषदों मे अधिक से अधिक 140 और छोटे प्रान्तो में कम से कम 60 सदस्य हो सकेंगे। इन सदस्यो मे कम से कम 70 प्रतिशत निर्वाचित सदस्य होने जरूरी थे। सरकारी सदस्यो की सख्या 20 प्रतिशत से अधिक नही हो सकती थी। शेष 10 प्रतिशत गैर-सरकारी सदस्य होते थे जिन्हे प्रान्तीय गवर्नर द्वारा मनोनीत किया जाता था। प्रत्येक विधान-परिषद् मे कार्यकारिणी के सदस्य पदेन सदस्यों (Ex-officio Members) के रूप मे सम्मिलित होते थे। इस प्रकार विधानो-सभाओ का स्वरूप अधिक लोकतान्त्रिक बनाया गया, उनमे निर्वाचित सदस्यो का न केवल बहुमत रखा गया बल्कि उनके अधिकारो को कुछ बढाया गया। प्रान्तीय विधान-सभाओ को बजट पर वोट देने तथा अपने प्रेसीडेण्ट चुनने का अधिकार मिल गया।

4. केन्द्र में अनुत्तरदायी शासन—प्रान्तों मे तो आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई, लेकिन केन्द्रीय शासन को पहले की तरह अनुत्तरदायी रखा गया। यद्यपि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का विस्तार किया गया और उसके अधिकारों को रद्द किया गय, लेकिन साथ ही गवर्नर जनरल को कुछ ऐसे विशेषाधिकार सौंपे गए जिनका प्रयोग वह व्यवस्थापिका की सहमति के बिना कर सकता था। गवर्नर जनरल केन्द्रीय विधान-परिषद् के प्रति उत्तरदायी नही बनाया गया। उसकी कार्यकारिणी-परिषद् भी विधान-परिषद् के प्रति उत्तरदायी नही थी। विधान-परिषद् गवर्नर जनरल या उसकी कार्यकारिणी-परिषद् के किसी भी सदस्य को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नही हटा सकते थे। विधान-परिषद् के पास केवल कुछ अन्य प्रकार के सार्वजनिक मामलों पर प्रस्ताव पास करने का अधिकार था जिन्हें मानना या न मानना गवर्नर जनरल की इच्छा पर था।

5. केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् में अधिक भारतीयों की नियुक्ति—अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को यद्यपि पहले को ही तरह निरंकुश, स्वेच्छाचारी और शक्तिशाली बने रहने दिया गया, तथापि केन्द्रीय कार्यकारिणी-परिषद् मे कुछ सुधार अवश्य किए गए—परिषद् पर से पूर्व निर्धारित संख्या सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा दिया गया, भारतीय उच्च न्यायालयो के उन वकीलो को, जिन्हें उनमे काम करते हुए 10 वर्ष हो चुके हों, परिषद् का विधि सदस्य (Law Member) नियुक्त होने योग्य ठहराया गया। श्री तेजबहादुर सप्रू को पहला भारतीय लॉ मेम्बर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, एवं परिषद् में भारतीय सदस्यों की संख्या एक से बढ़ा कर तीन कर दी

गई। इस तरह गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद् में अब कुल 7 सदस्य हो गए जिनमें से 3 भारतीय थे। कार्यकारिणी-परिषद् के ढाँचे में यह परिवर्तन कोई प्रभावशाली नहीं था क्योंकि व्यवहार में जिन व्यक्तियों को इसका सदस्य नियुक्त किया गया वे जनता के प्रतिनिधि न होकर सरकार के 'जी हुजूर' (Yes Men) थे।

6. द्वि-सदनात्मक केन्द्रीय विधान-सभा का निर्माण और अधिकारों में सामान्य वृद्धि—1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान-मण्डल को द्वि-सदनीय (*Bicameral Council*) बना दिया गया। ऊपरी सदन का नाम राज्य-सभा (Council of State) और निम्न सदन का नाम विधान-सभा (Legislative Assembly) रखा गया। इस केन्द्रीय विधान-मण्डल को पहले से अधिक प्रभावशाली बनाने की व्यवस्था की गई। राज्य-सभा की अधिकतम सदस्य संख्या 60 रखी गई जिनमें 34 निर्वाचित और 26 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होते थे। विधान-सभा की कुल सदस्य संख्या 145 रखी गई जिनमें 26 सरकारी, 14 मनोनीत और शेष 105 निर्वाचित सदस्य थे। अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान-मण्डल के सदस्यों की शक्तियाँ पूर्वापेक्षा बढ़ा दी गईं। उन्हें प्रस्ताव पेश करने, प्रश्न करने एवं कानून बनाने के सम्बन्ध में अधिक सुविधाएँ प्रदान की गईं। इस तरह उनके लिए सरकारी नीति की पहले से अधिक अच्छी तरह आलोचना करना सम्भव हो गया। किन्तु व्यवहार में केन्द्रीय विधान-मण्डल अधिक शक्तिशाली नहीं था क्योंकि उनकी कानून-निर्मात्री शक्ति पर कई प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। गवर्नर जनरल विपुल स्व-विवेकी शक्तियों का स्वामी था।

7. गृह-सरकार के नियन्त्रण का शिथिलीकरण—सुधार एक्ट का उद्देश्य भारतीय मामलों में गृह-सरकार के नियन्त्रण को शिथिल करना था, परन्तु उसने भारत-मन्त्री के अधिकारों में किसी प्रकार का औपचारिक परिवर्तन नहीं किया। केवल यह आशा व्यक्त की गई कि उचित अभिसमयों की वृद्धि के साथ ही यह शिथिलीकरण अपने आप सम्पन्न हो जाएगा।

8. भारत-परिषद् के संगठन में परिवर्तन—अधिनियम के अन्तर्गत भारत-परिषद् (India Council) को समाप्त करने की भारतीय माँग तो स्वीकार नहीं की गई, लेकिन परिषद् के गठन में परिवर्तन किया गया। भारत कौंसिल की सदस्य संख्या घटा कर कम से कम 8 तथा अधिक से अधिक 12 रखी गई। इनकी अवधि 5 वर्ष की रखी गई। भारत-मन्त्री और उसके उपमन्त्री का वेतन अंग्रेजी खजाने से देना निश्चित हुआ। परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया, लेकिन उनका वार्षिक वेतन एक हजार पौण्ड से बढ़ाकर 1200 पौण्ड कर दिया गया। भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 3 कर दी गई। परिषद् के कार्य संचालन के नियमों में भी कुछ परिवर्तन किए गए।

9. विकेन्द्रीयकरण की दिशा में कदम—इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीयकरण की उस नीति को समाप्त कर दिया गया जो लॉर्ड कर्जन के समय अपनी पराकाष्ठा पर थी। प्रशासन और राजस्व के कुछ विषयों का विकेन्द्रीयकरण कर दिया गया

अर्थात् उन्हें केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से हटा कर प्रान्तीय सरकार को सौंप दिया गया। प्रान्तों को प्रथम बार ऋण लेने और कर लगाने का अधिकार दिया गया। प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना करके भी विकेन्द्रीकरण की नीति को अमल में लाया गया।

10. निर्वाचन और मताधिकार—इस एक्ट ने प्रत्यक्ष निर्वाचनों का सूत्रपात किया और मताधिकार की वयस्क जनसंख्या के 10 प्रतिशत भाग को मतदान का अधिकार दिया गया। साम्प्रदायिक निर्वाचन को न केवल कायम ही रखा गया अपितु उसका क्षेत्र भी बढ़ा दिया गया।

11. नरेश मण्डल की स्थापना—मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट में, देशी राजाओं के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, एक 'नरेश मण्डल' (Chamber of Princes) के निर्माण का सुझाव दिया गया। अतः 8 फरवरी, 1921 को दिल्ली में 'नरेश मण्डल' की स्थापना कर दी गई जिसके कुल 121 सदस्यों में से 109 तो अधिक महत्त्वपूर्ण देशी रियासतों के और 12 कम महत्त्वपूर्ण रियासतों के प्रतिनिधि थे।

12. हाई कमिश्नर की नियुक्ति—अधिनियम द्वारा इंग्लैण्ड में भारत के लिए एक हाई कमिश्नर नियुक्त करने की व्यवस्था की गई जिसका कार्यकाल 6 वर्ष निश्चित किया गया और जिसे भारत के कोष से वेतन देने की व्यवस्था की गई। इस पदाधिकारी को मुख्यतः व्यवसायिक कार्यों का निरीक्षण सौंपा गया, कोई राजनीतिक कार्य नहीं सौंपे गए। अतः स्वभाविक था कि इस पद की व्यवस्था से भारतीयों में किसी उत्साह का संचार नहीं हुआ।

13. इस एक्ट द्वारा 10 वर्ष बाद एक कमीशन भेजने की व्यवस्था की गई जो इस बात की जाँच पड़ताल करेगा कि मॉण्टफोर्ड सुधारों द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था कहाँ तक सफल रही है।

14. संक्रमणकालीन उपाय—1919 का अधिनियम वास्तव में एक संक्रमणकालीन उपाय था। ब्रिटिश संसद् में अपने भाषण में मॉण्टेग्यू ने कहा भी था—"यह तो अन्तरकालीन उपाय है। भारत पर ब्रिटिश संसद् द्वारा शासन तथा भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन के मध्य यह एक प्रकार का पुल है।" लॉर्ड मेस्टन के अनुसार 1919 का अधिनियम एक प्रयोगकालीन और अल्पकालीन उपाय था। उनके शब्दों में—"स्वेच्छाचारी शासन और लोकतन्त्र उस समय तक साथ-साथ हाथ मिलाकर चलने को बाध्य थे, जब तक कि लोकतन्त्र स्वयं चलना न सीख ले तथा अकेला चलने के विश्वास योग्य न हो जाए।"

भारत सरकार के 1919 के अधिनियमों के मुख्य लक्षणों को इंगित करने के उपरान्त यह आवश्यक है कि हम अधिनियम के प्रावधानों अथवा उनकी व्यवस्थाओं का विस्तार से उल्लेख करें।

1919 के अधिनियम के अन्तर्गत गृह सरकार सम्बन्धी व्यवस्थाएँ

(Home Government under the Act of 1919)

1919 के इस अधिनियम का उद्देश्य भारतीय मामलों में गृह-सरकार

नियन्त्रण को शिथिल करना था परन्तु उसने भारत सचिव के अधिकारों में किसी प्रकार का औपचारिक परिवर्तन नही किया। केवल यह आशा व्यक्त की गई कि उचित अभिसमयो की वृद्धि के साथ यह शिथिलीकरण अपने आप सम्पन्न हो जाएगा। उस समय साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्नायु-केन्द्र इंग्लैण्ड ही बना हुआ था, भारतीय प्रशासन की सम्पूर्ण प्रणाली वही से नियन्त्रित होती थी। इंग्लैण्ड मे विस्थापित संस्थाओ का सामूहिक नाम गृह-सरकार था जिसके 5 मुख्य अंग थे—सम्राट, मन्त्रिमण्डल, संसद्, भारत सचिव और उसकी परिषद्। गृह-सरकार प्रशासन के वास्तविक दृश्य से दूर थी, अतः उसका नियन्त्रण और निरीक्षण साधारण प्रकृति का था। भारत के दिन-प्रति दिन के शासन का कार्य स्वाभाविक रूप से केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के पदाधिकारियो के हाथो मे था। ब्रिटिश सरकार का यह भाग भारत मे गृह-सरकार के अभिकर्त्ता (Agent) के रूप कार्य करता था।

1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों मे आंशिक उत्तरदायी शासन स्थापित करने का निर्णय किया गया। इस नई व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक था कि प्रान्तो पर से इंग्लैण्ड स्थित भारत सरकार के नियन्त्रण को कुछ ढीला कर दिया जाए। भारतीय जनता भी देश के प्रशासन पर भारत सचिव के नियन्त्रण से अप्रसन्न थी। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए 1919 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की स्थिति और उसकी परिषद् (India Council) के गठन आदि मे कुछ परिवर्तन किए गए। मुख्य व्यवस्थाएँ संक्षेप मे इस प्रकार थी—

प्रथम, भारत सचिव और उसके उप-सचिवो का वेतन और इण्डिया ऑफिस (India Office) का खर्च ब्रिटिश संसद् द्वारा स्वीकृत और प्रदत्त (Voted and Provided) धन राशि से दिया जाना निश्चित हुआ। सांविधानिक दृष्टि से यह व्यवस्था महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इससे भारत सचिव पर ब्रिटिश संसद् का नियन्त्रण अधिक बढ गया। जब ब्रिटिश संसद् उसके वेतन की मन्जूरी देती थी तो भारत के कार्यों की भी जाँच-पड़ताल करती थी।

दूसरे, भारत सचिव ब्रिटिश संसद् के एजेन्ट के रूप मे कार्य करता था। इसे भारत सरकार एवं भारतीय राजस्व से सम्बन्धित सभी मामलो की देखभाल का और इस सम्बन्ध मे आवश्यक आदेश देने का अधिकार था। अधिनियम में विशेष रूप से कहा गया कि भारत का गवर्नर जनरल और उसके द्वारा गवर्नर अपने सभी प्रशासनिक मामलो से भारत सचिव को सूचित रखेंगे और उसके आदेशों एवं निर्देशो का पालन करेंगे। भारत सचिव का भारतीय शासन पर इस दृष्टि से काफी अधिकार था कि कोई भी महत्त्वपूर्ण नियुक्ति गवर्नर जनरल उसकी स्वीकृति के बिना नही कर सकता था, भारत सचिव किसी भी अधिकारी को पदमुक्त कर सकता था और उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण पद समाप्त नहीं किया जा सकता था।

तीसरे, हस्तान्तरित विषयों (जो विषय प्रान्तो मे भारतीय मन्त्रियों को दिए गए) पर भारत सचिव का नियन्त्रण कम कर दिया गया। उन विषयों में

भारतीयों को अधिक अधिकार दिए गए। यह व्यवस्था की गई कि हस्तान्तरित विषयों में मन्त्री प्रान्तीय विधान-परिषदों के प्रति उत्तरदायी होंगे, अतः भारत सचिव उन विषयों में अपनी शक्तियों को सीमित करने के लिए नियम बनाएगा। तदनुसार भारत सचिव ने जो नियम बनाए उनसे उसका (भारत सचिव का) नियन्त्रण इन बातों तक सीमित हो गया—

(1) ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा करना।

(2) प्रान्तों द्वारा न मुलझाए जा सकने वाले प्रश्नों का निर्णय करना।

(3) गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् को अधिनियम के अन्तर्गत सौंपे गए कर्तव्यों तथा अधिकारों की देख-भाल करना और उनके उचित कार्यों का समर्थन करना।

(4) भारतीय हाईकमिश्नर, भारतीय नौकरियों एवं अपने ऋण लेने के अधिकारों की रक्षा।

(5) केन्द्रीय विषयों के शासन की देख-भाल।

चौथे, रक्षित विषयों (जो विषय प्रान्तों अथवा केन्द्र में रक्षित थे) पर भारत सचिव के नियन्त्रण को ढीला करने का प्रश्न ही नहीं उठता था; पर चूंकि अब प्रान्तों तथा केन्द्र की विधान-परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या काफी बढ़ा दी गई थी, अतः यह उचित समझा गया कि कुछ मामलों में भारत सचिव अधिक हस्तक्षेप नहीं करे और वे मामले भारत सरकार की इच्छा पर ही छोड़ दिए जाएँ। उदाहरणार्थ, सन् 1919 से पहले भारत की केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों पर यह प्रतिबन्ध था कि इनमें प्रस्तुत होने से पूर्व प्रत्येक बिल भारत सचिव की स्वीकृति के लिए भेजा जाए, लेकिन अब केवल कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों (विदेशी सम्बन्ध, सीमा शुल्क सैनिक मामले, मुद्रा, सार्वजनिक ऋण, आदि) से सम्बन्धित बिलों के लिए ही केन्द्रीय विधान-परिषद् में पेश होने से पूर्व भारत सचिव की सेवा में प्रस्तुत करना आवश्यक ठहराया गया। जहाँ तक प्रान्तीय मामलों का सम्बन्ध था, यह तय हुआ कि उनके बारे में किसी भी बिल को भारत सचिव के पास तब तक नहीं भेजा जाएगा जब तक कि गवर्नर जनरल उनकी स्वीकृति के बारे में कोई रुकावट उत्पन्न नहीं करे।

पाँचवें, इस अधिनियम द्वारा भारत परिषद् (India Council) के संगठन में परिवर्तन किए गए—(1) इसमें कम से कम 8 और अधिक से अधिक 12 सदस्य सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई, जबकि पहले कम से कम 10 और अधिक से अधिक 14 सदस्य होते थे। इन सदस्यों में कम से कम आधे ऐसे व्यक्ति होने जरूरी थे जो नियुक्ति के समय से पूर्व भारत में कम से कम 10 वर्ष तक नौकरी या निवास कर चुके हों और इस देश को उन्होंने अपनी नियुक्ति की तिथि के 5 वर्ष पूर्व न छोड़ा हो। (2) परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया, लेकिन उनका वार्षिक वेतन एक हजार पौंड से बढ़ाकर 1200 पौंड कर दिया गया। भारत में रहने वाले सदस्यों को 600 पौंड

का वार्षिक भत्ता भी दिया जाना निश्चय हुआ। (3) भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 3 कर दी गई। (4) परिषद् की मासिक बैठकों के स्थान पर इसकी बठक साप्ताहिक कर दी गई। (5) बैठकों के लिए जो कानून-सम्मत कोरम थे, उन्हें हटा दिया गया और उनके स्थान पर भारत मन्त्री को इच्छानुसार कोरम विहित करने का अधिकार दे दिया गया। (6) भारतीय आमदनी के अनुदान या व्यय और अखिल भारतीय सेवाओं के लिए कानून बनाने से सम्बन्धित विषयों का निर्णय करने के लिए परिषद् की बैठक में मतदाताओं के बहुमत का समागम आवश्यक ठहराया गया। (7) भारत सचिव के भारतीय सरकार के साथ पत्र-व्यवहार और सुधार करने हेतु गुप्त, अत्यावश्यक तथा अन्य सब मामलों का भेद-भाव समाप्त कर दिया गया।

उक्त विषयों को छोड़कर बाकी सब में परिषद् पर भारत सचिव का पूर्ण प्रभुत्व था। सही मानो में वास्तविकता यही थी कि परिषद् केवल एक परामर्शदात्री समिति ही थी। वह किसी भी आशय में एक विधायक निकाय नहीं थी। यह भारत सचिव पर नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकती थी। ऊपर उल्लिखित विषयों को छोड़कर अन्य किसी भी कार्य में परिषद् की सलाह लेना भारत सचिव की इच्छा पर निर्भर था और सलाह लेने के बाद उसे मानना या न मानना भी उसके ही अधिकार की बात थी। भारतीय लोक-मत ने इस परिषद् के अस्तित्व का सदैव विरोध किया। भारतीय राष्ट्रवादी इसे एक बिलकुल निकम्मी चीज मानते थे जो भारत की उन्नति में सबसे बड़ी बाधा थी। उनका कहना था कि भारतीय नौकरशाही को एक ऐसी संस्था के अधीन कर देना, जिसमें सेवा-निवृत्त भारतीय नौकरशाहों का प्रभुत्व हो, रोग को बढ़ाना था। यदि संयोगवश भारत सचिव प्रगतिशील विचारों का होता तो यह परिषद् उसके मार्ग में कटक का कार्य करती थी। वास्तव में इस परिषद् का अस्तित्व भारतीयों की स्वशासन सम्बन्धी भावनाओं के प्रतिकूल था। भारत परिषद् इस तथ्य के सजीव प्रतिकूल थी कि भारत एक आश्रित और परतन्त्र देश है। सर तेज बहादुर सप्रू ने परिषद् को भारत के लिए एक कलंक के समान बतलाया था। परिषद् का अस्तित्व यह प्रमाणित करता था कि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में भारत के लिए नीति का निर्माण दिल्ली में नहीं बल्कि ह्वाइट हाल में होता था।

छठे, इस अधिनियम द्वारा इंग्लैण्ड में भारत के लिए एक हाई कमिश्नर नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। इस नए पदाधिकारी की नियुक्ति का अधिकार सपरिषद् गवर्नर जनरल को दिया गया, लेकिन इसके लिए सपरिषद् भारत सचिव की स्वीकृति लेना आवश्यक ठहराया गया। इस हाई कमिश्नर के मुख्य कार्य ये रखे गए—(1) भारतीय व्यापार की देख-भाल करना, (2) इंग्लैण्ड में शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय विद्यार्थियों की सुख-सुविधाओं और आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना, एवं (3) भारतीय शासन के लिए सामग्री मोल लेना। हाई कमिश्नर की नियुक्ति से पूर्व यह कार्य भारत सचिव करता था।

इस हाई कमिश्नर का कार्यकाल 6 वर्ष निश्चित किया गया और इसे भारत के कोष से वेतन देने की व्यवस्था की गई। सन् 1920 मे सर विलियम मियर (Sir William Meyer) को भारत का प्रथम हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया। इस पद की व्यवस्था से भारतीय जनता मे किसी उत्साह का सचार नही हुआ क्योंकि इस पदाधिकारी को कोई राजनीतिक कार्य नही सौंपे गए और उसकी नियुक्ति का अधिकार सपरिषद् गवर्नर जनरल को दिया गया जो भारत सचिव के नियन्त्रण से किसी प्रकार भी मुक्त नही था। इसके अतिरिक्त हाई कमिश्नर के सब कार्य व्यापारिक और बाहरी दिखावे के थे। अतः ब्रिटिश सरकार की यह आशा व्यर्थ गई कि इंग्लैण्ड मे भारत का प्रतिनिधित्व हाई कमिश्नर द्वारा कराने से भारतीय यह अनुभव करेंगे कि उनका मान बढ गया है।

गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद् सम्बन्धी व्यवस्थाएँ

(क) गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् का आपसी सम्बन्ध—अधिनियम द्वारा भारत सरकार की कार्यकारिणी की रचना और शक्तियो मे कोई मौलिक परिवर्तन नही किए गए। कार्यकारिणी शक्तियाँ पूर्ववत् गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) के पास ही रही। गवर्नर जनरल पर जनता के प्रतिनिधियों का कोई नियन्त्रण स्थापित नही किया गया और उसकी शक्तियो को पहले ही की तरह असीमित, निरंकुश तथा अनुत्तरदायी बने रहने दिया गया। पहले ही की तरह भारत के सैनिक और गैर-सैनिक मामलो की देखभाल, नियन्त्रण और निर्देश देने की शक्तियाँ, गवर्नर जनरल के ही पास रही। यद्यपि इन शक्तियों का प्रयोग वह अपनी कार्यकारिणी परिषद् से मिलकर करता था लेकिन परिषद् पर उसका विशेष प्रभाव था क्योकि वह न केवल परिषद् का प्रधान था वरन् उसकी सिफारिशो पर ही परिषद् के सदस्यो की भारत सचिव द्वारा नियुक्ति की जाती थी तथा सदस्य अपनी भावी उन्नति के लिए भी उसकी सिफारिशों पर ही निर्भर रहता था। परिषद् का कोई भी सदस्य गवर्नर जनरल की सिफारिश के बिना गवर्नर के पद पर उन्नत नही किया जाता था। सदस्यो मे विभाग का वितरण करना और परिषद् की कार्यवाही के नियम बनाना गवर्नर जनरल का ही काम था। वह अपने मन चाहे स्थान पर परिषद् की बैठक आयोजित कर सकता था। गवर्नर जनरल को यह भी शक्ति प्राप्त थी कि वह परिषद् की सलाह की अवहेलना कर दे, यदि उसकी सम्मति मे यह सलाह खतरनाक या गलत हो या भारत मे शान्ति रखने के लिए उस सलाह की उपेक्षा करना आवश्यक हो।

गवर्नर जनरल का पद अत्यन्त प्रतिष्ठित और उत्तरदायित्वपूर्ण था। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर सम्राट द्वारा उसे 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता था। साधारणत. वह अपनी कार्यकारिणी परिषद् और केन्द्रीय विधान-मण्डल के परामर्श से देश का शासन चलाता था, लेकिन विशेष परिस्थितियो मे उसे विवेकानुसार कार्य करने का अधिकार था। उसकी स्व-विवेक की [illegible] प्रभावशाली और निर्णयकारी थी। गवर्नर जनरल को 2,56,000 रुपये

वेतन और 1,72,000 रुपये वार्षिक भत्ता मिलता था। उसे रहने के लिए एक शानदार महल मिलता था। अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल का विदेश विभाग (External Affairs Department) तथा राजनीतिक विभाग (Political Department) पर सीधा नियन्त्रण था। राजनीतिक विभाग के माध्यम से गवर्नर जनरल देशी रियासतों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता था। जब गवर्नर जनरल रियासतों के साथ काम चलाता था तो वह वायसराय कहलाता था। वायसराय अपने प्रतिनिधि प्रत्येक रियासत में रखता था जिसे रेजीडेन्ट कहा जाता था। रेजीडेन्ट रियासत की सारी सूचनाएँ वायसराय के राजनीतिक विभाग को पहुँचाता रहता था।

(ख) गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियाँ—अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल विशेष शक्तियों का स्वामी था। उसे केन्द्रीय विधान-परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाया गया था। उसकी कार्यकारिणी-परिषद् भी विधान-परिषद् के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। विधान-परिषद् गवर्नर जनरल या उसकी कार्यकारिणी परिषद् के किसी भी सदस्य को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा सकते थे। विधान परिषद् के पास केवल कुछ अन्य प्रकार के सार्वजनिक मामलों पर प्रस्ताव पास करने का अधिकार था जिन्हें मानना या न मानना गवर्नर जनरल की इच्छा पर था।

गवर्नर जनरल के कानूनी अधिकार बड़े व्यापक थे—(1) वह किसी बिल या उसकी किसी धारा पर विचार अथवा संशोधन करने से केन्द्रीय विधान-परिषद् को रोक सकता था, यदि उसकी सम्मति में इससे भारत के किसी भाग की शान्ति अथवा सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होता हो। (2) वह किसी भी प्रश्न या पूरक प्रश्न का उत्तर देने से इन्कार कर सकता था। (3) वह विधान-परिषद् के दोनों सदनों के सम्मुख भाषण दे सकता था और सदनों में सदस्यों की आवश्यक उपस्थिति के लिए नियम बना सकता था। (4) अनेक प्रकार के बिलों पर उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना किसी भी सदन में विचार तक नहीं किया जा सकता था। (5) उसकी अनुमति मिल जाने पर ही प्रत्येक प्रान्तीय और केन्द्रीय बिल कानून का रूप धारण कर सकता था। (6) वह किसी भी प्रस्ताव पर बहस को रोक सकता था और किसी भी काम रोको प्रस्ताव की मनाही कर सकता था। (7) उसे यह अधिकार था कि वह किसी भी बिल को ब्रिटिश सरकार की मंजूरी के लिए सुरक्षित (Reserved) रख ले। यदि सरकार किसी बिल को सदन में पेश करवाना चाहती हो और दोनों सदन उसे अस्वीकार कर दें तो गवर्नर जनरल उस बिल को अपनी विशेष शक्ति के द्वारा कानून में परिवर्तन कर सकता था। सन् 1923 में भारतीय राजाओं की रक्षा का अधिनियम (The Princes Protection Act) और 1925 में वित्तीय विधेयक (Finance Bill) इसी तरह कानून बनाए गए। (8) दोनों सदनों के इन्कार करने पर भी जो बिल इस तरह कानून बनाए जाते थे, उन्हें रद्द करने की शक्ति केवल ब्रिटिश संसद् और ब्रिटिश सम्राट सहित मन्त्रिमण्डल को थी।

स्पष्ट है कि केन्द्रीय विधान-मण्डल का गवर्नर जनरल पर कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था। वह विधान-परिषद् के प्रति उत्तरदायी नहीं था और कानून के क्षेत्र में अपनी मनमानी कर सकता था।

गवर्नर जनरल को अध्यादेश (Ordinance) जारी करने की विशेष शक्ति भी प्राप्त थी। केन्द्रीय विधान-मण्डल का अधिवेशन न होने पर, उसमे कोई संकट-कालीन परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर, गवर्नर जनरल विशेष आदेश जारी कर सकता था जो पहले 6 महीने के लिए जारी किए जा सकते थे, किन्तु बाद मे जिन्हे 6 महीने के लिए और बढ़ाया जा सकता था।

कानूनी एवं अध्यादेश जारी करने की शक्तियो के अतिरिक्त गवर्नर जनरल कुछ और भी महत्त्वपूर्ण शक्तियो का स्वामी था। बजट-निर्माण पर उसका पूर्ण नियन्त्रण था। उसकी आज्ञा के बिना बजट विधान-सभा या राज्य-सभा के समक्ष नही रखा जा सकता था। बजट को दो भागो मे विभाजित किया जाता था। प्रथम भाग मे सरकार के आवश्यक खर्चे की मदें होती थी। यह भाग कुल व्यय का लगभग 85 प्रतिशत होता था। इस पर केन्द्रीय विधान-मण्डल केवल सुझाव दे सकती थी, उसकी स्वीकृति की आवश्यकता नही थी। शेष 15 प्रतिशत व्यय बजट के द्वितीय भाग मे रखे जाते थे जिनके लिए विधान-सभा की स्वीकृति ली जाती थी, किन्तु गवर्नर जनरल विधान-सभा द्वारा किसी मांग को अस्वीकार कर देने पर भी अपनी विशेष शक्ति से उस मांग की मंजूरी दे सकता था। अतः विधान सभा सरकार की इच्छा के विरुद्ध किसी सरकारी मांग अथवा व्यय मे कटौती कर देती थी जो गवर्नर जनरल अपनी विशेष शक्ति द्वारा उसकी पूर्ति यह कह कर, कर सकता था कि उसके विशेष उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए ये व्यय आवश्यक हैं। निष्कर्षतः गवर्नर जनरल वित्तीय मामलो मे सर्वेसर्वा था और केन्द्रीय विधानमण्डल उसके सामने एकदम अशक्त था।

1919 के अधिनियम मे गवर्नर जनरल को प्रत्येक मामले मे विशेष शक्तियां ही प्रदान नही की गई बल्कि केन्द्रीय विधान-मण्डल के दोनो सदनो का ढांचा भी इस तरह से बनाया गया कि ब्रिटिश सरकार को अपने दैनिक कामकाज चलाने मे कोई कठिनाई न पड़े और गवर्नर जनरल को अपनी विशेष शक्तियो का अधिक प्रयोग न करना पड़े। इसीलिए अधिनियम द्वारा वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) की व्यवस्था नही की गई ताकि जनता के सच्चे प्रतिनिधि सदनो मे आकर उत्तरदायी सरकार की मांग न कर सकें। सदनों के लिए मताधिकार अत्यन्त सीमित रखे गए, स्त्रियो को मताधिकार से वंचित रखा गया, साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को बढ़ावा दिया गया और राज्य-सभा को एक रूढ़िवादी सदन बनाया गया तथा उसकी रचना ही इस तरह की गई कि वह सदैव ब्रिटिश सरकार को साथ दे। अभिप्राय यह है कि ब्रिटिश सरकार ने अधिनियम द्वारा भारतीयो को कानूनी एवं वित्तीय क्षेत्र में कुछ भाग अवश्य दिया लेकिन अन्तिम नियन्त्रण पूर्णतः अपने हाथ में रखा। अधिनियम ने केन्द्र मे आंशिक उत्तरदायी सरकार तक स्थापित नही की। हाँ, यह लाभ अवश्य हुआ कि चूंकि भारत सरकार के अनुचित मामलों की तीव्र आलोचना विधान-मण्डल में की जा सकती थी, अतः उसे जन-इच्छा का थोडा बहुत ध्यान रखना पडता था। प्रायः होता यह था कि जहाँ अंग्रेजो के हितों को कोई

हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं होती थी वहाँ ब्रिटिश सरकार विधान-मण्डल के सदस्यों की इच्छानुसार कार्य करती थी, किन्तु अंग्रेजों के हितों को हानि पहुँचने की सम्भावना होने पर सरकार विधान-मण्डल की तीव्रतम इच्छा को भी ठुकराने से नहीं चूकती थी। *सारांश रूप में, हम सर मैलकम हेली* (Sir Malcom Hailey) के इस मत को स्वीकार कर सकते हैं कि "लोकमत के प्रति यदि भारत सरकार उत्तरदायी नहीं तो अपेक्षाकारी (Responsive) अवश्य हो गई। इसके कार्य जनविचारधारा के यदि प्रतिबिम्बक (Reflective) नहीं तो परिचायक (Indicative) अवश्य हो गए।"

(ग) केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् सम्बन्धी परिवर्तन—1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् (Central Executive) में कोई *विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किए गए। उसके गठन के सम्बन्ध में कुछ नियम अवश्य बनाए गए जो इस प्रकार थे*—(1) परिषद् पर से पूर्व निर्धारित संख्या सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा दिया गया, (2) भारतीय उच्च न्यायालयों के उन वकीलों को, जिन्हें उनमें काम करते हुए 10 वर्ष हो चुके हों, परिषद् का विधि सदस्य (Law Member) नियुक्त होने योग्य ठहराया गया। श्री तेजबहादुर सप्रू को पहला भारतीय लॉ मेम्बर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, एवं (3) परिषद् में भारतीय सदस्यों की संख्या एक से बढ़ा कर तीन कर दी गई। इस तरह गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में अब कुल 7 सदस्य हो गए जिनमें से 3 भारतीय थे। सन् 1941 तक परिषद् के भारतीय सदस्यों की संख्या में आगे किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की गई। भारतीय सदस्यों को केवल 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता था और उनके पास कम महत्त्वपूर्ण विभाग होते थे।

केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् का गठन भारतीय दृष्टिकोण से किसी तरह उपयुक्त नहीं था। सबसे बड़ा दोष यह था कि विधान-सभा (Legislative *Assembly) के प्रति यह उत्तरदायी नहीं थी और इसमें लिए जाने वाले भारतीय* प्रायः ऐसे व्यक्ति होते थे जो सरकार के पिट्ठू (Yes Men) थे और उनकी सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा यही होती थी कि गवर्नर जनरल की छत्रछाया में रहकर धन एकत्र किया जाए तथा सगे-सम्बन्धियों को अच्छी नौकरियाँ दिलवाई जाएँ। फिर भी यह अवश्य है कि परिषद् एक परामर्शदात्री सभा के रूप में बड़ी उपयोगी थी।

केन्द्रीय विधान-मण्डल
(Central Legislative Assembly)

1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान-मण्डल को द्विसदनीय (Bicameral Council) बना दिया गया। ऊपरी सदन का नाम राज्य-सभा (Council of State) और *निम्न-सदन का नाम 'विधान-सभा* (Legislative Assembly) रखा गया। इस केन्द्रीय विधान-मण्डल को पहले से अधिक प्रभावशाली बनाने की व्यवस्था की गई।

(क) **राज्य-सभा (Council of State) का संगठन एवं काल**—इस सदन की अधिकतम संख्या 60 रखी गई जिनमें 34 निर्वाचित और 26 मनोनीत होते थे। 34 निर्वाचित सदस्यों में 19 को सामान्य चुनाव क्षेत्रों (General Constituencies) द्वारा, 12 को साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्रों द्वारा (11 मुसलमान और 1 सिक्ख) और शेष 3 को विशेष चुनाव क्षेत्रों (Special Constituencies) द्वारा लेने की व्यवस्था की गई। 26 मनोनीत सदस्यों में 20 सरकारी और 6 गैर-सरकारी सदस्य सम्मिलित थे।

सदस्यों के चुनाव के लिए प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति अपनाई गई, किन्तु मताधिकार केवल बड़े-बड़े सम्पत्तिशालियों और पदाधिकारियों को दिया गया। मताधिकार सम्बन्धी शर्तें इतनी कड़ी थीं कि सन् 1925 में भारत के केवल 17 हजार व्यक्ति ही राज्य-सभा के लिए वोट देने के अधिकारी बने।

राज्य-सभा का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित किया गया, किन्तु गवर्नर जनरल उसे किसी भी समय भंग कर सकता था अथवा विशेष परिस्थितियों में इसका कार्यकाल बढ़ा सकता था। गवर्नर जनरल ही सदन के प्रधान को मनोनीत करता था। सदन के प्रत्येक सदस्य को एक विशेष प्रकार की उपाधि (Hon'ble) से विभूषित किया गया था। कोई भी स्त्री सदन की सदस्या नहीं बन सकती थी।

(ख) **विधान-सभा (Legislative Assembly) का संगठन एवं कार्यकाल**—इस सदन की कुल संख्या 145 रखी गई। 26 सरकारी, 14 मनोनीत और शेष 105 निर्वाचित सदस्य थे। 105 निर्वाचित सदस्यों में से 53 को सामान्य चुनाव क्षेत्रों (General Constituencies) द्वारा, 32 को साम्प्रदायिक क्षेत्रों द्वारा (30 मुसलमान, 2 सिक्ख) और शेष को विशेष चुनाव क्षेत्रों (Special Constituencies) द्वारा (7 जमींदारों द्वारा, 9 यूरोपियनों द्वारा और 4 भारतीय व्यापारी वर्ग द्वारा) लिए जाने की व्यवस्था की गई। ऐंग्लो-इण्डियन, भारतीय ईसाइयों एवं दलित जातियों को प्रतिनिधित्व देने के लिए इनमें से प्रत्येक का एक सदस्य मनोनीत किया जाना निश्चित हुआ।

प्रान्तों में विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की सीटों का विभाजन किसी विशेष नियम या आबादी के अनुसार नहीं वरन् उनके महत्व के आधार पर किया गया

विधान-सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए भी यद्यपि प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति की व्यवस्था की गई, तथापि मताधिकार सम्पत्ति पर निर्धारित किया गया। केवल उन लोगों को चुनाव में मत देने का अधिकार दिया गया जो सरकार को आय-कर, भूमि-कर या अन्य कुछ विशेष टैक्स अथवा किराया आदि देते थे। मतदाताओं के लिए योग्यताएँ भी विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग रखी गईं। परिणामतः सन् 1927 के चुनाव में बर्मा सहित सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में मतदाताओं की संख्या केवल लगभग 11½ लाख रही।

विधान-सभा का कार्य-काल 3 वर्ष निश्चित किया गया, किन्तु गवर्नर जनरल को इसे किसी भी समय भंग करने अथवा इसकी अवधि को ब

अधिकार दिया गया। यह व्यवस्था की गई कि विधान-सभा के पहले सभापति को गवर्नर जनरल 4 वर्ष के लिए मनोनीत करे और उसके बाद विधान-सभा अपना सभापति स्वयं चुने जिस पर अन्तिम स्वीकृति गवर्नर जनरल की प्राप्त हो।

(ग) केन्द्रीय विधान-मण्डल की शक्तियाँ—अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान-मण्डल के सदस्यों की शक्तियाँ पूर्वापेक्षा बढ़ा दी गई। उन्हें प्रस्ताव पेश करने, प्रश्न करने एवं कानून बनाने के सम्बन्ध में अधिक सुविधाएँ प्रदान की गईं। इस तरह उनके लिए सरकारी नीति की पहले से अधिक अच्छी तरह आलोचना करना सम्भव हो गया। केन्द्रीय विधान-मण्डल को केन्द्रीय सूची में वर्णित सभी विषयों पर ब्रिटिश भारत की जनता के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया गया। यह अब ब्रिटिश भारत में स्थित न्यायालयों, स्थानों और वस्तुओं के सम्बन्ध में कानून बना सकती थी। भारत के किसी भी भाग में रहने वाली 'सम्राट की प्रजा' के लिए कानून बनाने का अधिकार भी था। कुछ नियमों के अनुसार यह अन्य सूचियों में दिए गए विषयों पर भी कानून बना सकती थी, किन्तु इन सब शक्तियों के होते हुए भी व्यावहारिक रूप से वह अधिक शक्तिशाली नहीं थी क्योंकि उसकी कानून-निर्मात्री शक्ति पर कई प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। यह 1919 के अधिनियम में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी, भारतीयों के लिए कोई विधान नहीं बना सकती थी और न ही कोई ऐसा कानून पास कर सकती थी जो ब्रिटिश संसद के किसी कानून के विरुद्ध हो। वह भारत सचिव की किसी शक्ति में भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त उसे निम्नलिखित विषयों पर विचार करने से पूर्व गवर्नर जनरल की स्वीकृति लेनी पड़ती थी—

(1) ऐसा कोई प्रान्तीय विषय अथवा उसका कोई भाग जिसके बारे में नियमों द्वारा केन्द्रीय विधान-मण्डल को कानून बनाने का निषेध हो।

(2) प्रान्तीय विधान-मण्डल के किसी अधिनियम को रद्द या संशोधित करना।

(3) गवर्नर जनरल द्वारा बनाए हुए किसी अधिनियम या अध्यादेश को रद्द या संशोधित करना।

(4) उक्त विषय के अतिरिक्त निम्नलिखित विषयों पर कोई भी वैधानिक कार्यवाही से पूर्व भी गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी। ब्रिटिश सम्राट के स्थल, वायु अथवा जल सेना के अनुशासन अथवा अन्य सम्बन्धित विषयों के बारे में, विदेशी राजाओं तथा देशी राजाओं के साथ भारत-सरकार के सम्बन्धों के बारे में, ब्रिटिश भारत की जनता की धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं के बारे में, उनके सार्वजनिक ऋण या भारत के राजस्व (Revenue) के बारे में।

केन्द्रीय विधान-मण्डल को कुछ वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त थी। बजट सर्वप्रथम विधान-सभा में ही पेश किया जाता था और बाद में राज्य-सभा के पास भेजा जाता था। बजट दो भागों में विभाजित था। प्रथम भाग में लगभग 85 प्रतिशत खर्चे की मदें होती थी और दूसरे में केवल 15 प्रतिशत के लगभग। प्रथम

भाग में किए जाने वाले मुख्य खर्चे ये थे —ऋण का ब्याज या डूबती हुई रकमों पर कोई कर, सम्राट या भारत सचिव द्वारा उनकी स्वीकृति से नियुक्त किए हुए व्यक्तियों के वेतन और पेन्शन, सेना एवं राजनीतिक विभाग और ईसाई धर्म पर खर्च होने वाली रकमें, मुख्य आयुक्तों (Chief Commissioners) के वेतन आदि। इस 85 प्रतिशत बजट पर केन्द्रीय विधान-सभा का कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था। बजट के 15 प्रतिशत वाले दूसरे भाग के बारे में केन्द्रीय विधान-मण्डल इन्कार कर सकता था या कटौती कर सकता था, किन्तु किसी रकम को बढ़ा नहीं सकता था।

केन्द्रीय विधान-मण्डल की समस्त कानूनी और वित्तीय शक्तियाँ गवर्नर जनरल की पूर्व-वर्णित विशेष शक्तियों के सम्मुख लगभग प्रभावहीन थी। गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद् का विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायित्व नहीं था। विधान-मण्डल केवल उनसे प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकता था, किन्तु परिषद् के किसी सदस्य को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा हटा नहीं सकता था। विधान-मण्डल सरकार को किसी कार्य के करने के लिए मजबूर नहीं कर सकता था और यह गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था कि वह उसकी किसी सिफारिशों या प्रस्ताव को माने या न माने। प्रत्येक बिल को अधिनियम बनाने से पहले दोनों सदनों में पेश होना जरूरी था और बिना गवर्नर की स्वीकृति के वह अधिनियम नहीं बन सकता था। गवर्नर जनरल को स्वीकृति देने, न देने या बिल को अपने सुझाव सहित वापिस भेजने का अधिकार था। इसके अतिरिक्त बिल सम्बन्धी किसी भी कार्यवाही को गवर्नर जनरल रोक सकता था और विधान-मण्डल के घोर विरोध करने पर भी किसी भी बिल को वह कानून का रूप दे सकता था।

केन्द्रीय विधान-मण्डल एक उत्तरदायी और लोकतन्त्रीय संस्था नहीं थी। इसका गठन बड़ा दोषपूर्ण था। राज्य-सभा (Council of State) में बड़े जमींदार और सम्पत्तिवान सम्मिलित थे जो भारतीय जनता के प्रतिनिधि नहीं कहला सकते थे। प्रो० श्रीनिवास आयंगर के शब्दों में "राज्य-सभा की रचना इस ढंग से की गई थी कि वह विधान-सभा के मार्ग में एक बाधा और सरकार के हितों को सुरक्षित रखने का एक सुदृढ़ साधन थी।"[1] राज्य-सभा सरकार के हितों की पक्षपोषक थी। उसको विधान-सभा के बराबर ही कानून-निर्मात्री शक्तियाँ दी गई थी। यद्यपि धन विधेयक पहले विधान-सभा में प्रस्तावित होता था, किन्तु राज्य-सभा में पहुँचने पर वह विधेयक बिलकुल अस्वीकार हो सकता था या उस पर राज्य-सभा द्वारा संशोधन के सुझाव दिए जा सकते थे। यदि राज्य-सभा किसी धन विधेयक को अस्वीकार कर देती थी या उसमें ऐसा संशोधन कर देती थी जो विधान-सभा को स्वीकृत न हो तो गवर्नर जनरल अपनी विशेष शक्तियों द्वारा उस विधेयक को कानून का

1 *A. C. Banerjee :* Indian Constitutional Documents, p 59.

सकता था। वस्तुतः गवर्नर जनरल के विशेष अधिकारों और उनके हस्तक्षेप के कारण विधान-सभा किसी भी रूप में एक प्रभावशाली संस्था नहीं थी।

सारांश रूप में यह कहा जाना चाहिए कि 1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय सरकार में किए गए परिवर्तन भारतीय जनता की उत्तरदायी सरकार की मांग को पूरा करने में असमर्थ रहे।

साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार
(Extension of the Communal Electorates)

1909 के अधिनियम द्वारा प्रारम्भ की गई साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति की मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में निन्दा की गई थी; फिर भी 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत इस चुनाव पद्धति का और भी विस्तार कर दिया गया। मुसलमानों के लिए प्रचलित साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति को बनाए रखा गया, पंजाब के सिक्खों के लिए साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की व्यवस्था की गई, बम्बई के मरहठों और मद्रास के गैर-ब्राह्मणों के लिए बहुसदस्य-चुनाव क्षेत्र (Plural Number Constituencies) में कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गई तथा अन्य हितों एवं वर्गों (जमींदारों, भूमिपतियों, विश्वविद्यालयों, व्यापारिक समुदायों आदि) को प्रतिनिधित्व देने के लिए विशेष चुनाव पद्धति जारी की गई। यह सब कुछ राष्ट्रीय एकता के प्रतिकूल था। साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति के विस्तार से भारतीयों के पारस्परिक भेदभाव पूर्वापेक्षा अधिक तीव्र हो गए और राष्ट्रीय शक्ति क्षीण होने लगी।

भारतीय सिविल सर्विस के अधिकारियों के लिए संरक्षण
(General Safe-guards for Indian Civil Service)

1919 के अधिनियम के अन्तर्गत भारत में नागरिक सेवाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष अधिनियम बनाए गए। भारतीय नागरिक सेवा के अधिकारियों को यह आशंका थी कि भारत में आंशिक उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था होने पर उनका पहले जैसा सम्मान नहीं रहेगा, उन्हें भारतीय मन्त्रियों के अधीन कार्य करना पड़ेगा और उनके द्वारा निर्धारित नीति को ही उन्हें कार्य रूप देना होगा। इसीलिए उन्होंने भारत सचिव मॉण्टेग्यू से प्रार्थना की कि "भारतीयों को हमारे कार्यकाल में राजनीतिक रियायतें न दी जाएँ।"

यद्यपि भारतीय राजनीतिज्ञों ने भी भारतीय सचिव से यह मांग की कि नई प्रशासकीय व्यवस्था को सफलतापूर्वक कार्यरूप देने के लिए नौकरशाही के प्रभाव को कम करना आवश्यक है, लेकिन ब्रिटिश सरकार इस बात को भली प्रकार समझती थी कि योग्य एवं अनुभवी प्रशासकीय पदाधिकारियों को भारतीय प्रशासन से पृथक् करना या उनकी स्थिति को कमजोर बनाना ब्रिटिश सरकार के हितों के अनुकूल नहीं होगा। अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश सरकार द्वारा 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों के हितों की रक्षार्थ अग्रलिखित विशेष व्यवस्थाएँ की गई—

1. भारतीय सिविल सर्विसके सदस्यों को भर्ती करने, उन्हें पदच्युत करने उनके वेतन और भत्ते निश्चय करने, उनके सेवाकाल से सम्बन्धित कई नियम आदि बनाने के सभी अधिकार सपरिषद् भारत सचिव के पास रखे गए।

2. भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों का वेतन, भत्ता और पेन्शन आदि पहले से बढ़ा दिए गए।

3. भारत सचिव को यह अधिकार दिया गया कि वह किसी भी पदच्युत व्यक्ति को दुबारा नौकरी पर लगा सके।

4. प्रान्तीय गवर्नरों को यह कार्य विशेष रूप से सौंप दिया गया कि वे भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों के हितों की रक्षा करें। सम्बन्धित गवर्नर की स्वीकृति के बिना ऐसा कोई भी आदेश जारी नहीं किया जा सकता था जिससे सिविल सर्विस के किसी सदस्य की स्थिति या भविष्य में उसकी उन्नति पर किसी प्रकार का खराब प्रभाव पड़े।

5. यह भी व्यवस्था की गई कि यदि सिविल सर्विस का कोई सदस्य अपने आपको 1919 के सुधारों के कारण परिवर्तित ढांचे के अनुसार ठीक न बैठा सके तो वह सेवा-निवृत्त हो सकेगा और उसे उतनी पेन्शन मिलेगी जितनी भारत सचिव निर्धारित कर देगा।

उपरोक्त उदारतापूर्ण संरक्षण की व्यवस्था होने पर भी लगभग 20 प्रतिशत पदाधिकारियों ने सेवा-निवृत्त होना स्वीकार कर लिया और अधिकांश पदाधिकारी यद्यपि भारतीय शासन में बने रहे लेकिन उनमें पहले जैसा उत्साह नहीं रहा। ब्रिटिश सरकार को भी इस बात से बड़ी निराशा हुई।

प्रान्तीय सरकार के ढांचे में परिवर्तन
(Changes in the Provincial Set-up)

1919 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश भारत के कुछ प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन प्रारम्भ करने की व्यवस्था को कार्यरूप देने की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकार के अधिकार क्षेत्रों को निश्चित करने के लिए तत्सम्बन्धी नियमों के अनुसार कुल विषयों की दो सूचियाँ तैयार की गई—केन्द्रीय विषयों की सूची तथा प्रान्तीय विषयों की सूची। केन्द्रीय विषयों की सूची में उन समस्त विषयों को रखा गया जिनका सम्बन्ध भारतवर्ष या एक से अधिक प्रान्तों में था और जिनके बारे में बनने वाले कानूनों में एकरूपता का होना आवश्यक था। 47 विषयों को केन्द्रीय विषय बनाया गया जिनमें से प्रमुख इस प्रकार थे—प्रतिरक्षा, विदेशों से सम्बन्ध, भारत से बाहर यात्रा, विदेशियों को भारत की नागरिकता प्रदान करना, देशी रियासतों से सम्बन्ध, आवागमन के साधन, सीमा शुल्क, रूई इत्यादि पर उत्पादन कर, नमक, आयकर, डाकखाने, सिक्के तथा नोट, भारत में सार्वजनिक ऋण आदि। साधारणतया केन्द्रीय सरकार को ही इन विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार था। प्रान्तीय सूची में 51 विषय रखे गए। इस सूची में स्थानीय महत्त्व के विषयों को सम्मिलित किया गया, जैसे—शिक्षा, स्थानीय स्वशासन,

सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, चिकित्सा विभाग, पानी की सप्लाई, कृषि, सिंचाई, पुलिस और जेल, सहकारिता, जंगल, अकाल सहायता, भूमि कर आदि।

यह भी व्यवस्था की गई कि यदि गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् किसी भी केन्द्रीय विषय को स्थानीय हितों का घोषित कर दे तो उस विषय पर प्रान्तों को कानून बनाने का अधिकार हो जाएगा। अधिनियम में यह भी कहा गया कि जो विषय प्रान्तीय सूची में शामिल नहीं किए गए हैं उन सब पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र को है। दूसरे शब्दों में शेष विषयों पर कानून बनाने की शक्तियाँ केन्द्र को दे दी गई हैं। विवादग्रस्त विषयों पर गवर्नर जनरल का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होने की व्यवस्था की गई अर्थात् गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिए गए कि वह विवादग्रस्त विषय के सम्बन्ध में यह निर्णय करे कि वह विषय प्रान्तीय है या केन्द्रीय। केन्द्रीय सरकार को सभी प्रान्तीय विषयों पर कानून बनाने की आज्ञा दी गई, किन्तु ऐसा करने से पूर्व केन्द्रीय विधान-मण्डल को गवर्नर जनरल से विशेष आज्ञा प्राप्त करनी होती थी। अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र और प्रान्तों में शक्तियों के बँटवारे के लिए कोई समवर्ती सूची (Concurrent list) नहीं बनाई गई।

प्रान्तीय विषयों के उचित विकास के लिए प्रान्तों को कुछ स्वतन्त्र आय के साधन देना भी आवश्यक था। अतः विषयों के विभाजन के साथ-साथ आय के साधनों का विभाजन भी किया गया। प्रान्तीय विषयों से होने वाली समस्त आय प्रान्तीय सरकारों के अधिकार में रखी गई। उन्हें आय-कर का कुछ भाग देना भी निश्चित किया गया। केन्द्रीय विषयों से होने वाली आय पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण रखा गया। प्रान्तों को यह अधिकार भी मिला कि बिना गवर्नर जनरल की आज्ञा के भी कुछ विशेष प्रकार के कर लगा सकेंगे। अपनी आय के साधनों के आधार पर कुछ विशेष कार्यों के लिए उन्हें ऋण लेने का भी अधिकार दिया गया, किन्तु इस प्रकार का कोई भी ऋण लेने से पूर्व उन्हें आवश्यकतानुसार सपरिषद् गवर्नर जनरल अथवा सपरिषद् भारत सचिव की आज्ञा लेना जरूरी था। इस नई व्यवस्था के कारण केन्द्रीय सरकार की आय का कम हो जाना स्वाभाविक था, अतः मैस्टन-अवार्ड (Meston Award) के अनुसार यह निर्णय किया गया कि प्रत्येक प्रान्त कुछ निश्चित धन-राशि केन्द्रीय सरकार को दे।

वित्तीय क्षेत्र में केन्द्रीय नियन्त्रण ढीला कर दिया गया। केन्द्र और प्रान्तों के राजस्व के साधनों को अलग-अलग कर देने से प्रान्तीय सरकारों की केन्द्रीय सरकार पर निर्भरता कुछ कम हो गई और प्रान्त वित्तीय मामलों में पूर्वापेक्षा अधिक आत्म-निर्भर बन गए। 1919 के अधिनियम का वस्तुतः इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि इसके द्वारा चाहे प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial Autonomy) एकदम प्रारम्भ न किया गया, लेकिन इसके द्वारा उस दिशा में पहला कदम अवश्य उठाया गया और इसी मार्ग पर चलते हुए बाद में 1935 के अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय स्वराज्य एक वास्तविकता बन गया।

वित्तीय क्षेत्र के अतिरिक्त कानूनी और प्रशासकीय क्षेत्र में भी केन्द्रीय नियन्त्रण मे ढिलाई की गई। 1919 के अधिनियम से पूर्व प्रत्येक प्रान्तीय बिल के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी, लेकिन अब यह निश्चित किया गया कि प्रान्तीय सूची पर कानून बनाने के लिए कुछ विशेष मामलो को छोड़कर शेष मामलों मे गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता नही होगी। केन्द्रीय सरकार उस समय प्रायः हस्तक्षेप कम या फिर बिलकुल नही करती थी, जब प्रान्तीय सरकार किसी हस्तान्तरित विषय (Transferred Subject) पर कानून बनाती थी। लेकिन उसका हस्तक्षेप तब प्रायः हो जाया करता था जब प्रान्तीय सरकार किसी रक्षित विषय (Reserved Subject) पर कानून बनाती थी। प्रशासकीय क्षेत्र के सम्बन्ध मे अधिनियम के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की निगरानी, निर्देश और नियन्त्रण मे रहेंगी तथा उनका यह कर्त्तव्य होगा कि वे केन्द्रीय सरकार को प्रत्येक महत्त्वपूर्ण मामले की सूचना देती रहे। फिर भी हस्तांतरित विषयो मे केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण शिथिल कर दिया गया। केन्द्रीय सरकार रक्षित विषयो के सम्बन्ध में ही अधिक हस्तक्षेप करती थी और इस क्षेत्र मे उसका नियन्त्रण विशेष ढीला नही किया गया।

प्रान्तों में द्वैध शासन-व्यवस्था
(Dyarchy in the Provinces)

1919 के अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत के 9 प्रान्तो में एक नवीन शासन-पद्धति की व्यवस्था की गई जिसे द्वैध शासन पद्धति (Dyarchy) कहा जाता है। भारतीयो की दीर्घकालीन मांग को पूरा करने के लिए उत्तरदायी शासन की पहली किस्त के रूप मे यह पद्धति दी गई थी और इसका मुख्य उद्देश्य भारतीयो को स्वायत्त-शासन मे प्रारम्भिक शिक्षा देना बतलाया गया था ताकि भारत बिना किसी सांविधानिक कठिनाई के उत्तरदायी शासन की ओर अग्रसर हो सके।

द्वैध शासन पद्धति के अन्तर्गत प्रान्तीय विषयों को दो भागो मे विभक्त किया गया—रक्षित विषय (Reserved Subjects) और हस्तान्तरित विषय (Transferred Subjects)। जिन विषयो को भारतीयों को देने से ब्रिटिश सरकार का कोई अहित नही होता था, जिनमे गलती होने से ब्रिटिश सरकार को कोई विशेष हानि पहुँचने की संभावना नही थी और जिनका नियन्त्रण भारतीय अपने हाथो में, विकास की दृष्टि से अधिक चाहते थे, उन विषयो को हस्तान्तरित (Transferred Subjects) कहा गया। इनमें प्रमुख विषय इस प्रकार थे—स्थानीय स्वशासन, चिकित्सा शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सफाई, ब्रिटिश भारत से यात्रा, यूरोपियन तथा आंग्ल भारतीयों की शिक्षा को छोड़कर शेष जनता की शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि सहकारी समितियाँ, मछली क्षेत्र, उद्योग धन्धे, खाद्य वस्तुओं मे मिलावट, जन्म एवं मृत्यु सम्बन्धी आंकड़े, तोल-माप आदि। 51 विषयों में से लगभग 22 विषय हस्तान्तरित रखे गए और शेष विषय रक्षित। जितने भी अधिक महत्त्वपूर्ण विषय थे उन्हे रक्षित विषयों में रखा गया, जैसे—न्याय प्रबन्ध, पुलिस,

सिंचाई, भू-राजस्व प्रबन्ध, समाचार-पत्र नियन्त्रण, पुस्तकों और छापेखाने पर नियन्त्रण, प्रान्तीय सरकार के नाम पर उधार लेना, खनिज साधनों का विकास, प्रान्तीय वित्त आदि।

विषयों के विभाजन की भाँति प्रान्तीय कार्यकारिणी के भी दो भाग किए गए —एक भाग में गवर्नर और उसकी परिषद् के सदस्य (Councillors) सम्मिलित थे तथा दूसरे भाग में गवर्नर एवं प्रान्तीय मन्त्री। रक्षित विषयों का प्रबन्ध सपरिषद् गवर्नर (अर्थात् गवर्नर और उसके कौन्सिलर्स) को दिया गया जबकि हस्तान्तरित विषयों की बागडोर गवर्नर और प्रान्तीय मन्त्रियों को सौंपी गई। वित्त विभाग को यद्यपि रक्षित विषयों में सम्मिलित करके एक कौन्सिलर के अधीन रखा गया, तथापि वह सरकार के दोनों भागों से सम्बन्धित था। उसके अध्यक्ष एवं कर्मचारी वर्ग का यह कर्त्तव्य निश्चित किया गया था कि वे सरकार के रक्षित और हस्तान्तरित दोनों भागों (Reserved and Transferred Parts) को समान रूप से सहयोग एवं सहायता देंगे। इस तरह प्रान्तों में एक ऐसी शासन प्रणाली लागू की गई जिसके दो मुख्य भाग थे—सपरिषद् गवर्नर एवं गवर्नर जनरल तथा मन्त्री। प्रथम भाग के पास रक्षित विषयों का प्रबन्ध था और यह भार ब्रिटिश संसद् के प्रति उत्तरदायी था तथा इसके अधिकांश सदस्य अंग्रेज थे। दूसरे भाग के पास हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध था और इसमें सम्मिलित मन्त्रिगण प्रान्तीय विधान-परिषद् (Provincial Legislative Council) के प्रति उत्तरदायी थे। इसमें अधिक संख्या भारतीयों की थी।

इस द्वैध शासन पद्धति के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकार को यद्यपि दो भागों में विभक्त किया गया था, किन्तु ये दोनों भाग एक दूसरे से पूर्ण पृथक् नहीं थे अथवा इन दोनों भागों के लिए पृथक्-पृथक् विधान-मण्डल, कर्मचारी वर्ग और वित्तीय प्रबन्ध नहीं थे। ब्रिटिश सरकार के अनुसार ऐसा करना न उचित था और न ही सम्भव। इसीलिए मन्त्री-वर्ग के अधीन भी अखिल भारतीय सेवाओं (All India Services) के सदस्य काम करते थे। यद्यपि उन पर मन्त्रियों का किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था और उनकी नियुक्ति आदि का अधिकार सपरिषद् भारत सचिव के हाथों में था। मन्त्री-वर्ग का कोई भी सदस्य गवर्नर की स्वीकृति के बिना उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकता था। द्वैध शासन-पद्धति के व्यवस्थापकों का विचार था कि प्रान्तीय सरकार के दो भाग परस्पर मिलकर और सहयोगपूर्वक कार्य करेंगे तथा प्रान्तीय गवर्नर उनका प्रमुख होने के नाते दोनों के मध्य एक कड़ी का काम देगा। यह आशा की गई थी कि मन्त्रिगण शासन-प्रबन्ध में गवर्नर से आवश्यक परामर्श लेंगे और गवर्नर उनकी ऐसी सलाह का उचित सम्मान करेगा। किन्तु 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन-पद्धति से जो आशाएँ की गईं, वे फलीभूत नहीं हो सकीं क्योंकि यह पद्धति अनेक मौलिक तथा व्यावहारिक दृष्टियों से दोषपूर्ण थी—

प्रथम, प्रान्तीय कार्यकारिणी और उसके कार्यों का दो पृथक् भागों में विभाजन सैद्धान्तिक रूप से गलत था, क्योंकि सरकार-रूपी इकाई को इस प्रकार के विभाजन द्वारा सफलतापूर्वक चलाया जाना सम्भव नहीं था और ऐसी शासकीय व्यवस्था में उत्तरदायित्व की भावना के समाप्त होने का बीज विद्यमान था।

दूसरे, इस पद्धति के अन्तर्गत प्रान्तीय विषयों का विभाजन ठोस और स्पष्ट आधार पर नहीं किया गया। उदाहरणार्थ यदि कृषि विभाग हस्तान्तरित विषय था जिसका प्रबन्ध एक मन्त्री के हाथ में था तो सिंचाई, राजस्व प्रबन्ध, बिजली आदि का विषय, जिसका कृषि से गहरा सम्बन्ध था, रक्षित भाग का विषय था। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें कृषि मन्त्री से कृषि सम्बन्धी नीति का उचित ढंग से निर्धारण करने की आशा करना व्यर्थ था और साथ ही उसका शासन पर कोई प्रभाव भी नहीं हो सकता था।

तीसरे, अधिनियम के निर्माताओं का इरादा था कि मन्त्रियों में गवर्नरों द्वारा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को उत्साहित किया जाए। लेकिन व्यवहार में गवर्नर ने इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया और वे मन्त्रियों से सामूहिक विचार-विमर्श करने के स्थान पर अलग-अलग ही परामर्श करते रहे। इससे सारी शक्तियाँ गवर्नर के हाथों में बनी रही और मन्त्रियों को सामूहिक होकर कुछ करने का अवसर ही नहीं मिल सका। प्रान्तीय क्षेत्रों में गवर्नर का प्रभाव इतना अधिक बना रहा कि मन्त्रियों के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना भी कठिन था। गवर्नर न केवल मन्त्रिमण्डल का निर्णय ही अपनी इच्छानुसार कर सकता था बल्कि उसके पास मन्त्रियों को पद प्रदान करने, उन्हें पदच्युत् करने तथा प्रान्तीय विधान-परिषद् के विरोध करने पर भी पुनः उसके पदों पर बनाए रखने की शक्ति थी।

चौथे, गवर्नर की सद्भावना के बिना न तो मन्त्रियों को सरकार के रक्षित भाग एवं कर्मचारी वर्ग का सहयोग ही प्राप्त हो सकता था और न ही वे शासन-कार्य को चलाने के लिए वित्त विभाग से धन ही प्राप्त कर सकते थे। बजट की तैयारी में गवर्नर का पूरा हाथ होता था और वही यह निर्णय करता था कि रक्षित विषय में कितना खर्च हो तथा हस्तांतरित विषयों पर कितना खर्च हो।

पाँचवें, मन्त्रियों का प्रान्तीय शासन प्रबन्ध तथा सरकार की नीति पर तनिक भी प्रभाव नहीं था। महत्त्वपूर्ण विषय सरकार के रक्षित भाग में थे जिन पर नीति-निर्धारण करते समय मन्त्रियों से किसी प्रकार का परामर्श नहीं लिया जाता था। हस्तान्तरित विषयों के शासन में भी मन्त्री ऐसी सलाह नहीं दे सकता था जो किसी प्रकार भी गवर्नर की इच्छा के प्रतिकूल हो।

छठे, यदि किसी कारणवश अधिनियम के अनुसार हस्तान्तरित विषय का शासन नहीं चलाया जा सकता था तो गवर्नर जनरल भारत सचिव की पूर्व अनुमति से अधिनियम को इच्छित समय के लिए स्थगित कर सकता था और ऐसी दशा में हस्तान्तरित विषय का शासन भी रक्षित विषय की तरह ही चलाया जा सकता था। बंगाल और मध्य प्रान्त में वास्तव में ऐसा ही हुआ भी।

सातवें, उच्च कर्मचारी वर्ग की ओर से मन्त्रियों को उचित सम्मान एवं सहयोग नहीं मिलता था क्योंकि उनकी नियुक्ति, वेतन तथा कार्यकाल पर मन्त्री वर्ग का कोई अधिकार नही था। अधिनियम द्वारा उन्हें कानूनी-तौर पर स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी और उन पर विशेष रूप से यह उत्तरदायित्व डाला गया था कि वे गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों के हितो की रक्षा का कार्य करेंगे।

आठवें, इस शासन-व्यवस्था में वित्त विभाग की स्थिति इस प्रकार बनाई गई थी कि वित्त विभाग का अध्यक्ष (जो एक ब्रिटिश कौन्सिलर होता था) रक्षित विभागों को अनुदान आदि देने में बड़ा उदार था और उन्हें यथा-सम्भव हर प्रकार की सहायता और सहयोग देता था, लेकिन हस्तान्तरित विभागो के सम्बन्ध में वह बड़ा कंजूस था तथा उसके साथ काम करने वाले कर्मचारी मन्त्रियो के मार्ग में विभिन्न प्रकार की बाधाएँ डालने को तैयार रहते थे। फलतः मन्त्रि-वर्ग के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना ही कठिन था।

नवें, प्रान्तीय गवर्नर मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने के लिए प्रायः विभिन्न दलों और हितों के सदस्य चुनता था ताकि मन्त्रि-वर्ग के राजनीतिक विचारों में एकता और समन्वयन हो सके। साथ ही मन्त्रि मण्डल के संयुक्त उत्तरदायित्व की व्यवस्था भी नही की गई थी और प्रान्तीय विधान-मण्डल का गठन भी बड़ा दोषपूर्ण था।

स्पष्ट है कि द्वैध शासन-पद्धति की विभिन्न त्रुटियों के कारण प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का विकास होना असम्भव था।

प्रान्तीय विधान-मण्डल
(Provincial Legislatures)

प्रान्तीय विधान-मण्डल के ढांचे में भी 1919 के अधिनियम के अनुसार महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। प्रान्तीय विधान-परिषदों का पुनर्गठन किया गया और उनकी सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। यह व्यवस्था की गई कि बड़े प्रान्तों की विधान-परिषदों में अधिक से अधिक 140 और छोटे प्रान्तों में कम से कम 60 सदस्य हो सकेंगे। इन सदस्यों में कम से कम 70 प्रतिशत निर्वाचित सदस्य होने जरूरी थे। सरकारी सदस्यों की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती थी। शेष 10 प्रतिशत गैर-सरकारी सदस्य होते थे जिन्हें प्रान्तीय गवर्नर द्वारा मनोनीत किया जाता था। प्रत्येक विधान-परिषद् में कार्यकारिणी के सदस्य पदेन सदस्यों (Ex-officio Members) के रूप में सम्मिलित होते थे।

प्रस्तुत व्यवस्था में निर्वाचित सदस्यों को सामान्य चुनाव क्षेत्रों, साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्रों और विशेष चुनाव क्षेत्रों द्वारा लेने की पद्धति अपनाई गई, लेकिन मतदाताओं की योग्यताओं के सम्बन्ध में निश्चित की गई शर्तें इस प्रकार की रखी गईं कि कुल जनसंख्या के केवल 2·8 प्रतिशत भाग को ही मत देने का अधिकार मिल सका। फिर भी यह अवश्य है कि मिण्टो-मार्ले सुधारों की अपेक्षा मताधिकार

विस्तृत हुआ। इस सम्बन्ध मे एक और रोचक बात यह थी कि मतदाताओं मे अधिकांश संख्या अशिक्षित व्यक्तियों की थी। शिक्षित जनता के अधिकांश भाग को मतदान का अधिकार नही मिल पाया। स्त्रियों को मताधिकार नही दिया गया, लेकिन यह व्यवस्था की गई कि प्रान्तीय विधान-परिषद् उन्हे मताधिकार दे सकती है।

मताधिकार के लिए योग्यताएँ प्रत्येक प्रान्त मे भिन्न-भिन्न रखी गई। प्रायः ऐसा किया गया कि जो लोग देहाती क्षेत्र मे 10 रुपये से लेकर 50 रु० तक प्रतिवर्ष भूमि-कर देते थे, उन्हें मताधिकार दे दिया गया। नगरों मे जो कम से कम दो हजार रुपये वार्षिक आमदनी पर आय-कर देते थे या जिन्हें मकान से कम से कम 36 रु० वार्षिक किराया मिलता था या जो 36 रु० वार्षिक किराया देते थे या जो नगरपालिका को कम से कम 3 रु० वार्षिक टैक्स देते थे, उन्हें अपना नाम मतदाताओं की सूची मे लिखवा सकने का अधिकार दिया गया था। विधान-परिषद् के लिए यूनिवर्सिटी चुनाव क्षेत्रो मे 7 वर्ष की अवधि के रजिस्टर शुदा स्नातक या 5 वर्ष की अवधि के विधान-परिषद् के सदस्य अथवा सीनेट के सदस्यो को मताधिकार दिया गया। जहाँ पंजाब में 500 रु० वार्षिक भूमि कर देने वाले जमीदार को विधान-परिषद् के लिए मताधिकार दिया गया वहाँ उत्तर प्रदेश में 5000 रु० वार्षिक भूमि-कर देने वाले व्यक्तियों को यह अधिकार मिला। सामान्य चुनाव क्षेत्र (General Constituencies) मुसलमान, गैर-मुसलमान, ईसाई, यूरोपियन आंग्ल भारतीय समुदाय और सिक्ख आदि के लिए बनाए गए। विशेष चुनाव क्षेत्र (Special Constituencies) यूनिवर्सिटी, वाणिज्य, उद्योग और जमीदारों के लिए बनाए गए। सामान्य चुनाव क्षेत्रों को भी देहाती एवं शहरी चुनाव क्षेत्रों मे बाँटा गया।

प्रान्तीय विधान-परिषद् की अवधि 3 वर्ष निश्चित की गई, लेकिन प्रान्तीय गवर्नर इस अवधि को 1 वर्ष तक बढ़ा सकता था और अवधि से पूर्व भी परिषद् को भंग कर सकता था। गवर्नर को परिषद् के अधिवेशन को बुलाने, स्थगित करने या किसी भी समय भंग करने की शक्ति प्राप्त थी। अवधि से पूर्व इसे भंग कर देने पर 6 महीने के अन्दर परिषद् के लिए चुनाव कराना अनिवार्य था।

प्रान्तीय विधान-परिषदों को प्रान्तों की शान्ति-व्यवस्था और सुशासन के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया गया। गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के साथ, वे किसी केन्द्रीय विषय के सम्बन्ध मे भी, जिसका प्रान्तीय शासन पर प्रभाव पड़ता हो, कानून बना सकती थी। विधान-परिषद् मे पास होने वाला प्रत्येक बिल गवर्नर की स्वीकृति से ही अधिनियम बन सकता था। गवर्नर को स्वीकृति देने, न देने या किसी बिल को गवर्नर जनरल के विचारार्थ रखने का अधिकार था। प्रान्तीय विधान-परिषद् को जिन विशेष मामलों मे कानून बनाने से पूर्व गवर्नर जनरल की आज्ञा लेनी पड़ती थी, वे ये थे—(1) कोई ऐसा कर लगाना, जिसकी

शक्ति प्रान्तीय विधान-परिषद् को प्राप्त न हो, (2) सार्वजनिक ऋण, (3) सरकार के देशी राजाओं और विदेशी राज्यों से सम्बन्ध, (4) सेना के अनुशासन अथवा उसके किसी भाग के सगठन को प्रभावित करना, एवं (5) किसी केन्द्रीय विषय को प्रभावित करना। प्रान्तीय विधान-परिषद् को ऐसे कानून बनाने की स्पष्ट रूप से मनाही कर दी गई जिसका प्रभाव ब्रिटिश संसद् द्वारा बनाए हुए अधिनियमो पर पड़ता हो। कानूनी क्षेत्र में गवर्नर को विशेष शक्तियों से सम्पन्न किया गया। उदाहरणार्थ यदि रक्षित विषय पर विधान-परिषद् उस रूप में बिल पास करने से इनकार कर देती जिस तरह गवर्नर चाहता था, तो वह बिल को अपनी 'प्रमाणित करने की शक्ति' (Power of Certification) के द्वारा यह कह कर पास कर सकता था कि उस विषय से सम्बन्धित उसके विशेष उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए, बिल को पास करना आवश्यक है। गवर्नर अपनी इन शक्तियों का दुरुपयोग न करे, इसलिए यह व्यवस्था की गई कि इस प्रकार के पास किए हुए प्रत्येक बिल गवर्नर जनरल के पास जाएँगे और वह तभी कानूनी बन सकेंगे जब उस पर ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति प्राप्त हो जाएगी। यह व्यवस्था थी कि सकटकालीन अवस्था में गवर्नर जनरल उस कानून की मजूरी दे सकता था, किन्तु बाद मे वह आवश्यकता पडने पर ब्रिटिश सम्राट द्वारा रद्द किया जा सकता था। गवर्नर द्वारा इस प्रकार से पास किए हुए अधिनियम की मंजूरी ब्रिटिश संसद् से लेनी पडती थी।

प्रान्तीय विधान-परिषदों को यद्यपि बहुत सी वित्तीय शक्तियाँ भी दी गईं, किन्तु गवर्नरो की विशेष शक्तियो द्वारा उन पर अनेक रुकावटें लगा दी गईं ताकि परिषदें गवर्नर की इच्छानुसार किसी माँग को पास न करें तो उसे गवर्नर अपनी विशेष शक्ति द्वारा पास कर सके। इस तरह वित्तीय मामलों में अन्तिम नियन्त्रण सम्बन्धित प्रान्तीय गवर्नर के हाथ मे रखा गया। वार्षिक बजट विधान-परिषद् के सामने पेश करने की व्यवस्था की गई किन्तु बजट को दो भागों मे विभक्त करने की व्यवस्था रखी गई। पहले भाग मे वे रकमें शामिल की जानी थी जिन पर विधान-परिषद् को केवल बहस करने का अधिकार था, मतदान करने का नहीं। इस तरह लगभग 70 प्रतिशत व्यय पर विधान-परिषद् का कोई नियन्त्रण नही रखा गया। शेष 30 प्रतिशत व्यय वाले बजट के दूसरे भाग पर विधान-परिषद् अपना मत दे सकती थी और किसी व्यय में कटौती भी कर सकती थी। मन्त्रियो के वेतन मे विधान-परिषद् को कटौती करने का अधिकार था, लेकिन गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यो का वेतन कम करने का कोई अधिकार नहीं था। परन्तु विधान-परिषद् की ये थोड़ी बहुत वित्तीय शक्तियाँ भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रभाव-शून्य थी क्योंकि—जब विधान-परिषद् किसी रक्षित विषय के अनुसार या खर्चे में कटौती कर देती थी तो गवर्नर उसे यह कह कर अपनी 'प्रमाणन शक्ति' (Power of Certification) द्वारा पास कर सकता था कि उस विषय से सम्बन्धित विशेष जुम्मेवारियो को निभाने के लिए खर्चे या माँग को पास किया जाना आवश्यक है।

संकटकालीन अवस्था में गवर्नर हस्तान्तरित विषयों से सम्बन्धित किसी कम किए हुए अनुदान को भी इसी तरह पास कर सकता था।

स्पष्ट है कि प्रान्तीय विधान-परिषदों की व्यवस्था बड़ी निराशाजनक थी। प्रथम, इनकी रचना के सम्बन्ध में अपनाए गए सिद्धान्त राष्ट्र के लिए काफी हानिकारक थे। दूसरे, सम्बन्धित चुनाव क्षेत्र इतने विस्तृत थे कि चुनाव लड़ने वालों और मतदाताओं का पारस्परिक सम्पर्क होना बड़ा कठिन था। राजनीतिक दलों के अभाव में चुनाव व्यक्तिगत आधार पर लड़े जाते थे और सफल होने वाले सदस्य मतदाताओं के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते थे और न ही मतदाता अपने मत के महत्त्व को आँक पाते थे। तीसरे, विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों और हितों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया था जिससे विधान-परिषदों में अनेक छोटे-छोटे गुट बन गए थे। ये गुट अपने हितों की रक्षा के लिए अधिक चिंतित रहते थे न कि राष्ट्रीय हितों के लिए। चौथे, गवर्नरों को कानूनी और वित्तीय मामलों में आवश्यकता से अधिक अधिकार थे। ये अधिकार लोकतन्त्र के बिलकुल विरुद्ध थे और विधान-परिषदें उनकी शक्तियों के सामने असमर्थ थीं। पाँचवें, गवर्नरों द्वारा मनोनीत सरकारी अधिकारी और गैर-सरकारी अधिकारी सदैव सरकार का पक्ष लेते थे। सरकार द्वारा जो साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति अपनाई गई थी, उससे भी इसको अनेक मत मिल जाते थे। मन्त्री सरकार की सहायता से ही अपने पीछे बहुमत रख सकते थे। विधान-परिषदों का गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। छठे, मतदाताओं की संख्या बहुत कम थी और परिषदों में अल्पसंख्यक वर्गों को उनकी संख्या के अनुपात से अधिक सीटें दी गई थी।

किन्तु इतना सब होते हुए भी प्रान्तीय विधान परिषदें बहुत उपयोगी थी। यह एक महत्त्व की बात थी कि अधिनियम के अन्तर्गत मन्त्रियों को विधान-परिषदों के प्रति उत्तरदायी बनाया गया था और परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत स्थापित किया गया था। यह भी महत्त्वपूर्ण बात थी कि विधान परिषदों को स्वयं अपना सभापति चुनने का अधिकार दिया गया था और मताधिकार भी पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत किए गए थे। इसके अतिरिक्त चाहे कार्यकारिणी परिषद् का विधान-परिषद् हटा नहीं सकती थी किन्तु प्रश्न और पूरक प्रश्न आदि पूछकर उसे किसी सीमा तक प्रभावित अवश्य कर सकती थी। जिन बिलों को कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्य पास करना चाहते थे उनमें विधान-परिषद् कुछ रुकावटें उत्पन्न करके उनमें अपनी बात मनवा सकती थी। यद्यपि कार्य-कारिणी परिषद् के सदस्य विधान-परिषद् द्वारा इनकार करने पर उस बिल को गवर्नर की विशेष शक्तियों से पास करवा सकते थे, तथापि यह विशेष शक्ति प्रतिदिन प्रयोग में नहीं लाई जा सकती थी। अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन-पद्धति का यह भी महत्त्वपूर्ण परिणाम निकला कि इससे मन्त्रियों को कुछ शिक्षण मिला और उन्होंने आंशिक रूप में यह सीखा कि उत्तरदायी सरकार किस तरह चलाई जा सकती है। भारत

की प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास में द्वैध शासन-पद्धति ने वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम किया। प्रान्तीय विधान-परिषदों के भारतीय सदस्यों को शासकीय विभागों का नियन्त्रण दिया गया। वे अपने अधीन काम करने वाले अंग्रेज कर्मचारियों को भी आदेश देने लगे और उन्हें सरकार के उन प्रशासकीय रहस्यों का भी, जो अब तक सरकार उनसे छिपाकर रखती थी, कुछ ज्ञान होने लगा। द्वैध शासन-पद्धति ने सार्वजनिक सेवाओं के भारतीयकरण (Indianisation) को प्रोत्साहन दिया। इस प्रणाली के प्रचलित होने से पूर्व ही भारतीय सिविल सर्विस के बहुत से अंग्रेज सदस्य वापिस इंग्लैण्ड लौट गए थे और शेष का भी पहले जैसा उत्साह न रहा था। साथ ही भारतीय मन्त्रियों के लिए सिविल सर्विस के पुराने पदाधिकारियों को अच्छे पदों पर लगाना भी कठिन था, इसलिए सरकार को सार्वजनिक सेवाओं के प्रति भारतीयकरण की नीति में और अधिक उदार होना पड़ा। प्रो. श्रीराम शर्मा के मतानुसार—भारतीय मन्त्रियों का विभिन्न महत्त्वपूर्ण विभागों का अध्यक्ष ही इस बात की माँग करता था कि उच्च दर्जे की सार्वजनिक सेवाओं के सम्बन्ध में भारतीयकरण की नीति को अपनाया जाए, क्योंकि भारतीय सिविल सर्विस के भारतीय सदस्य अब जिला अधिकारी के रूप में जीवन व्यतीत करने को तैयार न थे। द्वैध शासन-पद्धति का एक सुपरिणाम यह निकला कि प्रान्तीय क्षेत्रों में काम करने वाले भारतीय मन्त्रियों ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने पर अपना ध्यान दिया और इस क्षेत्र में कुछ सराहनीय कदम भी उठाए। नौकरशाही में इस प्रकार के कदम उठाने का उत्साह नहीं था। एक तो इसलिए कि भारतीय रीति-रिवाजों से परिचित नहीं थे और दूसरे उसे कदम उठाने में राजनीतिक कठिनाइयों के उत्पन्न होने का भय था।

द्वैध शासन-पद्धति 1921 से लेकर 1937 तक अर्थात् लगभग 16 वर्ष प्रचलित रही। इस अवधि में ब्रिटिश सरकार को यह अनुभव हो गया कि कार्यपालिका को विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी ठहराए बिना शासन को कुशलता से नहीं चलाया जा सकता। इसके अतिरिक्त भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को बल मिला और उन्हें शासन का शिक्षण भी प्राप्त हुआ।

प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषदों में अधिक भारतीयों को सम्मिलित करना

1919 के अधिनियम की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसके द्वारा प्रान्तों की कार्यकारिणी परिषदों में भारतीय सदस्यों की संख्या पहले से अधिक बढ़ा दी गई। मद्रास, बम्बई और बंगाल की सरकारों को रक्षित भाग के सदस्यों में से 2 भारतीय सदस्य लेने की व्यवस्था की गई। शेष 6 प्रान्तों में भी जहाँ प्रत्येक की कार्यकारिणी के रक्षित भाग में केवल 2 सदस्य होते थे, एक भारतीय रखने की व्यवस्था की गई। इन सदस्यों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा भारत सचिव की सिफारिश पर की जाती थी और वे प्रायः 5 वर्षों के लिए नियुक्त किए जाते थे। प्रान्तीय सरकार के हस्तान्तरित भाग में सम्मिलित सभी मन्त्री भारतीय होते थे।

9 भारत सरकार का 1935 का अधिनियम

(GOVERNMENT OF INDIA ACT, 1935)

मॉण्ट-फोर्ड सुधारों अथवा 1919 के अधिनियम से भारतीयों को कोई भी सन्तोष नहीं हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन नई गति और नई दिशा पकड़ता गया। भारत की वैधानिक समस्या को हल करने के लिए 1930, 31 और 32 में तीन गोलमेज सम्मेलन हुए जिनके आधार पर मार्च, 1933 में ब्रिटिश सरकार ने एक 'श्वेत-पत्र' (White Paper) प्रकाशित किया जिसमें नए संविधान के प्रस्तावों को लेखबद्ध किया गया। प्रस्तावों में संघात्मक व्यवस्था और प्रान्तीय स्वायत्तता का प्रावधान था। केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों स्तरों पर विशेष उत्तरदायित्व और रक्षोपाय कार्यपालिका के हाथ में सुरक्षित रखे गए थे। तथापि 21 मार्च, 1933 को नए भारत सचिव सेम्युअल होर ने ब्रिटिश लोकसभा में बोलते हुए कहा—"श्वेत-पत्र की योजना *भारत को स्वशासन देने की योजना नहीं है, वह तो भारत में सांविधानिक प्रगति* की दिशा में एक नई किश्त है।"

स्वाभाविक था कि इन प्रस्तावों की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इनसे कोई भी संतुष्ट न था। "श्वेत-पत्र में दी गई योजना इतनी प्रतिक्रियावादी थी कि भारतीय जनमत के प्रत्येक प्रगतिशील वर्ग के लिए वह सर्वथा अमान्य थी। लगभग सभी भारतीय नेताओं ने उसकी कठोर शब्दों में निन्दा की। गोलमेज सम्मेलन की समितियों की सिफारिशों से श्वेत-पत्र की सिफारिशें किसी प्रकार भी मेल नहीं खाती थीं।"[1]

भारतीय असन्तोष को देखते हुए इन प्रस्तावों पर आगे विचार करने के लिए तथा पूरी योजना का परीक्षण करने के लिए ब्रिटिश संसद् ने दोनों सदनों की एक संयुक्त प्रवर समिति बनाई। समिति में बहुमत अनुदार दल का था और उसके अध्यक्ष थे लॉर्ड लिनलिथगो। समिति के सामने गवाहों के रूप में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को उपस्थित होने का निमन्त्रण दिया गया। नवम्बर, 1934 में इस समिति की रिपोर्ट में यह दोहराया गया कि संघ की स्थापना तभी

1 सी. वाई. चिन्तामणि : इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स दि म्युटिनी, पृ. 173–174.

हो सकेगी जब कम से कम 50 प्रतिशत देशी राज्य उसमेशामिल होने को तैयार हो जाएं। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय विधान-मण्डल के लिए परोक्ष निर्वाचन, देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का नरेशों द्वारा नामांकन, उच्च दन समाप्त करने की शक्ति ब्रिटिश संसद् के हाथों में रखने आदि के प्रावधान कुछ ऐसे थे जो श्वेत-पत्र में दी गई योजना से भी खराब थे। ये सब ऐसी थी जो भारतीय जनमत और राष्ट्रीय नेतृत्व को किसी भी प्रकार पसन्द आने वाली न थीं। फिर भी, संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद् ने एक विधेयक का प्रारूप बनाया जो संसद् में पास होने और सम्राट की अनुमति पाने के बाद अगस्त, 1935 मे कानून बन गया। यही 1935 का भारतीय शासन अधिनियम था।[1]

1935 के अधिनियम के पारित होने के कारण

1919 के अधिनियम के बाद से लेकर 1935 के बीच ऐसी अनेक घटनाएँ घटी और ऐसे अनेक कारण पैदा हुए जिनकी वजह से 1935 का अधिनियम पारित किया गया—

1. 1919 के सुधारों से भारतीयो को बिलकुल सतोप न हुआ क्योंकि वास्तविक शक्ति गवर्नरों और गवर्नर जनरल के हाथो मे रही जो भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी थे। सभी मामलो मे अन्तिम निर्णय सरकार के हाथ मे रहा और विधान-परिषदें आलोचना के अतिरिक्त कुछ भी नही कर सकती थी। इन दोषो के कारण शुरू से ही भारतीयो ने इस अधिनियम का विरोध करना आरम्भ कर दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सुधारो को 'अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशाप्रद' (Inadequate, Unsatisfactory and Disappointing) कहकर उनकी निन्दा की। महात्मा गांधी भी सहयोगी से असहयोगी बन गए और सारा देश एक होकर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने लगा।

2. ब्रिटिश नौकरशाही ने सहानुभूति और दूरदर्शिता से काम लेने के बजाय दमन का मार्ग अपनाया। भारतीयों के घोर विरोध के बावजूद दमनकारी रौलेट एक्ट पास किया गया। गांधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन चला जिसे कुचलने के लिए सरकार ने सेना का आश्रय लिया। 13 अप्रेल, 1919 को अमृतसर में जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड हुआ जहां जनरल डायर ने एक शान्त सभा मे एकत्रित 20 हजार व्यक्तियों पर निर्दयतापूर्वक गोलियां चलाईं और सैकडो-हजारो को भून दिया। इस हत्याकाण्ड और अन्य अत्याचारो से भारतीयो मे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध तूफान उठ खड़ा हुआ जिसे भविष्य में किसी न किसी प्रकार शान्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार बाध्य हुई।

3. ब्रिटिश सरकार के दमनकारी रवैए को देखते हुए गांधीजी के नेतृत्व मे असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप सारे देश में राजनीतिक चेतना फैल गई और राष्ट्रीय प्रेम बना रहा। आन्दोलन का सबसे बड़ा प्रभाव यह रहा

1 सुभाष काश्यप : वही, पृष्ठ 134

कि ब्रिटिश सरकार की सत्ता और सम्मान को गहरा आघात पहुँचा। 1922 में आन्दोलन के स्थगन से यद्यपि भारत में डगमगाती अंग्रेज सरकार के पैर फिर से जम गए, लेकिन वह भारतीयों को शान्त करने को चिन्तित हो उठी।

4. स्वराज्य दल ने केन्द्रीय विधान-परिषद् के चुनावों में अच्छी सफलता प्राप्त की और 1924 में पंडित मोतीलाल नेहरू ने एक संशोधन विधेयक पेश कर 1919 के अधिनियम में कुछ परिवर्तनों की माँग की। जब ब्रिटिश सरकार ने कोई ध्यान न दिया तो स्वराज्य दल ने कठोर रुख अपनाया। अपने बहुमत के बल पर उसने केन्द्रीय विधान-परिषद् की बैठक में 1924–25, 1925–26, 1926–27 के बजटों की माँग को अस्वीकार कर दिया और गवर्नर जनरल को अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग करना पड़ा। सरकार के कड़े विरोध के बावजूद 1918 के दमनकारी कानूनों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया गया और कई अन्य मामलों पर भी सरकार को हार खानी पड़ी। यद्यपि सरकार ने 1919 के सुधारों में कोई परिवर्तन नहीं किया, लेकिन फरवरी, 1924 के उक्त प्रस्ताव का यह परिणाम अवश्य निकला कि सरकार ने सुधारों की जाँच के लिए गृह सदस्य (Home Member) अलेक्जेंडर मुडीमैन (Alexander Muddiman) की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की जो भारतीय इतिहास में 'मुडीमैन कमेटी' के नाम से विख्यात है।

5. मुडीमैन कमेटी के 12 सदस्यों में अधिकांश सदस्य यूरोपियन और सरकारी थे। कमेटी के सरकारी सदस्यों ने यह विचार प्रकट किया कि सन् 1919 के अधिनियम द्वारा प्रचलित द्वैध शासन-प्रणाली को तो बना रहने दिया जाए, किन्तु उसके प्रमुख दोषों को दूर करने के लिए सम्बन्धित नियमों में आवश्यक सुधार किया जाना चाहिए। 1925 में सरकार ने जब मुडीमैन कमेटी की रिपोर्ट को केन्द्रीय विधान-परिषद् के सामने रखा तो पण्डित मोतीलाल नेहरू ने इस रिपोर्ट की कटु आलोचना की और द्वैध शासन को अमल करने के अयोग्य सिद्ध किया। उन्होंने सरकार के विरोध के बावजूद केन्द्रीय विधान-मण्डल में मुडीमैन कमेटी की रिपोर्ट के विरुद्ध प्रस्ताव पास कराया। कुछ मास बाद ही विवश होकर ब्रिटिश सरकार को यह घोषणा करनी पड़ी कि शीघ्र ही एक कमीशन भारत में भेजा जाएगा जो इस बात की जाँच करेगा कि 1919 के सुधार किस सीमा तक सफल या असफल हुए और यह कमीशन भारत के भावी सांविधानिक विकास के सम्बन्ध में भी अपने सुझाव देगा। इस प्रकार भावी सांविधानिक सुधारों की पृष्ठभूमि तैयार होने लगी।

6. उपरोक्त घोषणा के पश्चात् फरवरी, 1928 में साइमन कमीशन भारत आया। मई, 1930 में कमीशन ने रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट में भारत के लिए अधिराज्य स्थिति या औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion States) का कहीं जिक्र तक नहीं किया गया। इसने जनता की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं की पूर्ण उपेक्षा की। अतः भारतीयों द्वारा इस रिपोर्ट की कटु आलोचना की गई। फिर भी यह कहना होगा कि यह रिपोर्ट भारत राज्य के लेखों में सदैव एक महान् लेख बना रहेगा। इस रिपोर्ट का सबसे बड़ा गुण यह था कि इसने भारतीय राजनीति की

कठिनाइयों और समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डाला। इस रिपोर्ट द्वारा की गई कई एक सिफारिशों को 1935 के अधिनियम मे भी स्थान दिया गया। 1935 मे प्रान्तों को जब स्वराज्य दिया गया और अल्पमतो के हितो की रक्षा की जो व्यवस्था की गई तथा गवर्नरों को जो विशेष शक्तियाँ दी गईं, उन सबकी आधार यह रिपोर्ट थी। इस रिपोर्ट द्वारा ब्रिटिश सरकार को यह स्पष्ट हो गया कि 1919 के अधिनियम के अनुसार प्रान्तों मे चलाया हुआ द्वैध शासन पूर्णतः असफल हो गया है और भारतीयों को स्वशासन के मार्ग पर आगे बढ़ाने की आवश्यकता है।

7. जब भारतवासी साइमन कमीशन का वहिष्कार कर रहे थे तभी भारत सचिव लॉर्ड बुकनहैड ने भारतीयो को ऐसा सविधान बनाने की चुनौती दी जिससे सब भारतीय सहमत हो। फलस्वरूप 1928 की नेहरू रिपोर्ट सामने आई। इस रिपोर्ट में भारत के भावी सविधान की रूपरेखा निश्चित की गई थी और उसकी अनेक बातें वर्तमान सविधान में भी अपना ली गईं। जिन्ना के नेतृत्व मे मुस्लिम लीग ने नेहरू संविधान को अस्वीकार कर दिया और विदेशी हुकूमत को सहारा लगा लेकिन वह समझ गई कि भारतीयो को शीघ्र ही कुछ सॉविधानिक सुधार देने पड़ेंगे।

8. ब्रिटिश सरकार समझ गई कि भारतीयों की सविधान सम्बन्धी माँग की अधिक समय तक उपेक्षा नही की जा सकती। अत लॉर्ड इर्विन ने लन्दन सरकार से परामर्श करके 31 अक्टूबर, 1929 को यह घोषित किया कि "1917 की घोषणा से स्पष्ट है कि भारत को अन्त में अधिराज्य स्थिति (Dominion Status) का दर्जा मिले।" इर्विन ने यह भी कहा कि भारतीय संविधान पर सोच-विचार के लिए शीघ्र ही एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाएगा जिसमे ब्रिटिश भारत और देशी रियासतो के प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार से मिलेंगे। "यह घोषणा इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी कि इसके पहले केवल ब्रिटिश सरकार को ही भारत के सौविधानिक विकास के सम्बन्ध मे सोचने और निर्णय करने का अधिकार प्राप्त था, किन्तु अब इस परम्परा का परित्याग करके एक सम्मेलन द्वारा समस्या के सम्बन्ध मे सोचने का कार्यक्रम अपनाया गया।"[1]

9. भारत की वैधानिक समस्या को हल करने के लिए 1930, 1931 और 1932 में तीन गोलमेज सम्मेलन हुए। इनके आधार पर मार्च, 1933 में ब्रिटिश सरकार ने 'श्वेत-पत्र' (White Paper) प्रकाशित किया जिसे 1935 के सुधार अधिनियम की दूरी कहा जा सकता है। इस श्वेत-पत्र को ब्रिटिश ससद् की संयुक्त प्रवर समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। समित की रिपोर्ट को ब्रिटिश शासन ने स्वीकार किया और एक विधेयक फरवरी, 1935 में ब्रिटिश संसद् मे पेश किया गया जो अगस्त 1935 मे 'भारत सरकार का अधिनियम' (Government of India Act, 1935) बन गया।

1 *Frank Moraes* : Jawahar Lal Nehru, p. 144.

भारत सरकार का 1935 का अधिनियम ही 1947 में स्वाधीनता की प्राप्ति तक भारत का संविधान बना रहा।

1935 के अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ या उसके मुख्य लक्षण

सन् 1935 का संविधान बहुत लम्बा और जटिल था, जिसमे 451 धाराएँ और 15 सूचियाँ सम्मिलित थी। इसकी अनेक धाराओं में शुद्ध सांविधानिक समस्याओं को स्पर्श तक नहीं किया गया था। अधिनियम के अन्तर्गत भारतीयों को प्रान्तीय क्षेत्र में स्वायत्त-शासन, केन्द्रीय क्षेत्र मे आंशिक उत्तरदायी शासन एवं अखिल भारतीय सघ देने की व्यवस्था की गई थी। अधिनियम की ये तीनो विशेषताएँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थी और एक के बिना दूसरे को कार्यरूप देना असम्भव था। प्रान्तीय क्षेत्र मे स्वायत्त-शासन की व्यवस्था करना आवश्यक था जबकि केन्द्र मे उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाना था। इसी तरह अखिल भारतीय संघ की स्थापना किए बिना केन्द्र मे उत्तरदायी शासन की व्यवस्था भली प्रकार नही की जा सकती थी।

भारत सरकार के 1935 के अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ ये थी—

(1) **अखिल भारतीय संघ (All India Federation)**—अधिनियम के अन्तर्गत यह निर्णय किया गया कि केन्द्र मे ब्रिटिश प्रान्तों और देशी रियासतो को मिलाकर एक सघ स्थापित किया जाए। यह सघ 11 ब्रिटिश गवर्नर-प्रान्तों, 6 चीफ कमिश्नर प्रान्तो और देशी रियासतो से मिलकर बनना था जो अपनी इच्छा से सघ मे सम्मिलित होने के लिए तैयार हो जाएँ। प्रान्तो के लिए सघ मे सम्मिलित होना अनिवार्य था जबकि देशी रियासतो के लिए ऐच्छिक था। यह व्यवस्था की गई कि संघ मे सम्मिलित होने वाली प्रत्येक रियासत का राजा एक प्रवेश लेख या सम्मिलित पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करे जिसमें यह वर्णित हो कि वह कौन-कौन से विषयो को सघीय कार्यपालिका को सौंपने को तैयार है। सघ की इकाइयों को अपने आन्तरिक मामलो मे स्वशासन प्राप्त था। इकाइयों और सघ सरकार के मध्य उठने वाले विवादो के समाधान के लिए एक सघीय न्यायालय की स्थापना की गई। केन्द्र मे एक संघीय कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका की स्थापना की गई।

यह आयोजन किया गया कि सघ शासन का उद्घाटन तब किया जाए जबकि—(1) सघ मे इतनी रियासतें मिलने को तैयार हों जिनकी सख्या रियासतो की सख्या का आधा भाग हों, एव (2) सघ में सम्मिलित होने वाले भारतीय नरेश राज्य-सभा (Council of State) के 52 सदस्य चुनने के अधिकारी हों। चूंकि देशी रियासतें संघ मे सम्मिलित नही हुई, अतः प्रस्तावित सघ की स्थापना ही नहीं की जा सकी।

(2) **प्रान्तीय स्वायत्तता (Provincial Autonomy)**—इस अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वराज्य या प्रान्तीय स्वायत्तता का आरम्भ किया गया। प्रान्तो को एक नवीन सांविधानिक दर्जा दिया गया और उन्हें अपने मामलों में पर्याप्त सीमा

तक प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता मिली। प्रान्तों में 1911 के अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया। रक्षित विषयों और हस्तान्तरित विषयों के भेद को समाप्त कर दिया गया। प्रान्तीय क्षेत्र का पूर्ण नियन्त्रण जनता के प्रतिनिधि मन्त्रियों के अधिकार में कर दिया गया। प्रान्तीय गवर्नरों से मन्त्री वर्ग के परामर्श पर शासन-कार्य चलाने की आशा की गई। उन्हे प्रान्तीय विधान-परिषदों में बहुमत दलीय नेता की स्वीकृति से मन्त्रिमण्डल के निर्माण का निर्देश दिया गया। उनसे यह आशा की गई कि वे मन्त्रियो में सयुक्त उत्तरदायित्व की भावना को प्रोत्साहन देंगे। मन्त्रिमण्डल को प्रान्तीय विधान-परिषद् के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया। विधान आदि निश्चित करने का अधिकार भी प्रान्तीय परिषद् को दिया गया।

इस प्रकार 1935 के अधिनियम प्रान्तीय स्वायत्तता की दिशा में एक निश्चित सुधार था, पर साथ ही प्रान्तीय गवर्नरों को कुछ विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए जिनके कारण प्रान्तों को दिया गया स्वायत्त शासन निराशाजनक सिद्ध हुआ। शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि विभिन्न प्रकार के संरक्षण और आरक्षण (Safeguards and Reservations) उत्तरदायी शासन की कार्यकुशलता और उसके विकास मे बड़े बाधक थे।

(3) संरक्षण और आरक्षण (Safeguards and Reservations)—प्रान्तीय गवर्नरो को सौंपी गई विशेष जुम्मेवारियाँ मुख्यत इस प्रकार थीं—(i) प्रान्त एवं उसके किसी भाग में शान्ति तथा सुव्यवस्था को भंग करने वाले खतरों को रोकना, (ii) अल्पसंख्यक मतों के हितों की रक्षा करना, (iii) उच्च-राज्य कर्मचारियों के हितो की रक्षा करना, (iv) गवर्नर जनरल के आदेशों और निर्देशों का पालन करना, (v) प्रत्येक भारतीय रियासत के अधिकार और उसके शासक की मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा करना, आदि। इसी प्रकार गवर्नर जनरल को भी व्यापक अधिकार दिए गए। उसकी स्वेच्छाचारी शक्तियों का सविधान की 90 से अधिक धाराओं में वर्णन किया गया है। गवर्नर जनरल को प्रतिरक्षा, विदेशी मामलो, धार्मिक मामलो आदि के प्रबन्ध का एकाधिकार दिया गया। अपने विशेष उत्तरदायित्वों की आड़ मे गवर्नर जनरल और गवर्नर मनमानी कर सकते थे। केन्द्र और प्रान्त के उत्तरदायी शासन मे हस्तक्षेप करने के उनके व्यापक अधिकार ही अधिनियम (संरक्षण एवं आरक्षण) थे। ये रसक्षण एवं आरक्षण अलोकतान्त्रिक थे और इनकी व्यापकता के कारण वास्तविक स्वशासन की आशा नही की जा सकती थी। अधिनियम लागू होने के कुछ ही समय बाद यह स्पष्ट हो गया कि इन समस्त संरक्षणों और आरक्षणो का उद्देश्य भारत में उत्तरदायी शासन के विकास को रोकना और भारत पर ब्रिटिश शासन को दृढ़ बनाए रखना था।

(4) प्रान्तीय विधान-परिषदों का पुनर्गठन (Reconstitution of Provincial Legislatures)—अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय विधान-परिषदों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। मद्रास, यू. पी., बिहार और असम की विधान-

परिषदें द्विसदनीय बना दी गईं, जबकि शेष प्रान्तों में परिषदों को एक सदनीय ही रहने दिया गया। द्विसदनीय विधान-परिषदों के उच्च सदन का नाम विधान-परिषद् (Legislative Council) और निम्न सदन का नाम विधान-सभा (Legislative Assembly) रखा गया। एक सदनीय विधान-परिषद् में केवल विधान-सभा (Legislative Assembly) ही होती थी। विधान-सभाओं से छोटी सभा में 60 और बड़ी से बड़ी सभा में 250 सदस्य सम्मिलित थे। मताधिकार का विस्तार किया गया। प्रान्तों के लिए 10 प्रतिशत जनता को मत देने का अधिकार दिया गया। साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली यद्यपि देश और राष्ट्रवाद के लिए हानिकारक थी, तथापि इसका और अधिक विस्तार कर दिया गया।

(5) केन्द्र में द्वैध शासन (Dyarchy at the Centre)—1935 के अधिनियम द्वारा केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की व्यवस्था की गई और इस हेतु द्वैध शासन-पद्धति का प्रारम्भ किया गया। केन्द्रीय क्षेत्र को दो भागों में विभक्त किया गया—रक्षित विषय (Reserved Subjects), तथा हस्तान्तरित विषय (Transferred Subjects)। रक्षित विषय में प्रतिरक्षा, चर्च सम्बन्धी मामले, विदेशी मामले और कबीलों के मामले शामिल थे, जिनका शासन गवर्नर जनरल अपनी इच्छानुसार चला सकता था। रक्षित विषय के शासन में सहायता के लिए गवर्नर जनरल कुछ सभासद् (Councillors) नियुक्त कर सकता था जिनकी संख्या 3 से अधिक नहीं हो सकती थी। रक्षित विषयों को छोड़कर शेष सारे विषय हस्तान्तरित थे। हस्तान्तरित विषयों का शासन-प्रबन्ध गवर्नर जनरल और एक मन्त्रि-परिषद् को सौंपा गया जिनमें अधिक से अधिक 10 सदस्य हो सकते थे। गवर्नर जनरल को रक्षित और हस्तान्तरित दोनों विषयों के संचालन का अधिकार दिया गया। केन्द्र में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करते समय गवर्नर जनरल को विशेषाधिकार और विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए, जो केन्द्र में उत्तरदायी शासन के विकास के मार्ग में उपयोगी सिद्ध होने के स्थान पर बाधक सिद्ध हुए।

(6). शक्तियों का विभाजन (Distribution of Powers)—अखिल भारतीय संघ स्थापित करने के लिए आवश्यक था कि केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के मध्य वैधानिक शक्तियों का विभाजन किया जाए ताकि प्रत्येक प्रान्त अपने क्षेत्र में सर्वोच्च शक्ति बनकर अपने अधिकारों का प्रयोग कर सके। सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत विषयों के विभाजन के लिए तीन सूचियाँ बनाई गईं—संघ सूची प्रान्तीय सूची तथा समवर्ती सूची। संघ सूची में 59 विषय, प्रान्तीय सूची में 54 विषय और समवर्ती सूची में 36 विषय रखे गए। सशस्त्र सेनाएँ, मुद्रा व नोट, डाक व तार, रेल, केन्द्रीय सेवाएँ, विदेशी मामले, वायरलैस, रेडियो आदि विषय संघ सूची में रखे गए जिनके सम्बन्ध में केवल केन्द्रीय विधान पालिका को ही कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था। प्रान्तीय हित के विषय प्रान्तीय सूची में रखे गए, उदाहरणार्थ, शिक्षा, भू-राजस्व, स्थानीय स्वायत्त शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि,

सिंचाई और नहरें, जंगल, खानें, प्रान्त के अन्दर व्यापार और उद्योग-धन्धे आदि। इन विषयों पर प्रान्तीय विधान-मण्डलों को कानून बनाने का अधिकार था। समवर्ती सूची (Concurrent List) में वे विषय रखे गए जिन पर संघीय और प्रान्तीय दोनों विधान-मण्डल कानून बना सकते थे। यदि प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान-मण्डल के कानून में किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न हो जाता तो केन्द्रीय विधान-मण्डल के कानून को मान्य समझा जाने की और प्रान्तीय विधान-मण्डल के कानून को रद्द हो जाने की व्यवस्था थी। जो विषय उक्त तीनों सूचियों में सम्मिलित नहीं थे, उनके सम्बन्ध में गवर्नर जनरल के आदेश से केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान-मण्डल को कानून बनाने का अधिकार था।

(7) संघीय न्यायपालिका (Federal Court)—अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि केन्द्र में संघ की इकाइयों के (देशी रियासतों एवं ब्रिटिश प्रान्तों) के आपसी और संघ के साथ झगड़ों का निपटारा करने के लिए संघीय न्यायालय होगा। इस न्यायालय को 1935 के अधिनियम की व्यवस्था करने का अधिकार भी दिया गया। उसे भारत के उच्च न्यायालयों (High Court) द्वारा दिए गए उन समस्त निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार भी दिया गया जिनमें सन् 1935 के अधिनियम की व्यवस्था से सम्बन्धित कोई प्रश्न होता था। गवर्नर जनरल को कानूनी प्रश्नों पर परामर्श देने का कार्य भी संघीय न्यायालय को सौंपा गया। किन्तु संघीय न्यायालय भारत के लिए हर दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) नहीं थे। कुछ विशेष परिस्थितियों में अपील प्रिवी-कौंसिल को की जा सकती थी।

(8) साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार (Extension of the System of Communal Electorates)—1919 के सुधारों के रचयिताओं ने यह विचार प्रकट किया था कि साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति उत्तरदायी शासन के विकास में बाधक है, अतः इसका विस्तार नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु फिर भी सन् 1932 में साम्प्रदायिक पंचाट (Communal Award) द्वारा भारतीय मतदाताओं को अधिकाधिक श्रेणियों और समूहों में विभक्त करने का प्रयत्न किया गया और मुसलमानों, सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, जमींदारों, पूँजीपतियों, स्त्रियों आदि सभी के लिए पृथक् निर्वाचन-पद्धति की व्यवस्था की गई। भारत में फूट डालकर हुकूमत करने की नीति का अनुसरण करते हुए 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत इस विनाशकारी साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति का हरिजनों के लिए भी विस्तार कर दिया गया। मुसलमनों को केन्द्रीय विधान-मंडल में ब्रिटिश भारत से $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत स्थान दिए गए जबकि उनकी जनसंख्या इस अनुपात में नहीं थी। मजदूरों और स्त्रियों को भी अलग अधिकार दिए गए। इस व्यवस्था से भी भारतीय जनता के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का मिलाकर कार्य करना असम्भव सा हो गया और राष्ट्रीय एकता को गहरा आघात लगा। विशेष रियायतों और ब्रिटिश संरक्षण से उत्साहित होकर मुसलमानों ने शीघ्र ही पाकिस्तान की माँग शुरू कर दी जिसके फलस्वरूप सन् 1947 में भारत का दुःखद विभाजन हुआ।

(9) भारत परिषद् की समाप्ति (Abolition of India Council)—इस अधिनियम के अनुसार भारत परिषद् को समाप्त कर दिया गया और इसके स्थान पर भारत के सचिव के लिए कुछ परामर्शदाता नियुक्त किए गए जिनकी संख्या 6 से अधिक और 3 से कम नहीं होनी थी। भारत सचिव का उन मामलों पर नियन्त्रण काफी कम कर दिया गया जो हस्तान्तरित विषय थे और जिनका शासन उत्तरदायी मन्त्रियों के जिम्मे सौंप दिया गया था। जिन विषयों में गवर्नरों तथा गवर्नर जनरल को स्वविवेकी शक्तियाँ (Discretionary Powers) थी उनमें भारत सचिव का नियन्त्रण पूर्ववत् बना रहा।

(10) ब्रिटिश संसद् की प्रभुता (Supremacy of the British Parliament)—1935 के अधिनियम में किसी भी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार प्रान्तीय विधान-मण्डलों या केन्द्रीय विधान-मण्डल को नहीं दिया गया। इस सम्बन्ध में समस्त अन्तिम शक्ति ब्रिटिश संसद् के पास ही रखी गई। विधान-मण्डलों को केवल कुछ प्रतिबन्धों के अन्तर्गत और कुछ विशेष मामलों के सम्बन्ध में संविधान में संशोधन के लिए सिफारिशें करने का अधिकार दिया गया। सम्प्रभुता ब्रिटिश संसद् के पास ही रही, भारतीय जनता को नहीं सौंपी गई।

(11) बर्मा, अदन और बरार (Burma, Aden and Barar)—अधिनियम द्वारा बर्मा को भारत से पृथक् कर दिया गया। अदन को भारतीय सरकार के नियन्त्रण से मुक्त करके ब्रिटिश औपनिवेशिक कार्यालय (Colonial Office) के अधीन कर दिया गया। यद्यपि बरार को नाम-मात्र के लिए हैदराबाद के निजाम के अधीन रहने दिया गया, परन्तु शासन की दृष्टि से उसको मध्य प्रान्त (Central Province) का अंग बना दिया गया और उसका प्रबन्ध एक गवर्नर को सौंप दिया गया।

(12) प्रस्तावना का अभाव (Absence of Preamble)—1935 के अधिनियम के रचयिता किसी नई नीति की घोषणा नहीं करना चाहते थे, अतः उन्होंने अधिनियम में कोई प्रस्तावना नहीं जोड़ी। साथ ही इस बात को पक्का करने के लिए कि ब्रिटिश सरकार अब भी भारत को अधिराज्य बनाना अपना उद्देश्य समझती है, उन्होंने सन् 1919 के अधिनियम को रद्द कर दिया, किन्तु उसकी प्रस्तावना को बचाए रखा।

1935 के अधिनियम का मूल्यांकन
(Evaluation of the Act of 1935)

यद्यपि प्रो. कूपलैण्ड (Coupland) के अनुसार 1935 का अधिनियम रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान् सफलता थी जिसने भारत के भाग्य को अंग्रेजों के हाथों में भारतीयों के हाथ में बदल दिया, किन्तु एटली जैसे निष्पक्ष ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने स्वीकार किया कि इस अधिनियम में अधिराज्य स्थिति या औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की चर्चा तक नहीं थी। वस्तुतः यह अधिनियम बड़ा जटिल तथा दोषपूर्ण था और लगभग सभी भारतीय राजनीतिज्ञों ने उसकी बड़ी कड़ी आलोचना की। मुस्लिम लीग के नेता मोहम्मद अली जिन्ना ने

अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि "नया संविधान एक प्रतिक्रियावादी, हानिकारक और रूढ़िवादी कदम है जो स्वीकार किए जाने के सर्वथा अयोग्य है।"[1] पण्डित मदनमोहन मालवीय ने 'बाहर से लोकतान्त्रिक और अन्दर से खोखला' कहकर इसकी निन्दा की। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इसे 'दासता का चार्टर' बतलाया।[2] उनके विचार में इस अधिनियम ने भारतीयों को एक ऐसी मशीन दी जिसके बहुत मजबूत ब्रेक थे किन्तु इंजिन कोई नहीं था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अधिनियम की त्रुटियों की आलोचना की और इसे सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार करने का सुझाव दिया। सारांश यह है कि 1935 का संविधान भारत की अधिसंख्य जनता को पसन्द नहीं आया और लगभग सभी भारतीय दलों ने इसका विरोध किया। ब्रिटेन के विख्यात राजनीतिज्ञों तक ने इस अधिनियम के प्रति कोई विशेष सहानुभूति प्रकट नहीं की। चर्चिल जैसे राजनीतिज्ञ ने भी इसे एक 'वृहदाकार परन्तु अस्पष्ट' (Voluminous but not Luminous) संविधान कहा।

अधिनियम की मुख्यतः इन आधार पर आलोचना की गई—

विचित्र एवं दोषपूर्ण संघ—अधिनियम के अनुसार जिस अखिल भारतीय संघ की स्थापना का आयोजन किया गया, वह संघीय शासन की आवश्यक विशेषताओं को रखते हुए भी अत्यन्त दोषपूर्ण था। संविधान रचयिताओं ने इसे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के अनुकूल बनाने का आयोजन किया था।

प्रथम, संघ में सम्मिलित होने वाली शासकीय इकाइयाँ क्षेत्र, महत्त्व और स्वरूप में एक दूसरे से आश्चर्यजनक रूप से भिन्न थीं। एक ओर तो ब्रिटिश भारत के 11 प्रान्त थे जिनमें उत्तरदायी शासन और लोकतान्त्रिक संस्थाओं का विकास हो रहा था तथा जिनके निवासी नागरिकों को कुछ नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त थे; दूसरी ओर भारतीय रियासतें थीं जिनमें देशी राजाओं का निरंकुश राज्य था और जिनकी प्रजा को किसी प्रकार के अधिकार मिले हुए नहीं थे। ऐसी दो असमान इकाइयों को संघ में मिलाना अत्यन्त अनुचित था। इसमें भारत की सांविधानिक प्रगति के मार्ग में बाधा आना स्वाभाविक-सी बात थी। प्रो. एस. एस. परदमैनी का लिखना ठीक ही है कि "अखिल भारतीय संघ एक विचित्र सांविधानिक गठबन्धन था जिसमें शीघ्रता से स्वायत्त-शासन की ओर बढ़ने वाले प्रान्तों और अपनी प्रजा से सच्ची राज्य-भक्ति की आशा करने वाले शासकों के प्रतिनिधियों को एकत्र करने का प्रयत्न किया गया था।"[3]

दूसरे, संघ की व्यवस्था इस दृष्टि से भी दोषपूर्ण थी कि संघ में ब्रिटिश प्रान्तों को मिलाना अनिवार्य था, किन्तु यह देशी रियासतों की इच्छा पर था कि वे इसमें शामिल हों या न हों।

तीसरे, देशी रियासतों की प्रजा का संघ में कोई प्रतिनिधित्व नहीं था।

1 M. A. Jinnah : Indian Constitutional Documents, Vol. III, p. 1181
2 Nehru : Discovery of India, p. 422.
3 S. N. Pardamani : How India is Governed ?, p. 157.

गया था। संघ में रियासतों के प्रतिनिधि भेजने के अधिकार केवल देशी रियासतों के शासकों को ही थे।

चौथे, रियासतो को उनके अधिकार से अधिक महत्त्व और राजनीतिक रियासते प्रदान की गई थी। उदाहरणार्थ उनकी जनसख्या ब्रिटिश भारत की जनसंख्या का केवल चौथाई भाग थी, लेकिन उन्हें संघ व्यवस्थापिका के उच्च सदन मे 40 प्रतिशत और निम्न सदन में 33⅓ प्रतिशत सीटें देने की व्यवस्था की गई थी।

पाँचवें, इस संघ शासन मे भारतीयो को राजसत्ता देने की व्यवस्था नही की गई थी। केन्द्रीय सरकार के समस्त महत्त्वपूर्ण अधिकार गवर्नर जनरल के पास थे जिनसे भारतीय मन्त्रियों को कोई सरोकार नहीं था। जो थोडी शक्तियाँ मन्त्री वर्ग के अधिकार-क्षेत्र मे दी गई थी, वे भी इतनी प्रतिबन्धित थी कि मन्त्रियो का शासन पर कोई प्रभाव नही हो सकता था।

छठे, संविधान के संशोधन की विधि जटिल थी और इस सम्बन्ध मे संघीय व्यवस्थापिका को कोई विशेष शक्तियाँ प्राप्त नहीं थी।

सातवें, संघ मे सम्मिलित होने वाली इकाइयो की संख्या बहुत ही अधिक थी।

आठवें, संघ मे सम्मिलित इकाइयो को अपने-अपने संविधान बनाने का अधिकार नही दिया गया था और न ही उनका संविधान के संशोधन मे कोई हाथ था।

प्रान्तीय स्वायत्त-शासन एक ढकोसला—अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित प्रान्तीय स्वायत्त-शासन वस्तुत. एक ढकोसला-मात्र था यद्यपि प्रान्तीय शासन-व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए, प्रान्तीय विधान-मण्डलों के समस्त सदस्य निर्वाचित होने लगे, कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी ठहराने का नियम अपनाया गया और मतदाताओ की संख्या मे भी वृद्धि की गई, किन्तु फिर भी अधिनियम द्वारा प्रदत्त प्रान्तीय स्वायत्त-शासन निरर्थक था। स्वायत्त-शासन की दो प्रधान विशेषताओ—बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्रता और आन्तरिक क्षेत्र मे उत्तरदायी सरकार का इसमे अभाव था। प्रान्तीय गवर्नरो और गवर्नर जनरल को इतनी स्वेच्छाचारी शक्तियाँ दे दी गई थी कि उनके लिए स्वायत्त-शासन का गला घोंटना एक साधारण-सी बात थी। विधान-मण्डलो को आर्थिक मामलो मे कुछ शक्तियाँ दे दी गई थीं किन्तु अन्तिम वास्तविक आर्थिक नियन्त्रण अंग्रेजो के ही हाथ मे था। बजट पर गवर्नरों और गवर्नर जनरल का व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ण नियन्त्रण था। ये दोनों पदाधिकारी प्रान्तीय मन्त्रियों द्वारा उठाए गए किसी भी कदम को केवल इस तर्क के आधार पर रद्द कर सकते थे कि यह उनकी जुम्मेवारियो के प्रतिकूल हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने ठीक ही कहा था कि "इस स्वायत्त-शासन पद्धति ने मन्त्रियों की अपेक्षा गवर्नरो को अधिक स्वायत्तता प्रदान की थी।" वे मन्त्रिमण्डलो के किसी भी निर्णय या कार्य को बिना विशेष यत्न के रद्द कर सकते थे। प्रान्तीय मन्त्रियो को सौंपे गए विभाग वास्तव में गवर्नरो और गवर्नर जनरल के अधीन थे क्योंकि उनके पास इन विभागों के सम्बन्ध में विशेष उत्तरदायित्व थे। उदाहरणार्थ कानून और व्यवस्था विभाग उत्तरदायी मन्त्रियो के हवाले कर दिया गया था लेकिन

प्रान्त में शान्ति स्थापित करने का विशेष उत्तरदायित्व गवर्नर पर रखा गया था जिसका बहाना लेकर वह कथित आन्दोलनों को दबा सकता था और नागरिक स्वतन्त्रता को कुचल सकता था।

साम्प्रदायिकता से ओतप्रोत संविधान—1935 का संविधान आद्योपान्त साम्प्रदायिकता से भरा था। साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को न केवल इसके पूर्व रूप में कायम रखा गया बल्कि इसका विस्तार करके हरिजनों, भारतीय ईसाइयों, आंग्ल भारतीय सम्प्रदायों पर भी इसे लागू कर दिया गया। इस पद्धति द्वारा हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने की कोशिश की गई और भारतीय राजनीतिक वातावरण को इतना विषैला बना दिया गया कि भारतीय एकता नष्ट हो जाए और ब्रिटिश साम्राज्य भारत में स्थाई रूप से जमा रहे।

संरक्षण और आरक्षण—अधिनियम में अल्पमतों की रक्षा के नाम पर विविध संरक्षणों और आरक्षणों (Safeguards and Reservations) की व्यवस्था की गई और इसके माध्यम से गवर्नरों तथा गवर्नर जनरल को विशेष शक्तियों और अधिकारों से सज्जित कर दिया गया। इस व्यवस्था के फलस्वरूप अल्पमत सदैव अपने हितों की रक्षा के लिए गवर्नरों तथा गवर्नर जनरल के मुख की तरफ देखने लगे और प्रगतिशील तत्त्वों के विरुद्ध वे अंग्रेजों के सहायक बन गए। अंग्रेजों ने अल्प-संख्यकों के नाम पर भारत की प्रगति में विविध प्रकार से रोड़े अटकाने की नीति अपनाई।

आत्म-निर्णय के अधिकार को ठुकराया जाना—अधिनियम ने भारतीयों को आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं दिया, उन्हें एक स्वतन्त्र संविधान बनाने का अधिकार नहीं मिला। यह अधिनियम ब्रिटिश संसद् द्वारा ही बनाया गया और भारत की भावी प्रगति की जननी ब्रिटिश संसद् ही बनी। ब्रिटिश संसद् और भारत सचिव का नियन्त्रण भारत पर 1947 तक बना रहा। यद्यपि अधिनियम के अन्तर्गत भारत सचिव ने अपनी अनेक शक्तियों का परित्याग कर दिया किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय प्रशासन पर उसका नियन्त्रण शिथिल नहीं हुआ। वह पहले ही की भांति भारत-सरकार के सम्बन्ध में 'ह्वाइट हाल का महान् मुगल' बना रहा। 1947 तक भारत पर शासन दिल्ली या शिमला से नहीं हुआ बल्कि ह्वाइट हाल से होता रहा।

स्पष्ट है कि उक्त गम्भीर दोषों से परिपूर्ण 1935 का अधिनियम भारतीयों के लिए किसी भी रूप में सन्तोषजनक प्रमाणित नहीं हुआ। भारतीयों ने इसे पूर्ण निराशाजनक और अशान्तिजनक माना।

अखिल भारतीय संघ
(All India Federation)

1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित अखिल भारतीय राज्य संघ सर्वथा असन्तोषजनक और निराशाप्रद था। इस योजना के अनुसार यद्यपि लिखित सं... की व्यवस्था की गई, संघ सरकार और इकाइयों की सरकारों में शक्ति विभाजन किया गया तथा संघ सरकार एवं स्थानीय सरकारों को अपने-अपने

क्षेत्रों में स्वतन्त्र व सीमित रखने के लिए संघीय न्यायालय की स्थापना भी की गई, तथापि अधिनियम के अनुसार स्थापित होने वाला यह संघ वास्तव में सच्चा संघ नहीं था और संसार के अन्य संघों से त्रुटिपूर्ण ढंग से काफी भिन्न था। केन्द्रीय परिषद् के अध्यक्ष सर अब्दुल रहीम के शब्दों में "संघीय योजना पूर्णतया अस्वाभाविक, कृत्रिम और किसी भी संविधान में अदृष्ट थी।" प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ सचमुच में वास्तविक संघ निर्माण के लिए आवश्यक सभी मूलभूत सिद्धान्तों और महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं से शून्य थी। जी. एन. जोशी के अनुसार "1935 के अधिनियम की संघ-नीति भारत के राजनीतिक विकास का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम नहीं थी। इसके विपरीत यह ब्रिटिश संसद् द्वारा रचित अराजनीतिक यन्त्र था जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के कुछ विशेष हितों की पूर्ति करना था।"[1] वस्तुतः प्रस्तावित संघ भारत में ब्रिटिश हितों के संरक्षण के लिए निर्लज्ज स्वेच्छाचारिता और आंशिक प्रजातन्त्र का विचित्र सम्मिश्रण था। इस योजना के मुख्य दोष निम्नलिखित थे—

प्रथम, प्रस्तावित संघ मूल रूप से अपने स्वरूप, संस्कृति और परम्पराओं में एक-दूसरे से भिन्न, दो या तीन परस्पर असमान इकाइयों का मिश्रण था। ब्रिटिश प्रान्तों, चीफ कमिश्नर प्रान्तों और देशी रियासतों में क्षेत्रफलों के महत्त्व, शासन-पद्धति, आबादी आदि की दृष्टि से बहुत असमानता थी। ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में कुछ सीमा तक लोकतान्त्रिक सरकार की स्थापना हो गई थी, उनके निवासी संघीय विधान-मण्डल में निर्वाचित सदस्य भेजने में विश्वास करते थे, उनके विचार प्रगतिवादी थे और उन्हें कुछ राजनीतिक तथा नागरिक अधिकार भी प्राप्त थे, किन्तु देशी रियासतों में अभी तक लोकतन्त्र का अंकुर प्रस्फुटित नहीं हुआ था और पूर्णरूप से निरंकुशता का साम्राज्य था। इस प्रकार 1935 का यह प्रस्तावित संघ प्रगतिशील और रूढ़िवादी तत्त्वों का अद्भुत मेल था।

दूसरे, इस संघ की योजना में ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को हानि एवं भारतीय राज्यों को अनुचित लाभ पहुँचने की व्यवस्था की गई थी। प्रायः सभी संघों में छोटी-बड़ी इकाइयों को उच्च सदन में समान प्रतिनिधित्व देकर कानूनी समानता स्थापित की जाती है, किन्तु 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित संघ में ऐसा नहीं किया गया था। यद्यपि आबादी के आधार पर दूसरे सदन में इकाइयों को प्रतिनिधित्व दिया गया था, किन्तु देशी रियासतों को ब्रिटिश प्रान्तों की तुलना में अधिक स्थान दिए गए थे। देशी रियासतों की आबादी भारत की कुल आबादी की 23 प्रतिशत थी जबकि उसको संघीय विधान-मण्डल के निचले सदन में 33⅓ प्रतिशत और उच्च सदन में 40 प्रतिशत स्थान दिए गए थे। इसके अतिरिक्त राज्यों के मनोनीत सदस्यों को ब्रिटिश भारत के निर्वाचित सदस्यों के समान अधिकार दिए गए थे ताकि वे भारतीय प्रान्तों में हस्तक्षेप कर सकें। दूसरी ओर राज्यों के प्रशासन के सम्बन्ध में किसी निर्णय के करने में प्रान्तों के सदस्यों को बोलने का कोई

1 *G. N. Joshi* : The Constitution of India, p. 16.

अधिकार नही दिया गया था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने ठीक ही कहा था कि "यह एक ऐसा राज्य संघ है जिसके अन्दर निर्लज्ज निरंकुशता भारत के ⅓ भाग में किलेबन्दी करके बैठेगी और कभी भी भारत के ⅔ भागो मे लोकप्रिय सकल्प-शक्ति को कुचलने के लिए झांकेगी।"

तीसरे, इस सघीय योजना मे भारतीयो को स्वशासन के पूर्ण अधिकार सौंप देने की चर्चा भी नही की गई थी। केन्द्रीय सरकार ने जनता के प्रतिनिधि मन्त्रियों का मुद्रा और विनिमय से कोई सम्बन्ध नही रखा था। विदेशी विषय उनके नियन्त्रण से बाहर थे और प्रतिरक्षा 'रक्षित' विषय था। संघीय व्यय का लगभग 80 प्रतिशत उनके नियन्त्रण से परे था और जो शेष 20 प्रतिशत व्यय था वह भी अधिनियम के आरक्षणों और सरक्षणों से घिरा था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "अवरोध (Checks) और सीमाबन्दी (Limitations) इतनी अधिक थी कि उनके कारण राजनीतिक एव आर्थिक शक्ति ब्रिटिश सरकार के हाथ में ही रही।" श्री के. टी शाह के शब्दों मे, "1935 के संविधान के अन्तर्गत संघीय मन्त्रियो की स्थिति भारत के लाभार्थ न होकर सघ के शोभार्थ थी और वे मन्त्री जिस जनता के प्रतिनिधि थे उसके लिए सहायक नही वरन् भार थे। मन्त्री उत्तरदायी थे किन्तु अधिकारो से हीन थे, वे उच्च पदारूढ थे परन्तु प्रभुत्व-शक्ति से शून्य थे, वे 'नामवान' थे लेकिन 'प्रभाववान' नही थे।"[1]

चौथे, प्रस्तावित सघ भारतीयों की अपनी स्वतन्त्र इच्छा के फलस्वरूप नही बना था वरन् ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत पर लादा गया था। ब्रिटिश प्रान्तों के लिए संघ मे सम्मिलित होना अनिवार्य था जबकि भारतीय राज्यो के लिए नही। अंग्रेजो ने केन्द्र मे सघ की स्थापना वास्तव में इसलिए की थी कि देशी रियासतो से गठजोड करके प्रगतिशील तत्त्वो पर रुकावट लगाई जा सके। चूंकि कांग्रेस ब्रिटिश सरकार की इस नियत को भांप चुकी थी, अतः उसने संघ का विरोध किया।

पाँचवें, प्रस्तावित संघीय योजना इस दृष्टि से भी दोषपूर्ण थी कि एक इकाई का अधिकार क्षेत्र दूसरी इकाई के अधिकार क्षेत्र से भिन्न था। संघ मे सम्मिलित होने के इच्छुक राज्य अपनी इच्छानुसार अपने अधिकार सघीय विधान-मण्डल को सौंप सकते थे और मन चाहे विषय अपने हाथ मे रख सकते थे जबकि ब्रिटिश भारत के प्रान्तो को इस प्रकार की सुविधा नही दी गई थी। इस तरह जहाँ केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ सारे प्रान्तों के ऊपर एक समान थी वहाँ प्रत्येक राज्य या रियासत के सम्बन्ध मे अलग-अलग थी। इस तरह की असंगत बातें ससार के किसी भी अन्य संघ मे देखने को नही मिलती।

छठे, अधिनियम के अनुसार देशी रियासतों की जनता को अधिकार नहीं दिया गया था कि वह संघ मे अपने प्रतिनिधियों को चुनकर भेज सके। यह अधिकार केवल देशी रियासतों के शासकों को दिया गया था ताकि उनके प्रतिनिधि ब्रिटिश

1 *K. T. Shah : Federal Structure*, p. 223.

सरकार के प्रति वफादार रहें और संघ मे जमींदारों तथा अल्पमतों के साथ मिलकर भारत की प्रगति मे बाधक बनें। स्वयं भारत सचिव सर सेम्युग्रल होर ने ब्रिटिश संसद् मे बड़े गर्व के साथ कहा था कि उग्रवादी तत्त्वों को राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति से रोकने के लिए हमने प्रत्येक सावधानी बरती है। प्रो. कीथ ने भी लिखा है—"भारतीयों की इस बात को मानने से इन्कार करना कठिन है कि भारत में संघ इसलिए स्थापित किया गया था ताकि अंग्रेजो को केन्द्र में ब्रिटिश भारत के लिए उत्तरदायी सरकार की स्थापना न करनी पड़े।"

सातवें, प्राय. संघो मे निचले सदन का प्रत्यक्ष चुनाव होता है किन्तु प्रस्तावित संघ में संघीय-सभा (Federal Assembly) का चुनाव प्रत्यक्ष रखा गया और उच्च सदन (Upper House) का चुनाव प्रत्यक्ष। यह व्यवस्था वास्तव में लोकतन्त्रात्मक सदन को और अधिक कमजोर बनाने के लिए की गई थी। इतना ही नहीं, निचले सदन की शक्तियो पर गवर्नर जनरल और ब्रिटिश संसद् की असाधारण शक्तियो की काफी रुकावट थी। पुनश्च, इसकी रही-सही शक्ति को साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति एव अन्य वर्गों को प्रतिनिधित्व देने की प्रणाली ने और भी कम कर दिया था।

***आठवें**, संविधान के संशोधन से सम्बद्ध धाराएँ बड़ी जटिल और कठोर थी।* प्राय. सभी संविधानो मे संसद् को आवश्यकतानुर संशोधन करने का अधिकार दिया जाता है जबकि 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संविधान में संशोधन का अधिकार केन्द्रीय विधान-मण्डल को नही दिया जाकर ब्रिटिश संसद् के पास रखा गया। भारत का प्रस्तावित संघ कनाडा या आस्ट्रेलिया राज्य संघ जैसा न था। उनके संघ के बनाए कानूनो के सम्बन्ध मे ब्रिटिश संसद् की स्वीकृति केवल औपचारिक थी जबकि भारत के राज्य संघ के बनाए हुए कानूनों के सम्बन्ध में ब्रिटिश संसदीय स्वीकृति कठोर वास्तविकता थी। अधिनियम मे विशेष रूप से निर्दिष्ट गौण बातों को छोड़कर अन्य किसी भी विषय मे भारतीय विधान-मण्डल कोई संशोधन प्रस्तुत नही कर सकता था।

नवें, *प्राय: प्रत्येक संघ मे अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) या तो केन्द्र को दी जाती हैं या राज्य को दे दी जाती हैं;* किन्तु 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत ऐसा नहीं किया गया। भारत में व्यवस्था यह की गई कि गवर्नर जनरल को इस बारे में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार होगा कि वह किसी अवशिष्ट शक्ति को केन्द्रीय विधान-मण्डल को सौंपता है और किसी को प्रान्तीय विधान-मण्डल को।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि प्रस्तावित संघीय योजना अत्यधिक प्रतिक्रियावादी, प्रगति-विरोधी और भारतीय राज्यों की तुलना में ब्रिटिश भारत के मौलिक हितों के लिए हानिकारक तथा घातक सिद्ध होती थी। प्रस्तावित संघीय ढाँचा इस तरह का बनाया गया था कि कोई भी वास्तविक प्रगति असम्भव हो जाए और अंग्रेजो द्वारा नियन्त्रित शासन पद्धति में भारतीय जनता के प्रतिनिधियों के

हस्तक्षेप या परिवर्तन के लिए कोई गुंजाइश न रह जाए। संघ में संरक्षणों और आरक्षणों (Safeguards and Reservations) की एक असीमित शृंखला थी जो लोकतन्त्रीय और प्रगतिशील शक्तियों का गला घोट सकती थी। इन सब दोषों से भारतीय पहले ही परिचित थे, अतः उन्होंने प्रस्तावित संघ का घोर विरोध किया। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और सिक्खों के सभी दलों ने इस संघ को अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं, देशी रियासतों ने भी संघ में शामिल होने का विशेष इरादा प्रकट नहीं किया। अतः ब्रिटिश सरकार द्वारा यह फैसला किया गया कि 1935 के अधिनियम में प्रस्तावित संघ (Proposed Federation) लागू नहीं किया जाएगा और इस अधिनियम का शेष भाग ही लागू होगा।

संघीय कार्यपालिका
(The Federal Executive)

1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय कार्यपालिका में (1) गवर्नर जनरल (Governor General), (2) सभासद् (Councillors), एवं (3) मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) सम्मिलित किए गए थे।

(1) गवर्नर जनरल (Governor General)—गवर्नर जनरल संघ का मुखिया और प्रधान स्तम्भ था। संघ की सम्पूर्ण शक्ति उसमें निहित रखी गई थी और ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में उसे इस शक्ति का प्रयोग करना था। गवर्नर जनरल की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती थी और भारतीय खजाने से 2,51,800 रुपये प्रतिवर्ष उसे वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त उसे अनेक भत्ते और उपलब्धियाँ प्राप्त थीं। कुल मिलाकर गवर्नर जनरल पर प्रति वर्ष 18 लाख रुपये व्यय होते थे। विश्व में किसी अन्य अधिकारी को इतना वेतन और इतने भत्ते नहीं मिलते थे।

गवर्नर जनरल की विस्तृत शक्तियाँ मोटे रूप में तीन प्रकार की थीं—

(i) स्वेच्छाचारी शक्तियाँ (Discretionary Powers)

(ii) व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियाँ (Powers of Individual Judgement)

(iii) मन्त्रियों के परामर्शानुसार प्रयुक्त की जाने वाली शक्तियाँ (Powers to be exercised on the advice of the Ministers)।

(i) स्वेच्छाचारी शक्तियाँ—इन शक्तियों के प्रयोग में गवर्नर जनरल को अपने मन्त्रियों से परामर्श लेना आवश्यक नहीं था। अधिनियम के अनुसार 4 सुरक्षित विभाग (Reserved Departments) थे—प्रतिरक्षा विभाग (Defence Department), धार्मिक विषय सम्बन्धी विभाग (Ecclesiastical Department), अधिराज्यों के अतिरिक्त भारत के वैदेशिक सम्बन्ध (Foreign Relations excluding relations with Dominions), एवं जनजातीय या कबायली विषय (Tribal Affairs)। इन सुरक्षित विभागों के प्रशासन के लिए गवर्नर जनरल ब्रिटिश राज्य मन्त्री के प्रति उत्तरदायी था।

गवर्नर जनरल द्वारा स्वविवेक से प्रयोग मे लाए जाने वाले अधिकारों में अन्य ये बातें सम्मिलित थी—मन्त्रियों को चुनना व उनको बुलाना एवं उन्हें पदच्युत् करना, मन्त्रि-परिषद् के अधिवेशनों की अध्यक्षता करना, सभासदों की, वित्तीय परामर्शदाता और उनके कर्मचारी-मण्डल की, मुख्य आयुक्तो की, रिजर्व बैंक के गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर की, सघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की, भारतीय रेलवे कम्पनियो के निदेशको (Directors) और उप-निदेशकों की, रेलवे न्यायाधिकरण (Railway Tribunal) के अध्यक्ष की, तथा संघीय रेलवे शासन-सभा (Federal Railway Authority) के 2/7 सदस्यो की नियुक्ति।

कतिपय मामलो में गवर्नर जनरल को अधिकारियों को पदच्युत् करने का भी अधिकार था। कुछ उच्च पदों के सम्बन्ध मे वह वेतनों, भत्तों, सेवा की शर्तों आदि का निर्णय करता था। इसको मन्त्रियो मे कार्य बाँटने, सरकारी काम-काज को आसानी से चलाने और शासन सम्बन्धी सम्पूर्ण सूचना की शीघ्र जानकारी के लिए आवश्यक नियम बनाने का भी अधिकार था। यह गवर्नर जनरल की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्ति थी जिसके कारण उसका मन्त्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण और प्रभाव बना रहता था। सक्षेप मे गवर्नर जनरल को भारी राजनीतिक संरक्षकता (Political patronage) प्राप्त थी और इस हेतु वह देश में अत्यधिक शक्तिशाली था।

उपरोक्त शक्तियों के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को इस सम्बन्ध मे भी कानून बनाने का अधिकार था—(1) सरकार के कार्य का सुविधाजनक सम्पादन और मन्त्रियो के कार्य का वितरण, (2) गवर्नर जनरल को सब आवश्यक बातो की सूचना देने वाले विभाग से सम्बद्ध बातें, एवं (3) सरकार के आदेशों तथा अधिकार पत्रों का प्रमाणीकरण (Authoritication)। इन शक्तियों के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को सघीय-सभा के अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने और भंग करने का पूर्ण अधिकार था। विधेयको के बारे में केन्द्रीय विधान-मण्डल को सन्देश भेजने, अनुचित बिलों को रोकने एवं अस्वीकार करने का भी उसे अधिकार था। कुछ बिलो के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व आज्ञा आवश्यक होती थी और कुछ विशेष विधेयकों को वह ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति के लिए सुरक्षित (Reserved) रख सकता था।

गवर्नर जनरल अधिनियम भी बना सकता था, जिन्हें गवर्नर जनरल के अधिनियम कहा जाता था। इन अधिनियमो को वह केन्द्रीय विधान-मण्डल की इच्छा के विरुद्ध बना सकता था। कई बार वह किसी बिल की रूपरेखा तैयार करके केन्द्रीय विधान-मण्डल के पास भेज देता था और उसके सुझावों पर भी विचार करता था। वह इस विषय में अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य कर सकता था। गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने, संकटकालीन घोषणा जारी करने और संविधान को स्थगित करने के महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। स्वविवेक से अथवा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने के मामलों में वह गवर्नरों को निर्देश दे सकता था। संविधान की विफलता की घोषणा गवर्नर जनरल को भारत सचिव के पास भेजनी पड़ती थी जो इसे ब्रिटिश संसद् के दोनों सदनों के सामने रखता था। इस प्रकार की

घोषणा 6 माह तक रह सकती थी और ब्रिटिश संसद् को इसे 6 माह पूर्व ही रद्द करने का अधिकार था।

(ii) **विशेष उत्तरदायित्व एवं व्यक्तिगत निर्णय की शक्ति**—1935 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल को अनेक विशेष जिम्मेदारियाँ सौंपी गई थी। अधिनियम की धारा 32 में प्रतिपादित ऐसी विशेष जुम्मेवारियाँ, जिनके विषय में गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था, ये थी—

(1) भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति के भंग होने को रोकना।
(2) लोक सेवाओं के उचित हितो और मांगो की रक्षा करना।
(3) अल्पमतों और वर्गों के उचित हितो का संरक्षण।
(4) संघ सरकार के आर्थिक स्थायित्व और उनकी साख (Credit) का रक्षण।
(5) व्यापारिक भेद-भाव की रोकथाम।
(6) भारतीय रियासतों व उनके शासकों के अधिकारो का सम्मान और उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा।
(7) ग्रेट ब्रिटेन या बर्मा से आए हुए माल के बारे मे भेदभाव को रोकना।
(8) स्वविवेक से या व्यक्तिगत निर्णय से गवर्नर जनरल द्वारा दिए हुए कार्यादेश का ठीक प्रकार से पालन करवाना।

(iii) **मन्त्रियों के परामर्श से प्रयुक्त किए जाने वाले अधिकार**—1935 के अधिनियम द्वारा केन्द्र मे द्वैध शासन स्थापना की व्यवस्था थी जिसमें कुछ विषय हस्तान्तरित रखे गए थे और कुछ रक्षित। हस्तान्तरित विषयो में गवर्नर से यह आशा की जाती थी कि यह मन्त्रियो के परामर्शानुसार शासन चलाएगा। यद्यपि मन्त्रियों के परामर्श से किए जाने वाले कार्यों का क्षेत्र पहले ही महत्व-शून्य था तथापि विशेष उत्तरदायित्वो की आड में यह भी व्यवस्था की गई थी कि गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णयो की शक्ति का प्रयोग कर सकता था। वास्तव मे गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व इतने अस्पष्ट और लचीले शब्दों मे प्रकट किए गए थे कि मन्त्रियो के लिए अपने अधिकार का निर्बाध प्रयोग करना अत्यन्त कठिन था।

(2) **सभासद् (Councillors)** —अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था का गई थी कि गवर्नर जनरल की सहायता के लिए एक कार्यकारिणी परिषद् होगी जिसमे 3 से अधिक सदस्य नही होगे। ये सदस्य अथवा सभासद् (Councillors) गवर्नर जनरल को रक्षित विभागो का शासन चलाने में सहायता देते थे। रक्षित विषयो के प्रशासन मे गवर्नर जनरल स्वय ब्रिटिश संसद् के प्रति उत्तरदायी था, किन्तु सभासद्, जिनकी नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा होती थी, केवल गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी थे। सभासद् दोनो सदनो के पदेन (Ex-officio) सदस्य होते थे, किन्तु उन्हे मतदान का कोई अधिकार नही था और न ही वे संघीय विधान-मण्डल

के प्रति उत्तरदायी थे। उनका कार्य केवल परामर्श देना था जिसे मानना या न मानना गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर करता था।

(3) मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers)—रक्षित विषयो के अतिरिक्त अन्य हस्तान्तरित विषयो का शासन चलाने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई थी जो सघीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी रखी गई थी। मन्त्रियो की संख्या अधिक से अधिक 10 नियत की गई थी जिनकी नियुक्ति वैधानिक रूप से गवर्नर जनरल के हाथ मे थी और वही उन्हे पदच्युत् भी कर सकता था। 1935 के अधिनियम को कार्यान्वित करने के लिए जो अनुदेश-पत्र (Instrument of Instructions) जारी किए गए थे उनमे गवर्नर जनरल को यह परामर्श दिया गया कि वह संघीय विधान-सभा (Federal Assembly) में बहुमत दल के नेता की सिफारिशो के अनुसार ही अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करे। मन्त्रियों के लिए आवश्यक था कि वे सघीय विधान-मण्डलो के दोनो सदनो मे से किसी भी सदन के सदस्य हो। बाहर से किसी व्यक्ति को मन्त्री नियुक्त कर लेने पर उसे 6 महीने मे या तो सदन का सदस्य बनना पड़ता था या त्याग-पत्र देना पड़ता था। गवर्नर जनरल से यह आशा की गई थी कि वह अपने मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को प्रोत्साहित करे। हस्तान्तरित क्षेत्र के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल से एक सांविधानिक मुखिया के रूप मे कार्य करने की आशा का वस्तुतः कोई व्यावहारिक मूल्य नही था। मन्त्रियो की शक्तियो पर विभिन्न प्रतिबन्ध थे और गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी तथा व्यक्तिगत निर्णयो की शक्तियो के सम्मुख मन्त्री वर्ग का शासन-कार्य पर प्रभाव होना असम्भव था।

गवर्नर जनरल की स्थिति का आलोचनात्मक मूल्यांकन (A Critical Estimate of Governor General's Position)—गवर्नर जनरल की जो स्थिति 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत रखी गई, वह उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल थी। उसकी स्वेच्छाचारी और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियो ने सरकार के दैनिक कार्य का बहुत बड़ा भाग लोकप्रिय मन्त्रियो के हाथ से छीन लिया था। उन्होंने गवर्नर जनरल को इतना शक्ति-सम्पन्न बना दिया था कि एक प्रतिक्रियावादी और स्वेच्छाचारी गवर्नर जनरल उसकी सहायता से राष्ट्रीय विकास और अभ्युदय के मार्ग को अवरुद्ध कर सकता था। गवर्नर जनरल का विशेष उत्तर-दायित्व सम्पूर्ण शासन में व्याप्त था और ऐसा कोई विषय नही था जिसमे इसे किसी भी समय लागू न किया जा सकता हो। गवर्नर जनरल रक्षित विषयो का तो पूर्ण नियन्त्रण करता ही था, लेकिन हस्तान्तरित विषयों में भी वह अपने विशेष उत्तरदायित्वों की आड़ में मनमाना हस्तक्षेप कर सकता था। वित्तीय क्षेत्र में 80 प्रतिशत बजट पर उसका पूर्ण नियन्त्रण रहता था और शेष 20 प्रतिशत बजट भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं था। वह बजट को मतदान योग्य (Votable) और मतदान के अयोग्य (Non-Votable) मदो में बाँटता था तथा विधान-मण्डल द्वारा अस्वीकृत की हुई माँग को अपनी विशेष शक्ति और स्वीकृति प्रदान कर सकता था।

वही अध्यादेश जारी करता था और उसके अधिनियमों की अवधि उसकी इच्छा पर निर्भर थी। वह संविधान को स्थगित भी कर सकता था। उसके हाथ मे विपुल कार्यकारिणी शक्तियाँ थी। सारांशतः वह संघ शासन की धुरी था और सारी कार्यकारिणी शक्ति उसी पर आधारित थी। वह एक ऐसा स्वेच्छाचारी शासक था जिसकी तुलना निरकुश मुगल सम्राटो से की जा सकती थी। आरक्षित (Reserved) विषयों के प्रशासन मे गवर्नर जनरल सर्वेसर्वा था, यहाँ तक कि सभासद् (Councillors) भी उसके सहयोगी होने का दावा नही कर सकते थे। उन्हे उसकी शक्ति मे कोई भाग प्राप्त नही था। हस्तान्तरित विषय भी उसके नियन्त्रण से बाहर नही थे। मन्त्रियों द्वारा उपस्थित किया हुआ ऐसा कोई विधेयक या प्रस्ताव, जो गवर्नर जनरल की इच्छा के विरुद्ध हो, पास नही किया जा सकता था, क्योंकि वह इस बहाने की आड मे कि प्रस्तुत कार्यवाही किसी न किसी रूप मे उसके विशेष उत्तरदायित्व को भग करती है, उसे (विधेयक या प्रस्ताव को) रद्द कर सकता था। भारत या भारत के किसी भाग की शान्ति के भंग होने की आशंका, अल्पमतों के न्यायोचित हित आदि अस्पष्ट शब्दों को किसी भी स्थिति मे लागू करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता था। सघीय विधान-मण्डल की वैधानिक कार्यवाहियों या बहुमत के निर्णय को रद्द करने का अधिकार भी गवर्नर जनरल का एक विशेष प्रभावशाली शस्त्र था। उसके इस अधिकार के कारण मन्त्रियो की अपने कर्त्तव्य के पालनार्थ साहस के साथ आगे कदम बढाने की इच्छा ही नष्ट हो जाती थी।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियों और उसकी अन्य विशेष शक्तियों ने उत्तरदायी सरकार को सारहीन बना दिया और केन्द्र मे सघ के स्थगित होने के कारण 1919 का अधिनियम ही चलता रहा। 1935 के अधिनियम से प्रान्तो मे तो कुछ उत्तरदायी सरकार अवश्य कायम हो गई लेकिन केन्द्र में पहले ही की भाँति निरंकुशता बनी रही।

संघीय विधान-मण्डल
(The Federal Legislature)

अधिनियम के अन्तर्गत सघीय विधान के दो सदन रखे गए थे—राज्य-सभा (Council of States) एव संघीय-सभा (Federal Assembly)।

1. राज्य सभा (Council of States) का संगठन

राज्य-सभा मे कुल मिलाकर 260 सदस्य रखे गए थे जिनमे 104 सदस्य देशी रियासतों के थे। राज्यों में इन सीटों का विभाजन उनकी अपनी-अपनी महत्ता और प्रतिष्ठा पर आश्रित रखा गया था। उदाहरणार्थ हैदराबाद को 16 सीटे दी गई थी, मैसूर को 7 और ट्रावनकोर को 51 सदस्यो के मनोनयन (Nomination) का अधिकार राज्यों के शासकों को दिया गया था। ब्रिटिश भारत के 156 प्रतिनिधियों मे से 150 सदस्य ब्रिटिश प्रान्तों में से साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति के अनुसार चुने जाते थे और शेष 6 सदस्यों को गवर्नर जनरल अपनी इच्छा अनुसार स्त्रियो, अल्प-

मतों तथा परिगणित जातियो या दलित वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिए मनोनीत करता था । जिस प्रकार देशी रियासतो में स्थानो का समान बँटवारा नही था उसी तरह प्रान्तो मे भी स्थानो का समान बँटवारा नही था । अतः यह सदन अमेरिकन सीनेट अथवा स्विट्जरलैण्ड की राज्य-सभा से बिलकुल भिन्न था । हिन्दुओं, मुसलमानो और सिक्खों के पृथक्-पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र नियत किए गए थे, जैसे हिन्दू निर्वाचन क्षेत्र, मुसलमान निर्वाचन क्षेत्र, सिक्ख निर्वाचन क्षेत्र आदि । इन सम्प्रदायो के सदस्यो को इन्ही सम्प्रदायो के अनुयायी मतदाता इन्हीं क्षेत्र से साम्प्रदायिक आधार पर प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा निर्वाचित करते थे । किन्तु यूरोपियन, आग्ल भारतीय सम्प्रदाय और ईसाइयो के लिए परोक्ष या अप्रत्यक्ष चुनाव होते थे । हरिजनो के लिए भी अप्रत्यक्ष चुनावो की व्यवस्था थी । जिन सम्प्रदायो के चुनाव अप्रत्यक्ष होते थे, उनके सदस्यो को प्रान्तीय विधान-मण्डल में उनके सदस्य मिलकर चुनते थे ।

राज्य-सभा या राज्य-परिषद् (Council of States) एक स्थाई संस्था थी जिसके सदस्य 9 वर्ष के लिए चुने जाते थे और उनमे से प्रत्येक 3 वर्ष बाद ⅓ को सदस्यता छोडनी पडती थी । रिटायर होने वाले सदस्यों की जगह नए सदस्य चुने जाते थे । राज्य-सभा को अवधि से पूर्व भग नही किया जा सकता था । मताधिकार उन व्यक्तियो को दिया गया था जो सम्पत्तिशाली थे । मतदाताओ की सख्या एक लाख के लगभग थी । ब्रिटिश प्रान्तो को जो 156 स्थान राज्य-सभा मे दिए गए थे उनमे 75 सामान्य स्थान हिन्दुओ, 49 मुसलमानो, 4 सिक्खों, 6 स्त्रियों, 6 परिगणित जातियो, 7 यूरोपवासियो, 1 आंग्ल भारतीय और 2 भारतीय ईसाइयो के लिए थे शेष 6 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किए जाते थे ।

राज्य-सभा की रचना से स्पष्ट है कि इसे धनियो और उच्च वर्गों की संस्था बनाया गया था । एम० एल० पल्लण्डा के शब्दों मे "राज्य-सभा को निहित स्वार्थों, प्रतिक्रियावादी थोड़े से चुने हुए शासको और अनुदार राजनीतिज्ञो की सभा बनाने का प्रयत्न किया गया था ।" इसके अतिरिक्त सदस्यो में 9 वर्ष के अति लम्बे सदस्यता-काल के कारण विधान-मण्डल के प्रति अनुत्तरदायित्व एवं अवज्ञा की भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविक था ।

2. संघीय सभा का संगठन
(Federal Assembly)

संघीय विधान-मण्डल के निम्न सदन का नाम संघीय-सभा रखा गया था । इसके कुल 375 स्थानों मे 250 ब्रिटिश भारत के लिए और 125 देशी रियासतो के लिए नियत किए गए थे । ब्रिटिश भारत के 250 स्थानों में से 4 गैर प्रान्तीय स्थान (Non-Provincial Seats) थे जिन्हें व्यापार, वाणिज्य और श्रम मे बाँट दिया गया था । ब्रिटिश भारत की सीटो का विभाजन सम्प्रदायो, वर्गों और हितों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के अनुसार रखा गया था जैसे—मुसलमान 82, सिक्ख 6, आँग्ल-भारतीय 4, यूरोपियन 8, भारतीय ईसाई 8, व्यापारी और उद्योगपति 11,

जमींदार 7, श्रमिक 10, स्त्रियाँ 9 और सामान्य 115। सामान्य स्थानों में से ही हरिजनों के लिए 19 स्थान सुरक्षित रखे गए थे। हिन्दुओं, पारसियों तथा अन्य कुछ सम्प्रदायों को पृथक् सम्प्रदाय प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। हिन्दू ब्रिटिश भारत की कुल जनसंख्या के 70 प्रतिशत थे और अल्पमत 30 प्रतिशत प्रति सीट दोनों को समान संख्या में दिए गए थे। राज्य में सीटों का विभाजन प्रधानतः जनसंख्या पर आधारित था।

संघीय-सभा के चुनाव अप्रत्यक्ष होने की व्यवस्था थी जबकि संसार के सभी देशों में प्रायः निचले सदन के चुनाव प्रत्यक्ष होते हैं। सभा के ब्रिटिश भारत के सदस्यों के निर्वाचन के लिए प्रान्तों में विधान-मण्डलों के निम्न-सदनों के निर्वाचक मण्डल बनाए गए थे जो अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा उक्त सदस्यों का निर्वाचन करते थे। संघीय-सभा का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया था किन्तु गवर्नर जनरल उसे अवधि पूर्व भी भंग कर सकता था।

संघीय-सभा की रचना भी राज्य-सभा की तरह असंतोषजनक थी, क्योंकि इसमें प्रतिनिधित्व श्रेष्ठ सिद्धान्तों पर आधारित नहीं था। यूरोपियनों तथा आंग्ल भारतीयों जैसे सम्प्रदायों को बहुत अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया था जबकि हिन्दुओं को, जो सम्पूर्ण जनसंख्या के 70 प्रतिशत से भी अधिक थे, अल्पमत बना दिया गया। इसी तरह देशी रियासतों को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया और इन रियासतों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति अवश्य ही ब्रिटिश भारत की सांविधानिक प्रगति में बाधा सिद्ध होती थी। संघीय-सभा की रचना का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके लिए अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति रखी गई थी। यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधा डालने वाली थी।

विधान-मण्डल की शक्तियाँ
(Powers of the Legislature)

(i) विधि निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ—अधिनियम के अनुसार संघीय विधान मण्डल को ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के लिए केन्द्रीय और समवर्ती सूचियों के सब विषयों के सम्बन्ध में, चीफ कमिश्नर के प्रान्तों के लिए सब विषयों के सम्बन्ध में एवं संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों के लिए प्रवेश-पत्र (Instrument of Accession) के अन्तर्गत संघ को समर्पित किए हुए समवर्ती विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार दिया गया। संघीय विधान-मण्डल प्रान्तीय विषयों पर भी उस दशा में कानून बना सकती थी जब गवर्नर जनरल ने संकटकालीन घोषणा कर दी हो। अधिनियम बनाने में [illegible] पर, दोनों सदनों में मतभेद हो जाने की स्थिति में, दोनों की संयुक्त बैठक बुलाने का आयोजन था, जिसमें संघीय सभा को अपने संख्या-बल के कारण लाभ था।

(ii) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ—कार्यपालिका क्षेत्र में [illegible] को समान अधिकार नहीं थे। मन्त्रिपरिषद् केवल संघीय-सभा के [illegible] था, राज्य-सभा के प्रति नहीं। मन्त्रियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव [illegible]

सघीय-सभा को थी, राज्य-सभा को नही थी। जहाँ तक गवर्नर जनरल के सभासदों (Councillors) का सम्बन्ध था, उन्हे दोनों में से कोई भी सदन अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नही हटा सकता था। सभासद् केवल गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी थे। दोनो सदनों को मन्त्रियो तथा सभासदों से शासन सम्बन्धी प्रश्न पूछने का सामान्य अधिकार था और दोनो ही सदन प्रस्ताव तथा स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion) प्रस्तुत कर सकते थे। यह गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था कि वह किसी प्रस्ताव को माने या न माने। जिन विषयों में गवर्नर जनरल को विशेष जुम्मेदारियाँ या स्वेच्छाचारी शक्तियाँ सौंपी गई थी, उनमें विधान-मण्डल का कोई नियन्त्रण नही था।

(iii) वित्तीय शक्तियाँ—वित्तीय मामलों में दोनों सदनों के अधिकार व्यावहारिक रूप से समान थे, किन्तु कोई भी विधेयक पहले-पहल संघीय सभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता था। व्यय की वे मदें, जिनका भार संघ के राजस्वों पर पडता था, सघीय विधान-मण्डल के नियन्त्रण से बाहर थी। व्यय की ऐसी मदे बजट के लगभग 80 प्रतिशत भाग को आवृत्त करती थी। शेष 20 प्रतिशत विषय पहले सघीय-सभा मे और फिर राज्य-सभा मे माँगो और अनुदानों के रूप मे प्रस्तुत किए जाते थे। इस 20 प्रतिशत बजट की मदों मे विधान-मण्डल कोई भी कटौती कर सकता था या किसी माँग को मानने से बिलकुल इन्कार कर सकता था। किन्तु गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह विधान-मण्डल द्वारा अंगीकार न किए हुए या कम किए हुए अनुदानो को ज्यों का त्यो पास कर दें।

स्पष्ट है कि संघीय विधान-मण्डल रचना और अधिकारो की दृष्टि से बड़ा ही निराशाजनक था। विधान-मण्डल को ब्रिटिश-ससद् की सी विधि निर्माण शक्ति प्राप्त नही थी। विधि-निर्माण सम्बन्धी अधिकार विभिन्न रूप से प्रतिबन्धित थे। विधान-मण्डल के वित्तीय अधिकार भी अत्यधिक नियन्त्रित थे और यह सब कुछ मुख्यतया गवर्नर जनरल के विशाल वित्तीय अधिकारो के कारण था। वित्तीय परामर्शदाताओं की नियुक्ति की व्यवस्था भी जिस रूप मे की गई थी वह आपत्तिजनक थी। दोनों सदनो के गठन मे भी बड़ी-बडी त्रुटियाँ थी। निम्न सदन के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति, साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलो के सिद्धान्तों का विस्तार, विधान-मण्डल के दोनो सदनों मे राज्यो के मनोनीत सदस्यों की भारी संख्या आदि दोषो ने विधान-मण्डल को अलोकतान्त्रिक, प्रतिक्रियावादी तथा विपरीतगामी (Reactionary and Retrograde) बना दिया था।

नोट—स्मरणीय है कि चूँकि भारतीयो के विरोध के कारण अधिनियम का सघीय भाग नही लागू किया गया, अतः संघीय विधान-मण्डल भी नही बना और केन्द्र मे 1919 के अधिनियम के अनुसार ही कार्य चलता रहा।

संघीय न्यायालय
(The Federal Court)

प्रस्तावित संघ मे सघीय इकाइयों के आपसी झगड़ो और इनका केन्द्र के साथ

झगड़ों का निपटारा करने के लिए संघीय न्यायलय की स्थापना आवश्यक समझी गई। 1935 के अधिनियम को 1 अप्रेल, 1937 से लागू किया गया और 1 अक्टूबर, 1937 से संघीय न्यायालय ने अपना कार्य करना शुरू कर दिया।

(i) **संघीय न्यायालय का संगठन**—अधिनियम के अनुसार स्थापित संघीय न्यायालयों में एक मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) और अधिक से अधिक 6 उप-न्यायाधीश (Prime Judges) नियुक्त किए जा सकते थे, किन्तु उस समय केवल एक मुख्य न्यायाधीश और 2 अन्य न्यायाधीश ही नियुक्त किए गए। ये सब न्यायाधीश ब्रिटिश सम्राट द्वारा अति-उच्च योग्यताओं के आधार पर नियुक्त होते थे और इनकी सख्या मे केवल तभी वृद्धि की जा सकती थी जब सघीय विधान-मण्डल इस हेतु एक प्रार्थना-पत्र गवर्नर जनरल के माध्यम से ब्रिटिश सम्राट को भेजे। न्यायाधीशो का विधान ब्रिटिश सम्राट और उनकी मन्त्रि-परिषद् द्वारा तय किया जाता था। न्यायाधीशो को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, अत. उनके विधानो मे उनकी अवधि के भीतर परिवर्तन नही किया जाता था। न्यायाधीशो का वेतन भारतीय राजस्व पर भारित व्यय (Charged on Indian Revenues) था। न्यायाधीशो की नौकरियाँ सुरक्षित की गई थी और सदाचरण होने पर वे अपने पद पर 65 वर्ष की आयु तक रह सकते थे। दुराचार (Misbehaviour) अथवा शारीरिक एव मानसिक दुर्बलता के आधार पर ब्रिटिश सम्राट उन्हे 65 वर्ष की आयु से पूर्व भी हटा सकता था, जब प्रिवी-कौन्सिल की न्याय समिति (The Judicial Committee of the Privy Council) पूछे जाने पर सलाह दे कि न्यायाधीश दोषी है और उसको ऊपर लिखे हुए किसी कारण के आधार पर हटाना उचित ही है। न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल तथा भारत के विधान-मण्डल को इसलिए नही दिया गया कि न्यायाधीश स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य कर सकें और उनके कार्यों मे कोई अनुचित हस्तक्षेप न हो।

संघीय न्यायालय का न्यायाधीश बनने के लिए जो योग्यताएँ रखी गई, वे इस प्रकार थी—(1) वह ब्रिटिश भारत या संघ में सम्मिलित होने वाली किसी देशी रियासत के उच्च न्यायालय (High Court) में कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश रहा हो, अथवा (2) वह इग्लैण्ड या उत्तरी आयरलैण्ड के एडवोकेट (Faculty of Advocates) का 10 वर्ष तक सदस्य रहा हो, अथवा (3) ब्रिटिश भारत या सघ मे सम्मिलित होने वाली किसी देशी रियासत के उच्च न्यायालय (High Court) का 10 वर्ष तक एडवोकेट रहा हो। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह 15 वर्ष पुराना एडवोकेट, बैरिस्टर या वकील हो, किसी भी रिक्त स्थान को स्थाई रूप से भरने के लिए गवर्नर जनरल किसी उचित व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त कर सकता था। इसी तरह मुख्य न्यायाधीश का स्थान रिक्त होने पर गवर्नर जनरल किसी भी संघीय न्यायाधीश को स्थाई रूप से मुख्य न्यायाधीश के रूप में कार्य करने के लिए कह सकता था। मुख्य न्यायाधीश को 7000 रु० मासिक वेतन, प्रत्येक उप-न्यायाधीश को 5500 रु. मासिक वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त भत्तों और पेन्शन की व्यवस्था भी थी।

(ii) **संघीय न्यायालय के अधिकार**—संघीय न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के तीन भाग थे—प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र (Original Jurisdiction), अपीलीय अधिकार-क्षेत्र (Appelate Jurisdiction) और परामर्शदात्री अधिकार-क्षेत्र (Advisory Jurisdiction)।

प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत संघीय न्यायालय में ऐसे ही अभियोग आ सकते थे जो संघ और किसी प्रान्त की सरकार में परस्पर मतभेद होने के कारण उठ खड़े हुए हों, या संघ और संघ में प्रविष्ट किसी राज्य की सरकार में परस्पर मतभेद होने के कारण उठ खड़े हुए हों। संघीय न्यायालय अपने प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र के अनुसार उन सभी मामलों को सुन सकता था, जिनका सम्बन्ध 1935 के अधिनियम की व्याख्या से हो। वह किसी प्रान्त या देशी रियासत के आपसी झगड़े अथवा दो या अधिक प्रान्तों या रियासतों के मध्य हुए झगड़ों का भी निर्णय करता था।

अपीलीय अधिकार-क्षेत्र के अनुसार संघीय न्यायालय का काम भारत के उच्च न्यायालयों के निर्णय या आदेश के विरुद्ध उन मामलों में अभियोग-प्रार्थनाओं को सुनना था जिनके सम्बन्ध में उच्च न्यायालय ने यह प्रमाणित कर दिया हो कि वे अभियोग 1935 के अधिनियम की व्याख्या से सम्बद्ध विधान के ठोस प्रश्न से सम्बन्धित हैं या अधिनियम के अधीन जारी किए गए किसी सपरिषद् आदेश (Orders in Council) की व्यवस्था से सम्बद्ध है। यदि यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता था कि संघ में शामिल होने वाली किसी देशी रियासत ने अपने प्रवेश लेख (Instrument of Accession) द्वारा संघीय सरकार को कहाँ तक कानूनी और कार्यकारिणी सम्बन्धी अधिकार दिए है, तो भी यह मामला संघीय न्यायालय द्वारा निपटाया जा सकता था।

परामर्शदात्री अधिकार-क्षेत्र में न्यायालय का सम्बन्ध उन मामलों से था जिनका सम्बन्ध विधान के प्रश्न से हो और जिनके बारे में गवर्नर जनरल के न्यायालय से परामर्श माँगा हो।

संघीय न्यायालय का महत्त्व रिकार्ड के रूप में भी था। न्यायालय की बैठकें दिल्ली में होती थी और यह एक अभिलेख न्यायालय (Record Court) के रूप में भी कार्य करता था। इसकी कार्यवाहियों (Proceedings) का रिकार्ड रखा जाता था और उन्हें प्रकाशित किया जाता था। उनका हवाला निचली अदालतों के सम्मुख दिया जा सकता था।

संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं था क्योंकि इसके फैसलों के विरुद्ध इसकी आज्ञा के बिना निम्नलिखित मामलों में प्रिवी-कौंसिल की न्यायालय समिति (Judicial Committee of the Privy Council) को अपील की जा सकती थी—

1. ऐसे मामले जिनमें 1935 के अधिनियम की व्याख्या या अधिनियम के अधीन जारी किए हुए किसी सपरिषद् आदेश की व्याख्या का प्रश्न उत्पन्न हुआ

हो और उसमें निर्णय संघीय न्यायालय और प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत दिए गए हों।

2. ऐसे मामले जिनमें किसी रियासत के प्रवेश-पत्र (Instrument of Accession) द्वारा संघीय सरकार को दी गई कानूनी और कार्यकारिणी शक्ति के विस्तार का प्रश्न उत्पन्न होता हो।

3. ऐसे मामले जो संघ मे शामिल होने वाली देशी रियासतों मे सघीय विधान-मण्डल द्वारा बनाए हुए कानूनो को लागू करने से उत्पन्न हों।

4. इन तीन प्रकार के मामलो को छोड़कर शेष मामलो में प्रिवी-कौंसिल को अपीलें केवल सघीय न्यायालय की आज्ञा से की जा सकती थी।

सघीय न्यायालय ने 1 अक्टूबर, 1937 से अपना कार्य प्रारम्भ किया। वह लगभग 13 वर्ष तक अत्यन्त प्रशसनीय रूप से कार्य करता रहा। 1950 मे जब भारत का नवीन सविधान लागू किया गया तो इसे ही सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) बना दिया गया और उसकी शक्तियो में आवश्यक वृद्धि कर दी गई। उल्लेखनीय है कि संघीय न्यायालय को दीवानी और फौजदारी मुकदमो मे अपीले सुनने का अधिकार नहीं दिया गया था। चूंकि केन्द्र में प्रस्तावित सघ की स्थापना ही नही हुई, अतः देशी रियासतो के मामलो को सुनने का प्रश्न भी न्यायालय के सम्मुख उपस्थित नही हुआ। इस तरह सघीय न्यायालय ब्रिटिश प्रान्तो के उन मामलों को ही सुनता रहा जिनके लिए यह अधिकृत था।

संघीय सरकार के अन्य अंग एवं अधिकारी
(Other Organs and Authorities of the Federal Government)

सघीय कार्यपालिका और सघीय विधान-मण्डल के अतिरिक्त संघीय योजना मे कुछ और अधिकारी भी थे जिनका संक्षेप में वर्णन निम्नानुसार है—

(1) वित्तीय परामर्शदाता (Financial Adviser)—अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित सघ योजना में संघ के लिए वित्तीय परामर्शदाता की नियुक्ति की गई थी जिसकी नियुक्ति का अधिकार 'व्यक्तिगत निर्णय' के आधार पर गवर्नर जनरल को दिया गया था। गवर्नर जनरल ही उसका वेतन, भत्ता आदि नियत करता था और वही जब चाहे तब पद मुक्त कर सकता था। वित्तीय परामर्शदाता का कार्य वित्तीय मामलों मे सघीय विधान-मण्डल को परामर्श देना था। यद्यपि गवर्नर जनरल द्वारा उसके लिए नियत कर्त्तव्यों को पूरा करना भी उनके लिए आवश्यक था लेकिन उसका प्रधान कर्त्तव्य गवर्नर जनरल के वित्त सम्बन्धी विशेष उत्तरदायित्व के निर्वहन मे सहायता करना था।

(2) एडवोकेट जनरल (Advocate General)—सघ के लिए एक एडवोकेट जनरल की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई थी और इसकी नियुक्ति एवम् पदच्युति भी गवर्नर जनरल के हाथ में थी। एडवोकेट जनरल के पद पर वही नियुक्त हो सकता था जिसमे संघीय न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यताएँ हो। उसका प्रधान कर्त्तव्य वैधानिक मामलों मे संघीय विधान-मण्डल को परामर्श देना एवम् अन्य

ऐसे कार्यों को करना था जो गवर्नर जनरल उसके लिए निश्चित करे। एडवोकेट जनरल को विधान मण्डल के दोनो सदनों मे भाषण करने का अधिकार था, तथापि उससे यह आशा नही की गई कि वह मंत्रिमण्डल से किसी प्रकार का राजनीतिक सम्बन्ध रखेगा।

(3) संघीय रेलवे शासन विभाग (The Federal Railway Authority)–अधिनियम के अन्तर्गत रेलवे के प्रबन्ध के लिए 'सघीय रेलवे शासन विभाग' नामक एक पृथक् सस्था की व्यवस्था की गई थी। इस सस्था की सदस्य संख्या 7 थी, जिनमें से तीन की नियुक्ति गवर्नर जनरल स्वविवेक मे कर सकता था। साथ ही अपने स्वविवेक से वह इसके सदस्यों में से किसी भी एक को इसका अध्यक्ष भी बना सकता था। रेलो के वास्तविक प्रशासन को चलाने के लिए एक मुख्य आयुक्त एवम् एक अतिरिक्त आयुक्त की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी। यह भी व्यवस्था थी एक रेलवे विभाग के लिए पृथक् रेलवे फंड और पृथक् न्यायाधिकरण की स्थापना की जाए, परन्तु अधिनियम के इस भाग को क्रियात्मक रूप कभी नही मिला।

(4) रिजर्व बैंक (Reserve Bank)—वित्तीय स्थिरता की दृष्टि से भारत मे रिजर्व बैंक को स्थापित किया गया था जिसके शासन-प्रबन्ध हेतु एक समिति की व्यवस्था की गई थी। इस समिति में एक गवर्नर (अध्यक्ष) और 15 *निर्देशक (Directors) रखे गए थे। इन 15 निर्देशकों मे से 8 निर्वाचित* और 7 मनोनीत होते थे। बैंक की मुद्रा सोने या चाँदी की होती थी।

प्रान्तीय कार्यपालिका
(Provincial Executive)

प्रान्तीय कार्यपालिका (1) गवर्नर (Governor) एव (2) मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) को मिलाकर बनाई गई थी।

गवर्नर (Governor)

गवर्नर कार्यपालिका का अध्यक्ष था जिसकी नियुक्ति भारत के राज्य मन्त्री के परामर्श से ब्रिटिश सम्राट करता था। बंगाल, मद्रास और बम्बई के गवर्नर ग्रेट-ब्रिटेन के सार्वजनिक जीवन के व्यक्तियों में से नियुक्त किए जाते थे और उन्हे 1,20,000 रु. वार्षिक वेतन मिलता था। शेष प्रान्तो के गवर्नर, गवर्नर जनरल की सिफारिश पर भारतीय असैनिक सेवा के उच्च पदाधिकारियों से नियुक्त किए जाते थे। उनका वेतन प्रेसीडेन्ट के गवर्नरो के वेतन की अपेक्षा कम होता था। विधान-सभाएँ गवर्नरो के वेतन और भत्ते परिवर्तन कर सकती थी। गवर्नर प्रायः 5 वर्ष के लिए नियुक्त किए जाते थे। प्रान्तों के गवर्नर विशाल शक्तियों के स्वामी थे।

(1) कार्यपालिका शक्तियाँ—केन्द्र मे गवर्नर जनरल की तरह प्रान्तो के गवर्नर भी विस्तृत और व्यापक अधिकारों से सम्पन्न थे। यद्यपि उनकी स्थिति बहुत कुछ गवर्नर जनरल के समान थी, तथापि यह प्रान्तो में स्वायत्तता या स्वराज्य के प्रारम्भ होने से थोड़ी भिन्न हो गई थी। गवर्नर को 1935 के अधिनियम के अनुसार तीन प्रकार की कार्यपालिका शक्तियाँ दी गई थी—(क) स्वेच्छाचारी शक्तियाँ

(Discretionary Powers), (ख) व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियाँ (Powers to be exercised in his Individual Judgement), (ग) एवं मन्त्रियो के परामर्श से प्रयुक्त की जाने वाली शक्तियाँ (Powers to be exercised on advice of the Ministers)।

(क) **स्वेच्छाचारी शक्तियाँ**—अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय गवर्नरों को बहुत से स्वेच्छाचारी या विवेकाधीन अधिकार प्राप्त थे। प्रो. के टी. शाह ने 32 ऐसे वैधानिक अवसर गिनाए हैं जब वह विवेकाधीन शक्तियो का प्रयोग कर सकता था, किन्तु उनमे से अधिक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ निम्नलिखित थी—1 यह निर्णय करना कि किसी मामले मे उसे अपनी स्वेच्छाचारी शक्तियो अथवा व्यक्तिगत निर्णयों की शक्तियों का प्रयोग करना है या नही, 2 मन्त्रि-परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करना, 3. सरकार को उलट डालने के हिंसात्मक अपराधों को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाना, 4. प्रान्तीय सरकार के कार्य के सुचारु-सचालन के लिए नियम बनाना, 5. मन्त्रियों को चुनना, बुलाना और पदच्युत् करना तथा जब तक प्रान्तीय विधान-सभा के अधिनियम से उनके वेतन नियत नहीं होते तब तक के लिए उनके वेतन नियत करना, 6 कोई भी पुलिस का अधिकारी आतंकवादी गतिविधियो में लगे व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली सूचना का स्रोत किसी को न बताए, इस सम्बन्ध मे नियमो का बनाना, 7. प्रान्तीय विधान-मण्डल को बुलाना, स्थगित करना और इसके निचले सदन अर्थात् प्रान्तीय विधान-सभा को भग करना, किसी व्यक्ति की अयोग्यताओं को दूर करना और इस प्रकार उसे इस योग्य बनाना कि वह विधान-सभा के लिए चुनाव लड़ सके, 8. दो सदन वाले विधान-मण्डल के दोनो सदनों का सयुक्त अधिवेशन करना, यदि दोनो मे कोई मतभेद हो तो, 9. कुछ अवस्थाओं मे किसी विधेयक पर या उसकी किसी धारा पर विचार-विमर्श अथवा और अधिक विचार-विमर्श को रोकना, 10. इस बात का निर्णय करना कि कोई मद मतदान के योग्य है या नही, 11. गवर्नर का अधिनियम बनाना और अध्यादेशों की घोषणा करना, 12. अपवर्जित क्षेत्रो (Excluded Areas) के शान्ति और स्वशासन के लिए विनियम (Regulations) बनाना, 13 कुछ विशेष प्रकार के विधेयको (Bills) को विधान-मण्डल मे प्रस्तुत करने के लिए स्वीकृति देना, 14. प्रान्तीय लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) के अध्यक्ष और सदस्यो को नियुक्त करना, एवं 15. अपने कार्यालय के कर्मचारियों की नियुक्ति — उनका वेतन आदि निश्चित करना।

1. प्रान्त या प्रान्त के किसी भाग की शान्ति के भग होने की आशंका का निवारण, 2 भूतकाल और वर्तमान काल के असैनिक कर्मचारियो तथा उनके आश्रितो के अधिकारो का संरक्षण करना, 3. अल्पसंख्यक जातियों के न्यायोचित हितो की रक्षा करना, 4. प्रत्येक भारतीय रियासतों के अधिकारो और उसके शासक की मर्यादा व प्रतिष्ठा की रक्षा करना, 5. व्यवसाय सम्बन्धी भेदभावों को दूर करना, 6 जिन क्षेत्रों को असैनिक रूप मे अपवर्जित (Excluded) घोषित कर दिया गया हो, उनमे शान्ति और स्वशासन रखना, 7. गवर्नर जनरल अपनी स्वेच्छाचारी शक्तियो का प्रयोग करते हुए जिन आदेशों और निर्देशो को जारी करे उनका पालन करना।

उपरोक्त विषयो के अतिरिक्त कुछ और अन्य ऐसे मामले भी थे जिनमें गवर्नर अपनी व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियो का प्रयोग कर सकते थे। ये मामले इस प्रकार थे—

1. प्रान्त में एडवोकेट जनरल की नियुक्ति, पदच्युति और उनके वेतन को निश्चित करना, 2. विधान-मण्डल का अधिवेशन जब नही हो रहा हो और इसका अवकाश हो तब अध्यादेश जारी करना, 3. पुलिस के नियमो में सशोधन करना, 4. सार्वजनिक सेवाओ से सम्बन्धित मामले, एवं 5. यह घोषणा करना कि किसी भारतीय रियासत का शासक या प्रजा या किसी कबायली क्षेत्र (Tribal Area) का निवासी या भारत की सीमा से मिले-जुले किसी प्रदेश का कोई निवासी प्रान्तीय प्रशासन मे कोई सरकारी पद प्राप्त करने योग्य है।

गवर्नर जनरल की ये विशेष जिम्मेदारियाँ और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियाँ प्रान्त के प्रत्येक क्षेत्र पर छाई हुई थी। अपनी विशेष जिम्मेदारी का पालन करते समय अथवा स्वेच्छाचारी शक्तियो का प्रयोग करते समय गवर्नर, गवर्नर जनरल के अधीन होता था।

(ग) मन्त्रियों के परामर्श से प्रयुक्त की जाने वाली शक्तियाँ—जिन अधिकारों को गवर्नर को मन्त्रियो के पराम र्श से प्रयोग मे लाना था, वे अधिकार बहुत कम तथा नाम मात्र के थे। वास्तव मे 1935 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल को केवल नाम मात्र का सांविधानिक अध्यक्ष नही बनाया गया था, वरन् उसको वास्तविक शक्तियाँ दी गई थी तथा यह आशा करना कोरा प्रदर्शन था कि गवर्नर मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करेगे। मन्त्रियो के कार्यों को गवर्नर के स्वेच्छाचारी अधिकारो और विशेष उत्तरदायित्वो ने पूर्णतः प्रभावहीन बना दिया था। मन्त्रियो को वही नियुक्त करता था और उसके प्रसाद-पर्यन्त ही वे मन्त्री पद पर बने रहते थे।

(2) विधि निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ—प्रान्तीय गवर्नरो को विधि-निर्माण के क्षेत्र मे भी विस्तृत और विभिन्न अधिकार प्राप्त थे, जिनमें कुछ का प्रयोग वह प्रान्तीय विधान-सभा के सम्बन्ध में कर सकता था और कुछ का विधान-निर्माण के सम्बन्ध मे। उसकी महत्त्वपूर्ण विधायी शक्तियाँ अग्रलिखित थीं—

1. वह विधान-मण्डल के सदन या सदनों के अधिवेशन करा सकता था और

उन्हें स्थगित करा सकता था। विधान-सभा को विघटित करने का भी उसे अधिकार था।

2. उसे सदनों के पृथक् या संयुक्त अधिवेशन में भाषण देने का अधिकार था। विचारार्थ पड़े हुए किसी भी विधेयक के सम्बन्ध में वह विधान-सभा को संदेश भेज सकता था।

3. उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी बिल कानून नहीं बन सकता था। वह किसी बिल को पुनर्विचार के लिए विधान-मण्डल के पास वापिस भेज सकता था या उसको ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति के लिए सुरक्षित (Reserve) कर सकता था।

4. वह प्रान्तीय विधान-मण्डल के दोनों सदनों में कार्य-संचालन के लिए विधान-मण्डल के अध्यक्ष से सलाह करके नियम बना सकता था।

5. वह भारतीय राज्यों के सम्बन्ध में विधान-सभा में विचार-विमर्श करने को या प्रश्नों के पूछने को रोक सकता था।

6. वह विदेशी या देशी रियासत के शासन अथवा शाही परिवार से सम्बन्धित किसी मामले पर बहस बन्द कर सकता था।

7. यदि वह इस बात से सन्तुष्ट हो कि विधेयक या विधेयक की कोई धारा या किसी धारा का कोई संशोधन, प्रान्त की शान्ति के लिए संकट उपस्थित कर सकता है या उसके विशेष उत्तरदायित्व के पालन में बाधक बन सकता है, तो वह विधान-सभा में उक्त बातों की प्रगति को रोक सकता था।

8. गवर्नर जनरल की कानूनी शक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति अधिनियम बनाने की थी। अपने कार्यों के सु-संचालन के लिए गवर्नर को अधिनियम बनाने की शक्ति प्राप्त थी। इस हेतु वह किसी भी बिल को तैयार करके विधान-मण्डल को भेज देता था जिसे गवर्नर के निर्देशानुसार एक महीने में बिल पास कर देना पड़ता था, अन्यथा एक महीने के बाद गवर्नर अपनी विशेष शक्ति से स्वयं उस बिल को कानून बना सकता था। गवर्नर द्वारा निर्मित अधिनियम विधान-मण्डल द्वारा निर्मित अधिनियमों की भाँति ही लागू होते थे। अपना अधिनियम बनाने से पूर्व उसको गवर्नर जनरल की आज्ञा प्राप्त करनी होती थी और अधिनियम बनाने के बाद उसकी प्रतिलिपि गवर्नर जनरल के माध्यम से भारत सचिव के पास भेजनी पड़ती थी जो इस अधिनियम को ब्रिटिश संसद् के सम्मुख प्रस्तुत करता था। ब्रिटिश संसद् इस अधिनियम को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता था।

9. गवर्नर अपने आदेश से अध्यादेशों की भी घोषणा कर सकता था। ये अध्यादेश दो प्रकार के होते थे—(क) वे जिनकी घोषणा प्रान्तीय विधान-सभा के विश्राम काल में की जाती थी, एवं (ख) वे जिन्हें गवर्नर 'स्वविवेक' या व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर, जैसी भी परिस्थिति हो, बनाता था। दूसरे प्रकार के अध्यादेशों का उत्तरदायित्व गवर्नर पर और पहले प्रकार के अध्यादेशों का उत्तरदायित्व मन्त्रियों पर होता था।

गवर्नर को संविधान को स्थगित करने की महत्त्वपूर्ण शक्ति प्राप्त थी। वह अपनी एक घोषणा के अनुसार सविधान को स्थगित कर सकता था और हाईकोर्ट को छोड़कर शेष प्रान्तीय अधिकारियों की शक्ति स्वयं ग्रहण कर सकता था।

(3) **वित्तीय शक्तियाँ**—गवर्नर को महत्त्वपूर्ण वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त थीं। वह बजट तैयार करवाता था और उसकी आज्ञा के बिना विधान-मण्डल मे अनुदान के लिए माँग (Demand for grants) पेश नही की जा सकती थी। वही यह निर्णय करता था कि अमुक व्यय प्रान्तो के राजस्वो से लिया जा सकता है अथवा नहीं। प्रान्तीय सरकार की वित्त सम्बन्धी माँगो और पूर्वानुमानों को विधान-सभा से यथासम्भव पारित करवाना उसी का काम था। विधान-सभा द्वारा किसी काटी हुई या अस्वीकृत रकम को वह अपने विशेषाधिकार द्वारा मौलिक रूप मे मन्जूरी देता था।

प्रकट है कि गवर्नर सरकार का अलंकारिक अध्यक्ष नही था। इसके विपरीत प्रान्तीय सरकार की सम्पूर्ण शक्ति वास्तविक रूप से उसी मे निहित थी। उसकी विधि-निर्माण सम्बन्धी, कार्यपालिका सम्बन्धी, स्वेच्छाचारी और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियाँ इतनी विशाल थी कि इनसे प्रान्तीय स्वराज्य अवास्तविक बन गया था। इन शक्तियों के बल पर वह प्रान्तीय सरकार में 'सर्वशक्तिमान' था। प्रान्तीय मन्त्रियों को चुनना और नियुक्त करना उसी के अधिकार मे था और मन्त्रियो के सचिव भी उसी के अधीन थे। विधान-सभा पर भी प्रारम्भ से अन्त तक वही शासन करता था तथा प्रान्तीय वित्त का नियन्त्रण भी उसी के हाथ में था। सारांशतः गवर्नर वास्तव मे प्रान्तीय शासन की धुरी था। वह प्रान्त में एकाधिनायक (Dictator) था और प्रान्त के प्रत्येक क्षेत्र के प्रशासन की प्रत्येक शाखा उसके द्वारा नियन्त्रित थी।

मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers)

1935 के अधिनियम के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि गवर्नर को उसके कर्त्तव्यो के पालन मे सहयोग तथा परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी। गवर्नर ही मन्त्रियो को नियुक्त करेगा और जब चाहे तब उन्हे पदमुक्त कर सकेगा। फिर भी निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) मे यह कहा गया था कि विधान-सभा में स्थाई बहुमत के नेता और विधान-सभा के सामूहिक तथा विश्वासपात्र व्यक्ति के परामर्श से ही गवर्नर मन्त्रियों को चुनेगा क्योंकि केवल इसी रीति से सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना पोषित और प्रोत्साहित की जा सकती थी। प्रान्तीय क्षेत्र मे उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त को कार्यरूप देने के लिए मन्त्रियों को प्रान्तीय विधान-सभाओं के प्रति भी उत्तरदायी बनाया गया अर्थात् वे अविश्वास प्रदर्शित करके मन्त्रियो को पृथक् कर सकती थी।

अधिनियम के अनुसार मन्त्रियो के लिए कोई विशेष योग्यताएँ नही रखी गईं। यह आवश्यक था कि प्रान्तीय विधान-मण्डल के दोनो मे से किसी एक सदन का सदस्य वह अवश्य हो। यदि विधान-मण्डल से बाहर के किसी व्यक्ति को मन्त्री

नियुक्त कर दिया जाता था तो उसे 6 महीने के भीतर सदस्य बनना पड़ता था। यदि ऐसा व्यक्ति चुनाव लड़कर सदन का सदस्य बनने में असमर्थ रहता था तो उसे मन्त्री पद से त्याग-पत्र देना आवश्यक था।

अधिनियम में मन्त्रियों के वेतन निर्धारित नहीं किए गए थे किन्तु यह व्यवस्था की गई थी कि उनके वेतन प्रान्तीय विधान-मण्डल द्वारा पारित एक अधिनियम द्वारा निर्धारित कर दिए जाएँ। फिर भी मन्त्रियों के कार्यकाल में उनके वेतन न्यूनाधिक नहीं हो सकते थे और यह बात उत्तरदायी सरकार के वास्तविक रूप के विरुद्ध थी। गवर्नर अपने विवेक से मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता कर सकता था—यह व्यवस्था भी प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के प्रचलन में सहायक नहीं थी। इससे भी बुरी बात यह थी कि निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) में गवर्नर को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह प्रान्तीय मन्त्रि-परिषद् में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को सम्मिलित करवा सकता था। यह व्यवस्था न केवल राष्ट्रीयता के विरुद्ध थी वरन् दलीय सरकार और संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के भी प्रतिकूल थी।

1935 के अधिनियम में प्रत्येक प्रान्त के लिए मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई थी, वरन् प्रत्येक प्रान्त आवश्यकतानुसार थोड़े या अधिक मन्त्री रख सकता था। उदाहरणार्थ, जहाँ उड़ीसा में केवल 3 मन्त्री थे वहाँ बंगाल में 12 थे और यह संख्या सब प्रान्तों से अधिक थी। यद्यपि अधिनियम में संसदीय सचिवों (Parliamentary Secretaries) के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थी, तथापि मन्त्रियों के कार्य-भार को हल्का करने के लिए संसदीय सचिव नियुक्त कर दिए गए थे। प्रान्तों के मन्त्रिमण्डल विभाग पद्धति (Portfolio System) पर काम कर रहे थे। एक या एक से अधिक विभाग मन्त्रियों को सौंप दिए गए थे और मन्त्री ही उनके सफल संचालन के लिए उत्तरदायी थे। स्पष्टतः प्रान्तीय कार्यपालिका में उत्तरदायी सरकार की बहुत-सी विशेषताएँ और औपचारिकताएँ (Formalities) विद्यमान थीं, किन्तु अनुच्छेद 93 में वर्णित गवर्नर के दुर्जेय अधिकारों ने वास्तविक उत्तरदायी सरकार की स्थापना निश्चित रूप से संदिग्ध बना दी थी। साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति, साम्प्रदायिक दलों, प्रान्तीय विधान-मण्डल में प्रतिनिधित्व की विधि और गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ उत्तरदायी सरकार के विरुद्ध थीं जिन्होंने इसकी प्रगति में अनेक बाधाएँ उपस्थित की। निष्कर्ष रूप में 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित प्रान्तों में उत्तरदायी शासन अधूरा था।

प्रान्तीय विधान-मण्डल
(Provincial Legislatures)

1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय विधान-मण्डलों में भी कुछ परिवर्तन हुआ जिनमें से महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित थे—

(1) **द्वितीय सदन की स्थापना**—1919 के अधिनियम के अनुसार प्रान्तों में केवल एक सदन होता था और इस प्रकार 1935 से पूर्व तक ग्यारह के

प्रान्तों में एक सदन वाले विधान-मण्डल थे, किन्तु नए संविधान के अन्तर्गत पहली बार 6 प्रान्तो मे 2 सदन बनाए गए—असम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश। शेष पाँच प्रान्तो—पजाब, मध्य प्रान्त तथा बरार, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, उडीसा और सिन्ध मे केवल एक ही सदन रखा गया। द्वि-सदनीय विधान-मण्डल मे उच्च सदन का नाम विधान-परिषद् (Legislative Council) और निम्न सदन का नाम विधान-सभा (Legislative Assembly) रखा गया। एक सदनीय विधान-मण्डल मे सदन का नाम विधान-सभा (Legislative Assembly) ही रहा। भारतीय लोकमत ने दूसरे सदन की उत्पत्ति का विरोध किया क्योकि प्रान्तो के अल्प साधनो में यह एक अनावश्यक बोझ था और साथ ही यह एक रूढ़िवादी सदन था जिसे ब्रिटिश हितो को सुरक्षित रखने के लिए बनाया गया था।

(2) विधान-मण्डल का संगठन—नवीन शासन-व्यवस्था मे विधान-सभा (Legislative Assembly) के सभी सदन निर्वाचित ही हो सकते थे, किन्तु विधान-परिषद् (Legislative Council) के सगठन के विषय में प्रान्तीय गवर्नर को कुछ सदस्य मनोनीत कर सकने का अधिकार दिया गया। सदस्यता-पदों के विवरण के सिद्धान्त मे कोई परिवर्तन नही किया गया था। सदस्यता-पद पहले ही के समान भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे विभक्त किए गए थे। अधिनियम के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायो के हितो और वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिए मतदाताओ को निम्न-लिखित 15 भागो मे बाँटा गया था—(1) सामान्य स्थान (General Seats) मुख्यतः हिन्दुओ के लिए थे किन्तु इनमे उन सम्प्रदायों के मतदाता भी सम्मिलित थे जिन्होने अलग प्रतिनिधित्व की माँग नही की थी। उदाहरणार्थ, पारसियों के लिए भी इसी मे स्थान शामिल था। सामान्य स्थानो के लिए हिन्दू एवं पारसी आदि मतदाता अपना मतदान करते थे, (2) अनुसूचित जातियो के लिए सुरक्षित स्थान (Reserved Seats for the Scheduled Castes) सामान्य स्थानों में से ही थे, (3) मुसलमान, (4) यूरोपियन, (5) आँग्ल भारतीय सम्प्रदाय, (6) भारतीय ईसाई, (7) जमींदार, (8) विश्वविद्यालय के रजिस्टर्ड स्नातक, (9) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और पजाब के सिक्ख, (10) मजदूर, (11) व्यापारी एवं उद्योगपति, (12) पिछड़े हुए क्षेत्र और कबीले, (13) पजाब की सिक्ख महिलाएँ, (14) मुसलमान महिलाएँ, (15) मद्रास मे ईसाई महिलाएँ जिनमे अधिकांशत. हिन्दू नारियाँ शामिल थीं। वास्तव में पहले जो प्रतिनिधित्व देने की साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति चल रही थी, ने न केवल उसको राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध कायम रखा था, बल्कि उसको अनेक हितो और वर्गों मे और अधिक बढा दिया गया था। हरिजनों, पिछड़े हुए कबीलों और महिलाओ को अलग प्रतिनिधित्व देकर इस पद्धति की बुराइयों में वृद्धि कर दी गई थी।

जहाँ तक विधान-मण्डल की सदस्य संख्या का प्रश्न था, प्रत्येक प्रान्त मे विधान-परिषद् और विधान-सभा के सदस्यों की संख्या भिन्न-भिन्न थी। पंजाब,

मद्रास, बम्बई, बंगाल, उत्तर प्रदेश और बिहार, मध्य प्रान्त तथा बरार, असम, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, उडीसा, सिन्ध इन 11 प्रान्तो की विधान-सभाओं की कुल सदस्य संख्या क्रमश: 175, 215, 175, 250, 228, 152, 112, 108, 50, 64 एवं 60 थी। जहाँ तक प्रान्तीय विधान-परिषदो की सदस्य सख्या का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में सदस्य संख्या निम्नानुसार हो सकती थी—

मद्रास	54 स्थान से कम नही और 56 से अधिक नही।
बम्बई	29 स्थान से कम नही और 30 से अधिक नही।
बंगाल	63 स्थान से कम नही और 65 से अधिक नही।
उत्तरप्रदेश	58 स्थान से कम नही और 60 से अधिक नहीं।
बिहार	29 स्थान से कम नही और 30 से अधिक नही।
असम	21 स्थान से कम नही और 22 से अधिक नही।

विधान-सभा का कार्यकाल 5 वर्ष था, किन्तु 'सविवेकाधीन' अधिकार के बल पर गवर्नर इसे अवधि से पूर्व भी भग कर सकता था। विधान-परिषद् को स्थाई संस्थान बनाया गया था जिसके एक-तिहाई सदस्यो को प्रति तीसरे वर्ष परिषद् छोड़ना आवश्यक ठहराया गया था।

(3) **मताधिकार एवं प्रत्याशियों की अर्हताएँ**—दोनों सदनो के लिए मतदान या मत प्राप्ति की योग्यता मुख्यतया सम्पत्ति पर आश्रित की गई थी। विधान-परिषद् के सम्बन्ध मे केवल बहुत शक्तिशाली उच्च स्तर के व्यक्तियों को मताधिकार दिया गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि केवल धनियो और रायबहादुरो, विधान-मण्डल के भूतपूर्व सदस्यों, मन्त्रियों, कार्यकारिणी के सदस्यो, यूनिवर्सिटी सीनेट के सदस्यो, हाईकोर्ट के जजो, नगरपालिकाओं तथा स्थानीय बोर्डों के प्रधानों एवं केन्द्रीय सहकारी बैंकों के स्थापितों आदि अति उच्च श्रेणी के कुछ विशेषाधिकार सम्पन्न व्यक्तियों को ही मताधिकार प्राप्त हुआ। विधान-सभा अर्थात् निम्न सदन के लिए मताधिकार पहले से बहुत नीचे स्तर का नियत किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि मतदाताओं की संख्या पूर्वापेक्षा चार गुना हो गई। जहाँ 1919 के अधिनियम के अनुसार केवल 3 प्रतिशत लोगो को मताधिकार था वहाँ 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत 14 प्रतिशत जनता को मताधिकार मिला। मतदाताओं की योग्यता प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न रखी गई। मुख्यत: मतदाता के लिए योग्यता यह रखी गई कि वह कुछ शिक्षित हो, कुछ आय कर (Income Tax) या भू-राजस्व (Land Revenue) अथवा घर का कुछ किराया या कुछ म्यूनिसिपल टैक्स अथवा यान कर (Vehicle Tax) देता हो। जिन महिलाओं के पास ये योग्यताएँ थी उन्हें भी मताधिकार दिया गया।

(4) **विधान-मण्डल के प्रमुख पदाधिकारी**—प्रान्तीय विधान-मण्डल को अपने प्रधान चुनने का अधिकार दिया गया। विधान-सभा की बैठकों की अध्यक्षता करने वाले व्यक्ति को अध्यक्ष (Speaker) कहा जाता था जबकि विधान-परिषद् का सबसे बड़ा अधिकारी सभापति (Chairman) कहा जाता था। विधान-सभा को

अपने अध्यक्ष एवं विधान परिषद् को अपने सभापति को 14 दिन के नोटिस से एक अविश्वास प्रस्ताव पास करके हटाने का भी अधिकार था। अध्यक्ष और सभापति को अपने-अपने सदन मे केवल निर्णायक मत देने का अधिकार था। मन्त्रियों एवं एडवोकेट जनरल को सदन की बैठको मे भाग लेने का अधिकार था। एडवोकेट जनरल को किसी भी सदन का सदस्य न होने के कारण मतदान का अधिकार नही था जबकि मन्त्रियो को उस समय में मत देने का अधिकार था जिसके वे सदस्य होते थे।

(5) *प्रान्तीय विधान-मण्डल की शक्तियाँ*—*प्रान्तीय विधान-मण्डल को* विभिन्न विधायी, कार्यकारिणी, और वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त थी।

(क) विधायी शक्तियाँ—विधान-मण्डल को प्रान्तीय सूची और समवर्ती सूची दोनो पर कानून बनाने का अधिकार था। किसी विषय पर संघीय और प्रान्तीय विधानो मे विरोध होने की दशा में संघीय विधान (चाहे वह प्रान्तीय विधानों के विरुद्ध होने की दशा मे संघीय विधान से पहले पारित किया गया हो या पीछे) मान्य होता था। किन्तु यदि प्रान्तीय विधान-मण्डल के कानून पर गवर्नर जनरल के हस्ताक्षर हो जाते थे या वह उसकी पूर्व आज्ञा से बनाया गया होता था, तो उस समय प्रान्तीय विधान-मण्डल का कानून रद्द नही समझा जाता था। प्रान्तीय विधान-मण्डल की विधायी शक्तियाँ अनेक दृष्टियों से प्रतिबन्धित थीं—

1. विधान-मण्डल मे कोई भी ऐसा बिल गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना पेश नही हो सकता था जो ब्रिटिश भारत मे लागू होने वाले ब्रिटिश संसद् के किसी अधिनियम को रद्द या संशोधित करता हो या उसका विरोध करता हो। यह गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था कि वह उस बिल को प्रान्तीय विधान-मण्डल मे पेश होने की अनुमति दे या न दे।

2. प्रान्तीय विधान-मण्डल मे कोई भी बिल गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना पेश नही हो सकता था जो गवर्नर जनरल के किसी अधिनियम अथवा अध्यादेश को सशोधित या रद्द करता हो या उसका विरोध करता हो। गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था कि वह ऐसे बिल की मंजूरी दे या न दे।

3. यदि कोई प्रान्तीय बिल यूरोपियन या ब्रिटिश प्रजा के बारे में फौजदारी कानून को प्रभावित करता था तो भी गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी।

4. यदि प्रान्तीय बिल ऐसे मामलो को प्रभावित करता था जिन पर गवर्नर जनरल *अपनी विवेकाधीन शक्तियों (Discretionary Powers) का* प्रयोग कर सकता है, तो भी ऐसे बिल के लिए गवर्नर जनरल को पूर्व अनुमति आवश्यक थी।

5. पुलिस के सम्बन्ध मे भी कोई बिल गवर्नर की पूर्व अनुमति के बिना विधान-मण्डल मे प्रस्तावित नही हो सकता था।

वास्तव मे गवर्नर की स्वेच्छाचारी और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियाँ

उत्तरदायी सरकार के मार्ग में बड़ी भारी बाधाएँ थी और इनके कारण विधान-मण्डल लगभग प्रभावहीन संस्था बनकर रह गई थी। गवर्नर किसी भी विधेयक को स्वविवेक से स्वीकृति भी दे सकता था और स्वीकृति देने से इन्कार भी कर सकता था। वह विधेयक को पुनः विचार के लिए विधान-मण्डल के पास वापिस भेज सकता था अथवा ब्रिटिश सम्राट की सेवा मे भेजने के लिए विधेयक को आरक्षित (Reserved) कर सकता था। गवर्नर या गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृति प्रदान किए हुए किसी भी प्रान्तीय अधिनियम को स्वीकृति के बाद एक वर्ष के भीतर ब्रिटिश सम्राट अस्वीकृत कर सकता था।

(ख) **कार्यपालिका शक्तियाँ**—प्रान्तीय विधान-मण्डल को कुछ कार्यपालिका शक्तियाँ भी दी गई थी। उसे मन्त्रि-परिषद् पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त था। विधान-मण्डल के दोनो सदनो के सदस्य मन्त्रियो से प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकते थे अथवा उनके विरुद्ध काम रोको प्रस्ताव पेश कर सकते थे। विधान-सभा को मन्त्रियों को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा हटाने का अधिकार प्राप्त था, यह शक्ति विधान-परिषद् को प्राप्त नही थी। विधान-सभा बजट की मुख्य माँगों या किसी सरकारी महत्त्वपूर्ण बिल को अस्वीकार करके भी मन्त्रियों में विश्वास की कमी प्रकट कर सकती थी और ऐसी परिस्थिति मे मन्त्रियों को अपना त्याग-पत्र देना पड़ता था।

वित्तीय विधेयक केवल विधान-सभा में ही सबसे पहले पेश हो सकता था, इस बारे मे दूसरे सदन अर्थात् विधान-परिषद् को विशेष शक्ति नही थी। किसी प्रान्त के समस्त व्यय के लगभग 30 प्रतिशत विषयो को छोड़कर, जिन पर मतदान नही हो सकता था, व्यय के शेष विषयो को मतदान के लिए विधान-सभा मे प्रस्तुत किया जाता था। मतदान न होने योग्य 30 प्रतिशत व्यय के विषयो पर विधान-सभा बहस अवश्य कर सकती थी, किन्तु इनमे कोई कटौती नही कर सकती थी। इसमे गवर्नर के वेतन और भत्ते, हाईकोर्ट के न्यायाधीशो, एडवोकेट जनरल व मन्त्रियों के भत्ते, अपवर्जित क्षेत्र पर किया हुआ व्यय, ऋण भार आदि शामिल थे। ये सब खर्च और अधिनियम के अनुसार कुछ अन्य प्रान्तीय राजस्व पर भारित व्यय (Expenditure to be charged on the Provincial Revenue) समझे जाते थे। बजट के शेष लगभग 70 या 75 प्रतिशत भाग मे सरकारी व्यय सम्मिलित होता था, जिसे अनुदान के लिए माँगो (Demands for Grants) के रूप में विधान-सभा के समक्ष पेश किया जाता था। विधान-सभा इनमे से किसी भी माँग को अस्वीकार कर सकती थी या उसमे कटौती कर सकती थी। परन्तु विधान-सभा का यह अधिकार भी इस दृष्टि से लगभग प्रभाव-शून्य था कि गवर्नर अपनी विशेष शक्ति द्वारा ऐसी अस्वीकृति या कटी हुई माँग को स्वीकृति दे सकता था, यदि वह उस व्यय को शासन के चलाने के लिए आवश्यक समझता हो; और भी अनेक उपायों से गवर्नर का प्रान्तीय वित्त पर पर्याप्त नियन्त्रण रहता था।

प्रान्तीय विधान-मण्डलो का यदि मूल्यांकन किया जाए तो कहा जा सकता

है कि 1919 के अधिनियम की अपेक्षा 1935 के अधिनियम में विधान-मण्डलों में अनेक सुधार किए गए थे और वे पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। उनके सदस्यों की सख्या पर्याप्त बढा दी गई थी तथा उनके निर्वाचन के लिए प्रत्यक्ष मतदान प्रणाली की व्यवस्था की गई थी। विधान-सभाओ मे मनोनीत सदस्यो को बिल्कुल समाप्त करके उन्हें पूर्णतया निर्वाचक सस्थाएँ बना दी गई थी। केवल विधान-परिषदो मे थोड़े-थोड़े से मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य रखे गए थे। मताधिकार की योग्यताओ का स्तर भी कुछ नीचा कर दिया गया था, अतः मतदाताओं की संख्या पूर्वापेक्षा लगभग चौगुनी हो गई थी। किन्तु इन सब सुधारों के बावजूद भी विधान-मण्डल त्रुटियो के भण्डार थे। उनमें साम्प्रदायिक आधार पर सदस्यता-पदो का वितरण था, अत· जनता के वास्तविक हितो के प्रतिनिधि नही थे। विधान-सभा मे परस्पर विरोध हेतु, वर्गों और सम्प्रदायो को इस तरह लाया गया था कि उनमें राष्ट्रीय हितो के लिए भी एकता उत्पन्न न हो सके। विधान-परिषद् को एकदम अनुदारवादी और प्रतिक्रियावादी सदन था क्योकि इसमे केवल धनवानों और उच्च वर्ग के व्यक्तियो को ही स्थान प्राप्त था। मताधिकार का अधिकार वयस्क मताधिकार के आदर्शों से बहुत नीचे था। भारत की लगभग 53 प्रतिशत जनसंख्या विधान-मण्डलों के सदस्यो को निर्वाचित करने के अधिकार से वंचित रखी गई थी। यह बात प्रतिनिधिमूलक सरकार के सिद्धान्त के एकदम प्रतिकूल थी। सबसे प्रमुख बात यह थी कि विधान-मण्डलो की शक्तियाँ गवर्नर तथा गवर्नर जनरल की 'असाधारण शक्तियो के कारण अत्यन्त सीमित और प्रभावहीन थी। यदि यह कहा जाए कि प्रान्तीय विधान-मण्डल गवर्नरों की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नही कर सकते थे तो अत्युक्ति न होगी।

प्रान्तीय स्वशासन अथवा स्वायत्त शासन
(Provincial Autonomy)

1935 के अधिनियम का मुख्य पुरस्कार प्रान्तीय स्वायत्तता या प्रान्तीय स्वशासन था। 1919 के अधिनियम ने जिस द्वैध शासन-प्रणाली का सूत्रपात किया था, वह विभिन्न दोषो के कारण अपने उद्देश्य की पूर्ति मे पूर्णतया असफल रहा। अतः 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तो मे द्वैध-शासन-प्रणाली हटाकर उसके स्थान पर प्रान्तों को स्वायत्त शासन अथवा स्वराज्य या स्वशासन प्रदान किया गया। उन्हें अपने निश्चित क्षेत्र मे केन्द्रीय हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रूप से सत्ता प्रदान की गई। प्रान्तों को प्रान्तीय सूची के 54 विषयों पर प्रशासकीय, विधायी एव वित्तीय क्षेत्र में एकमेव सत्ता मिली।

प्रान्तो मे द्वैध शासन के रक्षित और हस्तान्तरित विभागो का अन्तर समाप्त करके नए नियम के अन्तर्गत प्रान्तीय क्षेत्र का पूर्ण नियन्त्रण जनता के प्रतिनिधि मन्त्रियो के अधिकार मे कर दिया गया। यह आशा की गई कि प्रान्तीय गवर्नर मन्त्री-वर्ग के परामर्श से शासन कार्य चलाएगा। उन्हें यह भी निर्देश दिया गया कि वे प्रान्तीय विधान-मण्डलो में बहुमत रखने वाले दल के नेता की स्वीकृति से

मन्त्रिमण्डल का निर्माण करें। उनसे मन्त्रियों में सयुक्तता की भावना जाग्रत करने की भी आशा की गई। मन्त्रिमण्डल को प्रान्तीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया और उनके वेतन आदि निश्चित करने का अधिकार भी विधान-मण्डल को दिया गया। साराश रूप में नई शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तों मे मन्त्रियो तथा विधान-मण्डलो का महत्त्व पूर्वापेक्षा बढ़ गया और उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गई।

अधिनियम के रचयिता प्रान्तीय शासन को कुशल और दृढ बनाए रखना चाहते थे। उन्हें यह भय था कि अनुभवहीन मन्त्री सम्भवतः प्रशासकीय गलतियाँ कर बैठेंगे जिस कारण प्रान्तीय शासन में विभिन्न कठिनाइयाँ पैदा हो जाएँगी और उत्तरदायी शासन सफलतापूर्वक काम नही कर सकेगा। अत. उन्होंने प्रान्तीय गवर्नरो को अधिनियम के अन्तर्गत कुछ विशेष उत्तरदायित्व सौप दिए, जिनका वर्णन पूर्ववर्ती पृष्ठों मे यथास्थान किया जा चुका है। तत्कालीन परिस्थितियो मे भारतीय राजनीतिज्ञो ने भी इन संरक्षणो को अधिनियम मे स्थान देने का समर्थन किया। *लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि संरक्षणो और आरक्षणों की व्यवस्था के* मूल मे ब्रिटिश सरकार की गहरी कूटनीति कार्य कर रही थी। ये सरक्षण एव आरक्षण (Safeguards and Reservations) उत्तरदायी शासन की कार्यकुशलता मे बहुत बडी बाधा सिद्ध हुए और भारतीयो को यह अनुभव हो गया कि इनके कारण प्रान्तों को दिया गया स्वायत्त शासन पूर्णतया निरर्थक है।

प्रान्तीय स्वशासन पर बाह्य प्रतिबन्ध

1935 के अधिनियम द्वारा प्रदान किया गया तथाकथित प्रान्तीय स्वायत्त शासन वास्तविकता से वस्तुतः बहुत दूर था। अधिनियम के अन्तर्गत इतने बाह्य और आन्तरिक प्रबन्धों की व्यवस्था की गई थी कि प्रान्तो पर स्वायत्त शासन का रग भी चढ सका। 'प्रान्तीय स्वायत्त-शासन' का वास्तविक अर्थ होता है बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्रता और प्रान्तीय क्षेत्र मे उत्तरदायी सरकार। किन्तु 1937 मे प्रान्तीय स्वायत्त शासन की योजना जिस रूप मे प्रारम्भ की गई उसमे ये दोनो ही बातें न थी। व्यावहारिक रूप से यह सिद्ध हो गया कि इस योजना ने न तो प्रान्तों को बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र किया और न ही इसके द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र मे वास्तविक उत्तरदायी शासन की स्थापना हुई।

बाह्य नियन्त्रण अथवा केन्द्रीय हस्तक्षेप की दृष्टि से गवर्नर जनरल को इतनी शक्ति प्रदान की गई कि प्रान्तीय मामलो मे उसका आधिपत्य स्थापित रहा—

1. अधिनियम के अनुच्छेद 102 के अनुसार गवर्नर जनरल, गम्भीर आन्तरिक अव्यवस्था या अशान्ति अथवा युद्ध के वास्तविक या सम्भावित खतरे के *कारण, संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर सकता था।* ऐसी घोषणा करके वह सघीय विधान-मण्डल को प्रान्तो के बारे मे कानून बनाने का अधिकार दे सकता था। इस प्रकार प्रान्तीय सूची के विषय भी केन्द्रीय हस्तक्षेप के अधीन थे।

2. अनुच्छेद 126 के अनुसार गवर्नर जनरल प्रान्तीय सरकारों को निर्देश जारी कर सकता था, यदि वह उन निर्देशों को भारत में शान्ति और सुरक्षा कायम रखने के लिए आवश्यक समझता। यदि गवर्नर अपने प्रान्तों में अनुच्छेद 93 के अनुसार यह घोषणा कर देता था कि सांविधानिक यन्त्र विफल हो गया है और उसके अनुसार सरकार नहीं चलाई जा सकती तो प्रान्तीय शासन का सारा भार स्वयं गवर्नर सम्भाल लेता था और इस प्रकार की स्थिति में गवर्नर को गवर्नर जनरल के आदेशों का पालन करना होता था। अब गवर्नर अपनी विवेकात्मक या व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियों का प्रयोग गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में रहकर ही करता था।

3 प्रान्तीय विधान-निर्माण के विषयों में भी गवर्नर जनरल की नियन्त्रक शक्ति एक प्रकार से निर्णायक थी। कुछ विधेयक या संशोधन बिना गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के प्रान्तीय विधान-मण्डलों में पेश नहीं किए जा सकते थे।

4. प्रान्तीय विधान-मण्डलों में विधिवत् पारित किए गए विधेयक भी गवर्नर जनरल के विचारार्थ रक्षित (Reserved) किए जा सकते थे और गवर्नर जनरल की इच्छा पर था कि उन विधेयकों पर स्वीकृति दे, उन्हें रद्द कर दे उन्हें ब्रिटिश सम्राट् के विचार के लिए रक्षित रख दे अथवा प्रान्तीय विधान-मण्डल को पुनर्विचारार्थ लौटा दे।

5. गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व ऐसे अस्पष्ट और लचीले शब्दों में प्रकट किए गए थे कि उसके लिए यह नितान्त सुगम था कि वह किसी भी मन्त्री के किसी भी निर्णय को पूर्णत. अस्वीकार कर दे। गवर्नर जनरल को केवल यही घोषणा करनी पड़ती थी कि मन्त्री का यह कार्य किसी न किसी रूप में उसके विशेष उत्तरदायित्व पर आक्रमण करता है। 'विशेष उत्तरदायित्व' के धूमिल पर्दे के पीछे गवर्नर जनरल उन विषयों में भी अपने आदेशों का पालन करवा सकता था जो विषय निश्चित रूप से मन्त्रियों के अधिकार-क्षेत्र में थे और जिनके बारे में मन्त्री स्पष्टत. अपना विरोध प्रकट करते थे।

6. हस्तान्तरित विषय (Transferred Subjects) भी गवर्नर जनरल के प्रभावशाली नियन्त्रण से परे नहीं थे। उदाहरणार्थ शान्ति और व्यवस्था विभाग मन्त्रियों को इसलिए सौंपा गया था कि इन दो विषयों को हस्तान्तरित किए बिना प्रान्तों को और अधिक उत्तरदायित्व देना सम्भव नहीं था। लेकिन साथ ही साथ भारत एवं भारत के किसी भाग की शान्ति का भंग न होने देने के लिए इन्हीं दोनों विषयों को गवर्नर जनरल और गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व के दोहरे ताले में बन्द कर दिया गया था। गवर्नर जनरल और गवर्नर के इस अधिकार के समक्ष मन्त्रियों का कोई भी कार्य प्रभावशाली नहीं हो सकता था। डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने ठीक ही कहा था कि "शान्ति और व्यवस्था विभाग स्थानान्तरित कर दिए गए है।"

यह घोषणा इसलिए पूरी तरह छल-छद्म से पूर्ण है कि उनके सम्बन्ध में 'विशेष उत्तरदायित्व' पूर्णतः गवर्नर जनरल और गवर्नरों को सौंप दिया गया है।

वास्तव में गवर्नर जनरल का सबसे प्रबल शस्त्र यही था कि प्रान्तीय गवर्नर जब कभी 'स्वविवेक' या अपने 'व्यक्तिगत निर्णय' से कार्य करते थे तो उन पर गवर्नर जनरल का पूर्ण नियन्त्रण होता था। अधिनियम के अन्तर्गत उल्लिखित था कि गवर्नर जनरल अपनी मनमानी शक्तियों का प्रयोग करते हुए जिन आदेशों और निर्देशों को जारी करेगा उनका पालन गवर्नरों को करना होगा। इस बात की व्यवस्था थी कि कोई गवर्नर विधि निर्माण को स्वीकृति प्रदान करेगा, स्वविवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय से अध्यादेश जारी करेगा, विशेष उत्तरदायित्व का निर्वाह करेगा, गवर्नर के अधिनियम का निर्माण करेगा, विधान-मण्डल द्वारा अस्वीकृत अनुदानों (Grants) को स्वीकृति प्रदान करेगा और इसी प्रकार के अन्य कार्य करेगा, तब वह गवर्नर जनरल के पूर्ण नियन्त्रण में रहेगा। निष्कर्ष रूप में गवर्नर जनरल का यह अधिकार इतना व्यापक और विस्तृत था कि इसके बल पर गवर्नर जनरल सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन यन्त्र को आच्छादित कर लेता था। इस अधिकार के कारण प्रान्त की वित्तीय, शासकीय और विधायी शक्तियाँ गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारिता पर आश्रित हो गई थी।

प्रान्तीय स्वशासन पर आन्तरिक क्षेत्र में प्रतिबन्ध

जहाँ गवर्नर जनरल की विपुल शक्तियों के कारण प्रान्तीय स्वायत्त शासन बाह्य नियन्त्रण से मुक्त न था। वहाँ आन्तरिक क्षेत्र में अर्थात् प्रान्तीय क्षेत्र में बचे-खुचे स्वायत्त शासन को गवर्नरों और उसके राज्य कर्मचारियों ने समाप्त कर दिया। आन्तरिक क्षेत्र में प्रान्तीय स्वशासन पर मुख्य प्रतिबन्ध इस प्रकार हैं—

1. गवर्नर सरकार के संविधानिक अध्यक्ष के रूप में काम न करके वास्तविक अध्यक्ष के रूप में प्रान्तीय प्रशासन पर नियन्त्रण रखते थे, निर्देश देते थे और शासन करते थे। गवर्नर को सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन को नियन्त्रित रखने की शक्ति प्राप्त थी।

2. प्रान्तीय कार्यपालिका का निर्माण और ध्वंस गवर्नरों के हाथ में था। मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति की शक्ति गवर्नर के पास थी। वही मन्त्रियों में विभागों का बँटवारा करता था और मन्त्रिमण्डल की बैठकों को बुलाता था। व्यवहार में भी गवर्नरों द्वारा मन्त्रियों को पदच्युत् करने की शक्ति का मनमाना प्रयोग किया गया। सिन्ध के गवर्नर ने मुख्य मन्त्री अल्लाहबख्श को, विधान-सभा का विश्वास प्राप्त होने पर भी, पदच्युत् कर दिया गया। कारण केवल यही था कि अल्लाह बख्श ने अपनी उपाधि 'खान बहादुर' को त्यागने की घोषणा कर दी थी। बंगाल के मुख्य मन्त्री फजलुल हक तथा पंजाब के मन्त्री शौकत हयात खाँ को मामूली सी बात पर पदच्युत् कर दिया गया था।

3. प्रान्तीय विधान-मण्डल गवर्नरों की शक्ति के सम्मुख प्रभावहीन थे।

विधि-निर्माण के विषय में गवर्नर प्रान्तीय विधान-मण्डलों को एकदम पंगु बना सकते थे और वित्तीय विषयों में उनके निर्णयों को ठुकरा सकते थे। वित्तीय मामलो में गवर्नरों को असाधारण शक्तियाँ प्राप्त थी। सारा बजट गवर्नर की देखरेख मे तैयार होता था और वह ऐसी किसी भी माँग को 'यथापूर्व' कर सकता था जिसे प्रान्तीय व्यवस्थापिका ने कम या अस्वीकृत कर दिया हो।

4. गवर्नर अपने प्रान्त मे, अधिनियम के अनुच्छेद 93 के अनुसार यह घोषणा करके कि संविधान विफल हो गया है और उनके अनुसार सरकार नही चलाई जा सकती, प्रान्तीय स्वराज्य के सारे ढाँचे का अन्त कर सकता था। ऐसी परिस्थिति मे प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल को हटाकर सम्पूर्ण प्रान्त का शासन गवर्नर स्वयं सम्हाल सकता था।

5. जो थोड़े बहुत अधिक उत्तरदायी मन्त्रियो के पास फिर भी बचे थे या उनको दिए गए थे, उन्हे सार्वजनिक सेवाओं ने उपहास्यास्पद बना दिया। इसका विशेष कारण यह था कि उन पर मन्त्रियों का कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था। सचिव सीधे गवर्नर से मिल सकते थे और इस प्रकार उन्हे अपने मन्त्रियों के आदेशो को उलटने या उनमे अपनी इच्छानुसार सशोधन करवाने का अवसर प्राप्त हो जाता था। यह एक विलक्षण स्थिति थी कि सार्वजनिक सेवा के कर्मचारियों को भारतीय मन्त्रियों के अधीन काम करना था, लेकिन उन्हे उनके नियन्त्रण से बाहर रखा गया था। डॉ राजेन्द्र प्रसाद के कथनानुसार "राज्य कर्मचारियों की इस राज-हितकारक स्थिति ने अपने तथाकथित वरिष्ठों अर्थात् मन्त्रियो की नीति, निर्णयों और आदेशों को ही निरर्थक करने योग्य नही बनाया वरन् ऐसा गतिरोध पैदा करने के योग्य बनाया जिसका सम्पूर्ण दोष भारतीयो पर ही डाला जा सके और जिनके द्वारा उन मन्त्रियो को अयोग्य और अनुभव शून्य सिद्ध किया जा सके और उनके बारे मे यह भी कहा जा सके कि उनके हाथो मे शासन-सत्ता सौप कर भूल की गई।"[1]

यद्यपि प्रान्तीय स्वायत्त-शासन की योजना भारतीय जनता की आँखो में धूल झोंकने वाली बात थी और वह विभिन्न व्यवस्थाओं और प्रतिबन्धो के कारण अत्यन्त दूषित और अव्यावहारिक थी, तथापि तात्कालिक प्रतिबन्ध की दृष्टि से वह अवश्य ही प्रगति की सूचक थी। इसके द्वारा निर्वाचक-मण्डलों और मतदाताओं की संख्या पर्याप्त बढ़ा दी गई थी, प्रान्तीय विधानसभाएँ पूर्णतः निर्वाचित बना दी गई थी। कार्यपालिका को विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया था और विधान-सभा को निर्वाचक-मण्डलो के प्रति। ये सभी बातें पहले की स्थिति से कहीं अधिक प्रगतिशील और सॉविधानिक थी।

प्रान्तीय स्वायत्त शासन पर आचरण
(Provincial Autonomy at Work)

भारतीय शासन अधिनियम 1935 की संघीय योजना को भारतीय जनमत

1 डॉ राजेन्द्र प्रसाद : बम्बई का अध्यक्षीय भाषण, 1934

के सभी पक्षों में अस्वीकार कर दिया। अतः अधिनियम के प्रान्तीय शासन सम्बन्धी दूसरे भाग को लागू करने का निश्चय किया गया और फरवरी, 1937 में चुनाव करवाए गए। कांग्रेस सम्पूर्ण अधिनियम के ही विरुद्ध थी, लेकिन उसने निश्चय किया कि विधान-मण्डलों में घुसकर संविधान के परिचालन से ही इस सविधान को नष्ट किया जाए। अत कांग्रेस ने 1161 सदस्यता पदों के लिए अपने प्रत्याशी खड़े किए और 711 पर विजय प्राप्त की। ब्रिटिश सरकार के 11 प्रान्तो मे से 5 प्रान्तों (बम्बई, मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश) में कांग्रेस का प्रचण्ड बहुमत रहा और 3 प्रान्तो में यह सबसे बडा एक दल रहा। इसके विरुद्ध मुसलमानो के समस्त मतों के 4 8 प्रतिशत मत मुस्लिम लीग को आए। ब्रिटिश भारत के मुसलमानों के लिए कुल 482 स्थान निर्धारित किए गए थे जिनमे से लीग को केवल 51 स्थान प्राप्त हुए। पंजाब, बगाल, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त आदि मुस्लिम बहुल प्रान्तो मे भी लीग को कोई महत्त्वपूर्ण सफलता नही मिली।

काफी अनिश्चय और वाद-विवाद के बाद तथा भारत सरकार से प्रान्तीय शासन को सुचारू रूप से चलने देने के आश्वासन के उपरान्त अक्टूबर, 1937 मे 5 प्रान्तों (उत्तर प्रदेश, बिहार, मद्रास, बम्बई, उड़ीसा और मध्य प्रान्त) मे कांग्रेस ने अपने मन्त्रिमण्डल बनाए। 1938 मे शीघ्र ही असम मे कांग्रेस के नेतृत्व में एक मिश्रित (Coalition) मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। अक्टूबर, 1937 मे उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल की हार ने कांग्रेस मन्त्रिमण्डल को जन्म दिया। पंजाब, बंगाल तथा सिंध इन शेष तीन प्रान्तों मे भी मिश्रित मन्त्रिमण्डलो का निर्माण हुआ।

प्रान्तीय स्वशासन पर आचरण या उसका कार्य-रूप

अक्टूबर, 1937 मे जो प्रान्तीय स्वराज्य भारत के 11 प्रान्तो में प्रारम्भ किया गया, वह विभिन्न प्रान्तो में विभिन्न तरीको से विभिन्न काल तक जारी रहा। सिंध, बंगाल और पंजाब में यह लगभग 10 वर्ष चला तथा बम्बई, मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त मे यह केवल 1939 तक चला। अक्टूबर, 1939 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो ने द्वितीय महायुद्ध के सम्बन्ध मे मतभेद होने के कारण अपने त्याग-पत्र दे दिए। इसके अनन्तर इन प्रान्तों मे गवर्नरो के तानाशाही शासन में कांग्रेस का स्थान लिया। जब द्वितीय महायुद्ध के बाद 1946 में जनता की प्रतिनिधि सरकारो को पुनः स्थापित किया गया, तभी इस तानाशाही का अन्त हुआ। असम एवं उडीसा में भी प्रान्तीय स्वायत्त-शासन 1939 तक रहा। 1939 के बाद वहाँ कभी थोड़े समय के लिए गवर्नर की सरकार देखी गई तो कभी मन्त्रियों की।

प्रान्तीय स्वायत्त-शासन ने किस प्रकार कार्य किया अथवा इसका कार्य-रूप (Working) क्या रहा? यह जानने के लिए हम (क) कांग्रेसी प्रान्तों में गवर्नर के कार्यो, (ख) गैर-कांग्रेस प्रान्तो में गवर्नर के कार्यो तथा (ग) मन्त्रिमंडलों के कार्यो का विवेचन करेंगे।

(क) कांग्रेसी प्रान्तों में गवर्नरों का कार्य (Role of Governors in Congress Provinces)—जिन प्रान्तो में कांग्रेस ने अपने मन्त्रिमण्डलो का निर्माण किया उनमे गवर्नरो का कार्य सामान्य रूप से सन्तोषजनक रहा और उन्होने मन्त्रियों के कार्यो मे अपनी विशेष शक्तियो का बहुत ही कम प्रयोग किया। गवर्नर पर्याप्त मात्रा मे सांविधानिक अध्यक्षों का कार्य करते रहे और मन्त्रियों से उनका सम्बन्ध काफी ठीक रहा। इन दो वर्षो मे कुछ कांग्रेसी प्रान्तों मे जो भी सांविधानिक संकट उपस्थित हुए उनका संतोषजनक हल निकाल लिया गया। तथापि इसका अर्थ यह भी नही है कि गवर्नर सांविधानिक शासक मात्र बन गए थे।

मध्यप्रान्त मे मुख्यमन्त्री डॉ. एन. बी. खरे ने मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन करने के लिए अपने सहयोगियों से त्याग-पत्र की मांग की। उसके दो सहयोगियो (मन्त्रियो) ने इस आधार पर त्याग-पत्र देने से इन्कार कर दिया कि इस विषय मे उन्हें कांग्रेस हाईकमान से कोई आदेश प्राप्त नही हुए है। इस पर मुख्यमन्त्री ने स्वयं त्यागपत्र दे दिया। जिन मन्त्रियों ने खरे के आदेश का उल्लंघन किया था, उन्हे गवर्नर ने हटा दिया और खरे को मन्त्रिमण्डल के पुनर्गठन की आज्ञा दे दी। स्पष्ट है कि गवर्नर ने डॉ. खरे को अनुग्रहीत करने के लिए यह अनुचित हस्तक्षेप किया। कांग्रेस ने डॉ. खरे के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की और उन्हे हटाकर पण्डित रविशंकर शुक्ल को मध्यप्रान्त का मुख्यमन्त्री बना दिया। कांग्रेस उच्च सत्ता के इस साहसिक कदम का नई पद्धति के व्यावहारिक रूप पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

ब्रिटिश सरकार ने 1938 मे उड़ीसा के मुख्य सचिव को प्रान्त का कार्यकारी गवर्नर नियुक्त करने का प्रस्ताव किया। उड़ीसा मन्त्रिमण्डल ने इस नियुक्ति का कटु-विरोध किया क्योंकि मन्त्रियो के अधीनस्थ किसी अधिकारी को मन्त्रियों के ऊपर नियुक्त करना अनुचित था। उड़ीसा मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र की ठान ली। अन्त मे स्थिति बिगड़ने के भय से गवर्नर ने अपनी छुट्टी रद्द करवा दी और मामला सुलझ गया।

यू.पी. तथा बिहार मे राजनीतिक कैदियो का प्रश्न उपस्थित हुआ। फरवरी, 1938 में इन प्रान्तों मे गवर्नरो और मन्त्रिमण्डलो के बीच राजनीतिक कैदियो को छुड़ाने के प्रश्न पर गम्भीर विरोध पैदा हो गया। गवर्नरों ने मन्त्रियो के इस निर्णय का शान्ति और व्यवस्था के नाम पर विरोध किया। गवर्नर जनरल ने आदेश जारी किया कि यह मामला मन्त्रियो के अधिकार क्षेत्र मे नही आता। गवर्नर जनरल के इस अनुचित हस्तक्षेप के विरोध स्वरूप मन्त्रियों ने अपना त्याग-पत्र दे दिया। अन्त में वायसराय और कांग्रेस हाईकमान ने मिलकर मामला सुलझा लिया। दोनों पक्षो के सम्मान की रक्षा के लिए यह निर्णय हुआ कि राजनीतिक कैदियों को धीरे-धीरे छोड़ने के सम्बन्ध में प्रत्येक कैदी की अलग-अलग परीक्षा की जाएगी।

इस प्रकार की अनेक छोटी-मोटी घटनाएँ कांग्रेस के प्रान्तीय शासन को

व्यावहारिक रूप देने मे उपयोगी सिद्ध हुई। गवर्नर जनरल और गवर्नर मन्त्रियों के अधिकार-क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने से यथासम्भव बचते रहे और मन्त्रियों को अपने कार्यों को पूरा करने में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलती रही।

कांग्रेस हाईकमान और प्रोफेसर कूपलैण्ड का आरोप—विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के गठन के साथ ही कांग्रेस संगठन के तीन राष्ट्रीय नेताओं सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा मौलाना आजाद के संसदीय बोर्ड की नियुक्ति की जो कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो पर समुचित नियन्त्रण रखे। इस संसदीय बोर्ड ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के कार्य पर निगाह रखी और नीति सम्बन्धी निर्देश दिए। प्रोफेसर कूपलैण्ड का मत है कि संसदीय बोर्ड का हस्तक्षेप कुछ नहीं था और "कांग्रेस की एकात्मक नीति ने प्रान्तीय स्वायत्तता तथा उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों का उल्लंघन किया।" लेकिन प्रोफेसर कूपलैण्ड का यह विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि संसदीय बोर्ड (हाईकमान) ने प्रान्तों के आन्तरिक प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, केवल गवर्नर के प्रति व्यवहार, सामान्य नीति और कार्यक्रम के सम्बन्ध में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों को निर्देश दिए। तत्कालीन परिस्थितियों में कांग्रेस का यह कार्य भारतीय एकता को बनाए रखने की दृष्टि से नितान्त उचित और आवश्यक था। पण्डित नेहरू ने लिखा भी है—"केन्द्रीय शासन के अनुत्तरदायी बने रहने की सूरत में प्रान्तों में स्वशासन का प्रारम्भ प्रान्तीयवाद तथा पृथकतावाद की भावना उत्पन्न कर सकता था जिससे भारतीय एकता की भावना निर्बल होती।"[1] इसके अतिरिक्त कांग्रेस उस समय एक राजनीतिक दल नहीं था बल्कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में संलग्न एक राष्ट्रीय शक्ति थी। मॉरिस जोन्स ने लिखा है—"राष्ट्रीय आन्दोलनों से यह आशा करना उचित नहीं है कि वे संसदीय दलों के रूप में व्यवहार करेंगे।" कांग्रेस संसदीय बोर्ड ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को अनुशासित रखा और प्रान्तीय गवर्नरों को अपनी सीमाओं में रहने के लिए बाध्य किया और इस तरह प्रान्तीय स्वायत्तता की रक्षा की।

प्रयोग किया और अपनी मनमानी चलाई। सिन्ध, बंगाल और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त मे गवर्नरो ने मुस्लिम-लीग की असेम्बली मे थोडी संख्या होने पर भी उसको सत्तारूढ रखने की कोशिश की जो बिलकुल असंविधानिक था। इसलिए डॉ श्यामप्रसाद मुकर्जी को यह कहना पड़ा कि "गवर्नर का उचित स्थान मुस्लिम लीग की बेन्चो पर है।"

पंजाब सरकार सम्बन्धी एक घटना तो विशेषतया असाधारण थी। लगभग 6 साल से भी अधिक समय के लिए प्रान्त का मुख्यमन्त्री देश से बाहर अपने व्यक्तिगत काम के लिए अनुपस्थित रहा, लेकिन अस्थाई रूप से उसके स्थान पर किसी भी व्यक्ति को नियुक्त नही किया गया। गैर-कांग्रेसी प्रान्तो में मुख्यमन्त्रियों की उपेक्षा किस सीमा तक की जाती थी इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक बार पंजाब के गवर्नर ने गवर्नर जनरल को लिख भेजा कि अमुक बात मे मुख्यमन्त्री द्वारा उसे परामर्श दिया गया है, जबकि वास्तविकता यह थी कि मुख्यमन्त्री द्वारा गवर्नर को परामर्श देना तो दूर रहा, वरन् उस विषय मे उसे कुछ ज्ञात तक नही था।

सारांशत यह कहा जा सकता है कि 1939 तक कांग्रेसी प्रान्तों मे तो गवर्नर का कार्य सांविधानिक अध्यक्ष का सा रहा लेकिन अन्य प्रान्तो में यह स्थिति नही रही और 1939 के बाद तो कांग्रेसी प्रान्तो में भी गवर्नर राज्य स्थापित हो गया, क्योकि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिया था।

(ग) मन्त्रिमण्डलों का कार्य-सम्पादन (Working of Ministers)—कांग्रेस मन्त्रिमण्डल लगभग 28 महीने तक बने रहे। अपने कार्यकाल में उन्होने जनता की प्रशंसनीय सेवा की। कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी प्रान्तो में सभी जगह प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाए। प्रत्येक प्रान्तो में साधारणतया मन्त्रिमण्डल उस समय तक पदासीन रहा जब तक उसके पीछे विधान-सभा में बहुमत रहा। विभागो का वितरण भी गवर्नरो ने मुख्य मन्त्रियों के परामर्शानुसार किया और मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर भी अमल किया गया। प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल मे अल्पसंख्यक वर्गों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया, केवल उडीसा में ऐसा नही हुआ क्योकि वहाँ कांग्रेस को कोई योग्य कांग्रेसी मुसलमान मन्त्रिमण्डल में शामिल करने के लिए नही मिला।

जिस काल में कांग्रेस प्रान्तो में सत्तारूढ रही, मन्त्रियो ने प्रान्तों की सर्वांगीण उन्नति के लिए और जनता के लाभ के लिए सराहनीय प्रयत्न किए। उन्होने किसानों को ऋण से मुक्ति दिलाने और साहूकारो के पंजे से बचाने के लिए वैधानिक कार्यवाहियाँ की। दुर्भिक्ष से बचाने तथा क्रय-विक्रय की अच्छी सुविधाएँ देने के लिए भी कानून और नियम बनाए गए। कृषि सम्बन्धी विधान निर्भीकतापूर्वक विचार करके और शीघ्रता के साथ पारित किया गया। मद्य निषेध, प्राथमिक शिक्षा, ग्राम विकास आदि समस्याओ की तरफ भी विशेष ध्यान दिया गया।

विद्युत और सिंचाई आदि से सम्बन्धित कार्यों के विकास के लिए वित्तीय योजनाए बनाई गई और वयस्क जनता में साक्षरता का आन्दोलन छेड़ा गया। राजनीतिक बन्दियों को मुक्त किया गया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने के कारण जिनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई थी, वह वापिस कर दी गई। कुख्यात जनरल नील की प्रतिमा को सार्वजनिक स्थान से हटाकर मद्रास मन्त्रिमण्डल ने जनता की भावना का समुचित आदर किया। 28 महिनो के अल्पकाल में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने विभिन्न बाधाओ के बावजूद ऐसे कार्य किए जिन पर गौर किया जाना उचित था। ब्रिटिश सरकार प्रवक्ताओ ने भी कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो द्वारा प्राप्त की गई सार्वजनिक सफलताओं के लिए कांग्रेस की प्रशसा की।



10 संविधान-सभा : संरचना और दृष्टिकोण
(THE CONSTITUENT ASSEMBLY : ITS STRUCTURE AND APPROACH)

26 जनवरी, 1950 से लागू किए गए स्वतन्त्र भारत के नए संविधान का निर्माण जिस संविधान-सभा ने किया वह दो वर्ष ग्यारह महीने और उन्नीस दिन तक अस्तित्व मे रही। उसकी पहली बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई और उसका अन्तिम दिन 24 जनवरी, 1950 था जबकि संविधान की तीन प्रतियाँ सभा-पटल पर रखी गईं, सदस्यों ने इन प्रतियो पर हस्ताक्षर किए और तत्पश्चात् जन-गण-मण तथा वन्देमातरम् के गायन के साथ संविधान-सभा का संविधान-सभा के रूप मे समापन हो गया। 26 जनवरी, 1950 को उसका भारतीय गणराज्य की (अन्तर्कालीन) संसद के रूप मे आविर्भाव हुआ।

संविधान-सभा का अर्थ
(Meaning of the Constituent Assembly)

17वी और 18वी सदी की प्रजातान्त्रिक क्रान्तियों से इस विचार को बल मिला कि शासन के मौलिक या आधारभूत कानूनो का निर्माण नागरिकों की एक विशिष्ट प्रतिनिधि-सभा द्वारा किया जाना चाहिए। संविधान-सभा के इस विचार का प्रतिपादन सबसे पहले इंग्लैंड मे समतावादियों और हैमरीमैन ने किया, तथा इन सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप सर्वप्रथम अमेरिका और फ्रांस मे मिला।

सामान्य रूप से संविधान-सभा का अभिप्राय उस सभा मे है जो किसी देश के लिए संविधान का निर्माण करे। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज' के अनुसार संविधान-सभा एक ऐसी प्रतिनिध्यात्मक संस्था होती है जिसे नवीन संविधान पर विचार करने और उसे अपनाने अथवा विद्यमान संविधान में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए चुना जाए। पं० जवाहरलाल नेहरू ने संविधान-सभा के इस विचार को भावात्मक रूप मे महत्त्व देते हुए लिखा है—"यह एक चलायमान राष्ट्र है जो अपनी पुरानी पोशाक उतार कर स्वनिर्मित नई पोशाक धारण करता है। इसमे राष्ट्र के नागरिक अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से कार्यरत है। इस दृष्टि से इसका निश्चित रूप से क्रान्तिकारी महत्त्व है।"[1]

1 *Y. G Krishnamurti* : Constituent Assembly (Foreword by Pt. Nehru), P. V.

भारत में संविधान-सभा की माँग
(Demand for Constituent Assembly in India)

अथवा

भारत में संविधान-सभा के सिद्धान्त का विकास
(Development of the Theory of Constituent Assembly in India)

भारत में संविधान-सभा की माँग वास्तव मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग थी, अर्थात् यह माँग थी कि भारत के लोग स्वयं अपने राजनीतिक भविष्य का निर्णय करें। भारत में संविधान-सभा के सिद्धान्त की प्रथम अनुभूति 1895 के 'स्वराज्य विधेयक' (Swarajya Bill) मे होती है जिसे तिलक के निर्देशन मे तैयार किया गया। 1922 मे महात्मा गाँधी ने पहली बार स्पष्ट शब्दो मे स्वय भारतीयो द्वारा भारत का संविधान बनाने की बात कही। यद्यपि उन्होने 'सविधान-सभा' शब्द का प्रयोग नही किया, फिर भी उनकी माँग मे सविधान-सभा जैसी प्रतिनिधिक सस्था का बीज निहित था।[1] होम रूल आन्दोलन की अग्रणी नेता श्रीमती एनीबेसेन्ट ने स्पष्ट रूप से माँग की कि भारत के सविधान का निर्माण भारतीयों द्वारा ही होना चाहिए।[2] एनीबेसेन्ट के सुझाव पर शिमला में केन्द्रीय विधान-मण्डल के दोनो सदनो के सदस्यो की एक सभा भी आयोजित हुई जिसमे सविधान-निर्माण के लिए एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। 1923 में जो सभा हुई उसमे केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलो के सदस्य उपस्थित थे। इस सभा ने संविधान के आवश्यक तत्त्वो की एक रूपरेखा तैयार की जिसके अनुसार भारत को अन्य स्वशासित उपनिवेशो (Dominions) के साथ बराबरी का दर्जा दिया गया।[3]

सविधान-सभा की माँग विभिन्न रूपो मे भारतीय सार्वजनिक सस्थाओ और राजनीतिक नेताओ द्वारा उठाई जाती रही। 1924 मे स्वराज्य दल के नेता पडित मोतीलाल नेहरू ने एक ऐसी सभा की माँग की जो भारतीय सविधान के बारे में योजना सम्बन्धी सिफारिश कर सके। सरकार की ओर से सविधान-सभा के निर्माण की ओर कोई ध्यान नही दिया गया। 1928 का नेहरू प्रतिवेदन (Nehru Report) भारतीयों द्वारा अपने देश के संविधान-निर्माण का पहला ऐतिहासिक प्रयत्न था। दुर्भाग्यवश इस रिपोर्ट का कोई वांछित परिणाम नहीं निकल सका क्योंकि सरकार ने उसे स्वीकार नही किया और मुस्लिम लीग का रवैया भी बदल गया। संविधान-सभा की बारम्बार माँग का अन्ततः अपरोक्ष प्रभाव यह अवश्य हुआ कि 1929–32 मे लन्दन मे तीन गोलमेज सम्मेलन हुए जिनमे भारतीय प्रतिनिधियों के साथ आमने-सामने बैठकर भारत की राजनीतिक समस्याओं पर विचार किया गया।

1 सुभाष काश्यप : सविधान-सभा और सविधान का निर्माण, पृष्ठ 46–47.
2 *Annie Besant* : India Bound or Free ?, pp. 209–210
3 सुभाष काश्यप : सविधान-सभा और सविधान का निर्माण (लोकतन्त्र समीक्षा, 19
पृष्ठ 47–48.

1934 मे स्वराज्य पार्टी ने आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग की और एक प्रस्ताव द्वारा घोषणा की कि इस अधिकार को क्रियान्वित करने का एकमात्र उपाय यही है कि देश के संविधान-निर्माण के लिए भारतीय प्रतिनिधियों की एक संविधान-सभा बुलाई जाए। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने भी 1934 के अपने एक प्रस्ताव मे आग्रह किया कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियो की सविधान-सभा देश के लिए एक सविधान का निर्माण करे। "भारत की ओर से सविधान-सभा की माँग निश्चित रूप से प्रस्तुत करने का यह पहला अवसर था और इसके बाद यह माँग बार-बार और अधिकाधिक आग्रहपूर्वक प्रस्तुत की जाती रही।" संविधान-सभा के विचार को लोगों के दिमाग में बैठाने और लोकप्रिय बनाने के लिए पडित नेहरू ने बडी कोशिश की। पडित नेहरू के ही प्रयासो से 28 दिसम्बर, 1936 को फैजपुर अधिवेशन मे कांग्रेस ने यह सकल्प पारित किया कि—"भारतीय केवल ऐसे सांविधानिक ढाँचे को मान्यता दे सकते है, जिसका निर्माण वे स्वयं करें अथवा जो भारत को राष्ट्र के रूप में मानकर देश की स्वतन्त्रता पर आधारित हों' ' ऐसे राज्य की स्थापना केवल ऐसी संविधान-सभा द्वारा ही हो सकती है जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो और जिसे देश का सविधान बनाने का अन्तिम अधिकार प्राप्त हो।"

अब सविधान-सभा की माँग पर कांग्रेस अधिकाधिक बल देने लगी। 1937 मे केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलों के कांग्रेस-सदस्यों के राष्ट्रीय सम्मेलन मे सविधान-सभा की माँग को दृढतापूर्वक दोहराया गया और इसी वर्ष कांग्रेस सरकार वाले प्रान्तों के विधान-मण्डलो मे भी ऐसे प्रस्ताव पास किए गए जिनमें भारत के लिए एक नवीन सविधान की रचना हेतु सविधान-सभा की माँग का पुरजोर समर्थन किया गया।

द्वितीय महायुद्ध के विस्फोट के साथ ही भारत की राजनीति ने भी एक नया मोड लिया। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिए। जोरदार शब्दों में यह माँग की गई कि "भारत की स्वतन्त्रता एवं लोगों की संविधान-सभा द्वारा संविधान-निर्माण के अधिकार को मान्यता प्रदान की जाए।" 14 सितम्बर, 1939 को अपने ऐतिहासिक प्रस्ताव मे कांग्रेस ने अपनी सविधान-सभा की माँग पुनः दोहराई और स्पष्ट रूप से कहा कि भारतीयों को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के संविधान-सभा द्वारा अपने विधान का निर्माण कर आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। नवम्बर, 1939 में ही महात्मा गांधी ने 'हरिजन' मे एक लेख लिखा—"कठोर तथ्यो ने मुझे सविधान-सभा के विचार का जवाहरलाल से भी अधिक उत्साही समर्थक बना दिया है।" 1940 मे पण्डित नेहरू ने घोषणा की—"वास्तविक लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रता के लिए हमारे पास सविधान-सभा के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है। इसका अर्थ है नवीन राज्य का निर्माण। इसका अभिप्राय है साम्राज्यवाद की आर्थिक नींव और ढाँचे से दूर चले जाना।" मुस्लिम लीग का रवैया प्रारम्भ मे संविधान-सभा के निर्माण के प्रति बिलकुल अलग रहा था, लेकिन मार्च, 1940 मे 'पाकिस्तान का

प्रस्ताव' स्वीकार करके बाद में लीग सविधान-सभा के निर्माण के प्रति सहमत हुई–एक सभा उन क्षेत्रों के लिए जिन पर लीग प्रथम मुस्लिम राज्य का दावा करती थी और दूसरे शेष भारत के लिए इस प्रकार 1940 मे दो बडे राजनीतिक दलो ने संविधान-सभा के विचार को स्वीकार कर लिया और यह मान लिया कि देश में सविधान का निर्माण ऐसी सभा द्वारा ही हो सकता है ।

सरकार द्वारा संविधान-सभा की माँग की स्वीकृति —विदेशी सरकार भारतीय जनता की सविधान-सभा की माँग को स्वीकार करने के पक्ष मे नही थी, लेकिन द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओं और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने उसे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया । अत· 1940 के 'अगस्त प्रस्ताव' मे यह घोषणा की गई "भारत का संविधान मुख्यत· स्वय भारतवासी ही तैयार करेंगे ।" सविधान-सभा के सम्बन्ध में 1942 की 'क्रिप्स-योजना' एक अलग कदम था । इसमें सुझाव दिया गया कि युद्ध के बाद एक नए भारतीय संघ की स्थापना के आधार पर की जाए जिसे एक संविधान-सभा तैयार करे । इस सविधान-सभा में ब्रिटिश-भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों । क्रिप्स प्रस्ताव 'अगस्त प्रस्ताव'से काफी आगे था, क्योंकि इसमें नए सविधान के निर्माण का अधिकार मुख्यत भारतीयो का नहीं बल्कि पूर्णतया भारतीयो का मान लिया गया था । किन्तु, क्रिप्स प्रस्ताव मे प्रस्तावित सविधान-सभा कार्य-रूप मे परिणत न हो सकी और क्रिप्स मिशन असफल रहा ।

क्रिप्स-योजना की विफलता के बाद 1945 में महायुद्ध की समाप्ति तक भारत की सांविधानिक समस्या के समाधान का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नही किया गया, सिवाय इसके कि 1942 के भारत छोडो प्रस्ताव मे कांग्रेस ने घोषणा की कि स्वाधीनता के बाद अस्थाई राष्ट्रीय सरकार एक संविधान-सभा का आयोजन करेगी जो देश के लिए एक सर्वमान्य सविधान बनाएगी । 19 सितम्बर, 1945 को वायसराय लॉर्ड वेवल की घोषणा में यह दोहराया गया कि केन्द्रीय-प्रान्तीय विधान-सभाओं के निर्वाचन के बाद सरकार यथाशीघ्र सविधान-सभा बुलाना चाहती है । इसके बाद मई, 1946 में कैबिनेट-मिशन और लॉर्ड वेवल के संयुक्त वक्तव्य में उस संविधान-निर्मात्री-यन्त्र का स्पष्ट चित्र पेश किया गया जो भारत का संविधान बनाने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित किया जाना था ।

कैबिनेट मिशन योजना और संविधान-सभा का निर्माण
(Cabinet Mission Plan and Formation of the Constituent Assembly)

मई, 1946 की कैबिनेट-मिशन योजना मे निश्चित किया गया कि भारतीय संविधान के निर्माण के लिए परोक्ष निर्वाचन के आधार पर एक सविधान-सभा की स्थापना की जाए। इस सविधान-सभा मे कुल 389 सदस्य हों जिनमें 292 ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि, 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि और 4 चीफ कमिश्नर क्षेत्रों के प्रतिनिधि हो । स्पष्ट है कि सविधान-सभा मे ब्रिटिश भारत के कुल प्रतिनि· की संख्या 292+4=296 होनी थी ।

कैबिनेट-मिशन योजना मे कहा गया कि हाल मे निर्वाचित प्रान्तीय सभाओं को निर्वाचक निकायो के रूप मे प्रस्तुत किया जाए। मिशन ने सिफारिश की कि (i) सविधान-सभा मे प्रान्तो का प्रतिनिधित्व जनसख्या के आधार पर हो तथा मोटे तौर पर प्रति दस लाख व्यक्तियो के ऊपर एक सदस्य रहे। (ii) प्रान्तों के लिए आवण्टित स्थान मुख्य जातियो के बीच वितरित किए जाएँ और इस प्रयोजन के लिए तीन जातियाँ मानी जाएँ: सिक्ख, मुस्लिम तथा साधारण (सिक्खो तथा मुसलमानो के अलावा बाकी अन्य जातियाँ)। (iii) विभिन्न जातियो के स्थान उनकी सख्या के अनुपात मे दिए जाएँ। (iv) प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रान्तीय सभा मे उस सम्प्रदाय के प्रतिनिधियो द्वारा किया जाए। इस प्रकार सविधान-सभा के सदस्यों का चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर होना था। (v) मतदान सानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार सरल सक्रमणीय मत द्वारा हो। (vi) देशी रियासतो के प्रतिनिधियो की सख्या भी ब्रिटिश भारत के समान ही जनसंख्या के आधार पर तय की जानी थी। लेकिन इन प्रतिनिधियो के चुनाव की पद्धति बाद मे विचार-विमर्श द्वारा तय की जानी थी। शुरू मे देशी रियासतों का प्रतिनिधित्व एक वार्ता-समिति द्वारा किया जाना था।

योजना मे सविधान-सभा द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का भी कुछ विस्तार से विवरण दिया गया था। जिसके अनुसार सबसे पहले सविधान-सभा की एक प्रारम्भिक बैठक होगी, जिसमे कार्य का सामान्य क्रम तय किया जाएगा, अध्यक्ष तथा अन्य अधिकारी निर्वाचित किए जाएँगे, तथा नागरिको के अधिकारों, अल्पसंख्यक वर्गों और कबाइली तथा वर्जित क्षेत्रो के सम्बन्ध मे सलाहकार समितियाँ नियुक्त की जाएँगी। योजना मे कहा गया कि सविधान-सभा की प्रारम्भिक बैठक के बाद सदस्यगण अपने आप को तीन वर्गों मे बाँट लेंगे—प्रथम, हिन्दू बहुमत वाले प्रान्तों के प्रतिनिधि, द्वितीय, मुस्लिम बहुमत वाले उत्तर-पश्चिम प्रान्तो के प्रतिनिधि; एव तृतीय, मुस्लिम बहुमत वाले उत्तर-पूर्वी प्रान्तों के प्रतिनिधि। इन तीन वर्गों द्वारा पहले अपने प्रान्तो और वर्गों के सविधान का निर्माण होगा और तत्पश्चात् सघीय सविधान का निर्माण किया जाएगा।

सविधान-सभा के गठन और सविधान की इस योजना मे अनेक दोष थे, लेकिन साथ ही यह बात भी है कि तत्कालीन परिस्थितियो मे इससे अच्छी कोई योजना प्रस्तुत नही की जा सकती थी। योजना का विशेष महत्त्व इस बात मे था कि मुस्लिम लीग की इच्छा के विरुद्ध केवल एक सविधान-सभा की व्यवस्था की गई थी। अतः कांग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। महात्मा गांधी, सरदार पटेल, पण्डित नेहरू आदि सभी ने सविधान-सभा को एक बहुमूल्य देन माना। मौलाना आजाद ने कहा—"सविधान-सभा का द्वार अब हमारे लिए खुला है, हमे इसमे प्रवेश करके अपना सविधान बनाने का कार्य करना चाहिए।" मुस्लिम लीग ने योजना को इसलिए स्वीकार कर लिया कि वह समझती थी कि इसमें पाकिस्तान की स्थापना के बीज विद्यमान हैं।

संविधान-सभा की संरचना और उसका प्रतिनिधि स्वरूप
(The Constituent Assembly : Its Structure, Was It a Truely Representative Body ?)

भारत-विभाजन के पूर्व गठन

केबिनेट-मिशन योजना के अनुसार संविधान-सभा के चुनाव जुलाई-अगस्त, 1946 में सम्पन्न हुए। 389 की कुल सदस्यता में से ब्रिटिश भारत के 296 सदस्यों के लिए चुनाव हुआ (भारतीय रियासतों के लिए नियत 93 सीटों के लिए नहीं क्योंकि उनका प्रतिनिधित्व एक वार्ता-समिति द्वारा होना था)। चुनावों में भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने भाग लिया, तथापि संघर्ष कांग्रेस और लीग के मध्य ही केन्द्रित रहा। चुनावों के परिणामस्वरूप संविधान-सभा में जो दलीय स्थिति उत्पन्न हुई, वह इस प्रकार थी[1]—

कांग्रेस	208
मुस्लिम लीग	73
यूनियनिस्ट पार्टी	1
यूनियनिस्ट मुस्लिम	1
यूनियनिस्ट शिड्यूल्ड कास्ट	1
कृषक प्रजा पार्टी	1
अछूत जाति संघ	1
सिक्ख (कांग्रेस के अतिरिक्त)	1
साम्यवादी	1
स्वतन्त्र	8
	296

संविधान-सभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में भारतीय जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की उत्कृष्टतम विभूतियाँ सम्मिलित थीं। उनमें भारत के विभिन्न दलों के प्रमुख नेता और अध्यक्ष थे। 20 नवम्बर, 1946 को वायसराय द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया गया कि वे 9 दिसम्बर, 1946 को संविधान-सभा की पहली बैठक में उपस्थित हों। मुस्लिम लीग ने, अपनी निर्बल स्थिति देख कर, संविधान-सभा का बहिष्कार किया। इस तथ्य को नकारना कठिन है कि ब्रिटिश सरकार ने भी लीगी रवैये को प्रोत्साहन दिया। संविधान-सभा के चुनावों में कांग्रेस ने यद्यपि प्रबल बहुमत प्राप्त किया किन्तु यह बात भी स्पष्ट हो गई कि कांग्रेस भारत में एक शक्तिशाली अल्पमत वर्ग (A very powerful minority community) का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकती थी और मुस्लिम लीग के सहयोग के बिना लोकप्रिय सार्वभौमिकता (Popular Sovereignty) तथा राष्ट्रीय आत्म-निर्णय (National Self-determination) के आधार पर भारत का संविधान बनाने की

1 The Framing of Indian Constitution—*ed. B. Shiva Rao*, p. 97.

कोई चर्चा नहीं की जा सकती थी ।[1] मुस्लिम लीग इस तथ्य से भली-भाँति परिचित और प्रोत्साहित थी ।

9 दिसम्बर, 1946 को संविधान-सभा का विधिवत् उद्घाटन हुआ । पहली बैठक में 207 सदस्यों ने भाग लिया और सबसे बुजुर्ग सदस्य तथा बिहार के प्रमुख राजनीतिक नेता सच्चिदानन्द सिन्हा अस्थाई सभापति बने । 11 दिसम्बर, 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को सर्व-सम्मति से सभा का स्थाई सभापति चुन लिया गया और अन्त तक सभापति वही बने रहे ।

स्वतन्त्रता के बाद संविधान-सभा की रचना में परिवर्तन

3 जून, 1947 को माउण्टबेटन योजना की स्वीकृति और भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा पाकिस्तान की स्थापना के फलस्वरूप संविधान-सभा की रचना या गठन में कुछ परिवर्तन आया । पाकिस्तान के लिए अलग से संविधान-सभा की व्यवस्था की गई । भारतीय संविधान-सभा की कुल सदस्य संख्या अब 324 रह गई जिसमें 235 स्थान प्रान्तों के और 89 स्थान देशी राज्यों के लिए थे (विभाजन के पूर्व संविधान सभा की कुल सदस्य संख्या 389 थी—296 प्रान्तों के और 93 स्थान देशी राज्यों के सदस्य) । अब मुस्लिम लीग के उन सदस्यों ने, जिन्होंने भारत में रहने का निश्चय किया, संविधान-सभा में भाग लिया । हैदराबाद रियासत के प्रतिनिधियों को छोड़कर अन्य सभी देशी रियासतों के प्रतिनिधियों ने संविधान-सभा की बैठक में हिस्सा लिया । पंजाब और बंगाल के जो लोग भारत से बाहर रह गए थे उनके लिए नए सिरे से निर्वाचन हुए और उनके निर्वाचित सदस्यों ने 14 जुलाई, 1947 को संविधान-सभा में स्थान ग्रहण किया । इस संविधान-सभा में कांग्रेस को 82 प्रतिशत बहुमत प्राप्त था ।

समितियों का निर्माण

11 दिसम्बर, 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को स्थाई अध्यक्ष या सभापति चुनने के बाद संविधान-सभा में 22 जनवरी, 1947 को एक उद्देश्य-प्रस्ताव (Objective Resolution) पारित किया । इसके उपरान्त संविधान-सभा ने कुछ समितियाँ नियुक्त की जिन्हें संविधान के विभिन्न पक्षों पर आवश्यक सोच-विचार का कार्य सौंपा गया । प्रमुख समितियाँ थीं—(1) संघ संविधान समिति (Union Constitution Committee) (2) प्रान्तीय संविधान समिति (Provincial Constitution Committee) (3) संघ शक्ति समिति (Union Powers Committee) (4) मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों आदि से सम्बन्धित परामर्श समिति, (5) प्रारूप समिति (The Drafting Committee) आदि । प्रारूप समिति 29 अगस्त, 1947 को गठित की गई थी और इस पर ही संविधान को अन्तिम रूप देने का भार था । डॉ. अम्बेडकर इसके सभापति चुने गए । देशी राज्यों के प्रतिनिधित्व और संविधान-सभा में भाग लेने वाले नरेश-मण्डल की वार्ता-समिति से बातचीत के लिए संविधान-

1 *Panchanand Mishra* : The Making of the Indian Republic, p. 5-6.

सभा ने अपनी वार्ता-समिति 21 दिसम्बर, 1946 को ही बना दी थी। उल्लेखनीय है कि अनेक समितियों के अध्यक्ष या तो पं० नेहरू थे या सरदार पटेल। संविधान के निर्माण में इन दोनों महारथियों का मुख्य हाथ रहा। "अनेक आदर्शवादी और व्यावहारिक तथा प्रशासनिक और तकनीकी प्रकृति की धाराओं का समावेश बहुत कुछ इन दोनों विभूतियों के संयुक्त प्रभाव का फल था।"[1] वस्तुत नेहरू, पटेल, आजाद और प्रसाद की स्थिति संविधान-सभा में 'आभासी अल्पतन्त्र' (Virtual Oligarchy) की थी।[2]

विभाजन के पूर्व की संविधान-सभा का पहला सत्र 9 दिसम्बर, 1946 से 23 दिसम्बर, 1946 तक, दूसरा सत्र 20 जनवरी, 1947 से 25 जनवरी, 1947 तक और तीसरा सत्र 22 अप्रेल से 2 मई, 1947 तक चला। 2 मई, 1947 को स्थगन के पूर्व ही पं नेहरू की अध्यक्षता में 'संघ संविधान समिति' और सरदार पटेल की अध्यक्षता में 'प्रान्तीय संविधान समिति' का निर्माण किया गया था। भारत-विभाजन के बाद संविधान-सभा का अन्तिम दिन 24 जनवरी, 1950 था जबकि संविधान की 3 प्रतियाँ सभा-पटल पर रखी गईं। सदस्यों ने इन प्रतियों पर हस्ताक्षर किए और संविधान-सभा का समापन हो गया। सारांशत. संविधान-सभा 9 दिसम्बर, 1946 से 24 जनवरी, 1950 तक अर्थात् 2 वर्ष, 11 महिने और 19 दिन तक अस्तित्व में रही।

संविधान-सभा का प्रभु-स्वरूप

संविधान-सभा के सामने आरम्भ से ही यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा कि वह एक प्रभुता-सम्पन्न संस्था है अथवा नहीं। पुरुषोत्तम दास टण्डन ने संविधान-सभा के प्रभु-स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए उदाहरण दिया कि यद्यपि फ्रांस की संविधान-सभा राजा के नियन्त्रण पर समवेत हुई थी, लेकिन अपनी कार्यवाही उसने अपने आप आरम्भ की और जब राजा ने उसे विसर्जित होने का आदेश दिया तो इस आदेश को ठुकरा दिया गया। संविधान-सभा में आम राय यह थी कि यद्यपि 16 मई, 1946 के वक्तव्य ने उसके ऊपर कुछ मर्यादाएँ आरोपित कर दी थी, इन मर्यादाओं को स्वीकार करना या न करना सभा की अपनी मर्जी पर निर्भर था। कुछ भी हो, संविधान-सभा इसी धारणा को लेकर चली और उसने अपने नियमों का अपने आप निर्माण किया। एक नियम में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि सभा का विघटन केवल तभी हो सकेगा जबकि उसके कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई सदस्य इस आशय का एक प्रस्ताव पास कर दें। श्री नेहरू के अनुसार उस नियम का उद्देश्य यह था कि "बाहर की कोई सत्ता सभा को भंग न कर सके और थोड़ा-सा बहुमत भी यह काम न कर सके।" संविधान-सभा के सम्प्रभु होने का तथ्य इसी बात

1 *Austine Granville*. The Indian Constitution, Corner Stone of a Nation ...

2 *Hardgrave Jr.* India-Government and Politics in a Developing Nation ...

से स्पष्ट है कि उसने वायसराय लॉर्ड वेवल के इस दावे को मानने से इन्कार कर दिया कि वह संविधान-सभा के अध्यक्ष को नियुक्त कर सकता था।

3 जून, 1947 को माउण्टबेटन की योजना स्वीकृति और भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने संविधान-सभा के स्वरूप में तीन महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिए—(i) केबिनेट-मिशन योजना में संविधान-सभा पर जो मर्यादाएँ लगाई थीं, वे समाप्त हो गईं, (ii) मुस्लिम लीग द्वारा संविधान-सभा में उपस्थित होने से जो बाधाएँ उत्पन्न हो सकती थीं, उनका भय जाता रहा, एवं (iii) संविधान-सभा भारत के लिए संविधान निर्माण हेतु सम्प्रभु सस्था बन गई। इसने संविधान निर्माण के समय तक 'संविधान-सभा' के रूप में काम किया और संविधान लागू होने के बाद से 'भारतीय-संसद' के रूप मे कार्य किया।

संविधान-सभा ने अपने जन्मकाल से जिस सम्प्रभु स्वरूप को ग्रहण किया था, भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 ने उसे वह स्वरूप वैधानिक रूप से प्रदान कर दिया।

संविधान-सभा का प्रतिनिधिक स्वरूप

दिसम्बर, 1946 मे ब्रिटिश संसद् मे कुछ ऐसे वक्तव्य दिए गए जिनसे यह ध्वनि निकलती थी कि भारतीय संविधान-सभा प्रतिनिधिक नही है। चर्चिल ने कहा कि संविधान-सभा मे देश की एक ही बड़ी जाति का प्रतिनिधित्व हुआ है। लॉर्ड साइमन ने कहा कि सभा हिन्दुओ की एक संस्था है। किन्तु संविधान-सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने 20 जनवरी, 1947 को अपने वक्तव्य मे इन विचारो को तथ्यो के प्रतिकूल बताया। उन्होने सही तथ्यो का विवरण देते हुए कहा—

"प्रारम्भिक अधिवेशन मे कुल 296 सदस्यो को भाग लेना था। इनमें से 210 सदस्य उसमे उपस्थित हुए। इन 210 सदस्यो मे, कुल 160 हिन्दू सदस्यों में से 155, अनुसूचित जातियो के कुल सदस्यो मे से 30, पाँचों सिक्ख सदस्य, 7 भारतीय ईसाइयो मे से 6, पिछड़ी जन-जातियो के पाँचो प्रतिनिधि, तीनो आंग्ल-भारतीय, तीनो पारसी और 80 मुसलमान सदस्यो मे से 4 उपस्थित थे। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियो की अनुपस्थिति निश्चित रूप से उल्लेखनीय है और इसका हम सबको बहुत खेद है। लेकिन मैंने जो आँकड़े दिए है, उनसे यह स्पष्ट है कि मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के अलावा भारत की प्रत्येक अन्य जाति का संविधान-सभा मे प्रतिनिधित्व हुआ है चाहे उसके प्रतिनिधि किसी भी जाति के सदस्य हों। इसलिए, संविधान-सभा के बारे में यह कहना कि वह 'हिन्दुओ की सभा' है या वह 'स्वर्ण हिन्दुओ की बैठक' है तथ्यो के बिल्कुल विपरीत है।" [1]

स्पष्ट है कि संविधान-सभा को भारत मे केवल एक विशाल बहुमत समुदाय (Only one majority community in India) का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था या हिन्दुओं की एक संस्था (A body of Hindus or a meeting of Caste

1 सुभाष काश्यप : संविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, पृष्ठ 254–55.

Hindus) कहना तथ्यों के सर्वथा विपरीत था। यह सच है कि भारत की संविधान-सभा में प्रभुत्व अथवा प्रबल बहुमत कांग्रेस दल का ही था, लेकिन उन सभी समुदायों के हितों के प्रतिनिधित्व को देखने की इच्छुक थी। कांग्रेस संविधान-निर्माण की समस्या की गम्भीरता के प्रति सजग थी और चाहती थी कि वास्तविक योग्यता और विद्वता वाले सभी व्यक्ति सविधान-सभा में भाग लें। इसलिए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के परामर्श पर श्री के. टी. शाह को बिहार से चुना गया और श्री जयकर भी कांग्रेस टिकट पर सभा में आए। इसी प्रकार डॉ. अम्बेदकर को संविधान-सभा मे स्थान दिया गया और मद्रास से कांग्रेस के समर्थन पर ईसाई पादरी जेरोम डिसोजा (Jerome D'Soza) को निर्वाचित कराया गया।[1] समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण को भी आमन्त्रित किया गया पर उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की। फिर भी आगे चलकर संविधान के प्रारूप की एक प्रतिलिपि उन्हें भेजी गई और उनके सुझावों पर संघीय संविधान समिति, प्रान्तीय संविधान समिति तथा सांविधानिक परामर्शदाता ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया।

स्वतन्त्र भारत की सविधान-सभा वास्तविक रूप में एक प्रतिनिधिक सस्था (A Representative Body) के रूप मे प्रकट हुई। 14 जुलाई, 1947 को जब संविधान-सभा का अधिवेशन शुरू हुआ तो रियासतों के प्रतिनिधि भी उसमे शामिल हुए और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि भी आए जिन्होंने भारत में रहने की इच्छा प्रकट की। उनके सम्मिलित होते समय इस प्रकार का कोई प्रश्न नहीं उठाया गया कि ये अब भी द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त (Two-Nation Theory) के समर्थक थे अथवा नहीं। इस प्रकार उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ सविधान-सभा मे भाग लेने दिया गया।

यह तर्क पेश किया जा सकता है कि संविधान-सभा के सदस्यो का वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन नही किया गया था और रियासतो के 50 प्रतिशत प्रतिनिधि नरेशों द्वारा मनोनीत किए गए थे, अतः संविधान सभा पूरे अर्थों मे भारतीय जनता की प्रतिनिधिक सस्था नही थी। लेकिन जब हम गहराई से विचार करेंगे तो सविधान सभा के प्रतिनिधिक स्वरूप के बारे में सन्देह की गुंजाइश नहीं रहेगी—

प्रथम, तत्कालीन परिस्थितियों में यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता संविधान-सभा का सीधे निर्वाचन करती तब भी परिणाम लगभग बिलकुल वही होता।

दूसरे, परिस्थितियों की माँग थी कि संविधान-सभा का अविलम्ब निर्माण हो। यदि सदस्यो का प्रत्यक्ष निर्वाचन किया जाता तो संविधान-सभा के संगठित होने में कम से कम एक वर्ष और लग जाता जो उन परिस्थितियों मे निश्चय ही देश के लिए घातक होता।

1 *Panchanand Mishra : op cit. p. 9.*

तीसरे, नरेशों द्वारा 50 प्रतिशत सीटों पर रियासतों के प्रतिनिधियों का मनोनयन करना भी उन परिस्थितियों में अवांछित नहीं था क्योंकि ऐसा न करने पर रियासतों के नरेश संविधान-सभा में शामिल होने को सहमत ही न होते।

चौथे, सभा की सभी महत्त्वपूर्ण समितियों में भी विभिन्न समुदायों और हितों का प्रतिनिधित्व था।

संविधान-सभा प्रत्येक दृष्टि से एक सच्ची प्रतिनिधिक संस्था थी और कांग्रेस के प्रचण्ड बहुमत के बावजूद उसने आरम्भ से ही अत्यन्त उदात्त धरातल पर कार्य करना प्रारम्भ किया। इसकी कार्यवाहियां और गतिविधियां देश के संविधान-निर्माण के सन्दर्भ में दलीय विचार पर आधारित नहीं थी। अपने विचार-विमर्श और निर्णयों में भी यह पूर्णत लोकतान्त्रिक और प्रतिनिध्यात्मक रही। इसके सभी निर्णय प्रायः समझौते और समन्वय की भावना से किए गए। इसके निर्णय बहुमत द्वारा थोपे नहीं गए बल्कि सामान्य राय पर आधारित रहे। मतैक्यता (सहमति) और समायोजन (Consensus and Accommodation) इसके आधार स्तम्भ थे। विभाजन के बाद जबकि देशी रियासतों के प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त संविधान-सभा का गठन हो चुका था, अल्पसंख्यकों को 235 में से 88 अर्थात् लगभग 37 प्रतिशत प्रतिनिधित्व प्राप्त था। संविधान-सभा का यह स्वरूप चर्चिल और साइमन की आलोचनाओं का स्पष्ट और ठोस जवाब था। के सन्थानम् ने लिखा है—"जनमत का कोई भी ऐसा वर्ग नहीं था जिसे संविधान-सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो। संविधान-सभा केवल एक पूर्ण प्रतिनिधिक संस्था ही नहीं थी, बल्कि एक ऐसी महान् संस्था थी जिसमें भारतीय जन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की उत्कृष्टतम विभूतियां सम्मिलित थी। इसमें राष्ट्र निर्माता, स्वतन्त्रता सेनानी, बुद्धिजीवी, विधि शास्त्री, समाज सेवक, अवकाश प्राप्त न्यायाधीश, सिविल सेवक, अध्यापक सभी सम्मिलित थे। इसमें रूढ़िवादी, समाजवादी और प्रगतिवादी सभी विचारधारा वाले लोग विद्यमान थे। संविधान-सभा के समक्ष केवल विशेषज्ञों के ही प्रतिवेदन प्रस्तुत नहीं किए गए बल्कि चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज तथा निजी कम्पनियों, बार एसोसिएशनों, भाषाई परिषदों और अल्पसंख्यक वर्गों के संगठनों के विचार भी प्रस्तुत किए गए।"

संविधान-सभा के प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप का प्रमाण इस बात से भी मिल जाता है कि जब देश के पहले आम चुनावों में विरोधी दलों ने संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान को चुनौती दी और एक नई संविधान-सभा द्वारा नए संविधान के निर्माण का आश्वासन दिया तो इन दलों को निर्वाचन में बुरी तरह मुंह की खानी पड़ी।

संविधान-सभा का कार्यकरण और उसकी उपलब्धियां
(Working and Achievements of the Constituent Assembly)

9 दिसम्बर, 1946 को संविधान-सभा की पहली बैठक हुई और 24 जनवरी, 1950 इस सभा का अन्तिम दिन था। इस सम्पूर्ण अवधि में संविधान-सभा की

उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण रही, इसका कार्यकरण अत्यधिक प्रशंसनीय रहा। इस काल मे संविधान-सभा के कार्यकरण अथवा उसकी उपलब्धियो का लेखा-जोखा कुछ पृथक्-पृथक् शीर्षको में विभाजित करना उपयुक्त होगा—

उद्देश्य प्रस्ताव पारित करना

संविधान-सभा में 9 दिसम्बर, 1946 को डॉ सच्चिदानन्द सिन्हा को अपना अस्थाई अध्यक्ष और 11 दिसम्बर को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को अपना स्थाई अध्यक्ष चुना। बी एन राव को संविधान-सभा के 'सांविधानिक सलाहकार' (Constitutional Advisor) के पद पर नियुक्त किया गया। 13 दिसम्बर, 1946 को पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपना प्रसिद्ध 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objective Resolution) प्रस्तुत कर संविधान की आधारशिला रखी। 22 जनवरी, 1947 को संविधान-सभा ने यह उद्देश्य प्रस्ताव पारित कर दिया।

उद्देश्य प्रस्ताव एक प्रकार से प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक भारतीय गणराज्य की जन्मपत्री था।[1] 13 दिसम्बर को इसे प्रस्तुत करते हुए पंडित नेहरू ने कहा था — "इसमें हमारे उद्देश्यों की व्याख्या की गई है, योजना की रूपरेखा दी गई है और बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले है।" उद्देश्य प्रस्ताव में संविधान-सभा ने निश्चय किया कि—

1. भारत एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न गणराज्य होगा और सभा उसके भावी शासन के लिए एक संविधान का निर्माण करेगी।

2 इस समय 'ब्रिटिश भारत' कहे जाने वाले क्षेत्र, देशी रियासतों के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र और ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के बाहर के ऐसे अन्य क्षेत्र, जो स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पन्न भारत में सम्मिलित होना चाहते है, आपस मे मिलकर एक संघ के रूप में गठित होगे।

3. ये तथाकथित क्षेत्र (जिनमे चाहे उनकी वर्तमान सीमाएँ सम्मिलित हो या अन्य ऐसी सीमाएँ सम्मिलित हो जिनका संविधान-सभा भविष्य मे निर्णय करे) स्वायत्तशासी इकाइयाँ होगे। इन इकाइयों को अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होंगे। ये इकाइयाँ, उन अधिकारो और कार्यों को छोड़कर जो केन्द्र मे निहित हो या उसे सौंपे गए हो, शासन तथा प्रशासन के सभी अधिकारो एवं कार्यों का पालन करेगी।

4. भारत संघ तथा उसके अन्तर्गत विविध राज्यो की समस्त राज्य-शक्ति का मूल स्रोत जनता ही होगी।

5. कानून तथा सार्वजनिक नैतिकता के अधीन रहते हुए भारत के सभी लोगो को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, अवसर एवं कानून की समानता विचार, भाषण अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय औरकार्य की गारन्टी दी जाएगी।

6 अल्पसंख्यको, पिछड़े हुए और कबाइली क्षेत्रो तथा दलित और अन्य पिछड़े हुए वर्गों के हितों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जाए।

1 सुभाष काश्यप : वही, पृष्ठ 273.

7. भारत राज्य क्षेत्र की अखण्डता की और थल, समुद्री तथा आकाश पर उसके प्रभुता-अधिकारों की रक्षा की जाएगी।

8 यह प्राचीन देश संसार में अपना न्यायपूर्ण और सामान्य स्थान प्राप्त करेगा। यह देश विश्व-शान्ति तथा मानव जाति के कल्याण में अपना पूर्ण तथा स्वैच्छिक योग देगा।

भारतीय संविधान में 'उद्देश्य प्रस्ताव' का वही महत्त्व और स्थान है जो अमेरिकी संविधान में स्वतन्त्रता की घोषणा का है।

संविधान का निर्माण

संविधान-सभा ने दो वर्ष, ग्यारह महीने और सत्रह दिन में अर्थात् तीन वर्ष से भी कम समय में भारतीय संविधान के निर्माण का महान् अनुष्ठान पूरा कर लिया। सभा के कुल बारह अधिवेशन हुए जिनमे 167 दिन लगे। इनमें से 114 दिन प्रारूप संविधान के विचार में लग गए। प्रारूप समिति का 29 अगस्त, 1947 को निर्वाचन हुआ और इसके बाद 141 दिन उसकी बैठकें हुईं। सांविधानिक परामर्शदाता ने प्रारूप समिति के विचार के लिए जो प्रारूप संविधान तैयार कराया था, उसमें 243 अनुच्छेद तथा 13 अनुसूचियां थी। प्रारूप समिति ने संविधान-सभा के सम्मुख जो पहला प्रारूप संविधान प्रस्तुत किया था, उसमें 315 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियाँ थी। जब प्रारूप संविधान पर धारावार विचार समाप्त हुआ, तब उसमें 386 अनुच्छेद थे। अपने अन्तिम रूप में संविधान में 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियाँ थी। प्रारूप संविधान में संशोधन के प्रायः 7635 प्रस्ताव सदन-पटल पर रखे गए थे। इनमें से सदन में कुल 2473 संशोधन प्रस्तुत किए गए थे। डॉ. अम्बेडकर ने 25 नवम्बर, 1949 को कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की संविधान-सभाओं को अपने संविधानों की रचना में जितना समय लगा था, उसे देखते हुए भारतीय संविधान-सभा ने देश के लिए बहुत शीघ्र संविधान बना लिया था और उसे बधाई दी जा सकती थी।

संविधान-सभा के 3 वर्ष के अस्तित्व-काल में उस पर जो खर्च हुआ वह भी बहुत अधिक न था। 22 नवम्बर, 1949 तक उस पर 63,96,729 रु. का खर्च हुआ था। जनता ने संविधान-सभा की कार्यवाही में सक्रिय रुचि ली थी और दर्शक दीर्घा में 53000 दर्शकों को प्रवेश मिला था।

संविधान-निर्माण की समस्याएँ—संविधान-सभा के समक्ष, संविधान-निर्माण में अनेक चुनौतियां और कठिनाइयां थी।—

1. संविधान-निर्माण के साथ-साथ देश के शासन के लिए समय-समय पर कानून भी बनाने थे। एक विस्तृत भू-खण्ड और विशाल जन-समुदाय के लिए एक नवीन राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था का निर्णय करना था।

2. धर्म, जाति, संस्कृति, भाषा और प्रदेश की भिन्नताओं से परिपूर्ण एक सबसे बड़े लोकतान्त्रिक देश के लिए *संविधान बनाना था—'अनेकता में एकता' (Unity in Diversity)* को स्थापित करना कोई सरल कार्य नहीं था।

3. यह आवश्यक था कि संविधान ऐसा बने जिसमें विभिन्न पिछड़े हुए वर्गों और जन-जातियों के लिए समुचित प्रावधान हों, उन्हें उन्नत बनाने में सहयोगी कुछ ठोस उपबन्धों की रचना हो।

4. देश के लिए राजभाषा सम्बन्धी कठिन समस्या को सुलझाना था। संविधान-सभा के लिए यह बड़े गौरव की बात थी कि उसने हिन्दी को, जो देश के बहुसंख्यक लोगों द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा है, राजभाषा के रूप में सर्वसम्मति द्वारा मान्यता प्रदान की।

5. लगभग 600 देशी रियासतों को स्वेच्छापूर्वक भारत-संघ में सम्मिलित करके विश्व के समक्ष देश की एकता का चित्र प्रस्तुत करना।

6 पृथक् निर्वाचन प्रणाली जैसी बातों को समाप्त करना था और वह भी सभी वर्गों की सहमति से।

7. एक सुदृढ़, शक्तिशाली और स्थाई संघ का निर्माण जिसमें न केवल राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा हो बल्कि प्रान्तीय और स्थानीय हितों को भी सन्तोष हो।

संविधान-निर्माण में सफलता—इन सभी कठिनाइयों पर विजय पाकर संविधान-सभा ने एक महान् कार्य किया। संविधान-सभा ने देश के राजनीतिक-सामाजिक जीवन को विषाक्त करने वाली और देश का विभाजन कराने वाले साम्प्रदायिक निर्वाचन-मण्डलों को त्याग दिया। आर्थिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए तथा दलित वर्गों को छोड़कर अन्य सभी वर्गों, जातियों या सम्प्रदायों के लिए 'आरक्षणों' को अनावश्यक ठहरा दिया। संविधान-सभा ने यद्यपि राजभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता प्रदान की लेकिन यह भी बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय किया कि 'संक्रांतिकाल' में अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहे। सैकड़ों देशी रियासतों को स्वेच्छापूर्वक भारत संघ में सम्मिलित करने का काय महान् उपलब्धि थी। 15 अगस्त, 1947 को सत्ता हस्तान्तरण तक कश्मीर और हैदराबाद को छोड़कर सभी रियासतें भारत संघ में सम्मिलित कर दी गई। संविधान-सभा ने यह सम्भव कर दिखाया कि ब्रिटिश भारत के प्रान्तों तथा देशी रियासतों सहित भारत संघ की सभी इकाइयों को एक ही 'राज्य' के नाम से सम्बोधित किया जा सके।

विभिन्न कठिनाइयों और चुनौतियों का मुकाबला करते समय, विचार-विमर्श के दौरान, सदस्यों को अभिव्यक्ति का पूरा अवसर दिया गया। कटु से कटु आलोचनाओं के बीच भी सभा ने और सभा के आधार-स्तम्भों ने धैर्य तथा सन्तुलन नहीं खोया, समझौते और समन्वय की भावना का प्राधान्य रहा तथा निर्णय यथासम्भव बहुमत के आधार पर नहीं बल्कि आम राय के आधार पर लिए जाने की कोशिश की गई। सभा ने यह सिद्ध कर दिखाया कि वह एक गौरवपूर्ण संस्था और मानवतावादी तथा लोकतान्त्रिक तत्त्वों की सच्ची प्रतिनिधि थी। संविधान-सभा के अध्यक्ष डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने 26 नवम्बर, 1947 को अपने समापन भाषण में ठीक ही कहा था कि संविधान-सभा कुल मिलाकर एक ऐसा संविधान बनाने में सफल हुई है जो देश के व्यापक हितों में था। जहाँ तक संविधान के समुचित कार्यकरण का प्रश्न

यह देश के नागरिको पर, जनता के चरित्र पर निर्भर था। डॉ. प्रसाद के ये मार्मिक शब्द आज भी हमारे मार्गदर्शक है कि—

"अन्ततः संविधान अपने मे मशीन की तरह जड़ है। इसको जीवन मिलता है उन लोगो के कारण जो इसको क्रियान्वित और नियन्त्रित करते हैं। आज भारत को सबसे अधिक आवश्यकता है तो बस थोड़े से ईमानदार आदमियो की जो देश के हित की भावना से प्रेरित होकर कार्य करे।'

सभा की प्रक्रिया का निर्धारण

संविधान-सभा ने जब 9 दिसम्बर, 1946 को अपनी कार्यवाही प्रारम्भ की तो कार्य-संचालन और प्रक्रिया सम्बन्धी उसके अपने कोई नियम नही थे। 10 दिसम्बर को पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा—"यह संविधान-सभा बाहर की किसी सत्ता के द्वारा बनाए गए किन्ही नियमो-अधिनियमो के बिना आरम्भ हुई है, इसे अपने नियमो का निर्माण स्वयं ही करना होगा।" 10 दिसम्बर को ही सभा ने एक प्रस्ताव पास करके स्थाई अध्यक्ष के निर्वाचन के लिए प्रक्रिया तय की और अस्थाई तौर पर केन्द्रीय विधान-सभा के प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन सम्बन्धी नियमो को स्वीकार किया। इसी दिन एक 'प्रक्रिया नियम समिति' (Committee on Rules of Procedure) बनाए जाने सम्बन्धी प्रस्ताव भी पास कर दिया। समिति को यह काम सौंपा गया कि वह प्रक्रिया सम्बन्धी नियमो, अध्यक्ष की शक्तियो, संविधान-सभा के कार्य-संगठन और अधिकारियो की नियुक्ति, सभा के रिक्त स्थानो को भरने की प्रक्रिया आदि के बारे मे सिफारिशें करे। जब तक अन्तिम रूप से नियमो का निर्माण न हो जाए तब तक के लिए अध्यक्ष द्वारा ही सदस्यो और कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि निश्चित करना उपयुक्त समझा गया। समिति की बैठके डॉ राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता मे हुई। 21 दिसम्बर, 1946 को उन्होने अपनी रिपोर्ट सभा मे पेश कर दी। 23 दिसम्बर को सभा के पूर्ण अधिवेशन में 'सम्पूर्ण सदन की समिति द्वारा पारित नियमो' को स्वीकार कर लिया गया।

संविधान-सभा ने जिन प्रक्रिया-नियमो (Rules of Procedure) को अपनाया उनकी संख्या 68 थी और 12 अध्यायो मे विभक्त थे। सभा के नियमो में जो विभिन्न संशोधन किए गए उन्हे सभा द्वारा समय-समय पर प्रकाशित प्रक्रिया-नियमो और स्थाई आदेशो के विभिन्न संस्करणों मे समाविष्ट कर लिया गया। "किन्तु सभा का सुचारु संचालन नियमो की शाब्दिक काया पर ही निर्भर नही था, उसकी सफलता का कारण वह भावना थी जिसमे इन नियमों को कार्यान्वित किया गया। डॉ. अम्बेदकर ने 25 नवम्बर, 1949 को संविधान-सभा मे अपने समापन भाषण में सभा के अध्यक्ष डॉ राजेन्द्र प्रसाद की भूरिशः सराहना की। उन्होने सभा की कार्यवाही का बड़ा प्रशंसनीय संचालन किया था और नियमो की इस ढंग से व्यवस्था की थी जिससे कानूनी दावपेंच संविधान-निर्माण के कार्य को पीछे न ढकेल सकें।"

संविधान-निर्माण की अवस्थायें
(Stages in the Making of Constitution)

संविधान-सभा कार्यालय द्वारा पहला प्रारूप—संविधान का पहला प्रारूप

सांविधानिक सलाहकार बी. एन. राव के निर्देशन मे संविधान-सभा कार्यालय द्वारा तैयार किया गया। इस कार्यालय ने प्रारूप तैयार करने के लिए लगभग 60 देशों के संविधानों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री तीन ग्रन्थों में प्रकाशित की और उनकी प्रतिलिपियाँ सभा के सदस्यो को दी। जब सविधान का प्रथम प्रारूप तैयार हो गया तो सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने सांविधानिक सलाहकार बी. एन. राव को विश्व के प्रमुख संविधान विशेषज्ञों से विचार-विनिमय के लिए अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, आयरलैण्ड आदि की यात्रा को भेजा। 1947 के अन्तिम चरण मे श्री राव ने अपनी यात्रा सम्पन्न की और अपना प्रतिवेदन संविधान-सभा के समक्ष प्रस्तुत किया।

प्रारूप समिति द्वारा दूसरा प्रारूप—सविधान-सभा कार्यालय ने संविधान का जो प्रथम प्रारूप प्रकाशित किया उस पर अनेक सम्मितियाँ, आलोचनाएँ और सुधार के सुझाव प्राप्त हुए। सविधान-सभा के अध्यक्ष के निर्देश पर, विभिन्न सुझावों और आलोचनाओं के प्रकाश मे, प्रारूप समिति ने सविधान का 'स्पष्टीकरण सहित संशोधित प्रारूप का छपा हुआ सस्करण' 26 अक्टूबर, 1948 को अध्यक्ष महोदय को दिया। इस दूसरे प्रारूप की प्रतिलिपियाँ सभा के सदस्यों को दे दी गई। 4 नवम्बर, 1948 से संशोधित प्रारूप पर विचार प्रारम्भ हो गया।

संविधान-प्रारूप का दूसरा वाचन—ब्रिटिश परम्परा के अनुरूप संविधान-सभा मे दूसरे वाचन के समय संविधान-प्रारूप की प्रत्येक धारा पर व्यापक वाद-विवाद किया गया। दूसरा वाचन 15 नवम्बर 1948 से 17 अक्टूबर, 1949 (सभा के सातवें अधिवेशन से दसवें अधिवेशन) तक चला। लगभग 7635 सशोधन प्रस्ताव आए जिनमे से सदन मे कुल 2473 सशोधन प्रस्तुत किए गए। सभी प्रश्नो पर निर्णय प्रायः आम सहमति से किए गए।

संविधान-प्रारूप का तीसरा वाचन—संविधान-सभा के ग्यारहवें अधिवेशन में संविधान-प्रारूप का तीसरा वाचन किया गया। इस प्रारूप की प्रारूप-समिति ने संशोधनो, वर्तनी, विराम चिन्ह आदि की दृष्टि से अच्छी तरह परिमार्जित कर दिया था। संविधान-सभा ने 14 नवम्बर से 17 नवम्बर, 1949 तक सविधान-प्रारूप का तृतीय वाचन किया। तत्पश्चात् डॉ. अम्बेडकर ने सभा द्वारा निर्णीत सविधान का पारित करने का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव 26 नवम्बर, 1949 को पारित हुआ। सविधान-सभा का बारहवाँ अधिवेशन 24 जनवरी, 1950 को हुआ और 308 सदस्यो ने संविधान पर हस्ताक्षर किए। इसी दिन डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को भारतीय गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया। संविधान-सभा द्वारा निर्मित सविधान 26 जनवरी, 1950 से लागू हो गया।

संविधान-सभा का दृष्टिकोण
(Attitude and Approach of the Constituent Assembly)

संविधान-सभा के भीतर और बाहर संविधान के विभिन्न पहलुओ पर व्यापक वाद-विवाद हुआ जिसमें विभिन्न दृष्टिकोणों, मतो और प्रवृत्तियों का उद्घाटन

संविधान की प्रस्तावना, संविधान में सन्निहित नागरिकता, मौलिक अधिकारों, नीति-निर्देशक सिद्धान्तों, राष्ट्रपति, मन्त्रि-परिषद्, संसद् आदि की सभी व्यवस्थाओं पर विभिन्न मत एवं दृष्टिकोण प्रकट किए गए।

प्रस्तावना

प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्दों में ही इस बात पर बल दिया गया है कि अन्तिम सत्ता (Sovereignty) जनता में निहित है और जनता की इच्छा से ही संविधान का उद्भव हुआ है। 'प्रस्तावना' में भारतीय जनता के संकल्प की घोषणा है कि वे 'भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक-गणराज्य' बनाएँगे। गणतन्त्र (Republic) शब्द पर भी संविधान-सभा में काफी वाद-विवाद हुआ। प्रारूप समिति ने सुझाव दिया कि 'गणतन्त्र' (Republic) शब्द के स्थान पर राज्यों (States) शब्द प्रयुक्त कर दिया जाए, किन्तु विशिष्ट समिति (Special Committee) ने यह विचार प्रकट किया कि प्रस्ताव के अन्तिम रूप का निश्चय करने का भार संविधान-सभा के निर्णय पर छोड़ देना चाहिए और संविधान-सभा का अन्तिम निर्णय 'गणराज्य' शब्द बनाए रखने का ही हुआ।

'प्रस्तावना' में निहित 'हम भारत के लोग' (We the People of India) शब्द भी चर्चा के विषय रहे। एन. एन. शाह ने कहा कि 'हम भारत के लोग' शब्द समुचित नहीं, क्योंकि संविधान-निर्मात्री सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं चुनी गई है। परन्तु विशिष्ट समिति (Special Committee) का अभिमत था कि 'भारत के लोग' शब्दों का अर्थ भारत की जनता (The People of India) से है और संविधान-सभा भारत की जनता के नाम पर ही बोल रही है।

संविधान-सभा के कुछ सदस्य भारतीय राज-व्यवस्था को एक विचारधारा-विशेष से सम्बद्ध करना चाहते थे, अतएव प्रस्तावना में संशोधन द्वारा यह सुझाव रखा गया कि 'प्रभुत्व सम्पन्नलोकतान्त्रिक समाजवादी गणराज्य' बनाने की व्यवस्था हो। इस संशोधन का विरोध करते हुए डॉ अम्बेडकर ने कहा कि भावी पीढ़ियों को एक विशेष प्रकार की अर्थव्यवस्था के साथ बाँध देना उचित नहीं है, यह कार्य भावी निर्वाचित संसदों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर का मत ही संविधान-सभा का दृष्टिकोण रहा।

मौलिक अधिकार

संविधान में मौलिक अधिकारों और नीति-निर्देशक सिद्धान्तों सम्बन्धी अध्यायों को देखने से स्पष्ट होता है कि संविधान-निर्माता देश का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं का शीघ्रतापूर्वक आधुनिकीकरण करने की भावना से प्रेरित थे। अमेरिकन और फ्रेन्च क्रान्तियों के आदर्शों ने इस सम्बन्ध में मुख्यतः उनका पथ-प्रदर्शन किया। विश्व के उत्तम संविधानों की अनेक बातों को भारतीय स्थिति के अनुकूल ढालने की इच्छा संविधान-निर्माताओं में थी। एम. वी. पायली के शब्दों में—

"अमेरिकन संविधान के अधिकार विधेयक (The Bill of Rights), फ्रांसीसी मानव अधिकारों की घोषणा (French Declaration of the Rights of Man) तथा 1935 का आयरिश संविधान हमारे संविधान-निर्माताओं को बहुत प्रभावित कर रहे थे। युद्धोत्तर निर्मित संविधानों में जापान के संविधान (अमेरिका द्वारा प्रेरित) और बर्मा के संविधान ने, जहाँ की समस्याएँ भारतीय समस्याओं से मेल खाती थीं, विशेष रूप से संविधान-निर्माताओं को आकृष्ट किया। सार्वभौमिक मानव अधिकार-पत्र (Universal Human Rights Charter) उन दिनों तैयार हो चुका था और प्रकाशित होने ही वाला था। प्रभाव तो उसका भी कुछ हमारे संविधान-निर्माताओं पर पड़ा, किन्तु साथ ही यह भी कहना अनुचित न होगा कि वे विदेशों के अनुभव उधार लेकर ही सन्तुष्ट न थे, वरन् भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल भी उन्होंने कार्य किया।"[1]

विश्व के संविभिन्न संविधानों की आदर्श बातों को ग्रहण करते हुए संविधान-निर्माताओं ने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि कहीं भारतीय संविधान 'उधार की थैली' (A Bag of Borrowing) ही न बन जाए। अतः उन्होंने उन आदर्शों का भारतीयकरण किया।

भारतीय संविधान-निर्माता इस दृष्टिकोण के समर्थक थे कि भारत जैसे देश के लिए पहली बार प्रजातन्त्र का प्रयोग करने जा रहा है, मूलाधिकारों का उल्लेख व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आधारशिला के समान है। भारत में काफी पहले से मूलाधिकारों की चर्चा थी और कांग्रेस के करांची अधिवेशन में तो मूलाधिकारों सम्बन्धी एक विस्तृत प्रस्ताव भी पारित किया गया था। अतः संविधान-सभा संविधान में मूलाधिकारों का उल्लेख छोड़ ही नहीं सकती थी, यद्यपि इस सम्बन्ध में उसे काफी परेशानी उठानी पड़ी।

संविधान-निर्माताओं का विचार था कि भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य के दायित्वों को पूरा करने की आर्थिक सक्षमता नहीं है। इसीलिए उन्होंने मौलिक अधिकारों को दो श्रेणियों में रखा। वाद-योग्य (Justiciable) तथा अवाद-योग्य (Non-Justiciable)। संविधान-सभा के अनेक सदस्य इस प्रकार के विभाजन से सहमत नहीं थे। हृदयनाथ कुंजुरू, प्रमोद रंजन ठाकुर, आर. के. सिन्धावा आदि का मत था कि *वाद-योग्य और अवाद-योग्य अधिकारों में विभाजन रेखा खींचना* कठिन है तथा 'रोजगार के अधिकार' जैसे आर्थिक अधिकारों को मौलिक अधिकारों की सूची में स्थान दिया जाना चाहिए। विशम्भर दयाल त्रिपाठी ने कहा—"मताधिकार को छोड़कर संविधान के अन्तर्गत हरेक आदमी को कोई अन्य अधिकार उपलब्ध नहीं हुआ।"

संविधान में समाविष्ट प्रत्येक मौलिक अधिकार पर संविधान-सभा में खुलकर वाद-विवाद हुआ और विभिन्न मन्तव्य प्रकट किए गए। उदाहरण-स्वरूप, स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत अनुच्छेद 22 में एक बन्दी बनाए गए व्यक्ति को

1 *M. V. Paylee :* India's Constitution, p. 86.

सांविधानिक अधिकार दिए गए और निवारक नजरबन्दी के बारे में व्यवस्था की कड़ी आलोचना की गई। बख्शी टेकचन्द ने इसे निरंकुशता का प्रपत्र (A Charter of Despotism) कहा। पण्डित ठाकुरदास भार्गव ने इस संविधान-सभा को एक महान् असफलता घोषित किया। इन आलोचनाओं के बावजूद भी सम्बन्धित धारा को भारतीय संविधान में स्थान देना उचित समझा गया। डॉ. अम्बेडकर ने कहा "यह स्वीकार करना पड़ेगा कि देश की वर्तमान परिस्थितियों में सार्वजनिक व्यवस्था भंग करने वाले तथा देश की रक्षा-सेवाओं (Defence Services) में गड़बड़ी फैलाने वाले व्यक्तियों का विरोध करना कार्यपालिका के लिए आवश्यक हो सकता है। मैं समझता हूँ ऐसी स्थिति में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को राज्य के हितों पर वरीयता प्रदान नहीं की जा सकती।"

मौलिक अधिकारों पर विभिन्न प्रतिबन्धों का अनेक सदस्यों ने विरोध किया। इनमें कुंजुरू, एच. वी. कामथ, बख्शी टेकचन्द, महावीर त्यागी आदि प्रमुख थे। एन. जी. रंगा, सरदार पटेल आदि ने प्रतिबन्धों को उचित बताया। के. एम. मुन्शी ने संविधान सभा में कहा—"सभा के अधिकांश सदस्य व्यक्तिगत स्वाधीनता की अपेक्षा सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए अधिक चिन्तित है।"[1] इसी दृष्टिकोण के आधार पर संविधान के 21वें अनुच्छेद में 'कानून की उचित प्रक्रिया' शब्दावली के स्थान पर 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर' शब्दावली अपनाई गई।

संविधान-सभा में सम्पत्ति का अधिकार और इससे सम्बन्धित अनुच्छेद 31 सबसे अधिक विवादपूर्ण बना। कांग्रेस दल, 31वां अनुच्छेद की रचना के समय, बुरी तरह विभाजित था। संविधान-सभा में व्यक्त किया गया एक दृष्टिकोण व्यक्ति के अधिकार से तो दूसरा सामाजिक हित से सम्बन्धित था। संविधान-सभा ने सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था इस रूप में की कि इन दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित हो। साथ ही इस विचार को मान्यता दी गई कि अन्तिम विश्लेषण में सन्तुलनकारी सत्ता का निवास ससद् में ही होना चाहिए—न्यायपालिका ब्यौरे की जाँच करे, किन्तु मूल सिद्धान्तों की नहीं।

नीति-निर्देशक सिद्धान्त

राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त आधुनिक सांविधानिक प्रशासन की एक नवीन विशेषता है। इस सम्बन्ध में संविधान-निर्माता आयरिश गणराज्य के संविधान से प्रभावित हुए थे, क्योंकि उसमें एक अध्याय राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों पर है। इन सिद्धान्तों को संविधान में रखने के सम्बन्ध में संविधान-निर्माता संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर और मानव अधिकार पत्र से भी प्रभावित हुए थे। तथापि इसका आशय यह नहीं है कि संविधान-सभा ने नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को अपनाते समय पूर्णतः वर्तमान पाश्चात्य अथवा सामाजिक-दार्शनिक सिद्धान्तों का ही अनुकरण किया था। वस्तुतः सभा के बहुसंख्यक सदस्य इनमें से अनेक सिद्धान्तों को पूर्णतः भारतीय

1 *K. M. Munshi's* Speech, *Dec. 6, 1948, Vol. VII, p. 851.*

स्वामी अय्यर भी इसी मत के थे। बी. एन. राव का विचार था कि राष्ट्रपति को सघ का प्रधान होना चाहिए। उसे सघीय ससद् के दोनो सदनो के संयुक्त अधिवेशन मे एकल सक्रमणीय मत द्वारा समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर गुप्त मतदान प्रणाली द्वारा चुना जाना चाहिए। कुछ सदस्यों का विचार था कि राष्ट्रपति का जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन होना चाहिए क्योंकि प्रथम तो प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था अधिक लोकतान्त्रिक है और इस पद्धति से चुना जाने वाला राष्ट्रपति वास्तविक रूप से जनता का प्रतिनिधि होगा; एवं दूसरे, इससे जन-साधारण को राजनीतिक शिक्षा मिलेगी। सविधान-सभा का बहुमत इसी पक्ष मे था कि जब राष्ट्रपति को देश का सांविधानिक प्रधान बनने का निर्णय किया गया है तो यह सर्वथा अनावश्यक है कि उसका निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से किया जाए। सविधान-सभा के अधिकांश सदस्यो को यह भय भी था कि प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति अपनी लोकप्रियता का लाभ उठाकर सांविधानिक प्रधान के रूप मे कार्य करना बन्द न कर दे।

सविधान-निर्माताओ का यह विचार भी था कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने वाले संसद् सदस्य और राज्य विधान-सभाओ के सदस्यों के मत यथासम्भव बराबर हों तथा राज्यों के प्रतिनिधित्व का मापदण्ड भी लगभग एक समान हो। इसीलिए राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए एकल संक्रमणीय मत द्वारा समानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली निश्चित की गई।

राष्ट्रपति की शक्तियो का विषय सविधान-सभा मे सर्वाधिक विवादग्रस्त विषय रहा। के. एम. पनिक्कर ने सिफारिश की कि राष्ट्रपति नाम मात्र का सांविधानिक कार्यपालिकाध्यक्ष (The Dejure Nominal Head of the Executive) होना चाहिए। सघ सविधान समिति (The Union Constitution Committee) ने पनिक्कर के सुझाव को मानते हुए सिफारिश की कि सघ की कार्यपालिका शक्ति सविधान के प्रावधानो के तहत राष्ट्रपति मे निहित की जानी चाहिए और संघ की सुरक्षा-सेनाओं का सर्वोच्च नेतृत्व (Supreme Command) भी राष्ट्रपति मे निहित होना चाहिए। सविधान सभा मे यह बात स्वीकार कर ली गई। के टी. शाह ने राष्ट्रपति के द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियो की एक लम्बी सूची (Along list of powers) जोड़नी चाही। यदि भारतीय राष्ट्रपति को इन शक्तियों से सम्पन्न किया जाता तो वह सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति जैसा शक्तिशाली हो जाता। लेकिन सविधान-सभा के बहुमत ने इस बात का विरोध किया और बतलाया कि ब्रिटिश प्रभाव के कारण भारतीय सांविधानिक परम्पराएं संसदीय बन चुकी हैं। फिर भी राष्ट्रपति को केवल रबर [illegible] मोहर नही [illegible] वरन् सकटकालीन अवस्थाओ का मुकाबला क[illegible] से उसे [illegible] शक्तियां दी गईं। संविधान मे इन आपात[illegible] और बाहर भी जितनी कटु आलोचना की [illegible] थी कामत ने इनकी तुलना जर्मनी के वाइम[illegible]

हिटलर तानाशाह बन बैठा। बी. दास ने यहाँ तक कह दिया कि—"वे शक्तियाँ राष्ट्रपति को दक्षिणी अफ्रीका के उन प्रधानों की तरह बना देंगी जो वित्तीय शक्तियों सहित समस्त शक्तियों को हड़प सकते थे और प्रान्तों को वित्तीय सकट में डाल सकते थे। सविधान-सभा के अनेक सदस्य इस पक्ष में नही थे कि राष्ट्रपति को संकटकालीन अवस्था में मौलिक अधिकार को स्थगित करने की शक्ति दी जाए किन्तु सविधान-सभा के अधिकांश सदस्यो का स्पष्ट मत था कि देश के हित में स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुरक्षा को अधिक महत्त्व देना चाहिए।" डॉ अम्बेडकर ने कहा कि —"केवल केन्द्र ही सम्पूर्ण देश की समान भलाई के लिए कार्य कर सकता है, अत. केन्द्र को आपात्काल में राज्य सरकारों की शक्तियाँ ग्रहण करने का अधिकार देना न्यायोचित है। ए. के. अय्यर और अन्य सदस्यों ने राष्ट्रपति के आपात्कालीन शक्तियों का समर्थन करते हुए कहा कि देश में सविधान व्यवस्था को कायम करके रखना संघीय सरकार का उत्तरदायित्व है और शक्तियों का प्रयोग वास्तव में राष्ट्रपति नहीं बल्कि संसद् के प्रति उत्तरदायी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ही करेगा।

संघीय कार्यपालिका : मन्त्रि-परिषद्

संविधान-सभा मे संघीय कार्यपालिका के स्वरूप के बारे मे पर्याप्त वाद-विवाद के उपरान्त जो निर्णय लिया गया और तदनुरूप संविधान में जो उल्लिखित किया गया वह यही रहा कि संविधान की धारा 74 के अन्तर्गत एक संघीय मन्त्रि-परिषद् हो जिसका मुख्य कार्य राष्ट्रपति को सहायता तथा परामर्श देना हो। यह मन्त्रि-परिषद् ही देश की वास्तविक कार्यपालिका हो और इसका अध्यक्ष प्रधान मन्त्री कहलाएगा।

एक मन्त्री की योग्यताएँ (Qualifications) क्या हों, यह विषय भी संविधान-सभा में रोचक वाद-विवाद का विषय रहा। मोहम्मद ताहिर ने प्रस्ताव किया कि ऐसे किसी भी व्यक्ति को मन्त्री नियुक्त न किया जाए जो अपनी नियुक्ति के समय सदन का निर्वाचित सदस्य न हो, किन्तु डॉ अम्बेदकर ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। डॉ. अम्बेदकर ने कहा कि यदि कोई योग्य व्यक्ति एक निर्वाचन क्षेत्र में किसी कारणवश पराजित हो गया हो तो उसे इस आधार पर मन्त्री बनाना अनुचित न होगा कि वह अपनी नियुक्ति से 6 माह की अवधि के भीतर किसी न किसी चुनाव क्षेत्र से पुनः निर्वाचित हो सके। के. टी शाह ने सुझाव दिया कि प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल में से ही की जानी चाहिए। अम्बेडकर ने असहमति प्रकट की। उन्होने कहा कि यह सम्भव और स्वाभाविक है कि चुनाव से संसद् मे कभी ऐसे अनेक दल आ जाएँ जिनमे से किसी का भी बहुमत न हो। इस प्रकार की स्थिति मे, श्री शाह द्वारा प्रस्तावित संशोधन पर आचरण करने से सरकार का निर्माण असम्भव हो जाएगा। सभा ने के. टी. शाह के संशोधन प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। के. टी. शाह ने यह भी सुझाव दिया कि मन्त्री उसी व्यक्ति को बनाया जाए जो लिख-पढ़ सकता हो तथा अंग्रेजी भाषा में अपने विचार व्यक्त कर सकता हो। महावीर त्यागी ने शाह के सुझाव का विरोध किया

और आश्चर्य प्रकट किया कि इस तरह की पढाई-लिखाई को मन्त्री की आवश्यक योग्यता क्यो रखनी चाहिए। उन्होने कहा कि अकबर, शिवाजी और रणजीतसिंह पढ़े-लिखे नही थे, फिर भी वे सफल प्रशासक थे। सविधान-सभा द्वारा मन्त्री बनने के लिए इस प्रकार की योग्यताओ सम्बन्धी उपबन्ध करने की व्यवस्था आवश्यक नही समझी गई।

संघीय संसद्

संविधान-निर्माताओ ने ससदीय सगठन के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान दिया। के एम. पनिक्कर ने द्विसदनीय विधान-मण्डल (Bicameral Legislature) का पक्ष लिया। एन. गोपाल स्वामी आयगर और अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने भी यही विचार प्रस्तुत किया। सॉविधानिक परामर्शदाता की भी यही सिफारिश रही। अतः सघ सविधान समिति ने ससद् के दो सदनो के लिए उपबन्ध बनाया। लेकिन मोहम्मद ताहिर ने द्वितीय सदन के प्रावधान का विरोध किया। शिब्बन लाल सक्सेना ने भी ताहिर के मत का समर्थन किया। जयप्रकाश नारायण ने भी यही सुझाव दिया कि ससद् एक सदनीय (Unicameral) बनाई जानी चाहिए। उनका मत था कि कही पर भी द्वितीय सदन ने सन्तोषजनक कार्य नही किया है, बल्कि उल्टे यह प्रगति मे बाधक ही सिद्ध हुआ है। ससद् के सगठन के सम्बन्ध मे प्रबल मत द्विसदनीय व्यवस्था के पक्ष मे ही रहा।

सघ के दोनो सदनो का नामकरण भी पर्याप्त चर्चा का विषय रहा। के. एम. पनिक्कर ने दोनो सदनो के नाम सघीय सीनेट (The Union Senate) तथा संघीय सभा (The Union Assembly) सुझाए। एन गोपाल स्वामी आयंगर तथा अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने मत प्रकट किया कि ससद् के सदनो के नाम प्रतिनिधि सभा (House of Representative) और सीनेट (Senate) रखे जाने चाहिए। सॉविधानिक परामर्शदाता ने भी ये नाम प्रस्तावित किए थे। लेकिन सघ सविधान समिति ने सदनो के नाम राज्य-सभा (Council of States) और लोकसभा (House of People) रखे और दोनो के सयुक्त रूप को राष्ट्रीय सभा (National Assembly) का नाम दिया। लेकिन राष्ट्रीय सभा (National Assembly) का नाम एन. गोपाल स्वामी आयंगर द्वारा ठीक नही समझा गया। अन्त मे यह नाम हटा दिया गया। सविधान-सभा के अन्य सदस्य आर. के सिधावा ने नामकरण के माध्यम से कॉंग्रेस के नाम को अमर करना चाहा। श्री सिधावा ने सुझाव दिया कि दोनों सदनो के संयुक्त रूप को कॉंग्रेस कहा जाना चाहिए। कॉंग्रेस का प्रचण्ड बहुमत होने पर भी ससद् का नाम कॉंग्रेस रखने का सुझाव स्वीकार नही किया गया।

ससद् के संगठन के विषय मे विभिन्न दृष्टिकोण व्यक्त हुए। राज्य-सभा के सदस्यो की सख्या अन्तिम रूप से 250 ही निश्चित की गई। के. टी. शाह तथा अन्य सदस्यो ने आशका व्यक्त की कि राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा के सदस्यो को मनोनीत किए जाने पर राष्ट्रपति आलोचना का शिकार बन सकता है, लेकिन

संविधान-सभा ने यह व्यवस्था की कि राज्य-सभा में 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे।

प्रारूप समिति ने लोकसभा के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार की सिफारिश की जिसका संविधान-सभा ने स्वागत किया। प्रारूप समिति ने अल्पसख्यकों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की सिफारिश की। सरदार हुकमसिंह ने इसका विरोध करते हुए कहा—"यदि पृथक् निर्वाचन प्रणाली मे सम्प्रदाय को बल पहुँचाया है तो स्थान सुरक्षित रखने की प्रणाली से उसे कुछ कम बल नही मिलेगा।" किन्तु संविधान-सभा ने प्रबल बहुमत से प्रारूप समिति के दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने, जो संविधान-सभा के अध्यक्ष थे, यह मत रखा कि ससद् सदस्यों के लिए शैक्षणिक योग्यता निश्चित की जानी चाहिए, लेकिन सविधान-सभा ने इस सुझाव को अव्यावहारिक माना और अस्वीकार कर दिया।

संसद् के कार्यकाल के सम्बन्ध मे भी संविधान-सभा मे अनेक सुझाव आए। इस बात पर सभी सदस्य सहमत थे कि द्वितीय सदन अर्थात् राज्य-सभा एक स्थाई सदन (Permanent Body) रहना चाहिए। लेकिन इस बात पर मतभेद थे कि कितने सदस्य कब पद-निवृत्त हो जाएँ। के. एम. पनिक्कर का सुझाव था कि प्रत्येक दूसरे वर्ष तीन-चौथाई सदस्य पद-निवृत्त हो जाएँ। एम. पी मुकर्जी ने सुझाव दिया कि प्रत्येक दो वर्ष बाद एक-तिहाई सदस्य पद-निवृत्त हो जाने चाहिए। एन. गोपाल स्वामी आयंगर और अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने सिफारिश की कि प्रति वर्ष एक-तिहाई सदस्यो को पद-निवृत्त किया जाना चाहिए। बी. एन राव ने यह मत व्यक्त किया कि प्रति तीसरे वर्ष एक-तिहाई सदस्यो को हटाना चाहिए। इन सब बातों को मध्ये नजर रखते हुए संघ संविधान समिति ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया और यह सिफारिश की कि प्रति दूसरे वर्ष एक तिहाई सदस्यों को हटाना चाहिए। सविधान सभा द्वारा यह सिफारिश मजूर कर ली गई। लोकसभा के कार्यकाल के सम्बन्ध मे लगभग सभी सदस्यों का यह मत रहा कि यह 5 वर्ष का होना चाहिए।

स्पष्ट है कि सविधान-सभा में भारतीय सविधान रचना के विभिन्न पहलुओं पर पूरा और खुलकर विचार हुआ। संविधान-निर्माण के प्रत्येक पहलू पर विभिन्न मत और दृष्टिकोण प्रकट किए गए तथा वाद-विवाद में विभिन्न प्रवृत्तियो का उद्घाटन हुआ। सभा में कांग्रेस का प्रबल बहुमत था, लेकिन सभी सदस्यो और सभी वर्गों की बातों और सुझावों पर पूरा ध्यान दिया गया तथा उपयोगी सुझावो को स्वीकार किया गया। संविधान-सभा की समितियो ने पूर्ण निष्पक्ष होकर कार्य किया। सविधान-सभा ने निष्पक्ष रूप मे निर्दलीय होकर प्रजातान्त्रिक ढग से कार्य किया और यह प्रमाणित किया कि वह सम्पूर्ण देश की एक सच्ची प्रतिनिधि सस्था है जिसे सम्पूर्ण देश के लिए बोलने का अधिकार है।

सहमति से निर्णय एवं समायोजन का सिद्धान्त
(Decision Making by Consensus and the Principle of Accommodation)

ग्रेनविन आस्टिन ने सविधान-निर्माण के सन्दर्भ मे भारत के

यागदानों की चर्चा की है—प्रथम, सहमति से निर्णय की, एवं द्वितीय, समायोजन के सिद्धान्त की।[1] संविधान-सभा ने सभी दृष्टिकोणों और सुझावों पर ध्यान दिया, लोकतान्त्रिक ढग से कार्य किया और अपने निर्णय थोपने की कोई चेष्टा नहीं की।

सहमति से निर्णय

(Decision-Making by Consensus)

ग्रेनविल ग्रास्टिन ने लिखा है कि सहमति एक वह तरीका है जिसमें सर्वसम्मति अथवा लगभग सर्वसम्मति से निर्णय लिए जाते हैं। यह वह तरीका है जिसके द्वारा किसी निर्णय को वह महत्त्व दिया जाता है जो स्वयं उस निर्णय से कहीं अधिक होता है। इसकी यह मान्यता है कि 52 व्यक्तियो द्वारा शेष 48 व्यक्तियों पर अपनी इच्छा थोपना राजनीतिक दृष्टि से अबुद्धिमतापूर्ण है। सहमति की धारणा यह मानकर चलती है कि कोई भी निर्णय तभी राजनीतिक और मौलिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होगा जब उसके सम्बन्ध मे 100 व्यक्तियों मे से 90 मे परस्पर सहमति होगी। संविधान-सभा ने इस धारणा को मूर्तरूप प्रदान किया। सहमति के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विविध तरीके अपनाए गए—

प्रथम, कांग्रेस विधान-मण्डल की बैठको मे संविधान की प्रत्येक धारा पर खुलकर वाद-विविद किया गया। इन बैठकों मे अम्बेडकर, आयंगर, ए. के. अय्यर जैसी गैर-कांग्रेसी प्रतिभाओ को भी आमन्त्रित किया गया।

द्वितीय, संविधान-निर्माण से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण समितियों मे विभिन्न समुदायों, हितो और वर्गों को समुचित प्रतिनिधित्व दिया गया। अल्पसख्यक वर्गों के हितो के प्रतिनिधि रूप मे ऐसे चुने हुए व्यक्तियो को ही समितियों में स्थान दिया गया जो संविधान-सभा के सदस्य नही थे। संविधान प्रारूप समिति की अध्यक्षता ऐसे व्यक्ति (डॉ अम्बेडकर) को दी गई जो कांग्रेस का कटु आलोचक रहा था।

तृतीय, संविधान-सभा तथा उसके विभिन्न समितियों की बैठको में 'बहुमत की जीत' के स्थान पर एक दूसरे को समझाने-बुझाने की प्रवृत्ति अपनाई गई। किसी भी सुझाव या सशोधन को अस्वीकार करते समय उसके समुचित कारण बतलाए गए ताकि कोई सदस्य यह अनुभव न करे कि उसके सुझाव का निरादर किया गया है।

चतुर्थ, संविधान-सभा मे वाद-विवाद को पूरा प्रोत्साहन मिला। आलोचना के प्रति सहनशीलता अपनाई गई। लम्बे वाद-विवाद के प्रति असन्तोष व्यक्त नही किया गया। अपने विचार दूसरों पर लादने तथा शीघ्रता से कार्य समाप्त करने की चेष्टा नहो की गई। पूर्ण लोकतान्त्रिक प्रक्रिया से काम किया गया।[2]

संविधान-निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में ही पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान-सभा से आग्रह किया कि सविधान का निर्माण उपयुक्त समय में और यथासम्भव अधिकाधिक सहमति के साथ किया जाना चाहिए। सदस्यो ने इस आग्रह

1 *Granville Austin : op. cit., pp. 311-321.*
2 एम. वी. पायली : भारतीय संविधान, पृष्ठ 50.

को माना और विविध तरीकों से इसे क्रियान्वित किया। गैर-कॉंग्रेसी व्यक्तियों को भी इसलिए आमन्त्रित किया गया क्योकि नेतृत्व का यह विश्वास था कि इन लोगो के प्रतिभाओं का उपयोग किया जाना चाहिए। सभा की समिति-व्यवस्था, सभा में प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार के नेताओं के बीच संवाद, विभिन्न सरकारो के मध्य पत्र-व्यवहार तथा सभा के नेताओं और विरोधी सदस्यों के बीच रिकार्ड के अतिरिक्त हुआ विचार-विमर्श, ये सभी गतिविधियाँ इसी प्रक्रिया का भाग थी। इन सबका उद्देश्य एकता की दिशा मे एक विवेकपूर्ण और न्यायोचित दृष्टि का विकास करना था।

सविधान-सभा मे नेहरू और पटेल शक्ति के केन्द्र-बिन्दु थे। किसी प्रश्न पर यदि उनमे परस्पर मतभेद होता तो उनके इर्द-गिर्द समर्थक एकत्रित हो जाते थे। फलस्वरूप सविधान-सभा मे बहुत लम्बी चलती थी। यह स्थिति सम्पत्ति सम्बन्धी धाराओ के मामले में उभर कर सामने आई। लेकिन जब उनके आपसी मतभेद दूर हो जाते थे तो सामान्यजन के सामने इसके सिवाय कोई विकल्प ही नही होता था कि वे भी अपने मतभेदों को भुलाकर सर्वसम्मति से निर्णय लें। नेहरू और पटेल के पारस्परिक सम्बन्ध, जितना विश्वास किया जाता है, उससे कही अधिक सौहार्द्रपूर्ण थे। ये दोनों ही विभूतियाँ एक-दूसरे पर अपनी योग्यताओं की पूर्ति के लिए निर्भर थी, पर नेहरू पटेल पर सम्भवतः अधिक निर्भर थे। प्रत्येक की अपनी विशेषीकृत रुचियाँ थी। पटेल देशी रियासतो, लोक-सेवाओ और गृह-मन्त्रालयो के कार्यों में अधिक रुचि रखते थे जबकि नेहरू की विशेष रुचि मूल अधिकारों, अल्पसख्यको के अधिकारों की सुरक्षा और संविधान के सामाजिक सुधारों में थी। दोनो नेताओ ने एक दूसरे की इन निर्दिष्ट क्षेत्रो में लगभग प्रभुता स्वीकार की। दोनों ही नेता अधिकतर सायंकाल के समय पारस्परिक और दिन भर की अन्य गतिविधियो के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत स्तर पर बातचीत करते थे और बहुधा किसी मान्य निर्णय तक पहुँच जाते थे। सविधान-सभा मे अगले दिन सुबह वे इस समझौते के बारे मे अपने-अपने समर्थको को अवगत कराते थे और उनसे बहस आदि के बाद अन्ततः उनका समर्थन प्राप्त कर लेते थे। सविधान मे आदर्शवादी, व्यावहारिक, प्रशासनिक एव तकनीकी प्रकृति की धाराओ का समावेश मुख्यतः इन दोनो विभूतियो के संयुक्त प्रभाव का सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। परन्तु नेहरू व पटेल ही संविधान-सभा में एक मात्र शक्तिशाली व्यक्ति नही थे, इस अल्पतन्त्र में उनके कुछ अन्य सहयोगी भी थे, जैसे आजाद और विशेषकर प्रसाद। उनका भी बहुत अधिक प्रभाव था। प्रसाद इस प्रभाव का खुलकर प्रयोग नही कर पाते थे क्योकि सविधान-सभा मे उनका अध्यक्ष पद इसमे व्यवधान डालता था परन्तु पार्श्व से उनके द्वारा दिए गए सुझावों मे काफी दम होता था।

सविधान-निर्माण में सहमति अथवा सर्वसम्मति से निर्णय की पद्धति के उदाहरण है—सविधान के संघीय और भाषाई प्रावधान तथा [illegible] सम्बन्धित व्यवस्थाएँ। सविधान-सभा ने भारत के सघीय ढाँचे पर विस्तार से [illegible]

विमर्श किया जो 1947 हलाया।की बसन्त ऋतु से नवम्बर, 1949 तक च प्रयत्न किया गया कि सांविधानिक प्रावधानो के प्रति केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधियों को सन्तोष हो। इसके लिए प्रान्तीय राजनीतिक विभूतियों को महत्त्वपूर्ण समितियो मे स्थान दिया गया और सभी प्रमुख निर्णयो में उनका हाथ रहा। 'संघीय शक्ति समिति' ने विभिन्न प्रान्तों और रियासतों की राजनीति के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति—पन्त, मितर, कृष्णामाचारी, रामास्वामी, मुदालियर आदि—को स्थान दिया। भाषाई विवाद का सर्वसम्मत हल ढूंढने के लिए सविधान-सभा के लगभग पूरे कार्यकाल मे प्रयत्न किए गए। सभा की अन्तिम बैठक शुरू होने पर अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि वे भाषाई प्रावधानो को मतदान के लिए नहीं रखेंगे, क्योंकि यदि कोई हल सम्पूर्ण देश को मान्य नही है तो उसे लागू करना बहुत कठिन हो जाएगा। अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में की गई व्यवस्थाएँ, संविधान के प्रस्तावना, ससद् के सम्बन्ध मे किए गए प्रावधान भी सर्वसम्मति के आधार पर किए गए निर्णयों के आदर्श उदाहरण है।

निष्कर्षतः सविधान-सभा मे बहुमत के बल पर निर्णय लेने के बजाय सब की सहमति प्राप्त करने की कोशिश की गई। सविधान-सभा का सारा काम इसी भावना से ओतप्रोत था। नेताओ का यह मानना था कि वे महज कोई दस्तावेज नही बना रहे है बल्कि एक राष्ट्र का निर्माण कर रहे है। उन्होंने नींव को मजबूत बनाने मे पूरा जोर लगाया।[1]

समायोजन का सिद्धान्त
(The Principle of Accommodation)

"संविधान के निर्माण मे भारत का दूसरा मौलिक योगदान समायोजन का है। समायोजन अनुकूलता और सामजस्य की क्षमता है जिसका उद्देश्य सद्भावना का प्रसार और किसी कार्य को उसके स्वरूप को बदले बिना सम्पादित करना है।" समायोजन के सिद्धान्त द्वारा दो ऐसे तत्त्वों के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है जो परस्पर विरोधी हो। संविधान-सभा ने अपने कार्य में सिद्धान्तवादिता के स्थान पर व्यावहारिकता के दृष्टिकोण को अपनाया।

"संविधान-सभा की इच्छा थी कि सहमति द्वारा निर्णय लिए जाएँ, लेकिन सांविधानिक धाराओं का प्रत्येक भाग इस प्रकार तैयार नही हो सकता था। इसके अलावा सविधान-सभा एक ससदीय स्था थी जिसका उद्देश्य एक ऐसी संसदीय लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के लिए संविधान की रचना करना था जहाँ संख्यात्मक अनुपात शासन का आधार हो। इस स्थिति मे सहमति किस प्रकार अर्जित की जा सकती थी? संविधान-सभा ने समस्या का समाधान दो स्तरों पर सामना करके किया। कम महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर सहमति प्राप्त की जा सकती थी लेकिन आवश्यक होने पर मतदान का भी प्रावधान था। परन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों पर सहमति द्वारा ही निर्णय लिए जाते थे।"

1 रजनी कोठारी : वही, पृष्ठ 78.

संविधान-सभा द्वारा समयोजन के सिद्धान्त को अपनाए जाने के कुछ प्रमुख उदाहरण इस प्रकार है—

प्रथम, शासन की संघीय और एकात्मक व्यवस्थाएँ आभासी रूप मे (Apparently) परस्पर विरोधी है। अमेरिकी या ब्रिटिश विधि विशेषज्ञ के मतानुसार किसी संविधान को या तो संघीय होना चाहिए या एकात्मक। परन्तु भारतीय संविधान परिस्थितियों के अनुकूल संघात्मक भी है और एकात्मक भी। यह संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के समन्वय का सुन्दर उदाहरण है।

द्वितीय, राष्ट्र-मण्डल मे भारतीय सदस्यता का प्रश्न भी संविधान-सभा के लचीले दृष्टिकोण का उदाहरण है। 1947 तक यही समझा जाता था कि कोई गणतन्त्रीय राज्य राष्ट्र-मण्डल का सदस्य नही हो सकता। किन्तु संविधान-सभा ने राष्ट्र-मण्डल के लचीले स्वरूप को ध्यान मे रखते हुए राष्ट्र-मण्डल के सदस्यता को गणतन्त्रीय व्यवस्था अपनाने के मार्ग मे बाधक नही माना। संविधान सभा मे यह निर्णय लिया गया कि भारत एक गणतन्त्र होगा पर साथ ही वह एक ऐसे संगठन का सदस्य भी हो सकता है जिसके सर्वोच्च पद पर ब्रिटिश सम्राट् है। इस तरह संविधान-सभा ने यह पहला उदाहरण प्रस्तुत किया जिसमे गणतन्त्रवाद और राजतन्त्र के मध्य सामंजस्य स्थापित किया गया।

तृतीय, केन्द्रीयकृत शासन और पंचायत व्यवस्था के बीच समन्वय स्थापित किया गया। संविधान-सभा के सभी सदस्यों ने एक सशक्त केन्द्रीय सरकार का होना आवश्यक समझा पर साथ ही उन्होंने यथासम्भव विकेन्द्रीयकरण का भी समर्थन किया। केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीयकरण के दोनो सिद्धान्तो को भारतीय संविधान मे स्थान दिया गया। केन्द्रीकरण को एक सांविधानिक सिद्धान्त बनाया गया और उसका प्राथमिक कार्य केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारो के सम्बन्धो को प्रभावित करना था। विकेन्द्रीकरण को प्रान्तीय सरकार के स्तर के नीचे कार्य करना था और सम्बन्धित अधिकांश व्यवस्थापन प्रान्तीय विधान-मण्डलो को करना था। संविधान की धारा 40 इन दोनों विरोधी प्रतीत होने वाले विचारो मे समायोजन करने की एक सजग व्यवस्था थी।

संविधान-सभा ने सहमति से निर्णय और समायोजन के सिद्धान्त का अनुकरण कर विश्व के संविधान विशेषज्ञों के सामने एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया।

11 भारतीय संविधान : विशेषताएँ और संघवाद

(THE INDIAN CONSTITUTION : ITS SALIENT FEATURES AND FEDERALISM)

संविधान-सभा में 2 वर्ष 11 महीने और 19 दिन का समय लगाकर भारत के नवीन संविधान का निर्माण किया गया। 26 नवम्बर, 1949 को संविधान-सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर के बाद भारत का संविधान पूरा हो गया। संविधान की कुछ धाराओं को 26 नवम्बर को क्रियान्वित कर दिया गया, लेकिन सम्पूर्ण संविधान को 26 जनवरी, 1950 को देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सब प्रदेशों और सब जातियों पर लागू कर दिया गया।

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ
(Salient Features of the Indian Constitution)

भारत का संविधान समाजवाद, पूँजीवाद या साम्यवाद जैसे किसी विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक दर्शन का अनुगामी नहीं है। उसके मूल सिद्धान्त किन्हीं वादों और सूत्रों की सीमाओं से बँधे न होकर, व्यावहारिक है। संविधान में किसी वर्ग विशेष के हितों का संरक्षण नहीं किया गया है वरन् वह साधारण जनहित की भावना से अनुप्राणित है। उसमें मानवाधिकारों की सुरक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संविधान के मूल सिद्धान्त उसकी प्रस्तावना में, मूल अधिकारों सम्बन्धी तीसरे भाग में और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों सम्बन्धी चौथे भाग में विशेष रूप से उल्लिखित हैं।

संविधान की प्रस्तावना : प्रभुता और एकता

संविधान की प्रस्तावना में समूचे संविधान का सार है। इसमें जिन तथ्यों, सिद्धान्तों और आदर्शों का निरूपण हुआ है वे समूचे संविधान में विद्यमान हैं। डॉ. सुभाष काश्यप के अनुसार—"प्रस्तावना आधुनिक युग की तीन महान् क्रान्तियों से प्रभावित है—फ्रांसीसी, अमेरिकी और रूसी। फ्रांसीसी क्रान्ति में स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व पर बल दिया गया था, अमेरिकी क्रान्ति में राजनीतिक स्वतन्त्रता

तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर और रूसी क्रान्ति में आर्थिक समानता पर। भारतीय क्रान्ति के सूत्रधारों ने प्रारम्भ से ही इन तीनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।"

संविधान की जो मूल प्रस्तावना थी उसमें 42वें सांविधानिक संशोधन द्वारा कुछ शब्द और भाव जोड़े गए। संशोधित प्रस्तावना (जिसमें समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, तथा अखण्डता—ये नए शब्द जोड़े गए हैं) इस प्रकार है—

"हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, समाजवादी, **धर्मनिरपेक्ष**, लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान-सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी) को इस एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते है।"

44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 (जिसे 30 अप्रैल, 1979 को राष्ट्रपति ने स्वीकृति प्रदान की) द्वारा 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत 'धर्मनिरपेक्ष' और 'समाजवादी' शब्दों को बनाए रखा गया है। इस संशोधन के अनुसार 'धर्मनिरपेक्षता' का आशय है—सभी धर्मों के प्रति समान आदर, एवं 'समाजवाद' का अर्थ है—सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण से मुक्ति।

प्रस्तावना का विश्लेषण करने पर ये मुख्य बातें स्पष्ट होती है—

(1) प्रभुसत्ता अन्ततः जनता में निहित है। सरकार अथवा राजसत्ता के विभिन्न अंगों को जो भी शक्तियाँ प्राप्त हैं, उनका स्रोत जनता है।

(2) 'हम भारत के लोग' पदावली से प्रकट है कि सारे भारत के लोग 'एक' हैं। संविधान का निर्माण राज्यों या राज्यों के लोगों ने नहीं किया है बल्कि सम्पूर्ण भारत के लोगों ने अपनी सामूहिक क्षमता में किया है।

(3) संविधान को भारत की जनता ने निर्मित और अंगीकृत किया है, अतः भारतीय संघ का कोई राज्य या अवयवी एककों का समूह संविधान को समाप्त नहीं कर सकता अथवा संविधान द्वारा निर्मित संघ से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता।

(4) भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है। भारत में लोकतन्त्र व्यापक दृष्टिकोण से अपनाया गया है जिसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र शामिल है।

(5) संविधान न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व और राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है।

संविधान की अन्य विशेषताएँ

स्वतन्त्र भारत के संविधान की अन्य प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **लिखित और विश्व का सबसे बड़ा संविधान**—भारत का संविधान पूर्ण रूप से लिखित और विश्व के संविधानों में सबसे बड़ा विस्तृत है। 44 संशोधनों के पश्चात् संविधान मे अब कुल 404 अनुच्छेद हो गए हैं जो 24 भागों में विभक्त हैं और इसके साथ नौ अनुसूचियाँ भी हैं। मूल संविधान मे कुल 395 अनुच्छेद थे जो 22 भागों में विभाजित थे।

भारतीय संविधान की इस व्यापकता के कुछ मुख्य कारण ये हैं—(1) शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया गया है, (2) केन्द्रीय सरकार के साथ ही राज्य सरकारों के ढाँचे का भी वर्णन है, (3) केन्द्र और राज्यों के बीच के जटिल सम्बन्धों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है, (4) संघ और राज्य-सूची के साथ ही समवर्ती सूची भी सम्मिलित है, एवं (5) मौलिक अधिकारों के अतिरिक्त राज्य-नीति के निर्देशक तत्त्व भी विस्तार से उल्लिखित हैं।

(2) **एकल नागरिकता**—सारे भारत में केवल एक नागरिकता 'भारतीय नागरिकता' है। प्रत्येक भारतीय सम्पूर्ण देश का नागरिक है, पृथक् से किसी राज्य का नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे संघात्मक संविधानों में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त है, अपने राज्य की और संघ की। लेकिन भारत मे एक ही नागरिकता प्रदान कर देश के लिए समान शासन-व्यवस्था का निरूपण किया गया है। नागरिकता का विनियमन करने का अधिकार संघीय संसद् को है, राज्यों का उसमें कोई हाथ नहीं है।

(3) **समाजवादी राज्य**—संविधान-सभा में इस प्रश्न पर बड़ा वाद-विवाद हुआ था कि भारत समाजवाद को राज्य-दर्शन के रूप में स्वीकार करे या नहीं। अन्त में यही विचार मान्य हुआ कि किसी एक विशेष दर्शन को स्वीकार करने से नवीन विवादों को जन्म मिलेगा। फिर भी इस बात के प्रति आम सहमति थी कि भारत के लिए समाजवाद का मार्ग ही उपयुक्त हो सकता है। इसी सामान्य भावना को आधार मानकर 42वें सांविधानिक संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में भारत को "समाजवादी राज्य" (*Socialist State*) घोषित किया गया। मार्च 1977 में जनता पार्टी सत्तारूढ़ हुई जिसने 44वें सांविधानिक संशोधन द्वारा 42वें संशोधन की अनेक असंगतियों और 'अवांछित बातों' को दूर किया। लेकिन प्रस्तावना में 'समाजवादी' शब्द को रहने दिया गया। 44वें संशोधन अधिनियम में समाजवाद का अर्थ बतलाया गया है—सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक शोषण से मुक्ति।

उल्लेखनीय है कि प्रस्तावना में भारत को 'समाजवादी राज्य' घोषित करने से भारत किसी विशेष दर्शन से बँधा नहीं है। प्रथम, प्रस्तावना को 'न्याय योग्य' स्थिति प्राप्त नहीं है। द्वितीय, समाजवाद शब्द स्वयं में बहुत अधिक अस्पष्ट और साथ ही बहुत अधिक व्यापक है। भारतीय राजनीतिक नेतृत्व अनेक बार यह स्पष्ट

कर चुका है कि देश अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुकूल समाजवाद को अपनाएगा और भारतीय समाजवाद अन्य अधिक परिचित समाजवादों से भिन्न होगा।

(4) **धर्मनिरपेक्ष राज्य**—संविधान 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' (Secular State) की स्थापना करता है। संविधान का धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपबन्ध, धर्मनिरपेक्ष अथवा असाम्प्रदायिक राज्य की आधारशिला है। धर्मनिरपेक्ष राज्य अधार्मिक या धर्म-विरोधी नहीं होता, अपितु केवल विभिन्न धर्मों के सन्दर्भ में पूर्ण तटस्थ रहता है। किसी धर्म-विशेष में उसका लगाव नहीं होता। भारतीय संविधान के अनुसार राज्य के अन्तर्गत धर्म को नितान्त वैयक्तिक मामला समझा गया है, उसे राजनीति पर हावी नहीं होने दिया गया।

मूल संविधान में भारत को स्पष्टतः 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य घोषित नहीं किया गया है तथापि ऐसी व्यवस्थाएँ की गई जिनके कारण इसे धर्मनिरपेक्ष राज्य का रूप प्राप्त हो गया। प्रस्तावना में सभी नागरिकों को धर्म, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता दी गई है। मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत कहा गया है कि राज्य धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर अपने नागरिकों में कोई भेद-भाव नहीं करेगा। संविधान में धार्मिक अल्पमतों को आश्वासन दिया गया है कि वे अपनी भाषा की रक्षा कर सकेंगे तथा उन्हें अपनी इच्छानुसार शिक्षण-संस्थाएँ चलाने का अधिकार होगा। 42वें सांविधानिक संशोधन में संविधान की प्रस्तावना में भारत को स्पष्ट रूप से 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य घोषित कर दिया और इस प्रकार संविधान की धर्मनिरपेक्षता को और अधिक बल प्रदान किया गया। 44वें सांविधानिक संशोधन में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्दों को बने रहने दिया गया है। इस संशोधन के अनुसार धर्मनिरपेक्षता का आशय है—"सभी धर्मों के प्रति समान आदर।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी प्रगतिशील राज्य धर्मनिरपेक्षता की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। भारत की एकता और भारतीय प्रजातन्त्र की सफलता धर्मनिरपेक्षता के आदर्श पर बहुत कुछ निर्भर है। संविधान की धर्मनिरपेक्षता नकारात्मक नहीं, सकारात्मक है। जहाँ एक ओर यह धार्मिक कट्टरता को निरुत्साहित करता है वहाँ यह भी स्थापित करता है कि व्यक्तियों को अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए किन्हीं अन्य धर्मों के विरोध का अधिकार नहीं होगा। संविधान की धर्म निरपेक्षता धार्मिक स्वतन्त्रता के नाम पर किसी धर्म के अनुयायियों को सार्वजनिक हित, व्यवस्था और नैतिकता के विरुद्ध आचरण की छूट नहीं देती। यह इस बात की इजाजत नहीं देती कि धार्मिक स्थानों की सम्पत्ति का दुरुपयोग किया जाए। संविधान की धर्मनिरपेक्षता के होते हुए भारतीय शासन में 'हिन्दू कोड बिल' के आधार पर हिन्दुओं के धार्मिक जीवन को सुधारा गया है और इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि भविष्य में मुसलमानों के परम्परागत कानून में संशोधन करके उनके सामाजिक जीवन को भी सुधारने का प्रयत्न किया [illegible] पंडित नेहरू ने कहा था—"साम्प्रदायिकता और [illegible] हमारी [illegible] मार्ग की सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। [illegible]

को तो अपना लिया है किन्तु धर्मनिरपेक्षता अभी तक हमारे सामाजिक जीवन का अंग नहीं बन पाई है। वस्तुत यही वह लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने के लिए हम सबको प्रयत्न करना है।"

(5) **सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना**—संविधान भारत को पूर्ण रूप से प्रभुता-सम्पन्न गणराज्य घोषित करता है जिस पर कानूनी दृष्टि से किसी आन्तरिक अथवा वाह्य शक्ति का प्रतिबन्ध नहीं है। यद्यपि संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण किया गया है, तथापि यहाँ विभाजित प्रभुता के सिद्धान्त के लिए कोई स्थान नहीं है। सामान्य काल में शक्तियों का वितरण कायम रखने की व्यवस्था है, लेकिन आपात्काल में और कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में संघीय सरकार राष्ट्रहित में राज्यों की शक्तियों का अतिक्रमण कर सकती है।

राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत की प्रभुसत्ता पर कोई आघात नहीं पहुँचता। राष्ट्रमण्डल प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों का एक ऐच्छिक निकाय है जिसमें रहना या न रहना भारत की इच्छा पर है।

भारत लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है, लोकतन्त्र केवल मात्र एक शासन-व्यवस्था ही नहीं है। भारतीय संविधान में "लोकतन्त्र को जीवनयापन की एक सम्पूर्ण व्यवस्था के रूप में, जीवन के एक समग्र दर्शन के रूप में" अपनाया गया है। संविधान राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र का आधार भी प्रस्तुत करता है।

(6) **आत्मा से एकात्मक, स्वरूप से संघात्मक शासन की स्थापना**—भारत का संविधान एकात्मक आत्मा वाला संघीय संविधान है। संविधान भारत में एक संघ की स्थापना करता है। इसमें संघात्मक संविधान की सभी विशेषताएँ निहित हैं यथा—(1) लिखित विधान, (2) राज्यों तथा केन्द्र के बीच विवादों का निर्णय करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय, (3) सम्यक् नागरिकता, (4) केन्द्र और राज्यों की शक्तियों का स्पष्ट वितरण, किन्तु इसके साथ ही भारतीय संविधान में कुछ विशेषताएँ ऐसी है जो एकात्मक सिद्ध करती है, यथा—(क) संघ किसी भी दशा में भंग नहीं किया जा सकता और न कोई इकाई ही अपना पृथक् संविधान बना सकती है, (ख) संकट-काल में यह एकात्मक संविधान की भाँति कार्य करता है, तथा (ग) हमारे संघ का निर्माण अन्य देशों के विपरीत एकात्मक राज्य से हुआ है।

(7) **सार्वभौम वयस्क मताधिकार**—जहाँ विश्व के अनेक समुन्नत और समृद्ध लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों में स्त्रियों को मतदान का अधिकार काफी संघर्ष के बाद प्राप्त हुआ वहाँ भारत के संविधान ने देश के प्रत्येक वयस्क नर-नारी को एकदम एक साथ मताधिकार प्रदान कर देश में एक नई सामाजिक क्रान्ति का आरम्भ किया है।

(8) **संसदीय सरकार की स्थापना**—संविधान ने अमेरिका की अध्यक्षात्मक प्रणाली के स्थान पर ब्रिटिश परम्परा के अनुसार भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना की है। भारत सरकार का प्रधान यद्यपि एक राष्ट्रपति है, तथापि उसकी स्थिति बहुत कुछ सांविधानिक प्रधान मात्र की है, वास्तविक कार्यकारी शक्तियाँ

मन्त्रिमण्डल में निहित हैं जो संसद् के प्रति उत्तरदायी है। लोकसभा अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रिमण्डल को कभी भी पदच्युत् कर सकती है. पर भारत की संसदीय प्रणाली में. ब्रिटिश सम्राट् के समान, भारत के राष्ट्रपति के आदेशों पर मन्त्रियों के हस्ताक्षर आवश्यक नहीं हैं। इसी तरह भारत का राष्ट्रपति संसद् के किसी भी सदन को अथवा दोनों सदनों को कोई सन्देश भेज सकता है और साधारण विधेयकों पर अस्थाई 'वीटो' (Vcto) का प्रयोग भी कर सकता है। राज्य के राष्ट्रपति के पद में स्थायित्व लाकर संविधान-निर्माताओं ने भारत के संवैधानिक प्रधान के लिए अमेरिका को आदर्श माना है। इस प्रकार भारतीय संविधान में शासन-प्रणाली प्रधानतः संसदीय होते हुए भी उसमें अध्यक्षीय शासन-प्रणाली के तत्त्व सम्मिलित हैं।

(9) **मौलिक अधिकार**—संविधान में नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं। इन मौलिक अधिकारों का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना है। नागरिकों को समता और स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, सांविधानिक उपचारों का अधिकार आदि प्रदान किए गए हैं। देश के प्रत्येक 21 वर्ष के नर-नारी को बिना किसी भेद-भाव के मतदान का अधिकार है। संविधान में साम्प्रदायिक निर्वाचनों का अन्त कर संयुक्त निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की गई है जिससे भारत की एकता मजबूत रहती है। छुआछूत को समाप्त कर दिया गया है और बेगार को कानून द्वारा बन्द कर दिया गया है।

(10) **अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा**—संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों का विशेष ध्यान रखा गया है। अनुसूचित जातियों के लिए विधान-मण्डलों में स्थान सुरक्षित रखे गए हैं। सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए इन्हें [illegible] विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। इनमें शिक्षा का प्रसार करने तथा आर्थिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए संविधान में विशेष रूप से व्यवस्था है। संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजाति क्षेत्रों के नागरिकों को नौकरी, विधान-मण्डलों और अन्य क्षेत्रों में आरक्षण आरम्भ में 1960 तक के लिए दिया गया था किन्तु 23वें संशोधन द्वारा इसे जनवरी 1980 तक बढ़ाया गया और अब एक संशोधन द्वारा इसे आगामी दस वर्ष के लिए बढ़ाया जा रहा है।

नीति-निर्देशक सिद्धान्त ये है—(i) समान कार्य के लिए समान वेतन, (ii) सभी नागरिको को जीवन-निर्वाह के साधनो का समान अधिकार, (iii) स्वास्थ्य सचरण और शोषण से सुरक्षा, (iv) अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का प्रयास और कलात्मक तथा ऐतिहासिक वस्तुओ की सुरक्षा, (v) ग्राम पचायतो की स्थापना और स्वशासन की क्रियाशील इकाइयो के रूप मे उनका विकास, (vi) न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण, तथा (vii) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की वृद्धि का प्रयत्न, आदि ।

(12) स्वतन्त्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका—दुर्गादास वसु के शब्दो में—"भारतीय संविधान मे विचित्र ढग से अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त और ब्रिटिश ससदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त के बीच का मार्ग ग्रहण किया गया है ।" अमेरिका की भाँति भारत में स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायपालिका की व्यवस्था है जिसे न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त है । वह केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक विवादो का निर्णय करता है । न्यायाधीशो की नियुक्तियाँ कार्यपालिका द्वारा की जाती है, लेकिन उनको अपदस्थ करने की शक्ति कार्यपालिका में निहित नही है । उन्हे केवल महाभियोग द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकता है । सर्वोच्च न्यायालय को विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की गई है और कार्यों को निष्पक्षता से पूर्ण करने के लिए न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए संविधान मे आवश्यक उपबन्धों का प्रावधान है ।

सविधान का धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपबन्ध, धर्मनिरपेक्ष अथवा असाम्प्रदायिक राज्य की आधारशिला है । धर्मनिरपेक्ष राज्य अधार्मिक या धर्म-विरोधी नही होता, अपितु केवल विभिन्न धर्मों के संदर्भ में पूर्ण तटस्थ रहता है । किसी धर्म-विशेष मे उसका लगाव नही होता । भारतीय संविधान के अनुसार राज्य के अन्तर्गत धर्म को नितान्त वैयक्तिक मामला समझा गया है, उसे राजनीति पर हावी नही होने दिया गया ।

(13) संविधान कुछ लचीला और कुछ कठोर—भारतीय सविधान लचीलेपन (Flexibility) और कठोरता (Rigidity) का सुन्दर सम्मिश्रण है । यह न तो इतना कठोर है जितना अमेरिका का संविधान और न इतना लचीला है जितना इग्लैण्ड का सविधान । भारतीय सविधान के सभी अनुच्छेदो के संशोधन की प्रणाली एक सी नही है । सशोधन की दृष्टि से सविधान के अनुच्छेदों को तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है—

प्रथम श्रेणी मे कुछ ऐसे अनुच्छेद है जिनमे ससद् साधारण बहुमत से ही सशोधन कर सकती है । नए राज्यो का निर्माण, राज्यों का पुनर्गठन, नागरिकता सम्बन्धी कानून आदि विषय इसी श्रेणी मे आते है ।

द्वितीय श्रेणी मे कुछ ऐसे अनुच्छेद सम्मिलित हैं जिनमे सशोधन के लिए ससद् के दोनो सदनों द्वारा अपने कुल सदस्यो के बहुमत से और उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है । सविधान के अधिकांश अनुच्छेद इसी श्रेणी में आते है ।

तृतीय श्रेणी में वे अनुच्छेद आते हैं जिनका सम्बन्ध भारत में संघीय शासन की स्थापना से है। इनमें संशोधन के लिए संसद् के सभी सदस्यों के साधारण बहुमत और उपस्थित मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत के अतिरिक्त कम से कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलों का अनुसमर्थन भी आवश्यक है। संशोधन की यह प्रणाली कठोर है।

(14) संविधान पर व्यापक विदेशी प्रभाव—हमारे संविधान पर विदेशी प्रभाव बहुत अधिक है। संविधान का निर्माण करते समय संविधान-निर्माताओं ने संसार के सभी श्रेष्ठ संविधानों से सहायता ली और उन्हें अपने देश की विशेष आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया। हमारे नवीन संविधान का एक प्रमुख स्रोत 1935 का भारत-सरकार अधिनियम है। संविधान के आकार, उसकी विषय-सूची और उसकी भाषा आदि पर इस अधिनियम की गहरी छाप दृष्टिगोचर होती है। ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड, आयरलैण्ड एवं दक्षिणी अफ्रीका के संविधानों का हमारे संविधान पर स्पष्ट प्रभाव है। संविधान के सम्पूर्ण संसदीय स्वरूप और उसकी क्रियान्विति के नियमों को ब्रिटिश संविधान तथा उसकी परम्पराओं से लिया गया है। संविधान की प्रस्तावना, मूलाधिकार, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान की रक्षा, संविधान की संशोधन प्रक्रिया आदि पर अमेरिकी संविधान की छाप है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक-मण्डल का प्रावधान आदि व्यवस्थाओं पर आयरलैण्ड के संविधान का प्रभाव है। कनाडा के संविधान के आदर्श पर ही भारतीय संघ को भी 'यूनियन' (Union) नाम दिया गया है और कनाडा की तरह यहाँ भी अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को प्रदान की गई हैं। केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक विवादों के निपटाने की प्रणाली बहुत कुछ आस्ट्रेलिया के संविधान से ली गई है। भारत के राष्ट्रपति को संकटकालीन अवस्था में संविधान स्थगित करने की जो शक्तियाँ दी गई हैं वे जर्मनी के वाइमर संविधान के समान हैं।

लेकिन इन प्रभावों का यह आशय नहीं है कि हमने दूसरे संविधानों की नकल की है। हमारे संविधान में केवल अन्य संविधानों की अच्छी बातों को ग्रहण कर उन्हें अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला गया है। ऐसा करने में हमारी अपनी मौलिकता रही है, विदेशी संविधान की अन्धे होकर नकल नहीं की गई है। सही अर्थों में भारतीय संविधान एक आदर्श और विशिष्ट संविधान है।

(15) नागरिकों के मूल कर्त्तव्य—संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा संविधान में एक नया 'भाग-4-क' जोड़ा गया है जिसमें नागरिकों के दस मूल कर्त्तव्यों का उल्लेख है। मूल संविधान में नागरिकों के केवल मौलिक अधिकारों का ही उल्लेख किया गया था, उनके कर्त्तव्यों के बारे में कोई स्पष्ट उपबन्ध नहीं थे। इस संशोधन के बाद, संविधान के अधीन अब भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि—

"1. वह संविधान का पालन करे तथा राष्ट्र-ध्वज और राष्ट्र-गान का

आदर करे, 2. स्वतन्त्रता आन्दोलन के आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे, 3. भारत की प्रभुता, एकता व अखण्डता की रक्षा करे, 4. आह्वान करने पर सेना में भरती होकर देश की रक्षा में योग दे, 5. भारत के सभी लोगों में समरसता और भ्रातृभाव निर्माण करे, 6. नारी विरोधी प्रथाओं का त्याग करे, 7. भारत की संस्कृति का परिरक्षण करे, 8. प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और संवर्द्धन तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखे, 9. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे, तथा 10. सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करे और व्यक्तिगत तथा सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष के लिए प्रयास करे।"

(16) सामाजिक समानता की स्थापना—सामान्यतः संविधानों में नागरिकों की राजनीतिक और कानूनी समानता पर ही बल दिया जाता है, सामाजिक समानता पर नहीं। किन्तु भारतीय संविधान की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सामाजिक क्षेत्र में भी नागरिकों की समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अनुच्छेद 17 में कहा गया है- -"अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किसी भी रूप में अस्पृश्यता का आचरण कानून के अनुसार दण्डनीय होगा।" सामाजिक समानता की स्थापना के लिए ही दलित वर्गों की गिरी हुई स्थिति में सुधार लाने के लिए संविधान में व्यवस्थाएँ की गई हैं।

(17) एक राष्ट्र भाषा की व्यवस्था—संविधान-निर्माता राष्ट्रीय एकता के प्रति जागरूक थे। अतः उन्होंने संविधान में हिन्दी को देवनागरी लिपि में भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया। किन्तु, व्यावहारिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद तक संघीय सरकार के कार्यालयों में अंग्रेजी के प्रयोग की अनुमति भी प्रदान की। 1965 में 'सहभाषा विधेयक' पारित कर हिन्दी के साथ अंग्रेजी को जारी रखने की अनुमति दी गई।

उल्लेखनीय है कि एक राष्ट्र भाषा का प्रावधान क्षेत्रीय भाषाओं की प्रगति में बाधक नहीं है। संविधान में भारतीय भाषाओं को विभिन्न राज्यों में प्रादेशिक भाषा के रूप में प्रयोग के लिए स्वीकार किया गया है।

भारतीय संघवाद : इसकी प्रकृति : क्या भारत एक संघ है ?
(Indian Federalism : Its Nature : Is India a Federation)

संविधान द्वारा भारत के लिए संघात्मक शासन-व्यवस्था अपनाई गई है। किन्तु संविधान में 'संघ-राज्य' (Federation) शब्द का प्रयोग न करके 'राज्यों का संघ' (Union of States) शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'संघ' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर भारत की एकता पर अधिक जोर देने के लिए हुआ है। संविधान-सभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने 'राज्यों के संघ' (Union of States) शब्दावली के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा था —"यद्यपि भारत एक संघ राज्य है, तथापि यह संघ-राज्य राज्यों के किसी प्रकार के पारस्परिक समझौते का परिणाम नहीं है और संघ-राज्य समझौते का परिणाम न होने के कारण, किसी भी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है।"[1]

भारतीय संघवाद विद्वानों के लिए एक प्रश्न-चिन्ह बना हुआ है। संविधान-निर्माण के समय से ही भारतीय शासन-प्रणाली की इस विशेषता पर देश-विदेश में एक बौद्धिक दंगल छिड़ा हुआ है। कारण यह है कि भारतीय संघवाद अपनी प्रकृति में अनोखा है। इसके अनेक रूप देखने को मिलते हैं। समय और आवश्यकता के अनुसार यह अपने स्वरूप में शिथिल और कठोर बन जाता है, शान्तिकाल में संघवाद प्रभावी रहता है तो आपातकाल में यह एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेता है, इसका एकात्मक स्वरूप भिन्न-भिन्न समयों में अलग-अलग प्रकार का होता है और केन्द्र के अलग-अलग राज्यों में समयानुसार अलग-अलग प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। संविधान-निर्माता भलीभाँति समझते थे कि भारत सदियों की गुलामी के बाद आजाद हुआ है अतः उसकी विशिष्ट परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ हैं। इसीलिए उन्होंने एक विशिष्ट प्रकार के संघवाद को जन्म दिया जो संसदीय प्रणाली के सभी प्रमुख लक्षणों को और एकात्मक शासन-व्यवस्था के गुणों को अपनाए हुए है। एच. वी. पाटसकर ने कहा भी था—"हमने संघ के ढाँचे को बनाए रखा है लेकिन उसकी अन्तर्वस्तु में परिवर्तन कर दिया है।" संविधान-सभा में देश की शासन-व्यवस्था के स्वरूप पर खुलकर बहसें हुई और तभी एक ऐसा संविधान अपनाया गया जो 'स्वरूप में संघात्मक किन्तु आत्मा में एकात्मक' है।

भारतीय संघवाद के वास्तविक स्वरूपों अर्थात् हमारी शासन व्यवस्था के संघात्मक-एकात्मक ढाँचे को डॉ. रजनी कोठारी ने कुछ ही पंक्तियों में सुघड़ रूप में चित्रित कर दिया है—

"संसदीय शासन का संघीय ढांचा स्वीकार किया गया, जिसमें केन्द्र और राज्यों में मन्त्रि-मण्डल सरकारें बनाई गई और सरकार को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के लिए लोकतन्त्री ढंग से काम करने का निर्देश दिया गया। राज्य की संस्थाओं का जो ढांचा तैयार हुआ, वह स्वरूप में आधुनिक है किन्तु

1 C. A. D. Vol. VIII, p 927.

आदर करे, 2. स्वतन्त्रता आन्दोलन के आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उसका पालन करे, 3. भारत की प्रभुता, एकता व अखण्डता की रक्षा करे, 4. आह्वान करने पर सेना में भरती होकर देश की रक्षा में योग दे, 5. भारत के सभी लोगों में समरूपता और भ्रातृभाव निर्माण करे, 6. नारी विरोधी प्रथाओं का त्याग करे, 7. भारत की संस्कृति का परिरक्षण करे, 8 प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और संवर्द्धन तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखे, 9 वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे, तथा 10. सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करे और व्यक्तिगत तथा सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष के लिए प्रयास करें।"

(16) **सामाजिक समानता की स्थापना**—सामान्यतः संविधानों में नागरिकों की राजनीतिक और कानूनी समानता पर ही बल दिया जाता है, सामाजिक समानता पर नहीं। किन्तु भारतीय संविधान की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सामाजिक क्षेत्र में भी नागरिकों की समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अनुच्छेद 17 में कहा गया है—"अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किसी भी रूप में अस्पृश्यता का आचरण कानून के अनुसार दण्डनीय होगा।" सामाजिक समानता की स्थापना के लिए ही दलित वर्गों की गिरी हुई स्थिति में सुधार लाने के लिए संविधान में व्यवस्थाएँ की गई हैं।

(17) **एक राष्ट्र भाषा की व्यवस्था**—संविधान-निर्माता राष्ट्रीय एकता के प्रति जागरूक थे। अतः उन्होंने संविधान में हिन्दी को देवनागरी लिपि में भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया। किन्तु, व्यावहारिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद तक संघीय सरकार के कार्यालयों में अंग्रेजी के प्रयोग की अनुभूति भी प्रदान की। 1965 में 'सहभाषा विधेयक' पारित कर हिन्दी के साथ अंग्रेजी को जारी रखने की अनुमति दी गई।

उल्लेखनीय है कि एक राष्ट्र भाषा का प्रावधान क्षेत्रीय भाषाओं की प्रगति में बाधक नहीं है। संविधान में भारतीय भाषाओं को विभिन्न राज्यों में प्रादेशिक भाषा के रूप में प्रयोग के लिए स्वीकार किया गया है।

(18) **विश्व शान्ति का समर्थक**—भारत के परम्परागत 'वसुदैव कुटुम्बकम्' के आदर्श के अनुपालन में संविधान के नीति-निर्देशक तत्त्वों में विश्व शान्ति का समर्थन किया गया है। यह उल्लेख है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का तथा राष्ट्रों के बीच न्याय एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने का प्रयत्न करेगा। भारत की शान्ति, सहअस्तित्व और गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति संविधान-निर्माताओं की इच्छा के अनुरूप है।

संक्षेप में, 1950 का भारत का वर्तमान संविधान एक ऐसा आदर्श प्रलेख है जिसमें सिद्धान्त और व्यावहारिकता का श्रेष्ठ समन्वय किया गया है।

भारतीय संघवाद : इसकी प्रकृति : क्या भारत एक संघ है ?
(Indian Federalism : Its Nature : Is India a Federation)

संविधान द्वारा भारत के लिए सघात्मक शासन-व्यवस्था अपनाई गई है। किन्तु सविधान मे 'सघ-राज्य' (Federation) शब्द का प्रयोग न करके 'राज्यो का संघ' (Union of States) शब्दो का प्रयोग किया गया है। 'सघ' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर भारत की एकता पर अधिक जोर देने के लिए हुआ है। सविधान-सभा मे प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने 'राज्यो के सघ' (Union of States) शब्दावली के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा था—"यद्यपि भारत एक सघ राज्य है, तथापि यह संघ-राज्य राज्यो के किसी प्रकार के पारस्परिक समझौते का परिणाम नही है और सघ-राज्य समझौते का परिणाम न होने के कारण, किसी भी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नही है।"[1]

भारतीय सघवाद विद्वानो के लिए एक प्रश्न-चिन्ह बना हुआ है। सविधान-निर्माण के समय से ही भारतीय शासन-प्रणाली की इस विशेषता पर देश-विदेश मे एक बौद्धिक दगल छिडा हुआ है। कारण यह है कि भारतीय सघवाद अपनी प्रकृति मे अनोखा है। इसके अनेक रूप देखने को मिलते है। समय और आवश्यकता के अनुसार यह अपने स्वरूप मे शिथिल और कठोर बन जाता है, शान्तिकाल में सघवाद प्रभावी रहता है तो आपातकाल मे यह एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेता है, इसका एकात्मक स्वरूप भिन्न-भिन्न समयो मे अलग-अलग प्रकार का होता है और केन्द्र के अलग-अलग राज्यो मे समयानुसार अलग-अलग प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है। सविधान-निर्माता भलीभाँति समझते थे कि भारत सदियों की गुलामी के बाद आजाद हुआ है अत उसकी विशिष्ट परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ है। इसीलिए उन्होने एक विशिष्ट प्रकार के सघवाद को जन्म दिया जो ससदीय प्रणाली के सभी प्रमुख लक्षणों को और एकात्मक शासन-व्यवस्था के गुणों को अपनाए हुए हैं। एच वी. पाटसकर ने कहा भी था—"हमने सघ के ढाँचे को बनाए रखा है लेकिन उसकी अन्तर्वस्तु मे परिवर्तन कर दिया है।" संविधान-सभा मे देश की शासन-व्यवस्था के स्वरूप पर खुलकर बहसें हुई और तभी एक ऐसा सविधान अपनाया गया जो 'स्वरूप में सघात्मक किन्तु आत्मा मे एकात्मक' है।

भारतीय संघवाद के वास्तविक स्वरूपो अर्थात् हमारी शासन व्यवस्था के सघात्मक-एकात्मक ढाँचे को डॉ. रजनी कोठारी ने कुछ ही पंक्तियो मे सुघड रूप में चित्रित कर दिया है—

"ससदीय शासन का सघीय ढांचा स्वीकार किया गया, जिसमे केन्द्र और राज्यों मे मन्त्रि-मण्डल सरकारें बनाई गई और सरकार को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के लिए लोकतन्त्री ढंग से काम करने का निर्देश दिया गया। राज्य की संस्थाओ का जो ढांचा तैयार हुआ, वह स्वरूप में आधुनिक है किन्तु

1 C. A. D. Vol. VIII, p. 927.

राष्ट्रीय एकता और सामाजिक साम्य के ख्याल से उसमें कुछ विशेष व्यवस्थाएँ की गई जिससे वह पश्चिमी नमूने से भिन्न हो जाता है। भारत का राष्ट्रपति केवल नाम का पद है, फिर भी उसको राज्यों में कानून और व्यवस्था भंग होने की स्थिति में बहुत अधिक आपत्कालीन अधिकार दिए गए है। राज्यों के गवर्नर की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, राज्य की जनता या विधान-मण्डल नही। केन्द्रीय सरकार की सलाह पर राष्ट्रपति आपत्कालीन अधिकारो का प्रयोग और नियुक्तियाँ करता है। केन्द्रीय सरकार को देश के राजस्व का अधिकांश भाग और राज्यो पर प्रशासनिक और निर्देशन अधिकार दिए गए हैं। समवर्ती विषयो पर और अन्य कई मामलों में केन्द्रीय ससद् के अधिकार राज्यो के ऊपर हैं और राज्यो में सांविधानिक मशीनरी के टूट जाने पर, संसद् उनके विधान-मण्डलो और शासन के अधिकार ले सकती है। केन्द्र को अवशिष्ट अधिकार भी दिए गए है। इस प्रकार केन्द्र को बहुत शक्तिशाली बनाया गया है। दूसरी ओर ग्राम-पचायतो और स्थानीय स्वशासी सस्थाओ की स्थापना के द्वारा और राज्यो को शासन के बडे काम सौंप कर, शासन व्यवस्था को संघीय रूप दिया गया और शासन में जनता को तथा प्रान्तो, जिलो और गाँवो को भी हिस्सा दिया गया है।"[1] पुनश्च,

"सविधान मे सशोधन की प्रक्रिया सरल रखी गई ताकि सामाजिक स्थिति के अनुसार इसमे परिवर्तन किया जा सके। वित्त आयोग और चुनाव आयोग जैसे स्वायत्त प्राधिकरणो को कार्यविधि मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के अधिकार प्राप्त हैं। यदि न्यायालय समय के विपरीत चले तो ससद् को उनको नियन्त्रित करने का अधिकार दिया गया है। विशेष अधिकार-प्राप्त सम्मेलन और आयोगो के जरिए केन्द्र और राज्यो से मतभेद दूर करने की व्यवस्था की गई है।"

सविधान-सभा मे डॉ० देशमुख की टिप्पणी थी कि "भारतीय संघ न तो संघात्मक है और न एकात्मक ही।" कुछ सदस्यों का मत था कि सविधान मे सघात्मक सिद्धान्त की हत्या कर दी गई है तो यह भी कहा गया कि भारत का सविधान *75 प्रतिशत एकात्मक और 25 प्रतिशत संघात्मक है।*

भारतीय सघवाद की प्रकृति और इसके स्वरूप को समझने के लिए उपयुक्त होगा कि हम क्रमश: निम्नानुसार अपना विवेचन प्रस्तुत करें—

(क) भारतीय सविधान के सघात्मक लक्षण, एवं
(ख) भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण

(क) भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण
(Federal Features of the Indian Constitution)

संघात्मक शासन की परम्परागत और आधुनिक विशेषताएँ

संघात्मक शासन-प्रणाली की परम्परागत विशेषताएँ ये मानी जाती हैं—

(1) दोहरी शासन-प्रणाली : दो प्रकार की सरकारें तथा दोहरे शासन-यन्त्र,

1 रजनी कोठारी : भारतीय राजनीति, पृष्ठ 78-79.

संघ और इकाइयों के अपने अलग-अलग कर्मचारी, संघ और इकाइयों को संविधान से स्वतन्त्र सत्ता मिलना।

(2) संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण, केन्द्र की शक्तियाँ इतनी न हों कि राज्यों के पास कुछ बचे ही नहीं।

(3) संविधान का लिखित, सर्वोच्च और कठोर होना।

(4) स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्यायपालिका जो कि संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करे।

(5) यथासम्भव दोहरी नागरिकता अर्थात् संघ की अलग और इकाई की अलग।

(6) यथासम्भव इकाइयों को संघ से पृथक् होने का अधिकार।

(7) सांविधानिक मामलों को छोड़कर अन्य मामलों में केन्द्र और इकाइयों में अपने-अपने सर्वोच्च न्यायालय होना।

(8) संविधान में इकाइयों की स्वीकृति के बिना संशोधन न किया जाना।

(9) संसद् के द्वितीय सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व देना।

प्रख्यात विधिवेत्ता एम. सी. जे. कागजी के अनुसार संघवाद की आधुनिक विचारधारा निम्नलिखित बातों पर जोर देती है—

(i) संघटक इकाइयों की सरकारों सहित एक संघीय सरकार का अस्तित्व, यथा—संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत के राज्य, कनाडा का प्रान्त अथवा स्विट्ज़रलैण्ड में कैण्टन,

(ii) शक्तियों का वितरण—विधायी, कार्यकारी और वित्तीय,

(iii) निष्पक्ष निर्वाचन (Impartial Arbitrament) की मशीनरी प्रायः एक संघीय सर्वोच्च न्यायालय, एवं

(iv) कानूनों के पदसोपान (Hierarchy of Law) की एक अवधारणा जिसमें संविधानों को उच्चतर कानून माना जाए और संविधान के सम्मान पर बल दिया जाए।[1]

भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण

(1) **दोहरी शासन प्रणाली**—संघात्मक शासन-व्यवस्था के अनुरूप भारतीय संविधान में दो प्रकार की सरकारों और दोहरे शासन-तन्त्र की व्यवस्था है। शासन राज्य तथा केन्द्र दो जगह से चलाया जाता है और दोनों सरकारों के कर्मचारी भी अलग-अलग हैं।

(2) **शक्तियों का विभाजन**—संघीय सिद्धान्त के अनुरूप भारतीय संविधान द्वारा संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन अथवा वितरण किया गया है। संघीय सूची में 97 विषय हैं जिन पर संघीय संसद् को क्षेत्राधिकार प्राप्त है। राज्य सूची के 66 विषय हैं जिन पर साधारणतया राज्य-व्यवस्थापिकाओं को

1 *M C Kagzi* : The Constitution of India, p. 601.

क्षेत्राधिकार प्राप्त है। समवर्ती सूची मे 47 विषय है जिनको संघ और राज्य—दोनों के क्षेत्राधिकार में रखा गया है।[1]

संघीय और राज्य सरकारो के बीच शक्ति विभाजन की व्यवस्था भारतीय संविधान मे अन्य किसी संघात्मक संविधान की तुलना मे अधिक व्यापक है। डॉ० अम्बेडकर ने संविधान-सभा में कहा था कि "संघात्मक सरकार का मुख्य लक्षण संविधान द्वारा विधायी और कार्यपालिका सभा का केन्द्र एवं इकाइयो मे वितरण करना है। हमारे संविधान में इस सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है, अतः यह कहना असत्य है कि राज्यो को केन्द्र के अधीन रखा गया है। केन्द्र अपनी इच्छा से विभाजन रेखा को बदल नही सकता और न ही न्यायालय इसमे परिवर्तन ला सकता है।"

(3) **संविधान की सर्वोच्चता**—भारत का संविधान यद्यपि अमेरिकन संविधान की भाँति यह घोषित नही करता कि संविधान सर्वोच्च होगा, तथापि भारतीय संविधान इस देश का सर्वोच्च कानून है। संविधान की सभी व्यवस्थाएँ केन्द्रीय और राज्य सरकारो पर बाध्यकारी है, वे इनका उल्लघन नहीं कर सकती। संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध विधि-निर्माण सम्भव नही है। राष्ट्रपति, राज्यपाल, प्रधान मन्त्री और विभिन्न प्रमुख पदाधिकारियो द्वारा संविधान के अनुसार कार्य करने की शपथ ली जाती है। देश मे कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नही है।

(4) **स्वतन्त्र और संविधान की रक्षक न्यायपालिका**—संघात्मक व्यवस्था की माँग के अनुरूप भारतीय संविधान स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था करता है जो संविधान की संरक्षक भी है। देश का उच्चतम न्यायालय नागरिको के मौलिक अधिकारो का संरक्षक, केन्द्र और राज्यों के विवादो का निपटारा करने वाला और संविधान का व्याख्याकर्त्ता है। न्यायपालिका को संघीय संसद् अथवा राज्य विधान-मण्डलो द्वारा पारित किसी भी ऐसे कानून को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है जो संविधान के प्रावधानो के विरुद्ध हो। डॉ. के. वी राव के अनुसार "इस दृष्टि से हमारा संविधान सोवियत रूस या स्विट्जरलैण्ड के संविधान से अधिक संघात्मक है।"[2]

(5) **लिखित एवं कठोर संविधान**—संघीय सिद्धान्त के अनुरूप भारतीय संविधान लिखित है। यह 'विश्व का सबसे बड़ा और विस्तृत' संविधान है। हमारा संशोधन की दृष्टि से 'कठोर संविधानों' की श्रेणी मे आता है। यह अमेरिका के संविधान की भाँति कठोर नही है, लेकिन ब्रिटिश संविधान की भाँति पूरी तरह लचीला भी नही है। संविधान मे संशोधन, संविधान में दी गई पद्धति के आधार पर ही किया जा सकता है और यह पद्धति साधारण व्यवस्थापन की पद्धति से भिन्न

1 42वें संशोधन द्वारा राज्य-सूची के विषयो की संख्या घटकर 62 रह गई। शिक्षा, वन, जगली जानवरो और पक्षियों की रक्षा तथा नाप-तौल राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची मे रख दिए गए। 44वें संशोधन मे व्यवस्था की गई कि शिक्षा और वन को पुन: राज्य सूची मे रखा जाए।

2 *K V. Rao* : Parliamentary Democracy in India, p. 280.

है। संविधान द्वारा केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच जो शक्ति विभाजन किया गया है उसमें कोई भी सरकार अपनी इच्छा से परिवर्तन नहीं कर सकती है। इन प्रावधानों में परिवर्तन दोनों की सहमति से ही सम्भव है।

उपरोक्त प्रावधान यह स्पष्ट करते है कि भारतीय संविधान देश मे एक संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करता है।

भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण
(Unitary Features of the Indian Constitution)

भारतीय संविधान स्वरूप मे संघवाद के अधिकांश प्रमुख लक्षणों को ग्रहण किए है, किन्तु वास्तव मे एकात्मकता की ओर उसका सबल झुकाव है। भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के लिए संविधान-सभा ने संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करना उपयुक्त समझा, किन्तु संविधान-निर्माता इस ऐतिहासिक तथ्य से भी परिचित थे कि भारत में जब-जब केन्द्रीय सत्ता कमजोर हुई तभी भारत की एकता भंग हो गई और उसे पराधीन होना पड़ा। के. एम. मुन्शी ने संविधान-सभा में कहा था—"भारत के गौरवपूर्ण दिन वे थे जब इस देश में एक सबल केन्द्रीय सत्ता थी और इसके सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण दिन वे थे जब प्रान्तों द्वारा केन्द्रीय सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया गया।"[1] संविधान-निर्माता इस तथ्य से भी परिचित थे कि आधुनिक प्रवृत्ति यही है कि संघात्मक राज्यों में भी विभिन्न उपायों से केन्द्रीय सत्ता को पहले से अधिक शक्तिशाली बनाया जाए। अतः संविधान-निर्माताओं ने भारतीय संविधान में संघात्मकता और एकात्मकता का आदर्श समन्वय किया। संविधान द्वारा स्थापित संघात्मक व्यवस्था में प्रमुख एकात्मक लक्षण इस प्रकार है—

(1) शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में—शक्तियों के विभाजन की व्यवस्था में यही लगता है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र मे सर्वोपरि है और एक दूसरे की सहयोगी भी है। लेकिन वास्तविकता यह है कि शक्तियों के इस विभाजन में केन्द्र को हर प्रकार से शक्तिशाली बनाकर एकात्मकता की प्रवृत्ति लाई गई है। संघीय सिद्धान्त के अनुकूल शक्ति-विभाजन इस तरह किया जाना चाहिए कि केन्द्र की शक्तियों को गिना दिया जाए और अवशिष्ट शक्तियाँ इकाइयों में निहित की जाएँ। साथ ही केन्द्र को इतनी अधिक शक्तियाँ न दी जाएँ कि राज्यों के पास कुछ बचे ही नहीं, जैसा कि सोवियत-संघ मे किया गया है। भारत में संघ और राज्यों के बीच शक्ति-विभाजन के इन मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लंघन किया गया है। न केवल महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ संघ सूची मे है बल्कि कुछ विशेष परिस्थितियों में केन्द्रीय संसद को राज्यों के अनन्य क्षेत्रों में भी कानून बनाने का अधिकार दिया गया है।

संघीय सूची मे 97 विषय है जबकि राज्य सूची में केवल 66 और [illegible] संशोधन के बाद तो राज्य सूची के विषयों की संख्या और भी कम हो गई है। [illegible] सरकार को राज्य सरकारों की तुलना में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण [illegible] सुरक्षा, थल-जल-वायु शक्ति, रेलवे, मुद्रा, वैदेशिक सम्बन्ध आदि [illegible]

1 C.A.D. Vol VIII, p. 927.

विषय एकमेव संघीय सरकार के अधिकार में है। संघीय सरकार को किसी भी देश या अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के साथ हुए समझौते को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक कानूनों के निर्माण की शक्ति प्राप्त है। संसद् राज्यों के निमन्त्रण पर राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। जो विषय तीनों में से किसी भी सूची में नहीं आते उनके बारे में भी ससद् ही को शक्ति प्राप्त है। संघीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में किसी भी सूची के किसी भी विषय पर, चाहे वह राज्य सूची में हो क्यों न हो, ससद् कानून बना सकती है। विधान बनाने के बारे में वस्तुतः हर प्रकार से संसद् की सर्वोपरिता पर बल दिया गया है। राज्य का कानून उसकी सीमाओं से बाहर लागू नहीं हो सकता जबकि संसद् का कानून न केवल सारे भारत में बल्कि उसके बाहर भी प्रभावी हो सकता है।[1] इसके अतिरिक्त यदि ससद् किसी ऐसे विषय पर कानून बनाती है जिसकी उसे शक्ति प्राप्त है और उसी विषय पर किसी राज्य का कोई कानून है और वह संसद् के कानून के प्रतिकूल है तो संसद् का कानून चलेगा, जिस सीमा तक राज्य का कानून संसदीय कानून के प्रतिकूल है उस तक वह प्रभावहीन हो जाएगा।[2] जब आपात् उद्घोषणा लागू हो तो संसद् की विधायी क्षमता इतनी विस्तृत हो जाती है कि वह राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है।

इस प्रकार, जैसा कि के.एम. पनिक्कर ने लिखा है—भारत के नवीन सविधान में संघीय सिद्धान्त को क्षीण कर दिया गया है और केन्द्रीय सत्ता को शक्तिशाली बनाया गया है। केन्द्र एव इकाइयों की समान शक्तियों के सिद्धान्त को भारतीय संघ पर लागू नही किया जा सकता, क्योंकि इसके अन्तर्गत केन्द्र को असाधारण शक्तियाँ दी गई थी और प्रान्तो की स्थिति अधीनस्थ इकाइयों जैसी हो गई है।[3]

(2) **इकहरी नागरिकता और एक राष्ट्र ध्वज**—एकात्मक शासन-व्यवस्था के अनुकूल सविधान देश भर में एक नागरिकता और एक राष्ट्र ध्वज की व्यवस्था करता है। अमेरिका की भाँति संघ की इकाइयो (राज्यो) को कोई पृथक् नागरिकता नहीं है। 'भारतीय नागरिकता' का यह तत्त्व 'एक देश, एक लोग' (One Country, One People) के आदर्श की पूर्ति करता है, राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को बल प्रदान कर क्षेत्रीय भावना को निर्बल बनाता है।

(3) **द्वितीय सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नही**—भारत में संघीय व्यवस्था की इस परम्परागत विशेषता को भी नही अपनाया गया है कि द्वितीय सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व मिले। भारत में राज्य-सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के अनुपात में है, अतः बड़े राज्यों से अधिक और छोटे राज्यो से कम प्रतिनिधि निश्चित किए गए हैं।

(4) **इकाइयों (राज्यों) के पृथक् संविधान का अभाव**—अमेरिकन और स्विश

1 अनुच्छेद 245, कौल एव शकधर : संसदीय प्रणाली तथा व्यवहार, पृ 2.
2 अनुच्छेद 254 (1), कौल एव शकधर, वही, पृष्ठ 4.
3 *K. M. Panikkar* : The Foundation of New India, p. 156.

संघीय व्यवस्थाओं के विपरीत भारत की संघीय व्यवस्थाओं मे राज्यों के लिए पृथक् संविधान की कोई कल्पना नही की गई है। यद्यपि जम्मू और कश्मीर की स्थिति अनुच्छेद 370(2) के कारण एक अपवाद है तथापि इसका संविधान भी भारतीय संविधान के मुख्य ढांचे से विपरीत नही हो सकता एक ही संविधान देश की समूची शासन-व्यवस्था का प्रबन्ध करता है। संविधान का भाग 6 (अनुच्छेद 152 से 237) राज्यो के प्रशासनिक ढांचे की व्यवस्था करता है।

(5) **एकीकृत न्याय व्यवस्था**—संघात्मक व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि संघीय और राज्य कानूनों को लागू करने के लिए दोहरी न्याय व्यवस्था है। लेकिन भारतीय संघ में, अमेरिकन या आस्ट्रेलियन संघ के विपरीत, एकीकृत न्याय-व्यवस्था (Unified Judicial System) है। राज्यों के उच्च न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय की ही शाखाएँ है। सर्वोच्च न्यायालय को इन उच्च न्यायालयो पर व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हे। उच्च न्यायालयों का निर्माण और गठन संघीय सत्ता द्वारा किया जाता है। दिल्ली स्थित सर्वोच्च न्यायालय देश की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था के शिखर पर स्थित है। इस सर्वोच्च न्यायालय मे सांविधानिक मामलों के साथ ही दीवानी और फौजदारी मामलों मे भी राज्यो के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती है। सारे देश के लिए एक ही दण्ड-संहिता और प्रक्रिया-संहिता है।

(6) **राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा**—राज्यो के राज्यपालो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और वे राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रहते है। राज्यपाल राज्य विधान-मण्डल के प्रति नही वरन् राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होता है और राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित कोई भी विधेयक राज्यपाल की अनुमति के बिना कानून का रूप नही ले सकता। कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयक को वह राष्ट्रपति के विचारार्थ भेज सकता है। कुछ ऐसी बातें है जिनमे वह अपने विवेक के अनुसार भी कार्य कर सकता है। भारतीय संविधान की यह व्यवस्था संघीय सिद्धान्त के प्रतिकूल है और इससे राज्यो की स्वायत्तता पर आघात पहुँचता है। राज्यपाल राष्ट्रपति का प्रतिनिधि है और इस आशंका को निराधार नहीं ठहराया जा सकता कि राष्ट्रपति के प्रति भक्ति और सम्बन्धित राज्य के प्रति भक्ति में पारस्परिक विरोध की स्थिति में राज्यपाल राष्ट्रपति को ही प्रसन्न रखना चाहेगा—चाहे इससे राज्यों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो।[1] 1967 के आम चुनावों के बाद भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में कुछ इसी प्रकार का अनुभव रहा है।

(7) **नए राज्यों के निर्माण तथा वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों को बदलने की संसद् की शक्ति**—संविधान का अनुच्छेद 3 इसकी एकात्मक शक्ति का सबल प्रमाण है। यह अनुच्छेद संसद् को नवीन राज्यों के निर्माण और वर्तमान राज्यो के क्षेत्रों, सीमाओं अथवा नामों को बदलने की शक्ति देता है। इस प्रकार राज्यों का अस्तित्व ही केन्द्र की इच्छा पर निर्भर करता है। यह ..

1 *T. K. Tope* : The Constitution of India, p 3992

निश्चय ही संघीय सिद्धान्तो पर बहुत बड़ा आघात पहुँचाती है। भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश गजेन्द्र गड़कर ने भी लिखा है—"अनुच्छेद 3 द्वारा संसद् को दी गई *शक्तियाँ संघीय व्यवस्था के सार को ही समाप्त करने वाली है।"*[1]

(8) **संविधान संकटकाल में एकात्मक**—भारतीय संविधान में दिए गए आपात्कालीन प्रावधान एकात्मकता के प्रमुख लक्षण हैं। संघात्मक व्यवस्थाएँ शान्ति-काल और संकटकाल दोनों में ही संघात्मक बनी रहती है जबकि भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि शान्ति अथवा सामान्य काल मे तो इसका स्वरूप संघात्मक बना रहता है, किन्तु राष्ट्रीय संकटकाल में यह बिना किसी औपचारिक संशोधन के एकात्मक स्वरूप धारण कर सकता है। संकटकालीन घोषणा लागू रहने के समय संघीय संसद् राज्य सूची के विषयों पर कानूनो का निर्माण कर सकती है और संघीय *कार्यपालिका राज्य सरकारो को उनके निश्चित क्षेत्र में भी आवश्यक निर्देश दे सकती* है। इस प्रकार संकटकाल मे राज्यो की स्वतन्त्रता का पूरी तरह अन्त हो सकता है। भारतीय संविधान के अनुसार केवल बाह्य संकट के आधार पर ही आपात्काल की घोषणा नही की जाती बल्कि राज्य में सांविधानिक यन्त्र की विफलता के आधार पर भी केन्द्र आपात्काल की घोषणा कर सकता है। संकटकाल मे सारे देश पर किस तरह एकात्मक शासन-व्यवस्था छा सकती है, इसका ज्वलन्त प्रमाण जून, 1975 में कांग्रेस द्वारा लादी गई आपात्स्थिति है जिसका अन्त मार्च, 1977 में ऐतिहासिक सत्ता परिवर्तन के समय हुआ।

(9) अखिल भारतीय सेवा—अखिल भारतीय सेवा एकात्मकता का लक्षण उपस्थित करती है। केन्द्रीय कर्मचारी राज्यो मे बड़े-बड़े पदो पर आसीन है और राज्यो के अफसर बहुत अंश तक उन केन्द्रीय अफसरो को राज्यो के शासन मे प्रायः सहायता पहुँचाते है।

(10) **केन्द्र सामान्यकाल में भी पर्याप्त शक्तिशाली**—संविधान के अन्तर्गत सामान्यकाल मे भी संघीय सरकार को कुछ असाधारण शक्तियाँ दी गई है। उदाहरणार्थ, अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्य-सभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करके राष्ट्रीय हित मे अल्पकाल के लिए संघीय संसद् को राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार दे सकती है। अनुच्छेद 252 के अनुसार संघीय संसद् को इस प्रकार का अधिकार दो या अधिक राज्यो की व्यवस्थापिकाओं द्वारा प्रस्ताव पास करके भी दिया जा सकता है। अनुच्छेद 253 में व्यवस्था है कि संघ किसी *अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संस्था या निकाय द्वारा किए गए निश्चय के अनुपालन के* लिए सारे भारत अथवा उसके किसी भाग के लिए कानून बना सकता है। संघ द्वारा राज्य को कुछ प्रशासनिक निर्देश दिए जा सकते है और संघ को यह अधिकार भी है कि वह राज्यो को अपने कुछ प्रशासनिक कार्य हस्तान्तरित कर दे।

(11) **संविधान के संशोधन में संघ को अधिक शक्ति**—सांविधानिक संशोधन

1 *P. B Gajendra Gadkar*: The Constitution of India-Its Philosophy and Basic Postulates, p. 65

के सम्बन्ध में भी राज्यों की तुलना मे सब को अधिक शक्ति प्राप्त है। संविधान के अनेक उपबन्धों को तो संघीय संसद् साधारण कानून-निर्माण-प्रक्रिया से ही सशोधित कर सकती है। कुछ महत्त्वपूर्ण उपबन्धों को अकेली संघीय संसद् दोनों सदनों के अपने दो तिहाई बहुमत से सशोधित कर सकती है। संविधान मे केवल थोड़े से ही उपबन्ध ऐसे है जिनमे सशोधन के लिए आधे राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की स्वीकृति आवश्यक होती है। भारत मे राज्यों को सांविधानिक सशोधन की कोई स्वतन्त्र शक्ति प्राप्त नही है। अमेरिका मे जो सघात्मक राज्य का आदर्श उदाहरण है, संविधान के किसी भी भाग के सशोधन के लिए तीन-चौथाई राज्यों की स्वीकृति आवश्यक होती है और राज्य स्वयं भी संवैधानिक संशोधन के कार्य में पहल कर सकते है।

(12) **आर्थिक दृष्टि से राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता**—एक सघ राज्य में इकाइयों की वास्तविक शक्ति उनकी वित्तीय आत्म-निर्भरता होती है, किन्तु भारतीय सघ मे राज्य आर्थिक दृष्टि से बडी सीमा तक केन्द्र पर निर्भर है। केन्द्र राज्यों को विभिन्न प्रकार के अनुदान देता है और फलस्वरूप केन्द्र राज्यों पर छाया रहता है। वित्तीय क्षेत्र मे आत्म-निर्भर न होने से राज्यों की अपनी सत्ता व्यवहार मे बहुत सीमित हो गई है। इसके अतिरिक्त एकात्मक व्यवस्था वाले देशों की भाँति ही सारे देश की वित्तीय शासन-व्यवस्था को भारत में एक नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के अधीन रखा गया है।

(13) **अन्तर्राज्य परिषद् और क्षेत्रीय परिषदें**—एकात्मक शासन-व्यवस्था के अनुरूप ही भारत मे राज्यों के पारस्परिक झगडों का निबटारा करने के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को समन्वयकारी शक्ति प्राप्त है। इसी उद्देश्य से केन्द्र को अन्तर्राज्यिक परिषद् की स्थापना का भी अधिकार दिया गया है। क्षेत्रीय परिषदों और प्रादेशिक समितियों के माध्यम से केन्द्र राज्य सरकारों की शक्तियों और कार्यकरण पर काफी नियन्त्रण रखता है। देश मे राज्य और संघीय क्षेत्र (उन्हे छोड़कर जो कि पूर्वोत्तर प्रदेश मे है) कई क्षेत्रों मे बाँट दिए गए है और प्रत्येक क्षेत्र मे एक उच्च स्तरीय सलाहकार संस्था होती है जिसे 'क्षेत्रीय परिषद्' कहा जाता है।

(14) **संविधान की एकात्मकता बढ़ाने वाले कुछ अन्य सांविधानिक तत्त्व**—
(i) देश में संघीय भू-भागों की स्थिति ऐसी है जैसी कि एकात्मक राज्यों मे उनके प्रदेशों की होती है। सघीय भू-भागों का शासन राष्ट्रपति द्वारा चलाया जाता है। वह इन क्षेत्रों के प्रशासकों की नियुक्ति अपने एजेन्ट के रूप में करता है। संसद् को अधिकार है कि वह किसी भी सघीय भू-भाग के लिए उचित व्यवस्था करे। अण्डमान-निकोबार, लक्षद्वीप, मिनिकाय और अमीनद्वीप दीपों के शासनों के लिए राष्ट्रपति को विनियमों (Regulations) के निर्माण का अधिकार है और उन विनियमों को संसदीय कानून जैसी ही मान्यता प्राप्त होती है।

(ii) अनुसूचित जन-जातियों तथा पिछड़े वर्गों का कल्याण राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है। उसे एक विशेष आयोग नियुक्त करने का अधिकार है

जो अनुसूचित जन-जातियों तथा पिछड़े वर्ग की दशाओं की जाँच करके अपने सुझावों सहित राष्ट्रपति को प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह इन जातियों और वर्गों के कल्याण के सम्बन्ध में राज्य सरकारों को आवश्यक निर्देश दे।

(iii) सम्पूर्ण भारत के लिए ही चुनाव आयोग की व्यवस्था भी एकात्मकता के तत्व को सम्बल प्रदान करती है।

(iv) राष्ट्रपति वित्त आयोग की नियुक्ति करता है जो केन्द्र और राज्यों के बीच राजस्व वितरण के सुझाव देता है।

(v) सविधान मे सशोधन के फलस्वरूप एकात्मकता के तत्व जुड़ते रहे है।

(15) एकात्मकता बढ़ाने वाले बाह्य सांविधानिक तत्व— भारत मे सघवाद और एकात्मकता के समन्वय को दर्शाने वाले बाह्य सांविधानिक तत्व प्रमुख रूप से तीन हैं—

(i) भारत की सघीय राज्य-व्यवस्था का केन्द्रवाद की ओर रुझान योजना आयोग से भी प्रकट है जो कि एक सविधानेत्तर संस्था है। अशोक चन्दा इस दृष्टिकोण के सर्वाधिक प्रमुख समर्थक है। उनका विचार है कि "योजना ने भारत में लोकतन्त्र और सघवाद दोनो को मात दे दी है।" योजना आयोग ने केन्द्र की शक्तियो मे भारी वृद्धि की है। आयोग राज्यों की योजनाओ का निश्चय करता है और उन्हे वित्तीय सहायता देने की सिफारिश भी करता है। आयोग एक उच्च आर्थिक मन्त्रिमण्डल के रूप मे उभरा है और उसने बड़ी सीमा तक वित्त मन्त्रालय की शक्तियो तक को ग्रहण कर लिया है। आर्थिक एव सामाजिक विकास की राष्ट्रीय योजना मे राज्य-विषयो का अतिक्रमण अन्तर्निहित है। राज्य के सहायक कार्यक्रमो की व्यवस्था केन्द्र-प्रवर्तित कार्यक्रमो पर लागू नही होती है। केन्द्र-प्रवर्तित कार्यक्रमो पर केन्द्रीय मन्त्रालयों और योजना आयोग का सम्पूर्ण नियन्त्रण होता है।

(ii) राष्ट्रीय विकास-परिषद् के फैसलों का प्रभाव भारत सरकार और राज्य सरकार दोनों पर पडता है। दोनो ही सरकारें सामान्यतः इसके फैसलो को मानती है। यह आरोप लगाया जाता है कि इस परिषद् का उपयोग राज्य के मुख्य मन्त्रियो पर दबाव डालने के लिए किया जाता है।

(iii) एक लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे शक्तिशाली विरोधी दल का अस्तित्व आवश्यक है ताकि वह कभी भी निर्वाचन जीत कर सत्तारूढ दल का स्थान ले सके। लेकिन भारत मे, कांग्रेस के सत्ताच्युत् होने से पूर्व तक विरोधी दलों ने रचनात्मक रवैये से दूर रहकर अपनी शक्तियों और सामर्थ्य का अपव्यय किया। फलस्वरूप देश मे, चौथे आम चुनावो के बाद के अल्पकाल को छोड कर, एकदलीय प्रमुत्व बना रहा जिसने केन्द्रवाद को बढावा दिया। जनता पार्टी के शासनकाल मे भी कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति रही, यद्यपि व्यवहार मे उसका प्रभाव क्षीण था क्योंकि पार्टी का नेतृत्व आपसी फूट का शिकार बना रहा। वास्तव मे, जब राष्ट्र को आगे बढाने और निर्णय लेने का भार किसी एक ही दल पर होता है तो उसे अपनी शक्ति सजोए

रखने के लिए केन्द्र को अधिक बलशाली बनाए रखना पडता है । पर इसका अभिप्राय दलीय निरकुशता' कदापि नही है ।

निष्कर्ष

सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि एक ओर तो भारतीय सघात्मक शासन के सभी प्रमुख लक्षण मिलते हैं तो दूसरी ओर अनेक दृष्टियो से यह सघीय सिद्धान्त से भिन्न है और एकात्मक व्यवस्था की स्थापना करता हे । सविधान विशेषज्ञो और विधिवेत्ताओ ने भारतीय सविधान के स्वरूप पर विभिन्न विचार प्रकट किए गए है । प्रो ह्वीयर के अनुसार "भारतीय सविधान एक ऐसे एकात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसमे गौण रूप से कुछ सघीय तत्त्व हैं, न कि एक ऐसे सघ राज्य की जिसमें गौण रूप मे कुछ एकात्मक तत्त्व हो । सविधान-प्रारूप-निर्माण समिति के अध्यक्ष डॉ अम्बेडकर ने भी स्वीकार किया था—"सविधान को सघवाद के कठोर ढांचे मे नही ढाला गया है ।" डॉ. कृष्ण पी. मुखर्जी का मत है कि "भारतीय सविधान असघात्मक अथवा एकात्मक है ।"[1] प्रो. एलेक्जेण्ड्रोविच की मान्यता है कि "भारत निश्चित रूप से एक सघ राज्य है जिसमें सम्प्रभुता के लक्षण केन्द्र और राज्यो मे निहित है ।"[2] के सथानम का विचार है कि "भारतीय संविधान मे सघीय लक्षण इतने अधिक प्रमुख रूप मे विद्यमान है कि यह एक वास्तविक सघात्मक सविधान है ।"[3] दुर्गादास बसु ने लिखा है कि "भारतीय सविधान न तो नितान्त सघात्मक है और न एकात्मक, बल्कि यह दोनो का मिश्रण है । यह एक अनुपम प्रकार की मिश्रित शासन-प्रणाली है ।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत का सविधान न तो विशुद्ध सघात्मक ही है और न विशुद्ध एकात्मक, बल्कि यह दोनों का सम्मिश्रण है । यह अपने ही ढग का एक अनोखा सघ है जो इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करता है कि सघवाद के बावजूद भी देश का हित सर्वोपरि है ।[4] निश्चय ही आपात् उपबन्धो के कारण सविधान का सघीय स्वरूप परिवर्तित हो जाता है, लेकिन यह सब कुछ राष्ट्रीय हित की दृष्टि से ही होता है । डॉ. वी. एम. शुक्ल का तो मत है कि "आपात्कालीन उपबन्ध, जो केवल विशिष्ट परिस्थितियो मे लागू होते है, हमारी सघीय व्यवस्था को परिवर्तित या नष्ट नही करते । यह तो हमारे संविधान का विशेष गुण है जो उन विशिष्ट परिस्थितियों की कल्पना करता है जबकि सघीय सिद्धान्त की कठोरता मे लागू करने से वे मूलभूत धारणाएँ नष्ट हो सकती है जिन पर हमारा संविधान आधारित है । बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार संविधान केन्द्रीय सरकार को इतना सशक्त बना देता है जिससे वह देश पर आए संकटों को टालने में समर्थ हो जाता है । सकटकाल मे सभी संघीय संविधानों का संचालन शान्तिकाल की अपेक्षा भिन्न रहा है । यद्यपि अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा के संविधानों में

1 The Journal of Political Science, July–Sept. 1954 Vol. XII, p. 112.
2 *C.H Alexandrowitch :* Constitutional Development in India, p. 169.
3 *K. Santhanam :* Union-State Relations in India, p. 8.
4 *Jennings :* Some Characteristics of Indian Constitution, p. 55.

भारतीय संविधान जैसी कोई व्यवस्था नहीं है, किन्तु दोनों महायुद्धों में न्यायालयों ने संविधान की व्याख्या द्वारा संघीय सरकारों को इतनी विशाल शक्ति प्रदान कर दी थी कि वे एकात्मक संविधान की तरह कार्य करने लगे थे। इसके बावजूद भी उक्त सभी संविधान यथावत् संघात्मक बने रहे, जबकि संघीय सिद्धान्त में काफी परिवर्तन हो गया था। जिस कार्य को उपर्युक्त संविधानों में न्यायालयों ने सम्पादित किया उसको हमारे संविधान-निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से संविधान में समाविष्ट कर दिया है।"[1]

हमें आज की तेजी से बदलती दुनिया में किसी बात को एकदम कठोरता से नहीं लेना चाहिए, लकीर का फकीर बने नहीं रहना चाहिए। संघवाद हो या एकात्मक व्यवस्था—सभी की प्रकृति किसी देश के ऐतिहासिक विकास और आवश्यकता के आधार पर निर्भर करती है। प्रत्येक देश में एक ही पद्धति के संघवाद की कल्पना करना रचनात्मक चिन्तन नहीं कहा जा सकता। संघवाद एक गतिशील धारणा है जो स्थान और समय के अनुसार बदलती रहती है। कोई देश इसे किस रूप में अपनाएगा यह उस देश-विशेष के ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर है। जो बात अमेरिका के लिए अच्छी है, आवश्यक नहीं कि वह हमारे लिए भी अच्छी हो। आवश्यकताओं और परिस्थितियों के प्रकाश में अलग-अलग देश में संघीय सिद्धान्त का भिन्न-भिन्न रूप हो सकता है और होना भी चाहिए। अमेरिका का संघवाद भारतीय ढाँचे में 'फिट' नहीं बैठ सकता और भारत का संघवाद स्विट्जरलैण्ड या अमेरिका के गले नहीं उतर सकता। भारत ने संघवाद का जो स्वरूप संविधान में समाविष्ट किया है वह उसके लिए अच्छा है। सिद्धान्ततः अमेरिका का संविधान पूर्ण संघीय संविधान है, लेकिन व्यवहारतः वह केन्द्रोन्मुखी है। संचालन की दृष्टि से भारत और अमेरिका के संविधान में कोई विशेष अन्तर नहीं है। भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य एक दृढ़ एवं शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना करने का रहा है जो कि किसी भी समय देश पर बाहरी आक्रमण को रोकने में समर्थ हो और आन्तरिक विनाशकारी तत्त्वों को दबाने में भी पूर्ण सक्षम हो। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गई हैं। भारतीय संघात्मक व्यवस्था एक परिवर्तनीय व्यवस्था है और आवश्यकतानुसार यह एकात्मक और संघात्मक दोनों ही रूप धारण कर सकती है।

व्यवहार में सहकारी संघवाद
(Co-operative Federation in Practice)

वास्तव में यह उपयुक्त होगा कि भारतीय संविधान को 'सहकारी संघवाद' (Co-operative Federalism) की संज्ञा दी जाए। सहकारी संघवाद का विकास मुख्यतः द्वितीय महायुद्ध के बाद से हुआ है, यद्यपि इसकी जड़ें पहले से विद्यमान

1 जयनारायण पाण्डेय : भारत का संविधान, पृष्ठ 35.

थी । सहकारी संघवाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे केन्द्रीय सरकार यद्यपि शक्तिशाली होती है किन्तु राज्य सरकारे भी अपने-अपने क्षेत्रो मे कमजोर नही होती । सहकारी संघवाद का यह मुख्य लक्षण है कि दोनों प्रकार की सरकारें एक दूसरे की पूरक होती हैं, दोनों की एक दूसरे पर निर्भरता होती है । राष्ट्रीय और राज्य सरकारे शासन की एक ही व्यवस्था के स्वैच्छिक परिपूरक अग समझी जाती है जिनकी शक्तियो का प्रयोग सम्पूर्ण राष्ट्र के सामान्य उद्देश्यो का प्राप्त करना होता है । सरकारी संघवाद मे केन्द्र और राज्य कानूनी रूप मे एक दूसरे से सघर्षो मे न उलझकर अपने को जनता की सेवा करने वाली संस्थाएँ मानती हैं ।

ग्रेनविल आस्टिन के अनुसार कुछ अपवादो को छोडकर सहकारी संघवाद के उपरोक्त लक्षण भारत पर लागू होते है। परिस्थितियो, सांविधानिक प्रावधानों-संविधान-बाह्य संस्थाओं और स्वाधीनता संग्राम के साथियो द्वारा प्रशासनिक उत्तरदायित्व सम्भालने आदि के कारण व्यवहार में भारत मे सहकारी संघवाद का विकास हुआ है । स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश भारत के राज्य और देशी रियासते केन्द्र के आदेशों का पालन करने की आदी थी, अतः नवीन संविधान बनने के बाद भी कुछ वर्षों तक यह प्रक्रिया चलती रही । लगभग 1958 तक भारत मे एकात्मक राज्य के लक्षण अधिक सबल रहे, किन्तु उसके बाद देश सहकारी संघवाद की दिशा मे बढ चला। नेतृत्व और केबिनेट के स्वरूप मे विशेषकर श्री नेहरू की मृत्यु के बाद तेजी से परिवर्तन आया । नवीन स्थानीय नेताओ का उदय हुआ और केबिनेट मे क्षेत्रों, वर्गों और समुदायो के ऐसे नेताओं को स्थान दिया जाने लगा जो राज्यो का प्रतिनिधित्व करते थे । इस स्थिति में सहकारी संघवाद अधिक स्पष्ट रूप मे उभर कर सामने आया और आज भी यही स्थिति है । इस सहकारी संघवाद को व्यवहृत करने मे जिन साधनो अथवा व्यवस्थाओ का योग है, वे मुख्यतः निम्नलिखित है—(1) योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद्, (2) वित्त आयोग और वित्तीय सहायता, (3) नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, (4) क्षेत्रीय परिषदें, (5) आपात्-काल से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ, एवं (6) अन्य व्यवस्था : सामुदायिक विकास योजना, अखिल भारतीय सेवाएँ, एकल न्यायिक व्यवस्था आदि ।

भारतीय संघ की इकाइयाँ
(Units of Indian Federation)

भारतीय संघ मे दो प्रकार की इकाइयाँ है—(1) राज्य, एवं (2) केन्द्र शासित प्रदेश । अभी 1980 में भारतीय संघ मे 22 राज्य और 9 केन्द्र शासित प्रदेश है ।

राज्यों के नाम—1–आन्ध्रप्रदेश, 2–असम, 3–उड़ीसा, 4–उत्तरप्रदेश, 5–केरल, 6–गुजरात, 7–जम्मू-कश्मीर, 8–तमिलनाडु (मद्रास), 9–त्रिपुरा, 10–नागालैण्ड, 11–पंजाब, 12–प. बंगाल, 13–बिहार, 14–मध्यप्रदेश, 15–महाराष्ट्र, 16–मेघालय, 17–मणिपुर, 18–राजस्थान, 19–हरियाणा, 20–हिमाचल प्रदेश, 21–कर्नाटक (मैसूर), एवं 22–सिक्किम। सिक्किम ने 22 राज्य के रूप में अप्रेल 1975 में भारतीय संघ मे प्रवेश किया ।

केन्द्र शासित प्रदेशों के नाम—1–दिल्ली, 2–गोवा, डामन और ड्यू, 3–पाण्डिचेरी, 4–मिजोरम प्रदेश, 5–अण्डमान व निकोबारद्वीप, 6–लक्षदीव, मिनिकोय व अमीनीदीव, 7–चण्डीगढ, 8–दादरा और नागर हवेली, एवं 9–अरुणाचल प्रदेश।

संविधान के अनुच्छेद 3 के अन्तर्गत संसद् का अधिकार प्राप्त है कि वह कानून बना कर एक राज्य के दो भाग करके अथवा दो राज्यों या उनके भागों को मिलाकर किसी नए राज्य का निर्माण कर सकती है, किसी राज्य का क्षेत्र बढा या घटा सकती है और किसी भी राज्य की सीमाओं या उसके नाम मे परिवर्तन कर सकती है।

संघ और राज्यों के सम्बन्ध
(Relations Between the Union and the States)

प्रत्येक संघीय संविधान में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में प्रावधान होते है। भारतीय संविधान के भाग 11 मे इन सम्बन्धों का विस्तार और स्पष्टता के साथ वर्णन किया गया है। सांविधानिक प्रावधानों के अनुसार इन सम्बन्धों का अध्ययन चार रूपों मे किया जा सकता है—(क) विधायी सम्बन्ध, (ख) प्रशासनिक सम्बन्ध, (ग) वित्तीय सम्बन्ध, एवं (घ) न्यायिक सम्बन्ध।

(क) संघ और राज्यो के विधायी सम्बन्ध

भारतीय संविधान मे शक्तियों के वितरण की योजना और वितरण के सिद्धान्त प्राय: वही है जो 1935 के भारत सरकार अधिनियम मे थे। शक्तियों की 3 सूचियां हैं—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची (यूनियन लिस्ट) में राष्ट्रीय महत्त्व के 97 विषय हैं, राज्य सूची (स्टेट लिस्ट) में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप 66 विषय है और समवर्ती सूची (कान्करेंट लिस्ट) मे स्थानीय और राष्ट्रीय महत्त्व के 47 विषय है।[1]

संघ सूची पर भारतीय संसद्, राज्य सूची पर राज्यों के विधान-मण्डल तथा समवर्ती सूची पर दोनों के कानून बनाने का अधिकार है। संघ सूची के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय है: भारत की सुरक्षा, देशीयकरण, सैन्य, अस्त्र-शस्त्र तथा गोला बारूद, परमाणु शक्ति, वैदेशिक सम्बन्ध, राजनयिक सन्धियां, रेल, देशीय जलमार्गों पर जहाजरानी नौ-परिवहन, वायुमार्ग, डाक तार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा-निर्माण लोक ऋण, भारत का रिजर्व बैंक, विदेश व्यापार, अन्तर्राज्यिक व्यापार व वाणिज्य, नियमन तथा उनका विनियमन, आयात व निर्यात आदि। राज्य सूची के कुछ प्रमुख विषय है: सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, न्याय, प्रशासन, जेल तथा सुधारालय,

1 42वें संशोधन द्वारा राज्य सूची के विषयो की संख्या घटाकर 62 और समवर्ती सूची की विषयों की संख्या 52 कर दी गई। चार विषय–शिक्षा, वन, जंगली जानवरो तथा पक्षियों की रक्षा और नाप तौल राज्य सूची से समवर्ती सूची मे कर दिए गए। समवर्ती सूची मे एक नवीन विषय–'जनसंख्या नियन्त्रण एवं परिवार नियोजन' रख दिया गया। 44वें संशोधन विधेयक में प्रावधान किया गया कि शिक्षा और वन को पुन: राज्य सूची में रख दिया जाए।

वस्तुओं की उत्पत्ति और उनका वितरण आदि। समवर्ती सूची के कुछ प्रमुख विषय स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, मादक पेय, शिक्षा, पुस्तकालय, हैं : फौजदारी कानून व प्रणाली, व्यवहार प्रणाली, निवारक निरोध, विवाह और विवाह-विच्छेद, दिवालियापन तथा ऋण शोध क्षमता, पागलपन, आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा और बीमा, आदि। संविधान के तृतीय संशोधन (1954) द्वारा समवर्ती सूची के तेतीसवें विषय-'व्यापार-वाणिज्य' का अर्थ निश्चित और व्यापक करते हुए उसमें स्पष्ट रूप से कुछ आवश्यक वस्तुओं के व्यापार-वाणिज्य का समावेश कर दिया गया है। समवर्ती सूची में ऐसे विषय हैं जिन पर समस्त देश के सामान्य कानून का होना वांछनीय तो है, किन्तु अनिवार्य नहीं। इसलिए इन विषयों को केन्द्र और राज्य दोनों ही के क्षेत्राधिकार में रखा गया है।

जिन विषयों का वर्णन उक्त तीनों सूचियों में नहीं है, उन अर्थात् अवशिष्ट (रेजिड्यूरी पावर्स), की स्वामी संघीय सरकार है। अमेरिका में अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को प्राप्त हैं। इस सम्बन्ध में भारत में कनाडा के संविधान का अनुसरण किया गया है।

विधायी शक्तियों का समीक्षात्मक अध्ययन : संघीय सर्वोच्चता—शक्ति वितरण की इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि भारत में कनाडा के संविधान में समाविष्ट सबल केन्द्र की प्रणाली का ही अनुसरण किया गया है। यह निम्नलिखित बातों से सिद्ध है—

1. साधारणतया जो विषय राष्ट्रीय महत्त्व के हैं वे केन्द्र को दिए गए हैं और जो विषय केवल स्थानीय महत्त्व के हैं उन्हें राज्यों को सौंपा गया है। समवर्ती सूची के विषय केन्द्र और राज्य दोनों ही के क्षेत्राधिकार में रखे गए हैं, किन्तु दोनों सरकारों द्वारा निर्मित विधियों में असंगति (Conflict) की सूरत में केन्द्रीय विधि ही मान्य होती है।

2. राज्य का कानून उसकी सीमाओं में बाहर लागू नहीं हो सकता, संसद् का कानून न केवल सारे भारत में बल्कि उसके बाहर भी प्रभावी हो सकता है।

3 कुछ विशेष परिस्थितियों में संविधान के अन्तर्गत संसद् को राज्यों के अनन्य क्षेत्र में भी कानून बनाने का प्राधिकार दिया गया है।[1]

4 संसद् राज्यों के निमन्त्रण पर भी राज्य सूची के किसी विषय में कानून बना सकती है।

5. संघ सूची में कुछ प्रविष्टियाँ ऐसी है जिनमें संसद् को अधिकार है कि वह कानून द्वारा आवश्यक घोषणा करने के बाद राज्यों के क्षेत्र के कुछ कार्य या विषय अपने हाथ में ले ले। केन्द्रीय सरकार की नियन्त्रण-शक्ति को बढ़ाकर भी 'संघीय सर्वोच्चता' स्थापित की गई है।

6. संसद् किसी देश के साथ की गई सन्धि, करार या अभिसमय या किसी

1 कौल एवं शकधर : संसदीय प्रणाली—सिद्धान्त तथा व्यवहार, पृष्ठ 2.

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या संस्था में किए गए किसी भी निर्णय को लागू करने के लिए कानून बना सकती है, चाहे उसका विषय राज्य-सूची के अन्तर्गत ही क्यों न आता हो। जब अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य-विशेष के शासन को अपने हाथ में ले लेता है तो राज्य विधान-मण्डल के अधिकार संसद् को प्राप्त हो जाते है।

7 संविधान के कुछ संशोधनो ने भी संसद् की विधायी शक्तियो को बढ़ाया है।

(ख) संघ और राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध

संविधान के भाग 11 के दूसरे अध्याय में अनुच्छेद 256 से 263 तक केन्द्र राज्य प्रशासनिक सम्बन्धो की चर्चा की गई है। केन्द्र को राज्यों की तुलना में अधिक कर्त्तव्य और दायित्व सौंपे गए है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जिन विषयो पर राज्य-विधान-मण्डल और संसद् दोनों को विधि-निर्माण की शक्ति है उनमें राज्य की कार्यपालिका शक्तियाँ संघ की उन कार्यपालिका शक्तियों से परिसीमित रहेगी जो या तो संविधान द्वारा अथवा किसी संसदीय विधि द्वारा प्रदत्त है।

भारत में प्रशासन के लिए केन्द्र और राज्य-स्तरो पर अलग-अलग सम्प्रभु अभिकरणो की स्थापना नही की गई है। भारत पहला स्वतन्त्र देश है जिसने (क) प्रशासन के जरिए आर्थिक विकास करने, (ख) प्रशासनिक ढाँचे में विस्तार करने तथा विविधता लाते हुए भी उसी ढाँचे को बनाए रखने, और (ग) इस प्रकार विस्तृत होने वाले प्रशासन का संसदीय लोकतन्त्र और आर्थिक विकास के साथ तालमेल बनाए रखने का प्रयास किया है। प्रशासन मुख्य रूप से राज्य-अभिकरणों (State Agencies) द्वारा चलाया जाता है। यह व्यवस्था अन्य संघात्मक देशों से भिन्न है जहाँ कि केन्द्र और राज्य सरकारें संविधान प्रदत्त विषयो तथा अपने कानूनों को लागू करने के लिए अपने-अपने अभिकरण बनाते है। भारत में राज्यो में संघीय कानूनो के कार्यान्वयन और प्रशासन के लिए अलग से कोई संघीय अभिकरण नही है। व्यवस्था इस प्रकार की गई कि एक ओर तो राज्यो पर यह उत्तरदायित्व रहे कि वे संघीय कानूनों को लागू करें और दूसरी ओर संघीय सरकार को अधिकार रहे कि वे राज्यो को आवश्यक निर्देश दे सकें। इस व्यवस्था का उद्देश्य राज्यों की स्वतन्त्रता में संघीय हस्तक्षेप को प्रोत्साहन देना नही है बल्कि समूचे देश के चौमुखी विकास में संघ और राज्यो के बीच तालमेल को बढ़ावा देना है, देश के हित में दोनों सरकारों को एक जुट होकर कार्य करने की प्रेरणा देना है।

केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्धो को मोटे रूप में हम पाँच भागो में बाँट सकते है—

1. संघ द्वारा राज्यों को निर्देश (अनुच्छेद 256, 257, 305 और 339)
2. संघीय कृत्यो को राज्यों को सौंपना (अनुच्छेद 258)
3. अखिल भारतीय लोक सेवाएँ (अनुच्छेद 311)
4. केन्द्रीय अनुदान
5. मतभेदों को कम करने की विधियाँ
6. योजना आयोग एवं संघ-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध

(1) **संघ द्वारा राज्यों को निर्देश**—संघ सरकार द्वारा राज्यों को निर्देश देने की व्यवस्था संघीय सिद्धान्त के विरुद्ध है और भारतीय संविधान को छोड़कर अन्य किसी भी संघीय संविधान में पाई नहीं जाती। हमारे संविधान-निर्माताओं ने 1935 के अधिनियम के भाग 126 से इस विचार को ग्रहण किया है। आपात्काल की उद्घोषणा के दौरान तो केन्द्र राज्य सरकारों को आदेश दे ही सकता है, किन्तु शान्तिकाल में भी यह अपेक्षित है कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो कि वह संसद्-निर्मित विधियों के अनुकूल हो।

(क) अनुच्छेद 256 में लिखा है : "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा कि जिसमे संसद् द्वारा विधियों का, तथा किन्हीं वर्तमान विधियों का, जो उस राज्य में लागू है, पालन सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक विस्तृत होगा जो कि भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे।" केन्द्रीय सरकार को इस प्रकार की शक्ति इसीलिए प्रदान की गई है कि केन्द्रीय विधान के प्रशासन में कोई बाधा उत्पन्न न हो।

(ख) अनुच्छेद 257 (1) में भी केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देश देने के अधिकार का उल्लेख किया गया है। इस व्यवस्था का एक उद्देश्य यह है कि राज्य की कार्यपालिका सत्ता का संघ की कार्यपालिका सत्ता से संघर्ष न हो पाए।

(ग) अनुच्छेद 257 (2), (3) एवं (4) द्वारा भी कतिपय ऐसी अवस्थाएँ गिनाई गई है जिनमे राज्यों पर संघ का नियन्त्रण व्याप्त होता है। सामरिक महत्त्व की सड़कों तथा अन्य संचार साधनों की देखभाल, मरम्मत, निर्माण आदि के लिए केन्द्र राज्य सरकार को निर्देश दे सकता है। संसद् राज्य-पथों या जल-पथों को, बड़ी सड़कों या नहरों को, नौकागम्य नदियों को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित कर सकती है। संघीय कार्यपालिका को यह भी अधिकार है कि वह किसी राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत रेल-पथ की रक्षा के लिए उस राज्य को आवश्यक निर्देश दे। इन सबकी देखभाल, मरम्मत या निर्माण पर जो अतिरिक्त व्यय होगा वह संघ सरकार द्वारा वहन किए जाने का प्रावधान है।

अनुच्छेद 256 और 257 को संयुक्त रूप में लेने पर हम देखते है कि उनसे भारत सरकार की शक्तियाँ बड़ी व्यापक हो जाती हैं और राज्यों के अधिकार क्षेत्र में उसका प्रवेश असाधारण रूप से बढ़ता जाता है। ये दोनों अनुच्छेद राज्यों की कार्यपालिका सत्ताओं पर विधेयात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) प्रतिबन्ध लगाते हैं। ये भारत सरकार को विस्तृत अधिकार प्रदान करते हैं कि वह राज्यों में किसी भी प्रकार के प्रशासनिक कृत्य निर्बाध रूप से कर सकें। अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह राज्य में सांविधानिक व्यवस्था [illegible] होने की आपात् उद्घोषणा करके राज्य की समस्त शक्तियों को अपने हाथ

अनुच्छेद 339 (2) में उल्लेख है कि "संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार ऐसे किसी राज्य को उस प्रकार के निर्देश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिए निर्देश में परमावश्यक बताई हुई योजनाओं को बनाने और कार्यान्वित करने से सम्बन्ध रखते हों।"

(2) संघीय कृत्यों को राज्यों को सौंपना—केन्द्र राज्यों को दो प्रकार से कार्य सौंप सकता है। प्रथम, राज्य सरकार की सलाह से और द्वितीय, ससद् के माध्यम से अनुच्छेद *258 (1)* क एव *258 (2)*, सविधान (सप्तम सशोधन) अधिनियम 1956 की धारा 18 द्वारा एक नया अनुच्छेद 258 क जोड़ा गया है जिसके अनुसार राज्य सरकारें भी अपने कृत्यों को सघ सरकार को सौंप सकती है। स्पष्ट है कि प्रशासन के क्षेत्र मे सरकारो के सहयोग को प्रमुख स्थान दिया गया है। जहाँ किसी भी सरकार के लिए अपने प्रशासकीय कार्यों के पीछे सचालन मे कोई असुविधा होती हो तो वह दूसरी सरकार द्वारा उसे सम्पादित करवा सकती है। पर केन्द्र और राज्यों द्वारा एक दूसरे के अपने कृत्य सौंपे जाने मे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि राज्य तो केन्द्र को अपने कृत्य केन्द्र की सहमति से ही सौंप सकते हैं जबकि केन्द्र अपने कृत्यों को राज्यो को उनकी सहमति के बिना भी सौंप सकता है, अर्थात् सांविधानिक उपबन्ध प्रशासकीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे भी केन्द्र की प्रमुखता स्थापित करते है।

(3) अखिल भारतीय सेवाएँ—सघीय सिद्धान्त के प्रतिकूल भारतीय सविधान में केन्द्र और राज्यों के बीच सम्मिलित सेवाओ (Common Services) का भी उपबन्ध है जिसे 'अखिल भारतीय सेवाएँ' कहा जाता है। यद्यपि संविधान कहता है कि सघ सरकार और राज्य सरकारों के अलग-अलग सार्वजनिक अधिकारी होंगे जो अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र मे कार्य करेंगे पर साथ ही संविधान मे यह व्यवस्था भी है कि भारतीय प्रशासन सेवा और भारतीय आरक्षी या पुलिस सेवा राज्यों और सघ दोनों मे समान रूप से कार्य करेगी। अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन का मुख्य उद्देश्य यही है कि अधिकतम अन्तर्राज्यीय सहयोग और समन्वय प्राप्त किया जाए तथा पदाधिकारियो द्वारा केन्द्रीय नीतियो को समुचित रूप से कार्यान्वित किया जाए।

(4) केन्द्रीय अनुदान—केन्द्र की यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसके द्वारा दो मुख्य उद्देश्यो की पूर्ति होती है—(क) इसके माध्यम से केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो पर नियन्त्रण रखती है क्योंकि अनुदान प्राय: सशर्त दिए जाते है और यदि राज्य उन शर्तों को पूरा नही करें तो अनुदान रोके भी जा सकते हैं, एव (ख) इससे केन्द्र तथा राज्यों मे सहयोग और समन्वय की भावना का विकास होता है और जन-कल्याण की योजनाओ को प्रोत्साहन मिलता है जिससे अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय समृद्धि मे योग मिलता है।

(5) मतभेदों को कम करने की विधियाँ—केन्द्र और राज्यों मे प्रशासनिक सम्बन्धों का समायोजन एक कठिन कार्य है, सरकारों मे मतभेद की अधिक गुंजाइश रहती है। अत: सविधान में केन्द्रीय तथा राज्य सरकार के बीच के मतभेदों को सुलझाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाए गए हैं—

(i) राष्ट्रपति, अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत, सार्वजनिक हित के उद्देश्य से अन्तर्राज्यिक परिषद् की स्थापना कर सकता है।

(ii) अनुच्छेद 261 द्वारा व्यवस्था की गई है कि "भारत के राज्य क्षेत्र मे सर्वत्र, संघ की और प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं तथा अभिलेखो और न्यायिक कार्यवाहियो को पूरा विश्वास और मान्यता दी जाएगी।"

(iii) अनुच्छेद 131 के अनुसार संघ एवं राज्यो के पारस्परिक विवाद उच्चतम न्यायालय को सौंपे जा सकते है।

(iv) अनुच्छेद 262 के अन्तर्गत संसद् अन्तर्राज्यिक नदियों या नदी-दूनो के जल-सम्बन्धी वादों के न्याय-निर्णय के लिए उपबन्ध कर सकती है। इन वादों अथवा झगडो के सम्बन्ध मे उच्चतम न्यायालय अथवा अन्य कोई न्यायालय हस्तक्षेप नही कर सकता। संसद् ने 1956 का जो अन्तर्राज्यिक जल-विवाद अधिनियम बनाया उसमे एक तदर्थ (Adhoc) न्यायाधिकरण की व्यवस्था की गई है।

(v) राज्य और संघीय क्षेत्र कई क्षेत्रो मे बाँट दिए गए है और प्रत्येक क्षेत्र मे 'क्षेत्रीय परिषद्' नामक एक उच्चस्तरीय सलाहकार संस्था कायम की गई है जिसमें उस क्षेत्र के राज्यों और संघीय क्षेत्रो के समान हितों पर विचार-विमर्श का अवसर मिलता है। क्षेत्रीय योजनाएँ देश में भावात्मक एकता लाने, क्षेत्रीय और भाषाई प्रवृत्तियो को निरुत्साहित करने, पृथक्करण से उत्पन्न प्रभावों को दूर करने, समान हितो के मामले मे एकीकृत और समन्वित प्रादेशिक योजना बनाने, केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोग और सद्भाव बढ़ाने, राजनीतिक सन्तुलन की स्थिति पैदा करने की दिशा मे बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

(6) योजना आयोग तथा संघ-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध—यद्यपि नियोजन एव योजना आयोग के कारण केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है तथापि हानियों की तुलना मे इस व्यवस्था से लाभ कहीं बहुत पहुँचा है और राष्ट्रीय विकास के महत्वपूर्ण कार्यक्रम योजनाबद्ध रूप में लागू किए जा सके है। योजना आयोग और संघवाद मे संघर्ष की बात न कहकर हमे यह कहकर चलना चाहिए कि दोनों का साथ-साथ चलना देश के लिए नितान्त आवश्यक है।

(ग) संघ एवं राज्यों में वित्तीय सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 264 से 291 केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धो का वर्णन करते हैं। केन्द्र और राज्यों में राजस्व-वितरण की व्यवस्था बहुत कुछ भारतीय शासन अधिनियम 1935 का अनुसरण है। संविधान-निर्माताओं ने किसी कठोर सिद्धान्त को लागू न करके लचीलेपन के तत्त्वों का समावेश किया। एक वित्त आयोग की स्थापना का उपबन्ध भी संविधान में किया गया जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल समय-समय पर वित्त-स्थिति पर पुनर्विचार करे और संशोधन एवं परिवर्तन के सुझाव दे। विश्व के किसी भी संघात्मक संविधान में इस तरह की कोई विस्तृत व्यवस्था नहीं पाई जाती जिसके माध्यम से संघ और इकाइयों मे राजस्व-वितरण का समयानुकूल समायोजन और वितरण होता रहे।

भारत का अपना मौलिक योगदान है जिसने केन्द्र और राज्यों के जटिल वित्तीय सम्बन्धों का एक प्रकार से 'सरलीकरण' कर दिया है।[1] संघ एवं राज्यों के मध्य राजस्व-साधनों के विभाजन के आधार पर सिद्धान्त है। कार्य-क्षमता, पर्याप्तता और उपयुक्तता इन तीनों उद्देश्यों की एक साथ प्राप्ति कठिन कार्य है, अतः हमारे संविधान में समझौतावादी प्रवृत्ति अपनाई गई है। तदनुसार विषय को दो भागों में विभक्त किया गया है—प्रथम, संघ एवं राज्यों के मध्य राजस्व का विभाजन, एवं द्वितीय, सहायक अनुदानों का वितरण। संविधान की सातवीं अनुसूची में केन्द्र और राज्य सरकारों के आय के साधन उल्लिखित कर दिए गए हैं। इसकी सूची एक में संघ सरकार तथा सूची दो में राज्य सरकारों के अधिकारों का वर्णन किया गया है।

संविधान के अन्तर्गत कर-निर्धारण की शक्ति का विभाजन इस तरह किया गया है कि केन्द्र राज्यों की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने में समर्थ रहे। इस प्रकार की समन्वय-व्यवस्था नवोदित भारत के सन्तुलित और समन्वित विकास के लिए आवश्यक है। देश की एकता को बनाए रखने के लिए संविधान-निर्माता केन्द्र को सबल बनाने के पक्ष में थे, अतः उन्होंने केन्द्र को विस्तृत और लचीले आय-स्रोत प्रदान किए जबकि राज्यों की आय के स्रोत कुछ कठोर और सीमित ही रह गए। पर इस तथ्य को भी ओझल नहीं किया जा सकता कि ग्रामीण क्षेत्रों से राजस्व का विशाल स्रोत राज्यों के लिए मुक्त रहा और इसे खेदजनक ही कहा जाएगा कि राज्य अपनी आय के इस स्रोत का लाभ उठाने की ओर से उदासीन रहे हैं।

प्रत्येक संघात्मक व्यवस्था में ऐसी व्यवस्था रहती है कि केन्द्रों से राज्यों को अनुदान मिले ताकि राज्य अपने विशद् कर्तव्यों का पालन कर सकें और लोक-कल्याणकारी कार्यक्रमों को तेजी से आगे बढ़ा सकें। भारतीय संविधान भी इसका अपवाद नहीं है। वित्तीय अनुदान एक बहुत ही महत्वपूर्ण शक्ति है जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में नियन्त्रण रखने में सहायता मिलती है और साथ ही केन्द्र राष्ट्रीय विकास की योजनाओं में संघ-राज्य सहयोग और समन्वय ला पाता है।

संविधान के अनुच्छेद 292 के अनुसार केन्द्रीय सरकार संसद् द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर भारत की संचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकती है और इन सीमाओं तक किसी ऋण की गारण्टी भी दे सकती है। अनुच्छेद 293 के अनुसार कोई भी राज्य भारत की सीमाओं के अन्दर राज्य विधान-मण्डल द्वारा नियत सीमाओं में रहते हुए राज्य की संचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकता है और इन्हीं सीमाओं के भीतर किसी ऋण की गारण्टी भी दे सकता है। लेकिन राज्यों की धन उधार लेने की शक्ति पर यह प्रतिबन्ध है कि (i) कोई भी राज्य भारत के बाहर से कर्ज नहीं ले सकता, (ii) किसी भी ऐसे राज्य को केन्द्रीय

1 पायली : कॉन्स्टीट्यूशनल गवर्नमेन्ट इन इण्डिया, पृष्ठ 544.

सरकार तब तक धन उधार देने से इन्कार कर सकती है जब तक कि पिछला उधार राज्य ने लौटा नहीं दिया है, एवं (iii) यदि पिछला कर्ज बकाया रहते हुए भी राज्य धन उधार लेने का आग्रह करे तो केन्द्रीय सरकार को अधिकार है कि वह उन शर्तों के साथ धन उधार दे जिन्हें लगाना वह उचित समझे। भारत में राज्य सरकारें संघ सरकार के ऋण-भार से दबी पड़ी है अतः उन्हें संघ सरकार की शर्तों को अधिकांशतः मानना पड़ता है। लेकिन संघ सरकार गैर-वाजिब शर्तें लादने की प्रवृत्ति से सदैव बची रही है।

संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग सम्बन्धी प्रावधान हैं। इस आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। प्रारम्भ में संविधान के लागू होने के दो वर्ष बाद और तत्पश्चात् प्रति पाँचवे वर्ष अथवा जरूरत पड़ने पर इससे भी पूर्व वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था है। आयोग में एक सभापति और चार अन्य सदस्य होते हैं जिन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करता है। नियत समयोपरान्त पदाधिकारियों की नियुक्ति होने से आयोग के कार्य में अविच्छिन्नता आ जाती है। प्रत्येक आयोग अपने पूर्ववर्ती आयोग के कार्य से लाभ उठाता है।[1]

अनुच्छेद 280 के अनुसार वित्त आयोग मुख्यतः निम्नलिखित विषयों पर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है—

(क) संघ और राज्यों के बीच उन करों की शुद्ध प्राप्तियों के वितरण के सम्बन्ध में जो संघ एवं राज्यों में विभाजित होते हैं अथवा होंगे, और राज्यों के बीच ऐसे करों की प्राप्ति के उस अंश के वितरण के बारे में जो राज्यों को प्राप्त हों।

(ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वों के लिए सहायक अनुदान देने में किन सिद्धान्तों पर चला जाए, इस बारे में।

(ग) अन्य और भी जो विषय राष्ट्रपति, सुदृढ़ वित्त-व्यवस्था के हितों में, आयोग को सौंपे उनके बारे में।

वित्त आयोग यद्यपि वित्तीय सम्बन्धों में परिवर्तन की सिफारिश नहीं कर सकता तथापि केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों के क्षेत्र में इसके कार्य का प्रभाव बहुत अधिक है क्योंकि संविधान केवल यह बताता है कि कौन कर लगाएगा और कौन कर उगाएगा, लेकिन यह नहीं बताता कि उनको किस प्रकार विभाजित किया जाएगा और वितरण सम्बन्धी सिफारिश किस आधार पर की जाती है। [illegible] वित्त आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली जाती हैं।

संविधान लागू होने के बाद से अब तक 7 वित्त आयोगों की [illegible] जा चुकी है। राष्ट्रपति के [illegible] 1977 को संविधान के अनुच्छेद 280 के अनुसरण में [illegible] भारत के उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश [illegible] में सातवें वित्त आयोग का गठन किया।

1 एम. वी. पायली : भारतीय संविधान, 1975, पृष्ठ [illegible]

(घ) संघ और राज्यों में न्यायिक सम्बन्ध

भारतीय संविधान ने, अनेक संघीय शासन-प्रणालियों की न्यायिक व्यवस्था के विपरीत, देश मे एकल न्यायिक व्यवस्था (A Single Judicial System) की स्थापना की है। इस एकल न्यायिक व्यवस्था ने भारत में न्यायिक क्षेत्राधिकार सम्बन्धी एकता स्थापित की है, साथ ही समूचे देश के लिए एकल न्यायिक संवर्ग (Cadre) की भी स्थापना कर दी है।[1] राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय मे अपील की जा सकती है। राज्यो के आपसी विवादों का निपटारा भी उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाता है। उच्चतम न्यायालय को अधिकार है कि वह राज्य के उच्च न्यायालयों को समय-समय पर न्याय सम्बन्धी निर्देश दे। उच्चतम न्यायालय के निर्णय नजीरो के रूप में राजकीय न्यायालयो द्वारा प्रयोग में लाए जाते है। उच्चतम न्यायालय के निर्णयों को लागू करना राजकीय अधिकारियो का सांविधानिक कर्त्तव्य है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी किया गया एक लेख समूचे देश में और विधि के प्रत्येक क्षेत्र मे लागू होता है।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के विवेचन से स्पष्ट है कि विधायी, प्रशासनिक, वित्तीय और न्यायिक सभी क्षेत्रो मे राज्यो की तुलना में केन्द्र को बहुत अधिकार प्रदान किए गए है। भारतीय संघवाद की सामान्य प्रकृति अर्थात् केन्द्रीयता के अनुकूल ही सांविधानिक उपबन्धो की योजना हुई है। राज्यो को केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता है और केन्द्र के आदेशो का अनुपालन भी करना पड़ता है। लेकिन यह कहना ठीक नही है कि राज्यो की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी हो गई है। व्यवहार में केन्द्र राज्यो के प्रति उदार, सहनशील और समझौतावादी रहा है। इसके अतिरिक्त सांविधानिक व्यवस्थाएँ ऐसी है जो राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देती है, केन्द्र तथा राज्यो मे सहयोग और समन्वय लाकर संघर्ष या मुकदमेबाजी की नौबत की बहुत कम गुंजाइश छोड़ती है। केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें एक दूसरे की पूरक है जिसमें संविधान द्वारा प्रमुखता केन्द्र को दी गई है। ग्रेनविल ऑस्टिन ने ठीक ही लिखा है कि "भारत केवल नई दिल्ली मे ही नही है, वरन् उसमे राज्यो की राजधानियाँ भी सम्मिलित है। राज्यो को केन्द्र की सहायता की जरूरत है, लेकिन यह भी सही है कि राज्यों के सहयोग के बिना संघ बहुत दिनों तक कायम नही रह सकता। राज्य सरकारे बहुधा केन्द्र की नीतियों को लागू करने वाली इकाइयाँ हो सकती है, किन्तु उनकी मदद के बिना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओं को कार्यान्वित नही कर सकती। इस तरह केन्द्र और राज्य दोनो एक दूसरे पर निर्भर है।"

केन्द्र-राज्य विवाद के मुख्य कारण और केन्द्र-राज्य मतभेदों को दूर करने के सुझाव

सर्वप्रथम चौथे आम चुनावो और तत्पश्चात् मार्च, 1977 के चुनावों को

1 एल. बी. पायली : वही, पृष्ठ 208.

भारतीय राजनीति की विभाजक रेखा मानना चाहिए। चौथे आम चुनाव के पूर्व केन्द्र और राज्य सरकारो के सम्बन्ध सामान्य थे, सन्तोषजनक थे। केन्द्र और लगभग सभी राज्यो मे एक ही दल अर्थात् कांग्रेस का एकाधिकार था। पण्डित नेहरू का महान् व्यक्तित्व लम्बे अर्से तक देश के नेतृत्व पर छाया रहा था और केन्द्र तथा राज्यो का सम्बन्ध एक दल के अन्दर केन्द्रीय और स्थानीय नेताओं के सम्बन्ध की बात थी। यदि केन्द्र और राज्यों मे मतभेद या मनमुटाव होते थे तो उन्हे दलीय स्तर पर तय कर लिया जाता था।

लेकिन 1969 के चौथे आम चुनावों के बाद स्थिति एकदम बदली। केन्द्र में कांग्रेस का बहुमत पहले से कम हो गया, राज्यों में भी उसका बहुमत पहले से कम हो गया और कई राज्यों मे गैर-कांग्रेसी दलों ने अकेले या संयुक्त मोर्चे की गैर-कांग्रेसी सरकारों का निर्माण किया। इन गैर-कांग्रेसी सरकारो ने—विशेषतया मद्रास की द्रविड़ मुनेत्र कषघम सरकार ने—राज्यो के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग की। यद्यपि 1971 और 1972 के चुनावों के फलस्वरूप श्रीमती इंदिरा गाँधी का पुन एकछत्र नेतृत्व स्थापित हो गया, तथापि इस बीच संविधान के अनेक उपबन्ध विवादास्पद हो गए और उनके वास्तविक निहितार्थों की छानबीन होने लगी। इनमें कुछ प्रमुख उपबन्ध थे —राष्ट्रपति की शक्तियां, प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति के सम्बन्ध, कार्यपालिका पर संसदीय नियन्त्रण की प्रभावकारिता, प्रधान मन्त्री अथवा मुख्य मन्त्री का निम्न सदन को भंग कराने का अधिकार, राज्यपाल की स्थिति, विधान-मण्डलों मे पीठासीन अधिकारियो का आचरण, संघ-राज्य सम्बन्ध सांविधानिक व्यवस्था में विधान-मण्डल तथा न्यायपालिका की सापेक्ष स्थिति, आदि।[1] विरोधी दलों और गैर-कांग्रेसी सरकारो का कहना था कि 1950 से 1967 तक संविधान के विभिन्न उपबन्धों का जो अर्थ लगाया गया है वह एकांगी था और मुख्य रूप से कांग्रेस सरकारो के अपने आग्रहो से प्रेरित था। मार्च, 1977 में ऐतिहासिक सत्ता-परिवर्तन हुआ और केन्द्र में जनता पार्टी ने सरकार बनाई। बाद के कुछ ही महीनों में देश के अधिकांश राज्यो मे भी जनता पार्टी की सरकारें सत्तारूढ़ हो गईं, विशेषकर दक्षिण कांग्रेस का गढ़ बना रहा। कांग्रेस की सरकारें केन्द्र पर पक्षपात का आरोप लगाती रहीं हैं। इस प्रकार केन्द्र और राज्यों मे तनाव के बिन्दु उभरते रहे।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे तनाव के मुख्य कारण अथवा बिन्दु

1. राज्य इस बात पर क्षोभ प्रकट करते हैं कि भारतीय संविधान मे शक्तियों का वितरण केन्द्र के पक्ष मे अधिक है, जिससे उनके स्वायत्तता पर आंच आती है। 1970 मे तमिलनाडु सरकार द्वारा नियुक्त राजमन्नार समिति ने सिफारिश की कि संघ सूची और समवर्ती सूची मे से कुछ शक्तियाँ निकालकर राज्य सूची मे डाल देनी चाहिए तथा केन्द्रीय राजस्व स्रोतों को घटाकर राज्यों को हस्तान्तरित कर देना चाहिए।

1 *Subhash Kashyap* : The Politics of Defection, 'Asian Survey', March 1970, p. 145

7. कुछ राज्यों का आरोप रहा है कि उनके आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी जुटाने में केन्द्र का समुचित सहयोग नहीं मिल रहा है। केरल सरकार प्रायः इस प्रकार की शिकायत करती रही है कि शिक्षा के क्षेत्र में सबसे आगे होने पर भी केरल के औद्योगिक विकास के प्रति केन्द्रीय सरकार उदासीन रही है।

8. कोई नया कारखाना खोलने अथवा बिजली और सिंचाई के लिए पानी के विभाजन आदि प्रश्नों पर भी यदा-कदा तनाव पैदा होते रहते हैं।

9. केन्द्र और राज्यों में इस बात पर भी कभी-कभी तनाव पैदा हो जाता है कि राज्यों द्वारा आर्थिक अनुदान या आर्थिक सहायता माँगने पर केन्द्रीय सरकार एक ओर तो उदार रवैया नहीं अपनाती है और दूसरी ओर वह यह आरोप लगाती है कि राज्य सरकारें अपने स्वयं के राजस्व स्रोतों का समुचित विदोहन नहीं करतीं।

10. केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा कितनी ही बार एक-दूसरे पर संकीर्ण दलबन्दी की भावना के आरोप लगाए जाते रहे हैं।

11. "कुछ विपक्षी दल क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक भावनाओं की मदद से जनता में लोकप्रिय होना चाहते हैं और क्षेत्रीय स्तर पर निर्वाचन में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से केन्द्र और राज्य के बीच में तनाव पैदा करते हैं। कुछ वामपंथी दल, जिनकी लोकप्रियता कुछ क्षेत्रों तक सीमित है, निर्वाचन नीति के रूप में भी केन्द्र के विरुद्ध राजनीतिक प्रचार करते हैं।"

1977 में मार्क्सवादियों द्वारा राज्यों के लिए स्वायत्तता की माँग

केन्द्र और राज्यों में तनाव का सबसे मुख्य बिन्दु यही रहा है कि राज्य चाहते हैं कि उन्हें अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए, उन पर केन्द्र का अंकुश न रहे। चौथे आम चुनावों के बाद मद्रास के तत्कालीन मुख्य मन्त्री अन्नादुराई ने कहा था कि—"हमें संविधान-निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त और व्यवहार को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान में केन्द्र द्वारा केवल उतनी ही शक्तियाँ व्यवहार में लाई जानी चाहिएँ कि देश की सम्प्रभुता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं जैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता।" मार्च, 1977 में कांग्रेस शासन के पराभव के बाद स्वायत्तता की माँग कुछ जोर-शोर से उठी। पश्चिमी बंगाल के वामपंथी मोर्चे की सरकार के मुख्य मन्त्री ज्योति बसु ने एक परिपत्र तैयार कर सभी राज्यों को भेजा जिसमें निम्नलिखित सात माँगें की गईं—

(1) केन्द्र के पास प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध, व्यापार, मुद्रा संचार तथा आर्थिक समन्वय जैसे विषय ही रहें। शेष सभी विषय राज्यों को सौंप दिए जाएँ। अवशिष्ट शक्तियाँ भी राज्यों को दे दी जाएँ।

(2) संविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को समाप्त कर दिया जाए और राज्यपाल के पद को पूर्ण सांविधानिक बनाया जाए।

(3) संविधान की प्रस्तावना में 'यूनियन' (Union) शब्द के स्थान पर 'फेडरेशन' (Federation) शब्द रखा जाए।

2. राज्य मन्त्रिमण्डल प्रायः यह अनुभव करते रहे हैं कि उनकी विधायी और प्रशासनिक शक्तियाँ इतनी सीमित है कि अपने निर्णयो के कार्यान्वियन मे उन्हें केन्द्र का मुँह ताकना पडता है।

3 राज्यपाल केन्द्र द्वारा स्थापित ऐसे शक्तिशाली अभिकरण है जो राज्यों मे केन्द्र का वर्चस्व बनाए रखने मे सहयोग देते है।

4. ऐसे भी आरोप लगाए जाते है कि केन्द्र जिन राज्यो से अप्रसन्न होता है, उनके साथ राजस्व वितरण में पक्षपात करता है। बंगाल, महाराष्ट्र और तमिलनाडु शासन का प्रायः यह आरोप रहा है कि केन्द्रीय सरकार इन प्रदेशो मे संग्रहीत राजस्व का पर्याप्त भाग उन्हे नही देती है।

5. केन्द्रीय सरकार को भी यह शिकायत रही है कि कुछ राज्य सरकारें सविधान प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार करती हैं कि केन्द्रीय सरकार की सामाजिक न्याय और आर्थिक विकास को प्रगतिशील नीतियो के मार्ग में अड़चन पैदा होती है। कितनी ही बार योजना आयोग के सुझावो को कार्यान्वित नही किया जाता है। यह स्थिति प्रायः तब अधिक उठती है जब राज्यो मे विपक्ष की सरकार कायम हो।

6. आपात्काल के दौरान राज्य सम्पूर्णतः केन्द्र निर्देशित इकाइयाँ बन जाती है। यह स्थिति कुछ राज्यो को बहुत अप्रिय रही है। उनका यह आग्रह रहा है कि सविधान के उन प्रावधानो मे सशोधन होना चाहिए जो केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन देते हैं। नागरिकता, न्यायपालिका और नौकरशाही के एकात्मक आधार को समाप्त कर द्वैध नागरिकता, दोहरी नौकरशाही और समानान्तर न्यायपालिका की स्थापना करनी चाहिए। राज्य सूची की शक्तियो के प्रयोग के सम्बन्ध में राज्य के उच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम होना चाहिए। राज्य सरकार को अपने उच्च अधिकारियो की नियुक्ति, पदोन्नति और पद से हटाने का पूरा-पूरा अधिकार मिलना चाहिए। कुछ क्षेत्रीय दल जैसे शिवसेना या द्रविड़ मुनेत्र कषघम दोहरी नागरिकता के सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं। राज्यपाल के विषय में भी कुछ लोगों की माँग है कि उसकी नियुक्ति राज्य के मुख्य मन्त्री की सहमति से होनी चाहिए और उसे प्रत्येक कार्य प्रदेश के मन्त्रिमण्डल की राय से करना चाहिए। उसे केन्द्रीय सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करने का अधिकार नही देना चाहिए। इसी प्रकार आपात्कालीन शक्तियों के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारो को भंग करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए। जिस प्रकार केन्द्र में ससदीय शासन को भंग करने के लिए कोई प्रावधान नही है, उसी प्रकार राज्य के स्तर भी ससदीय शासन को स्थाई रूप देना चाहिए। जब तक किसी मन्त्रिमण्डल के प्रति राज्य की विधान-सभा अविश्वास का प्रस्ताव पास न करे, उसे भंग करने का किसी को अधिकार नहीं मिलना चाहिए।[1]

1 डॉ. कृष्णकान्त मिश्र : भारत की राजनीतिक प्रणाली, पृष्ठ 148.

7. कुछ राज्यों का आरोप रहा है कि उनके आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी जुटाने मे केन्द्र का समुचित सहयोग नही मिल रहा है। केरल सरकार प्रायः इस प्रकार की शिकायत करती रही है कि शिक्षा के क्षेत्र मे सबसे आगे होने पर भी केरल के औद्योगिक विकास के प्रति केन्द्रीय सरकार उदासीन रही है।

8. कोई नया कारखाना खोलने अथवा बिजली और सिंचाई के लिए पानी के विभाजन आदि प्रश्नों पर भी यदा-कदा तनाव पैदा होते रहते है।

9. केन्द्र और राज्यों मे इस बात पर भी कभी-कभी तनाव पैदा हो जाता है कि राज्यों द्वारा आर्थिक अनुदान या आर्थिक सहायता माँगने पर केन्द्रीय सरकार एक ओर तो उदार रवैया नही अपनाती है और दूसरी ओर वह यह आरोप लगाती है कि राज्य सरकारें अपने स्वयं के राजस्व स्रोतों का समुचित विदोहन नही करती।

10. केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा कितनी ही बार एक-दूसरे पर सकीर्ण दलबन्दी की भावना के आरोप लगाए जाते रहे है।

11. "कुछ विपक्षी दल क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक भावनाओं की मदद से जनता मे लोकप्रिय होना चाहते है और क्षेत्रीय स्तर पर निर्वाचन मे सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से केन्द्र और राज्य के बीच मे तनाव पैदा करते है। कुछ वामपंथी दल, जिनकी लोकप्रियता कुछ क्षेत्रो तक सीमित है, निर्वाचन नीति के रूप मे भी केन्द्र के विरुद्ध राजनीतिक प्रचार करते है।"

1977 में मार्क्सवादियों द्वारा राज्यो के लिए स्वायत्तता की माँग

केन्द्र और राज्यों मे तनाव का सबसे मुख्य बिन्दु यही रहा है कि राज्य चाहते है कि उन्हें अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए, उन पर केन्द्र का अकुश न रहे। चौथे आम चुनावो के बाद मद्रास के तत्कालीन मुख्य मन्त्री अन्नादुराई ने कहा था कि—"हमे सविधान-निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त और व्यवहार को अपनाना चाहिए। संघात्मक सविधान में केन्द्र द्वारा केवल उतनी ही शक्तियाँ व्यवहार मे लाई जानी चाहिएँ कि देश की सम्प्रभुता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं जैसा व्यवहार नही किया जा सकता।" मार्च, 1977 में कांग्रेस शासन के पराभव के बाद स्वायत्तता की माँग कुछ जोर-शोर से उठी। पश्चिमी बगाल के वामपथी मोर्चे की सरकार के मुख्य मन्त्री ज्योति बसु ने एक परिपत्र तैयार कर सभी राज्यो को भेजा जिसमे निम्नलिखित सात माँगें की गईं—

(1) केन्द्र के पास प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध, व्यापार, मुद्रा संचार तथा आर्थिक समन्वय जैसे विषय ही रहें। शेष सभी विषय राज्यो को सौंप दिए जाएँ। अवशिष्ट शक्तियाँ भी राज्यो को दे दी जाएँ।

(2) सविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को समाप्त कर दिया जाए और राज्यपाल के पद को पूर्ण सांविधानिक बनाया जाए।

(3) संविधान की प्रस्तावना मे 'यूनियन' (Union) शब्द के स्थान पर 'फैडरेशन' (Federation) शब्द रखा जाए।

(4) राज्य विधान-मण्डल जो भी कानून पारित करे उसे किसी भी स्थिति में राष्ट्रपति को स्वीकृति के लिए सुरक्षित न रखा जाए।
(5) योजना आयोग के स्वरूप और गठन का निश्चय राष्ट्रीय विकास परिषद् करे।
(6) केन्द्रीय सरकार की आय का 75 प्रतिशत भाग राज्यों को दिया जाए।
(7) राज्य-सभा के सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाए। उसमें सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व हो। संसद् के दोनों सदनों के अधिकार भी समान हों।

जम्मू-कश्मीर राज्य के मुख्य मन्त्री तथा कुछ अन्य द्वारा ज्योति बसु की माँगों का समर्थन किया गया। जम्मू-कश्मीर राज्य को देश के अन्य राज्यों की तुलना में अधिक स्वायत्तता प्राप्त है, किन्तु फिर भी 1 अक्टूबर, 1977 को शेख अब्दुल्ला ने कहा—"समय आ गया है जबकि विधिवेत्ताओं, केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना चाहिए।"[1] 11 फरवरी, 1978 को उन्होंने पुनः कहा कि—"30 साल पहले की परिस्थितियाँ अब नहीं रही हैं, अतः अब राज्यों को अधिक अधिकार दिए जाने चाहिएँ ताकि वे अपना विकास कर सकें। केन्द्र तथा राज्यों के समस्त सम्बन्धों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए और इस विषय पर राष्ट्रीय बहस होनी चाहिए।"[2] जनता पार्टी द्वारा शासित राज्यों के कुछ मुख्य मन्त्रियों ने भी दबे स्वर में इस प्रकार का विचार व्यक्त किया कि राज्यों को अधिक वित्तीय साधन प्रदान किए जाने चाहिएँ।

केन्द्र-राज्य मतभेदों को दूर करने सम्बन्धी कुछ सुझाव

विरोधी दलों, अनेक शिक्षा शास्त्रियों, गैर-कांग्रेसी राज्य सरकारों द्वारा केन्द्र-राज्य मतभेदों को दूर करने की दिशा में मुख्यतः निम्नलिखित सुझाव दिए जाते रहे हैं—

1. भारतीय संविधान स्वरूप में संघात्मक किन्तु आत्मा से एकात्मक है, अतः इसे आत्मा से भी संघात्मक बनाया जाए। इसके लिए आवश्यक है कि समवर्ती सूची के विषयों का पुनर्विभाजन इस प्रकार हो कि शक्ति-विभाजन का सन्तुलन राज्यों के पक्ष में हो जाए।

2. राज्यों को कुछ लचीले कर प्रदान किए जाएँ ताकि उनकी आय बढ़ सके।

3. केन्द्र के पास राज्यों को विवेकानुसार अनुदान देने की शक्ति न रहे।

4 वित्त आयोग को एक स्थाई निकाय बना दिया जाए।

5. योजना आयोग को स्वायत्त सांविधानिक स्तर प्रदान किया जाए।

6. अनुच्छेद 263 के अनुसार अन्तर्राज्यीय परिषद् (Inter-State Council) की स्थापना की जाए जो राष्ट्रपति को सलाह देने का कार्य करे।

7. राष्ट्रपति एवं राज्यपाल सम्बन्धी सांविधानिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन करके उनकी शक्तियों में इस प्रकार वृद्धि की जाए कि वे बिना किसी विवशता के स्वविवेक से काम कर सकें।

1 राजस्थान पत्रिका, 29 जनवरी, 1978
2 हिन्दुस्तान टाइम्स : 12 फरवरी, 1978.

8. केन्द्र राज्य सूची के विषयो मे कतई हस्तक्षेप न करे। राज्य सूची के विषयो सम्बन्धी कार्यक्रम लागू करने, उन पर धन व्यय करने आदि का पूरा उत्तरदायित्व राज्य सरकारो पर रहे।

9. प्रशासन, वित्त और विधायी सभी क्षेत्रो मे केन्द्रीय नियन्त्रण की व्यवस्थाएँ शिथिल की जाएँ।

10. अखिल भारतीय सेवा के जो अधिकारी राज्य सेवा मे रहे उन पर पूरा नियन्त्रण राज्य सरकार का हो।

11. राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण मामलो मे परामर्श के लिए एक उच्च स्तरीय सांविधानिक सलाहकार समिति स्थापित की जाए जो राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, नियन्त्रक एव महालेखापाल, योजना आयोग के सदस्य आदि की नियुक्ति के बारे मे, मन्त्रिमण्डल निर्माण के समय अनुपालनीय अभिसमयो के बारे में, व्यवस्थापिका को भग करने और विधेयको को राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु आरक्षित करने के सम्बन्ध मे और इसी प्रकार के अन्य राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण विषयो पर सलाह दे।

12. प्रत्येक राज्य के लिए पृथक्-पृथक् सांविधानिक सलाहकार समिति का गठन हो।

13. संविधान के लिए भी अनुच्छेद मे राज्यो के बहुमत के बिना सशोधन नही किया जाना चाहिए।

14. वित्त आयोग की सिफारिशो को भविष्य मे और अधिक उदारतापूर्ण बनाना चाहिए।

उपरोक्त मे से ऐसे सुझाव स्वीकार नही किए जा सकते हैं जिनका अर्थ है केन्द्र को दुर्बल बनाना। भारत राष्ट्र जब पडोसी शत्रुओं से घिरा है, कुछ विदेशी ताकतें राष्ट्रीय एकता पर आघात करने को तुली है, राजनीतिक दल लोकतान्त्रिक रवैये से कोसो दूर है, देश में जोड़-तोड की राजनीति प्रबल है, रचनात्मक इकाइयों व कार्यक्रमो के प्रति राज्य सरकारें वांछित रूप से उत्साहपूर्ण नहीं रही हैं, देश मे 'गरीबी का सकट' विद्यमान है, हिंसा और दबाव की राजनीति का खुलकर प्रदर्शन होता है, तो *केन्द्र को अशक्त करने सम्बन्धी कोई भी व्यवस्था अस्वीकार्य होनी चाहिए।*

एक सघात्मक व्यवस्था मे जहाँ केन्द्रीय और राज्य सरकारों का अस्तित्व हो, कुछ न कुछ मतभेदो का बना रहना स्वाभाविक है। अतः प्रयत्न इस दिशा मे होना चाहिए कि केन्द्र को बिना दुर्बल बनाए ऐसी व्यवस्थाएँ की जाएँ कि दोनो सरकारों मे मतभेद कम से कम उत्पन्न हों और जो मतभेद हों, उन्हे पूर्वापेक्षा अधिक सरलता के साथ मिटाया जा सके। केन्द्र यथापूर्व शक्तिशाली बना रहे और राज्यों को भी आत्म-सन्तोष हो सके।

---

12 मौलिक अधिकार और नीति-निर्देशक तत्त्व
(FUNDAMENTAL RIGHTS AND DIRECTIVE PRINCIPLES)

लोकतन्त्र का उद्देश्य नागरिकों के व्यक्तित्व का उच्चतम विकास करना है। व्यक्तित्व के विकास का नागरिक की स्वतन्त्रता के साथ सम्बन्ध है। मौलिक अधिकार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और अधिकारों के रूप में राज्य-शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के श्रेष्ठ उपाय हैं। आधुनिक लोकतान्त्रिक संविधानों के एक भाग में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सूची दी जाती है। ये अधिकार संविधान द्वारा प्रत्याभूत (Guaranteed) होते हैं। इन अधिकारों को संविधान द्वारा कार्यपालिका तथा विधान-मण्डल के अतिक्रमण (Violation) से सुरक्षित किया जाता है।[1]

जहाँ मौलिक अधिकारों का प्रयोजन एक समतापूर्ण समाज की स्थापना करना और नागरिकों को आवश्यक स्वतन्त्रता प्रदान करना है वहाँ निर्देशक सिद्धान्तों का प्रयोजन शान्तिपूर्ण तरीकों से सामाजिक क्रान्ति का पथ-प्रशस्त कर कुछ सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को तत्काल सिद्ध करना है। भारत के संविधान में भाग 3 (अनुच्छेद 12 से 35) में मूल अधिकारों और भाग 4 (अनुच्छेद 36 से 51) में राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों की व्यवस्था है।

भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के विशिष्ट लक्षण
(Special Features of the Fundamental Rights)

भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र अथवा मौलिक अधिकारों के कुछ विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं—

1. मौलिक अधिकार संघीय सरकार और राज्यों तथा प्रत्येक अधिकारी पर, जिसे विधि-निर्माण या स्वविवेक की शक्ति हो, सीमाएँ (Limitations) लगाते हैं। ये उन सभी पर बन्धनकारी (Binding) हैं।

2. मौलिक अधिकार भारत की आधारभूत एकता पर बल देते हैं। इन अधिकारों के सम्बन्ध में नागरिक को हक है कि वह सभी अधिकारियों के हाथों समान व्यवहार प्राप्त करे।

1 एम. वी. पायली : भारत का संविधान, पृष्ठ 68-69.

3. ये अधिकार पूर्णतः निरपेक्ष (Absolute) नहीं है। समाज हित मे संविधान ने राज्य को इन अधिकारों पर सीमाएँ लगाने का अधिकार दिया है। संविधान ने इन सीमाओं को स्पष्ट कर दिया है।

4. इन अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध मे संविधान मे नागरिकों (Citizens) और विदेशियों (Aliens) में अन्तर किया गया है। कानून के समक्ष समानता, धार्मिक स्वतन्त्रता आदि के अधिकार नागरिकों और विदेशियों के लिए समान हैं जबकि भाषण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता के साथ सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार केवल नागरिकों को दिए गए है।

5. कोई भी व्यक्ति मौलिक अधिकारों के अध्याय के बाहर राज्य के विरुद्ध किसी मौलिक अधिकार का दावा नहीं कर सकता।

6. भारतीय मौलिक अधिकार अपने प्रयोग मे केवल राज्य और उसके अभिकरणों को ही नहीं बल्कि कुछ मामलों मे निजी व्यक्तियों और सगठनों को भी प्रभावित करते है। उदाहरण के लिए किसी भी रूप मे अस्पृश्यता का व्यवहार व्यक्ति के लिए दण्डनीय अपराध है। इसी प्रकार लोगों द्वारा भेदभाव के कुछ प्रकार (*Certain forms of discrimination*) कानून के अनुसार दण्डनीय माने गए है।

7. मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए और उन्हें वास्तविक बनाने की दृष्टि से सांविधानिक उपचारों की व्यवस्था की गई है। इन सांविधानिक उपचारों के अधिकार को मौलिक अधिकार ही मान लिया गया है।

8. संविधान मे उन परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख है जिनमे राज्य सम्पूर्ण देश के हित मे नागरिकों के मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सके या उनके उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा सके। निम्नलिखित अवस्थाओं मे मौलिक अधिकारों को निलम्बित किया जा सकता है—(1) प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों के सम्बन्ध (अनुच्छेद 33), (2) जब मार्शल-ला लागू हो (अनुच्छेद 34), (3) संविधान में संशोधन द्वारा (अनुच्छेद 368), (4) आपात्कालीन घोषणा के अन्तर्गत (अनुच्छेद 352)।

9. संविधान मे इन अधिकारों को समाविष्ट करने का उद्देश्य एक "विधि शासित सरकार की स्थापना करना है न कि मनुष्यों द्वारा संचालित सरकार की" (A Government of law and not of men) अर्थात् एक ऐसी शासन-व्यवस्था जिसमें बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों का शोषण न किया जा सके। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि 'विधि शासन' की स्थापना की दिशा मे भारतीय संविधान संसार के अन्य संविधानों से बहुत आगे है।

10. मौलिक अधिकारों की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित मे सामंजस्य स्थापित हो सके।

स्पष्ट है कि मौलिक अधिकार देश के नागरिकों को न्याय और उचित व्यवहार की सुरक्षा प्रदान करता है। ये अधिकार राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के बीच सन्तुलन स्थापित करते हैं। मौलिक अधिकार मानवीय स्वतन्त्रता का मापदण्ड और संरक्षक दोनों है। ये केवल कागजी प्रतिज्ञाएँ न होकर

पूर्ण वैधानिक अधिकार हे और संविधान में व्यवस्था है कि नागरिक अपने इन अधिकारो की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों की शरण ले। न्यायपालिका को अधिकार है कि वह व्यवस्थापिका या कार्यपालिका की ऐसे कानूनो और कार्यों को अवैधानिक घोषित कर दे, जो मौलिक अधिकारो को अनुचित रूप से प्रतिबन्धित करते है।

संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकार
(The Fundamental Rights under the Constitution)

भारतीय संविधान ने अनुच्छेद 14 से 32 तक निम्नलिखित मौलिक अधिकारो का उल्लेख किया गया है –

(1) समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14, 15, 16, 17 एव 18)
(2) स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19, 20, 21 एवं 22)
(3) शोषण से मुक्ति का अधिकार (अनुच्छेद 23 एव 24)
(4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 23 एव 24)
(5) सांस्कृतिक एव शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (अनुच्छेद 29 एवं 30)
(6) सम्पत्ति का अधिकार (अनुच्छेद 31, 31 (क) एव 31 (ख) 44वें संशोधन द्वारा निरस्त)
(7) सांविधानिक उपचारो का अधिकार (अनुच्छेद 32)

(1) समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14–18)
(Right to Equality)

समानता के अधिकार मे कानून के समक्ष समानता, धर्म, मूल्य, वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव का प्रतिशोध और रोजगार के विषय में अवसर की समानता शामिल है। समानता के अधिकार का उद्देश्य है नागरिको को राज्य द्वारा प्रशासनिक तथा वैधानिक क्षेत्रो मे किए जाने वाले भेदभावपूर्ण व्यवहार से सुरक्षित किया जाए।

अनुच्छेद 14 (कानून के समक्ष समानता) —इस अनुच्छेद के अनुसार "भारत राज्य-क्षेत्र मे किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता मे अथवा कानूनो के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नही किया जाएगा।" यह वाक्यांश 'विधि अथवा कानून के समक्ष समानता' (Equality before Law) इंगलिश सामान्य विधि (English Common Law) का प्रयोग है किन्तु 'कानून का समान संरक्षण' (Equal Protection of Law), यह वाक्यांश अमेरिकी संविधान की देन है। इन दोनों वाक्यांशो का उद्देश्य 'स्तर एव अवसर' की समानता स्थापित करना है।

समानता का अधिकार इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है कि यह न केवल विधान-मण्डलों द्वारा पारित भेदभावपूर्ण कानूनो से रक्षा करता है बल्कि कार्यपालिका की निरकुंशता पर भी यह एक प्रभावकारी अकुंश है। पर इसका यह अर्थ नही है कि औचित्यपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की व्यवस्था नही की जा सकती। यदि कानून कर लगाने के सम्बन्ध में अमीर और गरीब में अथवा

सुविधाएँ प्रदान करने में स्त्रियों और पुरुषों में भेद करता है तो इसे कानून के समक्ष समनता का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता।

अनुच्छेद 15 (सामाजिक समानता)—इस अनुच्छेद के अनुसार धर्म, मूल्य, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर किसी भी नागरिक के प्रति राज्य भेदभाव नहीं करेगा। कानून द्वारा निश्चित किया गया है कि नागरिकों के साथ दुकानों, सार्वजनिक होटलों, सार्वजनिक स्थानों—जैसे कुओं, तालाबों, स्नानघरों, सड़कों आदि में प्रवेश, उनके उपयोग आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 15 इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि यह हानिकारक भेदभाव को क्षीण करता है, इकहरी नागरिकता की भावना को प्रोत्साहन देता है और सामाजिक समानता को सबल बनाता है।[1] यह राज्य के न्यायोचित भेदभाव का निषेध नहीं करता, केवल अनुचित भेदभाव की आज्ञा वर्जित है।

अनुच्छेद 16 (आर्थिक समानता)—इस अनुच्छेद के अनुसार—"राज्याधीन नौकरियों अथवा पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी। केवल धर्म, मूल्य, वंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में भेदभाव नहीं किया जाएगा।" इसके अन्तर्गत राज्य को यह अधिकार है कि वह राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर दे। संसद् कानून द्वारा राज्यों को अधिकार दे सकती है कि वे उस पद के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक ठहरा दे। पिछड़े हुए वर्गों के लिए भी राजकीय सेवाओं में स्थान सुरक्षित किए जा सकते हैं।

अनुच्छेद 17 (अस्पृश्यता का अन्त)—इस अनुच्छेद में कहा गया है—"अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता को लागू करना एक दण्डनीय अपराध है।" स्पष्ट है कि छुआछूत या अस्पृश्यता को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया है और इसका किसी प्रकार से व्यवहार में लाना अपराध घोषित किया गया है। इस अनुच्छेद के द्वारा भारतीय संविधान ने महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित अस्पृश्यता उन्मूलन की महान् सामाजिक क्रान्ति पर विधान की मोहर लगा दी है। इस अनुच्छेद द्वारा उस अत्यन्त निकृष्ट सामाजिक असमानता का अन्त कर दिया गया है जिसके कारण हिन्दू समाज विकृत हो गया था। कुओं, सड़कों, स्कूलों तथा उपासना गृहों जैसे स्थानों पर अस्पृश्यों को बलात् दूर रखने की सामाजिक रीतियाँ अवैध घोषित कर दी गई हैं। इस प्रतिबन्ध के अन्तर्गत निर्दिष्ट अथवा अनिर्दिष्ट सभी प्रकार की अस्पृश्यता का निषेध आ जाता है। अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए भी संसद् द्वारा 1955 में 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' (Untouchability Offence Act) पारित किया गया जो सारे भारत पर लागू होता है।

अनुच्छेद 18 (उपाधियों का अन्त)—इस अनुच्छेद में व्यवस्था है कि "सेना अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधियों के अलावा राज्य अन्य कोई उपाधियाँ प्रदान नहीं

1 *M. V. Pylee:* Constitutional Government in India, p. 207.

करेगा।" यह भी कहा गया है कि "भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने भारत रत्न, पद्मविभूषण, पद्मभूषण, पद्मश्री आदि उपाधियाँ प्रदान करने की प्रथा आरम्भ की थी। ये उपाधियाँ सांविधानिक और उन्ही लोगो को प्रदान की जा रही थी जो कला, साहित्य, विज्ञान अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र मे कोई विशिष्ट या असाधारण कार्य करते हों। जनता सरकार ने जुलाई, 1977 मे एक ससदीय कानून द्वारा इन उपाधियों को समाप्त कर दिया क्योंकि उसकी दृष्टि मे ये उपाधियाँ सविधान मे निहित समानता के सिद्धान्त के अनुकूल नही थी।

समानता के अधिकार के सम्बन्ध मे इन पाँचो अनुच्छेदों से यह स्पष्ट है कि सविधान के अन्तर्गत देश मे सामाजिक और राजनीतिक समानता को स्थापित करने का जितना प्रभावशाली प्रयत्न किया गया है उतना आर्थिक समानता लाने की दिशा मे नही। भारत सरकार इस बात के प्रति जागरूक है कि आर्थिक समानता की प्रभावशाली व्यवस्था किए बिना राजनीतिक और सामाजिक समानता द्वारा जन-साधारण को विशेष लाभ नही पहुँचा सकता।

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19–22)
(Right to Freedom)

वैयक्तिक स्वतन्त्रताएँ मौलिक अधिकारो में सर्वोच्च हैं और इस कथन को चुनौती नही दी जा सकती कि 'स्वतन्त्रता ही जीवन है।' भारतीय सविधान के अनुच्छेद 19 से 22 तक मे देश के नागरिको को स्वतन्त्रता सम्बन्धी विभिन्न अधिकार प्रदान किए गए हैं। वस्तुतः ये चारो अनुच्छेद "वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार-पत्र है।"[1] इनमें 19वाँ अनुच्छेद सबसे महत्त्वपूर्ण है, जो नागरिको को निम्नलिखित सात स्वतन्त्रताएँ प्रदान करता है—

(क) वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता,
(ख) सभा करने की स्वतन्त्रता,
(ग) सघ बनाने की स्वतन्त्रता,
(घ) भ्रमण की स्वतन्त्रता,
(ङ) आवास की स्वतन्त्रता,
(च) सम्पत्ति अर्जन, धारण और व्ययन की स्वतन्त्रता (44वें सविधान सशोधन अधिनियम 1978 द्वारा निरस्त), एवं
(छ) पेशा, व्यवसाय, वाणिज्य एव व्यापार की स्वतन्त्रता।

ये स्वतन्त्रताएँ अप्रतिबन्धित नही है। राज्य 'युक्तियुक्त प्रतिबन्ध' (Reasonable Restriction) *लगा सकता है। वर्तमान समय मे भाषण और अभिव्यक्ति की* स्वतन्त्रता पर सात प्रतिबन्ध लागू है—(1) राज्य की सुरक्षा और भारत की

1 एम. वी. पायली : वही, पृष्ठ 87.

प्रभुसत्ता एवं अखण्डता, (2) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, (3) सार्वजनिक व्यवस्था, (4) सदाचार एवं नैतिकता, (5) न्यायालय का अवमान (Contempt of Court), (6) मानहानि, एवं (7) हिंसा को प्रोत्साहन। राज्य, सार्वजनिक सुरक्षा के हित में, जुलूस या एकत्रित होने की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकता है। इसी प्रकार, स्वतन्त्रता की आड में ऐसे संघ या समुदायों का निर्माण नहीं किया जा सकता जो षड्यन्त्र करें अथवा शान्ति और व्यवस्था को भंग करें। राज्य, सामान्य जनता और अनुसूचित जातियों के हित में, अबाध भ्रमण की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। सामान्य जनता और अनुसूचित जातियों के हित में राज्य द्वारा अबाध निवास की स्वतन्त्रता पर भी उचित प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

जहाँ तक सम्पत्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार का सम्बन्ध है, 44वें संविधान संशोधन नियम 1978 द्वारा अनुच्छेद 19 के खण्ड (च) को संविधान से निकाल दिया गया है। फलस्वरूप सम्पत्ति का अधिकार अब मूल अधिकार न रहकर केवल एक विधिक (कानूनी) अधिकार के रूप में रह गया है जिसे साधारण कानून द्वारा विनियमित किया जाएगा।

अनुच्छेद 20 (अपराध की दोष-सिद्धि के विषय में संरक्षण)—अनुच्छेद 20 में अपराधों के लिए दोष-सिद्धि के विषय में संरक्षण दिया गया है। यह व्यवस्था की गई है कि किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए तब तक दण्डित नहीं किया जाएगा जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि उसने अपराध करने के समय किसी प्रचलित कानून का उल्लंघन किया है। अपराध करने वाले व्यक्ति को उतने से अधिक दण्ड भी नहीं दिया जाएगा जो अपराध करने के समय प्रवृत्त कानून के अधीन दिया जा सकता हो। यह भी व्यवस्था है कि कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित नहीं किया जाएगा। साथ ही, किसी अपराध में कोई अभियुक्त व्यक्ति स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 21 (व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जीवन की सुरक्षा)—इस अनुच्छेद में जीवन के अधिकार को मान्यता दी गई है। यह कहा गया है—"किसी व्यक्ति को उसके प्राण और दैहिक स्वाधीनता से, कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर, अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।"

अनुच्छेद 22 (बन्दीकरण तथा नजरबन्दी से बचाव)—संविधान के अनुच्छेद 22 द्वारा बन्दी व्यक्तियों को कुछ सांविधानिक अधिकार प्रदान किए गए हैं और निवारक नजरबन्दी (Preventive Detention) के बारे में व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 22(1) और 22(2) द्वारा निम्नलिखित सांविधानिक अधिकार प्रदान किए गए हैं—

(क) किसी भी गिरफ्तार व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के कारण से यथा-शीघ्र अवगत करवाए बिना बन्दी बनाकर नहीं रखा जा सकेगा।

(ख) उसे अपनी रुचि के वकील से परामर्श करने तथा उससे अपनी सफाई दिलवाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा।

(ग) उसे गिरफ्तारी से 24 घण्टे के अन्दर नजदीक के मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाएगा।

(घ) उसे न्यायालय की आज्ञा के बिना 24 घण्टे से अधिक हिरासत में नहीं रखा जाएगा।

अनुच्छेद 22 द्वारा वन्दी बनाए जाने वाले व्यक्तियों को जो अधिकार दिए गए हैं वे दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होंगे—

प्रथम—जिन बन्दियों का विदेशी शत्रु राष्ट्र के साथ सम्बन्ध है, एवं

द्वितीय—जिन व्यक्तियों को किसी निवारक नजरबन्दी कानून के अन्तर्गत नजरबन्द किया गया है।

निवारक निरोध
(Preventive Detention)

अनुच्छेद 22(4) से 22(7) तक निवारक निरोध (Preventive Detention) की चर्चा की गई है। निवारक निरोध सकटकाल में ही नहीं बल्कि साधारण काल में भी लागू रहता है। 'निवारक निरोध' पदावली की संविधान में कोई परिभाषा नहीं दी गई है। 'निवारक' (Preventive) शब्द दण्डात्मक (Punitive) शब्द का विलोम है। 'निवारक गिरफ्तारी' दण्डात्मक गिरफ्तारी से भिन्न है। दण्डात्मक गिरफ्तारी निरुद्ध व्यक्ति को दण्ड देने के उद्देश्य से की जाती है, किन्तु निवारक बन्दीकरण का उद्देश्य दण्ड देना नहीं, वरन् अपराध करने से रोकना या निरुद्ध व्यक्ति को किसी निश्चित उद्देश्य के पूरा करने से रोकना है। इसमें निरुद्ध किए गए व्यक्ति के ऊपर कोई अपराध का आरोप नहीं लगाया जाता है। यह एक एहतियाती कार्यवाही है जो किसी व्यक्ति को अपराध करने से रोकने के लिए अपनाई जाती है। इसमें व्यक्ति को केवल सन्देह के आधार पर गिरफ्तार कर लिया जाता है।

विश्व के किसी भी लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली वाले देश में निवारक निरोध जैसे कानून संविधान के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकृत नहीं किए गए हैं। इंग्लैण्ड व अमेरिका में ऐसा कानून नहीं है जो शान्तिकाल में निवारक निरोध का उपबन्ध करता हो। भारत में निवारक निरोध कानून संविधान का ही अंग है।

चूँकि निवारक निरोध की व्यवस्था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकती है, अतः संविधान में इसकी कठोरता को कम करने के लिए कुछ सॉविधानिक संरक्षण प्रदान किए गए हैं। अनुच्छेद 22(4–7) के अन्तर्गत निवारक निरोध कानून के अन्तर्गत निरुद्ध किए गए व्यक्ति को निम्नलिखित संरक्षण प्रदान किए गए हैं—

(1) सलाहकार बोर्ड द्वारा पुनर्विलोकन।

(2) गिरफ्तारी के कारण जानने एवं अभ्यावेदन प्रस्तुत करने का अधिकार।

(3) सलाहकार बोर्ड की प्रक्रिया।

अनुच्छेद 22(4) में 44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा

महत्त्वपूर्ण संशोधन किया गया। इस संशोधन से पहले जो व्यवस्था थी वह डॉ. पाण्डेय के अनुसार इस प्रकार है—निवारक निरोध विधि के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति की गिरफ्तारी 3 महीने से अधिक तभी चल सकती थी जब ऐसे व्यक्तियों, जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हैं, रह चुके है या नियुक्त होने की अर्हता रखते है, से मिलकर गठित सलाहकार बोर्ड उक्त कालावधि की समाप्ति के पूर्व यह रिपोर्ट दे दे कि निरोध के पर्याप्त कारण है। यदि सलाहकार बोर्ड इस बात की रिपोर्ट देता है कि निरोध का कोई औचित्य नही है तो सरकार को निरोध का आदेश रद्द कर देना पड़ेगा। यदि सलाहकार बोर्ड निरोध के पक्ष में राय देता है तो निरोध आदेश देने वाला प्राधिकारी निरोध की अवधि निर्धारित करेगा। किन्तु किसी भी दशा में निरोध-अवधि अनिश्चित नही हो सकती है। खण्ड (4) (ब) यह उपबन्धित करता है कि निरोध किसी भी दशा में उस अधिकतम अवधि से अधिक नही हो सकता है जो संसद् विधि द्वारा उस प्रकार के मामलों मे निरुद्ध व्यक्तियों के वर्गों के लिए विहित करेगी। अब 44वें संशोधन द्वारा यह सुनिश्चित कर दिया गया है कि 'निवारक नजरबन्दी' सम्बन्धी कोई भी कानून किसी भी दशा मे 2 महीने से ज्यादा की अवधि तक के लिए नजरबन्द रखने का अधिकार नहीं दे सकता जब तक कि एक सलाहकार बोर्ड ने यह स्वीकृति न दी हो कि इस प्रकार की नजरबन्दी के लिए पर्याप्त कारण है। सलाहकार बोर्ड का गठन कैसे होगा —यह पहले बताया जा चुका है।

अनुच्छेद 22(5) के अनुसार यह आवश्यक है कि निवारक निरोध के अन्तर्गत बन्दी बनाए गए व्यक्ति को यथाशीघ्र बन्दी बनाए जाने के कारणों से अवगत कराया जाए और यह अवसर दिया जाए कि वह उन कारणों को न्यायालय मे चुनौती दे सके।

अनुच्छेद 22(6) मे व्यवस्था है कि लोक हित के आधार पर निरोध के कारणों को बताने से इनकार किया जा सकता है।

निवारक नजरबन्दी या निरोध की व्यवस्था जो सविधान मे है उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर एक गम्भीर आघात बताया गया है। सविधान-सभा में भी इस अनुच्छेद की कठोर आलोचना की गई थी। सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश महाजन ने भी कहा था—"यह बड़ी विचित्र बात है कि निवारक निरोध से सम्बन्धित कानूनों को, जिन्हे ससार के किसी भी लोकतान्त्रिक सविधान में स्थान नही दिया गया है, हमारे संविधान के मौलिक अधिकारो के अध्याय में सम्मिलित किया गया है।" 'डॉ. रामकृष्ण भारद्वाज विरुद्ध दिल्ली राज्य' नामक मुकदमे मे न्यायाधीश पातंजलि शास्त्री ने कहा था—"चूंकि निवारक निरोध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का एक बहुत बड़ा आक्षेप है, अतः न्यायालयों को संविधान मे इसके दुरुपयोग को रोकने के लिए दिए गए थोड़े बहुत संरक्षणों को बहुत सावधानी से लागू किया जाना चाहिए।" इसमें सन्देह नही कि उपरोक्त आलोचनाओं मे वजन है और एक निरंकुश शासक दल निवारक निरोध की व्यवस्था के सहारे दूसरों की स्वतन्त्रता को कुचल स[illegible] है। लेकिन हमारे संविधान-निर्माता मूर्ख नहीं थे कि उन्होंने इस व्यवस्था संविधान में स्थान दिया। प्रथम तो स्वतन्त्र भारत के सम्मुख इतनी विचित्र [illegible]

समस्याएँ उपस्थित थी उनका सफलतापूर्वक समाधान करने के लिए और अवाञ्छित तत्वों की रोकथाम के लिए निवारक नजरबन्दी की व्यवस्था करना आवश्यक था। दूसरे, गांधीजी की हत्या से राजनीतिक व्यवस्था और भी सोचनीय हो गई थी तथा इस प्रकार के हिंसक तत्वों से वैधानिक रूप से निपटने के लिए इस व्यवस्था को आवश्यक समझा गया। तीसरे, नवोदित स्वतन्त्र भारत को शक्तिशाली और समृद्धिशाली बनाने के लिए भी निवारक नजरबन्दी की व्यवस्था करना आवश्यक माना गया। श्री अल्लादि कृष्ण स्वामी ने कहा था कि "स्वतन्त्रता के महान् समर्थकों का भी यह विचार है कि भारत में अब तक ऐसे राज्य-विरोधी तत्त्व मौजूद है जो संविधान को हानि पहुँचाना चाहते है। यदि हमें उन्नति करनी है और अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति को सुरक्षित रखना है तो हमें या तो इन तत्त्वों को शक्ति से कुचल देना होगा या इनसे राज्य को बचाने के लिए उचित व्यवस्था करनी होगी।" निवारक नजरबन्दी की व्यवस्था के पक्ष में ए. के. गोपालन् के मुकदमें मे भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश पातजलि शास्त्री द्वारा कहे गए ये शब्द उल्लेखनीय है—"निवारक नजरबन्दी का हमारे सविधान में (जिसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मौलिक अधिकार की मान्यता दी) होना बड़ा भद्दा मालूम होता है। यह प्रस्तावना में दिए गए वचनो के भी प्रतिकूल है। लेकिन इस पर भी इसकी व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि शिशु गणराज्य को उन समाज विरोधी तत्त्वो से सुरक्षित रखा जाए जिनसे उसे गम्भीर खतरा है। चूंकि राज्य की सुरक्षा तथा सार्वजनिक शान्ति को बनाए रखने का उत्तरदायित्व कार्यकारिणी पर है, अतः सरकार का आवश्यकतानुसार निवारक नजरबन्दी के अधिकार का प्रयोग करना अनुचित नही है।"

निवारक निरोध सम्बन्धी संसदीय विधियाँ—भारतीय संसद् में सर्वप्रथम निवारक निरोध अधिनियम, 1950 (Preventive Detention Act, 1950) बनाया जो 31 दिसम्बर, 1969 तक चला। कांग्रेस का अपेक्षित बहुमत न होने से इसकी अवधि बढाई नही जा सकी। पाँचवी लोकसभा के चुनावो में कांग्रेस को प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ। इसके साथ ही देश मे अराजकतावादी तत्त्वो का जोर बढ गया। एक ओर तो नक्सलवादियो का आतंक था और दूसरी ओर पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थियो के भेष में पाकिस्तानी गुप्तचरो के प्रवेश का खतरा भी बढ़ गया था। इन सब कारणो से 7 मई, 1971 को राष्ट्रपति ने आन्तरिक सुरक्षा अध्यादेश जारी किया जिसने जून, 1971 मे आन्तरिक सुरक्षा कानून (Maintenance of Internal Security Act 1971) का स्वरूप धारण कर लिया। यह अधिनियम तब तक अपरिवर्तित रूप से प्रभावी रहा जब तक कि 30 जून, 1975 को राष्ट्रपति ने इसमें संशोधन का अध्यादेश जारी नही कर दिया। जून, 1975 को राष्ट्रपति को आपात्कालीन स्थिति की घोषणा करनी पडी। इसके बाद ही 27 जून, 1975, 30 जून, 1975 और 4 जुलाई, 1975 को राष्ट्रपति द्वारा तीन महत्त्वपूर्ण आज्ञाएँ जारी की गईं। मार्च, 1977 मे जनता पार्टी की सरकार बनी जिसने आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम 1971 (MISA) को निरस्त कर दिया।

(3) शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 एवं 24)
(The Right against Exploitation)

अनुच्छेद 23 मे सभी प्रकार के बलात् श्रम और व्यक्तियो की खरीद-फरोक्त को निषिद्ध किया गया है। पर राज्य को सार्वजनिक प्रयोजन के लिए बाध्य सेवा लागू करने मे राज्य धर्म, मूलवंश जाति या वर्ग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नही करेगा।

अनुच्छेद 24 मे चौदह वर्ष से कम आयु वाले को किसी बालक किसी कारखाने या खान में नौकर न रखने और न किसी अन्य सकटमय नौकरी मे लगाने का प्रावधान है।

शोषण से मुक्ति के अधिकार के कार्यकरण का मूल्यांकन करते हुए डॉ० पायली ने लिखा है—

"शोषण के विरुद्ध अनेक अधिनियम वर्तमान है, फिर भी देश के विभिन्न भागों मे अनेक रूपो मे शोषण अभी तक प्रचलित है। इस दशा में राज्य द्वारा अभी कोई प्रयास दृढता एवं साहस के साथ नही किया गया। जो अधिकारी इसके लिए उत्तरदायी हैं, वे भी इन अधिकारो के सम्बन्ध में उदासीन है। उदाहरणतया उनमे से बहुत से अधिकारियो का यह विचार है कि वैश्यालयो को बन्द करने का प्रयत्न कभी सफल नही हो सकता। समाज को पूर्ण रूप से यह समझना होगा कि बेगार, वैश्यावृत्ति इत्यादि शोषण के विभिन्न रूपों का कारण दरिद्रता और अनादर है। केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल द्वारा पुनर्स्थापित एक समिति अनैतिक पण्न सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन एव विश्लेषण कर रही थी। उक्त समिति के अनुसार वैश्यावृत्ति तथा स्त्रियों एवं बालिकाओ के शोषण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमे से किसी एक को ही निर्मूल नही किया जा सकता। दोनो को एक साथ हटाना होगा। इस समस्या का सम्बन्ध देश की सामान्य उन्नति मे है। जब तक समाज के विभिन्न वर्गों के लिए पूर्ण नियोजन (Full Employment), आर्थिक उन्नति, सामाजिक न्याय, उच्च जीवन-स्तर की व्यवस्था नही हो जाती तब तक यह समस्या किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान रहेगी। निरोधक (Preventive) उपायों को अंगीकार करने से शोषण की मात्रा कम अवश्य हो सकती है किन्तु इसके लिए राज्य को एक प्रबल स्वस्थ नीति का अनुसरण करना होगा।"[1]

(4) धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28)
(Right to Freedom of Religion)

इस अधिकार के अन्तर्गत अन्तःकरण की तथा धर्म को अबाध रूप से मानने की, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी गई है। लेकिन यह प्रतिबन्ध है कि शान्ति और व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य एवं अन्य आवश्यक व्यवस्थाओं का ध्यान रखा जाएगा। धार्मिक स्वतन्त्रता के इस अधिकार पर सरकार सार्वजनिक

1 एम. वी पायली : वही, पृष्ठ 102-103.

व्यवस्था, सदाचार एवं स्वास्थ्य आदि के हित में उचित प्रतिबन्ध लगा सकती है। कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिक्ख धर्म का अंग समझा गया है। राज्य को सामाजिक कल्याण और सुधारों के हित में कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इसे धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं समझा जा सकता।

अनुच्छेद 27 में किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए करों को देने के लिए बाध्य नहीं किए जाने का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 28 में व्यवस्था है कि राज्य-निधि से पूरी तरह पोषित किसी संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। ऐसी शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अथवा धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतन्त्रता दी गई है।

(5) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार
(अनुच्छेद 29 एवं 30)
(Cultural and Educational Rights)

इस अधिकार का प्रावधान कर धर्मनिरपेक्ष राज्य की व्यवस्था को आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया है। इस अनुच्छेद का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि धर्म, भाषा और क्षेत्र सम्बन्धी विभिन्नताओं से परिपूर्ण हमारे समाज में अल्पसंख्यकों के हितों को सांविधानिक संरक्षण दिया गया है।

इस अधिकार के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों की अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि का संरक्षण करने तथा अपनी पसन्द की शिक्षा प्राप्त करने एवं शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करने और उन्हें चलाने का अधिकार दिया गया है।

(6) सम्पत्ति का अधिकार
(Right to Property)

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम 1978 के अनुसार सम्पत्ति का अधिकार अब मूल अधिकार नहीं रह गया है, अब यह केवल एक कानूनी अधिकार हो गया है। इसके लिए अनुच्छेद 19 में संशोधन कर दिया गया है तथा अनुच्छेद 31 को समाप्त कर दिया गया है। 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को इस रूप में एक कानूनी अधिकार के रूप में रखा गया है जिसका विनियम साधारण विधियों अथवा कानूनों को पारित करके *किया जा सके। इसके लिए सांविधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं होगी।*

सांविधानिक उपचारों के अधिकार (अनुच्छेद 32–35)
(Right to Constitutional Remedy)

अनुच्छेद 32 में मूल अधिकारों को लागू करने के लिए सांविधानिक उपचारों को अधिकार दिया गया है। संविधान द्वारा दिए गए मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की शरण में कोई भी नागरिक जा सकता है। अनुच्छेद 33 (सेना के सदस्यों के प्रति) और अनुच्छेद 34 (मार्शल लॉ लागू होने की सूरत में) अनुच्छेद 32 के अपवाद हैं। अनुच्छेद 35 में संविधान के मूल अधिकारों वाले भाग 3 के उपबन्धों को प्रभावी करने के लिए विधान वर्णित है।

डॉ० अम्बेदकर ने सांविधानिक उपचार वाली व्यवस्था को 'सम्पूर्ण संविधान का प्राण तथा आत्मा' कहा था। इसमे सन्देह नही कि मूल अधिकारो को यदि सांविधानिक तरीक़ों से लागू और सुरक्षित नही किया जाए, तो उनका कोई मूल्य नही। सर्वोच्च न्यायालय को इन अधिकारों की रक्षा के लिए सामान्य अधिकार दिए जाने के साथ-साथ बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo-Warranto) तथा उत्प्रेषण लेख (Certiorari) जारी करने जैसे विशेष उपचारो के प्रयोग का भी अधिकार प्राप्त है। भारतीय संविधान मे इन लेखो को सम्मिलित करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित कर दी गई है।

सम्पत्ति के अधिकार को एक कानूनी अधिकार के रूप मे बनाए रखने के लिए संविधान मे एक नया अनुच्छेद 300(क) जोड़ा गया है। अनुच्छेद 300(क) यह उपबन्धित करता है कि कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नही किया जाएगा।

नए अनुच्छेद 300(क) के अधीन किसी व्यक्ति की सम्पत्ति के राज्य द्वारा अर्जित किए जाने के लिए केवल एक शर्त है और वह है कानून का अधिकार। किस उद्देश्य के लिए तथा क्या उसके लिए कोई प्रतिकर दिया जाएगा या दिया जाएगा तो कितना इन प्रश्नो का निर्धारण विधायिका के (लुप्त किए गए अनुच्छेद 31 के अधीन ये दोनों ही शर्तें आवश्यक थी) अधीन होगा। किन्तु इस सम्बन्ध मे अभी तक जो विनिश्चय न्यायालयों ने किए हैं वे मार्गदर्शन के लिए सहायक हो सकते है।[1]

न्यायविदो ने सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप मे समाप्त करने की आलोचना की है। वस्तुत इसके लुप्त करने की कोई आवश्यकता नही थी क्योंकि तमाम संशोधनो के पश्चात् सम्पत्ति का अधिकार काफी समुचित और निर्बन्धित हो गया था। संविधान मे ऐसी व्यवस्था भी है जिसका पालन करके निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक उद्देश्यो के लिए अर्जित किया जा सकता है।

मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में संसद् का अधिकार

संविधान (24वां संशोधन) अधिनियम 1971 द्वारा, जिसे 5 नवम्बर, 1971 को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई, संसद् को मूल अधिकारो सम्बन्धी भाग 3 सहित संविधान के सभी भागों में संशोधन करने की शक्ति पुनः प्राप्त हो गई है। 1967 में गोलकनाथ वाले मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही पहले के निर्णय को, जिसमें मूल अधिकारो सम्बन्धी भाग 3 सहित संविधान के सभी भागों मे संशोधन करने की संसद् की शक्ति की पुष्टि की थी, अल्प बहुमत से उलट दिया था। पर नए संशोधन मे संसद् को यह शक्ति फिर से दी गई है।

1 जयनारायण पाण्डेय : वहीं, पृष्ठ 364.

मौलिक अधिकारों का मूल्यांकन
(Evaluation of Fundamental Rights)

मौलिक अधिकारों ने हमारे देश में राजनीतिक जनतन्त्र के साथ-साथ सामाजिक जनतन्त्र की भी स्थापना की है। इन अधिकारों ने न केवल कानून की दृष्टि में लोगों को समान बनाया है वरन् धर्म, जाति, भाषा, लिंग आदि की आधारभूत विषमता को भी दूर करने की व्यवस्था की है। फिर भी मौलिक अधिकारों से सम्बद्ध अध्याय प्रारम्भ से ही भारत में और विदेशों में आलोचना का विषय बना रहा है। ये आलोचनाएँ प्रमुख रूप से इस प्रकार है—

1 संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकार वास्तव में कुछ नहीं हैं वरन् नाममात्र ही हैं, क्योंकि उनके अनुसार जिन अधिकारों को मौलिक अधिकारों में स्थान पाना चाहिए उन्हें तो माना ही नहीं गया, जैसे कि काम पाने का अधिकार, निःशुल्क शिक्षा का अधिकार आदि।

आलोचक भूल जाते है कि किसी भी देश के संविधान द्वारा देश में विद्यमान साधनों और परिस्थितियों के आधार पर ही अधिकार दिए जा सकते है। प्रत्येक व्यक्ति को काम का अधिकार, निःशुल्क शिक्षा का अधिकार आदि इसलिए प्रदान नहीं किए गए क्योंकि संविधान-निर्माता जानते थे कि भारत की आर्थिक परिस्थिति अभी आने वाले कुछ दशकों तक इतना बोझा उठाने में समर्थ नहीं होगी। फिर भी संविधान-निर्माताओं ने इन अधिकारों को राज्य-नीति के निदेशक तत्वों में स्थान दिया और यह माना कि इन्हें लागू करना शासन का कर्तव्य है।

2. निवारक निरोध (Preventive Detention) की व्यवस्था से इस अध्याय का सार विलुप्त हो चुका है। संविधान जो एक हाथ से देता है वह दूसरे हाथ से छीन लेता है।

यह आलोचना करते समय हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सार्वजनिक हित के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होता है। एम.वी. पायली ने लिखा है—"संविधान-निर्माता जिस गणराज्य की स्थापना करने जा रहे थे वे उसकी सुरक्षा पर आने वाले खतरे से अनभिज्ञ न थे। संविधान का निर्माण भी उस समय में हुआ जब देश बड़े कठिन समय से गुजर रहा था। देश में ऐसे विरोधी गुट थे जो लोकतन्त्रात्मक राज्य प्रणाली के विरोधी थे। महात्मा गांधी की हत्या इस बात का एक जीता-जागता उदाहरण था। देश में ऐसे दल वर्तमान थे जो अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए हिंसा और बल प्रयोग की प्रतिज्ञा कर चुके थे। ऐसी परिस्थिति लोकतन्त्र को समूल नष्ट कर देती। ऐसी प[illegible] स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित संसद् को निवारक निरोध [illegible] पर प्रतिबन्ध लगाने की सत्ता प्रदान करने के लिए [illegible] मौ[illegible] संविधान ने मौलिक अधिकार पर प्रति[illegible] यह सत्ता सौंपी।"

3. आलोचकों का [illegible] है कि [illegible] त है।

प्रयास किया गया है वे भी इतनी अर्हताओं, अपवादों का व्याख्याओं से बंधे है कि यह समझना भी कठिन है कि व्यक्ति को मौलिक अधिकारों मे क्या मिला। एक आलोचक ने व्यंग्यपूर्वक कहा है कि मौलिक अधिकार सम्बन्धी अध्याय का नाम बदल कर 'मौलिक अधिकारो की परिसीमाएँ' अथवा 'मौलिक अधिकार एव उनकी परिसीमाएँ' रख देना चाहिए।[1]

इस आलोचना का जवाब भी वही है जो ऊपर दिया जा चुका है। असीमित स्वतन्त्रता और अधिकार प्रदान करना तो सम्भव है और न हितकर। मौलिक अधिकारों पर लगाए जाने वाले प्रतिबन्धो का औचित्यपूर्ण होना आवश्यक है और 'औचित्य' के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नही वरन् न्यायपालिका को प्रदान की गई है। देश की स्वतन्त्र न्यायपालिका के होते हुए, जैसाकि भूतपूर्व न्यायाधीश छागला ने लिखा है, नागरिक अपने अधिकारो की रक्षा के लिए न्यायपालिका पर भरोसा कर सकते है।

4. सांविधानिक उपचारों के स्थगन की व्यवस्था की कटु आलोचना की गई है। संकटकाल के कार्यपालिका को मौलिक अधिकारों के स्थगन के अधिकार, सामान्य परिस्थितियों मे भी निवारक निरोध की व्यवस्था के सम्बन्ध मे एच वी. कामथ ने संविधान-सभा में कहा था—"इस व्यवस्था द्वारा हम तानाशाही राज्य और पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे है।" संविधान-सभा के एक अन्य सदस्य सोमनाथ लाहरी ने कहा था—"भारतीय संविधान मे मौलिक अधिकारो की व्यवस्था पुलिस के सिपाही के दृष्टिकोण से की गई है, न कि एक स्वतन्त्र और संघर्षशील राष्ट्र की दृष्टि से।"

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की स्वतन्त्रता से कही अधिक मूल्यवान है। मौलिक अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था का समर्थन करते हुए अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने संविधान-सभा में कहा था—"यह व्यवस्था अत्यन्त ही आवश्यक है। यही व्यवस्था संविधान का जीवन होगी। इससे प्रजातन्त्र की हत्या नहीं बल्कि रक्षा होगी।" उल्लेखनीय है कि सांविधानिक उपचारो के स्थगन का अवसर भारत मे 1962 मे चीनी आक्रमण से उत्पन्न होने *वाली आपात् घोषणा से पहले आया ही नहीं। यह भी सत्य है कि जून, 1975* से पूर्व आपात्काल के दौरान सांविधानिक उपचारों के स्थगन कर दिए जाने से तथा कतिपय मौलिक अधिकारो पर प्रतिबन्ध लगा दिए जाने से इस प्रकार की कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हुई जिससे भारत की आम जनता को चिन्ताजनक रूप से क्षुब्ध होना पडा हो। जून, 1975 से मार्च, 1977 तक के बीच 19 माह तक जारी रहने वाले आपात्काल मे सरकार द्वारा मौलिक अधिकारो के स्थगन की शक्ति का निश्चित रूप से दुरुपयोग किया गया। परिणाम यह हुआ कि जनता ने आम चुनावों मे अपने शासक बदल दिए। जनता पार्टी की सरकार ने 44वें संविधान

1 एम वी. पायली : भारतीय संविधान, पृष्ठ 133.

संशोधन द्वारा कुछ ऐसी सुरक्षात्मक व्यवस्थाएँ कर दी जिनके फलस्वरूप नागरिकों को जीवन तथा स्वतन्त्रता सहित अन्य मूल अधिकार अस्थाई बहुमत द्वारा नही छीने जा सकेंगे। यह व्यवस्था भी कर दी गई कि जीवन तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारों को लागू कराने के लिए न्यायालय जाने के अधिकार को निलम्बित नही किया जा सके। यह भी व्यवस्था की गई कि निवारक नजरबन्दी सम्बन्धी कोई भी कानून किसी भी दशा मे दो महीने से ज्यादा की अवधि तक के लिए नजरबन्द रखने का अधिकार नही दे सकता जब तक कि एक सलाहकार बोर्ड ने यह स्वीकृति न दी हो कि इस प्रकार की नजरबन्दी के लिए पर्याप्त कारण हैं।

5. आइवर जेनिंग का मत है कि भारतीय अधिकार-पत्र की भाषा ठीक नहीं है, उसमे अनेक जटिल बातें हैं और वे अमेरिका के अधिकार-पत्र जैसी स्पष्ट तथा संक्षिप्त नही है।

उपरोक्त आरोप मे वजन है। लेकिन यह बात केवल मौलिक अधिकारों सम्बन्धी अध्याय मे ही नही है वरन् यह तो सम्पूर्ण संविधान की विशेषता है। संविधान की क्लिष्टता को समाप्त किया जाना चाहिए, उसे यथासम्भव सरल बनाया जाना चाहिए।

अन्तिम समीक्षा के रूप मे कहा जा सकता है कि मौलिक अधिकार अप्रतिबन्धित नही हो सकते। व्यक्ति और समाज के हित में कुछ मर्यादाओं अथवा सीमाओं का रहना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि मारिस जोन्स ने लिखा है—संविधान मे अधिकारों की रक्षा की सुदृढ गारण्टी दी गई है क्योंकि कोई भी ऐसा कानून जो इन अधिकारों का अतिक्रमण करता हो, उच्चतम न्यायालय के द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है तथा नागरिक भी सांविधानिक उपचारों के जरिए अपने अधिकारो की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय से 'रिट' ले सकते हैं। भारतीय संविधान से एक निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका को अधिकारों का संरक्षक बनाया है। अतः सामान्य स्थिति मे नागरिको के मूल अधिकारो की कार्यपालिका या संसद द्वारा अतिक्रमण करना सम्भव नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ने अब तक अपने विवेकपूर्ण निर्णयों से मौलिक अधिकारो को प्रभावकारी संरक्षण दिया है।

फिर भी यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि मौलिक अधिकारों की रक्षा न्यायालय नही, वरन् लोकमत ही कर सकता है। सतत् जागरुकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।

राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त या तत्त्व
(The Directive Principles of State Policy)

राज्य-नीति के निदेशक तत्त्व भारतीय संविधान की अनोखी विशेषताएँ है। इन सिद्धान्तों का वर्णन संविधान के भाग 4 मे अनुच्छेद 36 से 51 तक किया गया है। जहाँ मूल अधिकारो का प्रयोजन एक समतापूर्ण समाज की सृष्टि करना, समस्त नागरिकों को समाज के प्रतिबन्धो और दबावों से मुक्त करना तथा उनके लिए स्वतन्त्रता का स्वर्ण-विहान लाना है, वहाँ निदेशक तत्त्वो का प्रयोजन शान्तिपूर्ण

तरीकों से सामाजिक क्रान्ति का पथ प्रशस्त कर कुछ सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को तत्काल सिद्ध करना है।[1]

निदेशक सिद्धान्तों का सार तत्त्व

निदेशक सिद्धान्तों का सार तत्त्व संविधान के अनुच्छेद 38 में दिया गया है जिसमें संविधान की प्रस्तावना की प्रतिध्वनि सुनाई देती है—

"राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।"[2]

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संविधान के भाग 4 में विभिन्न उपबन्ध दिए गए हैं। "संविधान ने राज्य को यह सुनिश्चित करने की आज्ञा दी है कि नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों, कि आर्थिक प्रणाली का संचालन और देश के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण सामान्य श्रेय के अधीन हो; कि मजदूरों को केवल निर्वाह-योग्य मजदूरी प्राप्त हो, बल्कि वह इतनी हो जिससे वे अपने और अपने बच्चों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखें, और उसमें सुधार कर सकें; देश के उपयोगी नागरिक बनने के लिए आगामी पीढ़ी को शिक्षित कर सकें; और अपने जीवन की संध्या में सेवा-निवृत्त होकर आराम से रह सकें और उस समय का तथा अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों का आनन्द लाभ कर सकें; कि स्त्रियों और बच्चों का विशेष ध्यान रखा जाए और जनता के दुर्बल वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष रूप से संवर्द्धित किया जाए। राज्य के प्राथमिक कर्तव्यों में से एक लोगों के सामान्य जीवन-स्तर और पोषण के स्तर को ऊपर उठाना है। अनुच्छेद 45 में यह आशा व्यक्त की गई है कि 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य और प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। अन्य निदेशक सिद्धान्तों में कृषि, पशुपालन और कुटीर उद्योगों की तकनीकों में सुधार करके भारतीय समाज में पुनर्जागरण को सुनिश्चित करने का संकल्प निहित है। इस प्रकार ये सिद्धान्त राज्य के ऊपर यह ठोस जिम्मेदारी डालते हैं कि वह देश में लोकतन्त्र के लिए सुदृढ़ आधार का निर्माण करे।"

वस्तुतः संविधान के भाग 4 का उद्देश्य देश में उस सम्प्रदायिक और आर्थिक क्रान्ति को मूर्त रूप प्रदान करता है जिससे देश के सभी नागरिकों को सामाजिक और आर्थिक न्याय प्राप्त हो सके, शोषणकारी तत्त्वों की समाप्ति हो, समाज का प्रत्येक सदस्य संयत स्वतन्त्रताओं का उपयोग कर सके, अधिकारों के अविभाज्य अंग के रूप में कर्तव्यों की गंगा बहे और देशवासियों में उस दृष्टिकोण का विकास हो जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बल प्रदान करे। निदेशक सिद्धान्त व्यक्तिगत

1 के. सदानन्द हेगडे : भारतीय संविधान में राज्य-नीति के निदेशक तत्त्व, 1972, पृष्ठ

2 भारत का संविधान (रजत जयन्ती संस्करण), अनुच्छेद 38, पृष्ठ 23.

अधिकारों और सामाजिक आवश्यकताओं के बीच सन्तुलन स्थापित करने में सहायक हैं। इनके समुचित कार्यान्वयन पर वास्तविक लोकतन्त्र की इमारत खड़ी की जा सकती है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संविधान के भाग 3 और 4 देश के उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न दर्शाते हैं। वे हमारे संविधान की अन्तरात्मा हैं। उनकी जड़ें पिछली कुछ शताब्दियों में इतिहास में धसी हुई हैं। "वे भारत के भविष्य, वर्तमान और भूत को एक दूसरे से सम्बन्धित करते हैं और हमारे महान् प्राचीन देश में सामाजिक क्रान्ति का अलख जगाते हैं।"

निदेशक सिद्धान्तों का वर्गीकरण
(Classification of Directive Principles)

संविधान के अनुच्छेद 36 में 'राज्य' की परिभाषा दी गई है। तद्नुसार 'राज्य' के अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद् तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधान-मण्डल तथा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन अब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी हैं। अनुच्छेद 37 के अनुसार निदेशक तत्त्व न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होने पर भी देश के शासन में मूलभूत हैं।

अनुच्छेद 38 से 51 में राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। ये निदेशक सिद्धान्त अथवा तत्त्व संविधान में किसी युक्ति-युक्त योजना के अनुसार नहीं गिनाए गए हैं, अतः उनका वर्गीकरण करना कठिन है। तथापि, अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें निम्नलिखित वर्गों में बाँटना उपयुक्त होगा—

(क) आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्त्व,
(ख) सामाजिक हित सम्बन्धी निदेशक तत्त्व,
(ग) न्याय, शिक्षा, लोकतन्त्र एवं प्राचीन स्मारकों की रक्षा से सम्बन्धित निदेशक तत्त्व, एवं
(घ) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी तत्त्व।

(क) आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्त्व

हमारे संविधान-निर्माता देश में एक लोक-कल्याणकारी राज्य स्थापित करना चाहते थे, अतः उन्होंने संविधान में अधिकांश निदेशक तत्त्वों द्वारा आर्थिक सुरक्षा तथा आर्थिक न्याय के सम्बन्ध में व्यवस्था की। संविधान में इस प्रकार के निम्नलिखित निदेशक तत्त्व हैं—

1. अनुच्छेद 38 के अनुसार राज्य लोक-कल्याण की उन्नति के लिए सामाजिक व्यवस्था बनाएगा। 44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा अनुच्छेद 38 में एक नया खण्ड जोड़कर एक नया निदेशक तत्त्व जोड़ा गया है। नया खण्ड यह उपबन्धित करता है कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि विशेष रूप से व्यक्तियों की आय में असमानता कम हो और पद, सुविधाओं और अवसरों के सम्बन्ध में केवल व्यक्तियों में ही नहीं वरन् विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले या विभिन्न व्यवसाय में लगे सभी वर्ग के लोगों में असमानता दूर हो।

2. राज्य देश के नर और नारी सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा। (अनुच्छेद 39–क)

3. राज्य समाज की भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा जिससे अधिकाधिक सार्वजनिक हित हो सके। (अनुच्छेद 39–ख)

4 राज्य आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चलाने का प्रयत्न करेगा जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। (अनुच्छेद 39–ग)

5. राज्य पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन की व्यवस्था करेगा। (अनुच्छेद 39–घ)

6. राज्य ऐसी व्यवस्था करेगा कि श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा शक्ति का और बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो। राज्य यह देखेगा कि आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति की अनुकूल न हों। (अनुच्छेद 39–ङ)

7. मूल संविधान के अनुच्छेद 39(च) में कहा गया है कि राज्य "बच्चों और युवकों को शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से सरक्षण देगा।" 42वें सांविधानिक संशोधन द्वारा इस अनुच्छेद को संशोधित करते हुए कहा गया है कि—"राज्य के द्वारा बच्चों को स्वस्थ विकास के लिए अवसर और सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी, उन्हें स्वतन्त्रता और सम्मान की स्थिति प्राप्त होगी, बच्चों तथा युवकों की शोषण से और आर्थिक या नैतिक परित्याग से रक्षा की जाएगी।"

8. राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार तथा विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयत्न करेगा कि सभी नागरिकों को योग्यतानुसार काम मिल सकें, वे शिक्षा पा सकें, और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी तथा अंगहीनता आदि की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पा सकें। (अनुच्छेद 41)

9. राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करेगा। (अनुच्छेद 42)

10. राज्य श्रमिकों के लिए काम, निर्वाह-मजदूरी, शिष्ट जीवन-स्तर, समुचित अवकाश तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। राज्य विशेष रूप से गाँवों में कुटीर उद्योगों को व्यक्तिगत या सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयत्न करेगा। (अनुच्छेद 43)

11. राज्य वैज्ञानिक आधार पर कृषि और पशु-पालन का संचालन करेगा। (अनुच्छेद 48)

42वें संविधान संशोधन में आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी दो और निदेशक तत्त्व जोड़े गए हैं जो कमजोर वर्गों के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता और औद्योगिक स्थानों के प्रबन्ध में कर्मचारियों को भागीदार बनाने की व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। ये तत्त्व अनुच्छेद 39 के उपखण्डों के रूप में जोड़े गए हैं। 44वें संशोधन द्वारा एक और निदेशक तत्त्व जोड़ा गया है जिसमें कहा गया है कि—"राज्य न केवल व्यक्तियों

की आय और उनके सामाजिक स्तर, सुविधाओं तथा अवसरों सम्बन्धी भेदभाव को कम-से-कम करने का प्रयत्न करेगा बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे व्यक्तियों के समुदायों के बीच विद्यमान आय, सामाजिक स्तर, सुविधाओं एवं अवसरों सम्बन्धी भेदभाव को भी कम-से-कम करने का प्रयत्न करेगा।"

(ख) सामाजिक हित सम्बन्धी निदेशक तत्त्व

इस सम्बन्ध में राज्य के निम्नलिखित कर्त्तव्य निश्चित किए गए हैं—

1 भारत भर में नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता प्राप्त कराने का प्रयत्न करना। (अनुच्छेद 44)

2 जनता के दुर्बलतर अंगों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करना और सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करना। (अनुच्छेद 46)

3. अपने लोगों के आहार-पुष्टि-तल और जीवन स्तर को ऊँचा करना तथा लोक-स्वास्थ्य को सुधारना राज्य का एक प्राथमिक कर्त्तव्य होगा। राज्य विशेष रूप से मादक पेयों और अस्वास्थ्यकर औषधियों के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न करेगी। (औषधीय प्रयोजनों से अतिरिक्त अनुच्छेद 47)

(ग) न्याय, शिक्षा, लोकतन्त्र एवं प्राचीन स्मारकों की रक्षा से सम्बन्धित निदेशक तत्त्व

1. राज्य न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखने का प्रयत्न करेगा। (अनुच्छेद 50)

2. राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा। वह उनको ऐसी शक्तियाँ तथा अधिकार प्रदान करेगा कि वे स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें। (अनुच्छेद 49)

3. राज्य संविधान लागू होने से दस वर्ष की अवधि के भीतर 14 वर्ष के सब बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करेगा। (अनुच्छेद 45)

4 राज्य संसद् द्वारा कानून बनाकर राष्ट्रीय महत्त्व की स्मारकों, ऐतिहासिक स्थानों और चीजों का संरक्षण करेगा। (अनुच्छेद 49)

5. संविधान के 42वें संशोधन द्वारा देश के पर्यावरण (*Environment*) की रक्षा को भी निर्देशक तत्त्वों में शामिल किया गया है। 48वें अनुच्छेद के बाद अनुच्छेद 48(क) जोड़ कर कहा गया है कि "राज्य देश के पर्यावरण की रक्षा तथा उसमें सुधार का प्रयत्न करेगा। राज्य द्वारा वनों और वन्य जीवन की सुरक्षा का भी प्रयत्न किया जाएगा।"

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी तत्त्व

संविधान-निर्माता भारत के परम्परागत आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और

'जियो तथा जीने दो' से प्रभावित थे। इसी आदर्श को ध्यान मे रखते हुए सविधान के अन्तिम निदेशक तत्त्व 51 में कहा गया है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे निम्नलिखित बातो का प्रयत्न करेगा—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का,
(ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने का,
(ग) सगठित लोगो के एक दूसरे के व्यवहारो मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि-बन्धनो के प्रति आदर बढाने का, तथा
(घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादो की मध्यस्थता द्वारा निवटारे के लिए प्रोत्साहन देने का।

स्पष्ट है कि राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों द्वारा राज्य का यह कर्त्तव्य ठहराया गया है कि वह देश मे वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना करे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता, समता और न्याय प्राप्त हो सके।

नीति निदेशक तत्त्वों और मूल अधिकारों में अन्तर
(Distinction between Fundamental Rights and Directive Principles)

यद्यपि नीति निदेशक तत्त्व और मूल अधिकार एक दूसरे के पूरक है, दोनो हमारे संविधान की अन्तरात्मा है, दोनों मे एक कार्य-पद्धति का निर्णय किया गया है और देश के लिए एक उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न सजोया गया है, तथापि दोनो मे निम्नलिखित मूलभूत अन्तर हैं—

1 मूल अधिकार नकारात्मक स्वरूप लिए हैं जबकि निदेशक तत्त्व सकारात्मक। मूल अधिकार नकारात्मक इसलिए है क्योंकि ये राज्य पर कुछ प्रतिबन्ध लगाते है। निदेशक तत्त्व सकारात्मक इसलिए हैं कि ये राज्य को किन्ही निश्चित कार्यों को करने का आदेश देते है।

2. मूल अधिकार वाद-योग्य (Justiciable) है, निदेशक तत्त्व वाद-योग्य नही है। अनुच्छेद 37 स्पष्ट रूप से कहता है कि निदेशक तत्त्वो को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता नही दी जा सकेगी, तथापि ये तत्त्व देश के शासन मे मूलभूत है और विधि-निर्माण मे इन तत्त्वो का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य है। दूसरी ओर मूल अधिकार न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय है अर्थात् वे मूल अधिकार से असंगत किसी कानून को अवैध घोषित कर सकते है। लेकिन कोई भी विधि इस आधार पर अवैध घोषित नही की जा सकती कि वह निदेशक तत्त्वो के विरोध में है और न ही न्यायालय सरकार को इन तत्त्वों को कार्यान्वित करने के लिए कोई आदेश दे सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक अवैध रूप से गिरफ्तार किया हुआ व्यक्ति न्यायालय से बन्दी प्रत्यक्षीकरण का लेख प्राप्त कर सकता है लेकिन यदि सरकार नि.शुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रयास नहीं करती तो इसके लिए व्यक्ति न्यायालय से कोई उपचार प्राप्त नहीं कर सकता।

3. मूल अधिकारों का विषय व्यक्ति है, निदेशक तत्त्व राज्य के लिए है।

सम्बन्धी अधिकारों को सम्मिलित कर लिया जाए तथा यथासम्भव उन्ही मौलिक अधिकारो के अध्याय मे स्थान दिया जाए। ऐसे लोगो के राजनीतिक सन्तोष के लिए अथवा उनकी इच्छा-पूर्ति के लिए भी निर्देशक सिद्धान्तो की व्यवस्था की गई।

7. कुछ निदेशक तत्त्वो को मूल अधिकारो के अध्याय मे गिनाया जाना उचित था, यथा-काम करने का अधिकार, आर्थिक सुरक्षा आदि।

8. सविधान-सभा में कांग्रेस का ही प्रचण्ड बहुमत था अतः निदेशक तत्त्वो पर कांग्रेस-कार्यालय की छाप है और इस बात की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता यदि विरोधी दल केन्द्र मे सत्तारूढ हुआ तो इन निदेशक तत्त्वो का विरोध हो और संविधान की मर्यादा खतरे मे पड़ जाए।

9 मूल अधिकारो और निदेशक तत्त्वो मे द्वन्द्व की स्थिति बनी रही है, न्यायिक निर्णय जब तब बदलते रहे है और फलस्वरूप नौकरशाही तथा जनता के बीच तनाव के बिन्दु पनपते रहे है।

10. निदेशक तत्त्वों के अध्याय मे केवल लक्ष्यो की चर्चा है, लक्ष्यो को प्राप्त करने के साधनो की नही।

11 आइवर जेनिंग्स का मत है कि निदेशक तत्त्व किसी निश्चित और संगतपूर्ण दर्शन पर आधारित नही है, अस्पष्ट है, न समुचित रूप मे क्रमबद्ध है और न ठीक ढग से वर्गीकृत।

12. निदेशक तत्त्वों की कार्यान्विति की प्रगति इतनी धीमी अथवा 'कछुआ चाल' रही है कि सविधान मे इन्हे स्थान देने की उपयोगिता सन्देहास्पद हो जाती है।

निदेशक तत्त्वो की आलोचनाएँ अतिरञ्जित हैं। इन तत्त्वो की उपयोगिता सांविधानिक महत्ता और पवित्रता के बारे मे पिछले पृष्ठो मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहाँ सकेत रूप मे उपर्युक्त आलोचनाओ का ठोस जवाब प्रस्तुत है—

(क) ये तत्त्व देश मे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लाने के लिए राज्य के मार्गदर्शक है। हथेली पर सरसों नही जमा करती, सदियो की गुलामी और शोषण के बाद देश आजाद हुआ अत. आर्थिक और सामाजिक समृद्धि लाने में कुछ दशाब्दियो का लग जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

(ख) निदेशक तत्त्वो की कार्यान्विति के लिए केन्द्र और राज्य सरकारो द्वारा निरन्तर प्रयत्न किए जा रहे है। पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से किए गए जन-हितकारी कार्य इसका ठोस प्रमाण है। पचायती राज्य की स्थापना, धन के केन्द्रीयकरण की रोकथाम के कदम, अनेक उद्योग धन्धो और बैंको का राष्ट्रीयकरण, जमींदारी उन्मूलन, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए कल्याणकारी कार्य, न्यायपालिका और कार्यपालिका का काफी हद तक पृथक्करण, न्यूनतम मजदूरी का निश्चय, भूमिहीनों में भूमि का वितरण, सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा ग्रामीणों के ऊँचा उठाने के प्रयत्न, राजाओ के प्रिवीपर्स की समाप्ति, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शान्ति और सुरक्षा की नीति—ये सब बातें नीति निदेशक तत्त्वों की कार्यान्विति की दिशा मे ठोस प्रगति की सूचक है।

4. मूल अधिकार नागरिकों को संविधान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दिए गए हैं जबकि निदेशक तत्त्वों का उपभोग नागरिक तभी कर सकते हैं जब राज्य विधि द्वारा इन्हें कार्यान्वित करे।

5 निदेशक तत्त्वों का क्षेत्र मूल अधिकारों के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। मूल अधिकारों का क्षेत्र भारत-राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत है जबकि निदेशक तत्त्वों में अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के सिद्धान्त भी सम्मिलित है।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि चाहे नीति निदेशक तत्त्व न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय न हो, पर उनकी सांविधानिक महत्ता और पवित्रता के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

निदेशक तत्त्वों की आलोचनाएँ और उनका मूल्यांकन

राज्य-नीति के निदेशक तत्त्वों की आलोचना प्रायः होती रही है। संविधान सभा में भी प्रो के टी शाह ने कहा था—"राज्य नीति के ये निदेशक तत्त्व एक ऐसे चैक के समान है जिनका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।" कई आलोचकों ने इन सिद्धान्तों को संविधान-निर्माताओं की पवित्र भावनाओं और आकांक्षाओं का संग्रह-मात्र कहा है, इन्हें 'थोथे वचनों' की संज्ञा दी है। आलोचना के मुख्य आधार प्रायः ये रहे है—

1. ये तत्त्व वाद-योग्य नहीं है, अत इनके पीछे कोई बाध्यता भी नहीं है। यह राज्य की इच्छा पर है कि वह इन्हें कहाँ तक लागू करता है। इस प्रकार ये राजनीतिक घोषणा मात्र है।

2. इन तत्त्वों मे वर्णित अनेक विषय बड़े अनिश्चित और अस्पष्ट है। उदाहरणार्थ, समाजवादी सिद्धान्तों में श्रमिकों और मालिकों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे मे कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है और न ही राष्ट्रीय योजनाओं का कोई विवरण दिया गया है।

3 कुछ ऐसे तत्त्व भी गिना दिए गए है जिनका पालन व्यवहार में असम्भव-सा है, जैसे—मद्य-निषेध। इस प्रकार के तत्त्वों या सिद्धान्तों का अनुपालन न होने से अन्य सिद्धान्तों के प्रति भी निष्ठा कम हो जाती है।

4. निदेशक तत्त्वों की पूर्ति का बढ़ा-चढ़ा अथवा मिथ्या आश्वासन देकर चुनाव-युद्ध जीतने की चाल खेली जाती है।

5. संविधान में कुछ तत्त्व इस प्रकार के है जिन्हें एक निश्चित अवधि में पूरा किया जाना था। उदाहरणार्थ, संविधान लागू होने के 10 वर्ष के भीतर 14 वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करनी थी, किन्तु ऐसा 30 से भी अधिक वर्षों में भी सभी राज्यों में नहीं हो पाया है। इसी प्रकार उत्पादन और वितरण के साधनों की न्यायपूर्ण व्यवस्था भी नहीं हो सकी है।

6. कुछ क्षेत्रों में यह भी कहा गया है कि निदेशक तत्त्वों का संविधान में समावेश कुछ निहित राजनीतिक स्वार्थों के कारण किया गया था। राज्यों में कुछ भागों की यह मांग थी कि संविधान में शिक्षा सम्बन्धी, विश्राम सम्बन्धी और बेकारी

सम्बन्धी अधिकारों को सम्मिलित कर लिया जाए तथा यथासम्भव उन्हीं मौलिक अधिकारों के अध्याय में स्थान दिया जाए। ऐसे लोगों के राजनीतिक सन्तोष के लिए अथवा उनकी इच्छा-पूर्ति के लिए भी निदेशक सिद्धान्तो की व्यवस्था की गई।

7. कुछ निदेशक तत्त्वो को मूल अधिकारो के अध्याय मे गिनाया जाना उचित था, यथा-काम करने का अधिकार, आर्थिक सुरक्षा आदि।

8. संविधान-सभा मे कांग्रेस का ही प्रचण्ड बहुमत था अत निदेशक तत्त्वों पर कांग्रेस-कार्यालय की छाप है और इस बात की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता यदि विरोधी दल केन्द्र मे सत्तारूढ़ हुआ तो इन निदेशक तत्त्वो का विरोध हो और संविधान की मर्यादा खतरे मे पड़ जाए।

9. मूल अधिकारों और निदेशक तत्त्वो में द्वन्द्व की स्थिति बनी रही है, न्यायिक निर्णय जब तब बदलते रहे है और फलस्वरूप नौकरशाही तथा जनता के बीच तनाव के बिन्दु पनपते रहे हे।

10. निदेशक तत्त्वों के अध्याय मे केवल लक्ष्यो की चर्चा हे, लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों की नही।

11. आइवर जेनिंग्स का मत है कि निदेशक तत्त्व किसी निश्चित और संगतपूर्ण दर्शन पर आधारित नही है, अस्पष्ट है, न समुचित रूप मे क्रमबद्ध है और न ठीक ढंग से वर्गीकृत।

12. निदेशक तत्त्वों की कार्यान्विति की प्रगति इतनी धीमी अथवा 'कछुआ चाल' रही है कि संविधान मे इन्हें स्थान देने की उपयोगिता सन्देहास्पद हो जाती है।

निदेशक तत्त्वों की आलोचनाएँ अतिरञ्जित है। इन तत्त्वो की उपयोगिता सांविधानिक महत्ता और पवित्रता के बारे मे पिछले पृष्ठो मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहाँ संकेत रूप मे उपर्युक्त आलोचनाओ का ठोस जवाब प्रस्तुत है—

(क) ये तत्त्व देश मे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लाने के लिए राज्य के मार्गदर्शक है। हथेली पर सरसों नही जमा करती, सदियों की गुलामी और शोषण के बाद देश आजाद हुआ अतः आर्थिक और सामाजिक समृद्धि लाने मे कुछ दशाब्दियो का लग जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

(ख) निदेशक तत्त्वों की कार्यान्विति के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा निरन्तर प्रयत्न किए जा रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से किए गए जन-हितकारी कार्य इसका ठोस प्रमाण है। पंचायती राज्य की स्थापना, धन के केन्द्रीयकरण की रोकथाम के कदम, अनेक उद्योग धन्धों और बैंको का राष्ट्रीयकरण, जमींदारी उन्मूलन, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए कल्याणकारी कार्य, न्यायपालिका और कार्यपालिका का काफी हद तक पृथक्करण, न्यूनतम मजदूरी का निश्चय, भूमिहीनों मे भूमि का वितरण, सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा ग्रामीणों के ऊँचा उठाने के प्रयत्न, राजाओं के प्रिवीपर्स की समाप्ति, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शान्ति और सुरक्षा की नीति—ये सब बातें नीति निदेशक तत्त्वो की कार्यान्विति की दिशा मे ठोस प्रगति की सूचक है।

(ग) संविधान के पच्चीसवें संशोधन के बाद मूल अधिकारों और निदेशक सिद्धान्तों में द्वन्द्व समाप्त प्रायः हो गया है।

(घ) निदेशक तत्त्वों पर 'कांग्रेस की छाप' का आरोप वजन नहीं रखता। निदेशक तत्त्व समूचे देश के कल्याण के लिए है, केवल कांग्रेसियों के कल्याण के लिए नहीं। ये तत्त्व प्रगतिशीलता के द्योतक हैं और कट्टर देशभक्त संविधान-निर्माताओं पर 'अविश्वास का लेबल' लगाना छिछलापन है।

(ङ) काम करने के अधिकार, आर्थिक सुरक्षा आदि के निदेशक तत्त्वों को मूल अधिकारों में गिनाया जाना इसलिए उचित नहीं था कि भारत की आर्थिक स्थिति इसके लिए इजाजत नहीं देती थी। इसके अतिरिक्त, अमेरिका और ब्रिटेन जैसे महान् लोकतान्त्रिक संविधानों में भी काम करने के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में नहीं रखा गया है। वास्तव में यह तो प्रत्येक सरकार का निश्चित कर्त्तव्य ही है कि वह देश में रोजगार की समुचित व्यवस्था के लिए प्रयत्न करे। अतः मार्ग-निर्देशक सिद्धान्त के रूप में इसे संविधान में रखा जाना सर्वथा उपयुक्त है।

(च) नीति निदेशक तत्त्वों के महत्त्व को केवल उपलब्धि के रूप में ही नहीं मापना चाहिए। उनका महत्त्व प्रेरणा के स्रोत और मार्गदर्शक प्रकाश-स्तम्भ के रूप में भी है।

किसी भी लोकतन्त्र की सुरक्षा नागरिकों की सतत् जागरूकता पर निर्भर है। टी. के. टोपी के इस कथन से असहमत होना कठिन है कि "यदि भारतीय जनता और विधान-मण्डलों में उनके प्रतिनिधि कार्यकारिणी की गतिविधियों की अच्छी प्रकार निगरानी करें तो निदेशक तत्त्व अवश्य ही सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुधारों के लिए एक प्रभावशाली साधन प्रमाणित हो सकते हैं।"[1]

वस्तुतः ये निदेशक सिद्धान्त सत्तारूढ़ दल के लिए व्यवहार की नियमावली (Code of Conduct) हैं जो इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि चाहे कोई भी राजनीतिक दल सत्तारूढ़ क्यों न हो, वह जनता के कल्याण के लिए इन सिद्धान्तों के अनुरूप अपनी नीति का निर्धारण करेगा। किसी भी दल द्वारा, चाहे वह अनुदार दल हो या उदार दल या क्रान्तिकारी दल, इन सिद्धान्तों की अवहेलना करना दुर्भाग्यपूर्ण होगा। संविधान के अन्तर्गत इन सिद्धान्तों को निहित कर देने से यह प्रस्थापित हो गया है कि "भारत के प्रशासकों को इन्हें अपने व्यवहार का विधान मानना होगा और शासन प्रबन्ध में इन्हें उचित महत्त्व देना होगा।" यद्यपि यह सत्य है कि सत्तारूढ़ दल को कानूनी तौर पर इन सिद्धान्तों के अनुसार शासन चलाने के लिए विवश नहीं किया जा सकता और न्यायालयों को भी इस सम्बन्ध में कोई शक्ति नहीं है, तथापि यह भी सम्भव नहीं है कि कोई भी उत्तरदायी सरकार इन सिद्धान्तों की अवहेलना करके इनके पीछे निहित जनमत की शक्ति को

1 *T. K. Topi* : Constitution of India, p. 325.

ठुकराने का साहस करे। यदि कोई सरकार अपने शासन में इन सिद्धान्तों की अवहेलना करेगी तो उसे न केवल विधान-मण्डलों में वरन् सम्पूर्ण देश में प्रबल विरोध का सामना करना पड़ेगा और उसके लिए सत्तारूढ़ बने रहना तक कठिन हो जाएगा। श्री एम. वी. पायली ने ठीक ही लिखा है कि "इन हानिकारक परिणामों से डरते हुए कोई सत्तारूढ दल निदेशक सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकता, ये उनके व्यवहार की नियमावली है।"[1]

राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त इस दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं कि ये भारत के वास्तविक लोकतन्त्र के विकास का विश्वास दिलाते है। इन सिद्धान्तों का मुख्य उद्देश्य भारत में आर्थिक लोकतन्त्र की शनैः-शनैः स्थापना करना है ताकि राजनीतिक लोकतन्त्र स्थिर बन सके।



1 *M. V. Pylee* ; Constutitional Government in India, p. 335.

13 भारतीय राष्ट्रपति

(THE INDIAN PRESIDENT)

भारत में संघीय कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति होते है तथा प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में एक मन्त्रि-परिषद् होती है। राष्ट्रपति भारतीय गणराज्य का प्रतीक है। पद और प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह पद नि.सन्देह सर्वोच्च है। संविधान के लिखित प्रावधानों के अनुसार राष्ट्रपति संघ का शासन चलाने वाला प्रधान व्यक्ति है। संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति मे निहित है और वही इस शक्ति का स्रोत है। अनुच्छेद 53 में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति संघ की कार्यकारी शक्ति का या तो "स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो द्वारा संविधान के अनुसार प्रयोग करेगा।" इसी प्रकार "संघ की रक्षा सेनाओं की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति मे निहित होगी और इसका प्रयोग कानून द्वारा नियमित होगा।" साथ ही अनुच्छेद 74 मे यह भी व्यवस्था है कि "राष्ट्रपति को अपने कृत्यो का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रमुख प्रधान मन्त्री होगा।" अनुच्छेद 75 में व्यवस्था है कि "मन्त्रि-परिषद् लोक-सेवा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।" ये सांविधानिक व्यवस्थाएँ प्रस्थापित करती है कि राष्ट्रपति व्यवहार में सांविधानिक अध्यक्ष है, वास्तविक शक्ति मन्त्रि-परिषद् में निहित है। प. जवाहरलाल नेहरू ने संविधान-सभा मे कहा भी था—"हमने राष्ट्रपति को कोई वास्तविक शक्ति नही दी है, लेकिन हमने उसकी स्थिति और सत्ता मर्यादापूर्ण अवश्य बनाई है।"

राष्ट्रपति पद के लिए अर्हताएँ

अनुच्छेद 58 के अनुसार वही व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र है जो—

(1) भारत का नागरिक हो,
(2) 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
(3) लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो (अर्थात् उसका नाम किसी संसदीय निर्वाचक-मण्डल मे मतदाता के रूप मे पंजीकृत होना चाहिए), एवं

(4) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन या इन दोनों सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण न किए हो।

पर संविधान मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि निम्नलिखित व्यक्तियों को राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए कोई लाभ का पद धारण किए हुए नही समझा जाएगा—

(क) राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति,
(ख) राज्यो के राज्यपाल,
(ग) सघ या राज्य का मन्त्री।

अभिप्राय यह हुआ कि ये लोग राष्ट्रपति निर्वाचित होने की अर्हता रखते हैं।

अनुच्छेद 59 मे व्यवस्था है कि राष्ट्रपति न तो ससद् के किसी सदन और न किसी राज्य के विधान-मण्डल के सदन का सदस्य होगा। यदि ऐसे किसी सदन का सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो गया है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप मे अपने पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है। संविधान में यह भी उल्लेख है कि राष्ट्रपति अन्य लाभ का पद धारण नहीं कर सकता।

1974 का संशोधन— 1974 मे ससद् ने राष्ट्रपति एव उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन सम्बन्धी (सशोधन) विधेयक 1974 पारित किया। तद्नुसार अब यह व्यवस्था है कि जो व्यक्ति राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी (उम्मीदवार) खडा होगा उसे 2500 रुपये की जमानत दाखिल करनी पड़ेगी। यदि किसी प्रत्याशी को कुल मतो के छठे भाग के बराबर मत नही मिलेंगे तो यह राशि जब्त हो जाएगी। राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के दस सदस्य उसके प्रस्तावक होंगे और दस सदस्य ही अनुमोदन करेंगे। उप-राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के लिए पांच प्रस्तावकों और पाँच अनुमोदनों की व्यवस्था है। यह भी प्रावधान किया गया था कि कम से कम बीस निर्वाचक राष्ट्रपति के चुनाव को और दस निर्वाचक उप-राष्ट्रपति के चुनाव को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दे सकते हैं, लेकिन 1975 के एक नए सशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के इस अधिकार को छीनकर यह अधिकार संसद् की एक विशेष समिति को सौप दिया गया है।[1]

राष्ट्रपति अपना सरकारी आवास बिना किराए के प्राप्त करने का अधिकार रखता है। उसे संसद् द्वारा निर्धारित वेतन, भत्ते और विशेषाधिकार प्राप्त होते है। इस समय राष्ट्रपति का वेतन दस हजार रुपया प्रतिमास निश्चित किया गया है जो उपलब्धियां तथा भत्ते उसे प्राप्त हैं वे उसके पद की अवधि में नही घटाए जा सकते।

1 एम वी. पायली : वही, पृष्ठ 152.

राष्ट्रपति का निर्वाचन
(Election of the President)

संविधान मे राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित अनुच्छेद 54 और 55 है। अनुच्छेद 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक-मण्डल द्वारा की जाने की व्यवस्था है जिसमे ये सदस्य होंगे—

(क) संसद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य, तथा

(ख) राज्यो की विधान-सभाओ के निर्वाचित सदस्य।

संविधान-सभा मे पण्डित नेहरू ने कहा था कि "राष्ट्रपति के निर्वाचक-मण्डल में संघीय संसद के साथ-साथ राज्य विधान-मण्डलों के सदस्यों को सम्मिलित कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो और संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तविक रूप में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।"

संसद् और राज्य विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यो द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव एक विशेष मत-पद्धति के अनुसार होता है। इसे 'एकल संक्रमणीय मत-पद्धति' (Single Transferable Vote System) कहा जाता है। चुनाव मे मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा होता है। चुनाव में सफलता प्राप्त करने हेतु उम्मीदवार के लिए 'न्यूनतम कोटा' प्राप्त करना आवश्यक है। 'न्यूनतम कोटा' निर्धारित करने के लिए जो सूत्र अपनाया जाता है, वह इस प्रकार है—

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए मतो की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} + 1$$

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए की गई है कि स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने पर ही किसी उम्मीदवार को राष्ट्रपति का पद प्राप्त हो सके। तभी वह अपने पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सकता है।

राष्ट्रपति-निर्वाचन की एक मुख्य बात यह है कि निर्वाचक-मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य समान नही होता। निर्वाचक-मण्डल के सदस्यो मे से प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या उस अनुपात से निश्चित की जाती है, जितनी संख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण प्रत्येक सदस्य की मत संख्या समान न होकर भिन्न-भिन्न होती है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने वाले सदस्यो के मतों की संख्या विभाजित करने के लिए एक फार्मूला बनाया गया है। तद्नुसार, निर्वाचक-मण्डल का प्रत्येक सदस्य कितने मत देने का अधिकारी है, यह इस प्रकार ज्ञात ही किया जाता है—

(क) राज्य विधान-सभा के निर्वाचित प्रत्येक सदस्य की मत संख्या—राज्य की कुल जनसंख्या को विधान-सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग देते हैं, जो भागफल आता है उसको पुनः 1000 द्वारा भाग दिया जाता है। आधे से अधिक का एक माना जाता है और उसे भजनफल मे जोड़ा जाता है। इस प्रकार

जो संख्या प्राप्त होती है वही राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए विधान-सभा के सदस्य की मत-संख्या होती है। सरल फार्मूले के रूप मे इसे यो रखा जा सकता है—

$$\frac{\text{राज्य की कुल जनसंख्या}}{\text{राज्य विधान-सभा के कुल निर्वाचित सदस्यो की जनसंख्या}} \div 1000$$

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी राज्य की जनसख्या 5 करोड है और विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यो की संख्या 430 है तो एक सदस्य के मतों की संख्या होगी $\frac{50\,000,000}{430} \div 1000 = 116\ 278$ अर्थात् 117

(ख) **संसद् के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत संख्या**—राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्यों की कुल मत सख्या को ससद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है जो भजनफल आता है उसमे आधे से अधिक भिन्न को एक माना जाता है तथा अन्य भिन्नो की उपेक्षा कर दी जाती है। सरल फार्मूले के रूप में—

$$\frac{\text{राज्य विधान सभाओ के सभी सदस्यों के कुल मतो की संख्या}}{\text{ससद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो की संख्या}}$$

उदाहरण के तौर पर मान लीजिए सब राज्यो के विधान-सभाओ के निर्वाचित सदस्यो की मत सख्या का योग 300,000 (तीन लाख) है और भारतीय संसद् के दोनों सदनो के निर्वाचित सदस्यों की सख्या 700 है तो ससद् के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को $\frac{300,000}{700}$ मत अर्थात् 428·5 यानि 429 मत देने का अधिकार होगा।

मतो के मूल्य के आधार पर मतो की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता (First Preference) मतों की गणना मे कोई उम्मीदवार जीत के लिए आवश्यक 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त नही कर पाता तो द्वितीय वरीयता (Second Preference) के मतो की गणना कर उसके आधार पर चुनाव का फैसला किया जाता है। भारत मे ऐसी स्थिति अगस्त 1969 मे चौथे राष्ट्रपति चुनाव में उत्पन्न हुई थी। इस चुनाव मे श्री वी वी. गिरि को 4,20,077 और श्री संजीव रेड्डी को 4,05,427 मत प्राप्त हुए। अगस्त, 1974 मे स्वर्गीय श्री फखरुद्दीन अली अहमद निर्वाचक-मण्डल में 80 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त कर देश के पाँचवें राष्ट्रपति बने। 21 जुलाई, 1977 को श्री नीलम संजीव रेड्डी सर्वसम्मति से भारत के छठे राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उनका निर्विरोध निर्वाचन राष्ट्रपति-पद की गरिमा को बढाने वाला है।

राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों ?

संविधान सभा ने यह महसूस किया कि जब राष्ट्रपति को औपचारिक प्रधान मात्र बनाना है तो फिर उसका प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचन व्यर्थ का परिश्रम होगा

1 *K. Santhanam :* The Constitution of India, p 45

मन्त्रिमण्डलीय शासन-व्यवस्था मे राष्ट्रपति सांविधानिक मुखिया होता है, अत. भारत मे अमेरिका की भांति सभी निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन (वास्तविक प्रथा) की आवश्यकता अनुभव नही की गई। पर साथ ही यह भी प्रयत्न किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जहाँ तक हो सके जनता पर ही आधारित रहे। भारत मे राष्ट्रपति की वर्तमान निर्वाचन-व्यवस्था से ये दोनो ही उद्देश्य पूरे हो जाते हे। पुनश्च, राष्ट्रपति के निर्वाचन मे संसद् के दोनो सदनों के निर्वाचित सदस्यो के साथ ही राज्य विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यो को भी निर्वाचक-मण्डल मे लिए जाने का एक विशेष महत्त्व है। यदि राष्ट्राध्यक्ष के निर्वाचन मे ससद् के दोनों ही सदन भाग लेते तो बहुसख्यक दल द्वारा अपने प्रत्याशी का सरलता से निर्वाचन सदैव सम्भव रहता। किन्तु राज्य विधान-सभाओं द्वारा निर्वाचन मे भाग लेने से स्थिति बदल गई है। यह पूर्ण सम्भव है कि संसद् मे जो बहुसंख्यक दल है उसे अधिकांश राज्यो मे बहुमत न मिला हो। ऐसी स्थिति मे ससद् में बहुमत रखने वाला दल राज्य विधान-सभाओं के समर्थन के बिना अकेला ही अपने प्रत्याशी को राष्ट्रपति निर्वाचित नही कर सकता।

निर्वाचन सम्बन्धी विवाद

अनुच्छेद 71 यह उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या सम्बन्धित सब शकाओं और विवादो की 'जाँच' और 'विनिश्चय' उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। किन्तु यदि राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन न्यायालय द्वारा शून्य घोषित कर दिया जाता है तो उनके द्वारा अपने पद की शक्तियों के प्रयोग में, किए गए कार्य अमान्य नही होगे। इस संविधान के अधीन रहते हुए ससद् को विधि द्वारा राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित किसी विषय का विनियमन करने का अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 71 मे संविधान के 42वें सशोधन अधिनियम 1976 द्वारा जो सशोधन किए गए थे वह 44वे सविधान संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा निरस्त कर दिए गए है और अनुच्छेद 71 पुन. अपने मूल रूप मे आ गया है।[1]

राष्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद 56(1) मे उल्लेख है कि राष्ट्रपति अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा, परन्तु—

(क) राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) सविधान का अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 61 से उपबन्धित रीति से किए गए महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकेगा।

(ग) राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक पद धारण किए रहेगा।

1 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 230

अनुच्छेद 56(2) मे राष्ट्रपति अपने त्याग-पत्र की सूचना अविलम्ब लोक-सभा के अध्यक्ष को देगा।

पुनः चुने जाने की पात्रता

संविधान मे इस बात की कोई कानूनी सीमा नही लगाई गई है कि कोई व्यक्ति लगातार या अन्यथा कितनी बार राष्ट्रपति चुना जा सकता है। इसके विपरीत, अमेरिका के संविधान के अन्तर्गत एक व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रति-पद के लिए नही चुना जा सकता (ऐसा 22वे संशोधन द्वारा किया गया है)। भारतीय संविधान में इस सम्बन्ध मे यद्यपि कोई प्रतिबन्ध नही है, लेकिन स्वतन्त्र भारत के इतिहास मे अभी तक तीसरी बार कोई व्यक्ति राष्ट्रपति नही बना है और आशा की जानी चाहिए कि यह बात एक स्वस्थ अभिसमय का रूप ले लेगी।

राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

संविधान के अनुच्छेद 61 मे राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया का उल्लेख है। तदनुसार, संविधान के अतिक्रमण के लिए राष्ट्रपति पर जब महाभियोग चलाना हो, तब संसद् का कोई सदन दोषारोपण करेगा। महाभियोग सम्बन्धी प्रस्ताव पर उस सदन के कम-से-कम एक चौथाई सदस्यो के हस्ताक्षर होने चाहिए और प्रस्ताव का लिखित नोटिस कम-से-कम 14 दिन पूर्व प्राप्त होना चाहिए। यदि यह प्रस्ताव सदन के कुल सदस्यो के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से पारित हो जाए तो इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया गया है। जब संसद् के किसी सदन द्वारा इस प्रकार महाभियोग लगाया जा चुके तब दूसरा सदन उस महाभियोग का अनुसंधान करेगा या कराएगा और इस अनुसंधान मे उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राष्ट्रपति को अधिकार होगा। यदि जाँच अथवा अनुसंधान के फलस्वरूप राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया दोषारोपण सिद्ध हो जाए और अनुसंधान करने वाला सदन भी अपने कुल सदस्यो के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो इस प्रस्ताव का प्रभाव यह होगा कि उसके पारित होने की तिथि से राष्ट्रपति पदच्युत् समझा जाएगा।

उल्लेखनीय है कि अमेरिका मे भी राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है, लेकिन भारतीय और अमेरिकन संविधानों मे इस सम्बन्ध मे मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ भारत के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'संविधान के उल्लघन या अतिक्रमण' के लिए लगाया जा सकता है वहाँ अमेरिका के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'राजद्रोह' 'घूस लेने' तथा अन्य 'अपराध' करने के आधार पर लगाया जा सकता है।

राष्ट्रपति की उन्मुक्तियाँ या विशेषाधिकार

राष्ट्रपति को कुछ उन्मुक्तियाँ (Immunities) या विशेषाधिकार प्राप्त है—

1. अपने पद के अधिकारो और शक्तियो के प्रयोग तथा अपने कर्त्तव्यो

के पालन मे राष्ट्रपति जो कोई भी कार्य करे, उसके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध किसी न्यायालय मे मुकदमा नही चलाया जा सकता है।

2 भारत संघ के सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम पर होते हैं, किन्तु उन कार्यों के लिए वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नही है।

3. जब तक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर आसीन है तब तक उसके विरुद्ध किसी दीवानी या फौजदारी न्यायालय मे कोई मुकदमा नही चलाया जा सकता, उसकी गिरफ्तारी के लिए कोई वारन्ट जारी नही किया जा सकता और न ही उसे कैद किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति का उस पर किसी प्रकार का दावा (Claim) हो तो 2 महीने का नोटिस देने के बाद ही किसी प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है।

राष्ट्रपति द्वारा पद की शपथ लेना

अनुच्छेद 60 मे लिखा है कि—

"प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यो का निर्वहन करता है, अपने पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के प्राप्य अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष निम्न रूप मे शपथ या प्रतिज्ञापन करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा," अर्थात्—

"मैं,......................,अमुक.......... ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञापन करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति-पद का कार्यपालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण मे निरत रहूँगा।"

राष्ट्रपति की शक्तियाँ
(Powers of the President)

राष्ट्रपति की शक्तियो को सारभूत रूप मे प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि राष्ट्राध्यक्ष होने की हैसियत से उसको नियुक्तियाँ करने, संसद् का अधिवेशन बुलाने, उसे स्थगित करने, उसमे भाषण देने और उसे सन्देश भेजने तथा लोकसभा को भंग करने, ससद् का सत्र न होने के समय अध्यादेश जारी करने, धन-विधेयक प्रस्तुत करने तथा विधेयकों को स्वीकृति प्रदान करने तथा क्षमादान करने, दण्ड रोकने अथवा उसमें कमी करने आदि के अधिकार प्राप्त है। रक्षा सेनाओ की सर्वोच्च कमान भी उसके पास होती है और उसका प्रयोग कानून द्वारा विनियमित किया जाता है। राष्ट्रपति कार्यपालिका के अधिकारो का प्रयोग सविधान के अनुसार स्वय अथवा सरकारी अधिकारियो के माध्यम से करता है। यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाए कि कोई ऐसा सकट विद्यमान है जिसमे भारत की अथवा उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है तो वह देश मे सकटकालीन स्थिति की उद्घोषणा कर सकता है।

राष्ट्रपति की संविधान-प्रदत्त विस्तृत और प्रभावशाली शक्तियों को मोटे रूप में चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है—(अ) कार्यपालिका शक्तियां, (ब) विधायी शक्तियां, (स) वित्तीय शक्तियां, एवं (द) संकटकालीन शक्तियां। यहां इन शक्तियों का कुछ विस्तार से विवेचन आवश्यक है।

(अ) कार्यपालिका शक्तियां—संविधान के अनुच्छेद 58 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है जिसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। भारतीय शासन-प्रणाली यदि नितान्त संसदीय नहीं है तो वह नितान्त राष्ट्रपतीय भी नहीं है क्योंकि व्यवहारतः शासन-व्यवस्था में राष्ट्रपति नाम-मात्र का प्रधान है और शासन की वास्तविक कार्यकारी शक्तियां मन्त्रि-मण्डल में निहित हैं जो सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। राष्ट्रपति की शक्तियों के सन्दर्भ में हमें इस व्यावहारिक पहलू को सदैव ही ध्यान में रखना होगा।

राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के अन्तर्गत प्रशासकीय, राजनीतिक, सैनिक और न्यायिक अथवा अर्द्धन्यायिक सभी प्रकार की शक्तियां शामिल हैं। वह प्रशासन का औपचारिक अध्यक्ष है और सभी संघीय अधिकारी, चाहे वे सैनिक सेवा के हों या असैनिक सेवा के, उसके अधीन हैं। संघीय अधिकारियों को नियुक्त करने की उसे व्यापक शक्तियां हैं। जिन अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है उनमें से मुख्य ये हैं—प्रधान मन्त्री तथा अन्य संघीय मन्त्री, महाधिवक्ता, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, राज्यों के राज्यपाल, राजदूत एवं अन्य राजनयिक अधिकारी, लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्य, अनुसूचित वर्गों के लिए विशेष अधिकारी आदि। राष्ट्रपति विभिन्न आयोगों को भी नियुक्त करता है जैसे वित्त आयोग, योजना आयोग, निर्वाचन आयोग, भाषा आयोग आदि। राष्ट्रपति को ही अपने मन्त्रियों, राज्यपालों, महाधिवक्ता, उच्च सैनिक अधिकारियों आदि को पदच्युत करने का अधिकार है। वह प्रतिरक्षा सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति है और राज्य का अध्यक्ष होने के नाते सभी प्रकार के राजनयिक विशेषाधिकारों का उपभोग करता है। देश के राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति उसी के द्वारा की जाती है और विदेशी राजदूत अपने पद के प्रमाण-पत्र उसके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। सभी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां या समझौते उसी के नाम से किए जाते हैं। वही न्याय और सम्मान का स्रोत है। उसे अपराधियों को क्षमा करने, दिए गए दण्ड को कम करने, दण्ड में छूट देने, दण्ड रोकने आदि के अधिकार हैं।

यह पुनः दोहराना होगा कि भारत में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था है, अतः राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रि-मण्डल की सिफारिश पर करता है। राष्ट्रपति मनचाहे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त नहीं कर सकता क्योंकि दलगत

राजनीति की मांग है कि वह लोकसभा में बहुमत के नेता को प्रधान मन्त्री नियुक्त करे। इस सम्बन्ध में संविधान की भी व्यवस्था है कि प्रधानमन्त्री और उसके मन्त्रि-मण्डल को लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार, प्रधान मन्त्री को नियुक्त करने की राष्ट्रपतीय शक्ति सांविधानिक औपचारिकता मात्र है। पर यह औपचारिक शक्ति तब बहुत कुछ व्यावहारिक बन जाती है जब लोकसभा मे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो। ऐसे अवसर पर राष्ट्रपति को अपने विवेक को प्रयोग मे लाने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते है। 22 जुलाई, 1979 को देसाई सरकार के पतन के बाद चौधरी चरणसिंह को प्रधान मन्त्री नियुक्त करने मे राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने अपने स्वविवेक का ही प्रयोग किया।

(ब) **विधायी शक्तियाँ**—संविधान के अनुच्छेद 79 के अनुसार राष्ट्रपति संसद् का एक अभिन्न अंग है। संघ की विधायी शक्तियो को इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति और संसद् के दोनो सदनो मे निहित माना गया है। राष्ट्रपति विधायी प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना कोई विधेयक कानून नही बन सकता। राष्ट्रपति को संसद् का अधिवेशन बुलाने, उसे स्थगित करने, उसमे भाषण देने और उसे सन्देश भेजने का अधिकार है। वह राज्य-सभा के 12 सदस्यो को मनोनीत करता है, जिन्हे साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा में से किन्हीं का विशिष्ट और व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए। इस व्यवस्था की शब्दावली बड़ी लचीली है अतः मनोनीत सदस्यो के चयन मे कार्यकालिका के पास अपने विवेक का प्रयोग करने की काफी छूट है। राष्ट्रपति को लोकसभा के भी कुछ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है। वह अधिक से अधिक दो एंग्लो इण्डियन सदस्यो को मनोनीत कर सकता है, यदि उसे विश्वास हो जाए कि इस सम्प्रदाय को सदन मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को कुछ अन्य सदस्यों को भी मनोनीत करने का अधिकार है, जिनकी कुल संख्या 13 है।

संसद् द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। वह विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे अधिनियम का रूप दे सकता है। संविधान संशोधन विधेयक के अतिरिक्त किसी भी विधेयक पर स्वीकृति देने से इनकार कर सकता है अथवा विधेयक को अपने सन्देश या संशोधन सहित पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यदि ऐसा विधेयक संसद् द्वारा पुनः पारित होकर स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत हो जाए तो राष्ट्रपति को उस पर स्वीकृति देनी ही पड़ती है। इस प्रकार राष्ट्रपति को निलम्बन निषेधाधिकार ही है, पूर्ण निषेधाधिकार नहीं। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व आज्ञा के बिना संसद् मे प्रस्तावित ही नही किए जा सकते, जैसे वित्त विधेयक, किसी राज्य की सीमा अथवा नाम को बदलने से सम्बन्धित विधेयक, व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित विधेयक। संविधान के अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत, संसद् के विश्रान्ति काल मे राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। इन अध्यादेशों का वही बल और प्रभाव होता है जो संसद् के अधिनियम का होता है। किन्तु ऐसे प्रत्येक अध्यादेश

को संसद् के सत्र के प्रारम्भ होने से 6 सप्ताह के भीतर ही संसद् के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है और ऐसा न करने पर अथवा संसद् द्वारा उसे 6 सप्ताह की अवधि के भीतर ही अस्वीकृति कर देने पर अध्यादेश अवैध हो जाता है। राष्ट्रपति अपने अध्यादेश को अपनी इच्छानुसार कभी भी वापस ले सकता है।

राष्ट्रपति को अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षदीव, मिनिकाय और अमीनदीवी द्वीप समूह आदि संघीय क्षेत्रों की शान्ति, विकास और सुप्रशासन के लिए बनाने का अधिकार है।

(स) वित्तीय शक्तियाँ—संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। वित्त विधेयक संसद् के समक्ष केवल उसकी सिफारिश पर ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उसे आकस्मिक निधि पर भी नियन्त्रण प्राप्त है, क्योंकि वह किसी भी ऐसे व्यय के लिए इस निधि से धनराशि निकालने का अधिकार दे सकता है जिसके सम्बन्ध में संसद् की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हुई हो, तथापि इस पर कालान्तर मे संसद् की स्वीकृति ली जानी आवश्यक है। राष्ट्रपति समय-समय पर वित्त आयोग नियुक्त करता है जिसकी सिफारिशों के आधार पर आयकर का राज्यों मे विभाजन किया जाता है। राष्ट्रपति ही यह निश्चित करता है कि पटसन के निर्यात कर की आय में से कुछ राज्यों को बदले में क्या धनराशि मिलनी चाहिए।

राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियाँ
(Emergency Powers of the President)

भारतीय संविधान की यह एक मुख्य विशेषता है कि संकटकाल में यह संघात्मक से एकात्मक स्वरूप धारण कर लेता है। जर्मनी के वाइमर-संविधान की भांति भारतीय संविधान ने भी संकटकाल में राष्ट्रपति को अतिरिक्त अधिकार प्रदान किए है, जिन्हें राष्ट्रपति की आपात्कालीन अथवा संकटकालीन शक्तियाँ कहा जाता है। संविधान मे तीन प्रकार के संकटकालों का वर्णन है और तदनुसार राष्ट्रपति तीन प्रकार की घोषणा कर सकता है—

1. युद्ध या वाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति—जिसे 44वें संशोधन 1978 द्वारा 'सशस्त्र विद्रोह' रखा गया है—से उत्पन्न आपात् या संकट (अनुच्छेद 352)
2. राज्यों मे सांविधानिक तन्त्र विफल होने से उत्पन्न आपात (अनुच्छेद 356)
3. वित्तीय आपात (अनुच्छेद 360)

1. युद्ध या वाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से उत्पन्न संकट (अनुच्छेद 352)

संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम 1978 के पूर्व अनुच्छेद 352 की व्यवस्था इस प्रकार थी—

युद्ध अथवा वाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति के कारण यदि कोई ऐसी संकटकालीन स्थिति पैदा हो जाए, जिससे भारत अथवा उसके क्षेत्र के

भाग की सुरक्षा संकट में हो, तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा संकटकाल की घोषणा कर सकता है। कभी-कभी यह घोषणा युद्ध अथवा आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति की सम्भावना की स्थिति से की जा सकती है। ऐसी घोषणा को राष्ट्रपति उत्तरवर्ती घोषणा द्वारा प्रतिसंहृत (Revoke) या परिवर्तित (Varied) (42वें संविधान संशोधन द्वारा निविष्ट) कर सकता है। ऐसी उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और 2 मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी। यदि उस कालावधि की समाप्ति के पहले संसद् के दोनों सदनों के संकल्प द्वारा अनुमोदित न कर दी गई हो। यदि ऐसी कोई उद्घोषणा उस समय की गई है जबकि लोकसभा का विघटन हो चुका है या उसका विघटन खण्ड (2) के अन्तर्गत बिना कोई संकल्प पारित किए 2 मास की अवधि के भीतर हो जाता है, जबकि राज्य-सभा ने संकल्प का अनुमोदन कर दिया है तो वह उद्घोषणा पुनर्गठित लोकसभा की प्रथम बैठक की तारीख से 30 दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी, जब तक कि उक्त 30 दिन की अवधि की समाप्ति के पूर्व उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प न पारित कर दिया गया हो।[1]

इस अनुच्छेद से स्पष्ट है कि आपात् स्थिति के अस्तित्व के बारे में राष्ट्रपति का 'समाधान' (Satisfaction) ही पर्याप्त है। इस प्रश्न में कि आपात् उद्घोषणा के लिए पर्याप्त परिस्थितियाँ विद्यमान हैं या नहीं अथवा संकट की आशंका सन्निकट है या नहीं जिससे कि भारत की सुरक्षा खतरे में है, राष्ट्रपति का निर्णय ही 'एकमात्र अन्तिम' है। न्यायालय राष्ट्रपति के 'समाधान' की जाँच नहीं कर सकते।[2] उल्लेखनीय है कि संविधान के 38वें संशोधन अधिनियम 1975, के द्वारा यह व्यवस्था कर दी गई कि राष्ट्रपति और राज्यपाल अथवा राज्यपालों द्वारा उद्घोषित आपात्कालीन स्थिति वाले अध्यादेश न्यायालयों की सुनवाई के क्षेत्राधिकार से अलग होंगे अर्थात् उन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 352 में दो नए खण्ड (4) एवं (5) जोड़ दिए गए।

42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा अनुच्छेद 352 में संशोधन करके यह स्पष्ट कर दिया गया कि आपात्-उद्घोषणा देश के किसी भाग में परिसीमित की जा सकती है अथवा यदि सम्पूर्ण भारत में लागू है तो उसे किसी एक भाग से हटाया जा सकता है जहाँ कि स्थिति सामान्य हो गई है। इस संशोधन के पूर्व आपात् की उद्घोषणा सम्पूर्ण भारत के सम्बन्ध में ही की जा सकती थी।

मार्च, 1977 में श्रीमती गाँधी की काँग्रेस सरकार का पतन हो गया और श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार बनी। देसाई सरकार के समय 44वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित हुआ जिसके द्वारा आपात्काल के

1 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 409.

2 वही, पृष्ठ 409 देखिए गुलाम सरवर बनाम-भारत संघ, ए.आई.आर. 1967, सुप्रीम कोर्ट, 1335.

विरुद्ध कुछ सुरक्षात्मक उपायों का प्रावधान किया गया है। भारत सरकार ने 30 अप्रैल, 1979 को इस सम्बन्ध मे 34वे सविधान सशोधन अधिनियम की व्यवस्था को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"इस अधिनियम में किए गए संशोधनो मे इस बात की पूर्ण व्यवस्था की गई है कि ऐसा आपात्काल न लगाया जा सके तथा कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों का दुरुपयोग न किया जा सके जैसा कि जून, 1975 से मार्च 1977 तक की अवधि के आन्तरिक आपात्काल के दौरान किया गया था। इसके बाद संविधान द्वारा नागरिको को जीवन तथा स्वतन्त्रता सहित अन्य मूल अधिकार अचिरस्थायी बहुमत द्वारा नही छीने जा सकेंगे। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि आपात्कालीन अधिकारो का उचित उपयोग किया जाता है तथा उनका दुरुपयोग नही किया जाता, यह व्यवस्था की गई है कि आपात्काल की घोषणा उसी दशा मे की जा सकेगी जब भारत या इसके किसी क्षेत्र को युद्ध या बाहरी हमले या सशस्त्र विद्रोह का खतरा उत्पन्न हो गया हो। सशस्त्र विद्रोह के अलावा अन्य किसी प्रकार के आन्तरिक उपद्रवों के आधार पर आपात्काल की घोषणा नही की जा सकेगी।"

"यह व्यवस्था की गई है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को दी गई लिखित रूप मे सलाह के आधार पर ही आपात्काल की घोषणा की जा सकेगी ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि यह घोषणा उपयुक्त तथा पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद ही की जाए। चूंकि आपात्काल की घोषणा सविधान मे सशोधन के समान होती है, अतः यह व्यवस्था की गई है कि इस घोषणा को दोनों सदनों द्वारा उसी बहुमत से स्वीकार किया जाना होगा जितना कि बहुमत संविधान मे संशोधन के लिए आवश्यक होता है और यह स्वीकृति एक महीने की अवधि के भीतर दी जानी होगी। अगर लोकसभा आपात्काल की घोषणा को जारी रखने को अस्वीकार करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित कर देती है तब भी यह घोषणा निरस्त हो जाएगी। इस घोषणा को अस्वीकार करने के लिए प्रस्ताव पर विचार करने के लिए लोकसभा के 10 प्रतिशत या इससे अधिक सदस्य विशेष बैठक बुलाने के लिए कह सकते हैं।"

आपात उद्घोषणा का प्रभाव—अनुच्छेद 312 के अन्तर्गत आपात् उद्घोषणा के निम्नलिखित प्रभाव या परिणाम होते है—

1 सघ की कार्यपालिका शक्ति राज्यो को इस बात का निर्देश देने तक विस्तृत हो जाती है कि वे अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस रीति से करें। राज्यों की कार्यपालिका शक्ति केन्द्रीय कार्यपालिका शक्ति के अधीन कार्य करती है।

2. संसद् को राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वह ऐसे किसी विषय पर भी कानून बना सकती है जो सघ या उसके पदाधिकारियों को कर्त्तव्य सौंपती हो, भले ही वह विषय संघ सूची में वर्णित न हो। इस प्रकार, आपात्कालीन स्थितियो में, केन्द्र तथा राज्यो के बीच वि शक्ति का विभाजन नाममात्र को ही बना रहता है। ध्यान रहे कि आपात

राज्य विधान-मण्डल की कानून बनाने की शक्ति समाप्त नहीं हो जाती, केवल निलम्बित हो जाती है। राज्य विधान-मण्डल राज्य-सूची के विषयो पर कानून बना सकते है, किन्तु वे ससद् द्वारा पारित विधियो के अधीन होते है।

3. राष्ट्रपति उचित समझे तो, आदेश द्वारा अनुच्छेद 268 से 279 तक मे उपबन्धित केन्द्र और राज्यो के वित्तीय सम्बन्धो मे परिवर्तन कर सकता है। ऐसे प्रत्येक आदेश को यथासम्भव शीघ्र ससद् के प्रत्येक सदन के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा।

4. ससद् विधि द्वारा लोकसभा के कार्यकाल को एक वर्ष के लिए बढा सकती है। यह अवधि एक बार मे एक वर्ष से अधिक नही बढाई जा सकती और आपात् उद्घोषणा के समाप्त हो जाने के पश्चात् 6 माह बाद स्वय ही समाप्त हो जाएगी।

5. 44वें सविधान सशोधन अधिनियम 1978 की व्यवस्था के अधीन अब युद्ध या बाह्य आक्रमण से देश को सकट के आधार पर आपात् उद्घोषणा होने पर ही अनुच्छेद 19मे वर्णित मूल अधिकारो का निलम्बन किया जा सकेगा। सशस्त्र विद्रोह के आधार पर की गई आपात् उद्घोषणा मे अनुच्छेद 19 का निलम्बन नही किया जा सकेगा। ध्यान रहे कि आपात् की स्थिति मे अनुच्छेद 19 मे प्रदत्त अधिकारो का केवल निलम्बन ही होता है, वे बिलकुल समाप्त नही हो जाते और आपात् की उद्घोषणा के प्रवर्तन मे न रहने पर स्वतः पुनर्जीवित हो उठते है। आपात् की उद्घोषणा होने पर अनुच्छेद 19 स्वतः निलम्बित हो जाता है और राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह अनुच्छेद 19 के अतिरिक्त अन्य अधिकारो को अपने आदेश द्वारा निलम्बित कर दे। राष्ट्रपति किसी भी मूल अधिकार को न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित कराने के अधिकार का निलम्बन कर सकता है। यह आवश्यक नही है कि सभी अधिकार निलम्बित किए जाएँ। ध्यान रहे कि 44वें सशोधन अधिनियम 1978 की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति 'प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता के अधिकार' को निलम्बित नही कर सकता। यह अधिनियम स्पष्ट करता है कि आपात् के दौरान उन्ही विधियो को न्यायालयो से चुनौती दिए जाने से संरक्षण प्राप्त होगा जो आपात् उद्घोषणा से सम्बन्धित हैं, अन्य विधियों को नहीं।

2. राज्य में सांविधानिक तन्त्र की विफलता से उत्पन्न आपात् *(अनुच्छेद 356)*

यदि राष्ट्रपति को प्राप्त सूचनाओं के आधार पर अथवा अन्य किसी प्रकार से यह विश्वास हो जाए कि किसी राज्य का शासन सविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, तो वह एक उद्घोषणा द्वारा राज्य के विधान-मण्डल को छोड़कर राज्यपाल या किसी निकाय अथवा राज्य के किसी भी प्राधिकारी के अधिकारों सहित उस राज्य की सरकार के सभी अथवा किसी कार्य को अपने हाथ में ले सकता है और यह घोषणा कर सकता है कि राज्य के विधान-मण्डल के अधिकारों का सचालन ससद् द्वारा अथवा ससद् के अधिकार के अधीन होगा। साथ

ही, वह राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से सम्बन्धित संविधान के किसी भाग को स्थापित कर सकता है। एकमात्र अपवाद यह है कि वह उच्च न्यायालय में लिखित अथवा उसके द्वारा प्रयुक्त होने वाले किसी भी अधिकार को अपने हाथ में नहीं ले सकता है और न वह उच्च न्यायालयों से सम्बन्धित संविधान की किसी व्यवस्था को स्थापित कर सकता है।

जहाँ तक विधायी अधिकारों का सम्बन्ध है, संसद् किसी भी विधान-मण्डल के अधिकार राष्ट्रपति को हस्तान्तरित कर सकती है अथवा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे सकती है कि वह अपने द्वारा नियत किए गए किसी अधिकारी को राज्य के विधान मण्डल के अधिकार सौंप दें। यदि उस समय लोकसभा का अधिवेशन न हो रहा हो तो संसद् से स्वीकृति मिलने तक राष्ट्रपति राज्य की समेकित निधि में से व्यय करने की स्वीकृति दे सकता है।

अनुच्छेद 356 की व्यवस्था से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति राज्य के राज्यपाल से कोई रिपोर्ट न मिलने पर भी कार्यवाही कर सकता है। इसके लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि राष्ट्रपति को इस बात का 'समाधान' हो जाए कि किसी राज्य में सांविधानिक तन्त्र विफल हो गया। ऐसा सम्भव है कि राज्यपाल राज्य के मुख्य मन्त्री से मिल जाए और राष्ट्रपति को संविधान-तन्त्र की विफलता की सूचना न भेजे। ऐसी स्थिति में केन्द्र को अपने कर्त्तव्य का पालन करना होगा और स्वयं कार्य करना होगा। राष्ट्रपति का 'समाधान' मन्त्रिमण्डल का समाधान होता है। अनुच्छेद 356 में प्रयुक्त "राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता" पदावली बहुत व्यापक अर्थ रखती है। किसी राज्य में सांविधानिक तन्त्र विफल हो गया है अथवा नहीं, इसका निर्णय केवल राष्ट्रपति करेगा और राष्ट्रपति का निर्णय केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का निर्णय होता है।

अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और यदि वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा द्वारा प्रतिसंहृत (Revoked) नहीं की गई है तो दो महीने तक मान्य होगी। यदि दो महीने तक संसद् संकल्प द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन कर देती है तो वह 6 माह तक प्रवर्तन में रहेगी। 44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 में स्पष्ट कर दिया है कि संसद् एक बार में इस अवधि को 6 माह के लिए बढ़ा सकती है और एक वर्ष से अधिक [illegible] के लिए आपात् को जारी रखने वाला संकल्प किसी भी सदन द्वारा [illegible] नहीं माना जाएगा जब तक कि—

(क) ऐसे संकल्प के पारित करने समय आपात् उद्घोषणा [illegible] और

(ख) चुनाव आयोग इस बात का प्रमाण-पत्र [illegible] विधान सभा के लिए आम चुनाव कराने [illegible] आपात् स्थिति का जारी रहना आवश्यक है।

स्पष्ट है कि वर्तमान व्यवस्था के अनुसार 1 वर्ष से अधिक अवधि के लिए आपात् को तभी जारी रखा जा सकता है जब चुनाव आयोग का उपर्युक्त परिस्थिति के विद्यमान होने का प्रमाण-पत्र न प्राप्त हो जाए। इसके पूर्व ऐसी कोई शर्त नहीं थी और सरकार बिना किसी कारण के इस अवधि को बढाकर अधिकतम सीमा (3 वर्ष) तक कर दिया करती थी।

अनुच्छेद 352 और 356 में अन्तर—इन दोनो अनुच्छेदो मे जो अन्तर है उसे हम इस प्रकार रख सकते है—

1. अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राज्य-सविधान निलम्बित नही किया जाता, राज्य की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका यथावत् कार्य करती रहती है। केवल केन्द्र को राज्य-सूची के विषयों पर विधायन और प्रशासन की समवर्ती शक्ति मिल जाती है। दूसरी ओर, अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य-विधान-मण्डल को निलम्बित अथवा विघटित कर दिया जाता है और राज्य की प्रशासकीय एव विधायी शक्तियाँ पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार मे निहित हो जाती है।

2 अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत केन्द्र और सभी राज्यों के सम्बन्ध में परिवर्तन हो जाता है जबकि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत केन्द्र और केवल एक राज्य के सम्बन्धो से परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दो मे, अनुच्छेद 352 सभी राज्यो पर लागू होता है जबकि अनुच्छेद 356 केवल उसी राज्य पर लागू होता है जिसमें सार्वजनिक तन्त्र विफल हो गया है।

3. अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत अनुच्छेद 19 में प्रदत्त मूल अधिकार निलम्बित हो जाते हैं जबकि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत मूल अधिकारों पर कोई प्रभाव नही पडता।

3. वित्तीय आपात् (अनुच्छेद 360)

अनुच्छेद 360 उपबन्ध करता है कि यदि राष्ट्रपति को 'समाधान' हो जाए कि भारत अथवा उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता अथवा साख (Stability or Credit) सकट मे है, तो वह वित्तीय सकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी स्थिति मे वह किसी भी राज्य को आवश्यक निर्देश दे सकता है। वह राज्य के सेवारत कर्मचारियो के वेतन तथा भत्तों मे कमी करने और सभी धन-विधेयक तथा अन्य वित्तीय विधेयक स्वीकृति के लिए अपने पास भेजने के निर्देश भी दे सकता है। वह सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश सहित केन्द्रीय सरकार के सेवारत कर्मचारियो के वेतन तथा भत्तो मे कमी करने का आदेश भी दे सकता है।

अनुच्छेद 360 मे जारी की गई उद्घोषणा की कलावधि 2 महीने की होगी। यदि उक्त दो महीने की समाप्ति के पहले ससद् द्वारा पारित सकल्प में अनुमोदित नही कर दी जाती है तो 2 महीने की समाप्ति पर प्रवर्तन मे न रहेगी।

उल्लेखनीय है कि यद्यपि राष्ट्रपति को ये सभी बाजाब्ता अधिकार प्राप्त हैं, तथापि इसका यह अर्थ नही है कि वह इनका उपयोग मनमाने ढंग से करता है।

वह केवल अपने पद के ही कारण गणराज्य का प्रधान है। कार्यपालिका का वास्तविक प्रमुख प्रधान मन्त्री है तथा मन्त्रि-मण्डल (मन्त्रि-परिषद्) वास्तविक कार्यपालिका है। जब ऐसे अवसर उपस्थित हो जहाँ संविधान मौन हो और राष्ट्रपति को स्वविवेक का प्रयोग करना पड़े तो हमें राष्ट्रपति की 'वास्तविक स्थिति' का मान होता है।

राष्ट्रपति की आपात् शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग

संविधान लागू होने के बाद से अब तक राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों के प्रयोग की रूपरेखा 26 जनवरी, 1950 से नवम्बर, 1979 तक इस प्रकार रही है—

(क) राष्ट्रीय संकटकाल

अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत बाह्य आक्रमण की सूरत में इस शक्ति का प्रयोग अक्तूबर, 1962 और दिसम्बर, 1971 में हुआ तथा आन्तरिक अशान्ति की सूरत में इसका प्रयोग जून, 1975 में किया गया।

सितम्बर, 1962 में भारत पर चीन का आक्रमण होने पर 26 अक्तूबर, 1962 को राष्ट्रपति ने आपात् उद्घोषणा की वह 10 जनवरी, 1968 तक चली। 1971 में जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो 3 दिसम्बर, 1971 को आपात् स्थिति की घोषणा पुनः की गई। यह आपात् स्थिति 27 मार्च, 1977 तक प्रवर्तन में रही। आन्तरिक अशान्ति की सूरत में 25 जून, 1975 से जो आपात्स्थिति लागू की गई वह 21 मार्च 1977 तक चली।

25 जून, 1975 को भारत में तीसरी बार आपात्स्थिति लागू करने के पश्चात् संविधान की सभी व्यवस्थाओं का इस्तेमाल किया गया। 27 जून को राष्ट्रपति ने एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार संविधान के अनुच्छेद 14, 21 और 22 में दिए गए अधिकारों को लागू करने के सिलसिले में किसी भी नागरिक, जिनमें विदेशी नागरिक भी शामिल है, द्वारा अदालत में याचिका दायर करने के अधिकार को निलम्बित कर दिया गया। इस सिलसिले में अदालतों में विचाराधीन मामलों को भी आपात्स्थिति की अवधि तक स्थगित कर दिया गया। यह आदेश जम्मू और कश्मीर को छोड़ कर पूरे भारत संघ पर लागू हो गया। बाद में 19 महीनों के दौरान केन्द्रीय सरकार ने अनेक ऐसे आदेश जारी किए जिनसे नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर गम्भीर प्रभाव पड़ता था। बड़े पैमाने पर नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के निलम्बन का प्रयास पहले इस देश में कभी नहीं हुआ था। तीसरी आपात् स्थिति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि न केवल राष्ट्रपति के आदेशों द्वारा नागरिक अधिकारों का निलम्बन किया गया [illegible] अदालतों और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को संविधान संशोधन के द्वारा [illegible] कर दिया गया।

मार्च 1977 में जनता सरकार बनी और लोकतन्त्र की [illegible] आरम्भ हो गई। 25 जून, 1975 और 3 दिसम्बर, 19[illegible]

उद्घोषणाएँ क्रमशः 21 और 27 मार्च, 1977 को रद्द किए जाने से देश में आपात् स्थिति औपचारिक रूप से समाप्त हो गई।

नागरिक स्वतन्त्रताओं को बहाल करने की 1977 में आरम्भ की गई प्रक्रिया का अन्तिम चरण 1978-79 में सम्पन्न हुआ। आ. सु. का. 3 अगस्त, 1978 से रद्द कर दिया गया और आ. सु. का. के अधीन सभी नजरबन्द व्यक्तियों को रिहा कर दिया गया।

(ख) राज्य में संकटकाल

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत इस शक्ति का प्रयोग दिसम्बर, 1976 तक 42 बार किया जा चुका था और बाद की अवधि में भी अनेक बार इसका प्रयोग हुआ था। जनवरी, 1976 में तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। जून 1977 में तमिलनाडु विधान-सभा के चुनाव कराए गए और 30 जून, 1977 को राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया।

लोकसभा के मार्च, 1977 के चुनावों से अभूतपूर्व राजनीतिक स्थिति सामने आई। नौ राज्यों—पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में मतदाताओं ने तत्कालीन सत्ताधारी दल की सरकारों में पूर्ण अविश्वास का संकेत देते हुए उस दल के उम्मीदवारों का पूरी तरह या लगभग पूरी तरह बहिष्कार किया। मतदाताओं के समक्ष प्राथमिक बातों का सम्बन्ध राज्य सरकारों द्वारा अपनी ओर से या केन्द्र सरकार के निर्देशों के अधीन आपात् स्थिति के दौरान की गई ज्यादतियों और कदाचारों से था। अतः यही कारण था कि सत्ताधारी दल का बहिष्कार किया जाना लोक सभा तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका असर इन राज्यों में उनकी सरकारों पर भी पड़ा। प्रशासन के सभी स्तरों पर अनिश्चितता और मतभेद की व्यापक भावना का वातावरण इन राज्यों में विद्यमान हो गया। इन परिस्थितियों में गृह मन्त्री ने इन नौ राज्यों के मुख्य मन्त्रियों को सुझाव दिया कि वे विधान-सभाओं को भंग करने और नए चुनाव कराने के लिए राज्यपालों को सलाह दें। यह सुझाव नहीं माना गया। दूसरी तरफ केन्द्र के सुझाव की सांविधानिक वैधता को सिद्ध करने के प्रयास किए गए। हस्तक्षेप करने को अस्वीकार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने केन्द्र के सुझाव को सांविधानिक ठहराया। 29 अप्रेल 1977 को इन नौ राज्यों की स्थिति पर विचार-विमर्श किया गया और 30 अप्रेल, 1977 को कार्यवाहक राष्ट्रपति द्वारा इन नौ राज्यों के लिए संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी की गई। इन राज्यों की विधान सभाएँ भंग कर दी गईं और मुख्य चुनाव आयुक्त से उनके लिए नए चुनाव कराने के लिए कहा गया। तदनुसार जून, 1977 के मध्य में इन नौ राज्यों में नए चुनाव कराए गए और नई सरकारें गठित हुईं।

मई, 1977 में मणिपुर में राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा क्योंकि दल बदलने के कारण दारेन्द्रसिंह सरकार का पतन हो गया और राजनीतिक स्थिति

इतनी अनिश्चित बन गई कि कोई दल अथवा दलों का संगठन सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था। इसके बाद समय-समय पर विभिन्न राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 5 दिसम्बर, 1979 को केरल में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया क्योंकि राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि कोहिमा मन्त्रि-मण्डल के इस्तीफे से राज्य में प्रशासनिक संकट पैदा हो गया है, अतः राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाय।[1]

(ग) वित्तीय संकटकाल

अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत इस शक्ति का प्रयोग अभी तक नहीं किया गया है।

आपात्कालीन शक्तियों का मूल्यांकन

राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों की संविधान-सभा तक में कड़ी आलोचना की गई थी। कुछ सदस्यों ने यह विचार प्रकट किया था कि एक ऐसे शासनाधिकारी को, जो न तो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना गया हो और न ही संसद के प्रति उत्तरदायी हो, इतनी व्यापक शक्तियाँ देना बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। कतिपय सदस्यों ने यह भय प्रकट किया कि इन विशाल शक्तियों का आश्रय लेकर भारत का राष्ट्रपति भविष्य में इस प्रकार की तानाशाही स्थापित कर सकेगा, जिस प्रकार की तानाशाही हिटलर ने जर्मनी में संविधान की धारा 48 का लाभ उठाते हुए की थी। श्री बी. दास (B Das) ने तो यहाँ तक कह दिया कि "ये शक्तियाँ राष्ट्रपति को दक्षिणी अफ्रीका के उन प्रधानों की तरह बना देंगी जो वित्तीय शक्तियों सहित समस्त शक्तियों को हड़प सकते थे और प्रान्तों को वित्तीय संकट में डाल सकते थे।"

श्री के. टी. शाह ने संकटकालीन शक्तियों के प्रावधान की आलोचना करते हुए कहा था—

"इस प्रतिक्रियात्मक और पश्चाद्गामी अध्याय के अन्त में पहुँच कर मुझे इस अध्याय के समस्त उपबन्धों की तह में दो विचारधाराएँ प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है जिन्होंने इस पर पर्याप्त प्रभाव डाला है—(1) केन्द्र के हाथों में इकाइयों के विरुद्ध विशेष सत्ता प्रदान करने, एवं (2) जनता के विरुद्ध सरकार को शक्तिशाली बनाने। ""इस अध्याय के उपबन्धों का भली-भाँति अध्ययन करने के बाद तथा इसके प्रत्येक अनुच्छेद में दी गई सत्ता की समीक्षा करने के बाद मुझे ऐसा लगता है कि संविधान में लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का नाम ही बाकी बचेगा।"

श्री हृदयनाथ कुँजरू ने अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त की थी—"राज्य की वित्तीय स्वायत्तता को वित्तीय आपात् सम्बन्धी उपबन्धों से बड़ा धक्का पहुँचेगा।"

बाद में भी राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों की उपरोक्त एवं अन्य विभिन्न आधारों पर कटु आलोचना होती रही है। आलोचकों का तर्क है कि भारत के

1 हिन्दुस्तान, दिनांक 6 दिसम्बर, 1979

राष्ट्रपति को जितना व्यापक आपात्कालीन शक्तियाँ प्रदान की गई हैं अथवा भारतीय संविधान में जितने कठोर आपात्कालीन उपबन्धों की व्यवस्था की गई है, उसका उदाहरण विश्व के सभ्य राष्ट्रों में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। ब्रिटेन में स्वयं संसद् ने कार्यपालिका को ऐसे अधिकार दिए हैं जिनसे सन्देह-युक्त व्यक्तियों को बिना मुकदमा चलाए गिरफ्तार किया जा सके, किन्तु वहाँ 'युद्ध के कारण आपात्' और 'आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात्' में भेद रखा जाता है तथा युद्धकाल में भी 'विधि का शासन' (Rule of Law) अवश्य बना रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान आदेश देता है कि "बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश का अधिकार तब तक निलंबित नहीं किया जा सकता जब तक कि युद्धकाल में अथवा विद्रोह की स्थिति में उक्त अधिकार का निलम्बन अत्यावश्यक न हो जाए।" इसी तरह इस उपबन्ध से स्पष्ट है कि बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश का अधिकार केवल आक्रमण और आन्तरिक विद्रोह की स्थिति में हो और यह भी अत्यन्त असाधारण परिस्थितियों में ही निलम्बित किया जा सकता है। इतना ही नहीं, यह भी कहा जाता है कि उक्त आदेशों को केवल कांग्रेस ही निलम्बित कर सकती है तथा यह निर्णय करना न्यायालयों का काम है कि—देश में वास्तव में ऐसी स्थिति वर्तमान है, जिससे कांग्रेस का बन्दी प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में अधिकार का प्रयोग उचित है। अमेरिका के संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो देश की कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका को ऐसा अधिकार प्रदान करता है कि युद्धकाल में अथवा किसी अन्य आपात्काल में नागरिकों के मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सके। कुछ ही वर्षों पूर्व एक मुकदमे (Home Building Association V/s Blaisdell) में न्यायालय ने निर्णय दिया था कि "युद्धकाल में भी सांविधानिक मौलिक स्वतन्त्रताओं का हनन नहीं किया जा सकता।"

आलोचकों का कहना है कि भारत में आपात्कालीन शक्तियों के प्रवर्तन और प्रयोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्यों को भुलाया नहीं जा सकता—

1 राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई संकटकालीन घोषणा पर दो मास तक (44वें संशोधन के बाद एक मास) कोई प्रतिबन्ध नहीं है और प्रतिबन्धहीन अवस्था में राष्ट्रपति अपनी आपात्कालीन शक्तियों का चिन्ताजनक रूप से दुरुपयोग कर सकता है।

2 राष्ट्रपति को ही संकटकालीन परिस्थितियों के सम्बन्ध में निर्णय करने का एक मात्र अधिकार है तथा राष्ट्रपति के इस निर्णय के अधिकार को कोई भी न्यायालय चुनौती नहीं दे सकता (44 वें संशोधन में व्यवस्था कर दी गई है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को दी गई लिखित रूप में सलाह के आधार पर ही आपात्काल की घोषणा की जा सकेगी)।

3. 'युद्ध के कारण आपात्' और 'शान्तिकालीन आपात्' तथा 'आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात्' में भारतीय संविधान में कोई भेद नहीं किया गया है। वर्तमान परिस्थितियों में तो राष्ट्रपति एक हड़ताल होने पर भी आपात्काल की

घोषणा कर सकता है और इस घोषणा के भी परिणाम वही हो सकते हैं जो युद्ध सम्बन्धी आपाद् घोषणा के हो सकते है । (जून, 1975 की आपात्-घोषणा के बाद ऐसा ही हुआ था । अब 44वें सशोधन द्वारा निश्चित कर दिया गया है कि सशस्त्र विद्रोह के अलावा अन्य प्रकार के आन्तरिक उपद्रवों के आधार पर आपात्काल की घोषणा नहीं की जाएगी) ।

4. संकटकालीन घोषणा होते ही सविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त मौलिक स्वतन्त्रताओं के अधिकार स्थगित हो जाना किसी भी रूप मे न्यायोचित नही है ।

5 यह बडी विचित्र बात है कि राष्ट्रपति की आपात्कालीन घोषणा के दौरान एक संघात्मक संगठन मे भी इकाइयो की सरकारें स्थगित करदी जाएँ और उनके सविधान को भंग कर दिया जाए ।

6 केन्द्र मे सत्तारूढ शासन यदि चाहे तो किसी ऐसे राज्य में भी, जहाँ कि मन्त्रिमण्डल की स्थिति बहुत सुदृढ़ है, सांविधानिक तन्त्र के असफल होने की घोषणा कर सकता है ।

7. यदि राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के निर्देशन का पालन न करे तो इस पर भी राष्ट्रपति राज्य मे सांविधानिक तन्त्र के असफल होने की घोषणा कर सकता है । किसी इकाई राज्य मे शासन-तन्त्र की विफलता की घोषणा ऐसी स्थिति मे भी की जा सकती है जब वहाँ राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो जाए ।

आलोचकों की मान्यता है कि इन सब तथ्यो के प्रकाश में राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियाँ नि:सदिग्ध रूप से आपत्तिजनक है ।

नि:सन्देह राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ अत्यन्त व्यापक है, फिर भी यह कहना अनुपयुक्त है कि संविधान मे इन संकटकालीन शक्तियो का प्रावधान नही किया जाना चाहिए तथा इनके द्वारा भारत मे राष्ट्रपति अधिनायकशाही की स्थापना कर सकता है । भारतीय संविधान मे राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियों को स्थान देना इसलिए जरूरी समझा गया कि सविधान-निर्माताओं को इस बात का भली-भाँति ज्ञान था कि भारत ने एक दुर्बल केन्द्रीय सरकार के कारण सदैव हानि उठाई है और इसे अपनी रक्षा के लिए शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है । श्री शुक्ला ने इस बात की पुष्टि करते हुए ठीक ही लिखा है कि—

"नि.सन्देह भारतीय संविधान मे, जो मौलिक अधिकारों और लोकतन्त्र पर आधारित है, राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों सम्बन्धी धाराओं का होना बडा भद्दा दिखाई देता है, लेकिन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि जब भी भारत की केन्द्रीय सरकार क्षीण होती है, उसे हानि उठानी पड़ी है । सविधान ने इन धाराओं की व्यवस्था करके देश को इस खतरे से बचाने का प्रयत्न किया है । इसके अतिरिक्त देश मे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनसे

गम्भीर खतरा हो और संविधान मे इन धाराओ के न होने से उसे सुरक्षित रखना कठिन हो जाए।"[1]

राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियो की व्यवस्था को अमान्य ठहराते समय यह नही भूलना चाहिए कि भारत मे ससदीय राज्य प्रणाली की व्यवस्था की गई है जिसमे राष्ट्रपति की शक्ति मन्त्रि-मण्डल के पास है। राष्ट्रपति सामान्य परिस्थितियो मे कभी भी मन्त्रि-परिषद् की सहायता के बिना शासन नही चला सकता। यदि वह आपात्कालीन घोषणा करके अपनी मनमानी करने का प्रयास भी करे तो भी यह सर्वथा असम्भव है कि ससद् की इच्छा के विरुद्ध वह शासन कार्य चला सके। राष्ट्रपति को शासन कार्य के लिए धन की आवश्यकता होगी और संसद् की अनुमति के बिना राष्ट्रीय धन को वह खर्च नही कर सकता। इसके अतिरिक्त यदि वह लोकसभा को स्थगित कर दे और सकटकालीन घोषणा पर उसे विचार करने का अवसर न दे तो भी सविधान मे यह अनिवार्यत. पेश करना होगा। लोकसभा को तब यह अधिकार है कि वह इस सकटकालीन घोषणा को अनुपयुक्त ठहराते हुए उसे रद्द कर दे। यह राष्ट्रपति की शक्ति पर एक बहुत बडा प्रतिबन्ध है।

पर साथ ही हम यह नही भुला सकते कि जून, 1975 की आपात्-उद्घोषणा के बाद देश किन परिस्थितियो से गुजरा। अत. 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा आपात्काल के विरुद्ध कुछ और सुरक्षात्मक उपायों की व्यवस्था करदी गई है। अब यह सुनिश्चित कर दिया गया है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को दी गई लिखित रूप मे सलाह के आधार पर ही आपात्काल की घोषणा की जा सकेगी ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि यह घोषणा उपयुक्त और पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद की जाए। श्रीमती गाँधी ने मन्त्रिमण्डल से सलाह किए बिना ही जून, 1975 में राष्ट्रपति को आपात्-उद्घोषणा की सलाह दी थी। 44वें सशोधन द्वारा यह सुरक्षात्मक व्यवस्था भी कर दी गई है कि आपात्-उद्घोषणा को दोनों सदनो द्वारा उसी बहुमत से स्वीकार किया जाना होगा जितना बहुमत संविधान में सशोधन के लिए आवश्यक होता है और यह स्वीकृति के एक महीने की अवधि के भीतर दी जानी होगी। इन व्यवस्थाओं के बाद राष्ट्रपति के आपात् शक्तियो के मूल मे छिपा भय अब उतना नही रहा है जितना पहले था। इस प्रकार का विचार उपयुक्त नही है कि आपात्कालीन शक्तियो की व्यवस्था ही समाप्त कर दी जाए। इस तथ्य की उपेक्षा नही की जानी चाहिए कि राष्ट्र की सुरक्षा का अन्तिम उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर है अत. सकटकाल मे राज्य की समस्त शक्तियों को अपने नियन्त्रण मे लाने का अधिकार उसे होना ही चाहिए। केन्द्र को शक्ति सम्पन्न इसलिए भी होना चाहिए कि राज्य तथा सघ की इकाइयाँ बाह्य आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने की शक्ति नही रखते और आन्तरिक विप्लव को सुलझाने के सम्बन्ध मे भी उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। आपात्काल मे विकीर्ण सत्ता विनाश का कारण

1 *Shukla* · Constitution of India, p. 341.

चौधरी चरणसिंह की जुलाई, 1979 में प्रधान मन्त्री के रूप में नियुक्ति

15 जुलाई, 1979 को प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार 28 महीने पुरानी जनता पार्टी की सरकार का पतन हो गया। वैकल्पिक व्यवस्था (नई सरकार के गठन) तक श्री देसाई को अपने पद पर बने रहने का अनुरोध राष्ट्रपति द्वारा किया गया।

जनता (एस.) के नेता चौधरी चरणसिंह और मोरारजी देसाई दोनों ने ही राष्ट्रपति के समक्ष अपने-अपने बहुमत का दावा किया। देसाई का कहना था कि उन्होंने प्रधान मन्त्री के रूप में त्याग-पत्र दिया है, पर जनता संसदीय दल के वे अभी भी नेता है और बहुमत का विश्वास उन्हें प्राप्त है, अतः राष्ट्रपति द्वारा उन्हें पुन सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। यह विवाद पैदा हो गया कि क्या ऐसे व्यक्ति को, जो लोकसभा के अविश्वास-प्रस्ताव का सामना किए बिना ही प्रधान मन्त्री पद से त्याग-पत्र दे चुका हो, पुनः सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता है।

राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने दोनो ही पक्षो से अपने-अपने समर्थकों की सूचियाँ मांगी। दोनों सूचियों मे समर्थको की सख्या एक समान 279 थी। अतः राष्ट्रपति ने सूचियो की जांच पडताल कराई। इस दौरान कुछ संविधान विशेषज्ञो द्वारा कहा गया कि यदि श्री देसाई या श्री चौधरी केन्द्र मे स्थिर वैकल्पिक सरकार नहीं बना पाते तो राष्ट्रपति के सामने सिर्फ यह रास्ता रह जाता है कि वह सम्प्रभु लोकसभा से मत और मार्गदर्शन प्राप्त करे। राष्ट्रपति लोकसभा के अध्यक्ष की मार्फत संदेश भेजकर लोकसभा की राय मान सकते है।। इसके बाद सदन किसी एक सदस्य को प्रधान मन्त्री बनाने की सिफारिश कर सकता है। यह सिफारिश सर्वसम्मति, आम राय या चुनाव पर आधारित हो सकती है। यदि सदन प्रधान मन्त्री के पद के बारे मे कोई सिफारिश न कर सके तो वह लोकसभा भग कर नए चुनाव कराने की सिफारिश कर सकता है। भारतीय सविधान मे लोकसभा सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न सस्था है जिसमे जनता की सम्प्रभुता निहित है।

लोकसभा की सिफारिश मानने का प्रश्न ही नही उठा क्योंकि राष्ट्रपति ने दोनों सूचियों की जो जाँच-पडताल कराई उसमें चौधरी चरणसिंह के 262 के मुकाबले जनता गुट (देसाई समर्थक) के 236 नाम प्रमाणित हुए और राष्ट्रपति ने चौधरी चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित कर दिया। 28 जुलाई, 1979 को चौधरी चरणसिंह ने नए प्रधान मन्त्री के रूप मे शपथ ली।

राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने नए प्रधान मन्त्री के चयन मे अपने विवेक का बहुत ही निष्पक्ष ढग से प्रयोग किया। राष्ट्रपति को इस बात का अहसास सदैव बना रहा कि प्रधान मन्त्री ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो और इसीलिए श्री चौधरी को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करते हुए उन्होंने उनसे अनुरोध कर दिया था कि "लोकतन्त्र के ऊँचे सिद्धान्तो के अनुरूप और

स्वस्थ परम्परा के नाते वह अधिक से अधिक अगस्त के तीसरे सप्ताह तक लोकसभा की बैठक बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध कर देंगे।"

फिर भी इस प्रश्न का निश्चित समाधान भविष्य के गर्भ में ही रहा कि—क्या ऐसे व्यक्ति को, जो लोकसभा के अविश्वास-प्रस्ताव का सामना किए बिना ही प्रधान मन्त्री पद से त्याग-पत्र दे चुका हो, पुनः सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता है?

लोकसभा का 22 अगस्त, 1979 को विघटन और श्री चरणसिंह को कामचलाऊ प्रधान मन्त्री बनाए रखना

चौधरी चरणसिंह कांग्रेस (इ) के समर्थन के कारण ही राष्ट्रपति के सामने अपना बहुमत सिद्ध कर सके थे। 20 अगस्त, 1979 को श्रीमती गांधी ने अपना समर्थन वापस ले लिया। इस दिन श्री चरणसिंह लोकसभा का विश्वास प्राप्त करने वाले थे। किन्तु लोकसभा का सामना करने की बजाय प्रधान मन्त्री चरणसिंह ने अपने पद से त्याग-पत्र देकर (20 अगस्त को प्रातः) राष्ट्रपति से लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश कर दी। राष्ट्रपति ने त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया किन्तु अन्य व्यवस्था न होने तक चरणसिंह को कार्य करते रहने को कहा।

राष्ट्रपति ने विधि-विशेषज्ञों से सलाह-मशविरा प्रारम्भ कर दिया। विपक्ष के नेता श्री जगजीवनराम ने (श्री देसाई की जगह श्री जगजीवनराम जनता संसदीय दल के नेता बन चुके थे) राष्ट्रपति से भेंट करके वैकल्पिक सरकार गठित करने का मौका देने का अनुरोध किया। जनता पार्टी के शीर्ष नेताओं का स्पष्ट मत था कि चौधरी चरणसिंह को मध्यावधि चुनावों के आयोजन की सिफारिश करने का कोई अधिकार नही है क्योंकि वे लोकसभा का विश्वास प्राप्त करने मे विफल रहे हैं।

22 अगस्त, 1979 को, राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने कामचलाऊ प्रधान मन्त्री की सलाह मानते हुए, लोकसभा भंग करने और दिसम्बर, 1979 मे मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा कर दी। राष्ट्रपति ने यह भी निर्णय किया कि चुनाव होने तक चरणसिंह मन्त्रिमण्डल ही कामचलाऊ सरकार के रूप मे देश का शासन चलाएगा। वह कोई नई नीति सम्बन्धी फैसला नही करेगा और बड़ी रकम के खर्च वाली कोई योजना स्वीकार नही करेगा।

राष्ट्रपति श्री रेड्डी के निर्णय ने राष्ट्रपति-पद को गम्भीर विवाद का विषय बना दिया। जनता पार्टी ने उन पर महाभियोग चलाने तक की धमकी दी। राष्ट्रपति ने विधि-विशेषज्ञों के विभिन्न मतों, संविधान की व्यवस्थाओं और राजनीतिक परिस्थितियों को घ्यान मे रखकर ही अपने उपरोक्त निर्णय मे 'स्व-विवेक' का आश्रय लिया था। कुछ विधि-विशेषज्ञों का यह मत था कि श्री चरणसिंह को उस लोकसभा को भंग करने की सिफारिश करने का कोई अधिकार नही है जिसका उन्हें कभी विश्वास मत प्राप्त नही हुआ। श्री रेड्डी ने चौधरी को इस शर्त पर प्रधान मन्त्री बनाया था कि वे लोकसभा मे अपना बहुमत सिद्ध करेंगे। चौधरी ने इसी उद्देश्य से 20 अगस्त, 1979 को संसद् का अधिवेशन भी बुलाया। किन्तु जब उन्हें विश्वास

हो गया कि वे लोकसभा का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकते तो उन्होंने सदन में उपस्थित होने की बजाय सीधे राष्ट्रपति को जाकर अपना त्याग-पत्र दे दिया और लोकसभा को भंग करने की सिफारिश कर दी। श्री मुहम्मद करीम छागला तथा वी एम तारकुण्डे जैसे कानून के पण्डितों और भूतपूर्व न्यायाधीशों ने मत व्यक्त किया कि सारी परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए राष्ट्रपति श्री रेड्डी वर्तमान प्रधान मन्त्री श्री चरणसिंह की सलाह स्वीकार करने को बाध्य नही है। दूसरी ओर कुछ विधि-विशेषज्ञों ने यह मत व्यक्त किया कि राष्ट्रपति के सामने निवर्तमान प्रधान मन्त्री श्री चरणसिंह की सिफारिश स्वीकार करने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नही है। इस दलील का आधार संविधान का अनुच्छेद 74 रहा। 42वें और 44वे संविधान संशोधन अधिनियम के बाद इस अनुच्छेद का वर्तमान स्वरूप यह व्यवस्था करता है कि—

"राष्ट्रपति को अपने कार्यों का सम्पादन करने मे सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री होगा। राष्ट्रपति अपने कृत्यों के निर्वहन मे उसकी मन्त्रणा के अनुसार चलेंगे। यह व्यवस्था की जाती है कि राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकते हैं। ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाती है उसे वह उसी के अनुसार स्वीकार करेंगे।"

अनुच्छेद 74 की व्यवस्था के आधार पर दूसरे पक्ष का स्पष्ट मत था कि राष्ट्रपति यदि निवर्तमान प्रधान मन्त्री की सिफारिश को कबूल करते हुए मध्यावधि चुनावों का आदेश देते है तो कोई सांविधानिक व्यवस्था रास्ते मे बाधक नही बनती। राष्ट्रपति ने इसी मार्ग को ग्रहण किया।

भारतीय संविधान एक विशद् ग्रन्थ है जिसमें कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा संसद् विधान-मण्डलो की कार्य-प्रणाली तथा अधिकारों की विस्तृत रूप मे व्याख्या की गई है। विश्व का दूसरा कोई भी संविधान शायद इतना विस्तृत और स्पष्ट नहीं है। फिर भी, कोई भी संविधान भविष्य मे पैदा होने वाली समस्त सांविधानिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की कल्पना नही कर सकता है। इसलिए नई परिस्थिति पैदा होने पर राष्ट्रपति से अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी बुद्धि और विवेक का उपयोग करते हुए स्वस्थ तथा न्यायसंगत परम्परा की स्थापना करेगा। चरणसिंह की सिफारिश से जो सांविधानिक प्रश्न उत्पन्न हुआ उसका सांविधानिक उत्तर तो अभी भविष्य के गर्भ मे है और हो सकता है कि नए संविधान संशोधनो द्वारा ऐसी स्थितियो का स्पष्टीकरण कर दिया जाए। लेकिन वर्तमान परिस्थितियो में राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने स्व-विवेक से जो निर्णय लिया उसे कोई चुनौती नही दी जा सकती। राष्ट्रपति-पद की शपथ लेने के कुछ समय बाद संविधान-सभा के अध्यक्ष तथा देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने इस अवधारणा को चुनौती दी थी कि भारतीय संविधान मे राष्ट्रपति की स्थिति मात्र रबर स्टाम्प वाली भूमिका है। उनका मत था कि अनेक परिस्थितियो में राष्ट्रपति

को अपने विवेकानुसार कदम उठाने की छूट है। यदि राष्ट्रपति को किसी प्रकार के अधिकार नही है तथा वह अच्छा या बुरा कोई भी कदम उठाने की स्थिति मे नही है तो फिर उसे हटाने के लिए सविधान मे महाभियोग की व्यवस्था क्यो है ? डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने लगभग 26 वर्ष पहले जो कुछ कहा था, आज की परिस्थितियो ने उसकी सच्चाई सिद्ध कर दी है। परिस्थितियां ऐसी थी कि केन्द्रीय राजनीति पूर्णतः राष्ट्रपति श्री रेड्डी के विवेकसगत निर्णय पर निर्भर हो गई और राष्ट्रपति ने चरणसिंह मन्त्रि-मण्डल की सिफारिश को स्वीकार करना उपयुक्त समझा।

राष्ट्रपति के लिए लोकसभा भग करना और नए चुनावो की घोषणा करना राजनीतिक परिस्थितियो की दृष्टि से भी आवश्यक हो गया। कोई भी व्यक्ति सम्भवत. इस स्थिति मे नही था कि लोकसभा का बहुमत प्राप्त कर पाता। राजनीतिक दलों मे 'आयाराम गयाराम' का बोलबाला शुरू हो गया था। इस प्रकार कोई भी दल स्थिर सरकार बनाने मे समर्थ नही था। यदि कोई दल सरकार बना भी पाता तो वह कुछ ही दिन टिकती और राष्ट्र के सामने फिर 'सरकार-विहीनता' की स्थिति पैदा हो जाती। अतः राष्ट्रपति ने, राजनीतिक अस्थिरता के दौर को समाप्त करने के लिए, मध्यावधि चुनाव को ही उपयुक्त मार्ग समझा। श्री चरणसिंह की मध्यावधि चुनाव की सिफारिश एक राजनीतिक पेतराबाजी थी, किन्तु श्री रेड्डी ने परिस्थितियो के प्रकाश मे उसे स्वीकार कर दूरदर्शिता का काम किया।"

राष्ट्रपति के लिए सलाह परिषद् की जरूरत

वास्तव मे वर्तमान राजनीतिक और सांविधानिक समस्याओं ने राष्ट्रपति के लिए एक 'सलाह परिषद्' की आवश्यकता पैदा कर दी है। जुलाई और अगस्त, 1979 मे जो समस्याएँ पैदा हुई, संविधान-निर्माताओ ने उनकी कल्पना नहीं की थी। इन घटनाओ के प्रकाश में इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि यह जरूरी नही कि राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने वाला व्यक्ति सदा ही अत्यन्त बुद्धिमानी और विलक्षण राजनीतिज्ञ होगा अथवा निजी आकांक्षा या अन्य बाहरी विचारो से प्रभावित नही होगा।

राष्ट्रपति के लिए सलाह परिषद् की आवश्यकता के सम्बन्ध में अगस्त, 1979 के अपने एक लेख में जस्टिस एच. आर खन्ना ने जो विचार व्यक्त किए है, वे महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है—

"सविधान की धारा 74 के अनुसार राष्ट्रपति को अपनी मन्त्रि-परिषद् की सलाह पर ही कार्य करना है। पर प्रश्न यह है कि राष्ट्रपति उस मन्त्रि-परिषद् की सलाह कहाँ तक मानने को बाध्य है जो सदन मे विश्वास खो चुकी है व काम-चलाऊ रूप मे काम कर रही हो। पुनः ऐसे मामले जो बहुत राजनीतिक महत्त्व के हो या विवादास्पद हों या उक्त कामचलाऊ मन्त्रि-परिषद् की सलाह कहाँ तक मानना उचित होगा।"

इसके अतिरिक्त ऐसी भी स्थिति आ सकती है जब प्रधान मन्त्री की मृत्यु हो गई या उसने त्याग-पत्र दे दिया व प्रधान मन्त्री पद के लिए तब दो दावेदार सामने हों जिनके समर्थक लोकसभा में बराबर हों, तब राष्ट्रपति अपनी सलाह व विवेक से ही यह सब निर्णय करे।

अब लोक सभा भग करने की बात लें। सामान्यतः राष्ट्रपति बाध्य है कि वह इस बारे में प्रधान मन्त्री की सलाह माने, चाहे वह प्रधान मन्त्री विश्वास मत में हार चुका हो। पर ऐसा भी तो हो सकता है कि राष्ट्रपति की राय हो कि वैकल्पिक टिकाऊ सरकार बन सकती है व देश को चुनावो के भार व व्यय से बचाया जा सकता है।

इन सभी मामलो मे राष्ट्रपति को निर्णय करना कठिन होता है। इन अवसरों पर आगे राष्ट्रपति को सलाह देने के लिए तन्त्र बनाना लाभकर हो सकता है। फिर भी राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की सलाह पर तो बाध्य होगा, पर अपने विवेक से काम लेने के लिए व असामान्य स्थितियो मे उसे सलाह पाने के लिए एक उचित तन्त्र मिल जाएगा जो अनुभव व विचार शक्ति मे विशेषज्ञ हो। इसमें एक लाभ यह भी होगा कि राष्ट्रपति का भार कम हो जाएगा।

उल्लेखनीय है कि सविधान-सभा मे सविधान-सलाहकार ने भी राष्ट्रपति के लिए एक सलाह परिषद् का सुझाव दिया था। लेकिन जून, 1947 में संविधान-निर्माण समिति ने ऐसी परिषद् की स्थापना की कोई आवश्यकता नही समझी। समिति का कहना था कि सरकार ससदीय प्रणाली की होगी जिसमे राष्ट्रपति को कोई अधिकार निहित न होगे व सभी कार्य यहाँ तक कि लोकसभा भंग करने का कार्य भी यह मन्त्रियों की सलाह पर ही करेगा। राष्ट्रपति की कोई विशेष भूमिका नहीं रही तो उक्त परिषद् का सुझाव लाना ही व्यर्थ है।

राष्ट्रपति की सांविधानिक स्थिति
(Constitutional Position of the President)

राष्ट्रपति की शक्तियो का *सिद्धान्त और व्यवहार मे (In Theory and Practice)* जो विवेचन पूर्व पृष्ठो मे किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि कुछ अवसरो पर राष्ट्रपति को स्वविवेक का प्रयोग करना पडता है, तथापि मूलतः वह एक सांविधानिक राज्याध्यक्ष (Constitutional Head) है जो अपनी शक्तियो का *प्रयोग मन्त्रि-परिषद् की सलाह से करता है, अर्थात् वास्तविक कार्यपालिका शक्ति* राष्ट्रपति में नहीं बल्कि मन्त्रि-परिषद् मे निहित है जिसका नेता प्रधान मन्त्री होता है। राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में सविधान-सभा मे भी अनेक बार वाद-विवाद हुआ और प्रत्येक बार राज्याध्यक्ष के सांविधानिक गुणों पर ही बल दिया गया। *संविधान-सभा के कार्यकाल के अन्तिम दिन*, सभा के अध्यक्ष और बाद में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि—

"एक निर्वाचित राष्ट्रपति तथा निर्वाचित विधान-मण्डल की परस्पर स्थिति

का हमें समाधान करना पड़ा है। इस विधान मे हमने ब्रिटिश सम्राट् की स्थिति, भारत के निर्वाचित राष्ट्रपति के लिए स्वीकार की है..... ...जो सांविधानिक राज्याध्यक्ष की स्थिति है। मन्त्रि-मण्डल विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्री राष्ट्रपति को परामर्श देते है जो उक्त परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है। सविधान में, जहाँ तक मुझे विदित है, ऐसा कोई उपबन्ध नही है जो राष्ट्रपति को मन्त्रियो द्वारा दिए गए परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता हो, किन्तु आशा है इस सम्बन्ध मे ब्रिटेन की तरह निरूढि (Convention) स्थापित हो जाएगी। ब्रिटिश सम्राट् के अनुरूप भारतीय राष्ट्रपति भी अपने मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा—इसलिए नही कि सविधान उसे बाध्य करता है बल्कि इसलिए कि यह एक स्वतन्त्र निरूढि होगी और इससे राष्ट्रपति सांविधानिक राज्याध्यक्ष बन जाएगा।"[1]

राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए और यह देखने के लिए कि सविधान द्वारा उसे एक सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है अथवा वास्तविक अध्यक्ष, राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद् के पारस्परिक सम्बन्धों की समीक्षा कर चुके हैं। इस सम्बन्ध मे अनुच्छेद 74, 75 और 78 विशेष महत्त्व रखते है, जिनके अनुसार यह निर्धारित किया गया है कि—

1. राष्ट्रपति को अपने कृत्यो का सम्पादन करने मे सहायता एवं मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी, जिसका मुखिया प्रधान मन्त्री होगा।

2. राष्ट्रपति अपने कृत्यो के निवर्हन मे मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के अनुसार चलेगे।

3. राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकते है। ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाती है उसे वह उसी के अनुसार स्वीकार करेंगे।

4. क्या मन्त्रियो ने राष्ट्रपति को मन्त्रणा दी ? और यदि दी तो क्या दी ? इस प्रश्न की न्यायालय मे जांच नही की जाएगी।

5. प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वय करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा।

6. राष्ट्रपति के अनुग्रह-पर्यन्त मन्त्री अपने-अपने पद धारण करेंगे।

7. मन्त्रि-परिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप में (Collectively) उत्तरदायी होगी।

8 प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य होगा कि वह—

(क) मन्त्रि-परिषद् के द्वारा सघ कार्यों के प्रशासन-सम्बन्धी समस्त विनिश्चयो तथा प्रस्तावित विधान-सम्बन्धी सभी सूचनाएँ राष्ट्रपति को दे।

(ख) संघ कार्य के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान-विषयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिन जानकारियों को राष्ट्रपति मंगाए, वह प्रदान करे।

1 एम. वी. पायली : भारतीय संविधान, पृष्ठ 162-63.

(ग) किसी ऐसे विषय को, जिसे एक मन्त्री ने विनिश्चित किया हो किन्तु जिस पर मन्त्रि-परिषद् ने विचार न किया हो, राष्ट्रपति की इच्छा पर मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत करे।

इन सब उपबन्धों के अध्ययन से निष्कर्ष यही निकलता है कि भारतीय संविधान-निर्माता भारत में ब्रिटिश शासन-प्रणाली की संसदीय शासन व्यवस्था अपनाना चाहते थे और साथ ही ऐसी शब्दावली का प्रयोग भी करना चाहते थे जिससे ब्रिटिश शासन-प्रणाली का अनिवार्य गुण 'लचीलापन' (Flexibility) विनष्ट न हो जाए। डॉ. पायली ने लिखा है—

"ब्रिटिश सम्राट् तथा मन्त्रिमण्डल के परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करने वाली प्रथाओं को शब्दबद्ध करना संविधान-निर्माताओं के सम्मुख एक जटिल कार्य था। इसीलिए हम देखते हैं कि कुछ उपबन्धों का तात्पर्य स्पष्ट है एवं असंदिग्ध भाषा में है और कुछ उपबन्ध पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाए हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को उसके कर्त्तव्यों का पालन करने में उसकी सहायता करने तथा परामर्श देने के लिए प्रधान मन्त्री की अध्यक्षता में मन्त्रि-परिषद् आवश्यक है। क्या इसका तात्पर्य है कि राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् का परामर्श लेने को बाध्य है तथा उनके परामर्श के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता? इसका उत्तर डॉ. अम्बेदकर ने इस प्रकार दिया था—*सामान्यतः भारत संघ का राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों का परामर्श स्वीकार* करने के लिए बाध्य होगा। उनकी सम्मति के विपरीत अथवा बिना परामर्श वह कोई कार्य नहीं कर सकता। डॉ. अम्बेदकर के समर्थकों का कहना है कि मन्त्रि-परिषद् की सहायता से देश का शासन चलाना प्रधान मन्त्री का कार्य है। इस कार्य में समय-समय पर राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की सहायता कर सकता है व परामर्श दे सकता है। इस प्रकार हमें यथार्थ को देखना चाहिए, शब्दाडम्बर को नहीं क्योंकि ये शब्द केवल प्रथाओं में व्यक्त हैं। तब इस समय राष्ट्रपति की स्थिति क्या है? क्या हर मन्त्रि-परिषद् द्वारा दिए गए परामर्श का अनुसरण करने के लिए बाध्य है? इसका उत्तर यही होगा, 'हाँ' साधारणतः राष्ट्रपति बाध्य ही है। 42वें संशोधन द्वारा अब यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मन्त्रि-परिषद् के परामर्श को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य है। इस प्रकार अब यह विवाद समाप्त प्रायः है।" 44वें संशोधन में यह प्रावधान जोड़ दिया गया है कि राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकता है। लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाएगी उसे वह उसी के अनुसार स्वीकार करेंगे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि पुनर्विचार में भी यदि मन्त्रि-परिषद् मूल मन्त्रणा में कोई परिवर्तन नहीं करती तो उसे स्वीकारना राष्ट्रपति के लिए लाजमी होगा। इस प्रकार नवीनतम व्यवस्था भी राष्ट्रपति को संविधानिक राज्याध्यक्ष ही बनाती है, हाँ असाधारण अवसरों पर उसे 'स्वविवेक' के प्रयोग से वंचित नहीं करती।

उप-राष्ट्रपति
(Vice-President)

संविधान मे, अनुच्छेद 63 के अन्तर्गत भारत के उप-राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है, जो राज्य-सभा का पदेन सभापति होता है और अन्य कोई लाभ का पद धारण नही करता है। उप-राष्ट्रपति का चुनाव सानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा ससद् के दोनों सदनों के सदस्यो का एक निर्वाचक-मण्डल करता है। ध्यान रहे कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मे राज्य-विधान-मण्डल के सदस्य भी भाग लेते है, जबकि उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन मे केवल ससद् के सदस्य ही भाग लेते है। ऐसा इसके कार्यो को देखते हुए किया है। उसका मुख्य कार्य राज्य-सभा की बैठकों की अध्यक्षता करना है। उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित किसी विषय का विनियमन ससद् विधि बनाकर कर सकती है। उसके निर्वाचन से सम्बन्धित सभी शकाओं और विवादो की जाँच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा। उसके निर्वाचन पर आपत्ति निर्वाचन पूरा होने के बाद ही की जा सकती है। निर्वाचकगण मे मौजूद किसी रिक्तता के आधार पर भी उसके निर्वाचन को चुनौती नही दी जा सकती है। न्यायालय द्वारा उसके निर्वाचन को शून्य घोषित किए जाने पर उसके पद की शक्तियों के प्रयोग मे किए गए कार्य अमान्य नही होंगे (अनु० 71)।[1]

भारत के उप-राष्ट्रपति का पद अमेरिका के उप-राष्ट्रपति के पद के लगभग समान है। जब राष्ट्रपति बीमारी, अनुपस्थिति अथवा अन्य किसी कारण से कार्य करने मे असमर्थ हो, तब उसके सारे कार्य उप-राष्ट्रपति उस समय तक करेगा, जब तक राष्ट्रपति अपना कार्य फिर से संभाल नही लेता। यदि राष्ट्रपति त्याग-पत्र दे दे, उसकी मृत्यु हो जाए अथवा वह पदच्युत् कर दिया जाए, तो जब तक नया राष्ट्रपति निर्वाचित नही हो जाता तब तक उप-राष्ट्रपति ही राष्ट्रपति के रूप मे कार्य करेगा। अमेरिका के उप-राष्ट्रपति के विपरीत, भारत मे राष्ट्रपति के पद-त्याग अथवा उसकी मृत्यु अथवा पदच्युति के पश्चात् शेष काल के लिए उप-राष्ट्रपति स्वत. ही राष्ट्रपति नहीं हो जाएगा। उप-राष्ट्रपति चूँकि राज्य-सभा का सदस्य नही होता अतएव उसे मतदान का अधिकार नही है, किन्तु सभापति के रूप मे निर्णायक मत देने का अधिकार प्राप्त है।

अब तक सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति पद के लिए सात निर्वाचन हो चुके है। प्रथम दो मे सर्वपल्ली डॉ राधाकृष्णन की सर्वसम्मति से उप-राष्ट्रपति चुना गया था। इसके बाद डॉ. जाकिर हुसैन पाँच वर्ष उप-राष्ट्रपति रहे। श्री वी वी गिरि 1967 में उप-राष्ट्रपति चुने गए तथा उसी समय डॉ जाकिर हुसैन राष्ट्रपति बने। डॉ. जाकिर हुसैन की 3 मई, 1969 को अचानक मृत्यु हो जाने पर श्री वी. वी गिरि ने राष्ट्रपति पद सभाल लिया। नियमानुसार छ. मास के

1 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 234.

ही भीतर नए राष्ट्रपति का चुनाव हो जाना चाहिए। इस चुनाव में श्री वी.वी. गिरि स्वतन्त्र रूप से खड़े हुए और राष्ट्रपति चुन लिए गए। तदनुसार श्री गोपाल स्वरूप पाठक उप-राष्ट्रपति पद के लिए चुने गए। श्री पाठक का कार्यकाल 30 अगस्त, 1974 को समाप्त हो गया और नए चुनावों मे श्री बासप्पा दानप्पा जत्ती ने विजय प्राप्त की और 31 अगस्त, 1974 को अपना पद सम्भाला। श्री जत्ती का कार्यकाल समाप्त होने पर 'सर्वसम्मत उम्मीदवार' के रूप मे भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री मोहम्मद हिदायतुल्ला ने 31 अगस्त, 1979 को उप-राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण की। श्री हिदायतुल्ला प्रमुख राजनीतिक दलों के सर्वसम्मत उम्मीदवार थे और उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए नियुक्त चुनाव अधिकारी श्री एस. एस. भालेराव ने श्री हिदायतुल्ला को 9 अगस्त, 1979 को निर्विरोध उप-राष्ट्रपति निर्वाचित घोषित कर दिया था।



14 प्रधान मन्त्री और मन्त्रि-परिषद्

(THE PRIME MINISTER AND THE COUNCIL OF MINISTERS)

भारत मे राजनीति के क्षेत्र में ब्रिटेन से जो विभिन्न विरासते मिली है उनमे से एक महत्त्वपूर्ण विरासत है—सार्वभौमिक लोकतन्त्रात्मक गणतन्त्र के सांविधानिक ढांचे में प्रधान मन्त्री की केन्द्रीय स्थिति । राष्ट्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, तथापि शक्ति-संरचना का वास्तविक अध्यक्ष, ब्रिटेन के समान प्रधान मन्त्री ही है । प्रधान-मन्त्री उन सभी शक्तियो का प्रयोग करता है जो सविधान द्वारा औपचारिक रूप से राष्ट्रपति मे निहित की गई है। भारत में अब तक प. जवाहरलाल नेहरू, श्री लालबहादुर शास्त्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी और श्री मोरारजी देसाई प्रधान मंत्री पद को सुशोभित कर चुके हैं और देसाई के बाद चौधरी चरणसिंह इस पद पर आसीन रहे, तथापि उनकी स्थिति कामचलाऊ सरकार के प्रधान मन्त्री के रूप मे रही है और अब सातवी लोकसभा के मध्यावधि चुनाव परिणामों के बाद 2/3 बहुमत प्राप्त कांग्रेस (इ) की नेता श्रीमती इन्दिरा गांधी 33 माह बाद पुनः प्रधान मन्त्री बनी है । मन्त्रि-परिषद् ही भारत के राजनीतिक भवन की आधारशिला है, यही राज्य को चलाने वाला यन्त्र है और यही वह धुरी है जिसके चारो ओर सरकारी चक्र घूमता है । मन्त्रि-परिषद् रूपी सुदर्शन चक्र को घुमाने वाला व्यक्ति प्रधान मन्त्री है । भारतीय प्रधान मन्त्री की गिनती दुनिया के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न लोकतन्त्रीय शासको मे की जा सकती है ।[1]

मन्त्रि-परिषद् : उसका निर्माण
(The Council of Ministers : Its Formation)

सविधान के अनुच्छेद 74(9) मे मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था है । 44वें संविधान संशोधन के बाद इस अनुच्छेद का स्वरूप इस प्रकार है—

"राष्ट्रपति को अपने कार्यों का सम्पादन करने मे सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधान मन्त्री होगा । राष्ट्रपति अपने कार्यों के निर्वहन मे उसकी मन्त्रणा के अनुसार चलेंगे । राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् से उसकी मन्त्रणा का पुनर्विचार की मांग कर सकते हैं । ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राष्ट्रपति को भेजी जाती है उसे वह उसी के अनुसार स्वीकार करेंगे ।"

1 कृष्णकान्त मिश्र : भारत की राजनीतिक प्रणाली, पृष्ठ 177.

संविधान में स्पष्ट उल्लेख है कि मन्त्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दी गई मन्त्रणा *के सम्बन्ध में किसी प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी।*

मन्त्रि-परिषद् के निर्माण, उत्तरदायित्व, कार्यकाल आदि के सम्बन्ध में अनुच्छेद 75 में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ हैं --

1 प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा।

2 राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त मन्त्री अपने पद धारण करेंगे।

3 मन्त्री-परिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।

4 *किसी मन्त्री के अपने पद-ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति उससे तृतीय* अनुसूची में इसके लिए दिए हुए प्रपत्रों के अनुसार पद की तथा गोपनीयता की *शपथ कराएगा।*

5 कोई मन्त्री, जो निरन्तर छह मास की किसी कालावधि तक संसद् के किसी सदन का सदस्य न रहे, उस कालावधि की समाप्ति पर मन्त्री न रहेगा।

6. मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते ऐसे होंगे जैसे समय-समय पर संसद् विधि द्वारा निर्धारित करे तथा जब तक संसद् इस प्रकार निर्धारित न करे तब तक ऐसे होंगे जैसे कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं।

उपरोक्त अनुच्छेदों को हमें संविधान के अन्य उपबन्धों, सांविधानिक अभिसमयों और उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के प्रकाश में लेना चाहिए। तदनुसार---

(क) *अनुच्छेद 75(1) के अनुसार प्रधान मन्त्री की नियुक्ति यद्यपि राष्ट्रपति* करता है किन्तु इस मामले में वह कदाचित् ही अपने स्व-विवेक का प्रयोग कर *सकता है। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति में मनमानी नहीं की जा सकती क्योंकि राष्ट्रपति* को ऐसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री चुनना है जो लोकसभा के बहुमत दल का नेता हो। *अनुच्छेद 75(3) के अनुसार मन्त्रि-परिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से* उत्तरदायी है। इसका अर्थ भी यही है कि कोई ऐसा ही व्यक्ति प्रधान मन्त्री नियुक्त किया जाना चाहिए जिसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो।

(ख) राज्य-सभा के सदस्य को भी प्रधान मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है, बशर्ते कि उसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो और वह बहुमत उसे अपना नेता चुने। श्रीमती इन्दिरा गांधी जब पहले-पहल प्रधान मन्त्री नियुक्त की गई तो वे राज्य-सभा की सदस्या थीं। वैसे आम तौर पर यही उचित और लोकतांत्रिक है कि प्रधानमन्त्री लोकसभा का ही सदस्य हो।

(ग) साधारण परिस्थितियों में तो राष्ट्रपति के लिए प्राय. यह सन्देह करने की गुंजाइश नहीं होती कि किस व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया जाए। लेकिन विशेष परिस्थितियों में ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं जब राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री की नियुक्ति में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता मिल जाए। यदि लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत प्राप्त न हो तो राष्ट्रपति किसी

भी दल के नेता को मन्त्रि-परिषद् बनाने के लिए आमन्त्रित कर सकता है, बशर्ते कि उसे यह सन्तोष हो कि वह व्यक्ति मन्त्रि-परिषद् का निर्माण कर सकेगा। पर ऐसी परिस्थिति में भी राष्ट्रपति को स्व-विवेक के प्रयोग का अवसर सम्भवतः कम ही प्राप्त होगा क्योंकि प्रायः कई दल मिलकर अपना नेता पहले ही चुन लेते हैं और इस तरह से लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो जाता है। राष्ट्रपति का स्व-विवेक के प्रयोग का दूसरा अवसर तब मिलता है जब बहुमत का उपभोक्ता प्रधान मन्त्री स्वयं त्याग-पत्र दे देता है और उसका दल कोई नेता नहीं चुन पाता। इस स्थिति में राष्ट्रपति किसी प्रभावशाली व्यक्ति को मन्त्रि-परिषद् के निर्माण के लिए आमन्त्रित कर सकता है।

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को स्व-विवेक के प्रयोग का अवसर 15 जुलाई, 1979 को देसाई सरकार के त्याग-पत्र के पूर्व तक कभी नहीं मिला। इसके बाद जुलाई, 1979 में और तब अगस्त 79 में 2 अवसरों पर प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति ने बहुत कुछ अपने विवेकाधिकार का प्रयोग किया। इसका विवरण राष्ट्रपति वाले पिछले अध्याय में यथास्थान किया जा चुका है।

(घ) मन्त्रि-परिषद् के अन्य सदस्य प्रधान मन्त्री की सलाह पर ही राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। इस तरह अपनी टीम के चुनाव में प्रधान मन्त्री का निर्णय ही अन्तिम होता है। प्रधान मन्त्री की इच्छा के विरुद्ध राष्ट्रपति किसी मन्त्री को पदच्युत् नहीं कर सकता।

(ङ) मन्त्री संसद् के सदस्य होते है और लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि मन्त्रिगण जो कुछ भी राष्ट्रपति के नाम में करते है उसके लिए वे संसद् के सामने उत्तरदायी हैं। वे अपने किसी अवैध तथा असांविधानिक कार्य के लिए राष्ट्रपति के आदेश की आड़ नहीं ले सकते।

संघीय सरकार में मन्त्रियों की श्रेणियाँ

प्रशासनिक पुनर्गठन के परिणामस्वरूप संघीय मन्त्रि-परिषद् के सदस्य तीन श्रेणियों में विभक्त हो गए है—कैबिनेट मन्त्री (Cabinet Ministers), राज्य-मन्त्री (State Ministers), तथा उप-मन्त्री (Deputy Ministers)।

कैबिनेट मन्त्री मन्त्रि-परिषद् (कौंसिल ऑफ मिनिस्टर्स) के सर्वप्रमुख सदस्य होते हैं। भारतीय संविधान में कहीं भी मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, केवल मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है जिसका प्रधान प्रधान मन्त्री होता है। किन्तु भारत के सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री स्व. पं. जवाहरलाल नेहरू ने जिन मन्त्रि-परिषदों का निर्माण किया उनमें विभिन्न श्रेणियों के मन्त्रीगण रखे गए और मन्त्रि-परिषद् के मन्त्रियों और कैबिनेट स्थिति के मन्त्रियों में स्पष्ट विभेद रखा गया। कैबिनेट अथवा मंत्रिमण्डल में सम्मिलित मन्त्री न केवल मन्त्रि-परिषद् के महत्त्वपूर्ण मन्त्री होते हैं वरन् अपनी प्रशासनिक योग्यता और अ… लिए प्रसिद्ध होते हैं, शासन के प्रमुख विभाग उनके हाथ में होते है और वे

संयुक्त बैठक मे देश की नीति का निर्धारण करते है। भारतीय कैबिनेट में कई बार ऐसे व्यक्तियो को भी मन्त्री-पद दिया गया है जो किसी विभाग के अध्यक्ष नही होते। उन्हे अविभागीय मन्त्री कहा जाता है। कैबिनेट की सदस्य संख्या को यथासम्भव कम रखना शासन के हित मे है। पिछले वर्षों मे इसके सदस्यों की संख्या प्रायः 12 से 20 के बीच रही है।

राज्य-मन्त्री मन्त्रि-परिषद् के दूसरे दर्जे के मन्त्री होते हैं। वे कैबिनेट सदस्य नहीं होते और न ही उनकी बैठक में भाग लेते हैं। वे केवल कैबिनेट मन्त्रियो के सहायक बन कर शासन-कार्य चलाते हैं।

उप-मन्त्रियो का दर्जा मन्त्रि-परिषद् मे सबसे नीचा होता है अर्थात् ये सबसे छोटे दर्जे के मन्त्री होते हैं जिनके प्रमुख कार्य हैं—मन्त्रियों की ओर से संसद् मे उत्तर देना, विधेयकों आदि को पारित कराने में सहायता देना, मन्त्रियो द्वारा सौंपी गई समस्याओं की छानबीन करना, आदि।

इसके अतिरिक्त संसदीय सचिव भी हैं। यद्यपि मन्त्रि-परिषद् में उनकी भी गणना की जाती है, तथापि वे मन्त्री नहीं होते हैं और न ही उन्हे मन्त्रियो की कोई शक्ति प्राप्त होती है। संसदीय सचिवों को ऐसे कार्य सौंपे जाते है जिन्हे सम्बन्धित विभाग का मन्त्री सौंपना चाहता है। केवल कुछ महत्त्वपूर्ण मन्त्रालयों मे ही संसदीय सचिवो की व्यवस्था की जाती है।

उपर्युक्त विवरण से मन्त्रि-परिषद् तथा मन्त्रिमण्डल में अन्तर स्पष्ट है। मन्त्रि-परिषद् एक वृहत् संस्था है जिसमें सभी श्रेणियो के मन्त्री सम्मिलित रहते हैं जबकि मन्त्रिमण्डल मन्त्रि-परिषद् के अन्तर्गत एक छोटा सा समूह है जिसमे सिर्फ महत्त्वपूर्ण विभागों के वे मन्त्री होते है जिन्हे प्रधान मन्त्री चुनता है। मन्त्रिमण्डल अथवा कैबिनेट ही वास्तविक कार्यपालिका है, वही भारतीय शासन-व्यवस्था का हृदय है, सर्वोच्च नीति-निर्णायक निकाय है जो न केवल सम्पूर्ण कार्यपालिका-सभा का संचालन और समन्वय करता है अपितु संसद् के विधान-निर्माण को भी दिशा प्रदान करता है।

भारतीय मन्त्रि-मण्डलीय शासन-पद्धति
(The Indian Cabinet System)

मन्त्रिमण्डल वस्तुतः एक चक्र के अन्दर चक्र (A wheel within a wheel) होता है। उस चक्र का बाहरी घेरा वह सत्तारूढ़ दल है जिसको लोकसभा में बहुमत है और अन्दर का घेरा मन्त्रि-परिषद् है जिसमें ऐसे व्यक्ति होते है जो सत्तारूढ दल के सर्वाधिक क्रियाशील सदस्य है। इस चक्र का सबसे छोटा घेरा मन्त्रिमण्डल है जिसमे दल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नेता रहते है।

मन्त्रि-मण्डलीय शासन-पद्धति के अनुरूप—

1. राष्ट्रपति राज्य का सांवैधानिक प्रधान है जो मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा पर शासन करता है, अर्थात् वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि-परिषद् है।

नीतियों को निश्चित करने वाली, देश के सर्वोच्च पदाधिकारियों को नियुक्त करने वाली, शासकीय विभागों के आपसी झगड़ों का निपटारा करने वाली तथा सरकार के विभिन्न विभागों में तालमेल रखने वाली महत्त्वपूर्ण संस्था है।" मन्त्रिमण्डल को विनिश्चयों और उसकी निर्धारित नीतियों के विरुद्ध आचरण को दलीय अनुशासन की अवहेलना समझा जाता है, अतः ऐसा कोई भी मन्त्री जो दलीय एकता को भग करता हो, हटाया जा सकता है। प्रदत्त व्यवस्थापन की व्यवस्था ने मन्त्रिमण्डल की कार्यपालिका की शक्ति मे भारी वृद्धि कर दी है।

मन्त्रिमण्डल के पास कार्यभार इतना अधिक होता है कि वह शासन की बारीकियों पर ध्यान नही दे पाता अत मन्त्रिमण्डलीय समितियों का विकास हुआ है जिसके दो मुख्य लाभ है --प्रथम, ये समितियाँ विचार-विनिमय के बाद प्रश्न अथवा समस्या पर अपना प्रतिवेदन देती है जिस पर मन्त्रिमण्डल निर्णय करता है। द्वितीय, अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर समितियाँ उन कार्यों को प्रभावशाली ढंग से निपटा देती है जिनके लिए मन्त्रिमण्डल उन्हे आदेश दे। ये मन्त्रिमण्डलीय समितियाँ दो प्रकार की हैं—स्थाई (स्टैंडिंग) तथा तदर्थ (एडहाक)। स्थाई समितियों में प्रतिरक्षा, वित्तीय, प्रशासनिक सगठन, ससदीय एव विधि-विधायक समितियों की गणना होती है। तदर्थ समितियों का निर्माण समयानुसार तब किया जाता है जब आवश्यक और नवीन समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं।

विधायी कार्य—मन्त्रिमण्डल विधान निर्माण के क्षेत्र में ससद् का नेतृत्व करता है। ससद् के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ मे मन्त्रिमण्डल ही व्यवस्थापन-कार्यक्रम तैयार करता है और मन्त्रिमण्डल की ओर से ही सरकारी विधेयक प्रस्तावित किए जाते है। मन्त्रिमण्डल ही निश्चय करता है कि संसद् के किस अधिवेशन मे कौनसा विधेयक प्रस्तावित किया जाए। संसद् मे अपने बहुमत के बल पर मन्त्रिमण्डल प्रस्तावित विधेयकों को पारित करवा लेता है। किसी भी गैर-सरकारी विधेयक का मन्त्रिमण्डल के समर्थन के अभाव मे पारित होना बहुत ही कठिन है।

अध्यादेश तथा प्रदत्त विधान के फलस्वरूप मन्त्रिमण्डल की विधायी शक्तियाँ और भी व्यापक हो गई है। अध्यादेश का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है लेकिन इसका उपभोग वस्तुतः मन्त्रिमण्डल ही करता है। पुनश्च, आज कानून अत्यधिक प्राविधिक हो गए हैं, अत. संसद् उसकी मोटी रूपरेखा पारित करती है तथा नियमों-विनियमों द्वारा आवश्यक कमियों को पूरा करने का काम मन्त्रिमण्डल पर छोड दिया जाता है, यही प्रदत्त विधान है।

वित्तीय कार्य—मन्त्रिमण्डल ही राज्य के सम्पूर्ण व्यय के लिए उत्तरदायी है और इस व्यय की पूर्ति के लिए वित्त जुटाना उसी का काम है। बजट पर मन्त्रिमण्डल का पूरा नियन्त्रण रहता है। आय-व्यय का पूर्ण उत्तरदायित्व वित्त मन्त्री का है, अतः गोपनीयता की दृष्टि से, बजट को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के समक्ष वित्त मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाना आवश्यक नहीं है। सामान्यतः वित्त मन्त्री

'सामूहिक नेतृत्व' भी क्रियाशील रहा। उदाहरणार्थ, 1964 में स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री के प्रधान मंत्रित्व मे 'सामूहिक नेतृत्व' को अपनाया गया था।

स्पष्ट है कि भारतीय मंत्रिमण्डल अपनी रूपरेखा और कार्य-प्रणाली में ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के अनुरूप है। तथापि इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ है जो इसे ब्रिटिश मंत्रिमण्डल से किंचित् भिन्न स्वरूप देती हैं—प्रथम, इंग्लैण्ड में प्रत्येक मंत्री ससद् के प्रति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है, भारत मे ऐसा नही है। दूसरे, प्रधान मंत्री को मंत्रि-परिषद् का प्रधान नियुक्त करके एक विशेषता दी गई है जो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को प्राप्त नही है। तीसरे, भारतीय मंत्रिमण्डल में ऐसे व्यक्ति को भी मंत्री-पद देने की व्यवस्था की गई है जो ससद् के किसी भी सदन का सदस्य न हो, यद्यपि मंत्री बनने के बाद छह मास की अवधि के भीतर उसे संसद् का सदस्य बनना अनिवार्य है। चौथे, संसद् का सदस्य न होने पर यद्यपि मंत्री ससद् के दोनों सदनो की कार्यवाही मे भाग लेता है लेकिन उसे मतदान का अधिकार प्राप्त नही है। इस तरह एक मंत्री एक सदन का सदस्य होने पर दूसरे सदन की कार्यवाही में भी भाग ले सकता है, केवल मतदान नही कर सकता।

मन्त्रिमण्डल के कार्य

(The Functions of the Council of Ministers)

ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के सम्बन्ध मे जो उक्तियाँ कही गई है, वे भारतीय मंत्रिमण्डल पर भी पूरी तरह लागू होती है, तदनुसार वह 'नीति का चुम्बक' है। वह एक 'हाइफन' है जो जोड़ता है, एक बकलुआ है जो कार्यपालिका और *व्यवस्थापिका को बन्धन में बाँध देता है। वह "राजनीतिक वृत-खण्ड के महराव के* बीच का पत्थर" है। वह एक ऐसी धुरी है जिस पर सम्पूर्ण प्रशासन चक्र घूमता रहता है। मंत्रिमण्डल सरकार का केन्द्रीय निर्देशक यन्त्र है, सविधान की प्रमुख आभा है। मन्त्रिमण्डल को प्रशासन, वित्त और विधान के क्षेत्र मे विशाल तथा महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त है।

प्रशासनिक कार्य—मन्त्रिमण्डल सम्पूर्ण देश के सुप्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल द्वारा नीति निर्धारित कर चुकने के उपरान्त सम्बद्ध विभाग उस निर्धारित नीति की क्रियान्विति या तो प्रवर्तित विधि के अनुसार करते है अथवा ससद् को नया विधेयक प्रस्तावित करते है। मन्त्रिमण्डल ही संसद् को कार्यवाही करने का आदेश देता है और जब तक ससद् का बहुमत मन्त्रिमण्डल के प्रति निष्ठावान है तब तक मन्त्रि-मण्डल अपनी इच्छित नीति ससद से स्वीकार करा लेता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने-अपने विभागो का प्रबन्ध करते हैं और अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से संसद् के प्रति उत्तरदायी हैं। राष्ट्रपति की जो कार्यपालिका शक्तियाँ हैं, उनका वास्तविक उपभोग मन्त्रिमण्डल ही करता है। मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण नियुक्तियों के सम्बन्ध मे परामर्श देता है, सिफारिश करता है और इस परामर्श अथवा सिफारिश को ठुकराया नही जाता। सरकार के विभिन्न विभागों में तालमेल बैठाना मन्त्रिमण्डल का ही काम है। "मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय

नीतियों को निश्चित करने वाली, देश के सर्वोच्च पदाधिकारियों को नियुक्त करने वाली, शासकीय विभागों के आपसी झगड़ों का निपटारा करने वाली तथा सरकार के विभिन्न विभागों में तालमेल रखने वाली महत्त्वपूर्ण संस्था है।" मन्त्रिमण्डल को विनिश्चयों और उसकी निर्धारित नीतियों के विरुद्ध आचरण को दलीय अनुशासन की अवहेलना समझा जाता है, अतः ऐसा कोई भी मन्त्री जो दलीय एकता को भंग करता हो, हटाया जा सकता है। प्रदत्त व्यवस्थापन की व्यवस्था ने मन्त्रिमण्डल की कार्यपालिका की शक्ति में भारी वृद्धि कर दी है।

मन्त्रिमण्डल के पास कार्यभार इतना अधिक होता है कि वह शासन की बारीकियों पर ध्यान नहीं दे पाता अतः मन्त्रिमण्डलीय समितियों का विकास हुआ है जिसके दो मुख्य लाभ है —प्रथम, ये समितियाँ विचार-विनिमय के बाद प्रश्न अथवा समस्या पर अपना प्रतिवेदन देती हैं जिस पर मन्त्रिमण्डल निर्णय करता है। द्वितीय, अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर समितियाँ उन कार्यों को प्रभावशाली ढंग से निपटा देती हैं जिनके लिए मन्त्रिमण्डल उन्हें आदेश दे। ये मन्त्रिमण्डलीय समितियाँ दो प्रकार की है—स्थाई (स्टैण्डिंग) तथा तदर्थ (एडहाक)। स्थाई समितियों में प्रतिरक्षा, वित्तीय, प्रशासनिक संगठन, संसदीय एवं विधि-विधायक समितियों की गणना होती है। तदर्थ समितियों का निर्माण समयानुसार तब किया जाता है जब आवश्यक और नवीन समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं।

विधायी कार्य—मन्त्रिमण्डल विधान निर्माण के क्षेत्र में संसद् का नेतृत्व करता है। संसद् के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ में मन्त्रिमण्डल ही व्यवस्थापन-कार्यक्रम तैयार करता है और मन्त्रिमण्डल की ओर से ही सरकारी विधेयक प्रस्तावित किए जाते है। मन्त्रिमण्डल ही निश्चय करता है कि संसद् के किस अधिवेशन में कौनसा विधेयक प्रस्तावित किया जाए। संसद् में अपने बहुमत के बल पर मन्त्रिमण्डल प्रस्तावित विधेयकों को पारित करवा लेता है। किसी भी गैर-सरकारी विधेयक का मन्त्रिमण्डल के समर्थन के अभाव में पारित होना बहुत ही कठिन है।

अध्यादेश तथा प्रदत्त विधान के फलस्वरूप मन्त्रिमण्डल की विधायी शक्तियाँ और भी व्यापक हो गई है। अध्यादेश का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है लेकिन इसका उपभोग वस्तुतः मन्त्रिमण्डल ही करता है। पुनश्च, आज कानून अत्यधिक प्राविधिक हो गए है, अतः संसद् उसकी मोटी रूपरेखा पारित करती है तथा नियमों-विनियमों द्वारा आवश्यक कमियों को पूरा करने का काम मन्त्रिमण्डल पर छोड़ दिया जाता है, यही प्रदत्त विधान है।

वित्तीय कार्य—मन्त्रिमण्डल ही राज्य के सम्पूर्ण व्यय के लिए उत्तरदायी है और इस व्यय की पूर्ति के लिए वित्त जुटाना उसी का काम है। बजट पर मन्त्रिमण्डल का पूरा नियन्त्रण रहता है। आय-व्यय का पूर्ण उत्तरदायित्व वित्त मन्त्री का है, अतः गोपनीयता की दृष्टि से, बजट को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के समक्ष वित्त मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाना आवश्यक नहीं है। सामान्यतः वित्त मन्त्री

बजट को संसद् में प्रस्तुत करने के चार-पाँच दिन पूर्व ही मन्त्रिमण्डल को इस सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी प्रदान करता है, लेकिन मन्त्रिमण्डल चाहे तो बजट के बारे मे कुछ अधिक समय पूर्व भी जानकारी माँग सकता है। वित्त मन्त्री, प्रधान मन्त्री के निर्देश और निकट सम्पर्क में बजट तैयार करता है। बजट सहित अन्य सभी वित्त विधेयक मन्त्रिमण्डल द्वारा ही ससद् मे प्रस्तावित किए जाते है। मन्त्रिमण्डल को अधिकार है कि संसद् मे प्रस्तावित किए जाने के बाद भी बजट में आवश्यक सुधार या सशोधन करे।

अन्य अधिकार—भारतीय मन्त्रिमण्डल को कुछ ऐसे भी अधिकार प्राप्त हैं जो ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल को प्राप्त नही है। *उदाहरणार्थ ससद् के विश्रान्तिकाल मे,* राष्ट्रपति के प्राधिकार के अन्तर्गत, मन्त्रिमण्डल को विधि-निर्माण का अधिकार है। संकटकालीन परिस्थितियो मे राष्ट्रपति के अधिकार व्यावहारिक रूप मे मन्त्रिमण्डल के ही अधिकार है जिनके अन्तर्गत वह मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सकता है, तथा अन्य आवश्यक कदम उठा सकता है।

प्रधान मंत्री के अधिकार और उत्तरदायित्व
(Powers & Responsibilities of the Prime Minister)

सविधान द्वारा प्रधान मन्त्री को व्यापक शक्तियाँ दी गई है। यह कहना उचित होगा कि व्यवहार मे उसी के हाथो मे शासन का सम्पूर्ण दायित्व है। प्रधान मन्त्री की असाधारण शक्तियो पर टिप्पणी करते हुए सविधान-सभा में प्रो के. टी. *शाह ने कहा था कि उसकी विशाल शक्तियो को देखते हुए यह भय लगता* है कि यदि वह चाहे तो किसी भी समय देश का अधिनायक बन सकता है। प्रधान मन्त्री की वास्तविक शक्ति बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व, उसके चरित्र और उसकी नेतृत्व-क्षमता मे निहित है। साथ ही यह बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर है कि उसका चयन किस प्रकार हो। यदि प्रधान मन्त्री का चयन उसके स्वयं के *व्यक्तित्व तथा दल मे उसकी सुदृढ स्वतन्त्र स्थिति के कारण हुआ है तो प्रधान मन्त्री* की स्थिति निश्चय ही मजबूत होती है। यदि प्रधान मन्त्री के चयन मे दलीय नेताओं, मुख्यमन्त्रियो आदि का विशेष हाथ है तो वे एक कमजोर प्रधान मन्त्री का चयन करने को लालायित हो सकते है। जब स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री को प्रधान मन्त्री बनाया गया तब स्वर्गीय कामराज ने यही कहा था कि प्रधान मन्त्री *'समकक्षों मे प्रथम'* से अधिक नही होगा।[1] शास्त्री के बाद प्रारम्भ में श्रीमती इन्दिरा गांधी भी निर्विवाद नेता के रूप मे इसीलिए नहीं उभर पाई कि परिस्थितियोवश वह प्रधान मन्त्री स्वयं नही बनी थी, बल्कि बनाई गई थी। लेकिन श्रीमती गांधी की पकड़ धीरे-धीरे मजबूत होती गई, उन्होंने अपनी प्रतिभा और नेतृत्व-क्षमता का परिचय दिया और अपना निर्विवाद नेतृत्व कायम कर लिया। मोरारजी देसाई शक्तिशाली प्रधान मन्त्री के रूप मे कभी उभर नही सके। मार्च, 1977 में प्रधान मन्त्री बनने के बाद से 15 जुलाई, 1979 को प्रधान मन्त्री पद

1 *G.S. Bhargava* : 'New Leader', The Times of India, June 3, 1964.

त्यागने के समय तक श्री देसाई को मन्त्रिमण्डल के अपने प्रमुख साथियों का पूरा विश्वास कभी प्राप्त नहीं हो सका और वे शक्तिशाली प्रधान मन्त्री कभी नहीं बन सके। उनके बाद चौधरी चरणसिंह ने 29 जुलाई, 1979 को प्रधान मन्त्री पद सम्भाला, किन्तु लोकसभा का विश्वास-मत प्राप्त किए बिना ही 20 अगस्त, 1979 को उन्होंने त्याग-पत्र देते हुए लोकसभा भंग करने की सिफारिश कर दी। राष्ट्रपति ने सिफारिश मानते हुए मध्यावधि चुनाव कराए जाने की घोषणा की और तब तक के लिए श्री चरणसिंह को कामचलाऊ सरकार के प्रधान मन्त्री के रूप में बने रहने दिया। अतः यही कहना होगा कि वास्तव में श्रीमती गांधी के बाद अभी तक व्यवहार में (सांविधानिक तौर पर नहीं), प्रधान मन्त्री पद का निखार नहीं हुआ वरन् ह्रास हुआ है और जुलाई, 1979 से अगस्त, 1979 तक की घटनाओं में राष्ट्रपति पद की शक्ति का अहसास होने लगा है।

प्रधान मन्त्री की केन्द्रीय स्थिति है और उसकी शक्तियाँ 'महान' है। उसके अधिकारों और उत्तरदायित्वों को हम इस प्रकार रख सकते हैं :—

प्रधान मन्त्री और मन्त्रि-परिषद्

1. प्रधान मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है और मन्त्रियों में विभागों का वितरण करता है। संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है, जिससे अपने साथियों के चयन में प्रधान मन्त्री पर कोई प्रतिबन्ध लगता हो। किन्तु व्यवहार में, मन्त्रियों की नियुक्ति के समय प्रधान मन्त्री को प्रशासनिक, राजनीतिक, क्षेत्रीय धार्मिक और अन्य बातों को ध्यान में रखना होता है। वह दलीय आवश्यकताओं, विभिन्न जातियों के प्रतिनिधित्व आदि की उपेक्षा नहीं कर पाता। अनेक अवसरों पर वह किन्हीं विशेष व्यक्तियों को मन्त्रि-परिषद् में लेने तथा उन्हें उनकी इच्छानुसार विभाग देने के लिए बाध्य होता है। पण्डित नेहरू को, सरदार पटेल की इच्छानुसार उन्हें गृह विभाग देना पड़ा था। 1967 में श्रीमती गांधी को अपनी इच्छा के विरुद्ध मोरारजी देसाई को प्रधान मन्त्री और वित्त मन्त्री के पद पर नियुक्त करना पड़ा था। मोरारजी देसाई को अपनी इच्छा के विरुद्ध चौधरी चरणसिंह को और बाबू जगजीवनराम को उप-प्रधान मन्त्री बनाना पड़ा था। लेकिन ये उदाहरण 'अपवाद' है, सामान्यतया अपने सहयोगियों का चयन प्रधान मन्त्री अपने विवेक के आधार पर ही करता है। वह ऐसे व्यक्तियों को भी अपने मन्त्रि-परिषद् में ले सकता है जो देश के लिए लगभग अपरिचित हों और जिन्हें दल में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो। 1964 में टी. एन. सिंह श्री लालबहादुर शास्त्री की और 1966 में श्री जी. एम. पाठक श्रीमती गांधी की व्यक्तिगत पसन्द थे। आगे चलकर मोहन कुमार मंगलम्, दुर्गाप्रसाद धर, टी. ए. पै आदि भी श्रीमती गांधी की व्यक्तिगत पसन्द के ही मन्त्री थे।

2. प्रधान मन्त्री को मन्त्रि-परिषद् में मनचाहे परिवर्तन करने अथवा किन्हीं भी मन्त्रियों को अपदस्थ करने का अधिकार है। प्रधान मन्त्री ऐसे सभी कार्य राष्ट्रपति की सिफारिश से करता है, उसकी सिफारिश को ठुकराया नहीं जाता। यदि कोई मन्त्री प्रधान मन्त्री की इच्छा के प्रतिकूल चले तो प्रधान . ˆ उससे

त्याग-पत्र की माँग कर सकता है अथवा स्वयं त्याग-पत्र देकर सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल को भंग कर सकता है और तब नए मन्त्रिमण्डल का गठन किया जा सकता है। चूँकि वह संसद् में बहुमत दल का नेता होता है, अतः राष्ट्रपति उसे ही प्रधान मन्त्री के रूप में पुनः नियुक्त करता है। हाँ, यदि उसकी दलीय स्थिति में ही परिवर्तन आ जाए तो उसका राजनीतिक अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। व्यवहार में प्रधान मन्त्री प्रायः विशेष स्थिति में ही किसी मन्त्री को अपदस्थ करने की सिफारिश करता है।

मन्त्रिमण्डल के कुछ ऐसे सदस्य होते हैं जो मन्त्री बनने से पूर्व भी दल में अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखते थे और मन्त्री बनने के बाद और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए। ऐसे प्रमुख मन्त्रियों से परामर्श लेना तथा उन्हें विश्वास में रखना प्रधान मन्त्री के लिए एक राजनीतिक आवश्यकता है। दूसरी ओर प्रधान मन्त्री ऐसे मन्त्रियों की उपेक्षा बड़ी आसानी से कर सकता है जिनकी अपनी कोई स्थिति नहीं होती, जिनका महत्त्व केवल मन्त्री-पद रहने के कारण ही है।

3 मन्त्रि-परिषद् में प्रधान मन्त्री का स्थान अपने सभी बराबर वालों में अव्वल माना गया है। प्रधान मन्त्री को जब अपने सहयोगी मन्त्रियों को मनोनीत करने का अधिकार है तो उसे ही यह भी अधिकार मिलना चाहिए कि वह अपने द्वारा लिए गए विवेकशील निर्णय को अपने सहयोगियों से भी मनवा ले। मन्त्रि-परिषद् में प्रधान मन्त्री के अलावा यदि कोई अव्वल दोयम का पद बनाया जाता है तो प्रधान मन्त्री को स्वतन्त्र बनकर अपने विवेक के प्रयोग में बाधा पहुँचती है। ऐसी स्थिति प्रथम प्रधान मन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू और तत्कालीन उप-प्रधान मन्त्री श्री वल्लभ भाई पटेल के बीच पैदा हो गई थी। ऐसी स्थिति प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई और उप-प्रधान मन्त्री चौधरी चरणसिंह के बीच बनी रही।

4. एक बार मन्त्रि-परिषद् का निर्माण हो जाने के बाद प्रधान मन्त्री मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के विभागों को आवश्यकता और इच्छानुसार बदलने में लगभग पूर्ण स्वतन्त्र होता है। यदि कभी परिस्थितियोंवश उसे दबना भी पड़ता है तो अवसर आने पर वह पूरा हावी भी हो जाता है। जुलाई, 1965 में पं नेहरू पाटिल को खाद्य विभाग से रेलवे विभाग में स्थानान्तरित नहीं कर सके, किन्तु कुछ समय बाद उन्होंने 'कामराज योजना' के आधार पर पाटिल को मन्त्रि-परिषद् से बाहर कर दिया। 1966 में गुलजारी लाल नन्दा ने और 1967 में मोरारजी देसाई ने उप-प्रधान मन्त्री पद तथा वित्त विभाग प्रधान मन्त्री की इच्छा के विरुद्ध प्राप्त किया, लेकिन क्रमश नवम्बर, 1966 और जुलाई, 1969 में श्रीमती गाँधी ने उनका पत्ता साफ कर दिया। प्रधान मन्त्री से मतभेद बढ़ जाने पर अन्त में सम्बन्धित मन्त्री को त्याग-पत्र देना ही होता है। डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, जॉनमथाई, देशमुख, छागला, महावीर त्यागी, अशोक मेहता, गुलजारी लाल नन्दा, मोरारजी देसाई, 1978 में चौधरी चरणसिंह और राजनारायण के त्याग-पत्र इसके प्रमाण है। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान-सभा में ठीक ही कहा था—"प्रधान मन्त्री वास्तव में मन्त्रिमण्डल रूपी

भवन के वृत्तखण्ड की मुख्य शिला है और जब तक हम उसे इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छा से मन्त्रियो की नियुक्ति अथवा पदच्युति कर सके तब तक मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नही किया जा सकता ।"

5. प्रधान मन्त्री ही सरकार की कार्यकुशलता के लिए उत्तरदायी है । शासन का प्रधान होने के नाते वह विभिन्न मन्त्रियों और उनके विभागो की नीतियो मे तालमेल बैठाता है । वह सम्पूर्ण शासन को एक इकाई के रूप मे देखता है । मन्त्रिगण अपने विभागो की कार्यकुशलता के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रधान मन्त्री के प्रति उत्तरदायी होते है । प्रधान मन्त्री उन्हें शासन-कार्य मे परामर्श देता है, प्रोत्साहित करता है और चेतावनी देता है । दो मन्त्रियो अथवा दो विभागो में मतभेद की स्थिति मे वह उन पर अपना निर्णय लागू करता है । व्यवहार में, चूँकि प्रधान मन्त्री अकेले सारे कार्यभार को नही सम्भाल सकता, अत: उसके उत्तरदायित्वो को अन्तरग मन्त्रिमण्डल के मन्त्री लोग बाँट लेते है और इस प्रकार प्रधान मन्त्री के बोझ को हल्का बनाने मे सहायक होते है ।

मन्त्रिमण्डल के सचालन मे भी प्रधान मन्त्री की केन्द्रीय स्थिति होती है । यद्यपि मन्त्रिमण्डल मे निर्णय प्रायः मतदान के आधार पर होते हैं, लेकिन व्यवहार मे प्रधान मन्त्री का परामर्श ही निर्णायक होता है । प्रधान मन्त्री ही मन्त्रिमण्डल की बैठको का सभापतित्व और समस्त कार्यवाही का सचालन करता है । मन्त्रिमण्डल की प्रत्येक कार्य-विधि पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है । मन्त्रियो के विभिन्न विभागों पर नियन्त्रण रखने मे मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय (Cabinet Secretariat) से बहुत अधिक सहायता मिलती है । यह सचिवालय प्रधान मन्त्री की अध्यक्षता में कार्य करता है और विगत कुछ वर्षों से इसने बहुत महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली है ।

लोकसभा का नेता

प्रधान मन्त्री लोकसभा का नेता होता है, संसद् मे सरकारी नीतियो के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण घोषणाएँ करता है, ससदीय वाद-विवादो मे भाग लेता है और समयानुसार सरकार के नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण वक्तव्य देता है । लोकसभा का कार्यक्रम निश्चित करने, उसे स्थगित अथवा भग कराने के सम्बन्ध मे प्रधान मन्त्री की निर्णायक भूमिका होती है । इग्लैण्ड मे तो लोकसभा को भंग करने की सिफारिश करना प्रधान मन्त्री का एक विशेषाधिकार है । भारत मे ऐसा पहला अवसर तब आया जब प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी के कहने पर लोकसभा को इसकी अवधि से पूर्व 27 दिसम्बर, 1969 को भंग किया गया । तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो मे श्रीमती गाँधी ने यह उपयुक्त समझा कि उनकी सरकार जनता से नया विश्वास प्राप्त करे । दूसरा अवसर तब उपस्थित हुआ जब राष्ट्रपति श्री नीलम सजीव रेड्डी ने कामचलाऊ प्रधान मन्त्री श्री चरणसिंह की सलाह मानकर 22 अगस्त, 1979 को लोकसभा भंग करने की घोषणा की और जनवरी, 1980 में मध्य. कराने का निर्णय लिया । श्रीमती गाँधी के समय की परिस्थितियाँ

श्रीमती गांधी को उस समय लोकसभा का विश्वास मत प्राप्त था। अतः लोकसभा भग करने की उनकी सिफारिश पर कोई सांविधानिक विवाद पैदा नही हुआ। लेकिन चौधरी चरणसिह के समय की परिस्थितियां विवादास्पद थी और जब उनकी सलाह मानकर राष्ट्रपति ने लोकसभा भग कर दी तो वह एक सांविधानिक और राजनीतिक विवाद बन गया। विधिवेत्ता दो पक्षों में बँट गए जिनमे एक का मत यह रहा कि ऐसे प्रधान मन्त्री की सलाह पर, जिसने लोकसभा का विश्वास मत कभी प्राप्त ही न किया हो और जो कामचलाऊ प्रधान मन्त्री के रूप मे कार्य कर रहा हो, लोकसभा को भग करना उचित नही है। जो भी हो, राष्ट्रपति रेड्डी ने निवर्तमान प्रधान मन्त्री की सलाह को मानकर यह पुनः स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 74(1) के अनुसार कार्य करेगा।

सकटकालीन स्थितियों मे प्रधान मन्त्री की शक्ति अत्यधिक बढ जाती है, क्योंकि राष्ट्रपति के सकटकालीन अधिकारो का उपभोग व्यवहार मे वही करता है। श्रीमती गांधी, प्रधान मन्त्री के रूप मे सकटकाल मे कितनी अधिनायकवादी बन गई थी, इसे भारत की जनता भुला नही सकती। 44वें सविधान संशोधन ने यद्यपि कुछ ऐसे अकुश लगा दिए है जिनसे संकटकालीन शक्तियों का दुरुपयोग नही हो सके, तथापि यदि सकटकाल की घोषणा हो जाए तो सविधान प्रदत्त सभी शक्तियो का उपभोग व्यवहार मे प्रधान मन्त्री ही करता आया है।

लोगों पर अनुग्रह की शक्ति

प्रधान मन्त्री लोगो का अनेक प्रकार से अनुग्रह कर सकता है। अभी भी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियां राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मन्त्री के परामर्श से ही की जाती है। प्रधान मन्त्री अपने सहयोगी महत्त्वपूर्ण मन्त्रियों से किसी भी सम्बन्ध मे परामर्श ले सकता है, पर अन्तिम निर्णय का अधिकार और उत्तरदायित्व उसी का होता है। व्यवहार मे प्रधान मन्त्री ही राज्यपालो, विदेशो मे भारत के राजदूतो, महाधिवक्ता, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, उच्चतम और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, महत्त्वपूर्ण आयोगों के सदस्यों आदि की नियुक्ति करता है। अनुग्रह और कृपा-शक्तियों के कारण सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर प्रधान मन्त्री का नियन्त्रण बहुत अधिक मजबूत हो जाता है।

प्रधान मन्त्री और विदेश-नीति

प्रधान मन्त्री विदेश मन्त्रालय को चाहे अपने अधीन रखे अथवा किसी दूसरे मन्त्री को सौंपे, लेकिन उसे विदेश मन्त्रालय से घनिष्ठ सम्पर्क बनाए रखना पड़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे देश का वास्तविक प्रवक्ता वही होता है। विदेश-नीति के सभी महत्त्वपूर्ण मामलों का निश्चय अन्तिम रूप से वही करता है। किसी देश की मान्यता समाप्त करना, राजदूतो को नियुक्त करना, उन्हें वापिस बुलाना आदि सभी मामलो मे वास्तविक निर्णय प्रधान मन्त्री द्वारा ही किया जाता है। केबिनेट की राजनीतिक मामलो की समिति तथा विदेश-मन्त्रालय की नीति-निर्माण समिति के माध्यम से यह नियन्त्रण व्यवहृत किया जाता है। भारत के साथ अपना सम्बन्ध

बनाए रखने के लिए छोटे-बड़े सभी राष्ट्र प्रधान मन्त्री के रुख का आँकलन करते रहते है। विदेशों में प्रधान मन्त्री की आवाज को भारत की 'असली आवाज' माना जाता है।

प्रधान मन्त्री और सुरक्षा-नीति

सुरक्षा से सम्बन्धित मामलो पर प्रधान मन्त्री की पूरी निगाह रहती है। रक्षा मन्त्री को प्रधान मन्त्री के निकट सम्पर्क और पूर्ण नियन्त्रण मे रहकर ही कार्य करना होता है। देश की हार-जीत का श्रेय प्रधान मन्त्री को ही मिलता है। 1962 मे चीन के आक्रमण पर भारत की हार के लिए पं. नेहरू आलोचना के पात्र बने, 1965 के युद्ध मे पाकिस्तान पर विजय का सेहरा श्री शास्त्री के सिर पर बाँधा गया, 1971 मे बंगला देश की स्थापना का श्रेय श्रीमती गाँधी ने कमाया। कब युद्ध करना है ? कब युद्ध बन्द करना है ? किस महाशक्ति से क्या सहायता लेनी है ? किस राष्ट्र के प्रति क्या नीति अपनानी है ? किस प्रकार शान्ति-समझौते करने है ? सयुक्त राष्ट्र सघ मे क्या कूटनीतिक पैंतरे दिखाने हैं ? इस प्रकार के सभी निर्णय अन्तिम रूप से प्रधान मन्त्री के होते हैं। समस्त सैनिक शक्तियों का प्रयोग प्रधान मन्त्री के निर्देशानुसार ही किया जाता है। युद्धकाल में भारत के प्रधान मन्त्री मोर्चों पर जाकर अपने सैनिको का साहस बढाते रहे है और यह सिद्ध करते रहे है कि देश की सुरक्षा का कितना महान् उत्तरदायित्व वे सम्भाले हुए है।

प्रधान मन्त्री और अर्थतन्त्र

आर्थिक मामलो पर भी प्रधान मन्त्री का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। देश के अर्थतन्त्र की सफलता-असफलता का उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री पर ही होता है। कई बार प्रधान मन्त्री स्वयं वित्त मन्त्रालय को सम्भाल लेता है। जुलाई, 1969 से जून, 1970 तक वित्त विभाग श्रीमती गाँधी ने अपने ही पास रखा था। वित्त मन्त्री कोई भी राष्ट्रीय महत्त्व का फैसला स्वय नही कर सकता। बजट-निर्माण का कार्य प्रधान मन्त्री से परामर्श लेकर ही किया जाता है। योजना आयोग के अध्यक्ष का पद प्रारम्भ से ही प्रधान मन्त्री के पास रहा है और राष्ट्रीय विकास परिषद् में भी आम तौर पर प्रधान मन्त्री ही छाया रहता है। राज्यों को वित्तीय सहायता देने सम्बन्धी अन्तिम निर्णयों के पीछे प्रधान मन्त्री का परामर्श ही मुख्य होता है। योजनाओं के सफल सचालन का भार उसे ही उठाना पड़ता है। देश की जनता अपनी आर्थिक कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए प्रधान मन्त्री की ओर देखती है। जनता को सन्तोष देकर प्रधान मन्त्री न केवल अपनी सरकार की प्रतिष्ठा बढ़ाता है बल्कि आम चुनावों में अपने दल को विजयी बनाता है। समय-समय पर प्रधान मन्त्री राष्ट्र के समक्ष महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तावित करता है। 1 जुलाई, 1975 को तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी ने 20-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम को लागू करने की घोषणा की थी।

प्रधान मन्त्री और विधि-निर्माण

विधि-निर्माण संसद् का अधिकार और कृत्य है, लेकिन व्यवहार मे

प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष

प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष के पद यद्यपि एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं, किन्तु व्यवहार में प्रधान मन्त्री ही अधिक शक्तिशाली है। भारत में जब कभी प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष में शक्ति-प्रतिस्पर्धा हुई अथवा मतभेद उठे तो अन्त में प्रधान मन्त्री ने ही दलीय अध्यक्ष पर विजय प्राप्त की। 1946–47 में नेहरू और कृपलानी के बीच, 1949–50 में नेहरू और टण्डन के बीच तथा 1969 में इन्दिरा गाँधी और निजलिंगप्पा के बीच यह स्थिति देखने में आई। भारत में मार्च, 1977 की पराजय से पूर्व केन्द्र में कांग्रेस का एकछत्र शासन रहा और प्रधान मन्त्री ने कांग्रेस अध्यक्ष पर अपनी 'सर्वोपरिता' स्थापित करने का सफल प्रयास किया। फिर भी 1962 से 1969 तक की अवधि में कांग्रेस अध्यक्ष पद काफी प्रभावशाली रहा और इस दौरान 1964 तथा 1966 में कामराज ने, 'राजविधाता' (Unity Maker) की भूमिका निभाई। बाद में श्रीमती गाँधी ने भारी प्रभाव अर्जित कर लिया और कांग्रेस अध्यक्ष की भूमिका 'प्रधान मन्त्री के वफादार सेवक' जैसी हो गई। एक अमेरिकी लेखक श्री कोचेनक ने प. नेहरू के समय के सम्बन्ध में टिप्पणी की थी—"औपचारिक शक्तियों की परवाह न करते हुए प्रधान मन्त्री दल और सरकार दोनों का वास्तविक नेता होता है", और यह बात श्रीमती गाँधी के समय एकदम सत्य उतरी। जनता सरकार के समय जनता पार्टी के रूप अध्यक्ष केमें श्री चन्द्रशेखर काफी प्रभावशाली रहे है लेकिन प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई से निश्चित रूप से कम। यह देश के हित में होगा कि प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष के बीच लगभग समान स्तर पर स्वस्थ सम्बन्धों का विकास हो।

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री विपुल शक्तियों का स्वामी है और उसके उत्तरदायित्व महान् हैं। अन्य मन्त्रियों के सन्दर्भ में प्रधान मन्त्री की स्थिति 'समकक्षों में प्रथम' (Primus Interpares) कही जाती है। किन्तु इस सम्बन्ध में जेनिंग्स का कहना आज की स्थिति पर अधिक सही उतरता है। जेनिंग्स के अनुसार "प्रधान मन्त्री समकक्षों में प्रथम मात्र ही नहीं है, वह तो सूर्य है जिसके चारों ओर ग्रह अथवा नक्षत्र घूमते रहते हैं।" प्रधान मन्त्री के पद का महत्व बहुत कुछ प्रधान मन्त्री के विशेष व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। इसीलिए कहा गया है कि प्रधान मन्त्री का पद वह है जो प्रधान मन्त्री स्वयं बनाता है।

प्रधान मन्त्री की वास्तविक स्थिति : वह निरंकुश नहीं बन सकता
(Actual Position of the Prime Minister : be a Despot)

नहीं बन

का प्रयोग

राष्ट्रपति के साथ सम्बन्ध

प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह भारत संघ के कार्यों के प्रस्ताव के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् के 'निर्णयों' से तथा कानून बनाने के प्रस्तावों मे और उनसे सम्बन्धित जानकारी से राष्ट्रपति को अवगत कराए। प्रधान मन्त्री का यह भी कर्त्तव्य है कि वह अगर राष्ट्रपति चाहे तो किसी ऐसे मामले को, जिस पर किसी मन्त्री ने निर्णय कर लिया हो परन्तु जिस पर मन्त्रि-परिषद् द्वारा विचार नहीं किया गया हो, मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ प्रस्तुत करे।

व्यावहारिक राजनीतिक क्षेत्र मे प्रधान मन्त्री की स्थिति निश्चय ही तब अधिक मजबूत होती है जब राष्ट्रपति भवन मे एक मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व विराजमान हो। एक मैत्रीविहीन राष्ट्रपति पर्याप्त सीमा तक प्रधान मन्त्री के लिए कठिनाई उपस्थित कर सकता है। यह देश के हित मे है कि प्रधान मन्त्री तथा राष्ट्रपति एक दूसरे को सहयोग देते हुए अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करें। वैसे सॉविधानिक व्यवस्था की मॉग है कि राष्ट्रपति वही करे जो प्रधान मन्त्री परामर्श दे। प्रधान मन्त्री का शक्तिशाली व्यक्तित्व और व्यापक प्रभाव किसी व्यक्ति को राष्ट्रपति पद पर आसीन कराने मे निर्णायक भूमिका अदा कर सकता है। किन्तु पद पर आसीन होने के बाद वह व्यक्ति राजनीतिक तटस्थता रखते हुए अपने उत्तरदायित्वों को निभाता है। भारत के सभी राष्ट्रपतियो ने इस व्यवस्था और परम्परा से सहमति प्रकट की है कि राष्ट्रपति को मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के अनुसार ही अपनी शक्तियों का प्रयोग और कर्त्तव्यों का निर्वहन करना है। राम जवाया-बनाम-भारत संघ, यू. एन. राव-बनाम भारत संघ के निर्णयो से भी उपरोक्त मत की पुष्टि होती है। पर इसका यह अर्थ नही है कि राष्ट्रपति के पद का कोई महत्त्व नही है। "वह राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है और सरकार द्वारा शासन-संचालन मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह दलगत राजनीति के ऊपर रहकर और एक निष्पक्ष व्यक्ति होने के नाते मन्त्रि-परिषद् के निर्णयो पर काफी प्रभाव डाल सकता है और समय-समय पर प्रधान मन्त्री को उचित सलाह दे सकता है। ये सब बाते बहुत हद तक उसके व्यक्तित्व पर आधारित हैं। यही हमारे संविधान की मूल भावना है और हम आशा करते है कि इस उच्चतम पद के धारण करने वाले व्यक्ति इस भावना का समुचित आदर करेंगे और जनतन्त्र को सफल बनाने मे अपना अमूल्य योगदान देने का भरसक प्रयत्न करेंगे। संविधान राष्ट्रपति की गरिमा प्रस्थापित करता है। संविधान राष्ट्रपति को ऐसी दशा मे हस्तक्षेप करने का अधिकार देता है जबकि कोई मन्त्री नीति के किसी प्रश्न पर, मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखे बिना, स्वयं निर्णय ले लेता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ऐसे निर्णय को मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ रखने की अपेक्षा कर सकता है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सफलता के साथ कार्यान्वित करना ही इस प्रावधान का मुख्य उद्देश्य है।"[1]

1 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 246.

मे भी प्रधान मन्त्री की तब निर्णायक भूमिका होती है जब वह बहुमत का पूरा विश्वास अर्जित किए हुए हो। संसद् मे बहुमत दल का नेता होने के कारण ही व्यक्ति प्रधान मन्त्री पद पर आता है और बहुमत के बल पर ही वह संसद् से इच्छित कानून बनवा सकता है, संविधान मे संशोधन करवा सकता है। लेकिन प्रधान मन्त्री यह सब कुछ करते समय जनता और विरोधी दलों का ख्याल रखता है। अपना उत्तरदायित्व समझने वाला कोई भी प्रधान मन्त्री निरंकुशता के मार्ग पर नहीं चलेगा। भारत मे अब तक जो भी प्रधान मन्त्री हुए है उन्होने लोकतान्त्रिक आदर्शो और परम्पराओ के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए अपनी शक्तियों का प्रयोग किया है। श्रीमती गांधी ने जब सत्ता का कुछ दुरुपयोग किया तो मतदाताओं ने उन्हें अस्वीकार कर दिया और वे सत्ता-च्युत् हो गईं। उन्होंने अपनी भूल को समझा और वे अपनी खोई प्रतिष्ठा अब पुन. प्राप्त करने में लगी। परिणाम सामने आया और आज पुनः 2/3 बहुमत से प्रधान मन्त्री पद पर सुशोभित हैं।

मुख्य मन्त्रियों के साथ सम्बन्ध

शक्ति के पद-सोपान-क्रम मे मुख्य मन्त्री प्रबुद्ध वर्ग मे आते हैं। इस शताब्दी के पांचवे दशक के अन्तिम वर्षों से नेहरू का कांग्रेस संगठन पर से प्रभाव कम होने लगा था, परिणामस्वरूप विभिन्न राज्यों के मुख्य मन्त्रियो ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना प्रारम्भ किया जिससे शक्ति का सन्तुलन प्रधान मन्त्री के विपरीत मुख्य मन्त्रियो की ओर हो गया। प्रधान मन्त्री के उत्तराधिकारी के चयन मे मुख्य मन्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका, दलीय कार्य समिति की उनकी सदस्यता तथा अपने राज्य के संसद् सदस्यो से प्राप्त स्वामिभक्ति ने मुख्य मन्त्रियों को महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की है। मुख्य मन्त्री प्रधान मन्त्री को उनकी महत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर सकते है, वे एक दुर्बल प्रधान मन्त्री को पसन्द करते हैं। किन्तु एक स्थाई पद-सोपान-क्रम मे शक्ति-संचरण एक ही दिशा मे नही होता है। राज्यपाल की नियुक्ति करने मे तथा प्रस्तावित लोकपालो की नियुक्ति मे प्रधान मन्त्री महत्त्वपूर्ण शक्ति रखता है। एक मुख्य मन्त्री के पदासीन होने व बने रहने के लिए प्रधान मन्त्री की सहानुभूति अति आवश्यक होती है। एक विरोधी प्रधान मन्त्री एक मुख्य मन्त्री की राजनीतिक मृत्यु का कारण बन सकता है। राज्यो के मुख्य मन्त्रियो के साथ अच्छे सम्बन्ध होने पर प्रधान मन्त्री की स्थिति मजबूत होती है और वह अपने उत्तरदायित्वो का निर्वाह तथा अपनी नीतियो का क्रियान्वयन अधिक प्रभावी ढग से कर सकता है। यदि प्रधान मन्त्री की अपेक्षा मुख्य मन्त्रियो का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है तो प्रधान मन्त्री की स्थिति पर इसका अनुकूल प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक है।

भारत को एक राष्ट्र के रूप मे आगे बढाना है अतः इस प्रकार की बातें करना अनुत्तरदायित्वपूर्ण है कि केन्द्र के हित अलग हैं और राज्यो के हित अलग है। जब सारा राष्ट्र एक होकर आगे बढने का संकल्प लेता है तो प्रधान मन्त्री और मुख्य मन्त्रियो मे अनबन या संघर्ष जैसी कोई बात पैदा नही होनी चाहिए।

राष्ट्रपति के साथ सम्बन्ध

प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह भारत सघ के कार्यों के प्रस्ताव के सम्बन्ध मे मन्त्रि-परिषद् के 'निर्णयों' से तथा कानून बनाने के प्रस्तावो मे और उनसे सम्बन्धित जानकारी से राष्ट्रपति को अवगत कराए। प्रधान मन्त्री का यह भी कर्त्तव्य है कि वह अगर राष्ट्रपति चाहे तो किसी ऐसे मामले को, जिस पर किसी मन्त्री ने निर्णय कर लिया हो परन्तु जिस पर मन्त्रि-परिषद् द्वारा विचार नहीं किया गया हो, मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ प्रस्तुत करे।

व्यावहारिक राजनीतिक क्षेत्र में प्रधान मन्त्री की स्थिति निश्चय ही तब अधिक मजबूत होती है जब राष्ट्रपति भवन मे एक मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व विराजमान हो। एक मैत्रीविहीन राष्ट्रपति पर्याप्त सीमा तक प्रधान मन्त्री के लिए कठिनाई उपस्थित कर सकता है। यह देश के हित मे है कि प्रधान मन्त्री तथा राष्ट्रपति एक दूसरे को सहयोग देते हुए अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करें। वैसे सांविधानिक व्यवस्था की माँग है कि राष्ट्रपति वही करे जो प्रधान मन्त्री परामर्श दे। प्रधान मन्त्री का शक्तिशाली व्यक्तित्व और व्यापक प्रभाव किसी व्यक्ति को राष्ट्रपति पद पर आसीन कराने मे निर्णायक भूमिका अदा कर सकता है। किन्तु पद पर आसीन होने के बाद वह व्यक्ति राजनीतिक तटस्थता रखते हुए अपने उत्तरदायित्वो को निभाता है। भारत के सभी राष्ट्रपतियो ने इस व्यवस्था और परम्परा से सहमति प्रकट की है कि राष्ट्रपति को मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के अनुसार ही अपनी शक्तियो का प्रयोग और कर्त्तव्यों का निर्वहन करना है। राम जवाया-बनाम-भारत सघ, यू एन राव-बनाम भारत सघ के निर्णयों से भी उपरोक्त मत की पुष्टि होती है। पर इसका यह अर्थ नही है कि राष्ट्रपति के पद का कोई महत्त्व नही है। "वह राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है और सरकार द्वारा शासन-सचालन मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह दलगत राजनीति के ऊपर रहकर और एक निष्पक्ष व्यक्ति होने के नाते मन्त्रि-परिषद् के निर्णयों पर काफी प्रभाव डाल सकता है और समय-समय पर प्रधान मन्त्री को उचित सलाह दे सकता है। ये सब बातें बहुत हद तक उसके व्यक्तित्व पर आधारित है। यही हमारे संविधान की मूल भावना है और हम आशा करते है कि इस उच्चतम पद के धारण करने वाले व्यक्ति इस भावना का समुचित आदर करेंगे और जनतन्त्र को सफल बनाने में अपना अमूल्य योगदान देने का भरसक प्रयत्न करेंगे। संविधान राष्ट्रपति की गरिमा प्रस्थापित करता है। संविधान राष्ट्रपति को ऐसी दशा मे हस्तक्षेप करने का अधिकार देता है जबकि कोई मन्त्री नीति के किसी प्रश्न पर, मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखे विना, स्वयं निर्णय ले लेता है। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति ऐसे निर्णय को मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ रखने की अपेक्षा कर सकता है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सफलता के साथ कार्यान्वित करना ही इस प्रावधान का मुख्य उद्देश्य है।"[1]

1 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 246.

प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष

प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष के पद यद्यपि एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते है, किन्तु व्यवहार मे प्रधान मन्त्री ही अधिक शक्तिशाली है। भारत मे जब कभी प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष में शक्ति-प्रतिस्पर्धा हुई अथवा मतभेद उठे तो अन्त मे प्रधान मन्त्री ने ही दलीय अध्यक्ष पर विजय प्राप्त की। 1946–47 में नेहरू और कृपलानी के बीच, 1949–50 मे नेहरू और टण्डन के बीच तथा 1969 में इन्दिरा गाँधी और निजलिंगप्पा के बीच यह स्थिति देखने मे आई। भारत मे मार्च, 1977 की पराजय से पूर्व केन्द्र मे कांग्रेस का एकछत्र शासन रहा और प्रधान मन्त्री ने कांग्रेस अध्यक्ष पर अपनी 'सर्वोपरिता' स्थापित करने का सफल प्रयास किया। फिर भी 1962 से 1969 तक की अवधि मे कांग्रेस अध्यक्ष पद काफी प्रभावशाली रहा और इस दौरान 1964 तथा 1966 मे कामराज ने, 'राजविधाता' (Unity Maker) की भूमिका निभाई। बाद मे श्रीमती गाँधी ने भारी प्रभाव अर्जित कर लिया और कांग्रेस अध्यक्ष की भूमिका 'प्रधान मन्त्री के वफादार सेवक' जैसी हो गई। *एक अमेरिकी लेखक श्री कोचेनक ने प नेहरू के समय के सम्बन्ध मे टिप्पणी की थी*—"औपचारिक शक्तियो की परवाह न करते हुए प्रधान मन्त्री दल और सरकार दोनो का वास्तविक नेता होता है", और यह बात श्रीमती गाँधी के समय एकदम सत्य उतरी। जनता सरकार के समय जनता पार्टी के रूप अध्यक्ष केमे श्री चन्द्रशेखर काफी प्रभावशाली रहे है लेकिन प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई से निश्चित रूप से कम। यह देश के हित में होगा कि प्रधान मन्त्री और दलीय अध्यक्ष के बीच लगभग समान स्तर पर स्वस्थ सम्बन्धों का विकास हो।

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री विपुल शक्तियों का स्वामी है और उसके उत्तरदायित्व महान् हैं। अन्य मन्त्रियो के सन्दर्भ मे प्रधान मन्त्री की स्थिति 'समकक्षो मे प्रथम' (Primus Interpares) कही जाती है। किन्तु इस सम्बन्ध मे जेनिंग्स का कहना आज की स्थिति पर अधिक सही उतरता है। जेनिंग्स के अनुसार "प्रधान मन्त्री समकक्षो में प्रथम मात्र ही नही है, वह तो सूर्य है जिसके चारो ओर ग्रह अथवा नक्षत्र घूमते रहते है।" प्रधान मन्त्री के पद का महत्त्व बहुत कुछ प्रधान मन्त्री के विशेष व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। इसीलिए कहा गया है *कि प्रधान मन्त्री का पद वह है जो प्रधान मन्त्री स्वय बनाता है।*

प्रधान मन्त्री की वास्तविक स्थिति : वह निरंकुश नहीं बन सकता
(Actual Position of the Prime Minister : He cannot be a Despot)

प्रधान मन्त्री की शक्तियाँ असीमित है, तथापि वह एक अधिनायक नही बन सकता। एक अधिनायक अथवा तानाशाह मनमाने तरीके से अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है जबकि प्रधान मन्त्री *स्थापित नियमो, परम्पराओं और अभिमतों के अनुसार*

कतिपय प्रतिबन्धों के अधीन रहकर देश का शासन करता है और इन प्रतिबन्धो की अवहेलना करने पर उसका अस्तित्व खतरे मे पड़ जाता है। प्रधान मन्त्री एक सांविधानिक तानाशाह है जो अपने मन्त्रियों को उचित सम्मान देता है और उनके मत का उचित आदर करता है। यद्यपि मतभेद उपस्थित होने पर वह अपनी ही चलाता है और बात ज्यादा बढ़ जाने पर उसे नही बल्कि मन्त्री को पद-त्याग करना होता है। इसमें कोई सन्देह नही कि मन्त्रिमण्डल के अन्य मन्त्रियों की तुलना में उसकी स्थिति अधिक महत्त्व की है और वही मन्त्रिमण्डल के निर्माण, सचालन व पतन के लिए उत्तरदायी होता है, परन्तु फिर भी विविध मन्त्रियो के सम्बन्ध से उसकी स्थिति इतनी शक्तिशाली नही होती जितनी सयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की है। लास्की की यह युक्ति भारत के सन्दर्भ में भी सही है कि "अमेरिका मे मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के 'दास' हैं जबकि ब्रिटेन मे वे प्रधान मन्त्री के 'सहयोगी' है।" प्रधान मन्त्री को मन्त्रिमण्डल के विचारानुसार चलना पड़ता है। मन्त्रियो के अपने कुछ उत्तरदायित्व होते है जिन्हे वे प्रधान मन्त्री व मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यो के सयुक्त रूप में निभाते हैं।

प्रधान मन्त्री की स्थिति का महत्त्व केवल अन्य मन्त्रियों के सन्दर्भ मे ही नही है, अपितु उसकी स्थिति शासन-सूत्र के सभी पहलुओ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष के रूप में, शासन-प्रमुख के रूप मे, राष्ट्रपति के परामर्शदाता के रूप में, दल के नेता और लोकसभा के नेता के रूप में प्रधान मन्त्री विशाल शक्तियों का स्वामी है। किन्तु फिर भी प्रधान मन्त्री की स्थिति बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर है। फाइनर के शब्दो मे "वह जीत पर दृढता से अवस्थित है, लेकिन वह मजा हुआ सवार है या लुढकने वाला, भाड़े के टट्टू के योग्य है या फौजो और घुड़दौड़ के घोड़े के योग्य, यह उस पर निर्भर करता है।" पुनश्च, लास्की के इस विचार मे पर्याप्त बल है कि "प्रधान मन्त्री की स्थिति दलीय प्रणाली से बँधी हुई है।" राजनीतिक दल का नेता बने रहने और लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहने तक ही वह राष्ट्रीय महत्त्व का व्यक्ति समझा जाता है, किन्तु ज्योंही वह दलीय समर्थन से वंचित हो जाता है और लोकसभा के बहुमत का विश्वास खो बैठता है, उसका सम्पूर्ण महत्त्व लुप्त-प्रायः हो जाता है। वस्तुतः अपना महत्त्व कायम रखने के लिए प्रधान मन्त्री को व्यक्तित्वपूर्ण होना पड़ता है। अपने व्यक्तित्व द्वारा अर्जित किए गए महत्त्व के अनुरूप ही वह अपने पद को महत्त्व दे पाता है।

भारत का प्रधान मन्त्री कितना भी शक्तिशाली व्यक्तित्व का धनी हो, सांविधानिक व्यवस्थाएँ और अभिसमय प्रधान मन्त्री पद को जो भी शक्ति प्रदान करते है, देश की राजनीति पर प्रधान मन्त्री का कितना भी नियन्त्रण हो, वह निरंकुश नही बन सकता और इस प्रकार की बातें करना भी अनर्गल होगा कि भारत प्रधान मन्त्रीय व्यवस्था (Prime Ministerial System) की ओर बढ रहा प्रधान मन्त्री की शक्तियों पर निम्नलिखित प्रभावशाली अंकुश बने रहते हैं—

1. लोकमत का नियन्त्रण—कोई भी प्रधान मन्त्री लोकमत को नहीं ठुकरा सकता। लोकप्रियता किसी भी प्रधान मन्त्री की शक्ति को घटाने-बढाने की 'महा औषधि' है। श्री नेहरू जनमत के समर्थन पर ही निर्विवाद नेता बने रहे और श्रीमती गाँधी का घटना-क्रम बताता है कि जनमत का समर्थन खोकर तो बड़े से बडा तानाशाह भी पद पर नही बना रह सकता।

2. लोकसभा के बहुमत का प्रतिबन्ध—प्रधान मन्त्री लोकसभा के-बहुमत के बल पर ही अपनी शक्तियों का प्रयोग कर पाता है। एक बार बहुमत मिलने का अर्थ यह नही है कि वह सदा ही बना रहेगा। निरकुश आचरण करने पर प्रधान मन्त्री बहुमत का विश्वास खो सकता है और अपनी स्थिति को खतरे में डाल सकता है।

3. साथी मन्त्रियों का अंकुश—प्रधान मन्त्री अपनी केबिनेट के महत्त्वपूर्ण और व्यापक प्रभाव वाले साथियों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने से प्रायः बचता है। उनका विश्वास खोकर वह दल में अपनी स्थिति को दुर्बल नही बनाना चाहेगा।

4. दलीय प्रतिबन्ध—अपने दल के बल पर ही कोई व्यक्ति प्रधान मन्त्री पद पर बैठता है, अतः उसे कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से पूर्व अपने दल को भी विश्वास मे लेना पड़ता है। ससदीय दल के समर्थन के बिना कोई भी प्रधान मन्त्री अपने पद पर अधिक समय तक नहीं रह सकता।

5. राज्यों में विरोधी दलों की सरकारें—राज्यो मे विरोधी दलो की सरकारे प्रधान मन्त्री की तानाशाही प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकती है। यदि केन्द्र और सभी राज्यो में एक ही दल सत्तारूढ हो तो राज्य सरकारो की इच्छा का सम्मान प्रधान मन्त्री को करना पडता है।

6. मुख्य मन्त्रियों का दबाव—प्रधान मन्त्री को अपनी नीतियों के सफल कार्यान्वयन के लिए राज्यो के मुख्य मन्त्रियों को साथ लेकर चलना पड़ता है। उनके युक्तिसंगत दबाव को वह सहन करता है। अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग मुख्य-मन्त्री अपने सद्परामर्श से प्रधान मन्त्री को निरंकुशता की ओर नही जाने देते।

7. राष्ट्रपति का परामर्श—यद्यपि राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणानुसार अपनी शक्तियों और कार्यों का निर्वहन करता है, लेकिन वह अपने सद्परामर्श, अपनी सामयिक चेतावनी आदि के माध्यम से प्रधान मन्त्री के ऐसे कदमों पर प्रभाव डाल सकता है जो निरंकुशता की ओर बढ़ रहे हों। प्रधान मन्त्री को एक मैत्रीपूर्ण राष्ट्रपति की आवश्यकता सदैव ही होती है।

8. विरोधी दल—विरोधी दलो की रचनात्मक आलोचना प्रधान मन्त्री को निरकुशता की ओर जाने से रोकती है।

9. बहुदलीय व्यवस्था—यदि केन्द्र में एक ही दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो या जो बहुमत मिले वह बहुत कम सदस्यो का हो तो यह स्थिति भी प्रधान मन्त्री को नियन्त्रित रखती है।

15 भारतीय संसद्

(THE INDIAN PARLIAMENT)

संविधान के भाग 5 के अध्याय 2 में अनुच्छेद 79 से 122 तक संसद् और उसके विविध पक्षों का विवरण है। भारतीय संसद के तीन अंग है—राष्ट्रपति, राज्यसभा और लोकसभा (अनुच्छेद 79)। राष्ट्रपति संसद् के किसी सदन का सदस्य नहीं होता, किन्तु संसद् का एक अन्तिम अंग है, और संसद् द्वारा पारित विधेयक उसके हस्ताक्षर होने के बाद ही अधिनियम का रूप ग्रहण करते हैं। राष्ट्रपति को संसद् का अभिन्न अंग बनाना संसदीय शासन के सिद्धान्तों और परम्पराओं के अनुकूल है। इंग्लैण्ड में सम्राट, हाउस ऑफ लॉर्ड्स तथा हाउस ऑफ कॉमन्स मिलकर पार्लियामेण्ट कहलाते हैं। राज्यसभा संसद् का उच्च सदन है जिसमें राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। लोकसभा निम्न सदन है जिसमें जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते है।

राज्यसभा का गठन
(Organisation of the Council of States)

राज्यसभा संसद् का द्वितीय या उच्च सदन है। संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार राज्यसभा की अधिकतम संख्या 250 हो सकती है। इनमें से 238 राज्यों तथा संघ क्षेत्रों के निर्वाचित प्रतिनिधि और 12 राष्ट्रपति द्वारा नामांकित सदस्य होते हैं। राष्ट्रपति ऐसे सदस्यों को नामांकित करता है जो साहित्य, कला, विज्ञान और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखते है। नामांकित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग नहीं लेते। वर्तमान राज्यसभा में कुल सदस्य संख्या 244 है।

राज्यसभा के निर्वाचन अप्रत्यक्ष होते हैं। राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन सम्बन्धित राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है। संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन ऐसे ढंग से किया जाता है जैसे कि संसद् कानून द्वारा निर्धारित करे। संविधान यह व्यवस्था करता है कि एक राज्य की जनसंख्या के प्रथम 50 लाख व्यक्तियों तक हर 10 लाख व्यक्तियों

अर्थात् 1/10 सदस्य उपस्थित न होने पर राज्यसभा की बैठक नहीं हो सकती थी। 42वें सशोधन के अनुसार गणपूर्ति के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार सम्बन्धित सदन को ही दे दिया गया। किन्तु जनता सरकार ने 44वें सशोधन द्वारा पूर्व स्थिति को पुनः कायम कर दिया है।

राज्यसभा की शक्तियाँ और कार्य
(Powers and Functions of the Council of States)

राज्यसभा की रचना लोकसभा के सहयोगी और सहायक सदन के रूप में की है। इस सदन के कार्य और शक्तियों की रूपरेखा इस प्रकार है—

(1) **विधायी शक्तियाँ**—सविधान ने गैर-वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियाँ दी है। ऐसे विधेयक लोकसभा या राज्यसभा दोनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तावित किए जा सकते हैं और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जाते हैं। व्यवहार में स्थिति यह है कि लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते हे, राज्यसभा में नहीं।

दोनों सदनों में किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की सयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद यदि छः महीने के भीतर दूसरे सदन द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता तो सयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है। इसकी अध्यक्षता लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा की जाती है। सयुक्त बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर होता है। स्पष्ट है कि यद्यपि गैर-वित्तीय विधेयकों के सम्बन्धो मे दोनो सदनो को समान शक्तियाँ प्राप्त है किन्तु दो दृष्टियों से यहाँ भी राज्यसभा की स्थिति निर्बल है—प्रथम, सं्युक्त अधिवेशन बुलाने की शक्ति राष्ट्रपति को है और राष्ट्रपति यह कार्य मन्त्रि-परिषद की सलाह पर करता है जो कि लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। स्वाभाविक है कि सयुक्त अधिवेशन बुलाने के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् लोकसभा के दृष्टिकोण को ही अधिक ध्यान में रखेगी। उदाहरणार्थ, यदि कोई विधेयक राज्यसभा से स्वीकृत है किन्तु लोकसभा ने उसे अस्वीकार कर दिया है तो सम्भवत मन्त्रि-परिषद् उस विधेयक पर सयुक्त अधिवेशन बुलाना पसन्द नहीं करेगी और विधेयक अपने आप समाप्त हो जाएगा। द्वितीय, सयुक्त अधिवेशन में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है और चूंकि लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगुनी से भी अधिक है, अतः विधेयक की स्वीकृति या अस्वीकृति लोकसभा की इच्छानुसार ही होगी। राज्यसभा की शक्ति इस प्रकार निर्बल अवश्य है, किन्तु वह किसी विधेयक को पारित करने में छः माह तक का विलम्ब तो अवश्य ही कर सकती है। अभी तक केवल दो बार दोनों सदनों का सयुक्त अधिवेशन आमन्त्रित किया गया है। पहली बार 1961 में 'दहेज निषेध विधेयक' के सम्बन्ध में मतभेद दूर करने के लिए दोनों सदनों की सयुक्त बैठक हुई जिसमें मतभेद दूर कर लिए गए और विधेयक पारित किया गया।

योग्यताएँ और कार्यकाल—राज्यसभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक है—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु 30 वर्ष से कम न हो।
3. वह किसी लाभ के पद पर न हो, विकृत मस्तिष्क का न हो, दिवालिया न हो।
4. ऐसी अन्य सभी योग्यताएँ रखता हो जो ससद् कानून द्वारा निर्धारित करे। '1951 के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम' (People's Representative Act, 1951) के अनुसार राज्यसभा की उम्मीदवारी के लिए उस राज्य मे संसद् का मतदाता होना जरूरी है, जिस राज्य से वह चुनाव लड़ता है।

सविधान के अनुच्छेद 102 के अनुसार संघ या राज्यो के मन्त्री-पद लाभ के पद नही समझे गए हैं। योग्यताओं सम्बन्धी कोई भी विवादास्पद प्रश्न निर्णय के लिए राष्ट्रपति को सौंपा जाता है और राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय के आधार पर जो निर्णय देता है, वह अन्तिम होता है।

राज्यसभा एक स्थायी सदन है, उसका विघटन नही हो सकता। उसके सदस्य छः वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं और बारी-बारी से एक-तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। उनके स्थान पर नवीन एक-तिहाई सदस्य पद ग्रहण करते है। प्रत्येक राज्य-विधान-सभा के सदस्य अपने राज्य के लिए सदस्यों की निर्वाचित सख्या का निर्वाचन करने के लिए *निर्वाचक-गण है।*

पदाधिकारी—भारत का उप-राष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। राष्ट्रपति का आसन ग्रहण करते समय वह राज्यसभा का सभापतित्व नही कर सकता और न ही इस पद से सम्बन्धित वेतन अथवा अन्य भत्ते ले सकता है। *सभापति की अनुपस्थिति मे राज्यसभा का सभापतित्व उप-सभापति करता है* जो सदन का सदस्य होता है और सदन के सदस्यो द्वारा ही निर्वाचित किया जाता है। राज्यसभा का अपना सचिवालय होता है जिसका प्रधान एक सचिव होता है।

वर्तमान मे उप-राष्ट्रपति को राज्यसभा के सभापति के रूप मे 2,250 रुपये मासिक वेतन मिलता है। *राज्यसभा के सभापति और उप-सभापति को वेतन* भारत की सचित निधि से दिया जाता है। उनको वे सभी अधिकार प्राप्त होते हैं जो सामान्यतया विधान-मण्डलो के अध्यक्षो को प्राप्त रहते हैं—यथा—सदस्यो को भाषण की अनुमति प्रदान करना, कार्यप्रणाली सम्बन्धी प्रश्नो को तय करना, *वाद-विवाद को अनुशासित और सुसगत बनाए रखना,* विचाराधीन प्रश्नों पर मतदान लेना और मतदान का परिणाम घोषित करना आदि। सभापति का कार्यकाल पांच वर्ष है, किन्तु उप-सभापति को छः वर्ष के लिए चुना जाता है। सदन के सदस्यों के वोट बराबर रहने पर सभापति अपने निर्णायक मत (*Casting Vote*) का प्रयोग करता है।

गणपूर्ति—42वें संविधान संशोधन के पूर्व राज्यसभा की गणपूर्ति 1/10 थी,

अर्थात् 1/10 सदस्य उपस्थित न होने पर राज्यसभा की बैठक नहीं हो सकती थी। 42वें संशोधन के अनुसार गणपूर्ति के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार सम्बन्धित सदन को ही दे दिया गया। किन्तु जनता सरकार ने 44वें संशोधन द्वारा पूर्व स्थिति को पुनः कायम कर दिया है।

राज्यसभा की शक्तियाँ और कार्य

(Powers and Functions of the Council of States)

राज्यसभा की रचना लोकसभा के सहयोगी और सहायक सदन के रूप में की है। इस सदन के कार्य और शक्तियों की रूपरेखा इस प्रकार है —

(1) **विधायी शक्तियाँ**—संविधान ने गैर-वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियाँ दी हैं। ऐसे विधेयक लोकसभा या राज्यसभा दोनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तावित किए जा सकते हैं और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जाते हैं। व्यवहार में स्थिति यह है कि लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते हैं, राज्यसभा में नहीं।

दोनों सदनों में किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद यदि छः महीने के भीतर दूसरे सदन द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता तो संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है। इसकी अध्यक्षता लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा की जाती है। संयुक्त बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर होता है। स्पष्ट है कि यद्यपि गैर-वित्तीय विधेयकों के सम्बन्धों में दोनों सदनों को समान शक्तियाँ प्राप्त हैं किन्तु दो दृष्टियों से यहाँ भी राज्यसभा की स्थिति निर्बल है—प्रथम, संयुक्त अधिवेशन बुलाने की शक्ति राष्ट्रपति को है और राष्ट्रपति यह कार्य मन्त्रि-परिषद की सलाह पर करता है जो कि लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। स्वाभाविक है कि संयुक्त अधिवेशन बुलाने के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् लोकसभा के दृष्टिकोण को ही अधिक ध्यान में रखेगी। उदाहरणार्थ, यदि कोई विधेयक राज्यसभा से स्वीकृत है किन्तु लोकसभा ने उसे अस्वीकार कर दिया है तो सम्भवतः मन्त्रि-परिषद् उस विधेयक पर संयुक्त अधिवेशन बुलाना पसन्द नहीं करेगी और विधेयक अपने आप समाप्त हो जाएगा। द्वितीय, संयुक्त अधिवेशन में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है और चूंकि लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगुनी से भी अधिक है, अतः विधेयक की स्वीकृति या अस्वीकृति लोकसभा की इच्छानुसार ही होगी। राज्यसभा की शक्ति इस प्रकार निर्बल अवश्य है, किन्तु वह किसी विधेयक को पारित करने में छः माह तक का विलम्ब तो अवश्य ही कर सकती है। अभी तक केवल दो बार दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आमन्त्रित किया गया है। पहली बार 1961 में 'दहेज निषेध विधेयक' के सम्बन्ध में मतभेद दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक हुई जिसमें मतभेद दूर कर लिए गए और विधेयक पारित किया गया।

दूसरी बार मई, 1978 मे बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक पर विचार के लिए संयुक्त बैठक हुई जिसमे विधेयक उसी रूप में पारित हो गया जिस रूप में उसे लोकसभा द्वारा पारित किया गया था।

संविधान-संशोधन की शक्ति—इस सम्बन्ध में राज्यसभा की स्थिति वही है जो गैर-वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध मे है। यद्यपि दोनो सदनों की स्वीकृति पर ही सविधान में सशोधन हो सकता है, लेकिन व्यवहार में राज्यसभा की स्थिति लोकसभा की तुलना में निर्बल है। 'शंकरी प्रसाद बनाम भारत सरकार' के मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि सविधान संशोधन विधेयक पर दोनो सदनों में मतभेद की सूरत में सयुक्त अधिवेशन वाली उसी प्रक्रिया को अपनाया जाएगा जो साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में अपनाई जाती है। बाद में 24वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा इसी बात को पुनः पुष्ट कर दिया गया।

वित्तीय शक्तियां—राज्यसभा को कुछ वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त है, तथापि संविधान द्वारा इस क्षेत्र मे राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल बनाया गया है। वित्त विधेयक पहले लोकसभा मे ही प्रस्तावित किए जाते हैं, वहां स्वीकृत होने पर राज्यसभा मे भेजे जाते हैं। राज्यसभा द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक वित्त विधेयक पर विचार किया जा सकता है। राज्यसभा वित्त विधेयक के सम्बन्ध में अपने सुझाव लोकसभा को दे सकती है, किन्तु यह लोकसभा की इच्छा पर है कि वह राज्यसभा की सिफारिश को स्वीकार करे या न करे। इस दृष्टि से भारत की राज्यसभा ब्रिटिश लॉर्ड सभा से भी निर्बल है क्योंकि लॉर्ड सभा वित्त विधेयक पर एक माह तक विचार कर सकती है। राज्यसभा ने, देश के सांविधानिक इतिहास में पहली बार 1977–78 के वार्षिक बजट मे छः सशोधनों की सिफारिश की थी किन्तु लोकसभा ने राज्यसभा द्वारा प्रस्तावित सशोधन रद्द कर दिए। यदि राज्यसभा किसी वित्तीय विधेयक को 14 दिन के भीतर लोकसभा को नही लौटाती तो भी विधेयक उसी रूप मे दोनों सदनो द्वारा पारित समझ लिया जाता है जिस रूप में वह लोकसभा द्वारा पारित किया गया था। इसके अतिरिक्त, प्रदायों सम्बन्धी अधिकार केवल लोकसभा को सौंपे गए है, अनुदान सम्बन्धी मांगें राज्य-सभा मे नही जाती।

कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां—मन्त्रि-परिषद् केवल लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है, राज्यसभा के प्रति नही। राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकते है, उनकी आलोचना भी कर सकते है किन्तु उन्हे अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नही हटा सकते। यह अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है।

अन्य शक्तियां—राज्यसभा को कुछ और भी शक्तियां प्राप्त है जिनका प्रयोग वह लोकसभा के साथ मिलकर कर सकती है। ये शक्तियां और कार्य इस प्रकार है—

1. राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव मे भाग लेते है।

2. राज्यसभा के सदस्य लोकसभा के साथ उप-राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं।

3 राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा अन्य पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग तभी पारित समझा जाता है जब दोनों सदन इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें।

4. राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उप-राष्ट्रपति को हटा सकती है। उप-राष्ट्रपति को हटाने का प्रस्ताव राज्यसभा से पारित होकर ही लोकसभा में जाता है।

5. दो माह से अधिक की अवधि के लिए यदि आपातकाल लागू रखना हो तो ऐसे प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा और राज्यसभा दोनों से होना आवश्यक है। लोक सभा के विघटन की स्थिति में केवल राज्यसभा का अनुमोदन ही आवश्यक है।

विशेष अधिकार––राज्यसभा को दो ऐसे अन्य अधिकार प्राप्त है, जो *लोकसभा को प्राप्त नहीं है। इन अधिकारों का प्रयोग अकेले राज्य-सभा ही करती* है। ये दो शक्तियां इस प्रकार है––

(क) अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थिति तथा मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से राज्य-सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा ऐसा प्रस्ताव पारित किए जाने के बाद संसद् उस विषय पर कानून बना सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए लागू होता है, पर यदि राज्यसभा चाहे तो हर बार इसे एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है।

(ख) अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर नई अखिल भारतीय सेवाएँ स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है। जब तक राज्यसभा ऐसा प्रस्ताव पारित न करे तब तक *संसद् या भारत सरकार किसी नवीन अखिल भारतीय सेवा की व्यवस्था नहीं कर* सकती।

राज्यसभा की शक्तियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने राज्यसभा को न केवल द्वितीय सदन बल्कि द्वितीय महत्त्व का सदन बनाया है। शक्तियों की दृष्टि से इसकी स्थिति ब्रिटिश लॉर्ड सभा और अमेरिकी सीनेट के बीच में ही कहीं है। दूसरे शब्दों में, राज्यसभा न तो सीनेट के समान शक्तिशाली है और न ही लार्ड सभा जितनी प्रभावहीन। संविधान ने राज्यसभा को शासनयन्त्र का एक आवश्यक अंग बनाया है। यह एक छोटी और ठोस संस्था है जो स्थायी होने के कारण विचार और कार्यों में स्थिरता तथा निरन्तरता ला सकती है। इसमें अनुभव प्राप्त राजनीतिज्ञ होते हैं और इसका व्यापक प्रतिनिधित्व है।

लाभप्रद और प्रभावशाली संस्था है, यद्यपि इसकी शक्तियाँ लोकसभा से निश्चित रूप से कम है।

लोकसभा का गठन
(Organization of the Parliament)

लोकसभा को प्राय संसद् का निम्न सदन या लोकप्रिय सदन कहा जाता है। यह 'जनता की सभा' है। इसके सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। इसके सदस्यों की अधिकतम संख्या 545 हो सकती है। प्रारम्भ में कुल संख्या 500 निर्धारित की गई थी, राज्य-पुनर्गठन के बाद 1956 मे सातवें सशोधन द्वारा इसे बढाकर 520 कर दिया गया, 1962 मे चौदहवें सशोधन द्वारा यह संख्या पुनः बढाकर 525 कर दी गई। 1971 मे 27वें संशोधन द्वारा यह 544 की गई और 1974 में संविधान के 31वें सशोधन द्वारा इसे 545 कर दिया गया। 42वें संशोधन के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि लोकसभा और राज्य-विधान-सभाओं में सदस्यों की संख्या सन् 2001 तक वही रहेगी, जो 1971 की जनगणना के आधार पर निर्धारित की गई है। लोकसभा के 545 सदस्यों में से—(क) 525 से अधिक सदस्य राज्यों के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाएँगे, (ख) 20 संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे, एव (ग) ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय के सदस्य राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 331 के अन्तर्गत नामांकित किए जाएँगे। संविधान के 36वें सशोधन अधिनियम 1975 द्वारा सिक्किम को भारत का 22वाँ राज्य बना लिया गया और लोकसभा मे उसे प्रतिनिधित्व दिया गया। सिक्किम से एक सदस्य लोकसभा मे चुने जाने की व्यवस्था है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 82 मे व्यवस्था है कि प्रत्येक जनगणना के उपरान्त परिसीमन आयोग (Delimitation Commission) संसद् के अनुसार विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रो के प्रतिनिधित्व में आवश्यक परिवर्तन करेगा। निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन निर्वाचन आयोग की देखरेख तथा ससद् की अन्तिम स्वीकृति के अधीन किया जाता है। लोकसभा मे 20 जनवरी, 1976 मे किए गए निर्वाचन सीमा-निर्धारण के अनुसार प्रत्येक राज्य तथा संघ राज्य क्षेत्रों के लिए सीटों का आवटन किया गया और जब मार्च, 1977 मे आम चुनाव हुए तो लोकसभा में कुल निर्वाचित स्थान 542 और ऐंग्लो-इण्डियन के लिए राष्ट्रपति द्वारा नामित 2 स्थान थे। 22 अगस्त 1979 को राष्ट्रपति ने जब लोकसभा भंग करके मध्यावधि चुनावों कराए जाने की घोषणा की तो सीटों का आवटन वही था जो मार्च, 1977 के चुनाव में था। विघटित लोकसभा में सीटों का आवटन अग्रिम सारणी से स्पष्ट होगा।

राज्य	कुल सदस्य संख्या	अनुसूचित जातियाँ	अनुसूचित जनजातियाँ
उत्तर प्रदेश	85	18	—
बिहार	54	8	5
महाराष्ट्र	48	3	3
आन्ध्र प्रदेश	42	6	2

राज्य	कुल सदस्य संख्या	अनुसूचित जातियाँ	अनुसूचित जनजातियाँ
मध्य प्रदेश	40	5	8
तमिलनाडु	39	7	—
कर्नाटक	28	4	—
गुजरात	26	2	4
राजस्थान	25	4	2
उड़ीसा	21	3	5
केरल	20	2	—
असम	14	1	2
हरियाणा	10	2	—
जम्मू कश्मीर	6	—	—
हिमाचल प्रदेश	4	1	—
त्रिपुरा	2	—	1
मणिपुर	2	—	1
पंजाब	13	3	—
पं. बंगाल	42	8	3
मेघालय	2	—	2
नागालैण्ड	1	—	—
सिक्किम	1	—	—
केन्द्र शासित क्षेत्र			
दिल्ली	7	1	—
गोआ, दमन व दीव	2	—	—
पाण्डिचेरी	1	—	—
अरुणाचल प्रदेश	2	—	—
मिज़ोरम	1	1	—
चण्डीगढ़	1	—	—
दादर तथा नागर हवेली	1	—	1
अण्डमान	1	—	—
लक्षद्वीप	1	—	1
ऐंग्लो इण्डियन (राष्ट्रपति द्वारा नामित)	2	—	—
योग	544	78	41

मूल संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए 10 वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखे गए थे, किन्तु संविधान के 23वें संशोधन द्वारा 1980 तक बढ़ाई गई अवधि 25 जनवरी, 1980 को समाप्त हो गई थी जिसे सातवीं लोकसभा की प्रथम बैठक में 25 जनवरी, 1980 को एक विधेयक द्वारा इस अवधि को 1990 तक बढ़ा दिया गया है।

जो सदस्य संघीय राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेंगे उनका निर्वाचन पारित विधि के अनुसार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्वाचनों द्वारा किए जाने की व्यवस्था है।

निर्वाचन निष्पक्ष हो, यह निश्चित करने के लिए एक स्वतन्त्र निर्वाचन आयोग नियुक्त है। यह आयोग मतदाता सूचियाँ तैयार करने तथा निर्वाचनों की व्यवस्था करने के लिए उत्तरदायी होता है। इसीलिए मुख्य निर्वाचन आयुक्त को स्वतन्त्र अधिकार दिए गए है और उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। संविधान मे गुप्त मतदान (Secet Ballot) का आयोजन है।

कार्यकाल—सामान्यतः लोकसभा का कार्यकाल उसकी पहली बैठक से पाँच वर्षों का होता है, बशर्ते कि इसे इसके पूर्व ही भग न कर दिया जाए। सकटकाल में एक समय मे इसका कार्यकाल अधिक से अधिक एक वर्ष और बढाया जा सकता है। किन्तु सकट की स्थिति समाप्त होने के पश्चात् इसका कार्यकाल 6 महीने से अधिक नही बढाया जा सकता। उल्लेखनीय है कि 42वें संविधान सशोधन अधिनियम 1976 द्वारा लोकसभा का कार्यकाल बढाकर 6 वर्ष कर दिया गया था, किन्तु जनता सरकार ने 44वे सशोधन अधिनियम 1978 द्वारा इसे घटाकर पुन 5 वर्ष कर दिया है।

योग्यताएँ, वेतन आदि—लोकसभा की सदस्यता के लिए, संविधान के अनुसार, निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक है—

1 वह भारत का नागरिक हो।

2 उसकी आयु 25 वर्ष से कम न हो।

3. भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण न किए हो।

4. वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया गया हो और पागल न हो। वह दिवालिया न हो।

5. इन योग्यताओं के अतिरिक्त अन्य योग्यताएँ निर्धारित करने का अधिकार सविधान मे ससद् को दिया गया है। ससद् ने 1951 में 'जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम' पारित कर ससद्-सदस्यो के लिए कुछ और योग्यताएँ निर्धारित की है, जो इस प्रकार है—

(1) अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित सुरक्षित स्थानो के लिए आवश्यक है कि उम्मीदवार अनुसूचित जाति का सदस्य हो। अनुसूचित जन-जाति से सम्बन्धित सुरक्षित स्थान के लिए भी आवश्यक है कि उम्मीदवार जन-जाति का सदस्य हो।

(2) उम्मीदवार होने के लिए भारत मे किसी भी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है अर्थात् किसी निर्वाचन क्षेत्र से उसका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए।

(3) जो व्यक्ति निर्वाचन सम्बन्धी अपराध के लिए दोषी पाया जाए उसे निर्वाचन आयोग एक निश्चित समय या जीवन भर के लिए संसद का चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य घोषित कर सकती है।

(4) उम्मीदवार ने किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक सजा न पाई हो और उसे जेल से छूटे 5 वर्ष से अधिक हो गए हों।

(5) उम्मीदवार को सरकार से सम्बन्धित किसी ठेके मे हिस्सेदार नही होना चाहिए और न सरकार से सम्बन्धित किसी कारखाने में उसका हित होना चाहिए।

(6) उसे बेईमानी या राजद्रोह के कारण सरकारी नौकरी से न निकाला गया हो। इस प्रकार के अपराध के पांच वर्ष बाद ही वह संसद् की सदस्यता का अधिकारी हो सकता है।

संसद् सदस्यो को वेतन और भत्ता संसदीय नियमो के अनुसार प्राप्त होने का प्रावधान है। एक अधिनियम के अनुसार वर्तमान में संसद्-सदस्यो को 500 रु. मासिक वेतन और अधिवेशन के दिनों मे 61 रु प्रतिदिन भत्ता मिलता है। उन्हे रेल की प्रथम श्रेणी मे निःशुल्क यात्रा का अधिकार और कुछ अन्य सुविधाएँ प्राप्त है। 1976 के एक अधिनियम के अनुसार भूतपूर्व संसद् सदस्यो के लिए पेन्शन की व्यवस्था की गई है जो उनकी संसद् की सदस्यता के कार्यकाल के आधार पर 300 रु. और 500 रु. के बीच होगी।

एक साथ दोनों सदनो की सदस्यता वर्जित—कोई भी व्यक्ति संसद् के दोनों सदनों का एक साथ सदस्य नही रह सकता। यदि कोई व्यक्ति संसद् के दोनो सदस्यो का सदस्य निर्वाचित हो जाता है तो संसद् कानून द्वारा यह व्यवस्था करती है कि उसका किस सदन का स्थान रिक्त माना जाए। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति संसद् और किसी राज्य विधान-मण्डल दोनो का एक साथ सदस्य नही हो सकता।

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 मे व्यवस्था है कि यदि कोई व्यक्ति संसद् के दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो उसे चुनाव-घोषणा के दिन से 10 दिन के अन्दर यह सूचित करना पड़ता है कि वह किस सदन की सदस्यता चाहता है। ऐसी सूचना के न देने पर 10 दिन के बाद राज्यसभा में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा। यदि कोई लोकसभा का सदस्य राज्यसभा के लिए चुन लिया जाता है तो लोकसभा मे उसका स्थान रिक्त हो जाएगा। इसी प्रकार यदि कोई राज्यसभा का सदस्य लोकसभा के लिए चुन लिया जाता है तो राज्यसभा में उसका रिक्त स्थान हो जाएगा। प्रोहिबिशन ऑफ साइमल्टेनियस मेम्बरशिप रूल्स, 1950 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति संसद् तथा किसी राज्य के विधान-मण्डल दोनों के लिए चुन लिया जाता है तो 14 दिन के पश्चात् संसद् मे उसका स्थान रिक्त हो जाता है, यदि उसने राज्यविधान-मण्डल मे अपने स्थान को पहले ही त्याग न दिया हो। यदि कोई व्यक्ति दो या दो से अधिक राज्यों के विधान-मण्डलों का सदस्य चुन लिया हो जाता है, तो 10 दिन के उपरान्त ऐसे सभी विधान-मण्डलों मे उसका स्थान रिक्त हो जाता है यदि उसने एक को छोड़कर सभी में अपने स्थान को पहले ही त्याग न दिया हो। यदि कोई व्यक्ति एक सदन मे एक से अधिक स्थानो के लिए चुन लिया जाता है तो उसे एक स्थान को चुनना होता है, अन्यथा उसके सभी स्थान रिक्त हो जाएँगे।

संसद् सदस्यों के विशेषाधिकार—संसद् के नियमों और आदेशों का पालन करते हुए सदस्यो को संसद् में भाषण की स्वतन्त्रता प्राप्त है । संसद् के सदस्यो पर सदन में अथवा इसकी किसी समिति में उनके द्वारा किए गए किसी भाषण अथवा मत के सम्बन्ध मे न्यायालय में कोई कार्यवाही नही की जा सकती । यह संरक्षण सदन के नियन्त्रण मे प्रकाशित सदन की कार्यवाहियों के लिए भी लागू होता है । संसद् का अधिवेशन शुरू होने के 40 दिन पूर्व और पश्चात् कोई सदस्य बन्दी नहीं बनाया जा सकता, किन्तु फौजदारी अपराधो के लिए उसे बन्दी बनाया जा सकता है । सदस्य की गिरफ्तारी की सूचना तुरन्त ही अध्यक्ष को दी जानी अनिवार्य है । किसी भी सदस्य को सदन के क्षेत्र में बिना अध्यक्ष की आज्ञा के गिरफ्तार नही किया जा सकता । संसद् विधि बनाकर अपने सदस्यो को अन्य और अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान कर सकती है ।

लोकसभा के पदाधिकारी—लोकसभा स्वय ही अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है । यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष लोकसभा के सदस्य न रहे तो उन्हे अपना पद छोडना पडेगा ।

संसद् के प्रत्येक सदन को अपना साचिविक कर्मचारीवृन्द (Secretarial Staff) रखने का अधिकार है । लोकसभा के सचिवालय का प्रमुख एक सचिव (Secretary) होता है । वह स्थाई पदाधिकारी होता है और अध्यक्ष की ओर से सदन के कार्य से सम्बन्धित प्रशासनिक तथा कार्यपालक (Executive) कर्त्तव्यो का पालन करता है । कई बातो मे वह सदन के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा साधारण सदस्यों का परामर्शदाता है ।

सरकार की संसदीय प्रणाली में संसद् मे प्रत्येक दल का अपना संगठन होता है । उसके कई अधिकारी होते है जिन्हें सचेतक (Whips) कहा जाता है । ये दल के सदस्यो मे से ही चुने जाते हैं । सच तो यह है कि संसदीय लोकतन्त्र का सुचारु-रूपेण और बिना किसी बाधा के कार्य चलना बहुत हद तक सत्तारूढ दल अथवा विरोधी दलो के सचेतको पर निर्भर करता है ।[1]

लोकसभा मे सरकारी दल का मुख्य सचेतक संसद्-कार्य मन्त्री है । मुख्य सचेतक को 1949 मे मन्त्री का दर्जा दिया गया था । 1962 तक उसका दर्जा राज्य मन्त्री का रहा । 1962 मे उसे मन्त्रि-मण्डल का दर्जा दिया गया । लोकसभा मे फरवरी, 1967 में संसद्-कार्य मन्त्री के सदन का नेता नियुक्त हो जाने के फलस्वरूप नए सरकारी मुख्य सचेतक को राज्य मन्त्री का दर्जा दिया गया किन्तु मार्च, 1967 में जब प्रधान मन्त्री सदन की नेता बनी तो मुख्य सचेतक को फिर मन्त्रिमण्डल के सदस्य का दर्जा दे दिया गया ।[2]

1 कौल एवं शकधर : वही, पृष्ठ 128-29.
2 वही, पृष्ठ 130 (पाद टिप्पणी)

लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियाँ और कार्य
(Powers and Functions of the Speaker)

लोकसभा का अध्यक्ष-पद, जिसे 1947 से पहले सभापति कहा जाता था, 1921 से चला आ रहा है जब मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत पहली बार केन्द्रीय विधान-सभा बनी थी। स्वतन्त्र भारत के संविधान में अनुच्छेद 92 में लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की व्यवस्था है।

अध्यक्ष लोकसभा का प्रमुख पदाधिकारी होता है। सभा में उसका प्राधिकार सर्वोच्च है। अध्यक्ष निष्पक्षता का प्रतीक है। उसे अपने प्राधिकार का प्रयोग निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह तटस्थता से करना चाहिए। अध्यक्ष को वोट देने का अधिकार तभी होगा जब किसी प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में बराबर-बराबर वोट आएँ। सभा का प्रमुख वक्ता होने के नाते यह उसकी सामूहिक आवाज है और बाहर की दुनिया के लिए सभा का एकमात्र प्रतिनिधि।

राष्ट्रपति से सभा के नाम जो सन्देश आते हैं वे अध्यक्ष के माध्यम से आते है। वह उसे सभा को पढ़कर सुनाता है और उन सन्देश में उल्लिखित विषयों के विचार के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के बारे में निर्देश देता है। राष्ट्रपति को जो सन्देश भेजे जाते हैं वे भी अध्यक्ष के माध्यम से भेजे जाते है। राज्य-सभा के साथ सम्बन्धों में भी अध्यक्ष ही लोकसभा का प्रतिनिधि है।

अध्यक्ष सभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है और इसके संचालन का नियन्त्रण करता है। सभा के सभी सदस्य उसकी बात ध्यान और सम्मान के साथ सुनते है। जब भी वह बोलने के लिए खड़ा होता है तो सदस्यों से आशा की जाती है कि वे सदन से उठकर नहीं जाएँगे। अध्यक्ष के निर्णय पर सिवाय मूल प्रस्ताव के आपत्ति नहीं की जा सकती। अध्यक्ष के निर्णय नजीरें है, जिन्हें भविष्य में मार्गदर्शन के लिए एकत्र कर लिया जाता है। अध्यक्ष ही यह निर्णय करता है कि कौनसे विषय 'धन' सम्बन्धी विषय है। यदि अध्यक्ष किसी विधेयक को 'धन विधेयक' प्रमाणित कर देता है तो उसका निर्णय अन्तिम होता है। कोई भी धन विधेयक जब राज्यसभा को भेजा जाता है तो उसके साथ अध्यक्ष का प्रमाण-पत्र होता है कि यह धन विधेयक है। राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजे जाने वाले धन विधेयक के साथ भी यही प्रमाण होता है।

दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष ही करता है। लोकसभा की बैठक यदि अध्यक्ष को उसके पद से हटाने के किसी संकल्प पर विचार कर रही हो तो वह उस बैठक की अध्यक्षता नहीं कर सकता। ऐसे विकल्प पर वह मत भी पहली बार ही दे सकता है, निर्णायक मत देने का उसे अधिकार नहीं रहता। सभा की बैठक स्थगित करने या गणपूर्ति न होने की सूरत में बैठक निलम्बित करने की शक्ति भी उसे प्राप्त है। वह किसी भी सदस्य को अपनी मातृ-भाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है। अध्यक्ष सभा के वाद-विवाद में भाग नहीं

लेता। वह सभा की बैठक के प्रारम्भ और समाप्त होने का समय नियत करता है और यह भी निर्णय करता है कि सभा की बैठक किस-किस दिन होगी।

सदन के नेता से परामर्श करके वह सरकारी कार्य का क्रम निर्धारित करता है और समुचित आधार होने पर वह उसे बदल भी सकता है। लोकसभा में दल और समूहों को मान्यता देने की भी शक्ति उसे प्राप्त है। सभा के वाद-विवाद और कार्यवाही का विनियमन वही करता है। सभा में व्यवस्था बनाए रखना उसकी जिम्मेदारी है। वही निर्णय करता है कि कब किस सदस्य को बोलने का अवसर दिया जाए और उसे कितनी देर बोलने दिया जाए। वह सभा के विचार के लिए प्रश्न प्रस्तावित करता है तथा उन प्रस्तावों को सभा के निर्णय के लिए उसके सामने रखता है। सदस्य जो व्यवस्था-प्रश्न उठाते है उन पर वह अपना निर्णय देता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है। अध्यक्ष को मन्त्रियों से पूछे जाने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त हैं। प्रश्नो का निर्वाचन करने की शक्ति उसके हाथ में है। प्रश्नोत्तर काल को भी वह चाहे तो बदल सकता है। वह फैसला कर सकता है कि किसी प्रश्न का मौखिक के स्थान पर लिखित उत्तर अधिक उपयुक्त होगा। वह संकल्पो तथा प्रस्तावो की ग्राह्यता का भी निर्णय करता है कि मन्त्रि-परिषद् पर अविश्वास का प्रस्ताव नियमानुकूल है या नही, कटौती प्रस्ताव नियमों के अन्तर्गत ग्राह्य है अथवा नही है। उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह विधेयकों और संकल्पों के सम्बन्ध में किसी भी ऐसे संशोधन को सभा के सामने रखने से इन्कार कर दे जो उसके विचार में तुच्छ हो। अध्यक्ष की सहमति से ही कोई मन्त्री अपने त्याग-पत्र के स्पष्टीकरण के लिए कोई व्यक्तिगत वक्तव्य दे सकता है।

सदन के नेता के परामर्श से वह बजट, विनियोग विधेयक और वित्त विधेयक पर सभा द्वारा विचार के लिए दिन और समय नियत करता है। अध्यक्ष यह फैसला करता है कि सभा के विशेषाधिकार भंग या उसके अवसान सम्बन्धी किसी विषय में प्रत्यक्षतः कोई सार है या कि नही। सभी संसदीय समितियो पर अध्यक्ष का सर्वोच्च नियन्त्रण है, चाहे वे उसने बनाई हों या कि सभा ने। वह उनके सभापतियों की नियुक्ति करता है और उनके काम के संगठन या उन द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऐसे निर्देश दे सकता है जो वह आवश्यक समझे। वह उनके साथ समय-समय पर परामर्श करता है और उनका मार्गदर्शन करता है। कोई समिति पहले से अध्यक्ष से अनुमति लिए बिना संसद् भवन से बाहर अपनी बैठक नही कर सकती और न उसकी पहले से मंजूरी लिए बिना राज्य-सरकारो के अधिकारियो को साक्ष्य देने के लिए बुला सकती है।

जहाँ तक सभा में या उससे सम्बन्धित मामलो का प्रश्न है, उनके बारे में संविधान तथा नियमो का निर्वाचन करने का अधिकार अध्यक्ष का है। अध्यक्ष अपने निर्णय के कारण बताने के लिए बाध्य नही होता। सदस्य सभा में या उसके बाहर, अध्यक्ष द्वारा दिए गए विनिर्णय व्यक्त किए गए विचार या दिए गए वक्तव्य

का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना नही कर सकते। अध्यक्ष द्वारा कही गई बातों की व्याख्या व्यक्तिगत पत्रो मे नही की जा सकती।

सभा मे व्यवस्था बनाए रखना अध्यक्ष का मूल कर्तव्य है। अनुशासन सम्बन्धी मामलो मे उसके निर्णयो को सिवाय मुख्य प्रस्ताव के माध्यम से और किसी प्रकार चुनौती नही दी जा सकती। अध्यक्ष किसी सदस्य के भाषण की असगत बातो को रोक सकता है, सदस्य को अपने कोई असूचित शब्द वापिस लेने या उसके लिए खेद प्रकट करने को कह सकता है, वाद-विवाद मे प्रयुक्त अपमानजनक या अश्लील शब्दो को कार्यवाही के वृत्तान्त से निकाल सकता है।

अध्यक्ष के माध्यम से ही ससद् और राष्ट्रपति के बीच सारा पत्र-व्यवहार होता है। राष्ट्रपति के उद्घाटन-भाषण के उत्तर मे दिए जाने वाले भाषणो के समय की अवधि वही निश्चित करता है।

अध्यक्ष भारत की विधायिनी सस्थाओ की अध्यक्षता करने वाले अधिकारियों के सम्मेलन का सभापति भी है। अध्यक्ष सभा में निधन सम्बन्धी निर्देश भी करता है, सभा की अवधि समाप्त होने पर विदाई भाषण देता है और साथ ही महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध मे औपचारिक अवसरो पर भाषण भी देता है। नियमो के अन्तर्गत अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है कि जब कोई विधेयक पास हो जाए तो वह उसमे प्रत्यक्ष गलतियो को शुद्ध कर सकता है और अन्य ऐसे परिवर्तन कर सकता है जो सभा द्वारा स्वीकृत सशोधनो के अनुसगित हो। ससद् द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजने से पहले उस पर हस्ताक्षर करके वह उसे प्रमाणित करता है।

अध्यक्ष सचिवालय का प्रमुख है जो कि उसके नियन्त्रण तथा निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करता है। सभा के साचविक कर्मचारियों, उसके परिसर तथा सुरक्षा के प्रबन्ध के सम्बन्ध में अध्यक्ष का अधिकार सम्पूर्ण है। सभी अजनवी, आगन्तुक तथा समाचार-पत्रों के सवाददाता उसके अनुशासन तथा आदेशो के अधीन है। यदि कोई व्यवस्था भग करे तो उसका दण्ड यह दिया जा सकता है कि उसे सभा के परिसर से निकाल दिया जाए, गैलरियो के लिए निश्चित या अनिश्चित काल तक के लिए प्रवेश पत्र बन्द कर दिए जाएँ या अधिक गम्भीर मामला हो तो उसे अवमान या विशेषाधिकार मान कर निपटाया जा सकता है। सदस्यो के अधिकारों की रक्षा करना अध्यक्ष की जिम्मेदारी है।

इस प्रकार लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियाँ बहुत विस्तृत हैं। यह वास्तव मे सदन की शक्ति, प्रतिष्ठा और गौरव का प्रतीक है। माया दुबे ने अपने एक विशिष्ट अध्ययन मे लिखा है, "यद्यपि भारतीय स्पीकर का पद ब्रिटिश स्पीकर के नमूने पर आधारित है, तथापि उसकी शक्तियाँ ब्रिटिश स्पीकर की तुलना में कहीं अधिक हैं।[1]

1 *Maya Dube : The Speaker in India, p. 84.*

लोकसभा के अध्यक्ष की निष्पक्षता की व्यवस्था

संविधान के अनुसार स्पीकर की निष्पक्षता की रक्षा इन व्यवस्थाओं द्वारा की गई है—

(1) स्पीकर का वेतन और भत्ते संघ की संचित निधि पर भारित है। अनु० 112(3)

(2) स्पीकर को केवल समान मत आने की स्थिति मे ही निर्णायक मत देने का अधिकार है। अनु० 100(1)

(3) स्पीकर को पद से ऐसे प्रस्ताव के आधार पर ही हटाया जा सकता है जो सदन के विशेष बहुमत से पारित किया गया हो। अनु० 94

स्पीकर की निष्पक्षता अभिसमयो और परिपाटियों द्वारा भी निश्चित है। संसदीय व्यवस्था मे यह परम्परा है कि व्यक्ति स्पीकर बनने पर अपने दल से त्याग-पत्र दे दे और दलीय राजनीति से कोई सम्बन्ध न रखे। भारत मे इस परम्परा को सामान्यतः अपनाया नही गया है। यही कारण है कि कभी तो स्पीकर को सभी पक्षों का विश्वास मिलता है और कभी कुछ पक्ष उसके आचरण को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वास्तव मे भारतीय स्पीकर की स्थिति अमेरिका और इंग्लैण्ड के अध्यक्षों के बीच की है। यह उचित होगा कि भारत मे स्पीकर चुनाव के बाद अपने दल से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर लें। भारत मे यह अवश्य है कि स्पीकर सक्रिय राजनीति मे भाग नही लेता और सदन मे अपने दल के साथ पक्षपात नही करता। लगभग सभी भारतीय स्पीकरो ने अपने पद के गौरव को निभाया है। चौथे आम चुनाव के बाद लोकसभा के निर्वाचित अध्यक्ष नीलम संजीव रेड्डी ने अपने राजनीतिक दल राष्ट्रीय कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर स्वस्थ परम्परा स्थापित करने का प्रयास किया था किन्तु बाद के स्पीकरो ने इस परम्परा का पालन नहीं किया।

संसद् का सत्रावसान और विघटन
(Sessions of Parliament, Prorogation and Dissolution)

संसद् के सत्र

राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के परामर्श पर संसद् का अधिवेशन बुलाता है। एक वर्ष मे कम-से-कम दो बार संसद् का अधिवेशन बुलाना आवश्यक है। संविधान की व्यवस्था है कि सदन के एक सत्र की अन्तिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छः मास का अन्तर नहीं होना चाहिए। संसद के अधिवेशन और उसकी कार्यवाहियो की विधि-मान्यताओं को इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकती कि उसके कुछ सदस्यो को जेल में बन्द होने के कारण उसकी कार्यवाही मे भाग लेने से वंचित कर दिया गया।

संविधान के अनुच्छेद 100(1) के अनुसार किसी सदन की किसी बैठक मे सब प्रश्नो का निर्धारण अध्यक्ष को छोड़कर उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा। लोकसभा के प्रत्येक आम चुनाव के बाद

प्रथम सत्र के प्रारम्भ पर और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरम्भ में एक साथ आहूत दोनों सदनों को राष्ट्रपति सम्बोधित करते हैं।

संसद् का सत्रावसान

राष्ट्रपति समय-समय पर संसद् का सत्रावसान करता है। सत्रावसान का अर्थ है संसद् के किसी विशेष सत्र को समाप्त करना। स्थगन (Adjournment) सदन की केवल बैठक को समाप्त करना है। एक सत्र में कई बैठकें होती हैं। सत्रों के स्थगन का सदन में विचाराधीन मामलों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सदन ऐसे मामलों पर दूसरी बैठक में विचार कर सकता है। विघटन सदन की कालावधि को ही समाप्त कर देता है। जिसके बाद नई लोकसभा की स्थापना के लिए निर्वाचन होना आवश्यक है। राज्यसभा का विघटन नहीं होता। सत्रावसान और विघटन में अन्तर यह है कि जहाँ सत्रावसान सदन के किसी विशेष सत्र को समाप्त करता है वहाँ विघटन उस सदन को ही समाप्त कर देता है।

संसद् का विघटन

राष्ट्रपति को लोकसभा का विघटन करने का अधिकार है राज्यसभा को नहीं, क्योंकि वह एक स्थाई सदन होता है। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की सलाह पर लोकसभा का विघटन करता है। जब तक मन्त्रिमण्डल को लोकसभा का विश्वास प्राप्त है, राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के परामर्श पर लोकसभा को भंग करने के लिए बाध्य है। यदि किसी नीति सम्बन्धी प्रश्न पर सरकार लोकसभा में हार जाती है तो राष्ट्रपति को उसे विघटन करने के लिए सलाह देनी चाहिए अथवा इस्तीफा देना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि क्या राष्ट्रपति उस प्रधान मन्त्री की सलाह पर जिसे लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है, सदन को विघटित करने के लिए बाध्य है? एक मत यह है कि वह प्रत्येक अवस्था में प्रधान मन्त्री की सलाह मानने के लिए बाध्य है। दूसरा मत यह है कि यदि राष्ट्रपति स्थाई वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बना सकता है तो ऐसे प्रधान मन्त्री की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है। प्रथम मत इंग्लैण्ड की रूढ़ि पर आधारित है और केन्द्र में राष्ट्रपति ने अभी तक ब्रिटिश परम्परा का ही अनुकरण किया है। 22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने कामचलाऊ प्रधानमन्त्री श्री चरणसिंह (जिन्होंने लोकसभा का विश्वास प्राप्त नहीं किया) की सलाह मानकर लोकसभा को भंग करने की घोषणा की, लेकिन इसकी पर्याप्त सम्भावना थी कि यदि राष्ट्रपति को स्थाई वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बना सकने का विश्वास होता तो वे निवर्तमान प्रधान मन्त्री चरणसिंह की सलाह को नहीं मानते। श्री रेड्डी ने राष्ट्रीय सरकार के विचार को मूर्त रूप देने में विफल होने पर अथवा यह विश्वास हो जाने पर ही स्थाई वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं किया जा सकता, विभिन्न पार्टियों के नेताओं से बातचीत के बाद अपना कदम उठाया। जहाँ तक भारत के राज्यों का प्रश्न है, ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ कि राज्यपालों ने विधान-मण्डल में हारे हुए मन्त्रिमण्डल की सलाह मानने

से इन्कार कर दिया है। बहुमान्य मत यही है कि यदि मन्त्रिमण्डल को सभा में बहुमत प्राप्त नही है या वह सभा मे हार गया है तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की सलाह मानने के लिए वाध्य नही है और यदि कोई स्थाई वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल वना सकता है तो लोकसभा को विघटित करने से इन्कार कर सकता है। लोकसभा यदि उक्त कारणो से विघटित नही कर दी जाती है तो पाँच वर्षों तक चलेगी किन्तु आपात्काल की स्थिति मे इसकी अवधि को एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है। आपात् की समाप्ति पर छः महीने के अन्दर नई लोकसभा के लिए *निर्वाचन कराना आवश्यक है।*

लोकसभा सचिवालय
(Lok-Sabha Secretariat)

लोकसभा का अपना एक सचिवालय होता है जिसके प्रधान को सचिव कहा जाता है। ससद् कानून द्वारा सचिवालय के कर्मचारियो की नियुक्ति, वेतन, भत्ते, सेवा-शर्तों आदि का निर्धारण करती है। सचिवालय के कार्यकलापों की प्रकृति अन्य सचिवालयों के कार्यों की प्रकृति जैसी ही होती है। लोकसभा सचिवालय का मुख्य कार्य सदन की कार्यवाही की सही रिपोर्ट रखना और उसे यथाशीघ्र प्रकाशित करना है। जो सदस्य जिस भाषा मे भाषण देता है उसकी रिपोर्ट उसी भाषा मे तैयार की जाती है, और साथ ही उसके भाषण का हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया जाता है। सचिवालय सदन के लिए 'एजेंडा' तैयार करता है, सदस्यो को सभी प्रकार से सहायता और उनका मार्ग-दर्शन करता है। सदन का अधिवेशन प्रारम्भ होने की तिथि के सम्बन्ध मे वह सभी सदस्यो को सूचित करता है। सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के लिए जो प्रत्याशी होते हैं उनके नामांकन-पत्र प्राप्त करता है। सचिवालय सदन की बैठक के लिए एजेंडा तैयार करके सभी सदस्यो को जानकारी के लिए भेजता है। सदस्य द्वारा पेश किए जाने वाले विधेयकों, प्रस्तावों, सशोधनों, अविश्वास प्रस्तावो, काम-रोको प्रस्तावो, विशेषाधिकार सम्बन्धी प्रस्तावो आदि को सचिवालय लिखित रूप मे प्राप्त करता है। सचिवालय का एक मुख्य कार्य है—अध्यक्ष की अनुपस्थिति मे विधेयको को प्रमाणित करना। सदन द्वारा नियुक्त समितियों की कार्यवाही की रिपोर्ट तैयार करके उसे प्रकाशित करना सचिवालय का ही कार्य है। सदस्यो की सिफारिश पर सचिवालय दर्शकों की उपस्थिति की व्यवस्था करता है।

लोकसभा की शक्तियाँ और कार्य
(Powers and Functions of the Lok-Sabha)

लोकसभा संसद् का लोकप्रिय सदन है क्योकि इसके सदस्यो को जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर चुना जाता है। ससदीय व्यवस्था का यह एक मान्य सिद्धान्त है कि विधि-निर्माण और प्रशासन पर नियन्त्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त होती है। भारतीय सविधान में भी लोकसभा को राज्यसभा की तुलना मे उच्च स्थिति प्रदान की गई है और अनेक दृष्टियों से वह राज्यसभा की

तुलना में अधिक शक्तिशाली है। लोकसभा की शक्तियों तथा उसके कार्यो का *अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है—*

(1) **विधायी शक्तियाँ**—ससद् का मुख्य कार्य विधि-निर्माण है। भारतीय ससद् संघीय सूची, समवर्ती सूची, अवशिष्ट विषयो और कुछ विशेष परिस्थितियो में राज्य सूची के विषयो पर कानून बना सकती है। गैर-वित्तीय विधेयक ससद् के किसी भी सदन मे प्रस्तावित हो सकते है, परन्तु कोई भी विधेयक अधिनियम तभी बन सकता है जब वह संसद् के दोनो सदनों द्वारा पारित हो गया हो और उस पर राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति दे दी हो। यदि किसी विधेयक को किसी एक सदन द्वारा सशोधित कर दिया जाता है तो उस सशोधन पर दोनो सदनो की स्वीकृति आवश्यक है। यदि किसी विधेयक के किसी एक सदन मे भेजे जाने के 6 माह तक उक्त सदन विधेयक को पास करके नही लौटाता तो ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति दोनो सदनो की सयुक्त बैठक आमन्त्रित करता है। यदि इस बैठक मे उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत से विधेयक पारित हो जाता है तो वह विधेयक संसद् के दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाता है। व्यवहार मे यहाँ लोकसभा का पलड़ा भारी रहता है क्योंकि उसकी सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगुनी से भी अधिक है।

ससद् की विधायी शक्तियो पर अनेक सांविधानिक मर्यादाएँ है, जैसे—(i) वह राज्य सूची के विषयों पर सामान्यत कानून नही बना सकती, (ii) वह सशोधन नही कर सकती, (iii) सविधान के प्रतिकूल ससदीय विधियो को न्यायालय असांविधानिक घोषित कर सकते है, (iv) राष्ट्रपति प्रथम बार किसी विधेयक पर अनुमति न देकर उसे पुनर्विचार के लिए ससद् को लौटा सकता है और उस तरह विधेयक को प्रभावित कर सकता है।

(2) **वित्तीय शक्तियाँ**—सविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र मे वास्तविक शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गई है, राज्यसभा की स्थिति बहुत गौण है। वित्त विधेयक लोकसभा मे ही प्रस्तावित किए जा सकते है, राज्यसभा मे नही। ऐसे विवाद उठने पर कि कोई विधेयक वित्तीय है अथवा नही? लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय ही अन्तिम माना जाता है। वित्तीय विधेयक पर राज्यसभा की स्वीकृति का विशेष महत्त्व नही रहता, क्योकि जब लोकसभा द्वारा पारित होकर वित्तीय विधेयक राज्यसभा मे भेजा जाता है तो राज्यसभा को विधेयक की प्राप्ति की तारीख से 14 दिनो के भीतर विधेयक को ज्यो का त्यों या सशोधन सहित लौटा देना होता है और लोकसभा को अधिकार है कि वह राज्यसभा की सिफारिश को स्वीकार करे या न करे। यदि राज्य-सभा की सिफारिशों में से किसी को भी लोकसभा स्वीकार नही करती तो वित्तीय विधेयक उस रूप मे दोनो सदनों द्वारा पारित समझा जाता है जिस रूप मे वह लोकसभा द्वारा पारित किया गया था। यदि राज्यसभा वित्तीय विधेयक को 14 दिन के अन्दर लोकसभा को न
तो भी विधेयक उस रूप मे दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता

वह लोकसभा द्वारा पारित किया गया था। स्पष्ट है कि राज्यसभा किसी वित्तीय विधेयक को अधिक से अधिक 14 दिनों के लिए विलम्बित कर सकती है।

वित्तीय शक्तियों के सम्बन्ध में भी संसद् कतिपय मर्यादाओं से प्रभावित है, जैसे—(अ) व्यय की कुछ मदों पर संसद् में मतदान नहीं हो सकता, (ब) वित्त सम्बन्धी कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश पर केवल मन्त्रि-परिषद् की ओर से ही प्रस्तावित हो सकता है, (स) बहुमत के बल पर व्यवहार में वित्त की थैली पर मन्त्रि-परिषद् का ही नियन्त्रण रहता है, संसद् का अधिकार नाम-मात्र का रह जाता है।

(3) निर्वाचन शक्तियाँ—संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्य विधान-मण्डलों के निर्वाचित सदस्य मिलकर राष्ट्रपति के निर्वाचक-मण्डल की रचना करते हैं। इस सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा की शक्तियाँ समान हैं। इसी प्रकार संयुक्त अधिवेशन में समवेत संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाता है।

(4) प्रशासकीय शक्तियाँ—मन्त्रि-परिषद् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है, अत: राज्यसभा का देश की कार्यपालिका पर कोई नियन्त्रण नहीं है। मन्त्रि-परिषद् *उत्तरदायित्व का अभिप्राय यह है कि वह लोकसभा की विश्वासपात्र बने रहने तक* ही सत्तारूढ़ रहेगी। अत: लोकसभा का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह शासन के विभिन्न क्रियाकलापों पर इस प्रकार दृष्टि रखे कि *कार्यपालिका एवं लोक-प्रतिनिधियों* के मध्य नीति सम्बन्धी मौलिक विभेद स्पष्ट रूप से प्रकट होते रहें, और लोकसभा कार्यपालिका की गलतियों पर नियन्त्रण रखे। लोकसभा के पास नियन्त्रण के बहुरूपी उपाय हैं, जैसे शासन के विभिन्न कार्यों के बारे में सूचना मांगना, शासन कार्यों की आलोचना करना, मन्त्रियों से प्रश्न पूछना, सार्वजनिक महत्त्व की जानकारी के विषय में आंकड़े मांगना, संसदीय समितियों के माध्यम से कार्यपालिका से विभिन्न सूचनाएँ प्राप्त करना, आदि। यद्यपि राज्यसभा भी कार्यपालिका से प्रश्नों के उत्तर मांगती है, कार्यपालिका की आलोचना करती है और लोकसभा के समान ही स्थगन प्रस्ताव का भी अधिकार रखती है तथा लोकसभा के समान ही ऐसा प्रस्ताव पास कर सकती है कि जिसमें आग्रह किया हो कि शासन को एक विशेष प्रकार की नीति पर चलना चाहिए तथापि व्यवहार में लोकसभा के नियन्त्रण के समक्ष यह नियन्त्रण फीका होता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि कार्यपालिका तभी पदच्युत हो सकती है जब लोकसभा का विश्वास खो दे। यह सम्भव है कि प्र[illegible]न मन्त्री एक अवांछनीय लोकसभा को राष्ट्रपति से प्रार्थ[illegible] सम[illegible] इस प्रकार एक नई लोकसभा का चुनाव करवाए [illegible] से सदैव बचने का प्रयत्न किया जाता है। अभी [illegible] है।

(5) संविधायी शक्ति[illegible] [illegible]गविध[illegible] में संशोधन हो सकता है। संशो[illegible] [illegible]ना[illegible] किया जा सकता है[illegible]

सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित एव मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 (दो तिहाई) मतदान से यह सशोधन विधेयक पारित हो। सविधान मे कुछ ऐसे भी विषय रखे गए है जिनके सशोधन के बारे मे राज्य विधान-मण्डलो की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नही है और जिन पर अकेले मसद् ही सशोधन कर सकती है।

संविधान (चौबीसवें संशोधन) अधिनियम, 1971 तथा केशवानन्द भारती वाले मुकदमे मे उच्चतम न्यायालय के निर्णय के बाद यह स्थिति निर्विवाद हो गई है कि संसद् को मूल अधिकारो सम्बन्धी भाग सहित संविधान के किसी भी भाग मे अनुच्छेद 368 के अनुसार कोई भी संशोधन करने का पूर्ण अधिकार है। ससद् के दोनों सदनों द्वारा पारित किसी सविधान संशोधन विधेयक को राष्ट्रपति भी अपनी स्वीकृति देने से मना नही कर सकता।

ससद् के इन व्यापक कार्यो और अधिकारो को सारभुत रूप मे प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि "ससद् का प्रधान कार्य देश के लिए कानून बनाना, सरकार की आवश्यकताओं के लिए धन उपलब्ध कराना और राज्य की सेवाओं के लिए आवश्यक धनराशि का विनियोग करना है। ससद् को संविधान मे निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त और लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक को उनके पदो से हटाने का भी अधिकार प्राप्त है। मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप मे लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रत्येक कानून के लिए संसद् के दोनो सदनो की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। प्रत्यायोजित विधान की भी संसद् पुनरीक्षा कर सकती है तथा उस पर नियन्त्रण रख सकती है। यद्यपि वित्त सम्बन्धी कानूनों की राष्ट्रपति द्वारा सिफारिश की जानी चाहिए परन्तु केवल लोकसभा को ही उन पर स्वीकृति प्रकट करने अथवा स्वीकृति देने से मना करने का अधिकार प्राप्त है। संविधान द्वारा अथवा स्वय अपने ही प्रक्रिया-नियमों द्वारा लगाई गई सीमाओं को छोड़कर सार्वजनिक समस्याओ पर विचार करने तथा सरकार के विभिन्न विभागों के कार्यो की समीक्षा करने का अधिकार असीमित है। संकट-कालीन स्थिति में संसद् को राज्यसूची मे दिए गए विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। उन कुछ मामलो को छोड़कर जिनमें सविधान के अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत कम से कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलों का अनुसमर्थन अपेक्षित है, सविधान मे संशोधन करने का अधिकार भी मुख्य रूप से ससद् को ही है।"

विधायी अथवा विधि-निर्माण प्रक्रिया
(Legislative Procedure)

प्रत्येक विधेयक के अनिवार्यत: तीन वाचन (Three Readings) होते है और उसे संसद् के प्रत्येक सदन में पाँच स्तर पार करने पड़ते हैं। तभी वह संसद् के किसी सदन के द्वारा पारित माना जा सकता है। ये पाँच स्तर अग्रानुसार हैं—

(1) प्रथम वाचन (First Reading)
(2) द्वितीय वाचन (Second Reading)
(3) समिति स्थिति (Committee Stage)
(4) प्रतिवेदन स्थिति (Report Stage)
(5) तृतीय वाचन (Third Reading)

ससद् की विधायी प्रक्रिया को हम दो भागों मे बाँट सकते हैं—

(क) साधारण या गैर-वित्त विधेयकों (Ordinary Bills) की विधायी प्रक्रिया, एवं

(ख) वित्तीय प्रक्रिया (Financial Procedure)।

(क) साधारण गैर-वित्त विधेयकों की विधायी प्रक्रिया

साधारण अथवा गैर-वित्त विधेयक मन्त्रियो या ससद् के निजी सदस्यो द्वारा ससद् के किसी भी सदन मे रखे जा सकते है। इनके सम्बन्ध मे विधायी प्रक्रिया निम्नानुसार है—

प्रथम वाचन—साधारणतया किसी विधेयक को प्रस्तुत करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए एक माह का नोटिस देना आवश्यक होता है। सामान्यतः सदन की आज्ञा मिल जाती है, लेकिन कभी न मिले, ऐसा भी हो सकता है। इस नोटिस या सूचना मे विधेयक का प्रारूप, विधेयक का उद्देश्य, कारण और ज्ञापन सलग्न रहने चाहिए। यदि आवश्यक हो तो राष्ट्रपति की स्वीकृति भी सलग्न होनी चाहिए। उल्लेखनीय है कि कुछ विषयो से सम्बन्धित विधेयको को सदन मे पेश करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक होती है, जैसे राज्यो की सीमाओ मे परिवर्तन करने वाले विधेयक। आज्ञा मिलने पर विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य, यदि विधेयक महत्त्वपूर्ण है, तो उसकी मुख्य बातो के सम्बन्ध मे एक सक्षिप्त वक्तव्य भी दे सकता है। अध्यक्ष विरोधी सदस्यो में से किसी को विरोध के कारण स्पष्ट करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। यही विधेयक का प्रथम वाचन (First Reading) कहलाता है, इसके बाद उसे सरकारी गजट मे प्रकाशित किया जाता है। किन्तु जब कभी अध्यक्ष किसी विधेयक को पेश करने की आज्ञा प्राप्त करने के पूर्व ही प्रकाशित करने का आदेश दे दे तो उस प्रकार के प्रस्ताव की आवश्यकता नही रह जाती।

द्वितीय वाचन—प्रथम वाचन के बाद एक निश्चित तिथि को विधेयक का द्वितीय वाचन होता है। इस दिन विधेयक का प्रस्तावक निम्नलिखित चार बातों में से कोई भी एक बात का प्रस्ताव रख सकता है—

(1) सदन विधेयक पर तत्काल विचार करे,
(2) सदन विधेयक को प्रवर समिति (Select Committee) को विचारार्थ सौंप दे,
(3) विधेयक को दोनो सदनों की संयुक्त समिति (Joint Committee of Both Houses) को सौंप दे, एव
(4) जनमत प्राप्त करने के लिए विधेयक को प्रसारित कर दे।

उल्लेखनीय है कि किसी विधेयक पर तुरन्त विचार तो प्राय: कभी नहीं किया जाता। हां, यदि कोई विधेयक सर्वथा विवादरहित (Non-Controversial) हो और शासन द्वारा प्रस्तावित या पुनः स्थापित किया गया हो तो उस पर तुरन्त विचार करने की अनुमति मिल सकती है। राष्ट्र के जन-जीवन को प्रभावित करने वाले सामाजिक महत्त्व के विधेयकों को बहुधा जनमत जानने के लिए प्रसारित किया जाता है। किन्तु अधिकांश विधेयक प्राय. प्रवर समितियों में विचारार्थ भेज दिए जाते है और कतिपय विधेयक संयुक्त समिति मे भी भेजे जा सकते है।

द्वितीय वाचन के समय विधेयक के मुख्य सिद्धान्तो पर विचार किया जाता है। विधेयक का प्रस्तावक विस्तार से और स्पष्टतापूर्वक विधेयक को समझाता है और विधेयक की व्याख्या करता है। इस समय न तो विस्तारपूर्वक विधेयक पर विवाद किया जाता है और न ही उस पर संशोधन उपस्थित किए जा सकते हैं। प्रस्तावित विधेयक की धारा प्रतिधारा पर कोई मतदान नही हो सकता है।

समिति स्थिति—इसके उपरान्त विधेयक तीसरी स्थिति में आता है जिसे समिति-स्थिति या समिति-स्तर (Committee Stage) कहते है। विधेयक को किसी समिति में भेजने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाने पर उस समिति की नियुक्ति कर दी जाती है। प्रवर समिति अथवा सयुक्त समिति को निश्चित अवधि के भीतर विधेयक पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करना पडता है। समिति विधेयक की सूक्ष्म परीक्षा करती है। समिति प्रस्तावित विधेयक मे सशोधन भी उपस्थित कर सकती है। यदि समिति विधेयक मे परिवर्तन कर देती है तो वह विधेयक के प्रस्ताव से सिफारिश करती है कि वह सदन से प्रार्थना करे कि उक्त विधेयक को प्रसारित किया जाए और यदि विधेयक पहले प्रसारित हो चुका हो तो उसे पुनः प्रसारित करवाया जाए। समिति का प्रतिवेदन सर्वसम्मति से या बहुमत से होता है। समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत होने पर विधेयक का चौथा स्तर शुरू होता है जिसके अन्तर्गत सदस्य विधेयक के विभिन्न उपबन्धो के सशोधन भेज सकते है।

प्रतिवेदन स्थिति—समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत हो जाने के बाद विधेयक का प्रस्तावक निश्चित दिन उस प्रतिवेदन पर विचार किए जाने का प्रस्ताव पेश करता है। उसके स्वीकार हो जाने पर सदन में विधेयक के सशोधित रूप की प्रत्येक धारा पर विस्तारपूर्वक विचार होता है। इस समय विचाराधीन अनुच्छेद पर सदस्य अपने संशोधन प्रस्तुत करते है। सशोधनो पर वाद-विवाद होता है और उन पर मत लिया जाता है। इस प्रकार विधेयक का प्रत्येक अनुच्छेद स्वीकृत या अस्वीकृत होता है। वास्तव में यह प्रतिवेदन स्थिति विधेयक की सबसे महत्त्वपूर्ण स्थिति होती है। यदि विधेयक इस स्थिति को पार कर लेता है तो उसे एक प्रकार से पास हुआ समझा जाता है।

प्रतिवेदन स्थिति एक बहुत लम्बा स्तर है क्योंकि विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार करने के बाद मतदान होता है। इसके साथ ही विधेयक का [illegible] वाचन (Second Reading) समाप्त हो जाता है।

तृतीय वाचन—अगला स्तर विधेयक का तृतीय वाचन (Third Reading) कहलाता है। विधेयक का संचालक यह प्रस्ताव करता है कि विधेयक को पारित किया जाए। यह प्रस्ताव द्वितीय वाचन के तुरन्त बाद ही अथवा उसके उपरान्त अन्य किसी निश्चित तिथि पर प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि विधेयक को पारित करने की विशेष जल्दी नहीं हो तो तृतीय वाचन से पूर्व सदस्यों को विधेयक के संशोधित रूप का अध्ययन करने का पर्याप्त समय दिया जाता है। तृतीय वाचन में केवल शाब्दिक और औपचारिक संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं और विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार करने के सम्बन्ध में सामान्य विचार किया जाता है तथा इस विषय में पुनः सदन का मत लिया जाता है।

इसके उपरान्त सदन का अध्यक्ष यह प्रमाणित करके कि विधेयक पास हो गया है, उसे दूसरे सदन को भेज देता है।

द्वितीय सदन में विधेयक का पारित होना और राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करके अधिनियम बनना—दूसरे सदन में भी सामान्यतः विधेयक के सम्बन्ध में वही प्रक्रिया अपनाई जाती है। यदि द्वितीय सदन भी विधेयक को उसी रूप में पारित कर देता है जिस रूप में प्रथम सदन ने उसे भेजा हो तो विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति विधेयक को स्वीकार कर सकता है अथवा उस पर अपनी स्वीकृति रोक सकता है और यदि चाहे तो विधेयक को दोनों सदनों के पुनर्विचार के लिए वापिस भेज सकता है तथा ऐसा करते समय विधेयक में संशोधन सुझाते हुए अपना सन्देश भी दे सकता है या बिना किसी सन्देश के भी विधेयक को वापस लौटा सकता है। किन्तु यदि संसद् के दोनों सदन उक्त विधेयक को संशोधन सहित या बिना संशोधन के दुबारा पारित कर देता है तो राष्ट्रपति को विधेयक पर अवश्यमेव स्वीकृति प्रदान करनी पड़ती है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद विधेयक विधि अथवा अधिनियम का रूप धारण कर लेता है।

विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद रहने की स्थिति में विधेयक दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में प्रस्तावित किया जाता है और वहां बहुमत का निर्णय अन्तिम और मान्य होता है तथा विधेयक इस तरह दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक समझा जाता है जो राष्ट्रपति की अनुमति ग्रहण करने पर कानून बन जाता है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद अधिनियम को परिनियम पुस्तक (Statute Book) में सम्मिलित कर दिया जाता है।

(ख) वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में प्रक्रिया

साधारणतया आय-व्यय से सम्बन्धित सभी विधेयकों को वित्त विधेयक (Financial Bill) कहा जा सकता है, किन्तु संविधान के अनुच्छेद 110 में वित्त विधेयक की बाकायदा परिभाषा कर दी गई है। यदि किसी विधेयक पर यह विवाद उठ खड़ा हो कि वह वित्त विधेयक है या नहीं तो इस पर लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है। वित्त विधेयक या प्रस्ताव लोकसभा में राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना प्रस्तावित नहीं किए जा सकते। लोकसभा में पारित होने के बाद

यह विधेयक राज्यसभा मे भेजे जाते है। राज्यसभा या तो लोकसभा द्वारा पारित विधेयक को स्वीकार कर लेती है या 14 दिन के भीतर विधेयक को अपनी सिफारिश सहित लोकसभा को वापिस भेज देती है। लोकसभा इन सिफारिशो को मानने को बाध्य नही है। यदि लोकसभा सिफारिशों को मान लेती है तो इन सिफारिशो के साथ विधेयक पास माना जाता है। यदि लोकसभा इन सिफारिशो को नही मानती या राज्यसभा 14 दिन के भीतर विधेयक को वापस नही लौटाती तो विधेयक उसी रूप मे दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाता है। जिस रूप मे वह लोकसभा मे पास हुआ था। फिर यह विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होने पर कानून बन जाता है। राष्ट्रपति को धन सम्बन्धी विधेयकों पर प्रथम बार में ही अपनी स्वीकृति देनी पडती है। साधारण विधेयकों के समान वह धन विधेयको को संसद् मे दो बार विचार के लिए नही भेज सकता।

वित्तीय प्रक्रिया में संसद् की दो समितियो का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। इनमे से एक है प्राक्कलन समिति (The Estimate Committee) और दूसरी है लोकलेखा कमेटी (Public Accounts Committee)। नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक (The Comptroller and Auditor General) का कार्य भी इस सम्बन्ध मे बडा महत्त्वपूर्ण होता है।

संसदीय समितियाँ
(Parliamentary Committees)

संसदीय शासन पद्धति के अन्तर्गत संसद् के कार्य-संचालन के लिए संसदीय समितियाँ परमावश्यक है। ये समितियाँ संसदीय कार्य का निर्वहन सरल, दक्ष और उचित बनाती है। संसद् मे विचारार्थ प्रस्तुत किए गए प्रस्तावों के सम्बन्ध में जनमत की सूचना समितियो के द्वारा ही संसद् तक पहुँचती है। सरकार द्वारा जो विभिन्न विधान प्रस्तावित किए जाते है उनमे विरोधी दलों का उचित सहयोग इन्ही समितियों के माध्यम से लिया जाता है।

भारतीय संसद्, विशेषकर लोकसभा अनेक समितियो का प्रयोग करती है। विभिन्न विधेयको पर विचार करने वाली समितियाँ विधेयको पर विस्तृत वाद-विवाद करती है। वे सभी प्रकार के रिकार्डों को मँगवा सकती है, गवाहो को बुलवा सकती है और आवश्यक बातो की छानबीन भी करती है। उनकी बैठकों की कार्यवाही प्रायः गुप्त रहती है। वे अपने विचाराधीन विधेयकों पर अपनी रिपोर्ट एक निश्चित अवधि के भीतर तैयार करती है जिस पर बाद मे सदन द्वारा विचार किया जाता है।

भारतीय लोकसभा मे समितियो के सदस्य सदन द्वारा निर्वाचित होते है या अध्यक्ष द्वारा मनोनीत होते है। किसी सदस्य का नाम किसी समिति मे [illegible] करने के पूर्व उस सदस्य की स्वीकृति ली जाती है। किसी समिति की [illegible] कम से कम एक-तिहाई सदस्यो की अनुमति आवश्यक है। समस्त प्रश्नो [illegible] सदस्यो के बहुमत से निर्णय लिए जाते है। बराबर मत आने पर [illegible]।

को निर्णायक मत (Casting Vote) देने का अधिकार होता है। संसद् की कोई समिति उप-समिति (Sub-Committee) निश्चित कर सकती है। समिति की बैठकें सामान्यत: संसद्-भवन की सीमा के अन्तर्गत ही होती है। स्पीकर किसी भी समिति को उसकी प्रक्रिया मे निर्देशन दे सकता है। संसद् अपने अधिकांश विधेयकों पर रिपोर्ट प्रवर समितियो (Select Committees) द्वारा प्राप्त करती है। प्रवर समिति किसी विशेष विधेयक हेतु बनाई जाती है और रिपोर्ट देने के बाद उसका अन्त हो जाता है।

संसद् के 'प्रक्रिया और कार्य-संचालन के नियमो' (Rules for Procedure and Conduct of Business in Parliament) के अनुसार संसद् की ग्यारह समितियाँ है। संसद् के कार्य की सामान्य रूपरेखा का ज्ञान इन समितियो के कार्यों के विवरण से बहुत कुछ मिल सकता है—

(1) कार्य मन्त्रणा समिति (The Business Advisory Committee)—यह समिति सदन के प्रारम्भ मे ही स्थापित की जाती है। इसका उद्देश्य सदन के कार्यक्रम को निर्धारित करना होता है। वैसे स्पीकर इसे अन्य और कोई कार्य भी सौप सकता है। इसके 15 सदस्य है जिन्हें स्पीकर स्वयं मनोनीत करता है। वह स्वय इसका अध्यक्ष होता है। इसमें सदन के विभिन्न दलों के नेता एवं अन्य वर्ग सतर्कता से भाग लेते है। यह समिति सदन के सभी वर्गों के साथ सहयोग करती है और उनसे सहायता लेती है।

(2) गैर-सरकारी सदस्यो के विधेयकों और संकल्पों सम्बन्धी समिति (The Committee of Private Member's Bill and Resolutions)—इसमें भी 15 सदस्य होते है जिन्हे स्पीकर मनोनीत करता है जिसकी अवधि एक वर्ष की होती है। इस समिति का प्रधान कार्य व्यक्तिगत सदस्यों द्वारा प्रस्तावित विधेयक का परीक्षण करना होता है। यह समिति इस सम्बन्ध मे भी सिफारिश करती है कि किसी विधेयक के वाद-विवाद के लिए कितना समय दिया जाए।

(3) विधेयकों पर प्रवर समिति (Select Committee on Bills)—यह तब नियुक्त की जाती है जब किसी विधेयक के विषय मे सदन यह प्रस्ताव पास करता है कि इस विधेयक को प्रवर समिति (Select Committee) के अधीन कर दिया जाए। इस समिति की सदस्य संख्या निश्चित नही होती और सदस्यो की नियुक्ति सदन द्वारा की जाती है। यह समिति विशेषज्ञों की गवाही और विधेयक के द्वारा प्रभावित हितो की बातो को सुनने का अधिकार रखती है। समिति की रिपोर्ट से यदि समिति का कोई सदस्य सहमत न हो तो वह अपनी असहमति लिखवा सकता है, लेकिन उसकी भाषा अश्लील नही होनी चाहिए।

(4) याचिका समिति (The Committee of Petitions)—इसमें कुल 15 सदस्य होते है। यह समिति स्पीकर सदन के प्रारम्भ मे बनाता है। इसके सभी सदस्यों को वही मनोनीत करता है। कोई भी मन्त्री इसका सदस्य नही हो सकता। यह समिति प्रत्येक ऐसी याचिका की जाँच करती है जो उसे सौंपी जाए। लोकमत

का एक प्रमुख कार्य जनता द्वारा प्रेषित याचिकाओं पर विचार करना है। ये याचिकाएँ लोकसभा के सामने लम्बित कार्य अथवा सामान्य हित के किसी विषय से सम्बन्धित हो सकती है, लेकिन सामान्य हित का विषय ऐसा नही होना चाहिए जिसका सम्बन्ध राज्य विधान-मण्डल से हो। प्रत्येक याचिका सदन को सम्बोधित की जानी चाहिए; किन्तु उसे या तो किसी सदस्य द्वारा पेश किया जाना चाहिए या सचिव द्वारा सदन को प्रतिवेदित करना चाहिए।

याचिका समिति सदन द्वारा सौंपी गई याचिका पर विचार करके और उसकी छानबीन करके उस पर अपनी रिपोर्ट सदन को पेश करती है।

(5) **प्राक्कलन या अनुमान समिति (The Estimates Committee)**—इस समिति मे लोकसभा के 30 सदस्य होते है जिनकी नियुक्ति भी प्रतिवर्ष प्रथम सत्र के प्रारम्भ मे एक वर्ष की अवधि के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व निर्वाचन-प्रणाली द्वारा होती है। यह एक महत्त्वपूर्ण समिति है जिसका उद्देश्य बजट के प्राक्कलन (Estimates) का परीक्षण करना है। यह समिति केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नही अपितु अन्य क्षेत्रो मे भी सरकार को प्रभावित कर सकती है। इस समिति के प्रमुख कृत्य 4 है—

1 "यह रिपोर्ट करना कि धन की बचत, संगठन मे उन्नति, प्रशासन मे सुधार बिना नीति मे परिवर्तन किए किस प्रकार हो सकता है।

2 रुपये के बचत के उद्देश्य से तथा प्रशासन मे सुधार करने के दृष्टिकोण से कौन-सी परिवर्तित नीति का प्रयोग किया जा सकता है।

3. यह परीक्षण करना कि प्राक्कलन (Estimates) मे जो नीति निहित है उसकी सफलता के लिए उचित धन की व्यवस्था है।

4. प्राक्कलन (अनुमान) किस रूप मे ससद् को प्रस्तुत किए जाएँ, इस विषय मे सुझाव देना।"

यह समिति अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अपने को कई उप-समितियों मे विभक्त कर लेती है और प्रत्येक उप-समिति के अधीन निश्चित सरकारी विभाग होते है। जब बजट की एक-एक मद पर ससद् में मतदान होता है तो इस समिति की रिपोर्ट बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होती है। यह समिति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि सरकार को अपने कार्यों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी बनाने मे इसका बड़ा योगदान रहता है। यह समिति स्वेच्छा से सरकार के किसी भी विभाग को परीक्षा के लिए छांट लेती है।

(6) **लोकलेखा समिति (The Public Accounts Committee)**—अनुमान या प्राक्कलन समिति से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित एक अन्य समिति लोकलेखा समिति है। अनुमान समिति व्यय के अनुमानों की जाँच करती है तो लोकलेखा समिति सार्वजनिक-धन के व्यय का निरीक्षण करती है। इसमें संसद् के अधिकतम 22 सदस्य होते है जिनमे से 15 लोकसभा और 7 राज्यसभा के लिए जाते है सदस्यों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार और ।

अवधि के लिए होता है। यह समिति प्रतिवर्ष संसद् के प्रथम सत्र के आरम्भ में नियुक्त की जाती है। कोई मन्त्री इस समिति का सदस्य नहीं हो सकता। भारत का नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक इस समिति के वित्तीय सलाहकार के रूप में कार्य करता है।

लोकलेखा समिति का कार्य शासन के सभी वित्तीय मामलों की जाँच करना है। यह समिति नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट का बारीकी से अध्ययन करती है। यह देखती है कि सरकार ने जो धन खर्च किया है वह ठीक रूप में खर्च हुआ है और निर्धारित तरीके से हुआ है। समिति की जो वार्षिक रिपोर्ट सदन में रखी जाती है उसमें प्रशासन की त्रुटियाँ, फिजूल खर्ची के उदाहरण तथा फिजूल खर्ची पर रोक लगाने के सुझावों का उल्लेख किया जाता है। समिति की रिपोर्ट सरकार के लिए एक प्रकार की चेतावनी होती है। मुख्यतः इस समिति के माध्यम से ही संसद् राष्ट्रीय धन पर नियन्त्रण रखती है।

(7) **विशेषाधिकार समिति (The Committee of Privileges)**—15 सदस्यीय इस समिति की नियुक्ति भी सदन के प्रारम्भ में ही स्पीकर द्वारा की जाती है। इस समिति का कार्य सदस्यों के विशेषाधिकारों (Privileges) का निरीक्षण करना है। सदस्यों के विशेषाधिकारों को ठेस पहुँचाने वाले मामले इसके समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं और उन पर यह अपना निर्णय देती है।

(8) ***सब-ऑर्डिनेट व्यवस्थापन समिति (The Committee of Sub-ordinate Legislation)***—इस समिति का उद्देश्य मन्त्रियों को प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) सम्बन्धित अधिकारों का निरीक्षण करना और उसके सम्बन्ध में सदन को रिपोर्ट प्रस्तुत करना है। 15 सदस्यीय इस समिति के सदस्यों की नियुक्ति 1 वर्ष की अवधि के लिए स्पीकर द्वारा की जाती है। मन्त्री इस समिति के सदस्य नहीं हो सकते।

(9) **सरकारी आश्वासनों सम्बन्धी समिति (The Committee on Government Assurances)**—मन्त्रियों द्वारा समय-समय पर सदन को दिए गए आश्वासनों, वचनों अथवा प्रतिज्ञाओं आदि की छानबीन करने और इन बातों पर प्रतिवेदन देने के लिए 15 सदस्यीय इस समिति की नियुक्ति 1 वर्ष की अवधि के लिए स्पीकर द्वारा की जाती है। इस समिति के प्रमुख कार्य ये हैं—(क) मन्त्रियों द्वारा दिए गए आश्वासनों, प्रतिज्ञाओं और वचनों आदि का कहाँ तक परिपालन किया गया है, एवं (ख) जहाँ परिपालन किया गया है, वह उस प्रयोजन के लिए आवश्यक कम से कम समय के भीतर हुआ है या नहीं।

(10) **सदन की बैठकों से अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों हेतु समिति *(The Committee on Absence of Members from the Sittings of the House)***–इस समिति में भी 15 सदस्य होते हैं जिन्हें 1 वर्ष तक के लिए स्पीकर मनोनीत करता है। यह समिति अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों की छुट्टी के प्रार्थना-पत्रों पर विचार करती है और 60 दिन या इससे अधिक दिनों तक सदन की पूर्व स्वीकृति के

बिना अनुपस्थित रहने वाले सदस्य के बारे में सारी स्थिति का विचार करके सदन को सूचित करती है कि उसकी अनुपस्थिति को क्षमा कर दिया जाए अथवा उस स्थान को रिक्त घोषित कर दिया जाए।

(11) नियम समिति (The Rules Committee)—इस समिति के 15 सदस्यों की नियुक्ति भी स्पीकर द्वारा होती है। स्पीकर अपने पद के कारण इस समिति का पदेन सभापति (Ex-officio Chairman) होता है। समिति का प्रमुख कार्य सदन की प्रक्रिया और कार्य-सचालन सम्बन्धी विषयो पर विचार करना और उनके सम्बन्धित नियमो मे आवश्यक संशोधन आदि का सुझाव देना है।

भारतीय ससद् की समितियो के बारे में कुछ उल्लेखनीय तुलनात्मक बातें है—(1) अनेक समितियाँ (प्रवर समितियो को छोडकर) 1 वर्ष की अवधि के लिए ब्रिटेन की समकालीन (Sessional) समितियों के समान है। (ii) संसदात्मक पद्धति के होते हुए भी भारतीय लोकसभा ने इंग्लैण्ड या अमेरिका की भाँति स्थाई समितियो (Standing Committees) की व्यवस्था नही की है। ब्रिटेन मे इनकी संख्या 6, अमेरिका मे 19 और फ्रांस मे 18 है, लेकिन भारतीय लोकसभा ने ऐसी समितियों के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव नही की है। (iii) संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना मे भारतीय लोकसभा की समितियाँ बहुत कम शक्तिशाली है। वहाँ समितियाँ प्रतिवर्ष हजारो विधेयको का अन्त कर देती हैं। इस दृष्टि से भारतीय लोकसभा की समितियाँ ब्रिटिश समितियो के अधिक समीप है। (iv) ब्रिटेन मे लोकलेखा समिति का अध्यक्ष विरोधी दल का नेता होता है, वहाँ भारत मे ऐसा नही है।

मार्च, 1977 का ऐतिहासिक आम चुनाव और संसद् में दलीय स्थिति

मार्च, 1977 का ऐतिहासिक आम चुनाव, जिसके फलस्वरूप छठवीं लोकसभा हमारे सामने आई, जिसे कि 22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति ने भंग करके मध्यावधि चुनाव कराए जाने की घोषणा की, स्वतन्त्र भारत के इतिहास में सदैव एक अविस्मरणीय घटना रहेगी। इसने केन्द्र मे कांग्रेस के तीस वर्षीय एकछत्र शासन की समाप्ति करके जनता पार्टी की सरकार स्थापित कर दी। कांग्रेस पिछले कुछ वर्षों मे तानाशाह हो चली थी—विशेषकर जून, 1975 मे आन्तरिक आपात् की स्थिति की उद्घोषणा के बाद तो उसका निरकुश आचरण भारत में लोकतन्त्र की समाप्ति का द्योतक था। जब आम चुनाव का मौका आया तो जनता ने अपने मताधिकार का प्रयोग करके श्रीमती गाँधी और उनके सहयोगी तानाशाहों तथा कांग्रेस को बुरी तरह पराजित कर जनता पार्टी को प्रचण्ड बहुमत से जिताया और देश मे लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना कर दी। जहाँ लोकसभा में 18 जनवरी, 1971 को सत्तारूढ कांग्रेस को 525 सीटो मे से 355 सीटें प्राप्त थी वहाँ छठी लो। मे वह 539 सीटो मे से केवल 153 सीटें पा सकी और अब उसे प्रतिपक्ष पड़ा है। जनता पार्टी को, जिसका निर्वाचन आयोग की सूची मे नव ...

भालोद (भारतीय लोक दल) था, 295 सीटें हाथ लगीं। इन आम चुनावों के फलस्वरूप लोकसभा में विभिन्न दलों की स्थिति, भारत सरकार के 23 मार्च, 1977 के प्रेस नोट के अनुसार इस प्रकार रही—

राज्य/केन्द्र प्रशासित प्रदेश	कुल स्थान	घोषित परिणाम	कांग्रेस	भालोद	कम्यु.	कम्यु. (मा.)	कांग्रेस (स)	अन्य	निर्दलीय
1. आन्ध्र प्रदेश	42	42	41	1	—	—	—	—	—
2. असम	14	14	10	3	—	—	—	—	1
3. बिहार	54	54	—	52	—	—	—	—	2
4. गुजरात	26	26	10	16	—	—	—	—	—
5. हरियाणा	10	10	—	10	—	—	—	—	—
6. हिमाचल प्रदेश	4	3	—	3	—	—	—	—	—
7. जम्मू-कश्मीर	6	5	2	—	—	—	—	2	1
8. कर्नाटक	28	28	26	2	—	—	—	—	—
9. केरल	20	20	11	—	4	—	—	5	—
10 मध्य प्रदेश	40	40	1	37	—	—	—	1	1
11. महाराष्ट्र	48	48	20	19	—	3	—	5	1
12 मणिपुर	2	2	2	—	—	—	—	—	—
13. मेघालय	2	2	1	—	—	—	—	1	—
14 नागालैण्ड	1	1	—	—	—	—	—	1	—
15. उड़ीसा	21	21	4	15	—	1	—	—	1
16. पंजाब	15	12	—	3	—	1	—	8	—
17. राजस्थान	25	25	1	24	—	—	—	—	—
18 सिक्किम	1	1	1	—	—	—	—	—	—
19. तमिलनाडु	39	39	14	—	3	—	3	19	—
20. त्रिपुरा	2	2	1	1	—	—	—	—	—
21. उत्तर प्रदेश	85	85	—	85	—	—	—	—	—
22. प. बंगाल	42	42	3	16	—	16	—	2	5
23. अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह	1	1	1	—	—	—	—	—	—
24. अरुणाचल प्रदेश	2	2	1	—	—	—	—	—	1
25. दादरा और नगर हवेली	1	1	1	—	—	—	—	—	—
26. दिल्ली	7	7	—	7	—	—	—	—	—
27. गोआ, दमन और दीव	2	2	1	—	—	—	—	1	—
28. लक्षदीप	1	1	1	—	—	—	—	—	1
29. मिजोरम	1	1	—	—	—	—	—	—	—
30. पांडिचेरी	1	1	—	—	—	—	—	1	—
31. चण्डीगढ़	1	1	—	1	—	—	—	—	—
योग	542	539	153	295	7	21	3	46	14

कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बासप्पा दानप्पा जत्ती ने नव-निर्वाचित लोकसभा का अधिवेशन 25 मार्च, 1977 को प्रातः 11 बजे बुलाया। राज्यसभा का अधिवेशन सोमवार 28 मार्च, 1977 को बुलाया गया। श्री जत्ती ने लोकसभा के पुराने नेता श्री द्वारकानाथ तिवारी को (जो 1952 से लोकसभा के सदस्य है) कार्यवाहक लोकसभा अध्यक्ष नियुक्त किया।

अगले दिन अध्यक्ष पद के लिए प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने चौथी लोकसभा के अध्यक्ष श्री नीलम संजीव रेड्डी (जो आन्ध्र प्रदेश से जनता पार्टी के एकमात्र प्रतिनिधि थे और आगे चलकर भारत के राष्ट्रपति बने) का नाम प्रस्तावित किया जिसका समर्थन किया ससद् के विरोध पक्ष के नेता श्री यशवत राव चह्वाण ने और श्री रेड्डी निर्विरोध अध्यक्ष चुन लिए गए। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय संसद् के इतिहास में पहली बार किसी को विरोधी पक्ष के नेता के रूप में विधिवत् मान्यता मिली। विरोधी पक्ष के नेता के रूप मे स्वीकृति के लिए विरोधी दल के सदस्यों की सख्या लोकसभा की कुल संख्या का 10 प्रतिशत होना आवश्यक है। अब तक विरोधी दल अनेक खेमों में बँटे थे, इस कारण कोई भी विरोधी दल इस शर्त को पूरा करने मे असमर्थ रहा था।

छठी लोकसभा 22 अगस्त, 1979 को भंग कर दी गई और जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव कराए जाना निश्चित हुआ। लोकसभा भंग किए जाने के समय तक दल-बदल के कारण लोकसभा में दलीय स्थिति का रूप बदल गया था।



16 उच्चतम न्यायालय तथा न्यायिक पुनरावलोकन
(THE SUPREME COURT AND THE JUDICIAL REVIEW)

ऐसे किसी भी सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका की कोई व्यवस्था न हो। एक संघात्मक राज्य में तो स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता बहुत ही अधिक होती है। संघ राज्य में केन्द्र राज्य सरकारों के बीच स्पष्ट और लिखित शक्ति-विभाजन होता है, किन्तु फिर भी अनेक विषयों पर केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच या राज्य सरकारों में ही परस्पर विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसे विवादों का निपटारा एक स्वतन्त्र और सर्वोच्च या उच्चतम न्यायालय ही कर सकता है।

उच्चतम न्यायालय संविधान के रक्षक और संविधान के अन्तिम व्याख्याता के रूप में कार्य करता है। भारतीय उच्चतम न्यायालय को 'न्यायिक पुनरावलोकन' की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह संसद् द्वारा निर्मित ऐसी किसी भी विधि को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के विरुद्ध हो। इसी शक्ति के बल पर वह संविधान की प्रभुता और सर्वोच्चता की रक्षा करता है। वह संविधान द्वारा प्रदत्त नागरिकों के मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। एम. सी. सीतलवाड़ ने ठीक ही लिखा है—"संविधान के अन्तिम व्याख्याता के रूप में, चाहे वह मौलिक अधिकारों का क्षेत्र हो अथवा संघ और राज्य के बीच उठने वाले प्रश्न एवं देश के समस्त कानूनों और प्रथाओं पर आधारित नियमों का क्षेत्र हो, राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक उन्नति के यन्त्र स्वरूप, सर्वोच्च न्यायालय के प्रभाव पर बल देने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।" भारत के उच्चतम न्यायालय को विस्तृत परामर्शदात्री शक्तियाँ प्राप्त है और सार्वजनिक महत्त्व के कानूनों तथा तथ्यों पर राष्ट्रपति ने अनेक बार उच्चतम न्यायालय के परामर्श से लाभ उठाया है। एम. वी. पायली के शब्दों में—"शायद ही कोई और न्यायालय ऐसा हो जिसे संविधान के अन्तर्गत इतना क्षेत्र, अधिकार एवं महत्त्व प्रदान किया गया हो।"[1]

1 एम. वी. पायली : वही, पृष्ठ 208.

एकल न्यायिक व्यवस्था
(A Single Judicial System)

अनेक सघीय शासन प्रणालियो में स्थित न्यायिक व्यवस्था के विपरीत भारत मे एकल न्यायिक व्यवस्था (A Single Judicial System) हैं। इसे न्यायपालिका का 'एकीकृत रूप' (Integrated Form) भी कहा जा सकता है।

भारतीय न्यायिक व्यवस्था मे शिखर पर उच्चतम न्यायालय है और प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। सविधान मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की तरह संघ और राज्यों के लिए दुहरी न्यायपालिका की व्यवस्था नही है प्रत्युत् एक ही न्याय-शृंखला सब राज्यों मे कानूनो का प्रशासन करती है। इस एकल न्यायिक व्यवस्था ने भारत मे न्यायिक क्षेत्राधिकार सम्बन्धी एकता स्थापित कर दी है, साथ ही समूचे देश के लिए एकल न्यायिक संवर्ग (Cadre) की भी स्थापना कर दी है। यद्यपि वैधिक वर्ग (Bar) से सीधे ही उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त करने के सम्बन्ध मे कोई निषेध नहीं है तो भी अब तक ऐसी कोई नियुक्ति नही हुई है। अब तक उच्चतम न्यायालय में सभी नियुक्तियां उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो मे से होती रही है। इसी प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियां भी अधिकतर निम्न न्यायालयों विशेषतः जिला एवं सत्र न्यायालयो (District and Session Courts) से हुई हैं। इसके अतिरिक्त देश के एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों को स्थानान्तरित (Transfer) किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा जारी किया गया एक लेख (Writ) न केवल समूचे देश मे केन्द्रीय, राज्यिक तथा स्थानीय क्षेत्रों पर लागू होता है वरन् विधि के प्रत्येक क्षेत्र—सांविधानिक, दीवानी, फौजदारी (दण्ड) आदि में लागू होता है। उच्चतम न्यायालय के पास देश की समस्त न्यायिक व्यवस्था के उचित सचालन तथा नियन्त्रण करने के लिए पर्याप्त शक्तियां हैं।

उच्चतम न्यायालय का संगठन
(Composition of the Supreme Court)

मूल रूप से सविधान द्वारा 1950 में उच्चतम न्यायालय के लिए एक मुख्य न्यायाधीश तथा 7 अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी। साथ ही संसद को आवश्यकतानुसार इस संख्या को बढ़ाने, उच्चतम न्यायालय के [illegible] न्यायाधीशों के वेतन और सेवा शर्तों को निश्चित करने का अधिकार दे [illegible] था। संसदीय अधिनियम द्वारा 1957 में यह संख्या 7 से 10 और [illegible] से 1[illegible] कर दी गई। 1976 तक [illegible] उच्चतम न्यायालय में [illegible] सहित 14 न्यायाधीश थे। 19[illegible] में [illegible] कानून में [illegible] व्यवस्था की गई कि उच्चतम न्यायालय में [illegible] अधिक 17 अन्य न्यायाधीश [illegible] न्यायाधीश हो सकते हैं। [illegible]

न्यायाधीश 'तदर्थ न्यायाधीशों' (Adhoc Judges) की नियुक्ति कर सकता है, बशर्ते कि वह उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश होने की योग्यता रखता हो।

न्यायाधीशों की नियुक्ति

उच्चतम न्यायालय में सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति के लिए उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के उन न्यायाधीशों के साथ परामर्श करना आवश्यक रखा गया है, जिनके साथ परामर्श करना वह उचित समझे। मुख्य न्यायाधीश को छोड़कर उच्चतम न्यायालय के किसी अन्य न्यायाधीश का चुनाव करते समय राष्ट्रपति को मुख्य न्यायाधीश के साथ परामर्श करना होता है।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए किसी व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह भारत का नागरिक हो अथवा किसी एक उच्च न्यायालय या दो से अधिक ऐसे न्यायालयों में कम-से-कम पांच वर्ष तक लगातार न्यायाधीश रह चुका हो, या किसी एक उच्च न्यायालय या दो या दो से अधिक ऐसे न्यायालयों में कम से कम 10 वर्ष तक लगातार वकील रह चुका हो, या वह राष्ट्रपति की राय में कानून का प्रकाण्ड पण्डित हो। नियुक्ति की यह व्यवस्था देश के उत्कृष्टतम विधि-विशेषज्ञों को आकर्षित करने के लिए रखी गई है।

ध्यान रहे कि न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की राष्ट्रपति की शक्ति व्यवहार में औपचारिक है क्योंकि वह इस मामले में मन्त्रिमण्डल की सलाह से कार्य करता है। मन्त्रिमण्डल को भी इस सम्बन्ध में निरपेक्ष शक्ति प्राप्त नहीं है क्योंकि उसे उन व्यक्तियों से सलाह लेना आवश्यक है जो इस विषय पर परामर्श देने के लिए पूर्ण योग्य हों, अर्थात् उच्चतम और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हों।

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के प्रश्न पर सांविधानिक विवाद (1973) और 1978 में विवाद का निराकरण

संविधान में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश कोई मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाए। 25 अप्रैल, 1973 से पूर्व यही परम्परा चली आ रही थी कि उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था। 1956 में विधि आयोग ने सुझाव दिया था कि मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति केवल वरिष्ठता के आधार पर ही नहीं बल्कि गुण तथा उपयुक्तता के आधार पर की जानी चाहिए। किन्तु सरकार ने इस सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दिया। 25 अप्रैल, 1973 को, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा केशवानन्द भारती के निर्णय के कुछ ही घण्टों बाद, सरकार ने विधि आयोग के 1956 के सुझाव पर अमल करते हुए पिछली परम्परा को तोड़ दिया और तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा करके न्यायाधीश श्री अजीतनाथ राय को मुख्य न्यायाधीश बना दिया। इन तीनों न्यायाधीशों जे. एम. शेलट, के. सदानन्द हेगड़े तथा एस एन. ग्रोवर ने, विरोध स्वरूप, अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिए।

सरकार के इस कदम की कटु आलोचना हुई। बार एसोसिएशन ने तथा विरोधी खेमे ने मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति को 'विशुद्ध राजनीतिक' बताया जिसकी योग्यता और वरिष्ठता से कोई सम्बन्ध नही था। सरकार ने सांविधानिक उपबन्ध, विधि आयोग की सिफारिश, अन्य देशो की नजीरो और न्यायाधीशों के सामाजिक दर्शन—इन तर्कों का सहारा लेकर अपने कदम को उचित ठहराया। 1977 मे पुनः 1973 के ही ढंग पर मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति की गई। जनवरी, 1977 मे मुख्य न्यायाधीश अजीतनाथ राय के कार्यकाल की समाप्ति पर वरिष्ठता के आधार पर श्री एच.आर खन्ना को मुख्य न्यायाधीश बनाया जाना चाहिए था, लेकिन उनके स्थान पर जस्टिस मिर्जा हमीदुल्ला बेग को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। विरोधस्वरूप एच आर खन्ना ने त्याग-पत्र दे दिया।

मार्च, 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनी। नए शासक वर्ग ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की। मुख्य न्यायाधीश श्री बेग के निवृत्त होने पर फरवरी, 1978 मे, वरिष्ठता के सिद्धान्त को पुन अपनाते हुए, श्री वाई. वी चन्द्रचूड को मुख्य न्यायाधीश बनाया गया। आशा की जानी चाहिए कि आने वाली सरकारें इस परम्परा का पालन करेंगी। वास्तव मे मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे कुछ सिद्धान्त निश्चित किए जाने चाहिए ताकि इस क्षेत्र मे शासन अपना मनमाना आचरण न करे और न्यायाधीश-पद तथा न्यायाधीश पदधारी अनावश्यक विवाद के विषय न बनें।

न्यायाधीशों के वेतन और विशेषाधिकार

सविधान स्वय न्यायाधीशों के वेतन निश्चित करता है। सविधान की द्वितीय अनुसूची के अन्तर्गत मुख्य न्यायाधीश को 5,000 रुपये और अन्य न्यायाधीशों को 4,000 रुपये प्रतिमास वेतन दिया जाना निश्चित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक न्यायाधीश बिना किराए का आवास-स्थान, कुछ अन्य भत्तो और विशेषाधिकारों का पात्र है। न्यायाधीशो के विशेषाधिकारों तथा भत्तो मे उनकी नियुक्ति के बाद कोई ऐसा परिवर्तन नही किया जा सकता जो उनके लिए अलाभकारी हो। केवल वित्तीय आपात् की घोषणा होने पर संसद् को विधि द्वारा इन उपलब्धियों को कम करने का अधिकार है। उल्लेखनीय है कि मार्च, 1976 मे उच्चतम न्यायालयो के न्यायाधीशों के भत्ते और सुविधाओ मे काफी वृद्धि की गई। अब उन्हे 500 रु. मासिक व्यय भत्ता और 300 रु मासिक वाहन भत्ता भी प्राप्त होता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए पहली बार परिवार पेन्शन ग्रेच्युटी की व्यवस्था की गई है। मुख्य न्यायाधीश को 36,400 रु वार्षिक पेन्शन और अन्य न्यायाधीशो को 28,000 रु. वार्षिक पेन्शन की व्यवस्था की गई है। न्यायाधीशो को ये सभी सुविधाएँ 1 अक्टूबर, 1974 से स्वीकृत की गई है। ये सुविधाएँ देते समय अनेक संसद् सदस्यो का स्पष्ट विचार था कि न्यायाधीशो द्वारा सेवा निवृत्ति के बाद आर्थिक लाभ की प्राप्ति हेतु कोई कार्य नहीं किया जाना चाहिए।

उन्मुक्तियाँ (Immunities)—न्यायाधीशों को अपने न्यायिक कार्यों और निर्णय के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गई है, तथापि न्यायालय के किसी निर्णय अथवा किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता। संसद् भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं कर सकती। न्यायालय को अधिकार है कि वह अपने सम्मान को बनाए रखने के लिए और शत्रुतापूर्ण आलोचना से अपनी रक्षा करने के लिए किसी भी तथाकथित अपराधी के विरुद्ध न्यायालय-अवमान की कार्यवाही कर सके। 1953 में टाइम्स ऑफ इण्डिया द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय पर टिप्पणी करने के कारण उस समाचार-पत्र के सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक के विरुद्ध न्यायालय-अवमान की कार्यवाही की गई थी।

न्यायाधीश की पदावधि और पदच्युति

न्यायाधीश पैंसठ वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर बने रहते हैं। कोई भी न्यायाधीश स्वयं अपने पद से कभी भी त्याग-पत्र दे सकता है। उसे दुर्व्यवहार करने तथा कार्य में अक्षम होने के प्रमाणित आधार पर पदच्युत् किया जा सकता है। पर यह एक कठिन प्रक्रिया है। व्यवस्था यह है कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जा सकता जब तक कि संसद् के प्रत्येक सदन द्वारा प्रमाणित दुराचरण अथवा अक्षमता के आधार पर कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा मत देने वाले उपस्थित सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से पास इस आशय का प्रस्ताव मिल जाने के बाद राष्ट्रपति उसके हटाए जाने का आदेश न दे दे। ध्यान रहे कि ऐसा प्रस्ताव संसद् के एक ही सत्र में प्रस्तावित और स्वीकृत होना चाहिए। पदच्युति की यह कठिन प्रक्रिया इसीलिए रखी गई है ताकि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुनिश्चित रहे। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए ही यह भी व्यवस्था है कि उच्चतम न्यायालय का कोई अवकाश प्राप्त न्यायाधीश भारत में किसी न्यायालय में अथवा किसी अन्य प्राधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की वय (उम्र) के सम्बन्ध में उठे प्रश्न का निर्णय राष्ट्रपति करता है।

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction of the Supreme Court)

भारत के उच्चतम न्यायालय को विश्व के सम्भवतः अन्य किसी भी न्यायालय की अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। इसके क्षेत्राधिकार को हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) अभिलेख न्यायालय (अनुच्छेद 129)
(2) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 131)

(3) अपीलीय क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 132 से 136)
(4) परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 143)

अभिलेख न्यायालय (Court of Record)

अभिलेख न्यायालय एक ऐसा न्यायालय होता है जिसके सभी कृत्य और जिसकी सभी कार्यवाहियाँ सदैव के लिए यादगार एव प्रमाण के रूप मे सुरक्षित रखी जाती हैं। इन अभिलेखो की पवित्रता पर अंगुली नहीं उठाई जा सकती और न ही कोई न्यायालय इन अभिलेखों के विरुद्ध जा सकता है, यद्यपि स्वय अभिलेख न्यायालय अपने अभिलेखो की लिपि सम्बन्धी भूलो को सुधार कर सकता है। अभिलेख न्यायालय का इस दृष्टि से भी महत्त्व होता है कि वह अपने अवमान (Contempt of Court) के लिए दण्ड देने की शक्ति रखता है। इस शक्ति को सविधान ने प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त ससद् ने 'न्यायालय-अवमान अधिनियम 1971' (Contempt of Court Act, 1971) पारित करके 'न्यायालय-अवमान' की एक निश्चित परिभाषा कर दी है। न्यायालय-अवमान के लिए 6 महीने की सजा या 2000 रु जुर्माना या दोनों किया जा सकता है। न्यायाधीशों को भी अपने न्यायालय के अवमान के लिए दण्डित किया जा सकता है।

44वें सविधान सशोधन 1978 के अनुसार उच्चतम न्यायालय यदि चाहे तो स्वय उच्च न्यायालयो से मामलो को अपने पास मगा सकता है, केवल एटार्नी जनरल के आवेदन पर ही नही। इस संशोधन के पूर्व न्यायालय ऐसा केवल एटार्नी जनरल के आवेदन पर ही कर सकता था। अब उच्चतम न्यायालय ऐसा स्वयं कर सकता है।

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार
(Original Jurisdiction)

अनुच्छेद 131 के अनुसार निम्नलिखित विवादों के सम्बन्ध मे उच्चतम न्यायालय को अनन्य प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है—

(क) वह विवाद जो भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच हों।
(ख) वह विवाद जिसमें एक ओर भारत सरकार तथा एक ओर या एक से अधिक राज्य हों तथा दूसरी ओर एक या अधिक राज्य हो।
(ग) वह विवाद जो दो या दो से अधिक राज्यों के बीच हो।
(घ) मौलिक अधिकारो सम्बन्धी विवाद (ये विवाद उच्च न्यायालय मे भी ले जाए जा सकते हैं)।

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय सरकार के विरुद्ध नागरिको द्वारा प्रस्तुत मुकदमे स्वीकार नही करता। कुछ विवाद उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के बाहर रखे गए हैं। उदाहरणार्थ, संविधान लागू होने के पूर्व (26 जनवरी, 1950 के पूर्व) जो सधियाँ या करार भारत सघ और देशी राज्यो के बीच हुए थे और जो अब भी लागू है, उनके ऊपर उत्पन्न हुए विवाद

उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के बाहर है। इसी प्रकार वित्त आयोग को सौंपे हुए विषयों से सम्बन्धित विवाद भी उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं आते।

संविधान द्वारा नागरिकों को जो मौलिक अधिकार दिए गए हैं उन्हें लागू करने के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय के साथ-साथ उच्च न्यायालयों को भी अधिकार प्रदान किया गया है। मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध नागरिक उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकते हैं। मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी भी के द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है। उल्लेखनीय है कि संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा नागरिकों के जीवन तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारों को सुरक्षित बना दिया गया है। इन अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय में जाने के अधिकार को *निलम्बित नहीं किया जा सकता। यह सुरक्षात्मक कदम आपात्काल के प्रावधान* के दुरुपयोग को और भी रोकथाम करने के उद्देश्य से उठाया गया है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार
(Appellate Jurisdiction)

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है, अर्थात् उसे देश के राज्यों के उच्च न्यायायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है। उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) सांविधानिक मामले (अनुच्छेद 132)
(ब) दीवानी मामले (अनुच्छेद 133)
(स) फौजदारी मामले (अनुच्छेद 134)
(द) विशिष्ट पुनर्विचार (अनुच्छेद 136)

(अ) सांविधानिक मामले (Constitutional Disputes)—अनुच्छेद 132 में व्यवस्था है कि यदि कुछ न्यायालय यह प्रमाणित कर दें कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कोई सारपूर्ण कानूनी प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाण-पत्र देना अस्वीकार कर दिया है किन्तु उच्चतम न्यायालय को यह विश्वास हो कि विवाद में संविधान की व्याख्या का कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न निहित है तो वह स्वयं अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है।

उच्चतम न्यायालय में अपील उच्च न्यायालय के अन्तिम आदेश के विरुद्ध की जा सकती है। अन्तिम आदेश वह आदेश होता है जो पक्षकारों के अधिकारों का अन्तिम रूप से निपटारा करता है। यदि आदेश के बाद भी मुकदमा जीवित है, अर्थात् जिसमें अधिकारों का अभी निपटारा किया जाना शेष है, तो उसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती है। इलेक्शन कमीशन बनाम वेंकटराव के वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उच्च न्यायालय के किसी एक न्यायाधीश के

निर्णय के विरुद्ध भी अपील की जा सकती है। इस सम्बन्ध मे न्यायाधीशो की सख्या का कोई महत्त्व नही है।

(ब) दीवानी मामले (Civil Cases)—अनुच्छेद 133 के अनुसार उच्चतम न्यायालय को दीवानी अपीलीय अधिकार प्राप्त है। दीवानी मामलो मे उच्च न्यायालय के किसी निर्णय या अन्तिम आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय मे अपील तभी की जा सकती है जब उच्च न्यायालय इस बात का प्रमाण-पत्र दे दे कि—

(क) मामले मे कोई सार्वजनिक महत्त्व का सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, एव

(ख) उच्च न्यायालय के मतानुसार इस प्रश्न का निपटारा उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाना अभीष्ट है।

उल्लेखनीय है कि ये उपबन्ध अनुच्छेद 133 मे सविधान के तीसवें संशोधन अधिनियम 1972 द्वारा जोड़े गए है। इस सशोधन के पहले दीवानी मामलो मे उच्चतम न्यायालय मे अपील तभी की जा सकती थी जब वाद-विषय की राशि का मूल्य 20,000 रुपये से कम न हो, मालियत की यह शर्त पूरी होने पर ही अपील का प्रमाण-पत्र प्राप्त किया जा सकता था। 1972 के सशोधन द्वारा मालियत की इस शर्त को समाप्त कर दिया गया है।

(स) फौजदारी मामले (Criminal Cases)—अनुच्छेद 134 के अनुसार फौजदारी मामलो मे उच्चतम न्यायालय में तभी अपील की जा सकती है यदि—

(क) उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की मुक्ति का आदेश रद्द करके उसे मृत्यु-दण्ड सुना दिया हो या उसे आजीवन कारावास का या कम से कम दस वर्ष के कारावास का दण्ड दिया हो।

(ख) उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से मामला सुनवाई के लिए अपने पास मंगवा कर अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड सुना दिया हो या आजीवन कारावास का या कम से कम दस वर्ष के कारावास का दण्ड दे दिया हो।

(ग) उच्च न्यायालय ने यह प्रमाण-पत्र दे दिया हो कि मुकदमा इस लायक है कि उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

संसद् फौजदारी मामलों में उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकती है।

(द) विशिष्ट पुनर्विचार (*Special Appeals*)—अनुच्छेद 136, उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार की दृष्टि से, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत [illegible] की गई शक्तियाँ विशिष्ट या अवशिष्ट (*Special or Residuary*) [illegible] प्रकृति की है।

संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के [illegible] उच्चतम न्यायालय में अपील की व्यवस्था है, किन्तु कुछ [illegible] है जो उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते पर जिनमें उच्चतम न्यायालय [illegible]

हो सकता है। अनुच्छेद 136 यह व्यवस्था करता है कि उच्चतम न्यायालय स्वविवेक से भारत राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या विषय में दिए हुए किसी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण दण्डादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकेगा। इस सम्बन्ध में अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती।

अपीलीय क्षेत्राधिकारी की दृष्टि से भारत का उच्चतम न्यायालय विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली है। सम्भवतः इसी ओर संकेत करते हुए, 26 जनवरी, 1950 को उच्चतम न्यायालय के उद्घाटन के अवसर पर, श्री एम. सी. सीतलवाड़ ने कहा था—"यह सत्य है कि स्वरूप और विस्तार की दृष्टि से इस न्यायालय का क्षेत्राधिकार और इसकी शक्तियाँ राष्ट्र-मण्डल के किसी भी देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र और शक्तियों से व्यापक है।"

परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार
(Advisory Jurisdiction)

उच्चतम न्यायालय के कतिपय महत्त्वपूर्ण परामर्श सम्बन्धी कार्य भी हैं। राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय का विचार जानने के लिए सार्वजनिक महत्त्व का कोई भी कानूनी प्रश्न अथवा तथ्य इसके पास भेज सकता है। वे वाद भी, जिनका सम्बन्ध सन्धियों, करारों आदि की व्याख्या से होता है और जो न्यायालय के मूल न्यायाधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते, सलाह के लिए उच्चतम न्यायालय के पास भेजे जा सकते हैं। उच्चतम न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर है। अभी तक राष्ट्रपति ने लगभग 6 अवसरों पर ही प्रश्न उच्चतम न्यायालय की सम्मति के लिए भेजे हैं जिनमें केरल शिक्षा विधेयक और 1974 में राष्ट्रपति के चुनाव पर उच्चतम न्यायालय से माँगी गई सम्मति अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रक्रिया

उच्चतम न्यायालय को राष्ट्रपति की स्वीकृति से और संसद् द्वारा निर्मित सम्बद्ध कानूनी व्यवस्थाओं के अनुसार अपनी कार्य-प्रणाली और प्रक्रिया के नियमन के लिए नियम बनाने के अधिकार प्राप्त हैं। उच्चतम न्यायालय सभी निर्णय सार्वजनिक रूप से देता है और ऐसे प्रत्येक निर्णय को मामले की सुनवाई करने वाले न्यायाधीशों के बहुमत का समर्थन अपेक्षित है। किन्तु यदि मामले में किसी न्यायाधीश का अन्य न्यायाधीशों से कोई मतभेद हो, तो वह अपनी सहमति प्रकट कर सकता है। देश का उच्चतम न्यायालय होने के कारण उसके द्वारा घोषित कानून भारत के सभी न्यायालयों के लिए मान्य है। संसद् द्वारा निर्मित किसी भी कानून और नियम की व्यवस्थाओं के अधीन उच्चतम न्यायालय को अपने निर्णयों तथा आदेशों पर पुनर्विचार करने का भी अधिकार दिया गया है।

भारत में न्यायिक पुर्नविलोकन
(The Judicial Review in India)

न्यायिक पुनर्विलोकन शक्ति का अभिप्राय है—कानूनों की वैधानिकता के परीक्षण की शक्ति। भारतीय संविधान के कुछ अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करते है, किन्तु भारत मे न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र इतना व्यापक नही है जितना सयुक्त राज्य अमेरिका मे है। सविधान-निर्माताओं ने अमेरिकन संविधान की शब्दावली 'कानून की सम्यक् या उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) के स्थान पर 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) को स्वीकार किया है। अमेरिका में कोई कानून, यदि वह प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तो के विरुद्ध हो तो, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असांविधानिक घोषित किया जा सकता है। ऐसा भारत मे नही है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय यह निश्चित करने मे अमुक कानून सांविधानिक है या नही, प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तो को या उचित-अनुचित की अपनी धारणाओं को नही अपना सकता। दूसरे शब्दों मे, भारत में न्यायालय किसी कानून को अवैधानिक तभी ठहरा सकता है जबकि सम्बन्धित विधान-मण्डल मे उस कानून का निर्माण करने में अपनी कानून-निर्माण-क्षमता का उल्लघन किया हो। भारत मे न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाओं को स्पष्ट करते हुए एच. एम. सीरवाई ने लिखा है—"भारत में किसी कानून को केवल इस आधार पर अवैधानिक घोपित नही किया जा सकता कि वह न्यायालय की सम्मति मे स्वतन्त्रता अथवा सविधान की भावना के किसी सिद्धान्त का अतिक्रमण करता है, जब तक कि वे सिद्धान्त सविधान मे उल्लिखित न हों। किसी कानून की सांविधानिकता पर निर्णय देते हुए न्यायालय को कानून की बुद्धिमत्ता या बुद्धिहीनता, उसके न्याय और अन्याय से कोई सम्बन्ध नही है।"[1] अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय 'कानून की उचित प्रक्रिया' वाली धारा के आधार पर लगभग एक 'तीसरा सदन' अथवा 'उच्च विधान-मण्डल' (Third House or Super Legislature) बन गया है। न्यायाधीश ह्यूज ने लिखा है—"हम एक संविधान के अन्तर्गत तो रहते है, लेकिन संविधान वैसा ही है जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय कहता है।" भारत के सर्वोच्च न्यायालय को निश्चित रूप से ऐसी स्थिति प्राप्त नही है। अमेरिका मे 'न्यायिक सर्वोच्चता' को अपनाया गया है जबकि भारत मे न्यायिक सर्वोच्चता और संसदीय सर्वोच्चता के बीच समन्वय स्थापित किया गया है अर्थात् अमेरिकन सिद्धान्त और ब्रिटिश सिद्धान्त को मिलाने का प्रयत्न किया गया है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का संविधान में उल्लेख

भारत के सविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का उल्लेख निम्नलिखित अनुच्छेदों में मिलता है—

(अ) अनुच्छेद 13(2) (मूल अधिकारो वाला भाग)

1 *H. M. Seervai* : Constitutional Law of India, p. 56.

(ब) अनुच्छेद 246 (जिसमे संघ एव राज्यों के विधायी क्षेत्रों मे कानून बनाने की शक्तियो का उल्लेख है)

(स) अनुच्छेद 32 (जिसमें नागरिको के सांविधानिक उपचारो के अधिकार का उल्लेख है)

(द) अनुच्छेद 131 एवं 132 (जिनमे उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार तथा सांविधानिक मामलों मे अपीलीय क्षेत्राधिकार का उल्लेख है)

(अ) अनुच्छेद 13(2) के अनुसार न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति—इस अनुच्छेद मे लिखा है कि "राज्य ऐसा कोई क़ानून नही बनाएँगे जो इस भाग (मूल अधिकारो वाला भाग तीन) द्वारा दिए गए अधिकारों को छीनता या कम करता हो और इस खण्ड का उल्लघन करने वाला प्रत्येक कानून उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगा।" इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य द्वारा किए गए कार्यों को उच्चतम न्यायालय इस आधार पर देख सकता है कि वे अनुच्छेद 13(2) के अनुकूल है या नही और यदि वे अनुकूल नही है तो उन्हे असांविधानिक घोषित कर सकता है। सविधान के 24वें सशोधन 1971 से पूर्व यह अनुच्छेद देश की राजनीति मे तूफान लाने वाला सिद्ध हुआ। उच्चतम न्यायालय के निर्णय एक समान नही रहे। 1952 मे पहली बार शकरी प्रसाद के मामले मे उच्चतम न्यायालय ने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया कि संसद् मूल अधिकारो सहित सविधान के किसी भी भाग में सशोधन कर सकती है। 1965 मे सज्जनसिंह के मामले में 2/3 के बहुमत से उपरोक्त निर्णय का पुन समर्थन किया गया। लेकिन 1967 मे गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अपने पहले के निर्णय को उलट दिया। इस मामले मे उच्चतम न्यायालय के निर्णय ने सदा के लिए मूल अधिकारो को संशोधन-शक्ति से परे कर दिया। यह निर्णय 6–5 के अनुपात से लिया गया।

गोलकनाथ के निर्णय के बडे दूरगामी और क्रान्तिकारी परिणाम निकले, देश के सविधान को दी गई चुनौतियो के नए उत्तर दिए गए। अस्तु तेजी से बदलते हुए राजनीतिक सन्दर्भ मे चौबीसवे, पच्चीसवें और छब्बीसवें सशोधनो के लिए रगमच तैयार हो गया। सविधान का चौबीसवाँ सशोधन अधिनियम 1971 पारित किया गया। ससद् को मूल अधिकारों के अध्याय मे सशोधन करने का अधिकार है या नही—इस प्रश्न पर विवाद समाप्त हो गया। यह निश्चित कर दिया गया कि ससद् को सविधान के किसी भी उपबन्ध को, जिसमे मौलिक अधिकार भी आते है, संशोधित करने का अधिकार होगा। चौबीसवें सशोधन के फलस्वरूप न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र मे एक अस्पष्टता दूर हो गई। 1973 में उच्चतम न्यायालय द्वारा भी अपने निर्णय मे इस सांविधानिक संशोधन की वैधता को स्वीकार कर लिया गया।

(ब) अनुच्छेद 246 के अनुसार न्यायिक पुनर्विलोकन को शक्ति—यह

अनुच्छेद भी उच्चतम न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार को प्रकट करता है। इसमे सघ तथा राज्यो के विधायी क्षेत्रों मे कानून बनाने की शक्तियों का उल्लेख है। चूँकि सघ और राज्यो की विधायी सीमा का उल्लेख कर दिया गया है, अतः किसी भी पक्ष द्वारा इस सीमा का उल्लंघन एक असाँविधानिक कार्य है और उच्चतम न्यायालय अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग कर उसे असाँविधानिक घोषित कर सकता है। चूँकि तीनों सूचियो मे शक्तियो के वितरण की स्पष्ट व्यवस्था है और सभी परिस्थितियों का सविधान मे यथासाध्य उल्लेख कर दिया गया है, अतः उच्चतम न्यायालय को अपना 'विवेक' प्रयोग करने का अवसर बहुत कम मिल पाता है अर्थात् उसे 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के अनुसार ही किसी भी कार्य की वैधता की जाँच करनी होती है। इसके विपरीत अमेरिका में उच्चतम न्यायालय को अपने विवेक का प्रयोग करने के अवसर बहुत अधिक मिलते है क्योंकि वहाँ संविधान में सघ राज्य सम्बन्धो का वर्णन बहुत संक्षेप में किया गया है और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यो मे निहित है इसीलिए वहाँ इस प्रकार के विवाद उठते रहते है कि सघ राज्यों की अवशिष्ट शक्तियो का उल्लघन कर रहा है या नही।

(स) अनुच्छेद 32 के अनुसार न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति—इस अनुच्छेद में नागरिकों के सांविधानिक उपचार का उल्लेख है। कोई भी नागरिक यदि अनुभव करे कि उसके किसी मूल अधिकार का विशुद्ध रूप से उल्लघन हुआ है तो वह उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकता है। उच्चतम न्यायालय को यह देखने का अधिकार होगा कि क्या वास्तव मे राज्य के किसी कार्य या कानून से विशुद्ध रूप से नागरिक के मूल अधिकार का उल्लघन हुआ है। मूल अधिकारो की सुरक्षा के लिए ही उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 32(2) के अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार-पृच्छा लेख निकालने का अधिकार है। ये लेख या आदेश 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के अनुसार ही निकाले जाते है, अमेरिका की तरह 'प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त' के अनुसार नही। वास्तव मे इन रिटो (Writs) के रूप मे न्याय-प्रशासन की एक नई शाखा का विकास हुआ है।

(द) अनुच्छेद 131 एवं 132 के अनुसार न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति—अनुच्छेद 131 में उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का और अनुच्छेद 132 मे सांविधानिक मामलो मे उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार का उल्लेख है, अर्थात् ये दोनों अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को संघीय और राज्य सरकारो द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार देते है।

इस सम्पूर्ण विवेचन मे स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति ही भारत मे भी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का अधिकार सांविधानिक है पर उच्चतम न्यायालय न्यायिक पुनर्विलोकन के अपने अधिकार का प्रयोग 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के ही अनुसार कर सकता है। संविधान के लागू होने से अब तक उच्चतम न्यायालय ने इस शक्ति का प्रयोग करके अनेक महत्वपूर्ण

का या अध्यादेशों, नियमों या विनियमो को पूर्णतया या आंशिक रूप से असांविधानिक घोषित किया है।

38वें संविधान संशोधन से 43वें संविधान संशोधन तक की स्थिति

संविधान के 38वें संशोधन अधिनियम 1975 द्वारा यह व्यवस्था कर दी गई है कि आपात्कालीन स्थिति की घोषणा के राष्ट्रपति के अधिकार को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संशोधन ने राष्ट्रपति, राज्यपाल और उप-राज्यपालों द्वारा उद्घोषित आपात्कालीन स्थिति वाले अध्यादेशों को न्यायालय की सुनवाई के क्षेत्राधिकार से अलग कर दिया। 39वें संशोधन अधिनियम 1975 द्वारा राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और संसद् के अध्यक्ष के चुनावों पर विचार करने के न्यायालय के अधिकार समाप्त कर दिए गए। 40वें संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा प्रधान मन्त्री को भी राष्ट्रपति और राज्यपालों की तरह दाण्डिक तथा दीवानी कार्यवाहियों से विमुक्ति प्रदान कर दी गई।

42वें संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा उच्चतम न्यायालय की पुनर्विलोकन की शक्ति को और सीमित कर दिया गया तथा न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया। लेकिन 43वें सांविधानिक संशोधन ने न्यायिक पुनर्विलोकन सम्बन्धी प्रावधानों को समाप्त कर दिया और न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में पुनः वही स्थिति हो गई जो 42वें सांविधानिक संशोधन के पूर्व थी।

उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने ही निर्णयों पर पुनर्विचार

उच्चतम न्यायालय को, संविधान के अनुच्छेद 137 के अन्तर्गत अपने निर्णयों और आदेशों का पुनर्विलोकन करने की शक्ति प्राप्त है। न्यायालय को यह सत्ता प्रदान करने में संविधान-निर्माताओं ने अपनी बुद्धिमत्ता और सतर्कता का परिचय दिया है। "कहा जाता है कि निम्न न्यायालय का सम्बन्ध तथ्यों से है, उच्च न्यायालय का सम्बन्ध त्रुटियों (निम्न न्यायालय द्वारा निर्णय की त्रुटियों) से है तथा उच्चतम न्यायालय का सम्बन्ध विवेक बुद्धि (Wisdom) से है। किन्तु उच्चतम न्यायालय भी गलती कर सकता है इसलिए आवश्यक है कि उस त्रुटि को ठीक करने की राह खुली रखी जाए।"[1]

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
(Independence of the Judiciary)

एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका ही नागरिकों के अधिकारों और संविधान की संरक्षिका हो सकती है। भारतीय संविधान में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए निम्नलिखित उपबन्धों का समावेश किया गया है—

1. पदावधि की संरक्षा—एक बार नियुक्त किए जाने के उपरान्त न्यायाधीशों को, उसके स्वैच्छिक त्याग-पत्र के अलावा, महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा हटाया जा

1 एम. वी. पायली : वही, पृष्ठ 215.

सकता है। यह विशेप प्रक्रिया कठिन है, अतः न्यायाधीश का पद से हटाना कोई आसान कार्य नहीं है।

2. न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि विधायिका के अधिकार से परे होना—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन सविधान द्वारा नियत हैं और भारत की सचित निधि पर भारित है। उन पर ससद् मे मतदान नही हो सकता। न्यायाधीशो के कार्यकाल के दौरान उनके वेतन और भत्तो मे परिवर्तन नही किया जा सकता। वित्तीय आपात् की स्थिति ही इसका अपवाद है। साथ ही यह भी व्यवस्था है कि उच्चतम न्यायालय का कोई अवकाश प्राप्त न्यायाधीश देश के किसी न्यायालय में अथवा किसी अन्य प्राधिकारी के समक्ष वकालत नही कर सकता।

3. कार्य-प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति—उच्चतम न्यायालय को अपनी कार्य-प्रणाली के नियमों हेतु स्वयं ही नियम बनाने का अधिकार है। यह आवश्यक है कि ये नियम ससद् द्वारा निर्मित विधि के अन्तर्गत होने चाहिए और इन पर राष्ट्रपति की अनुमति ली जानी चाहिए। उच्चतम न्यायालय के निर्णय या आदेश भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर सभी न्यायाधीशो को मान्य होगे।

4. कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण—उच्चतम न्यायालय को अपने कर्मचारी-वर्ग पर पूरा नियन्त्रण सौंपा गया है, क्योंकि इसके अभाव मे उसकी स्वतन्त्रता को आघात पहुँच सकता है। न्यायालय के सभी अधिकारियो और कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशो द्वारा की जाती है। सेवा शर्तें भी न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती है।

5. संसद् क्षेत्राधिकार बढ़ा सकती है, घटा नहीं सकती—संसद् को उच्चतम न्यायालय की शक्ति और क्षेत्राधिकार को बढाने का अधिकार है, घटाने का नही। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय को ससदीय दबाव से मुक्त रखा गया है।

6. उन्मुक्तियाँ—अपनी आधिकारिक क्षमता मे किए गए न्यायालयो के निर्णय और कार्यों की आलोचना नही की जा सकती। ससद् भी न्यायाधीशों के ऐसे कार्यों पर जिसे उन्होंने कर्त्तव्य-पालन करते हुए किया हो, विचार-विमर्श नही कर सकती।

7. अवकाश प्राप्त करने के बाद वकालत करने पर प्रतिबन्ध—अवकाश-प्राप्ति के बाद न्यायाधीश भारतीय क्षेत्र मे किसी भी न्यायालय या अधिकारी के समक्ष वकालत नही कर सकते। किन्तु सविधान विशेष प्रकार के कार्य-सम्पादन के लिए उनके नियुक्ति की अनुमति देता है, उदाहरणार्थ विशेष जाँच-पड़ताल तथा अन्वेषण करना।

इस तरह हमारे सविधान मे उच्चतम न्यायालय की स्थिति बड़ी मजबूत है और उसकी स्वतन्त्रता पर्याप्त रूप से सरक्षित है। किन्तु सेवा-निवृत्त न्यायाधीशो को आयोग एव समितियो के अध्यक्ष के रूप मे नियुक्त किए जाने की वर्तमान प्रथा से न्यायपालिका का स्वतन्त्रता को खतरा उत्पन्न हो सकता है।[1] भारतीय विधि आयोग

1 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 289.

ने इस प्रथा के सकटों के बारे में संकेत करते हुए इसे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने की सरकार से सिफारिश की है। उसने कहा है—"यह स्पष्टतः अवांछनीय है कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश अपनी सेवा-निवृत्ति के पश्चात् दूसरी सरकारी नियुक्ति की तरफ देखें। उच्चतम न्यायालय में बहुत से मामलों में सरकार एक पक्षकार होती है और साधारण नागरिकों के ऊपर यह प्रभाव पडता है कि वह न्यायाधीश, जो सेवा निवृत्ति के बाद सरकार द्वारा दूसरी नियुक्ति पाने की आशा करता है, अपने कार्य-विचार की वह निष्पक्षता नहीं रख सकता, जो उन मामलों में जिनमें सरकार एक पक्षकार है, उस न्यायाधीश से अपेक्षित है। हम लोगों का यह स्पष्ट विचार है कि इस प्रथा का न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, अतएव इसे समाप्त कर देना चाहिए।"[1] बड़े खेद की बात है कि सरकार ने विधि आयोग की इस सिफारिश पर अभी तक ध्यान नहीं दिया है।



1 विधि आयोग, 14वीं रिपोर्ट, पृष्ठ 46.

17 संशोधन एवं संशोधन प्रक्रिया

(AMENDMENTS AND AMENDING PROCESS)

भारतीय सविधान में, विश्व के अन्य सविधानो की भाँति ही, सांविधानिक सशोधनों द्वारा काफी परिवर्तन-परिवर्धन हुआ है। जनवरी, 1980 के प्रारम्भ तक सविधान मे 44 संशोधन हो चुके हैं और ये सभी हमारे सविधान के 'विकासात्मक स्रोत' (Developmental Sources) है। सांविधानिक सशोधनों द्वारा न केवल सविधान के कलेवर मे विस्तार हुआ है बल्कि वह समयानुकूल बनकर अधिक प्राणवान बना है। न्यायालय का दृष्टिकोण सामान्यतः यह रहा है कि सविधान जनता के लिए है।

संशोधन प्रक्रिया
(Amending Process)

भारतीय संविधान के निर्माता विश्व के विभिन्न संघात्मक संविधानो के संचालन में हुई कठिनाइयों से परिचित थे अतः वे भारतीय सविधान को अत्यधिक अनम्यता से बचाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि सविधान देश की जनता के लिए बनाया जाता है और जन-आवश्यकताओं के साथ-साथ उसमें सामयिक परिवर्तन आवश्यक है। अतः संविधान-निर्माताओं ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। फलस्वरूप हमारा सविधान न तो इतना अनम्य है कि आवश्यक संशोधन न किए जा सके और न ही इतना नम्य ही है कि अवांछित संशोधन इच्छानुसार किए जा सकें। यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतीय संविधान नम्यता-अनम्यता (Flexibility-Rigidity) का अनोखा मिश्रण है।

सशोधन के दृष्टिकोण से सविधान के विभिन्न उपबन्ध तीन श्रेणियों में विभाजित किए गए हैं और प्रत्येक भाग के लिए पृथक् संशोधन प्रक्रिया अपनाई गई है—

1. साधारण बहुमत—कुछ संशोधन संसद् के साधारण बहुमत द्वारा हो सकते हैं। इस श्रेणी मे अनुच्छेद 4, 189 और 240 आते है। इस अनुच्छेदों को अनुच्छेद 368 के क्षेत्र से परे रखा गया है क्योंकि इनका कोई विशेष सांविधानिक महत्त्व नही है।

2. विशेष बहुमत—कुछ सशोधन संसद् के विशेष बहुमत द्वारा हो सकते हैं। इसमे सविधान के वे सभी उपबन्ध आते है जो उपरोक्त क्रम 1 और निम्नलिखित क्रम 3 मे सम्मिलित नही है। इन उपबन्धो के सशोधन के लिए केवल ससद् का विशेष बहुमत ही पर्याप्त है, राज्यों के अनुसमर्थन की आवश्यकता नही होती है। इन उपबन्धों का सशोधन ससद् के कुल सदस्यो के बहुमत तथा उसमे उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से होता है।

3. विशेष बहुमत तथा राज्यों द्वारा अनुसमर्थन—इस श्रेणी मे वे उपबन्ध हैं जो सघात्मक ढांचे से सम्बन्धित है और जिनमे सशोधन के लिए संसद् के प्रत्येक सदन के दो-तिहाई सदस्यों का बहुमत तथा कम से कम 50 प्रतिशत राज्यो के विधान-मण्डलों का अनुसमर्थन आवश्यक है। निम्नलिखित उपबन्धो के सशोधनों के लिए विशेष बहुमत तथा राज्यो का अनुसमर्थन आवश्यक है।[1]

(1) राष्ट्रपति का निर्वाचन (अनुच्छेद 54 एव 55)
(2) संघ एव राज्यों की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद 73, 131)
(3) सघ एव राज्यपालिका (अनुच्छेद 133–147, 214–231)
(4) सघ और राज्यों के बीच विधायी शक्ति का विभाजन (अनुच्छेद 245–255)
(5) ससद् मे राज्यो का प्रतिनिधित्व (अनुसूची 4)
(6) *अनुच्छेद 368*

सशोधन प्रक्रिया

सशोधन प्रक्रिया का वर्णन अनुच्छेद 368 मे है। संविधान-सशोधन-विधेयक किसी भी सदन मे प्रारम्भ किया जा सकता है। यदि सशोधन विधेयक को दोनों सदन, उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई तथा कुल सदस्यो के पूर्ण बहुमत से पारित कर दें तो उसे राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए उपस्थित किया जाता है और राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त होने पर विधेयक अधिनियम बन जाता है। संविधान सशोधन पर अनुमति देने के लिए राष्ट्रपति बाध्य है। कुछ संशोधन विधेयकों को राष्ट्रपति के समक्ष उनको अनुमति के लिए प्रस्तुत करने से पूर्व कम से कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलों का अनुसमर्थन प्राप्त करना आवश्यक है।

संविधान में सशोधन की प्रक्रिया भी विधान प्रक्रिया की ही भाँति है अतः अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत ऐसी प्रक्रिया के नियमों का ही अनुसरण किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि अनुच्छेद 368 अपने मे पूर्ण नही है और साधारण विधायी प्रक्रिया के नियमों का सहारा लेना पड़ता है।[2]

संक्षेप में भारतीय संविधान के अधिकांश उपबन्धों में संशोधन साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा ही किया जा सकता है, केवल कुछ उपबन्धों में जो सघात्मक ढाँचे से सम्बन्धित हैं, संशोधन के लिए विशेष बहुमत एवं आधे राज्यों के विधान-

1 जयनारायण पाण्डेय : भारत का सविधान, 1979, पृष्ठ 425.
2 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 426.

मण्डलों के अनुसमर्थन की आवश्यकता पड़ती है। डॉ एम. वी. पायली ने लिखा है कि "ऐसा कोई अन्य संघात्मक संविधान नही है जो इस प्रकार नम्य तथा अनम्य दोनो ही प्रकार की संशोधन प्रक्रिया का प्रयोग करे। यह विशेषता केवल भारतीय सविधान मे ही है।" 29 वर्षों मे ही 44 सशोधन हो जाने और फलस्वरूप आलोचना की जाने पर टिप्पणी करते हुए डॉ. पायली ने लिखा है—

इतने अल्पकाल मे चवालीस सशोधन पारित हो जाने से आलोचको को यह कहने का अवसर मिल गया है कि यह सविधान के कमजोर होने का ही चिन्ह है कि इतने कम समय मे इतनी अधिक बार परिवर्तित किया गया। कुछ ने यहाँ तक कहा है कि इस प्रकार के संशोधन होने से सविधान के प्रति आदर भाव में कमी आ जाती है। इन आलोचनाओ मे कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु समस्या का गम्भीरता से अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थी जिन्हें काबू में लाने के लिए तथा सांविधानिक एवं राजनीतिक स्थिरता की स्थापना के लिए ये संशोधन आवश्यक हो गए। कुछ संशोधन संविधान द्वारा पुनःस्थापित राजनीतिक व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप हुए। कुछ सशोधन उपबन्धों को व्यवहार मे लाने पर जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई उन्हे दूर करने के लिए पारित किए गए। राज्यों के पुनर्गठन से सम्बद्ध सशोधन प्रथम श्रेणी के उदाहरण है।[1] सम्मति के आधार के सशोधन दूसरे प्रकार का उदाहरण हैं। ग्रेनविल ऑस्टिन ने नम्य और अनम्य दोनों ही सशोधन प्रक्रिया के समन्वय में कोई विरोध (Contradiction) नही माना है।[2]

उल्लेखनीय है कि सविधान के 24वें सशोधन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि 'संशोधन' शब्द मे 'परिवर्द्धन, परिवर्तन और निरसन' (Addition, Variation and Repeatation) तीनों बातें सम्मिलित है।

संशोधन प्रक्रिया का मूल्यांकन
(An Evaluation of the Amending Procedure)

संविधान के भाग 20, अनुच्छेद 368 मे सांविधानिक संशोधन की जो प्रक्रिया दी गई है वह अनेक विशेषाएँ लिए हुए है, यथा—

1. भारत की राजनीतिक व्यवस्था में संसद् को प्रमुखता दी गई है, उसे अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। संविधान में संशोधन करने की व्यापक शक्तियाँ संसद् में निहित है। वह राज्यो के नामो, क्षेत्रों, सीमाओ आदि में स्वप्रेरणा से किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकती है।

2. सशोधन विधेयक प्रस्तावित करने का अधिकार राज्य विधान-मण्डलों को नहीं है।

3. संसद् को इतना सक्षम बनाया गया है कि वह न केवल संविधान के

1 डॉ. एम. वी. पायली : वही, पृ. 368.
2 *Granville Austin* : Op. cit., p. 264

अन्य अनुच्छेदों बल्कि संशोधन प्रक्रिया देने वाले अनुच्छेद 368 को भी संशोधित कर सकती है।

4. कुछ अनुच्छेदों से संशोधन के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक ठहराई गई है।

5. संशोधन विधेयक अन्तिम रूप से तभी पारित माना जाता है जब उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाए। यह व्यवस्था अमेरिकन संविधान से भिन्न है जिसमे कि संशोधन विधेयको पर राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक नहीं होती। लेकिन व्यवहार मे भारतीय राष्ट्रपति संसद् द्वारा पारित किसी संशोधन विधेयक पर अनुमति देने से इन्कार नहीं कर सकता। यह स्थिति संविधान के 24वें संशोधन मे स्पष्ट कर दी गई है।

6. कुछ संशोधन विधेयक आधे राज्यों के विधान-मण्डलों के अनुसमर्थन के उपरान्त ही पारित हो सकते हैं जबकि अमेरिकन संविधान मे यह व्यवस्था है कि तीन-चौथाई राज्यों के अनुसमर्थन पर ही कोई संशोधन विधेयक पारित हो पाता है।

7 संशोधन प्रक्रिया ऐसी रखी गई है जिसमें संघीय इकाइयों को असन्तोष न हो। महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों मे संशोधन के लिए राज्य-विधान-मण्डलो की स्वीकृति का प्रावधान रखकर संविधान-निर्माताओं ने देश की एकताकारी शक्तियों के हाथ मजबूत करने का सफल प्रयत्न किया है।

8. संशोधन-प्रक्रिया न एकदम लचीली है और न एकदम कठोर। दोनों विशेषताओं का सुन्दर और उपयोगी समन्वय इसमे किया गया है। कठोरता के तत्त्व समाविष्ट करते हुए भी संविधान को नम्य बनाया गया है ताकि वह माँग और परिस्थितियों के अनुरूप ढलते हुए प्राणवान रह सके।

संविधान की संशोधन प्रक्रिया के दोष (Flaws of the Amending Procedure) साधारणतया इस प्रकार बताए जाते है—

1. आइवर जैनिंग्स ने भविष्यवाणी की थी कि संविधान के विशाल आकार और संशोधन प्रक्रिया के कुछ जटिल होने के कारण भारत के संविधान में समयानुकूल संशोधन लाना कठिन होगा। पर जैनिंग्स का यह मत सही सिद्ध नहीं हुआ है और महत्त्वपूर्ण संशोधन भी बिना किसी विशेष कठिनाई के ला दिए गए है।

2. संशोधन विधेयकों पर संसद् के दोनों सदनो मे गतिरोध दूर करने की कोई अलग से व्यवस्था संविधान में नहीं दी गई है और संविधान-निर्माण के प्रारम्भिक वर्षों मे इस बात की बडी आलोचना हुई। लेकिन 'शंकरी प्रसाद बनाम भारतीय संघ' (1951) के मामले मे उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया कि संशोधन प्रक्रिया एक विधायी प्रक्रिया है अतः किसी संशोधन विधेयक पर दोनों सदनो के मतभेद की सूरत मे संसद् के संयुक्त अधिवेशन द्वारा उसे दूर किया जा सकता है।

3. भारत 'राज्यो का संघ' है फिर भी राज्यों को सांविधानिक संशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार न दिया जाना संघीय भावना के प्रतिकूल है। पर यह

आलोचना इस तथ्य के प्रकाश मे वजनदार नही रहती कि सविधान के और सघीय शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विषयों पर राज्य विधान-मण्डलों की स्वीकृति का प्रावधान है।

4. एक आलोचना यह की जाती है कि राज्य विधान-मण्डलो की स्वीकृति के प्रावधान के कारण कोई महत्त्वपूर्ण सशोधन इतना विलम्बित हो सकता है कि वह अपनी उपयोगिता खो दे। यह भी हो सकता है कि जब तक कुछ राज्यो के विधान-मण्डल सशोधन विधेयक पर विचार करें, तब तक आधे राज्यो के विधान-मण्डल उस पर अपनी स्वीकृति भी दे दे और इस प्रकार शेष राज्यो की स्वीकृति-अस्वीकृति सम्मति का कोई महत्त्व ही न रहे। यह आलोचना भी खोखली है क्योंकि प्रथम तो राज्य विधान-मण्डलों की स्वीकृति का प्रावधान न दिया जाना सघीय सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा; दूसरे, इससे असन्तोष और विघटनकारी प्रवृत्तियो को बल मिलेगा, और तीसरे आधे राज्यों की स्वीकृति मिलने के बाद अन्य राज्यो की स्वीकृति-अस्वीकृति का सशोधन की दृष्टि से ही विशेष महत्त्व नही रहता। यदि किसी राज्य की महत्त्वपूर्ण सम्मति के प्रकाश में कोई और परिवर्तन आवश्यक हो तो उस पर भविष्य में विचार करने की गुँजाइश खुली है। इसके अतिरिक्त कोई भी सशोधन प्रक्रिया इतनी पूर्ण नही हो सकती कि उसमे कही कोई कमी नजर ही न आए। तुलनात्मक रूप से 'अधिक उपयोगी' व्यवस्था को ही ग्रहण किया जाता है।

जुलाई, 1979 तक के सांविधानिक संशोधन

(Constitutional Amendments upto July, 1979)

1. संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 के द्वारा विभिन्न राज्यो द्वारा पारित भूमि सुधार और जमीदारी उन्मूलन अधिनियमो का मान्यकरण किया गया और सम्पत्ति के अधिकारों के सम्बन्ध मे न्यायालयो का अधिकार-क्षेत्र सीमित कर दिया गया। संविधान मे दो अनुच्छेद 31-क तथा 31-ख व एक अनुसूची और सम्मिलित कर दी गई। अनुच्छेद 15 मे भी सशोधन कर दिया गया, जिससे देश के पिछडे लोगो और अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित आदिम जातियों के विकास के लिए की गई किसी भी विशेष व्यवस्था की वैधता पर भेद-भाव के आधार पर आपत्ति न उठाई जा सके।

अनुच्छेद 19 की धारा (2) मे पूर्वापेक्षी सशोधन करके यह व्यवस्था की गई कि अन्य देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के हित मे, अथवा सार्वजनिक शान्ति-व्यवस्था, शिष्टता अथवा नैतिकता के हित मे, अथवा न्यायालय की अवमानना, मान-हानि के अथवा इस आधार पर कि अपराधी प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलेगी, आवश्यकतानुसार विचारो की अभिव्यक्ति और भाषण की स्वतन्त्रता के अधिकार पर कानून द्वारा

1. भारत का संविधान (लघु); सुभाष काश्यप : वही, पृ. 352-63; दिनमान एव हिन्दुस्तान, भारत का संविधान (वृहद रजत जयन्ती संस्करण), पृ. 279 381, तथा भारत सरकार की प्रेस विज्ञप्तियाँ।

युक्तिसगत प्रतिबन्ध लगाए जा सकते है। इन प्रतिबन्धो पर न्यायालय मे पुनर्विचार किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 19 की धारा 6 मे संशोधन करके किसी भी व्यापार, कारोबार, उद्योग अथवा नौकरी करने के नागरिकों के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने की अनुमति दे दी गई, जिससे सरकार राष्ट्रीयकरण की कोई योजना लागू करने अथवा कोई पेशा, काम, व्यापार अथवा व्यवसाय करने के लिए आवश्यक व्यावसायिक अथवा तकनीकी अर्हता लगाने मे समर्थ हो सके।

2. संविधान (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1952 के द्वारा लोकसभा मे प्रतिनिधित्व सम्बन्धी अनुच्छेद 81(1) मे सशोधन किया गया। सशोधन से पूर्व के अनुच्छेद के अनुसार 'प्रत्येक साढे सात लाख जनसख्या के लिए कम से कम एक और प्रत्येक पाँच लाख जनसख्या के लिए अधिक से अधिक एक' प्रतिनिधि की व्यवस्था थी। सशोधन ने 'प्रत्येक साढ़े सात लाख जनसख्या के लिए कम से कम एक' शब्दों को लुप्त कर दिया।

3. संविधान (तृतीय संशोधन) अधिनियम, 1955 के द्वारा सविधान की सप्तम अनुसूची की तीसरी सूची की 33वी प्रविष्टि मे सशोधन करके केन्द्र को खाद्य पदार्थ, पशुओं का चारा कच्ची रुई और कच्चे पटसन के बारे मे विधि-निर्माण का अधिकार दिया गया।

4. संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 के द्वारा सविधान के अनुच्छेद 31, 31 (क) और 305 मे सशोधन किए गए। चतुर्थ सशोधन का प्रमुख उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि यदि राज्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिए विधि द्वारा किसी सम्पत्ति को अर्जित अथवा अधिग्रसित करे तथा विधि में प्रतिकर की राशि अथवा उसके निर्धारण के सिद्धान्तो का उल्लेख कर दे तो ऐसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नही की जा सकती कि प्रतिकर अपर्याप्त है। नवी अनुसूची मे सात अधिनियम जोड़ दिए गए ताकि उनकी वैधता पर भी किसी न्यायालय मे आपत्ति न उठाई जाए।

5. संविधान (पंचम् संशोधन) अधिनियम, 1955 के द्वारा सविधान के अनुच्छेद 3 के परन्तुक मे सशोधन करके यह प्रावधान किया गया कि किसी राज्य की सीमा, क्षेत्र या नाम मे परिवर्तन करने वाले विधेयक को सम्बद्ध राज्य के विधान-मण्डल के पास भेजा जाएगा तथा उसे अपने विचार प्रकट करने के लिए निश्चित समय दिया जाएगा। विधेयक ससद् के समक्ष तभी पेश किया जा सकेगा, जब दिए गए समय की अवधि समाप्त हो गई हो।

6. संविधान (षष्ठ संशोधन) अधिनियम, 1956 के द्वारा संविधान की सप्तम अनुसूची की प्रथम सूची में एक और प्रविष्टि 92 (क) जोड दी गई जिसके अनुसार समाचार-पत्रो को छोड़ कर और सब वस्तुओं पर अन्तर्राज्य व्यापार और वाणिज्य मे क्रय-विक्रय पर कर संघ विधानपालिका के अधिकार क्षेत्र मे आ गया।

संविधान के अनुच्छेद 269 और 286 में तथा राज्य सूची की 54वीं प्रविष्टि में भी इस आशय के आवश्यक संशोधन किए गए।

7. संविधान (सप्तम् संशोधन) अधिनियम, 1956 के द्वारा राज्यों के पुनर्गठन की योजना को क्रियान्वित किया गया। राज्यों का (क), (ख), (ग) वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया तथा देश को एक स्तर के 14 राज्यों और 6 संघ राज्य-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया। राज्यों का पुनर्गठन प्रायः भाषायी आधार पर किया गया। संविधान की प्रथम अनुसूची के स्थान पर नई अनुसूची रख दी गई जिसमें पुनर्गठित राज्यों के तथा संघ राज्य-क्षेत्रों के नामों और राज्य-क्षेत्रों का उल्लेख किया गया। अनुच्छेद 1 तथा चौथी अनुसूची में भी आवश्यक संशोधन किए गए। इस सबके अतिरिक्त लोकसभा, राज्यों के विधान-मण्डलों, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों तथा संघ राज्य-क्षेत्रों के प्रशासन आदि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित उपबन्धों में भी बहुत छोटे-बड़े संशोधन किए गए।

8. संविधान (अष्टम् संशोधन) अधिनियम, 1959 के द्वारा अनुच्छेद 334 में संशोधन करके अनुसूचित जातियों के लिए लोकसभा और राज्य विधान-सभाओं में स्थानों के विशेष आरक्षण तथा आंग्ल भारतीयों के लिए मनोनयन द्वारा विशेष प्रतिनिधित्व की अवधि 10 वर्ष से बढ़ाकर 20 वर्ष कर दी गई।

9. संविधान (नवम् संशोधन) अधिनियम, 1960 के द्वारा सीमा-विवाद सम्बन्धी 10 सितम्बर, 1958, 23 अक्टूबर, 1959 और 11 जनवरी, 1960 को हुए भारत-पाकिस्तान समझौतों की शर्तों को कार्यान्वित करने और कुछ क्षेत्र पाकिस्तान को हस्तान्तरण करने के लिए संविधान की प्रथम अनुसूची में संशोधन किया गया।

10. संविधान (दशम् संशोधन) अधिनियम, 1961 के द्वारा दादरा और नगर हवेली नामक दो बस्तियों को भारत का अंग बना लिया गया। पहले ये बस्तियाँ पुर्तगालियों के कब्जे में थीं किन्तु वहाँ की जनता ने पुर्तगालियों को निकाल भगाया था और उनकी वरिष्ठ पंचायत ने भारत सरकार से प्रार्थना की थी कि उन्हें भारत का अंग मान लिया जाए। दादरा और नगर हवेली को एक पृथक (सातवाँ) संघ राज्य-क्षेत्र बना दिया गया।

11. संविधान (ग्यारहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1961 के द्वारा राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रणाली में कुछ परिवर्तन किए गए। संशोधन के बाद राष्ट्रपति को चुनाव के इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि निर्वाचन-गण का निर्वाचन पूर्ण नहीं हुआ था। उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक करने भी [illegible] अनावश्यक कर दिया गया। अब दोनों सदनों के सदस्य मतदान [illegible] दे सकते हैं। यह सब करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 66 (1) संशोधन किए गए।

12. संविधान (बारहवां संशोधन) अधिनियम, 1962 के द्वारा गोआ, दमन और दीव को भारत का अंग घोषित किया गया तथा उन्हें भारत संघ का आठवां संघ राज्य-क्षेत्र बना दिया गया।

13. संविधान (तेरहवां संशोधन) अधिनियम, 1962 के द्वारा नागालैण्ड को भारत का एक नया राज्य घोषित किया गया तथा संविधान में एक नया अनुच्छेद 371 (क) जोड़कर इस नए राज्य पर लागू होने वाले कुछ विशेष उपबन्धों को मान्यता दी गई। नागालैण्ड राज्य का विधिवत् सूत्रपात दिसम्बर, 1962 में हुआ।

14. संविधान (चौदहवां संशोधन) अधिनियम, 1962 के द्वारा भारत में पुरानी फ्रांसीसी आधिपत्य वाली बस्तियों— पाँडिचेरी, कारिकल, माहे और यमन— को पाँडिचेरी के नाम से विधिवत् भारत का अंग और एक संघ राज्य-क्षेत्र घोषित किया गया। संविधान के अनुच्छेद 81 तथा चौथी अनुसूची में उचित संशोधन करके अधिनियम द्वारा संसद् के दोनों सदनों में इस क्षेत्र के प्रतिनिधित्व के लिए भी व्यवस्था की गई।

इसके अतिरिक्त, चौदहवें संशोधन के द्वारा संसद् को सन् 1955 से पहले के भाग 'ग' के राज्यों में लागू पद्धति के अनुसार ही हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, गोआ, दमन तथा दीव और पाण्डिचेरी के संघीय क्षेत्रों में विधान-मण्डलों तथा मन्त्रि-परिषदों की स्थापना के उद्देश्य से कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ। यह उपबन्ध संघीय-क्षेत्रों में लोकतान्त्रिक ढांचे की सरकार की लोकप्रिय मांग की पुष्टि के लिए सम्मिलित किया गया है।

15. संविधान (पन्द्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1963 के द्वारा अनुच्छेद 217 (1) में संशोधन कर उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की अवकाश ग्रहण की आयु 60 से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दी गई। अनुच्छेद 217 में एक धारा जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया कि यदि उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश की सही आयु का प्रश्न उठता है तो उसका निर्णय राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा।

पन्द्रहवें संशोधन ने न्यायांग से सम्बन्धित और भी कई संशोधन किए, विशेषतः अनुच्छेद 128 में अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों की नियुक्ति करने, अनुच्छेद 222 में स्थानान्तरित न्यायाधीशों को कुछ अतिरिक्त भत्ता देने तथा अनुच्छेद 226 में उच्च न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र विस्तृत करने के बारे में अनुच्छेद 311 में वैधिक स्थिति स्पष्ट करने हेतु तथा 316 में लोक सेवा संघ के अध्यक्ष की अनुपस्थिति आदि में कार्यवाहक अध्यक्ष की नियुक्ति का प्रावधान करने के लिए संशोधन किए गए। अनुच्छेद 124 में एक नई धारा जोड़ दी गई, जिसके अनुसार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की आयु का प्रश्न संसद् द्वारा बनाई विधि में निर्देशित ढंग से तय किया जाएगा।

16. संविधान (सोलहवां संशोधन) अधिनियम, 1963 के द्वारा देश की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता के हित में वाक्-अभिव्यक्ति, व्यक्तियों के एकत्रित होने तथा

सभी संस्थाएँ स्थापित करने की स्वतन्त्रतामूलक अधिकारो पर उचित प्रतिबन्ध लगाने वाले कानून बनाने मे सरकार को समर्थ बनाने के उद्देश्य से अनुच्छेद 19 मे संशोधन किया गया।

इस अधिनियम के द्वारा अनुच्छेद 84 तथा 173 मे और तीसरी अनुसूची में दिए गए शपथ-पत्र मे भी संशोधन किया गया, जिसके अनुसार राज्य विधान-मण्डल में निर्वाचन के प्रत्याशी, केन्द्र तथा राज्यो के मन्त्री, ससद् तथा राज्य विधान-मण्डलो के सदस्य, सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के न्यायाधीश और भारत का महालेखा परीक्षक तथा लेखा-नियन्त्रक भारत की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता बनाए रखने की शपथ लेगा।

17. संविधान (सत्रहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1964 के द्वारा सविधान के अनुच्छेद 31 (क) मे प्रयुक्त 'एस्टेट' शब्द की परिभाषा को स्पष्ट करने तथा भूमि सुधार सम्बन्धी कुछ और विधियों की सांविधानिक वैधता के बारे में सन्देह दूर करने हेतु अनुच्छेद 31 (क) मे तथा नवी अनुसूची मे सशोधन किए गए। अनुसूची में जोडे गए नए अधिनियमो की सख्या 44 थी।

18. संविधान (अठारहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1966 के द्वारा अनुच्छेद 3 में सशोधन करके यह स्पष्ट किया गया कि इस अनुच्छेद की धारा (क) से (घ) मे प्रयुक्त 'राज्य' शब्द मे वे शामिल नही है। सशोधन ने यह भी स्पष्ट किया कि अनुच्छेद 3 (क) के द्वारा ससद् को दी गई शक्ति के अन्तर्गत किसी राज्य का अथवा सघ राज्य-क्षेत्र का एक भाग किसी दूसरे राज्य या राज्य-क्षेत्र मे मिलाकर भी एक नए राज्य या सघ राज्य-क्षेत्र का गठन किया जा सकता है।

19. संविधान (उन्नीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1966 से संविधान के अनुच्छेद 324 में संशोधन करके निर्वाचन-न्यायाधिकरणों का अन्त कर दिया तथा निर्वाचन सम्बन्धी विवादो के सीधे उच्च न्यायालय मे ले जाए जाने की व्यवस्था की।

20. संविधान (बीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1966 के द्वारा उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यो मे कुछ जिला न्यायाधीशो की नियुक्ति, स्थानान्तरण तथा निर्णयों को वैधता प्रदान की गई। ऐसा करने के लिए बीसवें संशोधन से संविधान मे एक नया अनुच्छेद 233 (क) जोड़ा। इस अनुच्छेद की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने अपने दो निर्णयों के द्वारा कुछ [illegible] जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति को अवैध घोषित कर दिया था।

21. संविधान (इक्कीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1967 के द्वारा संविधान की आठवी अनुसूची मे राष्ट्रीय भाषाओं में सिन्धी को भी शामिल कर लिया गया। सिन्धी को मिलाकर सूची मे 15 भाषाएँ हो गई।

22. संविधान (बाईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1969 के द्वारा संसद को अधिकार दिया गया कि वह विधि द्वारा असम राज्य मे कुछ [illegible] स्वायत्त उपराज्य बना सकती है तथा उसके लिए [illegible]

अथवा मन्त्रि-परिषद् या दोनो की व्यवस्था कर सकती है। संशोधन के द्वारा संविधान मे इस आशय का नया अनुच्छेद 244 (क) जोड़ दिया गया। एक अन्य नए अनुच्छेद 371 (ख) के द्वारा असम विधान-सभा मे कबाइली क्षेत्रो के तथा कुछ अन्य सदस्यो की एक समिति का प्रावधान किया गया।

23. संविधान (तेईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1969—इसके द्वारा निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई—(1) अनुसूचित जातियों और जनजातियो के लिए संरक्षण की अवधि संविधान लागू होने से 30 वर्ष तक की अवधि तक के लिए अर्थात् 26 जनवरी, 1980 तक के लिए कर दी गई, (2) नागालैण्ड मे अनुसूचित जातियो के लिए वही व्यवस्था की गई, जो असम राज्य के लिए की गई थी, (3) राज्यपालो के हाथ मे केवल एक आंग्ल-भारतीय को मनोनीत करने की शक्ति रह गई।

24. संविधान (चौबीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1971—उच्चतम न्यायालय ने फरवरी, 1967 मे गोलकनाथ विवाद मे जो निर्णय दिया था, उससे संसद् की संविधान मे संशोधन की शक्ति सीमित हो गई थी और संसद् मौलिक अधिकारो को छीनने अथवा कम करने वाला कोई विधेयक पास नही कर सकती थी। 24वें संशोधन से यह निश्चित कर दिया गया कि संसद् को संविधान के किसी भी उपबन्ध में, जिसमे मौलिक अधिकार भी सम्मिलित है, संशोधन करने का अधिकार होगा। इस संशोधन द्वारा संशोधन-प्रक्रिया की कुछ अस्पष्टताएँ भी दूर की गई। यह स्पष्ट कर दिया कि जब संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कोई संशोधन विधेयक राष्ट्रपति के सम्मुख रखा जाएगा, तो वह उस पर स्वीकृति देने से मना नही करेगा। यह भी निश्चित किया गया कि संशोधन विधेयक पर दोनो सदनो मे मतभेद होने पर, दोनो सदनो की संयुक्त बैठक में बहुमत से उस विधेयक के भाग्य का निर्णय किया जाएगा।

25. संविधान (पच्चीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1971—इस संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित अनुच्छेद 31 को संशोधित करके और अनुच्छेद 31 (ग) के बाद कुछ शब्द जोड़ कर यह व्यवस्था की गई कि सम्पत्ति के सार्वजनिक दृष्टि से अर्जन और उसके मुआवजे की राशि को न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकेगी।

26. संविधान (छब्बीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1971—इस संशोधन द्वारा देशी नरेशों के प्रिवीपर्सों तथा विशेषाधिकारो को समाप्त कर दिया गया।

27. संविधान (सत्ताइसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972—इसके द्वारा भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र का पुनर्गठन करके मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया। इसके अतिरिक्त अरुणाचल और मिजोरम नामक दो नए संघ-शासित क्षेत्रो की स्थापना की गई। फलस्वरूप राज्यो की संख्या 21 और संघ-शासित क्षेत्रो की संख्या 9 हो गई।

28. संविधान (अट्ठाइसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा आई सी एस. अधिकारियों के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया गया और संविधान का अनुच्छेद 314 लुप्त कर दिया गया।

29. संविधान (उन्नतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा केरल के भूमि सुधार के दो विधेयकों को संविधान की नवम् अनुसूची में शामिल कर लिया गया। अब इन्हे अदालत में चुनौती नही दी जा सकती।

30. संविधान (तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा 20,000 से कम सम्पत्ति के मामले भी उच्चतम न्यायालय में सुने जा सकने का प्रावधान किया गया है बशर्ते कि उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र दे दे कि उसमे सामान्य हित सम्बन्धी कानून का प्रश्न निहित है और मुकदमा उच्चतम न्यायालय द्वारा फैसले के लायक है।

31. संविधान (इकत्तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा लोकसभा की सदस्य सख्या बढ़ाकर 545 कर दी गई, जिनमें से 525 राज्यों का और 20 संघ-शासित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेंगे।

32. संविधान (बत्तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा सविधान मे एक नया अनुच्छेद 371 (घ) जोड़ा गया जिसमें आन्ध्र प्रदेश के लिए कुछ प्रावधानों की व्यवस्था की गई। यह सशोधन दल-बदल को रोकने के सम्बन्ध मे भी है, जिस पर अभी कानून नही बन पाया है।

33. संविधान (तितीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा सघ एवं राज्य विधान-मण्डल के प्रधान अधिकारी (प्रीसाईडिंग आफिसर, अध्यक्ष) को यह अधिकार प्रदान करता है कि यदि वह समझे कि विधान-मण्डल के किसी सदस्य ने किसी दबाव या बाध्यता के अधीन सदन की सदस्यता से त्याग-पत्र दिया है तो वह इस त्याग-पत्र को स्वीकार करने से इन्कार कर दे।

34. संविधान (चौंतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा राज्य सरकारों को 17 भूमि सुधार कानूनों के विरुद्ध मुकदमे से रक्षा करने की व्यवस्था है। इस प्रकार यह सशोधन भूमि सुधार कानूनों को न्यायपालिका के विचार-क्षेत्र से अलग कर देता है।

35. संविधान (पैंतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा सिक्किम को भारत के सह-राज्य का दर्जा दिया गया।

36. संविधान (छत्तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा सिक्किम को भारतीय सघ का अभिन्न अंग बना लिया गया और इस तरह सिक्किम भारत का 22वाँ राज्य बन गया।

37. संविधान (सैंतीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा अरुणाचल प्रदेश के विधान-मण्डल और मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई।

38. संविधान (अड़तीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा संविधान के अनुच्छेदों 123, 213, 239 बी, 352, 356, 359 और 360 में संशोधन किया

गया। इस संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई कि आपात् स्थिति की घोषणा के राष्ट्रपति के अधिकार को न्यायालय मे चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संशोधन ने राष्ट्रपति, राज्यपालो और उप-राज्यपालो द्वारा उद्घोषित आपातकालीन स्थिति वाले अध्यादेशो को न्यायालयों की सुनवाई के क्षेत्राधिकार से अलग कर दिया।

39. संविधान (उन्तालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और ससद् के अध्यक्ष के चुनावों पर विचार करने के न्यायालयों के अधिकार खत्म हो गए। सशोधन द्वारा यह व्यवस्था भी की गई है कि संसद् इन चार पदो के चुनाव सम्बन्धी विवादों के हल के लिए ऐसे कानून बना सकेगी जो इन पर विचार करने के लिए कोई परिषद् बनाएगी। संशोधन के द्वारा इन चार पदों के सम्बन्ध मे न्यायालयों ने जो भी निर्णय दिए है वे रद्द माने जाएँगे और चुनाव हर दृष्टि से वैध माने जाएँगे। यदि इस तरह के मुकदमे किन्ही न्यायालयों मे हों तो उन्हे संशोधन मे किए गए हाल के संशोधन को ध्यान मे रखकर खत्म कर दिया जाएगा।

40. संविधान (चालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा केन्द्र तथा राज्यों द्वारा निर्मित 64 कानूनो को नई अनुसूची में शामिल कर दिया गया है। अब इन कानूनो को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। ये कानून मुख्यतः भूमि सुधार एव शहरी भूमि सीमा बंदी, आवश्यक वस्तुओं, बँधुआ मजदूरी की समाप्ति, तस्करो की सम्पत्ति जब्त करने, आपत्तिजनक सामग्री के प्रकाशन आदि से सम्बन्धित हैं। इसी सशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 297 को सशोधित करके यह प्रावधान किया गया है कि पूरी भूमि और भारत के आर्थिक क्षेत्र मे अथवा क्षेत्रीय समुद्र में आने वाले सभी खनिज एव अन्य ससाधनों पर केन्द्रीय सरकार का एक मात्र अधिकार है।

41. संविधान (इकतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 316(2) मे परिवर्तन किया गया। तद्नुसार राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों और अध्यक्ष की सेवा निवृत्ति आयु 60 वर्ष से बढाकर 62 वर्ष कर दी गई।

42. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976—भारत के संविधान मे अब तक किए गए सभी संशोधनों मे 42वां संशोधन अधिनियम सबसे बड़ा है। इस सशोधन द्वारा संविधान की मौलिकता में अभूतपूर्व परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। इसके द्वारा सविधान के 38 अनुच्छेदो में संशोधन किया गया 15 नए अनुच्छेद जोड़े गए तथा 4 अनुच्छेदो की मूल व्यवस्था की नई व्यवस्थाओ द्वारा परिवर्तित किया गया। 42वें संशोधन की प्रमुख व्यवस्थाओं और उद्देश्यों को डॉ० एम० वी० पायली ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है[1]—

(क) धर्म निरपेक्ष समाजवाद की स्थापना,
(ख) राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वो को प्रमुखता देना,

1 डॉ. एम. वी. पायली : *भारतीय संविधान, 1977*, पृष्ठ 373–74.

(ग) नागरिक के मौलिक कर्त्तव्य निर्धारित करना,
(घ) राष्ट्रपति की शक्ति को नियन्त्रित करना,
(ङ) लोकसभा की अवधि छः वर्ष निश्चित करना,
(च) संसद् की सप्रभुता स्थापित करना,
(छ) सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को सीमित करना,
(ज) प्रशासनिक तथा अन्य न्यायाधिकरण की स्थापना, एवं
(झ) नागरिकों के मौलिक अधिकारों को संकुचित करना।

बयालीसवें संशोधन अधिनियम की कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार है—

प्रस्तावना—प्रस्तावना में तीन नए शब्द 'धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी तथा राष्ट्र की अखण्डता' जोड़े गए।

मूल कर्त्तव्यों की व्यवस्था—अधिकार के साथ-साथ कर्त्तव्यों की व्यवस्था करते हुए नागरिकों के दस मूलभूत कर्त्तव्य निश्चित किए गए।

मौलिक अधिकार—मौलिक अधिकारों मे एक नया अनुच्छेद 31 (ग) जोड़ कर संसद् को राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों का नियन्त्रण या रोक का अधिकार दिया गया, चाहे इससे मौलिक अधिकार सीमित होते हों।

नीति निदेशक तत्त्व—संशोधन द्वारा मौलिक अधिकारों की तुलना में नीति निदेशक तत्त्वों को प्रमुखता की स्थिति प्रदान की गई। कहा गया कि निदेशक तत्त्वों को लागू करने के लिए संसद् जिन कानूनों का निर्माण करे, उन्हे इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि ये कानून संविधान-प्रदत्त किसी अधिकार को सीमित या समाप्त करते हैं। संशोधन द्वारा निदेशक तत्त्वो मे कुछ नवीन तत्त्व भी जोड़े गए—यथा, पिछड़े वर्ग को मुफ्त कानूनी सहायता, बच्चो को स्वस्थ रूप मे विकास के लिए अवसर और सुविधाएँ प्रदान करना, औद्योगिक संस्थानो के प्रबन्ध मे कर्मचारियों को भागीदार बनाना, देश के पर्यावरण की सुरक्षा और उसका विकास ताकि वन्य जीवन और जंगलो की रक्षा हो सके।

राष्ट्रपति—यह स्पष्ट कर दिया गया कि राष्ट्रपति के लिए मन्त्रिमण्डल के सुझावों को स्वीकार करना आवश्यक होगा। इस प्रकार इस मत की पुष्टि की गई कि राष्ट्रपति केवल एक औपचारिक प्रधान है।

आपात्कालीन उपबन्ध—यह व्यवस्था की गई कि अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपात्काल की घोषणा पूरे देश के लिए एक साथ की जा सकती है या देश के किसी एक अथवा कुछ भागो के लिए (जैसी कि जरूरत हो)। यह भी निश्चित किया गया कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत संसद् द्वारा एक बार मे एक वर्ष के लिए संकटकाल लागू किया जा सकता है।

लोकसभा और विधान-सभा—संशोधन द्वारा लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के कार्यकाल को 5 वर्ष की बजाय 6 वर्ष कर दिया गया।

केन्द्र-राज्य सम्बन्ध—संशोधन द्वारा शिक्षा, नाप-तौल, वन और जानवर तथा पक्षियों की रक्षा—ये विषय राज्य सूची से निकाल कर समवर्ती

मे रख दिए गए। यह व्यवस्था भी की गई कि भारत सरकार द्वारा संघ की कोई सशस्त्र सेना या अन्य कोई बल राज्य के अन्तर्गत कानून अथवा व्यवस्था के सम्बन्ध मे उत्पन्न किसी गम्भीर समस्या से निपटने के लिए भेजी जा सकेगी। जब कभी ऐसे सशस्त्र बल का प्रयोग किया जाएगा तो वह केन्द्रीय सरकार के आदेशों का ही पालन करेगा।

संसद् की सर्वोच्चता—इस सशोधन का एक मुख्य उद्देश्य 'ससद् की सर्वोच्चता' स्थापित करना बताया गया। यह व्यवस्था की गई कि ससद् द्वारा सविधान मे किए गए किसी भी सशोधन को सिवाय इसके कि अनुच्छेद 368 द्वारा निश्चित की गई प्रक्रिया को नही अपनाया गया है, अन्य किसी आधार पर न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकेगी। ससद् और राज्य विधान-मण्डलो के सदस्यो के अनर्हता-विषयक मामलो को न्यायालयो की आधिकारिता से परे कर दिया गया।

गणपूर्ति—अपने अधिवेशनो के लिए गणपूर्ति-निर्धारण की शक्ति ससद् के प्रत्येक सदन को प्रदान कर दी गई। इस सशोधन मे पहले गणपूर्ति, सविधान के अनुसार कुल सदस्यो का 1/10 निश्चित थी। इसी प्रकार के परिवर्तन उन अनुच्छेदो मे किए गए जो राज्य विधानमण्डल से सम्बन्धित है।

न्यायपालिका—न्यायपालिका के क्षेत्र मे बहुत महत्त्वपूर्ण संशोधन किए गए। कई रूपो मे उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की शक्ति मे कमी की गई—प्रथम, यह व्यवस्था की गई कि देश का कोई भी न्यायालय सांविधानिक सशोधन की वैधता पर विचार नही कर सकता। उच्चतम न्यायालय राज्य के कानून की वैधता पर तथा उच्च न्यायालय केन्द्र के कानून की वैधता पर विचार नही कर सकता। द्वितीय, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा किए जाने वाले न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया। तृतीय, प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों मे न्यायाधिकरण की स्थापना की व्यवस्था करके भी न्यायपालिका के क्षेत्राधिकार को सीमित किया गया।

42वें सांविधानिक संशोधन मे अनेक और भी ऐसे परिवर्तन किए गए जो लोकतान्त्रिक परम्परा से मेल नही खाते थे।

बयालीसवें संशोधन का मूल्यांकन—यह सशोधन भारतीय संसद् और सविधान दोनों के ही इतिहास मे अभूतपूर्व विवाद और चर्चा का विषय रहा। डॉ० एम० वी० पायली ने लिखा है कि सविधान के बयालीसवें सशोधन को लोकसभा मे आपात्काल के दौरान प्रस्तुत किया गया था। यह वह समय था जबकि विरोधी राजनीतिक दलो के अधिकांश नेता तथा संसद् सदस्य (कुछ ऐसे कांग्रेसी संसद्-सदस्य, भी जिनका सरकार की नीति से विरोध था) आंतरिक सुरक्षा कानून अथवा भारत-सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत कारागार मे बन्द थे। समाचार-पत्रों पर सेंसरशिप लागू थी। देश की जनता भय के वातावरण मे जी रही थी। ऐसी स्थिति मे संशोधन विधेयक पर ससद् से बाहर स्वस्थ तथा कुशल वाद-विवाद

सम्भव नहीं था। फिर भी देश के कुछ बुद्धिजीवी तथा कानून-वेत्ताओं ने उक्त संशोधनों का विरोध किया। विरोध का प्रमुख आधार यह था कि लोकसभा जिसकी अवधि समाप्त हो चुकी है।[1] संविधान में संशोधन करने की अधिकारी नहीं रह गई है। इस वर्ग की माँग यह थी कि पहले आम निर्वाचन द्वारा नई लोकसभा को गठित किया जाए तथा तब उसे ही संशोधनों पर विचार करने का अधिकार हो। पर सरकार ने इन माँगों अथवा परामर्शों पर ध्यान नहीं दिया। अन्ततः 42वाँ संशोधन पारित होकर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के पश्चात् विधि बन गया। इन सारी क्रियाओं में सिर्फ ढाई महीनों का समय लगा। पिछली सरकार द्वारा शीघ्रता से की गई यह कार्यवाही यह संकेत देती है कि इसके पीछे सरकार का निहित स्वार्थ कार्य कर रहा था न कि जन-साधारण के कल्याण की भावना।

भूतपूर्व महाधिवक्ता सी० के० दफ्तरी ने कहा था—"42वें सांविधानिक संशोधन का उद्देश्य और लक्ष्य व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता स्थापित करना घोषित किया गया था, किन्तु वास्तव में इसकी रचना प्रधान मन्त्री-पद में मूर्तिमान कार्यपालिका की पूर्ण सत्ता स्थापित करने के लिए की गई थी। इस प्रकार 42वें सांविधानिक संशोधन के उद्देश्य और लक्ष्य के सम्बन्ध में जनता को भ्रम में डाला गया।"

कांग्रेस के 30 वर्षीय एकछत्र शासन को समाप्त कर सत्तारूढ़ नई जनता सरकार 42वें संशोधन को यथावत् बनाए रखने के पक्ष में नहीं थी। लोकसभा चुनाव अभियान के दौरान ही जनता पार्टी ने मतदाताओं को आश्वासन दिया था कि सत्तारूढ़ होने पर वह 42वें संशोधन की अनुपयुक्त व्यवस्थाओं को रद्द करेगी। जनता पार्टी ने चुनाव जीता और जनता सरकार ने क्रमशः 43वें और 44वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा 42वें संशोधन की अनेक व्यवस्थाओं को रद्द करके लोकतान्त्रिक प्रणाली को पुनः सजीवता प्रदान की।

43. संविधान (तैंतालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1977—इस संशोधन द्वारा 42वें संशोधन अधिनियम की कुछ आपत्तिजनक व्यवस्थाओं को—विशेषकर न्यायपालिका से सम्बन्धित अवांछित व्यवस्थाओं को रद्द कर दिया गया। प्रथम, संसद् की यह शक्ति समाप्त कर दी गई कि वह राष्ट्र-विरोधी समुदायों और गतिविधियों पर नियन्त्रण लगा सके। इस प्रकार यह भय समाप्त हो गया कि संसद् शासक दल के प्रभाव में आकर इस शक्ति का दुरुपयोग कर सकती है। द्वितीय, न्यायपालिका को पुनः उसका उचित स्थान दे दिया गया। उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों की शक्ति और न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में पुनः वही व्यवस्था कर दी गई जो 42वें संशोधन के पूर्व थी। इस प्रकार 43वें संशोधन ने यह निश्चित कर दिया कि उच्चतम न्यायालय राज्य के कानूनों को अवैध घोषित

1 लोकसभा की सामान्य अवधि पाँच वर्ष है, जो आपातकाल के दौरान बढ़ाकर छः वर्ष कर दी गई थी।

कर सकेंगे और उच्च न्यायालय भी केन्द्रीय कानूनों की सांविधानिक वैधता के प्रश्न पर विचार कर सकेंगे।

44. संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978—राष्ट्रपति ने संविधान के 44वें संशोधन विधेयक 1978 पर 30 अप्रेल, 1978 को अपनी स्वीकृति प्रदान की। संविधान में यह संशोधन अधिकांश राज्य विधान-सभाओं द्वारा किए गए अनुसमर्थन के बाद किया गया। इस संशोधन अधिनियम को जनता सरकार ने कांग्रेस सरकार द्वारा आपात्काल में किए गए 42वें संशोधन के अवांछित परिवर्तनों को समाप्त करने के लिए पारित किया। यह अधिनियम 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा लाई गई विकृतियों को दूर तो करता ही है, साथ ही साथ आपात् उपबन्धों में परिवर्तन कर इस शक्ति के कार्यपालिका द्वारा भविष्य में दुरुपयोग को भी रोकने का प्रयास करता है। 42वें संशोधन अधिनियम के समान 44वां संशोधन अधिनियम भी एक विशद् विधान है जिसमें कुल मिलाकर 49 खण्ड हैं। मूल रूप से इसमें 54 खण्ड थे किन्तु कांग्रेस बहुमत वाली राज्यसभा ने पांच खण्डों को स्वीकार नहीं किया। 44वें संशोधन अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

1. सम्पत्ति का अधिकार अब मूल अधिकार नहीं रह गया है। अब यह केवल कानूनी अधिकार हो गया है। इसके लिए अनुच्छेद 19 में संशोधन कर लिया गया है तथा अनुच्छेद 31 को समाप्त कर दिया गया है। लेकिन इस बात को सुनिश्चित किया गया है कि कोई भी व्यक्ति कानून सम्मत तरीके के अलावा किसी अन्य तरीके से अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

2. इस बात की पूर्ण व्यवस्था की गई है कि ऐसा आपात्काल न लगाया जा सके तथा कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों का दुरुपयोग न किया जा सके, जैसा कि जून, 1975 से मार्च, 1977 तक की अवधि के आन्तरिक आपात्काल के दौरान किया गया था। नागरिकों को जीवन तथा स्वतन्त्रता सहित अन्य मूल अधिकार अचिरस्थायी बहुमत द्वारा नहीं छीने जा सकेंगे। यह व्यवस्था की गई है कि आपात्काल की घोषणा उसी दशा में की जा सकेगी जब भारत या इसके किसी क्षेत्र को युद्ध या बाहरी हमले या सशस्त्र विद्रोह का खतरा उत्पन्न हो गया हो। सशस्त्र विद्रोह के अलावा अन्य प्रकार के आंतरिक उपद्रवों के आधार पर आपात्काल की घोषणा नहीं की जा सकेगी।

यह व्यवस्था की गई है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को दी गई लिखित रूप में सलाह के आधार पर ही आपात्काल की घोषणा की जा सकेगी। इस घोषणा को दोनों सदनों द्वारा उसी बहुमत से स्वीकार किया जाना होगा जितना बहुमत संविधान में संशोधन के लिए आवश्यक होता है और यह स्वीकृति एक महीने की अवधि के भीतर दी जानी होगी। अगर लोकसभा आपात्काल की घोषणा को जारी रखने को अस्वीकार करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित कर देती है तब भी यह घोषणा निरस्त हो जाएगी। इस घोषणा को अस्वीकार करने के लिए

18 राज्यपाल पद और उसका कार्यकरण

(OFFICE OF THE GOVERNOR AND ITS WORKING)

किसी भी संघ राज्य के समान भारत में दोहरी शासन-व्यवस्था है—एक केन्द्र की शासन-व्यवस्था और दूसरी संघ के अन्य राज्यों या अवयवी इकाइयों की शासन-व्यवस्था। केन्द्र की तरह राज्यों की शासन-व्यवस्था भी संसदीय है और सभी राज्यों का प्रशासनिक ढांचा लगभग वैसा ही है जैसा केन्द्र में। केन्द्र में राष्ट्रपति, मन्त्रि-परिषद्, संसद और उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था है तथा राज्यों में राज्यपाल, मन्त्रि-परिषद्, विधान-मण्डल (जहाँ एक सदन हो वहाँ विधान-सभा) और उच्च न्यायालय की व्यवस्था। राज्यों में राज्यपाल का लगभग वही स्थान है जो भारत के राष्ट्रपति का है। मुख्य अन्तर यही है कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की हैसियत से राज्य की कार्यपालिका का सांविधानिक प्रधान होता है। राज्य में वास्तविक कार्यपालिका, केन्द्र की भाँति ही मन्त्रि-परिषद् होती है। प्रत्येक राज्य में उच्च न्यायालय के अधीन राज्य में अन्य न्यायालय होते हैं।

इस समय भारत संघ में 22 राज्य हैं (सिक्किम अप्रैल, 1975 में बाइसवां राज्य बना)। केन्द्र प्रशासित क्षेत्र नौ हैं। जम्मू-कश्मीर ही एक ऐसा राज्य है जिसकी शासन-व्यवस्था अन्य राज्यों से भिन्न प्रकार की है और उसके लिए, विशेष परिस्थितियोंवश, पृथक् संविधान की व्यवस्था है जो भारत के संविधान के परिशिष्ट 2 में दिया गया है। इसका नाम है 'संविधान (जम्मू-कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1954' यह मई, 1954 के चौदहवें दिन से प्रवृत्त हुआ।[1] भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 तथा अनुच्छेद 370 के अतिरिक्त उसके अन्य उपबन्ध जम्मू-कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में कुछ अपवादों और परिवर्तनों के साथ लागू हैं।[2]

1-2 भारत का संविधान (रजत जयन्ती संस्करण), परिशिष्ट दो, पृष्ठ 383.

राजपाल की नियुक्ति, अर्हताएँ (योग्यताएँ) आदि
(Appointment, Qualifications etc. of the Governor)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था है, तथापि दो या दो से अधिक राज्यो के लिए भी एक ही राज्यपाल हो सकता है। राज्यपाल राज्य का औपचारिक प्रधान है जो राष्ट्रपति द्वारा पांच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है और उसके प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर स्थिर रहता है। राष्ट्रपति किसी भी समय उसे पद-मुक्त कर सकता है। इस मामले में वह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की राय के अनुसार कार्य करता है। राज्यपाल लिखित रूप से, यदि वह चाहे तो अपना त्याग-पत्र राष्ट्रपति को प्रेषित कर सकता है। नियुक्ति भी राष्ट्रपति केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से ही करता है अर्थात् व्यवहार में राज्यपाल केन्द्रीय सरकार द्वारा नामांकित व्यक्ति होता है।

अनुच्छेद 157 एवं 158 के अनुसार राज्यपाल पद का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता जिसमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों—

(अ) वह भारत का नागरिक हो।

(ब) उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो।

(स) वह संसद् या विधान-मण्डल का सदस्य न हो। यदि कोई ऐसा व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त कर दिया जाए जो संसद् या विधान-मण्डल का सदस्य हो तो उसे नियुक्त होने की तारीख से अपनी सदस्यता त्याग देनी होगी।

(द) यह भी आवश्यक है कि वह व्यक्ति सरकार के किसी लाभ के पद पर काम न करता हो।

राज्यपाल के वेतन, भत्ते आदि को उसके कार्यकाल में घटाया नहीं जा सकता। उसे सरकारी निवास स्थान, सवारी आदि की विभिन्न सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। भत्तों तथा विशेषाधिकारों आदि का निश्चय समय-समय पर संसद् विधि द्वारा करती है। वर्तमान समय में राज्यपाल का वेतन 5,500 रुपये प्रतिमास है।

राज्यपाल अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अथवा उसकी अनुपस्थिति की दशा में वरिष्ठतम न्यायाधीश की उपस्थिति में शपथ ग्रहण करता है।

नियुक्त राज्यपाल, निर्वाचित क्यों नहीं ?
(Why an Appointed Governor and not an Elected one ?)

संविधान-सभा में यह प्रश्न उठा था कि राज्यपालों की प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति की जाए या राज्यपालों को जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से चुना जाए।

निर्वाचित राज्यपाल का प्रस्ताव इन आधारों पर अस्वीकार कर दिया गया—

1. निर्वाचित राज्यपाल और संसदीय शासन-व्यवस्था परस्पर मेल नहीं खाती। यह सम्भव है कि राज्यपाल सांविधानिक राज्याध्यक्ष के रूप में कार्य न करके राज्य सरकार का मुखिया ही बन जाए।

2. एक निर्वाचित राज्यपाल मे और राज्य के मुख्य-मन्त्री में संघर्ष की सम्भावनाएँ पैदा हो जाएँगी क्योंकि मुख्य-मन्त्री और अन्य मन्त्रियों का निर्वाचन भी जनता द्वारा ही होता है।

3. एक निर्वाचित राज्यपाल राजनीतिक दलबन्दी के वातावरण में फँस जाएगा और निरपेक्ष सांविधानिक कार्यपालिका के रूप मे कार्य नही कर सकेगा।

4. राज्यपाल के निर्वाचन की व्यवस्था भारत की केन्द्रीभूत संघीय व्यवस्था के अनुकूल नहीं होगी। संघ और राज्य में विवाद की सूरत मे राज्यपाल संघ सरकार का हित साधक नहीं होगा और न ही संघ सरकार का कार्य करने के लिए विश्वसनीय उपकरण सिद्ध होगा।

5 यदि राज्यपाल का चुनाव किया गया तो वह साधारणतया अल्पसंख्यक जाति से नही होगा जबकि अल्पसंख्यक जाति के उन व्यक्तियों को भी राज्यपाल बनने का अवसर मिलना चाहिए जो योग्य हैं।

6 प्रत्यक्ष चुनाव इस दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं है कि दूसरे राज्यों में रहने वाले उन प्रतिष्ठित व्यक्तियों को राज्यपाल बनाना अधिक अच्छा होगा जिन्होंने सक्रिय राजनीति मे भाग लिया हो। ऐसे व्यक्ति दिन-प्रतिदिन के शासन में कम से कम हस्तक्षेप करेंगे और सरकार को अधिक से अधिक सहयोग दे सकेंगे।

राज्यपालो की नियुक्ति सम्बन्धी व्यवस्था में संविधान-निर्माता सम्भवतः कनाडियन संविधान से विशेष रूप से प्रभावित हुए। कनाडा में केन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली है और गवर्नर जनरल प्रान्तीय गवर्नरों को नियुक्त तथा पद-मुक्त करता है।

राज्यपालों की नियुक्ति की वर्तमान पद्धति कम खर्चीली है और अल्पसंख्यक जाति के लोगों को राज्यपाल बनाया जा सकता है। इससे केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व तथा प्रभाव बना रहता है तथा राज्य के बाहर के व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जा सकता है। लेकिन इन लाभों के होते हुए भी यह अनुभव किया जाता रहा है कि नियुक्ति की इस पद्धति में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता अवश्य है। संसद् मे तथा संसद् से बाहर, बार-बार यह माँग की जाती रही है तथा इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव दिए गए है—

(i) राज्यपाल की नियुक्ति केवल राज्य सरकार की सहमति से होनी चाहिए।
(ii) उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति राज्य सरकार द्वारा तैयार की हुई नामावली मे से करें।
(iii) उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उस नामसूची में से की जानी चाहिए जो केन्द्रीय सरकार ने संसदीय विपक्ष के परामर्श से तैयार की हो।
(iv) राज्यपालों की नियुक्ति का अनुमोदन संसद् द्वारा किया जाना चाहिए।
(v) राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उस नामावली में से की जानी

चाहिए जो राष्ट्रपति की उस परामर्शदात्री समिति द्वारा तैयार की जाए जिसमे सर्वोच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश हों।

(vi) राज्यपालो की नियुक्ति राष्ट्रपति, मन्त्रियों के परामर्श से न करे बल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति की सलाह से करें।

(vii) राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने विवेक मे करे और इस बारे मे उसे मन्त्रिमण्डल का परामर्श नही मानना चाहिए।

(viii) राज्यपाल का चुनाव राज्य की विधानपालिका द्वारा किया जाना चाहिए।

(ix) उसका चुनाव एक ऐसे निर्वाचन-मण्डल द्वारा होना चाहिए जिसमें विधान-सभा, विधान-परिषद् (जहां हो) तथा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के सदस्य भी शामिल हो।

डॉ सिवाच के मतानुसार वह सुझाव सबसे अच्छा है जो भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के. सुब्बाराव ने दिया है। पूना विश्वविद्यालय मे बोलते हुए उन्होने कहा कि राज्यपालो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमण्डल के परामर्श से नही की जानी चाहिए, बल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति की सलाह से की जानी चाहिए। उन्हे उनके पद से तब हटाया जाना चाहिए जब सर्वोच्च न्यायालय उनके दुराचरण की घोषणा कर दे और जिस राज्यपाल को इस प्रकार पद से हटाया जाए उसे केन्द्र तथा राज्य सरकार मे अन्य कोई पद नही दिया जाना चाहिए।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएं
(Some Traditions regarding the Appointment of Governor)

संविधान लागू किए जाने के बाद से अब तक राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे कुछ परम्पराएँ कायम हो गई है, जो इस प्रकार हैं—

1 राज्यपाल पद पर अधिकांशतः ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाते रहे है जो अनुभवी हों, राजनीतिक क्षेत्र में जिनका प्रभाव हो और जिन्हें राजनीति तथा प्रशासन की बारीकियों का ज्ञान हो। इसीलिए राज्यपाल पद पर कभी कुशल सिविल सेवक आए है तो कभी कुशल राजनीतिज्ञ।

2 किन्तु साथ ही यह अस्वस्थ परम्परा भी रही है कि राज्यपाल पद को 'सांत्वना पुरस्कार' (Consolation Prize) बना दिया गया है। चुनावों में पराजित प्रमुख दलीय व्यक्तियों (सत्तारूढ़ दल के) को राज्यपाल पद 'सांत्वना रूप' में दिया जाता है। कभी-कभी रिजेक्टेड (Rejected), बर्नआउट (Burn-out) राजनीतिज्ञों को भी राज्यपाल पद पर थोप दिया गया है।

3. राज्यपाल पद पर प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त किया [illegible] जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विश्वासपात्र हों। यह उचित भी है [illegible] विश्वासपात्र व्यक्ति राज्यपाल न होगा तो राज्य की [illegible] केन्द्र को नहीं मिल सकेगी और इस प्रकार संविधान को [illegible] पहुँचेगा। संविधान का आदेश है कि राज्यपाल द्वारा [illegible]

संकट की रिपोर्ट दी जाए तो राष्ट्रपति आपात् शक्ति का प्रयोग कर सकता है। फिर इस बात की क्या गारण्टी है कि यदि राज्यपाल के पद पर विरोधी दलों के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाएगा तो वे अपने दलीय हितों के लिए कार्य नहीं करेंगे।

4. यह स्वस्थ परम्परा स्थान लेती जा रही है कि राज्यपाल पद पर उसी राज्य के निवासी की नियुक्ति प्रायः नहीं की जाती। अपवाद स्वरूप ही कोई नियुक्ति ऐसी होती है। राज्यपाल पद प्रादेशिक निष्ठा से मुक्त रहे और सन्देह जैसी बात न उठे, इसलिए प्रायः उत्तरी राज्यों में दक्षिणी राज्यों के व्यक्तियों को और दक्षिणी राज्यों में उत्तरी राज्यों के व्यक्तियों को राज्यपाल बनाया जाता है।

5. यह स्वस्थ परम्परा भी स्थापित हो गई है कि सामान्यतया सम्बन्धित राज्य सरकार से सलाह के बाद ही राष्ट्रपति उस राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करता है। वैसे, परिस्थितियोंवश, इस परम्परा का उल्लंघन भी किया गया है। बिहार में वहाँ के मुख्य मन्त्री महामाया प्रसाद के विरोध के बावजूद श्री कानूनगो की नियुक्ति राज्यपाल के रूप में की गई थी।

राजमन्नार समिति तथा प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव

कुछ वर्ष पूर्व राजमन्नार समिति ने यह उपयोगी सुझाव दिया था कि—

(i) राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बन्धित राज्य सरकार की राय लेने का अभिसमय जारी रखना चाहिए।

(ii) संविधान में ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि राष्ट्रपति राज्यपालों की नियुक्ति ख्याति प्राप्त न्यायविदों, वकीलों और प्रशासकों की समिति की सलाह पर करे।

प्रशासनिक सुधार आयोग का सुझाव था कि—

(क) राज्य सरकार की सलाह से ही राज्यपाल की नियुक्ति की जानी चाहिए, अन्यथा राज्यपाल का कार्य कठिन हो जाएगा।

(ख) राज्यपाल के चयन में संरक्षण तथा राजनीति का स्थान योग्यता को मिलना चाहिए और इस दृष्टि से सिविल सेवकों को राज्यपाल बनाना उचित है क्योंकि वे निडर और तटस्थ रहकर कार्य कर सकेंगे।

(ग) स्पीकरों को भी राज्यपाल बनाया जा सकता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग के पहले और तीसरे सुझाव तो उचित हैं लेकिन सिविल सेवकों को ही राज्यपाल बनाने सम्बन्धी सुझाव की उपयुक्तता सन्देहास्पद है। यह आवश्यक नहीं है कि 'निडरता और तटस्थता' का बिल्ला सिविल सेवक ही लगा सकते हैं, दूसरे नहीं।

राज्यपाल की शक्तियाँ
(Powers of the Governor)

दुर्गादास बसु ने लिखा है कि राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं—सिर्फ कूटनीतिक, सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर।[1] संविधान

1 *D. D. Basu* : Commentary on the Constitution of India, Vol. II.
Also see : Struggle for Rashtrapati Bhawan, p. 15 by Z M.Qureshi

द्वारा राज्यपाल को अपने क्षेत्र में व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई है। राज्य मे राज्यपाल की वही स्थिति, जो केन्द्र मे राष्ट्रपति की।

राज्यपाल राज्य का प्रधान होता है और कार्यपालिका सम्बन्धी सभी कार्य उसके नाम से किए जाते है। सांविधानिक रूप से उसे अपने अधिकारो का उपभोग करने की पूरी स्वतन्त्रता है और वह अपने कार्य के लिए राष्ट्रपति के सिवाय अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नही होता। राज्यपाल की सहायता और परामर्श के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती है और व्यावहारिक रूप मे राज्यपाल मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से ही कार्य करता है तथा राज्यपाल के अधिकार और कर्त्तव्य वास्तव मे मन्त्रि-परिषद् के अधिकार और कर्त्तव्य होते है। इसी आधारभूत बात को ध्यान में रखते हुए हमे राज्यपालो के कार्य और अधिकारो पर दृष्टि डालनी चाहिए।

कार्यकारी शक्तियाँ

राज्य की कार्यकारी शक्तियाँ राज्यपाल मे निहित है जिन्हें वह स्वयं अथवा अधीनस्थ अधिकारियो द्वारा सम्पादित करता है। वह विधान-मण्डल मे बहुमत दल के नेता को मुख्य मन्त्री नियुक्त करता है और तत्पश्चात् मुख्य मन्त्री की सलाह के अनुसार अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है। व्यवस्थापिका मे किसी दल का बहुमत न होने पर मुख्य मन्त्री के चयन मे राज्यपाल को अपने विवेक से निर्णय लेने का अवसर मिलता है। मुख्य मन्त्री की सलाह से ही वह मन्त्रियो मे विभागो का वितरण करता है।

राज्यपाल की कार्यकारी शक्तियाँ राज्य सूची में उल्लिखित विषयों से सम्बन्धित है। समवर्ती सूची के विषयो पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के अन्तर्गत वह अपने अधिकारों का प्रयोग करता है। राज्यपाल ही राज्य के महाधिवक्ता तथा राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और उसके सदस्यो की नियुक्ति करता है। राज्य सेवाओं मे सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ राज्यपाल द्वारा की जाती है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध में उससे परामर्श लिया जाता है।

राज्यपाल शासन के विषय मे मन्त्रि-परिषद् से किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त कर सकता है। मुख्य मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के निर्णयो से अवगत कराए। सघ सरकार की आज्ञाओं के पालन का दायित्व राज्यपाल पर है, अत. वह समय-समय पर राज्य के प्रशासन के बारे में सघ सरकार को आवश्यक जानकारी देता रहता है। राज्य में सांविधानिक संकट उत्पन्न होने या उसकी सम्भावना पर राज्यपाल राष्ट्रपति को इस बारे में सूचना देता है। उसकी सूचना के आधार पर राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा करता है। राज्यपाल को अपने मन्त्रियों को चेतावनी, सलाह और प्रोत्साहन देने का अधिकार है।

विधायी शक्तियाँ

राज्यपाल राज्य विधान-मण्डल का अनिवार्य अंग है। वही विधान - की बैठक बुलाता है और स्थगित करता है। विधान-सभा को भंग करने - अधिकार है। वह विधान-मण्डल में भाषण दे सकता है और सन्देश भेज सा

विधान-मण्डल मे पारित कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप धारण नही कर सकता जब तक राज्यपाल उस पर अपनी स्वीकृति न दें दे। पर वह वित्त विधेयक को अस्वीकार नही कर सकता। वित्त विधेयक को छोडकर अन्य कोई भी विधेयक विधान-मण्डल द्वारा पारित होकर जब राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है तो उसे अधिकार है कि विधेयक को स्वीकार करे, अस्वीकार कर दे अथवा विधान-मण्डल के पास सुझावो सहित पुनर्विचार के लिए भेज दे। यदि विधेयक विधान-मण्डल द्वारा राज्यपाल के सुझावो को स्वीकार करके या मूल रूप मे पुनः पारित करके राज्यपाल के पास भेज दिया जाए तो राज्यपाल को उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति अनिवार्यतः देनी पडती है। अभिप्राय यह हुआ कि राज्यपाल विधेयक को समाप्त नही कर सकता, उसके पास होने मे देरी कर सकता है।

जिन विधेयकों को राज्यपाल राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रेषित करता है, उन्हें स्वीकार करने का अधिकार राष्ट्रपति को है। उसे यह भी अधिकार है कि वह उन विधेयको को अपनी सिफारिशों के साथ राज्य विधान-मण्डल को पुनः विचार के लिए लौटा दे। इस प्रकार लौटाए हुए विधेयकों पर राज्य विधान-मण्डल को 6 माह के अन्दर-अन्दर विचार करना होता है और यदि ये विधेयक पुनः पारित कर राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए लौटाए जाते है तो भी राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह उन पर अपनी स्वीकृति दे या न दे। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक ऐसे है जिन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, राज्यपाल की सम्मति मे यदि किसी विधेयक के स्वीकृत होने से उच्च न्यायालय की शक्ति और स्थिति मे कमी हो जाने की सम्भावना हो तो यह आवश्यक है कि ऐसा विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रेषित किया जाए। इसी प्रकार वे विधेयक भी राष्ट्रपति के पास स्वीकृति हेतु भेजे जाते है जिनका प्रयोजन व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य द्वारा बाधित रूप से हस्तगत करना हो अथवा जिनका सम्बन्ध ऐसी वस्तुओ के क्रय-विक्रय पर कर लगाने से हो जिन्हे संसद् ने आवश्यक वस्तु घोषित किया हो।

राज्यपाल को, राष्ट्रपति के समान ही, राज्य के लिए अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार है। ये अध्यादेश तभी जारी किए जाते है जब राज्य विधान-मण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो और कोई भी असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसका सामना करने के लिए राज्य सरकार के पास कोई कानूनी प्रबन्ध न हो। अध्यादेश विधान-मण्डल का अधिवेशन पुनः आरम्भ होने के बाद 6 सप्ताह तक के लिए लागू रह सकते है। यदि विधान-मण्डल उन्हे स्वीकार कर लेता है तो वे अधिनियम बन जाते है। विधान-मण्डल अपने सामने प्रस्तुत किए जाने पर किसी भी अध्यादेश को समाप्त कर सकता है। कुछ अध्यादेशों के लिए राज्यपाल को राष्ट्रपति की पूर्वानुमति लेनी पडती है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना ऐसा कोई अध्यादेश जारी नही किया जा सकता यदि उसी प्रकार का विधेयक विधान-मण्डल मे प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति की आवश्यकता होती अथवा उसी प्रकार के विधेयक का राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा विचार किया

जाना आवश्यक समझना अथवा विधान-मण्डल का उसी प्रकार का विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रोका जाता है तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिलने पर वह अमान्य समझा जाता है।

राज्यपाल को विधान-सभा में आँग्ल-भारतीय सम्प्रदाय का एक प्रतिनिधि[1] मनोनीत करने का अधिकार है, यदि वह समझे कि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। जिन राज्यों में दो सदनीय व्यवस्थापिका है वहाँ विधान परिषद् के कुल सदस्यों के 1/6 सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत कर सकता है। ये मनोनीत सदस्य साहित्य, कला, विज्ञान, समाज सेवा अथवा सहकारी आन्दोलन के अनुभवी व्यक्ति होने चाहिएँ।

वित्तीय शक्तियाँ—राज्यपाल की वित्तीय शक्तियाँ भी बहुत-कुछ उसी प्रकृति की है जैसी राष्ट्रपति की वित्तीय शक्तियाँ हैं। राज्यपाल की सिफारिश के बिना कोई भी वित्त विधेयक विधान-सभा में प्रस्तावित या पुनःस्थापित नहीं किया जा सकता और न ही उसकी सिफारिश के बिना वित्त विधेयकों में ऐसे संशोधन प्रस्तावित किए जा सकते है जिनका वित्तीय विषयों पर प्रभाव पड़ता हो। किन्तु यदि किसी संशोधन अथवा विधेयक द्वारा किसी कर में कमी अभीष्ट है तो उस स्थिति में राज्यपाल की सिफारिश की आवश्यकता नहीं है। यह राज्यपाल का उत्तरदायित्व है कि वार्षिक बजट का विवरण विधान-मण्डल के समक्ष रखा जाए तथा उसे पारित किया जाए। राज्यपाल को राज्य विधान-मण्डल से पूरक, अतिरिक्त या विशेष माँग का अधिकार है। संचित निधि उसके अधिकार में रहती है और विधान-मण्डल की स्वीकृति की उपेक्षा में वह इस निधि में से व्यय की अनुमति दे सकता है। राज्य के खर्च की जाँच की हुई वार्षिक रिपोर्ट भी उसी के द्वारा विधान-मण्डल में रखवाई जाती है।

न्यायिक शक्तियाँ—राज्य के कार्यपालिका क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कानूनों के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने, बदलने अथवा क्षमा करने का अधिकार राज्यपाल को है। राज्यपाल अपनी न्यायिक शक्ति का प्रयोग मुकदमे के पूर्व, मुकदमे के मध्य अथवा मुकदमे के बाद कर सकता है। राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय राज्यपाल से अवश्य सलाह लेता है। जिला न्यायाधीश की नियुक्ति राज्यपाल के हाथों में होती है। राज्यपाल के विरुद्ध तब तक न्यायालय में अभियोग नहीं चलाया जा सकता जब तक वह पदासीन है।

स्पष्ट है कि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में व्यापक शक्तियाँ प्राप्त है तथापि उसकी स्थिति, कतिपय अपवादों को छोड़कर, सांविधानिक मुखिया की है और उसके अधिकारों का वास्तविक प्रयोग मन्त्रि-परिषद् द्वारा उसके नाम से किया जाता है। सांविधानिक प्रधान के रूप में उसे मन्त्रि-परिषद् को सलाह, चेतावनी और प्रोत्साहन देने का अधिकार है। वह राष्ट्रपति के

1 संविधान (तेईसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1969 [illegible] कर दे हैं।

हीं, दलगत राजनीति से ऊपर है और सरकार के लिए प्रभावकारी सलाहकार तथा पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करता। वह राज्य मे राष्ट्रपति का अभिकर्ता और सघ सरकार का प्रतिनिधि है। वह एक कड़ी है जो संघ तथा राज्य को जोड़ता है और सघ-राज्य के सम्बन्ध को निर्धारित करता है।

राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Discretionary Powers of the Governor)

राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियो के दो रूप हैं—(1) संविधान-प्रदत्त स्वविवेकीय शक्तियाँ, एवं (2) परिस्थितिजन्य स्वविवेकीय शक्तियाँ। सविधान ने कुछ विशेष मामलो मे और खास तौर पर असम के सम्बन्ध मे राज्यपाल को स्वविवेकीय अधिकार दिए हैं। असम के राज्यपाल को यह विशेषाधिकार है कि वह प्रजातीय क्षेत्रो से सम्बन्धित कुछ प्रशासकीय मामलो तथा असम सरकार व स्वायत्त जिला परिषद् के बीच खनिज सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों के बारे में निर्णय करे। *विद्रोही एव शत्रु नागाओ से निपटने के लिए नागालैण्ड के राज्यपाल* को विवेकाधिकारो के प्रयोग की शक्ति है तो सिक्किम के राज्यपाल को वहाँ के सभी क्षेत्रों के लोगों के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए समुचित प्रबन्ध करने की दृष्टि से विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए है। सविधान में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति ऐसे उपबन्धो का निर्माण कर सकता है जिनमे राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग के अधिक अवसर मिल सकें। राज्यपाल को स्वविवेक से निर्णय लेने का अधिकार सविधान के अनुच्छेद 163 (1) की भाषा से स्पष्ट है। इसमें कहा गया है कि "जिन बातों मे संविधान द्वारा राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों के निर्वहन मे सहायता और मन्त्रणा के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होगा।"

राज्यपाल को कुछ स्वविवेकी शक्तियाँ परिस्थितियों-विशेष मे प्राप्त होती है। ये विशेष परिस्थितियाँ तब उत्पन्न हो सकती है जब—

(1) किसी एक दल को विधान-सभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो।
(2) सयुक्त सरकार का गठन हो और आपसी फूट के कारण शासन का सुचारु सचालन कठिनाई में पड रहा हो।
(3) दल-बदल के कारण सरकार के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाए।
(4) राज्य मे शान्ति और व्यवस्था को खतरा पैदा हो गया हो या उसकी सम्भावना हो।
(5) मन्त्रिमण्डल मे विधान-सभा के अविश्वास की स्थिति पैदा हो गई हो, आदि।

राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग के अवसरों को डॉ. एम. वी. पायली ने निम्नानुसार गिनाया है—

"(1) मन्त्रि-परिषद् की स्थापना से पूर्व मुख्य मन्त्री का चुनाव, (2) मन्त्रि-

मण्डल को पदच्युत् करना, (3) विधान-सभा का विघटन करना, (4) मुख्य मन्त्री से प्रशासनिक तथा विधायी कार्यों के सम्बन्ध में सूचना मांगना, (5) किसी एक मन्त्री द्वारा किए गए निर्णय (जिस पर मन्त्रि-परिषद् ने विचार न किया हो) को मन्त्रि-परिषद् के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत कराने के लिए मुख्य मन्त्री को आदेश देना, (6) विधान-मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकृति न देकर उसे पुनर्विचार के लिए लौटा देना, (7) राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजना, (8) किसी अध्यादेश को प्रख्यात करने से पूर्व राष्ट्रपति से अनुदेश (Instructions) की याचना करना, (9) राष्ट्रपति को आपात् परामर्श देना, तथा (10) असम तथा अन्य घोषणा करने का पूर्ववर्ती राज्यो के राज्यपाल के लिए आदिम-जाति क्षेत्रों की कुछ प्रशासनिक समस्याओं का हल करना, असम राज्य तथा (स्वायत्तशासी क्षेत्र की) जिला परिषदो के खनिज स्वामित्व सम्बन्धी विवादो का निर्णय करना।"

उदाहरण—राज्यपाल द्वारा स्वविवेकीय शक्तियो के प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) राज्यों मे सांविधानिक तन्त्र की विफलता के बारे में स्वविवेक से निर्णय लेते हुए राज्यपाल ने समय-समय पर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजे और फलस्वरूप राज्यों मे राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। पहला प्रतिवेदन पजाब से सन् 1951 मे गया। हाल ही में 12 दिसम्बर, 1979 को पूर्वी राज्यो के राज्यपाल श्री एल. पी. सिंह की सिफारिश पर असम मे राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है।

(ख) 1967 के चौथे आम चुनावो के बाद ऐसी स्थितियां बनी कि मुख्य मन्त्री की नियुक्ति में राज्यपालों को स्वविवेक के प्रयोग के अवसर मिले। कही सर्वाधिक स्थान प्राप्त दल के नेता को पहले मुख्य मन्त्री बनने के लिए आमन्त्रित किया गया, जैसे राजस्थान में श्री मोहनलाल सुखाड़िया को, तो कही मिले-जुले दलों के नेता को, जैसे पश्चिमी बंगाल और बिहार मे। राज्यपालो का प्रयत्न यह रहा है कि ऐसे नेता के नेतृत्व मे सरकार गठित हो जाए जो स्थाई शासन दे सके। कुछ परिस्थितियो में दल-बदलू नेता को भी मुख्य मन्त्री बनाया गया। जैसे पश्चिमी बंगाल मे राज्यपाल धर्मवीर द्वारा पी. सी. घोष को मुख्य मन्त्री पद देना। लेकिन परिस्थितियों की मांग भी यही थी कि घोष को मुख्यमन्त्री बनाया जाए क्योंकि कांग्रेस के तथा अन्य समर्थन द्वारा उससे स्थाई मन्त्रिमण्डल बनाए जाने की अपेक्षा की गई थी।

यदि राज्य विधान-सभा मे चुनावों मे किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है तब विवेकाधिकार के प्रयोग की बात नही उठती क्योंकि राज्यपाल को बहुमत दलीय नेता को ही मुख्य मन्त्री नियुक्त करना पड़ता है। लेकिन एक दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की सूरत में अनेक प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और राज्यपाल की विवेक-शक्ति का विस्तार हो जाता है।

(ग) मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए समय का निश्चय करने मे भी राज्यपाल

द्वारा स्वविवेक की शक्ति के प्रयोग के उदाहरण है। 23 नवम्बर, 1967 को पंजाब के मुख्य मन्त्री सरदार गुरनाम सिंह ने त्याग-पत्र दिया और राज्यपाल ने उन्हें दो दिन का समय पुनः मन्त्रिमण्डल के निर्माण के लिए दिया। इसी बीच राज्यपाल कहीं बाहर चले गए और वहाँ से लौटकर 26 नवम्बर को उन्होंने लछमणसिंह गिल को मुख्य मन्त्री बनने के लिए आमन्त्रित किया।

वास्तव में राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग की कोई एकदम सुनिश्चित सीमा या परिभाषा कठिन है। न ही राज्यपाल के स्वविवेकाधिकार निरपेक्ष हो सकते है। निरपेक्ष स्वविवेक निरंकुशता का प्रतीक है जिसे लोकतन्त्र मे इजाजत नही दी जा सकती। राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्ति पर राज्य मन्त्रि-परिषद् या राज्य व्यवस्थापिका कोई रोक नहीं लगा सकती, किन्तु राष्ट्रपति इस सम्बन्ध मे राज्यपाल को नियन्त्रित कर सकता है। राज्यपाल यदि अपने स्वविवेकाधिकार का अनुचित प्रयोग करे तो राष्ट्रपति उसका विरोध कर सकता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे पदच्युत् कर सकता है। इसके अतिरिक्त, जब तक मन्त्रि-परिषद् को राज्य विधान-मण्डल का विश्वास प्राप्त है, तब तक वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श के स्थान पर अपने स्वविवेक से कार्य नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी करवट ले सकती है कि जिनमे राज्यपाल की पदच्युति अवश्यम्भावी है। एम. वी. पायली ने लिखा है कि "इन सभी बातों को ध्यान मे रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल के पद में उसके परामर्शदाता के रूप पर ही अधिक जोर दिया गया है। एक ओर वह मन्त्रि-परिषद के निष्पक्ष परामर्शदाता के रूप में कार्य करता है और एक राज्य का अध्यक्ष होने के नाते उसे अधिकार है कि उससे परामर्श लिया जाए, उसे प्रोत्साहित करना तथा चेतावनी देने का अधिकार है। वह सुविधाजनक तथा प्राधिकारपूर्ण स्थान से राज्य में होने वाले प्रत्येक कार्य को अनासक्त पर्यवेक्षक के रूप में देखता है। इस स्थिति से वह राज्य सरकार के गौरव, स्थायित्व तथा सामूहिक दायित्व को बनाए रखता है। दूसरी ओर वह राष्ट्रपति का अभिकर्ता तथा उस राज्य से सम्बद्ध कार्यो मे उसका परामर्शदाता है। वह राज्य मे सघ का प्रतिनिधित्व करता है। वह सघ तथा राज्य को बाँधने वाली एक कड़ी तथा सघ राज्यिक सम्बन्धो को विनियमित करने का माध्यम है। इस प्रकार वह सांविधानिक व्यवस्था का एक आवश्यक अग है जो एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति तथा एक आवश्यक सेवा प्रदान करता है।"

हम कह सकते है कि असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर साधारण परिस्थितियों मे राज्यपाल का प्रमुख कर्त्तव्य यह देखना है कि राज्य का प्रशासन अच्छी तरह चले। उससे यह अपेक्षित है कि वह मन्त्रि-परिषद् के समस्त निर्णयों के सम्बन्ध मे अपनी सहमति प्रदान करे। वह अल्प संख्यक वर्गों के हितों की रक्षा करे और तत्सम्बन्धी शिकायतों की ओर राज्य सरकार का ध्यान आकृष्ट करे। राज्यपाल को चाहिए कि वह निर्दलीय नेतृत्व प्रदान करके राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों में अपना विशेष योग दे।

राज्यपालों के लिए निर्देश-पत्र
(Instruments of Instruction to Governor)

...ों की नियुक्ति, मुख्यमन्त्री की बरखास्तगी, मन्त्रियों की नियुक्ति ...े, विधान-सभा का वेतन, शासन प्रबन्ध, अध्यादेश निकालना आदि ...भिन्न राज्यों में राज्यपालों का राजनीतिक आचरण समान नहीं रहा ... की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप राज्यपाल के राजनीतिक ...रण होना स्वाभाविक है, लेकिन समान सांविधानिक परिस्थितियों में ...तिक आचरण की अपेक्षा की जाती है और ऐसा न होने पर जनता ...द के प्रति निष्ठा की भावना को आघात पहुँचता है।

...7 के चुनावों के बाद राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध में जो विवाद ...र विषम राजनीतिक घटनाक्रमों के दौरान राज्यपालों ने जो कदम ... को देखते हुए अनेक पक्षों द्वारा यह सुझाव दिया गया कि राज्यपालों ...के लिए कुछ निर्देशक सिद्धान्त निश्चित किए जाने चाहिए। दिसम्बर, ...सम्मेलन हुआ उसमें सिद्धान्त रूप में उपरोक्त आवश्यकता को स्वीकार ...। अतः राष्ट्रपति ने जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल श्री भगवान सहाय ...में 5 सदस्यों की एक समिति नियुक्त करके उसे राज्यपाल के ...ल के साथ सम्बन्ध निश्चित करने का कार्य सौंपा। समिति के अन्य ...बी. गोपाल रेड्डी, श्री अली यावर जंग, श्री वी. विश्वनाथन् तथा ...भवन। समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें कीं—

विधान-सभा का विश्वास प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई मुख्य मन्त्री अधिवेशन आमन्त्रित करने के उत्तरदायित्व से पीछे हटता है तो ... को पदच्युत कर सकता है।

6. संयुक्त विधायक दल सरकार के मुख्य मन्त्री को सम्बद्ध दलों एवं गुटों द्वारा औपचारिक रूप से चुना जाना चाहिए।

7. राष्ट्रपति के सचिवालय मे एक विशेष कक्ष स्थापित किया जाना चाहिए जिसका यह मुख्य कर्त्तव्य हो कि वह विभिन्न राज्यो में समय-समय पर घटित होने वाली राजनीतिक और सांविधानिक घटनाओं के सम्बन्ध में अधिकाधिक सूचनाएँ रखे। इस विशेष कक्ष (Special Cell) द्वारा किसी विशेष मामले के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की अनुमति से राज्यपाल को सभी उपलब्ध जानकारी दी जानी चाहिए ताकि राज्यपाल को निर्णय लेने में सहायता मिले।

8. राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष होता है, राष्ट्रपति का अभिकर्त्ता नहीं और उसके कर्त्तव्य संविधान मे ही निर्धारित किए गए हैं।

राज्यपाल-समिति ने उपरोक्त सिफारिशें करते हुए अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बल दिया कि न तो भविष्य मे उत्पन्न होने वाली सभी परिस्थितियों के सम्बन्ध में सोचा जा सकता है और न ही इस सम्बन्ध में निश्चित निर्देश दिए जा सकते हैं कि विभिन्न परिस्थितियो में राज्यपालो को अपनी भूमिका किस प्रकार अदा करनी होगी। वास्तव में राज्यपाल का 'स्वविवेक' ही इस सम्बन्ध में 'सर्वोच्च निर्देश' हो सकता है।

19 मुख्य मन्त्री और मन्त्रि-परिषद्

(CHIEF MINISTER AND THE COUNCIL OF MINISTERS)

केन्द्र की भांति राज्यपाल को उसके कर्तव्य-पालन में सहायता और परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होता है। संविधान के भाग 6 के अध्याय 2 में राज्यपाल, मन्त्रि-परिषद् और राज्य के महाधिवक्ता (Advocate General) का वर्णन है।

मन्त्रि-परिषद्
(The Council of Ministers)

मन्त्रि-परिषद् की रचना, वेतन आदि

संविधान का अनुच्छेद 163(1) यह उपबन्धित करता है कि राज्यपाल को सहायता और सलाह देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होगा। अनुच्छेद 163(3) में उल्लेख है कि मन्त्रियों ने राज्यपाल को कोई मन्त्रणा दी है या नहीं और यदि दी है तो क्या दी है—इस बात की किसी न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी। अनुच्छेद 164(1) में मन्त्रि-परिषद् सम्बन्धी अन्य उपबन्ध किए गए हैं। राज्य की मन्त्रि-परिषद् की रचना और कार्य केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् के समान ही हैं।

मुख्य मन्त्री राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया जाता है और अन्य मन्त्री मुख्य मन्त्री के परामर्श पर राज्यपाल द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। मन्त्रि-परिषद् [illegible] उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुरूप कार्य करती है तथा राज्य की विधान[illegible] के प्रति उत्तरदायी होती है। संविधान में मन्त्रियों की कुल संख्या निश्चित [illegible] है, उनकी संख्या का निर्धारण मुख्य मन्त्री पर निर्भर होता है। वह [illegible] आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति, प्रशासनिक कार्य, दलगत राजनीति [illegible] रखकर मन्त्रियों की संख्या निश्चित करता है। मुख्य मन्त्री के [illegible] द्वारा मन्त्रियों में विभागों का वितरण किया जाता है। [illegible] को एक या अधिक विभाग दिए जाते हैं। उपमन्त्री को [illegible] विभाग नहीं दिए [illegible] कार्य मन्त्रियों की सहा[illegible]

परिषद् की भाँति ही राज्य मन्त्रि-परिषद् में मन्त्रिमण्डलीय (केबिनेट) मन्त्री, राज्य मन्त्री और उप-मन्त्री होते हैं। राज्य मन्त्री और उप-मन्त्री न भी रखे जाएँ, यह सम्भव है। उदाहरणार्थ, 1974 के प्रारम्भ मे तमिलनाडु मे केवल मुख्य मन्त्री और मन्त्रिमण्डलीय मन्त्री ही थे, राज्य मन्त्री तथा उप-मन्त्री नही। मन्त्रियो के वेतन, भत्ते, सुविधाओ आदि का निर्धारण राज्य के व्यवस्थापन विभाग के हाथ में है। मन्त्रि-परिषद् का सदस्य होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति राज्य विधान-मण्डल का सदस्य हो। यदि किसी गैर-सदस्य को मन्त्री बना दिया जाता है तो यह जरूरी है कि पद ग्रहण करने की तिथि से 6 माह के भीतर वह विधान-मण्डल का सदस्य बन जाए। मन्त्रि-परिषद् का कार्यकाल राज्य विधान-सभा के समान ही पाँच वर्षों का होता है, बशर्ते कि विधान-सभा का विश्वास खोने अथवा अन्य किसी कारणवश उसे अपना पद-त्याग न करना पड़े।

अनुच्छेद 164(3) के अनुसार राज्यपाल प्रत्येक मन्त्री का पद ग्रहण करने से पूर्व पद की और गोपनीयता की शपथें कराता है। किसी मन्त्री या मुख्य मन्त्री को शपथ राज्य की सीमा से बाहर भी दिलाई जा सकती है, संविधान ने इस पर कोई रोक नही लगाई है। हरियाणा के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री बंशीलाल को राज्यपाल ने दिल्ली मे शपथ दिलाई थी और विरोधी दल के इस विरोध मे कोई वज़न न था कि चूंकि श्री बंशीलाल को हरियाणा राज्य के प्रदेश मे ही शपथ नही दिलाई गई है अतः बंशीलाल मन्त्रिमण्डल अवैधानिक तथा असंविधानिक है।

मन्त्रि-परिषद् के कार्य एवं अधिकार

राज्य मन्त्रि-परिषद् के कार्य और अधिकार लगभग उसी प्रकार के हैं जो केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् के होते है। सारांश रूप मे, राज्यपाल की समस्त कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग मन्त्रि-परिषद् ही करती है। किसी न्यायालय मे यह नही पूछा जा सकता कि किसी मन्त्री ने राज्यपाल को क्या और कैसी मन्त्रणा दी। राज्य की नीति निर्धारित करना, नीति के लागू करने के लिए योजनाएँ और कार्यक्रम बनाना तथा आवश्यक निर्णय लेना मन्त्रि-परिषद् के ही काम हैं। कानून निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम बनाना, विधेयक विधान-मण्डल में पेश करना और उन्हें विधान-मण्डल से पास करवाना, राज्य के बजट को प्रोत्साहित करना और उसे पास करवाना आदि सब काम मन्त्रि-परिषद् ही करती है। मन्त्रीगण ही विधान-मण्डल की बैठकों में अपने विभाग का प्रतिनिधित्व करते है और सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देते है। विधान-मण्डल मे अपनी नीति की व्याख्या मन्त्रि-परिषद् को ही करनी पड़ती है। मन्त्रीगण अपने-अपने विभाग के दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों का निरीक्षण करते है। वे देखते है कि सारा काम निर्धारित नीति के अनुरूप हो रहा है या नही। मन्त्रीगण सरकारी योजना का घूम-घूम कर प्रचार करते है। वे सरकार के पक्ष मे लोकमत तैयार करते हैं। मन्त्रि-परिषद् अपने सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयों की सूचना मुख्य मन्त्री के माध्यम से राज्यपाल को पहुँचाती है। राज्यपाल की सलाह या चेतावनी भी यह मुख्य मन्त्री के माध्यम से ग्रहण करती है।

नहीं है। वह मन्त्रिमण्डल को उचित मार्ग पर चलने के लिए कितना प्रेरित कर सकता है, यह उसके व्यक्तित्व तथा उसके कार्यकलापों पर निर्भर करता है।

3. मुख्य मन्त्री पद पर *नियुक्त किया जाने वाला व्यक्ति विधान-मण्डल के* किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि वह विधान-सभा का ही सदस्य हो। यहाँ तक कि वह किसी भी सदन का सदस्य नहीं हो सकता है, केवल शर्त यह है कि यदि ऐसे व्यक्ति को मुख्य मन्त्री या मन्त्री नियुक्त कर दिया जाए (जो किसी भी सदन का सदस्य नहीं है) तो उसे छः माह के भीतर किसी एक सदन का सदस्य बनना पड़ेगा अन्यथा छः माह बाद पद से हटना पड़ेगा। 'एच. एस. वर्मा बनाम टी. एन. सिंह' के वाद में टी. एन. सिंह के मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्ति को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि यह उस समय किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे। उच्चतम न्यायालय ने उसकी नियुक्ति को सांविधानिक घोषित किया क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 164 के अन्तर्गत ऐसी कोई शर्त विहित नहीं की गई है कि उन्हें विधान-मण्डल का सदस्य होना चाहिए। शर्त केवल एक है कि क्या ऐसे व्यक्ति को विधान-मण्डल के सदस्यों का विश्वास प्राप्त है। इसी प्रकार, सन् 1960 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने श्री चन्द्रभानु गुप्त के मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्ति को *असांविधानिक घोषित किया था कि वे उस समय विधान-मण्डल के किसी भी सदन* के सदस्य नहीं थे।

4. संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार "राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त मन्त्री अपने पद धारण करेंगे।" किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राज्यपाल जब चाहे स्वेच्छा से मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ कर दे। यद्यपि 'राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त' पदावली को संविधान में परिभाषित नहीं किया गया है, लेकिन सरकार की संसदीय पद्धति के अधीन इस वाक्य का अर्थ विधान-मण्डल के बहुमत का विश्वास माना गया है। अनुच्छेद 164(2) से भी यही ध्वनित होता है। इस अनुच्छेद में उल्लिखित है कि "मन्त्रि-परिषद् राज्य की विधान-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।" अतः जब तक मन्त्रिमण्डल को सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त है, राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ नहीं करना चाहिए। दुर्भाग्यवश कुछ अवसरों पर राज्यपालों ने इस परम्परा के पालन में एकरूपता नहीं दिखाई है।

5. संविधान के अनुच्छेद 174 में राज्यपाल को 'विधान-सभा का विघटन' करने का अधिकार दिया गया है। सामान्य परिस्थितियों में वह विधान-सभा को उसकी सामान्य अवधि (पाँच वर्ष) से पूर्व भंग नहीं करता, लेकिन विवाद असामान्य परिस्थितियों से सम्बन्धित है। जहाँ मन्त्रिमण्डल सदन का विश्वास खो चुका है और किसी स्थाई वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल की स्थापना सम्भव नहीं है, वहाँ राज्यपाल विधान-सभा को भंग कर देगा। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या राज्यपाल एक *पराजित मन्त्रिमण्डल का यह परामर्श मानने को बाध्य है कि वह विधान-सभा को* भंग कर दे? राज्यपाल ऐसे मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा मानने के लिए बाध्य नहीं है, वरन् ऐसी परिस्थिति में अपने स्वविवेक का प्रयोग करने को स्वतन्त्र है, अर्थात् यह उसकी इच्छा पर है कि वह विधान-सभा को भंग करे या न करे। वैसे इस सम्बन्ध

मे दो मत रहे है—(क) राज्यपाल पराजित मुख्य मन्त्री की सलाह मानने को बाध्य है और उसे राज्य विधान-सभा को भंग करना पड़ेगा, (ख) यह राज्यपाल की इच्छा पर है कि वह विधान-सभा भंग करे अथवा ऐसे व्यक्ति की खोज करे जो पराजित मन्त्रिमण्डल के स्थान पर वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल का गठन करने मे सक्षम हो।

राष्ट्रपति ने राज्यपालो की एक समिति गठित की जिसमें मार्गदर्शन के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए जिनका उल्लेख हम पिछले अध्याय मे 'राज्यपाल के लिए निर्देश-पत्र' (Instrument of Instructions to Governors) शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं।

सुनिश्चित सांविधानिक अभिसमय या परम्परा के अनुसार उस मन्त्रि-परिषद् को, जिसे सदन का विश्वास प्राप्त है, राज्यपाल द्वारा अपदस्थ नही किया जाना चाहिए। मन्त्रि-परिषद् को सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त है या नही—इस प्रश्न पर भी सुनिश्चित सांविधानिक अभिसमय यह है कि मन्त्रिमण्डल सदन का विश्वास प्राप्त कर ले। यदि सदन अविश्वास का प्रस्ताव पारित करता है तो इसका अर्थ होगा कि मन्त्रिमण्डल सदन का विश्वास खो चुका है। वाह्य सूचनाओं के आधार पर विश्वसनीय रूप में यह पता नही लगाया जा सकता कि मन्त्रिमण्डल को सदन का विश्वास प्राप्त है या नही, अत. राज्यपाल से अपेक्षा की जाती है कि वह तब तक प्रतीक्षा करे जब तक कि मन्त्रिमण्डल सदन में किसी प्रश्न पर मतदान मे हार नही जाता।

मुख्य मन्त्री की वास्तविक स्थिति
(The Actual Position of the Chief Minister)

राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल के सन्दर्भ मे मुख्य मन्त्री की वास्तविक स्थिति को हम देख चुके है। पर मुख्य मन्त्री की स्थिति और भी अनेक बातों पर निर्भर करती है, जिनमे से कुछ मुख्य निम्नलिखित है—

1 भारत में बहुदलीय व्यवस्था के बावजूद अभी तक, 1967 के बाद के कुछ वर्षों को छोड़कर, एक दलीय प्रभुत्व रहा है। केन्द्र में कांग्रेस दल सत्तारूढ रहा है और अधिकांश राज्यो मे भी। जनता सरकार के समय भी बहुत कुछ यही बात रही। जब एक ही दल केन्द्र और राज्यो मे सत्तारूढ हो तो मुख्य मन्त्री को केन्द्रीय निर्देशन मे अधिक चलना पड़ता है। केन्द्रीय निर्देशन के प्रकाश मे मुख्य मन्त्री की वास्तविक स्थिति कमजोर होती है, लेकिन निर्देशनो के अनुकूल चलते हुए अथवा दलीय हाई कमान का विश्वास-पात्र बने रहते हुए मुख्य मन्त्री की स्थिति राज्य मे सशक्त होती है। हाई कमान और प्रधान मन्त्री का संरक्षण जिस मुख्य मन्त्री को प्राप्त हो वह विधान-सभा की गुटबाजी का सफल मुकाबला कर पाता है।

2. केन्द्र मे यदि शासक दल की स्थिति कमजोर है तो राज्यों मे मुख्य मन्त्रियों की स्थिति अधिक मजबूत हो जाती है क्योंकि उन पर केन्द्रीय निर्देशनो अथवा हाई कमान के निर्देशनो का वह प्रभाव नही पड़ता जो उस सूरत में पड सकता था जबकि केन्द्र मे शासक दल सुदृढ हो। ऐसी स्थिति मे प्रधान मन्त्री के चुनाव में भी राज्यो के मुख्य मन्त्रियो का भाग विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पण्डित नेहरू

के बाद प्रारम्भिक वर्षों में मुख्य मन्त्रियों को 'किंग-मेकर्स' (King-Makers) कहा जाने लगा। कांग्रेस के विभाजन के दौरान भी मुख्य मन्त्रियों की स्थिति काफी मजबूत थी। लेकिन 1971 के लोकसभायी चुनावों में श्रीमती गांधी ने जो अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त किया उससे मुख्य मन्त्रियों की स्थिति पुनः वैसी ही हो गई जैसी पण्डित नेहरू के समय थी। एक सशक्त और प्रभावशाली प्रधान मन्त्री के रहते हुए मुख्य मन्त्रियों को उसके निर्देशन को मानकर चलने में ही सुरक्षा प्राप्त हो सकती है। भारतीय परिस्थितियों की माँग है कि केन्द्र सदैव सुदृढ़ और शक्तिशाली रहे तभी विघटनकारी तत्त्वों का मुकाबला किया जा सकता है।

3. यदि राज्य विधान-सभा के मुख्य मन्त्री को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है तो उसकी स्थिति उस मुख्य मन्त्री की तुलना में अधिक सुदृढ़ होती है जो कि मिले-जुले अथवा संविद मन्त्रिमण्डल का नेता है।

4. यदि विधान-सभाओं में दल-बदल का जोर है तो मुख्य मन्त्री की स्थिति अनिश्चय में रहती है, चाहे उसे हाई कमान और प्रधान मन्त्री का संरक्षण भी प्राप्त हो।

5. मुख्य मन्त्री की वास्तविक स्थिति उसके स्वयं के और राज्यपाल के व्यक्तित्व के अनुपात पर ही निर्भर करती है। यदि राज्यपाल कमजोर व्यक्तित्व वाला है तो मुख्य मन्त्री की स्थिति अधिक मजबूत हो जाती है।

यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि एक दलीय प्रभुत्व के कारण अभी देश में मुख्य मन्त्री पद का संस्थाकरण नहीं हो पाया है। पर हर स्थिति में यह अपेक्षित है कि केन्द्र और राज्य परस्पर सहयोग और समन्वय के साथ चलें। देश की प्रगति और समृद्धि का यही तकाजा है।

राज्य का महाधिवक्ता
(The Advocate General for the State)

संविधान के अनुच्छेद 165 में व्यवस्था है कि—

1. उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखने वाले व्यक्ति को प्रत्येक राज्य का राज्यपाल राज्य का महाधिवक्ता नियुक्त करेगा।

2. महाधिवक्ता का कर्त्तव्य होगा कि वह उस राज्य की सरकार को ऐसे विधि सम्बन्धी विषयों पर मन्त्रणा दे तथा ऐसे विधि-रूप दूसरे कर्त्तव्यों का पालन करे जो राज्यपाल उसे, समय-समय पर भेजे या सौंपे तथा उन कृत्यों का निर्वहन करे जो उसे इस संविधान अथवा अन्य किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के द्वारा या अधीन दिए गए हों।

3. महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करेगा तथा राज्यपाल द्वारा निर्धारित पारिश्रमिक पाएगा।

महाधिवक्ता राज्य विधान-मण्डल की कार्यवाहियों में भाग ले सकता है, परन्तु उसे मतदान का अधिकार नहीं होता।

20 राज्य विधान-मण्डल एवं राज्य न्यायपालिका

(STATE LEGISLATURE AND STATE JUDICIARY)

प्रत्येक राज्य में एक विधान-मण्डल होता है जिसके अन्तर्गत राज्यपाल के अतिरिक्त एक या दो, जैसी भी स्थिति हो, सदन होते हैं। वर्तमान में आन्ध्र प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक, जम्मू तथा कश्मीर, तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश में विधान-मण्डल के दो सदन हैं जो विधान-परिषद् और विधान-सभा के नाम से जाने जाते हैं, शेष राज्यों में विधान-मण्डल का केवल एक ही सदन है जिसे विधान-सभा कहा जाता है। किसी वर्तमान विधान-परिषद् को समाप्त करने के लिए अथवा जहाँ वह नहीं हो वहाँ उसे बनाने के लिए, यदि ऐसे प्रस्ताव का सम्बन्धित विधान-सभा द्वारा समर्थन कर दिया जाए, तो संसद् कानून बनाकर व्यवस्था कर सकती है। उदाहरणार्थ पश्चिम बंगाल और पंजाब की विधान-परिषद् क्रमशः 1 अगस्त, 1969 और 7 जनवरी, 1970 से समाप्त कर दी गई है। संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम 1956 में मध्य प्रदेश में एक विधान-परिषद् बनाने की व्यवस्था कर दी गई है, परन्तु वह अभी तक गठित नहीं हुई है।

विधान-मण्डल की रचना

विधान-परिषद्

संविधान के अनुच्छेद 171 (1) के अनुसार प्रत्येक राज्य की विधान-परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या राज्य की विधान-सभा के सदस्यों की कुल संख्या की एक तिहाई से अधिक तथा किसी भी स्थिति में 40 से कम नहीं होगी। परिषद् के सदस्य विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं। लगभग एक तिहाई सदस्य उस राज्य की विधान-सभा के सदस्यों द्वारा उन व्यक्तियों में से निर्वाचित किए जाते हैं जो विधान-सभा के सदस्य नहीं हों, एक तिहाई सदस्यों का निर्वाचन नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों और अन्य स्थानीय निकायों के सदस्यों के निर्वाचक मण्डल करते हैं, 12वें भाग के बराबर संख्या में सदस्यों का निर्वाचन शिक्षा संस्थाओं के (जो माध्यमिक स्तर से नीचे की न हों) पंजीकृत अध्यापक करते हैं। इसके अलावा दूसरे ।
के बराबर संख्या में सदस्यों का निर्वाचन ऐसे पंजीकृत स्नातक करते हैं।

हुए कम-से-कम तीन वर्ष हो चुके हो। शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते है और ये सदस्य वे व्यक्ति होने चाहिए, जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन तथा समाज सेवा का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव हो।

राज्य विधान-परिषद् एक स्थाई सदन है जिसके एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश प्राप्त करते रहते हैं। विधान-परिषद् का सदस्य होने के लिए किसी भी व्यक्ति को कम-से-कम 30 वर्ष का अवश्य होना चाहिए। अन्य अर्हताएँ ठीक वैसी ही हैं, जैसी विधान-सभा के लिए है। विधान-परिषद् के सदस्य अपने में से ही एक सभापति और एक उप-सभापति चुनते हैं जिसके कार्य लगभग वैसे ही है जैसे केन्द्र में राज्य सभा के सभापति और उप-सभापति के।

निम्नलिखित सारणी में विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदो की रचना उनके निर्वाचन क्षेत्रों के ब्यौरे के साथ प्रस्तुत है[1]—

राज्य	कुल सदस्य सख्या	विधान-सभा द्वारा निर्वाचित	स्थानीय सस्थाओं द्वारा निर्वाचित	स्नातकों द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	मनोनीत
आन्ध्र प्रदेश	90	31	31	8	8	12
बिहार	96	34	34	8	8	12
जम्मू व कश्मीर	36	22	6	—	2	6
तमिलनाडु	63	21	31	7	5	9
महाराष्ट्र	78	30	22	7	7	12
कर्नाटक	63	21	21	6	6	9
उत्तर प्रदेश	108	39	39	9	9	12

विधान-सभा

सविधान के अनुच्छेद 170 के अनुसार, किसी राज्य की विधान-सभा मे अधिक से अधिक 500 तथा कम से कम 60 सदस्य हो सकते हैं। विधान-सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होती है। निर्वाचन के लिए प्रत्येक राज्य निर्वाचन क्षेत्रो में इस ढग से बाँटा जाता है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या और उस निर्वाचन क्षेत्र के लिए नियत किए गए स्थानों की जनसख्या के बीच का अनुपात यथासम्भव सम्पूर्ण राज्य मे एक-सा हो। विधान-सभा का कार्यकाल सामान्यतः पाँच वर्ष का होता है, बशर्ते कि अवधि के पूर्व ही वह भग न कर दी जाए। लोकसभा की भाँति इसका कार्यकाल भी सकटकालीन स्थिति में एक बार मे अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए बढाया जा सकता है। सकटकालीन स्थिति समाप्त होने के बाद इसका कार्यकाल 6 माह से अधिक नही बढ़ाया जा सकता। सविधान की व्यवस्था के अनुसार, विधान-सभा में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित

1 एम. वी. पायली : वही, पृ. 239.

आदिम जातियों तथा असम के स्वायत्त शासित जिलों के लिए स्थान सुरक्षित रखे जाने के अलावा अन्य कोई स्थान सुरक्षित नहीं रखे जाते। यदि राज्यपाल समझे कि ऐंग्लो-इण्डियनों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए और इन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है, तो वह विधान-सभा में इनका एक सदस्य नामजद कर सकता है।

विधान-सभा की सदस्यता के उम्मीदवार के लिए आवश्यक है कि वह (1) भारत का नागरिक हो, (2) 25 वर्ष से कम वय का न हो, और (3) उसमें अन्य वे सभी अर्हताएँ मौजूद हों जो संसद् निर्धारित करे। विधान-सभा को अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनने का अधिकार है जिनके कार्य वैसे ही है जैसे लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के होते है।

यह आवश्यक है कि एक वर्ष के भीतर विधान-सभा के दो अधिवेशन अवश्य हों। प्रथम अधिवेशन के अन्त में और दूसरे अधिवेशन के आरम्भ में 6 माह से अधिक समय नहीं बीतना चाहिए।

वर्तमान समय मे विभिन्न विधान-सभाओं मे सदस्यों की संख्या की तालिका निम्नलिखित है—

राज्य का नाम	1971, 72 या 74 में विधान-सभा की कुल सदस्य संख्या	मई 77 मे निर्वाचित या इसके बाद चुनी जाने वाली विधान-सभा की कुल सदस्य संख्या
1	2	3
1. आन्ध्र प्रदेश	287	294
2. असम	114	126
3. बिहार	318	324
4. उत्तर प्रदेश	425	425
5. उड़ीसा	147	147
6. केरल	133	140
7. गुजरात	182	182
8. तमिलनाडु	234	234
9. हरियाणा	81	90
10. मध्य प्रदेश	296	320
11. नागालैंड	60	60
12. पंजाब	104	117
13. पश्चिम बंगाल	280	[illegible]
14. महाराष्ट्र	270	[illegible]
15. कर्नाटक	216	[illegible]
16. राजस्थान	184	[illegible]
17. हिमाचल प्रदेश	68	[illegible]

1	2	3
18. जम्मू-कश्मीर	75	76
19. मेघालय	60	60
20. मणिपुर	60	60
21. त्रिपुरा	60	60
22. सिक्किम	30	32
केन्द्र शासित क्षेत्र		
1. गोआ, दमन तथा ड्यू	30	30
2. पाण्डिचेरी	30	30
3. मिजोरम	30	30
4. अरुणाचल प्रदेश	30	30

नोट : विधान-सभाओं के सदस्यों की संख्या सन् 2001 तक यही रहेगी।

केरल विधान-सभा के चुनाव मार्च, 1977 में लोकसभा के चुनाव के साथ हुए थे। गोआ, दमन और ड्यू की विधान-सभाओं के चुनाव 12 जून, 1977 को हुए थे। 10 राज्यों (बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, हरियाणा, मध्य प्रदेश, पंजाब, पश्चिम बंगाल, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश) की विधान-सभाओं के चुनाव भी जून, 1977 में हुए थे। जम्मू-कश्मीर की विधान-सभाओं के चुनाव जून-जुलाई 1977 में हुए थे और शेष राज्यों की विधान-सभाओं के चुनाव फरवरी, 1978 में हुए।

राज्य विधान-मण्डल के कार्य एवं अधिकार

राज्य विधान-मण्डलों के कार्य और अधिकार प्रायः वैसे ही हैं जैसे केन्द्रीय संसद् के हैं। राज्य विधान-मण्डलों को संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 में उल्लिखित विषयों पर एकान्तिक अधिकार प्राप्त है तथा सूची 3 में उल्लिखित विषयों पर केन्द्र के साथ मिले-जुले अधिकार प्राप्त हैं।

विधायी शक्तियाँ—जैसा कि बताया जा चुका है, राज्य विधान-मण्डल राज्य सूची के सभी विषयों पर कानून बनाता है। उसे समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन इस क्षेत्र में यदि विधान-मण्डल और संसद् के कानून टकराएँ तो संसद् के कानून ही मान्य होते हैं। साधारण स्थिति में विधान-मण्डल अपने कार्य में स्वतन्त्र है, लेकिन संकटकालीन स्थिति के दौरान इसके अधिकारों में राष्ट्रपति और संसद् का हस्तक्षेप हो सकता है। एक सदन वाले राज्यों में सब अधिकार विधान-सभा को प्राप्त होते हैं। दोनों सदनों वाले राज्यों में विधायी कार्य दोनों सदन मिलकर करते हैं, तथापि विधान-सभा का अधिकार अधिक होता है। साधारण विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं, पर यदि विधान-सभा द्वारा पारित विधेयक पर विधान-परिषद् अपनी स्वीकृति तीन माह में नहीं देती तो विधान-सभा उस विधेयक को दुबारा पास करके पुनः विधान-परिषद् को भेज सकती है और तब विधान-परिषद् को एक महीने के भीतर उसे स्वीकार कर लेना होता है। यदि विधान-परिषद् एक महीने में विधेयक को अस्वीकृत कर दे या संशोधित कर दे या उस पर कोई कार्यवाही न करे तो भी विधेयक दोनों सदनों

द्वारा पारित समझा जाता है। स्पष्ट है कि विधान-परिषद् किसी विधेयक को (वित्त विधेयक को छोड़कर) केवल चार मास के लिए रोक सकती है।

वित्तीय शक्तियाँ—वित्तीय मामलों में, लोकसभा की भाँति, विधान-सभा की ही प्रमुखता है। वित्त विधेयक प्रारम्भ में केवल विधान-सभा में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। विधान-परिषद् परिवर्तन के लिए केवल सुझाव दे सकती है, वह भी विधेयक प्राप्त करने की तिथि से 14 दिनों के अन्दर-अन्दर। परन्तु विधान-सभा सुझावों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। विधान-सभा में सभी प्रकार के वित्त विधेयक प्रस्तावित होते हैं। वार्षिक बजट की किसी भी माँग में कमी करने का या उसे अस्वीकार करने का विधान-सभा को पूरा अधिकार होता है, लेकिन मन्त्रि-परिषद् की स्वीकृति के बिना वह किसी माँग को बढ़ाने का अधिकार नहीं रखता। यह ध्यान रहे कि बजट की कुल मदों पर विधान-मण्डल को मतदान का अधिकार नहीं होता, वह केवल बहस कर सकता है। इस प्रकार के मदों में राज्यपाल, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, अध्यक्ष (स्पीकर), उपाध्यक्ष एवं लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वेतन व भत्ते तथा ऋण का भुगतान आदि सम्मिलित हैं।

प्रशासकीय शक्तियाँ—इस क्षेत्र में भी विधान-मण्डल की स्थिति संसद् जैसी ही है और उसमें भी प्रमुखता विधान-सभा की है। मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मन्त्रियों से प्रश्न पूछने, काम-रोको तथा अन्य प्रकार के प्रस्ताव लाकर विरोध प्रकट करने का अधिकार दोनों सदनों को है। वित्तीय नियन्त्रण रखने के अधिकार का उपयोग करके विधान-सभा कार्यपालिका पर महत्त्वपूर्ण ढंग से नियन्त्रण रख सकती है, तथापि व्यवहार में बहुमत दल का उपभोक्ता मन्त्रि मण्डल विधान-सभा पर छाया रहता है। राज्य विधान-मण्डल विभिन्न उपायों से कार्यपालिका के नित्य प्रति के कार्य संचालन पर निगरानी रखता है।

संविधान में संशोधन का आंशिक अधिकार—राज्य विधान-मण्डल को संविधान की अनेक महत्त्वपूर्ण धाराओं में संशोधन के सम्बन्ध में राय देने का अधिकार प्राप्त है। संविधान में कई प्रकार के संशोधन तो अकेली संसद ही कर सकती है। लेकिन अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में संशोधन करने के लिए संसद के अलावा आधे राज्यों के विधान-मण्डलों की स्वीकृति भी आवश्यक होती है।

विधान-मण्डल के कार्यों और अधिकारों से स्पष्ट है कि शासन के [illegible] का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व इसी पर है। जिस प्रकार संसद में लोकसभा [illegible] सम्पन्न है उसी प्रकार राज्य विधान-मण्डल में विधान-सभा का महत्त्व [illegible] से अधिक है।

विधान-सभा और विधान-परिषद् के पारस्परिक [illegible]

संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों और राज्य [illegible] दोनों सदनों (जहाँ दो सदनों का अस्तित्व है) के पारस्परिक [illegible] अन्तर यह है कि राज्य विधान-परिषद् (Legislative Co[illegible]

कम महत्त्वपूर्ण है। राज्य विधान-परिषद् का कार्य अधिकांशतः केवल परामर्शदाता का ही है। यदि विधान-सभा और विधान-परिषद् में किसी प्रश्न पर मतभेद उपस्थित हो जाता है तो दोनों सदनों के मतभेदों को दूर करने के लिए संविधान में जो उपाय सुझाए गए हैं वे ब्रिटिश संसदीय अधिनियम 1911 के उन उपबन्धों पर आधारित हैं जो लॉर्ड सभा और लोकसभा के मतभेदों को दूर रखने के लिए रखे गए हैं। व्यवस्था यह है कि एक विधेयक केवल दो बार ही विधान-सभा से विधान-परिषद् को भेजा जा सकता है। प्रथम बार जब विधेयक परिषद् के पास पहुँचता है तो परिषद् अग्रलिखित चार मार्गों में से कोई भी मार्ग अपना सकती है—(1) विधेयक को अस्वीकार कर दे, (2) विधेयक को संशोधित कर दे, (3) विधेयक पर कोई कार्यवाही न करे (तीन महीने व्यतीत हो जाने पर यदि परिषद् सभा को विधेयक के सम्बन्ध में कोई निर्णय न भेज दे तो इसका अर्थ परिषद् द्वारा विधेयक का अस्वीकृत होना माना जाता है), एवं (4) विधेयक को उसी रूप में पारित कर दे जिस रूप में सभा द्वारा भेजा गया है। प्रथम तीन अवस्थाओं में विधान-सभा विधेयक पर पुनः विचार करती है। वह परिषद् द्वारा पारित संशोधनों के साथ या उनके बिना ही विधेयक को पुनः पारित कर सकती है। इस प्रकार दुबारा पारित विधेयक जब विधान-परिषद् के पास पहुँचता है तो परिषद् पहली बार की भाँति उक्त चारों मार्गों में से कोई भी मार्ग अपनाकर अपना निर्णय दे सकती है किन्तु इस बार परिषद् को अपना निर्णय एक महीने में ही अनिवार्यतः देना होता है। यदि परिषद् अब भी विधेयक को विधान-सभा द्वारा भेजे गए रूप में पारित नहीं करती तो परिषद् के इस कार्य का कोई महत्त्व नहीं होता क्योंकि विधेयक इस स्थिति में दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाकर राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। स्पष्ट है कि परिषद् को विलम्ब विषेधाधिकार (Suspensory Veto Power) ही प्राप्त है। प्रथम बार परिषद् तीन महीने के लिए विधेयक का पारित होना रोक सकती है। इन संविधानिक उपबन्धों से प्रकट है कि विधायी कार्य में विधान-सभा की ही स्थिति सर्वोपरि है, विधान-परिषद् का निर्णय अन्तिम नहीं हो सकता। वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में राज्य विधान-सभा की शक्ति अपने क्षेत्र में लोकसभा के समान है। संविधान द्वारा वित्तीय विषयों में संसद् के समान ही राज्य विधान-मण्डलों के लिए भी प्रक्रिया निर्धारित की गई है।

उच्च न्यायालय
(The High Courts)

संविधान का अध्याय 5 राज्यों के उच्च न्यायालयों और अध्याय 6 अधीनस्थ न्यायालयों से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 214 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था रखी गई है। किन्तु कानून द्वारा संसद् को दो या दो से अधिक राज्यों के लिए, अथवा दो या दो से अधिक राज्यों तथा एक संघीय क्षेत्र के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना का अधिकार दिया गया है। वर्तमान में देश में 18 उच्च न्यायालय कार्य कर रहे हैं जिनमें से दो ऐसे हैं जिनका न्यायाधिक

क्षेत्र एक से अधिक राज्यों में है। संघ राज्य क्षेत्रों में केवल दिल्ली में ही उसका अपना उच्च न्यायालय है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा उतने अन्य न्यायाधीश होते हैं जितने कि राष्ट्रपति समय-समय पर आवश्यकतानुसार नियुक्त करे। संविधान के सातवें संविधान के अनुसार अतिरिक्त और कार्यकारी न्यायाधीश भी नियुक्त किए जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति और राज्य के राज्यपाल के परामर्श से करता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए भी यही प्रक्रिया है सिवाय इसके कि वे इस सम्बन्ध में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति से भी परामर्श लिया जाता है। अतिरिक्त एवं कार्यकारी न्यायाधीशों को छोड़कर सब न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते हैं। न्यायाधीश की आयु के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्न का निर्णय राष्ट्रपति को करना होता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी उसी ढंग से हटाए जा सकते हैं जैसे कि भारत के उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश हटाया जा सकता है। उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश की नियुक्ति सम्बन्धी अर्हता सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए निर्दिष्ट अर्हताओं से भिन्न है। इसके लिए अनिवार्य है कि वह भारत में दस वर्ष तक किसी न्यायिक पद पर रहा हो अथवा उसने एक या दो या अधिक उच्च न्यायालयों में लगातार इतनी ही अवधि तक वकील के रूप में कार्य किया हो। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की भाँति उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश के भत्ते, छुट्टी अथवा नियुक्ति वेतन सम्बन्धी उसके अधिकार उसके कार्यालय में उसके हित के प्रतिकूल परिवर्तित नहीं किए जा सकते।

उच्च न्यायालय के कार्य और अधिकार

राज्यों के उच्च न्यायालयों को प्रारम्भिक और अपीलीय दोनों न्यायाधिकार क्षेत्र प्राप्त हैं। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कुछ विशेष प्रकार के मुकदमे सीधे ही उच्च न्यायालय में लाए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, उच्च न्यायालय वसीयत, विवाह, कम्पनी कानून के मामलों पर विचार कर सकते हैं, उच्च न्यायालयों के अपमान सम्बन्धी मुकदमों को सीधे सुन जा सकते हैं, भूमि-कर तथा उसकी वसूली से सम्बन्धित कतिपय मामले भी उच्च न्यायालय में सीधे लाए जा सकते हैं। संविधान बनने से पूर्व कलकत्ता, बम्बई, मद्रास उच्च न्यायालयों का जो प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार था, उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार लगभग वैसा ही अब भी है। उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए कुछ शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। वे इन अधिकारों की रक्षा के लिए आदेश जारी कर सकते हैं। मौलिक अधिकारों सम्बन्धी मुकदमे उच्च न्यायालय में भी पेश किए जा सकते हैं और सीधे उच्चतम न्यायालय में भी।

अपीलीय अधिकार क्षेत्र में उच्च न्यायालय दीवानी, फौजदारी और माल सम्बन्धी प्रकार के मुकदमों की अपीलें सुनते हैं। कुछ न्यायालय दीवानी मामलों में

कम महत्त्वपूर्ण है। राज्य विधान-परिषद् का कार्य अधिकांशतः केवल परामर्शदाता का ही है। यदि विधान-सभा और विधान-परिषद् में किसी प्रश्न पर मतभेद उपस्थित हो जाता है तो दोनों सदनों के मतभेदों को दूर करने के लिए संविधान में जो उपाय सुझाए गए है वे ब्रिटिश ससदीय अधिनियम 1911 के उन उपबन्धों पर आधारित है जो लॉर्ड सभा और लोकसभा के मतभेदों को दूर रखने के लिए रखे गए है। व्यवस्था यह है कि एक विधेयक केवल दो बार ही विधान-सभा से विधान-परिषद् को भेजा जा सकता है। प्रथम बार जब विधेयक परिषद् के पास पहुँचता है तो परिषद् अग्रलिखित चार मार्गो में से कोई भी मार्ग अपना सकती है—(1) विधेयक को अस्वीकार कर दे, (2) विधेयक को सशोधित कर दे, (3) विधेयक पर कोई कार्यवाही न करे (तीन महीने व्यतीत हो जाने पर यदि परिषद् सभा को विधेयक के सम्बन्ध में कोई निर्णय न भेज दे तो इसका अर्थ परिषद् द्वारा विधेयक का अस्वीकृत होना माना जाता है), एव (4) विधेयक को उसी रूप में पारित कर दे जिस रूप में सभा द्वारा भेजा गया है। प्रथम तीन अवस्थाओं में विधान-सभा विधेयक पर पुन. विचार करती है। वह परिषद् द्वारा पारित संशोधनों के साथ या उनके बिना ही विधेयक को पुनः पारित कर सकती है। इस प्रकार दुबारा पारित विधेयक जब विधान-परिषद् के पास पहुँचता है तो परिषद् पहली बार की भाँति उक्त चारो मार्गों में से कोई भी मार्ग अपनाकर अपना निर्णय दे सकती है किन्तु इस बार परिषद् को अपना निर्णय एक महीने में ही अनिवार्यतः देना होता है। यदि परिषद् अब भी विधेयक को विधान-सभा द्वारा भेजे गए रूप में पारित नहीं करती तो परिषद् के इस कार्य का कोई महत्त्व नहीं होता क्योंकि विधेयक इस स्थिति में दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाकर राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। स्पष्ट है कि परिषद् को विलम्ब विवेधाधिकार (Suspensory Veto Power) ही प्राप्त है। प्रथम बार परिषद् तीन महीने के लिए विधेयक का पारित होना रोक सकती है। इन सांविधानिक उपबन्धों से प्रकट है कि विधायी कार्य में विधान-सभा की ही स्थिति सर्वोपरि है, विधान-परिषद् का निर्णय अन्तिम नहीं हो सकता। वित्त विधेयकों के सम्बन्ध मे राज्य विधान-सभा की शक्ति अपने क्षेत्र में लोकसभा के समान है। संविधान द्वारा वित्तीय विषयों में ससद् के समान ही राज्य विधान-मण्डलों के लिए भी प्रक्रिया निर्धारित की गई है।

उच्च न्यायालय
(The High Courts)

संविधान का अध्याय 5 राज्यों के उच्च न्यायालयों और अध्याय 6 अधीनस्थ न्यायालयों से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 214 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था रखी गई है। किन्तु कानून द्वारा संसद् को दो या दो से अधिक राज्यों के लिए, अथवा दो या दो से अधिक राज्यों तथा एक संघीय क्षेत्र के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना का अधिकार दिया गया है। वर्तमान में देश में 18 उच्च न्यायालय कार्य कर रहे हैं जिनमें से दो ऐसे है जिनका न्यायाधिक

क्षेत्र एक से अधिक राज्यों में है। संघ राज्य क्षेत्रों में केवल दिल्ली में ही उसका अपना उच्च न्यायालय है। प्रत्येक उच्च न्यायालय मे एक मुख्य न्यायाधिपति तथा उतने अन्य न्यायाधीश होते है जितने कि राष्ट्रपति समय-समय पर आवश्यकतानुसार नियुक्त करे। सविधान के सातवें सविधान के अनुसार अतिरिक्त और कार्यकारी न्यायाधीश भी नियुक्त किए जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति और राज्य के राज्यपाल के परामर्श से करना है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए भी यही प्रक्रिया है सिवाय इसके कि वे इस सम्बन्ध मे उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति से भी परामर्श लिया जाता है। अतिरिक्त एव कार्यकारी न्यायाधीशों को छोड़कर सब न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते हैं। न्यायाधीश की आयु के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्न का निर्णय राष्ट्रपति को करना होता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी उसी ढग से हटाए जा सकते हैं जैसे कि भारत के उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश हटाया जा सकता है। उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश की नियुक्ति सम्बन्धी अर्हता सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए निर्दिष्ट अर्हताओ से भिन्न है। इसके लिए अनिवार्य है कि वह भारत मे दस वर्ष तक किसी न्यायिक पद पर रहा हो अथवा उसने एक या दो या अधिक उच्च न्यायालयों मे लगातार इतनी ही अवधि तक वकील के रूप मे कार्य किया हो। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो की भाँति उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश के भत्ते, छुट्टी अथवा नियुक्ति वेतन सम्बन्धी उसके अधिकार उसके कार्यालय मे उसके हित के प्रतिकूल परिवर्तित नहीं किए जा सकते।

उच्च न्यायालय के कार्य और अधिकार

राज्यों के उच्च न्यायालयो को प्रारम्भिक और अपीलीय दोनों न्यायाधिकार क्षेत्र प्राप्त है। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कुछ विशेष प्रकार के मुकदमे सीधे ही उच्च न्यायालय में लाए जा सकते है। उदाहरणार्थ, उच्च न्यायालय वसीयत, विवाह, कम्पनी कानून के मामलो पर विचार कर सकते हैं, उच्च न्यायालयों के अपमान सम्बन्धी मुकदमो को सीधे सुने जा सकते हैं, भूमि-कर तथा उसकी वसूली से सम्बन्धित कतिपय मामले भी उच्च न्यायालय मे सीधे लाए जा सकते है। संविधान बनने से पूर्व कलकत्ता, बम्बई, मद्रास उच्च न्यायालयों का जो प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार था, उच्च न्यायालयो का क्षेत्राधिकार लगभग वैसा ही अब भी है। उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए कुछ शक्तियाँ प्रदान की गई है। वे इन अधिकारों की रक्षा के लिए आदेश जारी कर सकते है। मौलिक अधिकारों सम्बन्धी मुकदमे उच्च न्यायालय मे भी पेश किए जा सकते हैं और सीधे उच्चतम न्यायालय में भी।

अपीलीय अधिकार क्षेत्र मे उच्च न्यायालय दीवानी, फौजदारी और माल सम्बन्धी प्रकार के मुकदमो की अपीलें सुनते है। कुछ न्यायालय दीवानी म. .जे.

प्राय: जिला न्यायालय के विरुद्ध, फौजदारी मामलों मे सत्र न्यायालयों के विरुद्ध और माल (राजस्व) सम्बन्धी मामलों मे राजस्व मण्डल के विरुद्ध अपीलें सुनते है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने अधिकार क्षेत्र के अधीन आने वाले सभी न्यायालयों और न्यायाधिकरणों का अधीक्षण करने का अधिकार है। ये ऐसे न्यायालयों से ब्यौरा मंगा सकते है, उनकी कार्य-प्रणाली और कार्यवाहियों के विनियमन के लिए सामान्य नियम बना सकते है और जारी कर सकते हैं। किसी अधीन न्यायालय मे यदि कोई ऐसा मुकदमा चल रहा हो जिसमें संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है तो उच्च न्यायालय ऐसे मुकदमे को अपने पास मँगा सकता है। उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह किसी भी मुकदमे को एक अधीनस्थ न्यायालय से दूसरे अधीनस्थ न्यायालय मे भिजवा दे।

उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय के रूप मे भी कार्य करता है। वह अपना रिकार्ड कायम रखता है। उसकी कार्यवाहियां और फैसले छापे जाते हैं तथा अन्य मुकदमों में उनका हवाला दिया जा सकता है।

संविधान द्वारा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गई है। वे किसी भी ऐसे सांविधानिक संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य-कानून को अवैधानिक घोषित कर दे जो संविधान के प्रावधानों के विपरीत हो। 42वें संविधान संशोधन द्वारा उच्च न्यायालयों को लेख जारी करने और न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सीमित कर दिया गया था और न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया था, किन्तु 43वें संविधान संशोधन (1977) द्वारा उच्च न्यायालयों को अब न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध मे वही स्थिति और शक्ति प्राप्त हो गई है जो 42वें संशोधन से पूर्व थी।

अधीनस्थ न्यायालय
(Sub-ordinate Courts)

कुछ थोड़ी-सी भिन्नताओं के रहते हुए, अधीनस्थ न्यायालयों का ढाँचा तथा उनके कृत्य सारे देश मे बहुत कुछ एक जैसे ही हैं। प्रत्येक राज्य कई जिलों मे बँटा होता है और हर जिला एक जिला न्यायाधीश की अध्यक्षता मे चलाए जा रहे प्रमुख दीवानी न्यायालय के न्यायाधिकार क्षेत्र के अधीन रहता है। कभी-कभी अपर जिला न्यायाधीश उसकी सहायता करते हैं। जिला न्यायाधीश के नीचे दीवानी न्यायालयों के विभिन्न पद-क्रमों के बहुत से कर्मचारी होते है।

मुकदमों की सुनवाई करने के अतिरिक्त दीवानी न्यायालय मध्यस्थ-निर्णय, अभिभावकता, विवाह, विवाह-विच्छेद और प्रमाणित इच्छा-पत्र जैसे अनेक मामलों को अपने अधिकार-क्षेत्र के अधीन रखते है। अर्द्ध-न्यायिक न्यायाधिकरण, जो कि ग्राम न्यायालयों से अलग है, कुछ दीवानी अधिकारों को निश्चित करने के लिए अधिनियम के अधीन स्थापित किए गए है। कुछ मामलों में इनके निर्णय के विरुद्ध ग्राम न्यायालयों मे अपील की जा सकती है। ऐसे अधिकार न होने पर भी संविधान के अनुसार वे उच्च न्यायालय के अधीन हैं।

फौजदारी अदालत का विधान और गठन दण्ड प्रक्रिया संहिता अधिनियम 1973 के अधीन किया जाता है जो दण्ड प्रक्रिया संहिता अधिनियम, 1898 के स्थान पर 1 अप्रेल, 1974 से लागू हुआ। संहिता में कार्यपालिका और न्यायपालिका से सम्बन्धित कार्यों के लिए अलग-अलग मजिस्ट्रेटों की व्यवस्था है। कार्यपालिका से सम्बद्ध मजिस्ट्रेट राज्य सरकारों के अधीन हैं और न्यायपालिका से सम्बद्ध उच्च न्यायालय के। कार्यपालिका में हर जिले के लिए एक जिला मजिस्ट्रेट होता है और उसके अधीन कई अधीनस्थ मजिस्ट्रेट होते हैं। ये मजिस्ट्रेट कानून और व्यवस्था बनाए रखने और अपराध रोकने की समस्याओं से निपटते हैं। न्यायपालिका में जिला स्तर पर सबसे ऊपर मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट और फिर प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट होते हैं। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि मजिस्ट्रेटों से सम्बन्धित वे कार्य जो प्रमुखतया न्यायिक प्रकृति के हैं, न्यायिक मजिस्ट्रेटों के जिम्मे हैं। दस लाख से अधिक आबादी वाले महानगरीय क्षेत्रों में महानगरीय मजिस्ट्रेट हैं, जिनके पास मुकदमों को शीघ्र निपटाने के लिए अधिक अधिकार होते हैं।

21 भारतीय राजनीति की प्रकृति और उसके निर्धारक तत्त्व
(THE NATURE AND DETERMINANTS OF INDIAN POLITICS)

भारत नव-स्वतन्त्र राष्ट्र है जहाँ राजनीति धीरे-धीरे परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो रही है। जनता मे राजनीतिक चेतना आती जा रही है और स्थानीय से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक लोकतान्त्रिक संस्थाएँ पनप रही है। मार्च, 1977 के छठे लोकसभायी चुनाव भारतीय जनता की राजनीतिक जागरूकता और भारतीय लोक-सकल्प के द्योतक थे। भारतीय जनता ने अपने मताधिकार का समुचित प्रयोग कर निडरता से मतदान किया और भारतीय लोकतन्त्र की परिपक्वता प्रमाणित की। चुनाव परिणामो ने सिद्ध कर दिया कि भारतीय जनता में लोकतन्त्र के प्रति कितना प्रेम है।

भारतीय राजनीतिक अवस्था परम्परागत मूल्यों और नवीन अपेक्षाओं के सघर्ष से जूझ रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से ही देश का नेतृत्व निरन्तर इस समस्या से ग्रस्त रहा है कि यदि टूटती हुई सामाजिक संस्थाओं की जगह नई संस्थाएँ नहीं स्थापित की गईं, नए अवसर नहीं प्रस्तुत किए गए और नई मान्यताओं तथा मूल्यों की स्थापना नहीं की गई तो राजनीतिक विकास के अवरुद्ध होने के साथ-साथ राजनीतिक व्यवस्था के टूटने की नौबत आ सकती है।[1] इस समस्या के प्रभावी समाधान में सबसे बड़ी बाधा यह रही है कि नेतृत्व फूट का शिकार रहा है, कई बार निजी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए उसने राष्ट्रीय हित की बलि चढ़ाई है। काँग्रेसी शासन के पतन के बाद यह आशा की गई थी कि जनता पार्टी का सामूहिक नेतृत्व बिखरी हुई मणियों को एक सूत्र मे पिरो सकेगा, लेकिन उसने अपने आचरण से देश में सदैव विश्वास का सकट बनाए रखा और अन्त मे उसका बिखराव शुरू हो गया और 15 जुलाई, 1979 को देसाई सरकार को त्याग-पत्र देना पड़ा, यद्यपि कामचलाऊ सरकार के रूप में वह 29 जुलाई, 1979 को तब तक बनी रही जब

1 रजनी कोठारी : भारतीय राजनीति, पृष्ठ 3.

तक चौधरी चरणसिंह ने प्रधान मन्त्री पद की शपथ न ली। इस नई सरकार का भी पतन हो गया और 21 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति द्वारा दिसम्बर, 1979 में मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा कर दी गई। निर्वाचन के बाद नई सरकार के गठन तक चरणसिंह सरकार को काम चलाते रहने को कहा गया।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप अभी उभर रहा है एवं वह निरन्तरता और परिवर्तन की स्थिति में है। राजनीतिक दल, चुनाव-तन्त्र, जनमत के विविध माध्यम, विभिन्न दबाव एवं हित संगठन, बढ़ती हुई सरकारी नौकरशाही, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, प्रादेशिकतावाद, धर्मनिरपेक्षता, आधुनिकीकरण-परम्परावाद और आधुनिकता का संघर्ष आदि विभिन्न तत्त्व देश के राजनीतिक स्वरूप का निर्धारण कर रहे हैं।

सांविधानिक दृष्टि से भारत एक संघ है पर विचित्रता यह है कि भारतीय संघवाद में विपुल मात्रा में एकात्मक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं और शक्ति-सन्तुलन केन्द्र की ओर झुका है। केन्द्रीय सरकार की स्थिति इस शक्ति-सन्तुलन को व्यवहार में निरन्तर प्रभावित करती है। यदि केन्द्र में स्थिर और शक्तिशाली सरकार होती है तो केन्द्र के पक्ष में जो सांविधानिक शक्ति-सन्तुलन है उसे पूरा समर्थन मिलता है। यदि केन्द्र में अस्थिर तथा दुर्बल सरकार होती है तो राज्यों पर केन्द्र के [illegible] का उतना प्रभाव नहीं होता जितना होना चाहिए—विशेष कर उस समय जबकि केन्द्र में एक सरकार हो और राज्य में दूसरी सरकार।

भारतीय राजनीति की प्रकृति और उसके निर्धारक तत्त्व
(The Nature and Determinants of Indian Politics)

भारतीय राजनीति के स्वरूप अथवा उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

(1) परम्परा और आधुनिकता का समन्वय—भारतीय राजनीति और राजनीतिक व्यवस्था में परम्परा तथा आधुनिकता का समन्वय देखने को मिलता है, परम्परागत राजनीतिक जीवन की विशेषताएँ विद्यमान हैं और साथ ही उसे आधुनिक रूप देने की चेष्टा की जा रही है। परम्परा की रक्षा करते हुए आधुनिक लोकतान्त्रिक आदर्शों और नए मूल्यों का प्रवेश भारतीय राजनीति में दिखाई दे रहा है।

भारत ने आधुनिक युग में लोकतन्त्र के आदर्शों को ग्रहण किया है। यह देश अपनी पुरानी परम्परा और विविधता को बनाए रखते हुए आधुनिक युग की [illegible] बातों को ग्रहण करने के लिए प्रयत्नशील है। भारतीय समाज-व्यवस्था [illegible] जटिल और रूढ़िग्रस्त है जिसमें आधुनिक ढंग की राज-व्यवस्था को [illegible] है। फलस्वरूप परिवर्तन और [illegible] या अनुकूलन की समस्याएँ [illegible] इनके समाधान के लिए राज्य ने स्थानीय स्तर से लेकर [illegible] लोकतान्त्रिक संस्थाएँ स्थापित की गई हैं। आधुनिक [illegible] परम्पराओं से सामंजस्य बैठाया जा रहा है। राज्य के हित [illegible] के हित को कुचलने के बजाय व्यक्ति के हित का राज्य [illegible]

जा रहा है। राजनेता जनता को समझाकर उसे साथ ले चलने का प्रयास करते हैं।[1] देश की राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक प्राचीन और विविधतापूर्ण समाज का आधुनिकीकरण किया जा रहा है।[2] अधिकार-सत्ता पर किसी अभिजात वर्ग या समिति शासक वर्ग का एकाधिकार नहीं है। नए-नए तत्त्वों को सत्ता में भाग लेने का मौका दिया जाता है। सारे समाज को अधिकार का भागीदार बनाने की कोशिश की जाती है। आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी निर्णय राजनीतिक वाद-विवाद तथा लोकतान्त्रिक प्रक्रिया से किए जाते हैं। सामाजिक वर्गों और राजनीतिक दलों में सम्बन्ध-सूत्रों का विकास हुआ है। पुराने सामाजिक मतभेदों ने राजनीतिक रूप धारण किया है और पद-प्रतिष्ठा के नए-नए मानदण्ड स्थापित होते जा रहे हैं।

भारत में आधुनिक राजनीति और परम्परागत राजनीति के दर्शन विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ किए जा सकते हैं। "योजना आयोग जहाँ शत-प्रतिशत आधुनिकता का प्रतीक है, वहाँ एक ग्रामीण क्षेत्र के दलीय संगठन में 90 प्रतिशत परम्परागतता देखी जा सकती है।"[3] भारतीय समाज-व्यवस्था परम्परागत रूप में अराजनीतिक रही है, अब यहाँ एक राजनीतिक केन्द्र की स्थापना हो रही है और समाज के विभिन्न वर्गों को राजनीतिक व्यवस्था में स्थान मिला है।

(2) भारतीय राजनीति की तीन शैलियाँ—मोरिस जोन्स ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की तीन शैलियों (*Three Styles or Fashion*) का उल्लेख किया है जिन्हें उन्होंने भारतीय राजनीति की 'तीन प्रमुख भाषाओं' (The Main Languages of Indian Political Life) की संज्ञा दी है। मोरिस जोन्स के अनुसार भारत का राजनीतिक जीवन उन्हीं तीन मुख्य भाषाओं अथवा ढंगों, जो शैलियों में संचालित होता है, ये हैं[4]—

(1) आधुनिक भाषा अथवा शैली ('Modern' Language)
(2) 'परम्परागत' भाषा अथवा शैली ('Traditional' Language)
(3) 'सन्त' भाषा अथवा शैली ('Saintly' Language)

'आधुनिक भाषा' (Modern Language) प्रमुख रूप से राष्ट्रीय स्तर पर दिखाई देती है। संविधान, न्यायालय, लोकसभा का वाद-विवाद, उच्चतर प्रशासन, सभी प्रमुख राजनीतिक दलों के उच्चतर स्तरों, सभी अंग्रेजी समाचार-पत्रों और अधिकांश भारतीय समाचार-पत्रों की भाषा 'राजनीति की आधुनिक भाषा' है। भारतीय राजनीति की 'आधुनिक भाषा' अब इतनी परिपक्व हो चुकी है कि उसकी तुलना ब्रिटेन अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीतिक जीवन की भाषा से की जा सकती है।

'परम्परागत भाषा' (Traditional Language) भारत में सर्वत्र राज्य,

1-2 रजनी कोठारी : वही, पृष्ठ 7.
3-4 *Morris Jones* : The Government and Politics of India, p. 62.

जिला और स्थानीय स्तरों पर चलती है। गांवों, जातियों-उपजातियों, छोटे-छोटे राजनीतिक समूहों, स्थानीय नेताओं आदि मे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की परम्परागत विशेषताओं के दर्शन होते है। परम्परागत राजनीति का हृदय वर्ण या जाति है और समाज मे अधिकांश विशेषताएँ ऐसी ही है। जातियाँ-उपजातियाँ, छोटे-छोटे राजनीतिक समूह आदि अपने आप मे ऐसे छोटे-छोटे विश्व है जो भारतीय राजनीति पर कम-वेशी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव डालते है।

'सन्त भाषा' (Saintly Language) भारतीय राजनीतिक जीवन के तीसरे मुख्य स्वरूप की परिचायक है जिसे हम 'साधुता की राजनीति की भाषा' (Language of Saintly Politics) कह सकते हैं। साधुता के तत्त्व भारतीय राजनीति के छोर पर सदैव विद्यमान रहे हैं और पेशेवर राजनीतिज्ञ भी साधुता की भाषा का प्रयोग करते रहे हैं। सन्त राजनीति का सम्बन्ध आधुनिक और परम्परागत दोनों शैलियों से है तथापि व्यवहार मे उसका प्रभाव दोनो की तुलना मे बहुत कम है। भारतीय राजनीति मे विनोबा भावे या स्व. जयप्रकाश नारायण ने साधुता का तत्त्व लाने के जो भी प्रयास किए उनका प्रभाव व्यवहार मे नगण्य ही रहा।

(3) देश की एकता बनाए रखने की राजनीति—डॉ. रजनी कोठारी के अनुसार भारत मे राजनीति मुख्यत. देश की एकता को बनाए रखने की राजनीति है। राजनीतिक नेतृत्व इस बात को देखता है कि किसी भी परिवर्तन से देश की एकता को बल मिलेगा या नही। बहुत कुछ इसी का यह नतीजा है कि विकास के काम में जल्दबाजी नही की जाती और हर काम मे अनिश्चय, असमजस तथा जरूरत से ज्यादा समझौते की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।[1] पर चूंकि परम्परागत और रूढ़िवादी शक्तियाँ भी कम प्रबल नही है, अतः इस दिशा में वांछित गति से प्रगति नही हो पाती है।

(4) निजी महत्त्वाकांक्षा की राजनीति—देश की एकता बनाए रखने की इच्छा के बावजूद भारत मे केन्द्र और राज्यो मे 'निजी महत्त्वाकांक्षा की राजनीति' प्रबल रही है। पण्डित नेहरू की मृत्यु के बाद से ही राजनीति के इस स्वरूप को अधिक बल मिला है। श्रीमती गांधी ने, प्रशसनीय उपलब्धियो के बावजूद, अपने शासन के उत्तरार्द्ध में निजी महत्त्वाकांक्षा का जो राजनीतिक खेल खेला वह न केवल उनके लिए वल्कि कांग्रेस दल और समूचे राष्ट्रीय हितके लिए घातक सिद्ध हुआ श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व मे जनता पार्टी की सरकार बनी, और निजी महत्त्वाकांक्षा तथा निरकुशता की राजनीति समाप्त होती दिखाई दी। लेकिन कुछ ही अर्से बाद निजी महत्त्वाकांक्षा की राजनीति का चरम प्रदर्शन जुलाई, 1979 में प्रधान मन्त्री पद के सघर्ष मे देखने को मिला। शीर्षस्थ नेताओं ने निजी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय हित की कोई परवाह नही की, 'सिद्धान्तहीन गठबन्धन किए' और देश मे विश्वास का सकट पैदा ही कर दिया।

1 रजनी कोठारी : वही, पृष्ठ 3.

(5) **सरकारी प्रशासनिक प्रक्रिया और राजनीतिक प्रक्रिया का एक-दूसरे के निकट आना**—भारत में राष्ट्र-निर्माण की दो प्रक्रियाएँ चालू है—प्रथम सरकारी प्रशासनिक प्रक्रिया और दूसरी राजनीतिक प्रक्रिया। सरकारी प्रशासनिक प्रक्रिया विकास योजनाओं के कार्यों को बढ़ाने और उनमे एक-सूत्रता लाने का प्रयत्न कर रही है। राजनीतिक प्रक्रिया से एक ओर तो केन्द्रीय सत्ता अथवा राजनीतिक केन्द्र की स्थापना हुई है और दूसरी ओर सत्ता के विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन मिला है जिससे नए-नए सगठनो और सस्थाओ का देश के राजनीतिक जीवन मे प्रवेश हुआ है और होता जा रहा है। सरकारी प्रशासनिक प्रक्रिया और राजनीतिक प्रक्रिया धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आ रही है।

(6) **लोकतान्त्रिक समाज का लक्ष्य**—भारतीय राजनीति के स्वरूप के अध्ययन मे यह बात महत्त्वपूर्ण है कि राष्ट्र ने लोकतन्त्री समाजवाद को अपना लक्ष्य बनाया है। इसमे ऐसे वर्गहीन और जातिहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य निहित है जो लोकतन्त्र पर आधारित हो और जिसमे व्यक्ति की प्रतिष्ठा हो और शान्तिपूर्ण और लोकतन्त्री साधनो द्वारा सामाजिक अन्याय व विषमता दूर की जाए तथापि शासन वर्ग आपसी फूट और निजी महत्त्वाकांक्षा के कारण इस लक्ष्य से भटकता जा रहा है।

(7) **धर्म-निरपेक्षता की राजनीति**—भारतीय राजनीति में धर्म-निरपेक्षता का स्वर मुखर रहा है। कुछ क्षेत्रीय दलो का स्वरूप और आचरण धर्म-निरपेक्ष भले ही न रहा हो, लेकिन सभी प्रमुख राष्ट्रीय दल धर्म-निरपेक्षता की बात करते है और अपने चुनाव घोषणा-पत्रो मे धर्म-निरपेक्षता के तत्त्व को मुख्य स्थान देते है। सविधान के धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपबन्ध धर्म-निरपेक्ष अथवा असाम्प्रदायिक राज्य की आधारशिला है। भारत मे धार्मिक अल्पसख्यको के हित मे धर्म-निरपेक्षता का आदर्श ही सबसे बडा और कारगर संरक्षण है।[1]

(8) **साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद आदि से ग्रसित खण्डित राजनीति**—भारतीय राजनीतिक पर्यावरण साम्प्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद आदि विभिन्न दोषो का शिकार है। निर्वाचन के समय जातिगत हितो और समरूपताओं की दुहाई दी जाती है क्योंकि विजेता राजनीतिक समुदाय के हाथ मे अपनी जाति के विकास के अवसर और अधिकार आ जाते है। जाति के आधार पर भेदभाव और विरोध मुख्यतः भारत के दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों की राजनीति की विशेषताएँ है। जातीय प्रभाव ने राजनीतिक नेतृत्व के स्वरूप को प्रभावित किया है और प्रशासन भी जातिवाद से प्रभावित रहता है। सम्प्रदायों तथा जातियो का पहले सिर्फ सामाजिक महत्त्व था। अब इनका राजनीतिक महत्त्व भी हो गया है। भाषा का विवाद आरम्भ से भारतीय राजनीति का सिरदर्द रहा है और भाषायी आन्दोलन देश के वातावरण को विषाक्त करते रहे हैं। प्रान्तीयतावाद अथवा

1 सुभाष कश्यप : भारत का सांविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, पृष्ठ 340.

क्षेत्रवाद भी भारतीय राजनीति का एक मुख्य आधार है। अपने-अपने क्षेत्र को पृथक् प्रान्तीय रूप प्रदान कराने की माँग को लेकर उठने वाली समस्याएँ भारतीय राजनीति का एक अंग बन गई हैं। भारत की मूल समस्या आज आर्थिक पिछड़ापन है जिससे सभी सम्प्रदायों, सभी जातियों के लोग पीडित हैं और फलस्वरूप विग्रह की प्रवृत्तियों ने पिछले कुछ अर्से से ज्यादा जोर पकड़ लिया है। वास्तव में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का एक मुख्य स्वरूप 'खण्डित राजनीति' है। देश के विकास की गति में यदि तेजी नहीं आती तो साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता को बल मिलता रहेगा और मांगों तथा प्रदर्शनों का सिलसिला जारी रहेगा।

(9) **दल-बदल की राजनीति और दलों में नई टूट और जोड़-तोड़**—हमारे देश में दल-बदल की राजनीति ने स्थापित लोकतन्त्र के प्रभाव एवं प्रतिभा का भयावह रूप से क्षय किया है। केवल पद एवं सत्ता के लिए दल-बदलाव एवं आया-राम-गयाराम के जो अवांछनीय दृश्य देखे जा रहे हैं, वे हमारे यहाँ राजनीतिक व्यवहार की गिरावट के उदाहरण हैं। दल-बदलाव की राजनीति प्रधान मन्त्री पद को भी 'आयाराम-गयाराम' बनाने में सफल हो गई है। दल-बदलाव के विरुद्ध कानूनी प्रतिबन्ध लगाने की बात भी वर्षों से संसद् में की जा रही है। लेकिन यह विषय चर्चा एवं बहस के आगे नहीं बढ़ सका है।

(10) **त्याग-पत्रों की राजनीति**—सरकार से त्याग-पत्र देने, फिर सरकार में शामिल हो जाने और फिर रूठ कर त्याग-पत्र दे देने तथा नए पदासीन नेता को सत्ता की कुर्सी से गिराने का जो नाटक भारतीय राजनीति में खेला जा रहा है, वह विश्व के सम्भवतः किसी भी अन्य देश में दिखाई नहीं देता। पाश्चात्य लोकतन्त्रों में त्याग-पत्र की राजनीति बहुत ही मर्यादित है और शालीन स्वरूप ग्रहण किए हुए है जबकि भारत में ही एक 'तमाशा' बन गई है। न केवल राज्य सरकारें वरन् केन्द्रीय सरकार भी त्याग-पत्रों की शिकार बनी हुई है जिससे भारत की राजनीतिक प्रतिष्ठा विदेशों में धूमिल हुई है। विपक्ष का एक सर्वोपरि उद्देश्य सत्तारूढ दल का स्थान प्राप्त करना होता है, लेकिन इस उद्देश्य का जो घिनौना स्वरूप भारतीय राजनीति में देखने को मिल रहा है वह लोकतन्त्र के नाम पर एक कलंक है। कोई भी राजनीतिक दल इस प्रवृत्ति से बचा हुआ नहीं है। कुर्सी पाने की दौड़ में सभी राजनीतिक और लोकतान्त्रिक मूल्यों का व्यवहार में जनाजा निकाल दिया गया है।

(11) **आन्दोलनों की राजनीति**—भारत में 'आन्दोलनों की राजनीति' का जोर बढ़ रहा है। इस प्रकार की राजनीति के अन्तर्गत हड़ताल, भूख हड़ताल, आमरण अनशन, नगर-बन्द, भारत बन्द, घेराव, धरना आदि को केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों पर दबाव डालने के लिए अपनाया जाता है। हाल ही के वर्षों में एक विशेष बात यह है कि राज्य सरकारें भी केन्द्रीय सरकार पर दबाव डालने के लिए 'आन्दोलन की राजनीति' का आयोजन करने लगी हैं। यह प्रवृत्ति 1967–70 की अवधि में विशेष रूप से देखी गई। वैज्ञानिक एवं स्वाभाविक उपायों से ...की राजनीति' को नियन्त्रित करना आज की भारतीय राजनीति का ...प्रश्न है।

(12) राष्ट्रीय दृष्टिकोण का घटता प्रभाव—देश के अनेक राज्यों में आज राजनीतिक ग्रह का जो दौर चल रहा है उससे अखिल भारतीय दृष्टिकोण बहुत हद तक धूमिल पड़ गया है। किसी भी लोकतन्त्री प्रणाली में राजनीतिक दलों द्वारा एक-दूसरे की आलोचना करना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। किसी राजनीतिक दल के अन्दर असन्तुष्ट गुट की उपस्थिति भी एक सामान्य घटना है। किन्तु इन आलोचनाओं का आधार सैद्धान्तिक होता है, नीति सम्बन्धी होता है, जबकि हम आज ऐसा नहीं पा रहे हैं। हम विवाद और विरोध के जिस दौर से गुजर रहे हैं वह विशुद्ध रूप से वैयक्तिक या किसी समूह के स्वार्थों से जुड़ा हुआ है। वैयक्तिक तथा दलगत स्वार्थ हमारे राष्ट्रीय दृष्टिकोण के मार्ग में बाधा पहुँचा रहे हैं। अनुशासनहीन लोकतन्त्र राष्ट्र के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

(13) शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के सिद्धान्त पर बल—लगभग सभी राष्ट्रीय स्तर के दल शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के सिद्धान्त पर बल देते हैं। जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनाव के सन्दर्भ में जो चुनाव घोषणा-पत्र जारी किए गए हैं और जो चुनावी राजनीति चल रही है उसमें एक मुख्य मुद्दा यही है कि मतदाता उस दल को वोट दें जो केन्द्र में स्थिर और शक्तिशाली सरकार कायम कर सके। जब तक कांग्रेस का शासन रहा, केन्द्र की शक्ति सम्पन्नता पर कोई आँच नहीं आई, लेकिन कांग्रेस के विघटन के बाद से स्थिति अनिश्चित बनी हुई है। जनता पार्टी के और स्वयं केन्द्रीय नेतृत्व के आपसी विग्रह ने केन्द्र को दुर्बल बनाया है और राज्यों पर केन्द्र का पहले जैसा अंकुश नहीं रहा है। वास्तव में केन्द्र की आवाज में कोई नैतिक बल नहीं रह गया है।

(14) नेतावर्ग और नेतृत्व—भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रारम्भ से ही 'असाधारण राष्ट्रीय नेतृत्व' का तत्त्व विद्यमान रहा है। स्वाधीनता संग्राम के दौरान गोखले, तिलक, गाँधी, नेहरू, प्रसाद और आजाद जैसे राष्ट्रीय नेताओं का मार्गदर्शन रहा तो स्वाधीनता के बाद नेहरू, प्रसाद पुरानी पीढ़ी के कुछ अन्य नेता देश की सम्पूर्ण राजनीति पर छाए रहे। प नेहरू की मृत्यु के बाद अल्पकाल के लिए 'सामूहिक नेतृत्व' (Collective Leadership) जैसी स्थिति दिखाई दी, किन्तु श्रीमती गाँधी के रूप में एकछत्र राष्ट्रीय नेतृत्व पुनः राजनीतिक क्षितिज पर उभरा। मार्च, 1977 में श्रीमती गाँधी का आकस्मिक पतन हुआ। श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार बनी। श्री देसाई अपनी समस्त अच्छाइयों के बावजूद, भारतीय सामाजिक और राजनीतिक मानस पर 'असाधारण राष्ट्रीय नेतृत्व' की छाप नहीं छोड़ सके। भारतीय राजनीति 1979 के आते-आते लगभग 'दिशाहीनता' के भवर में फँस गई। श्री देसाई का नेतृत्व आकर्षणहीन और संदिग्ध बनता गया और अन्त में 15 जुलाई, 1979 को श्री देसाई को प्रधान मन्त्री पद छोड़ देना पड़ा। 29 जुलाई, 1979 को चौधरी चरणसिंह नए प्रधान मन्त्री बने, किन्तु उनके नेतृत्व को भी चारों ओर से चुनौती मिलती रही और उनका भी पतन हुआ। अतः पाल एपलबी का यह कथन वास्तव में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के पतन

से पूर्व तक ही सत्य माना जाएगा कि "भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्पदा 'असाधारण राष्ट्रीय नेतृत्व' की रही है। भारतीय नेताओं के व्यक्तित्व में एक करिश्मा और एकीकरण की शक्ति का अभाव नहीं रहा है।" भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की यह विशेषता ही मानी जाएगी कि 'राष्ट्रीय नेतृत्व' सन्तुलन और स्थिरता की कुन्जी है। राष्ट्रीय नेतृत्व की दुर्बलता भारतीय राजनीति में अस्थिरता को जन्म दे सकती है और भारतीय सामाजिक ढाँचे की माँग है कि हम राष्ट्रीय नेतृत्व के हाथ मजबूत करें।

(15) **बहुदलीय चरित्र**—भारतीय लोकतन्त्र अपने जन्म काल से ही बहुदलीय व्यवस्था वाला रहा है। जिसमें मार्च, 1977 के चुनाव से कुछ अर्से पूर्व तक राष्ट्रीय, प्रादेशिक और स्थानीय स्तरों पर लगभग पचास से भी ऊपर दल थे। मार्च, 1977 के आम चुनाव के समय मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय दलों की सख्या 7 और राज्यीय दलों की सख्या 39 थी। जून, 1977 में विधान-सभाओं के जो चुनाव हुए उनमें 22 राजनीतिक दलों ने भाग लिया। दल बदलने के कारण जनता पार्टी भी एक नहीं रह सकी और जुलाई, 1979 में श्री राजनारायण के नेतृत्व में जनता (एस) नामक नई पार्टी का निर्माण हुआ अर्थात् जनता पार्टी भी दो धड़ों में विभक्त हो गई। राज्यों में भी जनता पार्टी का बिखराव शुरू हो गया और जनता (एस) अस्तित्व में आ गई। 20 अगस्त, 1979 को चरणसिंह सरकार के त्याग-पत्र के बाद (जिसे जनवरी, 1980 में मध्यावधि चुनावों के बाद नई सरकार के गठित होने तक काम चलाने को कहा गया है) राजनीतिक दलों में पुनः 'आयाराम-गयाराम' का दौर शुरू हो गया है। यह भविष्य ही बताएगा कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का इस प्रकार का अस्थिर बहुदलीय चरित्र कब तक प्रभावी रहेगा।

(16) **गुटबन्दी**—गुटबन्दी (Factionalism) को हमें 'राजनीतिक पक्षधर-वाद' के रूप में लेना चाहिए। गुटबन्दी प्रशासन में, दलीय सगठन, विभिन्न समूहों में 'षड्यन्त्र की यह राजनीति' भारत में प्रबल रही है और इस राजनीति को दफनाने के लिए सुदृढ़ तथा सकल्पवान नेतृत्व की आवश्यकता है। राजनीतिक दलों के विभाजन में गुटबन्दी का विशेष हाथ रहा है। 1967 के निर्वाचन में राज्यों में कांग्रेस की पराजय, 1969 में कांग्रेस, 1973 में जनसघ के विभाजन, 1977 में जगजीवन बाबू के नेतृत्व में कांग्रेस फार डेमोक्रेसी के उदय तथा जुलाई, 1979 में जनता पार्टी के विभाजन और जनता (एस) के उदय आदि का मूल कारण यदि 'गुटबन्दियों' को माना जाए तो अनुचित नहीं होगा। अनेक राज्यों में मन्त्रिमण्डलों के बनने बिगड़ने का बड़ा कारण 'गुटबन्दियों की बदलती हुई मैत्रियाँ' (Shifting Alliences) ही है।

(17) **राजनीति का दबाव समूहों से प्रभावित होना**—भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में दबाव एवं हित समूहों का विकास मन्द गति से हुआ है। जो अस्तित्व में है वे पाश्चात्य हित समूहों की तुलना में दुर्बल हैं। विरोधी दलों और सत्तारूढ़ दल दोनों ने ही हित-समूहों का उपयोग अपने ऐसे अभिकरणों के रूप में किया है जो

उनके पक्ष में जनता का समर्थन जीतें और दलीय शक्ति को बढ़ाए। विकास और आधुनिकीकरण के साथ-साथ देश में अब दबाव अथवा हित-समूहों का महत्त्व बढ़ रहा है। कुछ दबाव समूह स्वतन्त्र शक्ति के रूप में उभरने लगे हैं। भारतीय समाज परम्परावाद और आधुनिकता का सम्मिश्रण है। अतः जहाँ एक ओर पश्चिम जैसे दबाव समूह देखने को मिलते है तो दूसरी ओर ऐसे समूहों की बहुलता है जिनका मुख्य उद्देश्य परम्परावादी है और जो साम्प्रदायिक सगठनो तथा जातिवाद पर आधारित समुदायो के रूप मे है।

(18) संकटकाल में एकता की आवाज—भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जहाँ विभाजन, साम्प्रदायिकता और फूट के तत्त्व मौजूद हैं वहाँ एकताकारी तत्त्व कहीं अधिक प्रबल हैं। जब भी भारत पर विदेशी हमले हुए या सकट की घडी आई, भारत की जनता और भारत के राजनीतिक दलो तथा नेताओं ने आपसी मतभेदो को भुलाकर राष्ट्रीय एकता का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। चाहे हम भारत के प्राचीन इतिहास को ले या वर्तमान इतिहास को, समाज में एकता बनाए रखने के लिए राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक नेतृत्व सदैव विद्यमान रहा है।

(19) धन की विशेष भूमिका—भारत मे राजनीति मे धन की एक विशेष भूमिका रही है। यहाँ नोट के बल पर वोट खरीदे जाते हैं। आरोप है कि कुछ राजनीतिक दलों को भारी मात्रा मे इसलिए विदेशी धन प्राप्त होता है कि वे भारत मे ऐन-केन प्रकारेण विदेशी हितों की रक्षा करें। देश का अधिकांश धन कुछ औद्योगिक प्रत्याशियों को जिताकर भेजते है ताकि वे उनके हित में सरकारी नीतियो को प्रभावित करें। उद्योगपति चुनाव फण्ड मे दान या चन्दा देकर भी सरकारी नीति प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। औद्योगिक घराने प्रभावशाली दबाव समूहो के रूप में सरकारी नीति को अपने पक्ष मे मोडने मे लगे रहते है।

(20) राजनीतिक ध्रुवीकरण की दिशा में प्रगति—भारत मे बहुदलीय पद्धति विद्यमान रही है और यह सोचा जाता रहा कि देश मे राजनीतिक ध्रुवीकरण अथवा द्विदलीय पद्धति स्थापित होनी चाहिए। 1977 मे राजनीतिक ध्रुवीकरण की दिशा मे अवश्य कुछ प्रगति हुई और पाँच दलो के विलय से जनता पार्टी का गठन हुआ। लेकिन 1979 मे जनता पार्टी का बिखराव शुरू हो गया और भूतपूर्व भारतीय लोक दल तथा कांग्रेस फार डेमोक्रेसी इससे अलग हो गए। इस प्रकार राजनीतिक ध्रुवीकरण की प्रगति को गहरा धक्का लगा। नए राजनीतिक ध्रुवीकरण के प्रयत्न हो रहे है लेकिन इस प्रवृत्ति मे वह दमखम नजर नही आता जो 1977 में देखने को मिला था। राजनीतिक ध्रुवीकरण के कार्य को आगे बढाने के लिए कानूनी उपाय का आश्रय लेना अनुचित न होगा। उदाहरणार्थ, कानून द्वारा यह व्यवस्था की जा सकती है कि उसी दल को राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता प्राप्त होगी जो सारे देश के कम से कम तीन या चार प्रतिशत मतदाताओ का समर्थन प्राप्त करेगा। क्षेत्रीय दल के रूप मे मान्यता के लिए राज्य विशेष में दस प्रतिशत समर्थन आवश्यक ठहराया जा सकता है।

(क) धर्म और भारतीय राजनीति अथवा साम्प्रदायिक राजनीति

भारत में साम्प्रदायिकता तथा साम्प्रदायिक तनाव का इतिहास बहुत पुराना है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व तो प्रति वर्ष देश के किसी न किसी भाग में साम्प्रदायिक संघर्ष होते रहते थे। मुस्लिम लीग के दो-राष्ट्र की नीति का भी इसमें हाथ था, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। अन्ततोगत्वा-लीग की माँग पर ही मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र--पाकिस्तान का निर्माण भी हुआ। किन्तु समस्या का हल तब भी नहीं निकला। साम्प्रदायिक तनाव कुछ वर्षों के लिए दब जरूर गया। तत्कालीन विदेशी शासकों की यदि हिन्दू-मुस्लिम एकता में कोई दिलचस्पी नहीं थी तो इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि भारतीय जनता में फूट डालकर ही अंग्रेज यहाँ अपना राजनीतिक आधिपत्य कायम रख सकते थे। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व साम्प्रदायिक तनाव के मूल में राजनीति ही थी। आजादी के बाद विदेशी शासक तो चले गए, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि साम्प्रदायिकता की राजनीति भी समाप्त हो गई।

संविधान ने भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया है लेकिन स्थिति का नकारात्मक पहलू यह है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना के बावजूद देश में अभी एक धर्म-निरपेक्ष समाज की स्थापना नहीं की जा सकी है। विभिन्न धार्मिक समुदायों में संघर्ष का वातावरण यदा-कदा चिन्ताजनक तनावों और अशान्ति को जन्म दे डालता है। राजनीतिज्ञों का एक ऐसा भी वर्ग है जो धार्मिक तनावों को, अपने हितों की पूर्ति की खातिर, बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है व धार्मिक भावनाओं को उकसा कर, साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाकर चुनाव में वोट बटोरने की प्रवृत्ति लोकतन्त्र के लिए निःसन्देह घातक कही जाएगी। 1977 के आम चुनावों से पूर्व लगभग सभी चुनावों में साम्प्रदायिकता की राजनीति का जोर रहा। 1977 के चुनावों में साम्प्रदायिक राजनीति का आश्चर्यजनक रूप से अन्त दिखाई दिया, लेकिन जनवरी, 1980 के आगामी मध्यावधि चुनावों के पूर्व उसका उतना ही तीव्रता से उदय हुआ है। इस स्थिति का अंकन करते हुए 'चाणक्य' ने लिखा है, "1977 में मुस्लिम मतदाता आपातकाल के विरोध में बनी जनता पार्टी के साथ एकजुट हो गए थे यहाँ तक कि इस आपत्ति को भी उन्होंने पूरी शक्ति से नकार दिया था कि जनता पार्टी का मुख्य घटक जनसंघ साम्प्रदायिक दल है। पर जनता पार्टी के शासनकाल ने शीघ्र ही उन्हें अपनी आशाओं से वंचित कर दिया। अतः वर्तमान मध्यावधि चुनावों में वे जनता पार्टी से पूर्णतः विमुख हैं। लेकिन इसके साथ ही आपात्काल के अनुभवों ने इन्दिरा कांग्रेस में भी उनके विश्वास को हिला दिया है। अतः 1977 से पूर्व जिस तरह वे आँख मींच कर कांग्रेस का साथ दिया करते थे वैसा अब सम्भव नहीं रहा है। अतः मुस्लिमों में साम्प्रदायिक तत्त्वों ने इस अवसर का लाभ उठाने के लिए फिर सिर उठाया है जो हाल में मजलिसे मुशावरात (सलाहकार सभा) की बैठक से प्रकट है जिसमें मुस्लिम लीग, जमायते-उलेमा,

जमायते-इस्लामी, अवामी एक्शन कमेटी व नेशनल लीग ने भाग लिया। राष्ट्रीय दलों में आपसी झगड़े के कारण केरल में कोया के नेतृत्व में बनी मुस्लिम लीग सम्मेलन में बड़े उत्साह से सभी वक्ताओं ने यह आशा की कि केरल की परम्परा को वे और भी आगे बढ़ाएँगे।"[1] अधिकांश मुस्लिम दल या गुट मुसलमानों की समस्याओं पर ध्यान न देकर साम्प्रदायिकता की राजनीति में उलझे हुए हैं। अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कषघम आदि दलों की संकीर्णता भी भारत के लिए एक सिरदर्द है।

साम्प्रदायिक राजनीति ने स्वतन्त्रता के पूर्व से ही साम्प्रदायिक दगों को बढ़ावा दिया है। अभी कुछ ही समय पूर्व जामा मस्जिद के शाही इमाम ने हैदराबाद तथा उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानों में हुए साम्प्रदायिक दगों का जिक्र करते हुए दोनों राज्यों की सरकारों को बर्खास्त कर वहाँ राष्ट्रपति शासन जारी करने की माँग की थी। किन्तु राज्य सरकारों में परिवर्तन साम्प्रदायिकता का इलाज नहीं कहा जा सकता। यह माँग तो सही है कि जो लोग साम्प्रदायिकता भड़काते हैं तथा जो अधिकारी इन तत्वों के विरुद्ध मुस्तैदी से कदम नहीं उठाते हैं उनके विरुद्ध कार्रवाई की जानी चाहिए। किन्तु साम्प्रदायिकता का स्थाई इलाज उपयुक्त सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण का निर्माण करने पर ही सम्भव होगा। भारत जैसे धर्म-निरपेक्ष देश में राजनीति में साम्प्रदायिकता का कोई स्थान नहीं है, किन्तु सभी प्रमुख राजनीतिक दल अपनी विजय सुनिश्चित करने के लिए सम्प्रदायों तथा जातियों के आधार पर उम्मीदवारों का चयन करते हैं। सम्प्रदायों तथा जातियों का पहले सिर्फ सामाजिक महत्त्व था। अब इनका राजनीतिक महत्त्व भी हो गया है। जातियों तथा सम्प्रदायों पर आधारित राजनीति आज साम्प्रदायिकता के लिए सबसे ज्यादा उत्तरदायी है। सभी राजनीतिक दलों को मिलजुल कर इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए प्रयत्न करने चाहिए। साम्प्रदायिक संघर्ष की घटनाएँ कानून व व्यवस्था के प्रश्नों तक सीमित नहीं है। पुलिस की मुस्तैदी तथा समाज-विरोधी तत्त्वों के प्रति सख्ती से इन घटनाओं पर कुछ हद तक नियन्त्रण तो पाया जा सकता है, किन्तु साम्प्रदायिकता को मिटाया नहीं जा सकता।

प्रशासनिक क्षेत्र में भी बहुधा ऐसी शिकायतें सुनने में आती हैं कि प्रमुख हिन्दू अधिकारी हिन्दुओं के साथ पक्षपात करता है तो मुस्लिम अधिकारी अपने धर्म के लोगों के साथ, कायस्थ कायस्थों को अधिक संरक्षण देता है तो ब्राह्मण ब्राह्मणों को। भारत सरकार प्रशासन को स्वच्छ बनाने के लिए प्रयत्नशील है और हमें आशा करनी चाहिए कि देश में निष्पक्ष प्रशासन का ढाँचा मजबूती से खड़ा हो सकेगा।

भारत में धार्मिक आधारों पर राजनीतिक दलों का निर्माण किया गया है, यद्यपि प्रकटतः वे दल इससे इन्कार करते हैं। उदाहरणार्थ, द्रविड़ मुनेत्र कषघम (द्रमुक) मद्रास के अब्राह्मणों का दल है। यह उत्तरी भारत और ब्राह्मणों के प्रभाव का विरोधी है। यह दल पृथक् द्रविड़स्तान की माँग करता रहा है। पंजाब में अकाली

1 हिन्दुस्तान, 31 अक्तूबर 1979, पृष्ठ 4.

दल सिक्खों के एक वर्ग का राजनीतिक धार्मिक दल है जिसने भाषायी क्षेत्रवाद के छद्मवेश मे धार्मिक साम्राज्यवाद का पोषण किया है। साम्प्रदायिकता देश का एक राजयक्ष्म रोग बन चुकी है और पंजाब, केरल आदि राज्यों की राजनीति इस रोग के कुप्रभावों का ज्वलन्त उदाहरण रही है। केरल मे हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों मे निरन्तर खींचातानी चलती रही है। हिन्दू सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से अछूतों, एँवो, नैयरो और ब्राह्मणों में विभाजित हैं। साम्यवादी दल ने एँवों को अपने प्रभावों में ले रखा है जबकि ईसाई और नैयर कांग्रेस में मिले हुए है। केरल में विधान-सभा में कामचलाऊ बहुमत प्राप्त करने के लिए किसी भी दल को इन विभिन्न धर्मावलम्बियों को अपने पक्ष मे करना आवश्यक होता है। भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से, धर्म के नाम पर अनेक संगठन गलत भूमिका अदा करते रहे है, देश की राजनीतिक एकता को आघात पहुँचाते रहे है।

यदि भारत मे संसदीय लोकतन्त्र को सफल होना है और राजनीतिक एकता को स्थायित्व देना है तो हमे धर्मान्धता का वातावरण मिटाना होगा। सरकारी तथा अन्य हैसियत से हम किसी भी प्रकार ऐसे राष्ट्र की कल्पना नही कर सकते जिसे साम्प्रदायिक या धार्मिक राष्ट्र कहा जाए।

(ख) जाति और भारतीय राजनीति

प्रो. बी. के. एन. मेनन का यह निष्कर्ष सही है कि स्वातन्त्र्योत्तरकालीन राजनीतिक क्षेत्र मे जाति का प्रभाव पूर्वापेक्षा बढ़ा है। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे जाति की शक्ति घटी है वहाँ राजनीति एव प्रशासन पर इसके बढते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, प्रशासनाधिकारियों और केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है। जहाँ एक ओर सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक कारकों ने जातियों के राजनीतिकरण को बढ़ाया है, वहाँ दूसरी ओर कतिपय सांविधानिक उपबन्ध भी राजनीति पर जाति के प्रभुत्व मे सहायक हुए है। जाति और राजनीति के सम्बन्ध के अच्छे और बुरे दोनों पहलू है। अच्छे पहलू को लें तो विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के राजनीति मे भाग लेने के फलस्वरूप, सामूहिक या राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ है और उनकी पृथकता कम होकर उनका राजनीतिक एकीकरण हुआ है।

जाति और राजनीति के सम्बन्धो के कुछ चिन्ताजनक पहलू है जिनसे भारतीय लोकतन्त्रीय प्रणाली को आघात पहुँचता रहा है। भारत की राजनीति मे ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े है कि अशिक्षित अगूठा छाप व्यक्ति जातियों के कन्धे पर चढकर विधान-सभाओं और संसद् मे प्रवेश करते है तथा जातिवादी राजनीति के बल पर मन्त्रि-पद हथिया लेते हैं। राज्यों की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव बहुत अधिक छाया हुआ है। राजस्थान की राजनीति मे राजपूतो और जाटो का सम्बन्ध-विधान एक प्रमुख प्रेरक तत्त्व रहा है तो हरियाणा के राजनीतिक जीवन मे जाति, व्यक्तित्व और सैनिक सेवा—इन तीनो तत्त्वो का मुख्य प्रभाव है। चुनावों मे जातियो की अह भावना का बहुत-कुछ निर्णायक योग रहता है। गुडगाँव और महेन्द्रगढ क्षेत्रों में अहीर अपनी ही जाति के उम्मीदवार को मत देना चाहेगा, अन्य किसी को नहीं।

इसी प्रकार चुनावों के समय इस प्रकार का नारा सुनाई देता रहता है—'जाट की बेटी जाट को जाट, का वोट जाट को।' मुसलमान भी जातिवाद की इस गिरफ्त से नही बच सके है। हरियाणा की सवर्ण जातियों में ब्राह्मणो की राजनीतिक शक्ति और प्रभाव उनकी जन-शक्ति से कहीं अधिक रहा है और फलस्वरूप अहीर, जाट आदि ब्राह्मणोत्तर उच्च जातियां समाज के अपेक्षाकृत असन्तुष्ट वर्गों मे रही है। बिहार मे सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से जातिवाद का बोलबाला रहा है। यह उन राज्यों में से है जहां सबसे पहले जाति का राजनीतिकरण हुआ।

भारतीय राजनीति में जातीय प्रथाओं ने राजनीतिक नेतृत्व को भी प्रभावित किया है। चुनाव क्षेत्र में जिस जाति का बाहुल्य है उसी जाति का प्रत्याशी प्रायः चुनाव में विजयी होता है और फिर सरकार बनाते समय जातीयता को गौण नही समझा जाता क्योंकि बहुमत-दल मे जातीयता घुसी रहती है। जातियों मे प्रतिद्वन्द्विता रहती है और इस प्रकार प्रशासन भी जातिवाद से प्रभावित रहता है जो कि प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु है। जहां एक ही निर्वाचन क्षेत्र से एक ही जाति के एक से अधिक प्रत्याशी चुनाव लड़ते हैं वहां उस जाति के वोट कट जाते है और प्रत्याशी प्रायः राजनीति के आधार पर न जीत कर धर्म, सम्पत्ति, प्रभाव आदि अन्य आधारों पर जीतता है।

सब बातों के बावजूद हमें यह तथ्य मे रखना होगा कि राजनीति को आज आधुनिकता के एक साधन के रूप में देखा जाता है। इसे जाति को नष्ट करने या उसका स्थान लेने वाली शक्ति के बजाय नए समाज की स्थापना में सहायक के रूप मे देखा जाता है। अब राजनीतिक संस्थाओं का ढांचा व्यापक होता जा रहा है, जिसमें जाति की भावना को नया रूप मिलता है और उसका पुराना रोटी-बेटी सम्बन्ध वाला आधार कमजोर हो गया है। दूसरी ओर राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नए सगठनों और नई निष्ठाओं को जन्म दिया है, जो पुरानी निष्ठाओं को काटती है। जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एक मात्र आधार नहीं रही, यद्यपि राजनीति मे इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथकता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद मे जाति-भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन मे सहायता दी। आधुनिक राजनीति मे भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हुआ। यह भी समझ मे आ गया कि आज के युग मे केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता। जहाँ जाति बड़ी होती है, वहाँ भी उसमें एकता नही होती। उसमें जातियों के भेद होते है और जब संख्या मे छोटी होती है, तब तो अपने बल पर वह चुनाव जीत नहीं सकती। फिर यदि कोई सदस्य या उम्मीदवार अपनी ही जाति का पक्ष करता है तो दूसरी जातियाँ उसके खिलाफ हो जाती है। इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है। इससे विभिन्न जातियों मे एका होता है। राजनीतिक दल की शक्ति तभी कायम रहती है, जब समाज के सभी प्रमुख वर्ग अर्थात् सभी जातियों के लोग उसको समर्थन दें। अस्तु,

राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और अनेक नई निष्ठाओं का उदय होता है।

(ग) भाषावाद

भाषावाद भी भारतीय राजनीति के सम्मुख एक विकट समस्या है। स्वतन्त्रता के बाद हमारे देश का भाषा के आधार पर पुनर्गठन किया गया। इस पुनर्गठन के बाद देश में जो दंगे हुए वे किसी भी सभ्य देश के लिए शर्म की बात हो सकती है। बम्बई मे गुजराती व मराठी दगे हुए जिसमे सैकड़ों व्यक्ति मारे गए। तेलुगु भाषा-भाषी क्षेत्र के लिए श्री रामालु ने उपवास किए जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गई और आन्ध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। मास्टर तारासिंह ने पंजाबी भाषा-क्षेत्र के लिए उग्र आन्दोलन किया और उपवास किए तथा आमरण अनशन की धमकियाँ दी। राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर मद्रास मे भारी दगे हुए, उनसे यही स्पष्ट हुआ कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हम अभी बहुत पिछड़े हुए हैं।

भाषावाद की समस्या वस्तुतः निहित राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित समस्या अधिक रही है। तिल को ताड़ बना दिया गया है। प्रो० अग्निहोत्री के शब्दों में भाषा-नीति के सम्बन्ध में हमारी आकांक्षा और देश की यथार्थ स्थिति मे इतना अधिक अन्तर रहा है और आज भी है कि स्थिर और निश्चित नीति का विकास बहुत धीमी गति से हो पा रहा है और इसलिए भाषा-विवाद को जब जैसा चाहा वैसा रूप दे दिया गया। लोगों ने यह भुला दिया कि राष्ट्रीय एकीकरण के लिए हिन्दी का सम्पर्क भाषा के रूप मे प्रयोग आवश्यक है—यह बात हिन्दी भाषियों ने नहीं, बगाली भाषी केशवचन्द्र सेन, बंकिमचन्द चटर्जी, श्यामाचरण मित्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष, सुभाषचन्द्र बोस जैसे लोगों ने कही, मराठी भाषी बाल गगाधर तिलक, केशवराव पेटे, विनायक दामोदार सावरकर जैसे लोगो ने कही, गुजराती भाषी महर्षि दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी जैसे लोगो ने कही, जान बीम्स जैसे भाषाविद् ने कही। हिन्दी भाषा और अन्य सहभाषाओं मे कोई विरोध नही, जैसा कि मारीशस मे द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन मे श्री यादव ने कहा था कि "हिन्दी की विशेषता यह है कि यह सहभाषाओं की शुभाकांक्षी और उनसे पोषण ग्रहण करने वाली भाषा है। इसके द्वार खुले हैं। हर बिन्दु पर इसका उद्देश्य प्रेम और सौहार्द्र है। जहाँ आज कुछ भाषाएँ जन समुदाय मे वर्गों के बीच अपाट दिखाई देती हुई खाई पैदा किए हुए है और नए राष्ट्रों के अन्दर सच्चे प्रजातन्त्र को नीचे तक जमाने मे कठिनाई उत्पन्न कर रही हैं, वहाँ हिन्दी लोगों को जोड़ने का प्रयत्न कर रही है, ऊपर उठने को प्रेरित कर रही है। हमारे बहुभाषी मित्र-राष्ट्रों ने इस बात के मर्म को समझा है। वे हिन्दी की ओर अग्रसर हो रहे है और उसका समर्थन कर रहे है। एक सयोजक भाषा के रूप में हिन्दी सबसे उपयुक्त है क्योंकि यह भाषा उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, बिहार, मध्य प्रदेश आदि राज्यो के अलावा और भी अनेक राज्यों में काफी सीमा तक बोली जाती है।"

निर्भर बनने एवं गरीबी हटाने के सकल्पों को ग्रहण किया गया। आदर्श महान थे किन्तु संकीर्ण स्वार्थों की राजनीति के कारण लक्ष्य प्राप्ति धूमिल पड़ती ही गई एवं जनता मे निराशा का प्रसार हुआ। परिणामस्वरूप अन्याय, गरीबी एवं आर्थिक विषमता के दोष समाज को ग्रसित करते रहे। सम्पूर्ण राष्ट्र के हितों के संवर्द्धन की अपेक्षा ऐसी परिस्थितियों मे सकीर्ण क्षेत्रीयता का पनपना स्वाभाविक था एवं राष्ट्रीय हितों की तुलना मे क्षेत्रीयतावाद का विकास एक अवश्यम्भावी तथ्य के रूप में उदित हुआ।"

"नेहरू के युग में भारत आधुनिकीकरण (Modernization) के मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा था एव कांग्रेस दल के एकछत्र शासन तथा प्रभावशाली नेतृत्व के कारण देश मे पृथकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नही मिला। राष्ट्रीय एकीकरण मे कांग्रेस की एक दलीय व्यवस्था का विशिष्ट योगदान रहा है जिसके मच पर क्षेत्रीयता 'एकता' के रूप मे विद्यमान थी किन्तु राजनीतिक परिवर्तन तथा योजनाओं की असफलता में बढ़ती हुई निराशा के वातावरण मे शक्ति के नए सघर्ष का प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस के विशाल सगठन से ही नये दलों का जन्म हुआ जिन्होंने क्षेत्रीय हितो को अपने सिद्धान्तो का आधार बनाकर शक्ति पर नियन्त्रण प्राप्त करने की चेष्टा की। तमिलनाडु मे द्रविड़-मुनेत्र-कषगम, उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रान्ति दल, बिहार मे झारखण्ड, पजाब मे अकाली दल, महाराष्ट्र मे शिव सेना ऐसे ही क्षेत्रीय दलों के उदाहरण है जिनका मुख्य लक्ष्य क्षेत्रीयता की आवाज पर शक्ति नियन्त्रण करना रहा है। केन्द्रीय शक्ति के ह्रास एवं प्रान्तो में बढ़ती हुई राजनीतिक अस्थिरता भी क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के विकास में सहायक सिद्ध हुई जैसे कि 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् की सयुक्त दलीय राजनीति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।"

"भारत अन्य देशों की तुलना में एक गरीब तथा पिछड़ा हुआ देश है। प्रति व्यक्ति औसत आय एवं रहन-सहन का स्तर इसका प्रतीक है। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से जिस क्रान्ति की अपेक्षा थी वह नही हुई। यद्यपि तात्कालिक उद्देश्यों (Immediate ends) को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई। राजनीतिक सत्ता का दुरुपयोग व्यक्ति विशेष द्वारा, क्षेत्र विशेष के लिए हुआ। शिक्षा, रोजगार, उद्योगों के मामलों मे विकास राजनीतिक [illegible] हुए [illegible] विकास की

क्षेत्र का बहुमुखी विकास सम्भव है ? फिर भी यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास की अवहेलना क्षेत्रीयता की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण कारक (Factor) रहा है।"

भाषा भी क्षेत्रीयतावाद का एक प्रमुख आधार रही है। भाषाओं की विभिन्नताओं में संघर्ष का प्रारम्भ ब्रिटिश युग से ही हो गया था और कांग्रेस संगठन ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के गठन के सिद्धान्त को मान लिया था। सन् 1920 में ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने को भाषा के आधार पर सगठित किया था। इसकी प्रान्तीय सीमाएँ क्षेत्रीय भाषाओं के आधार पर बनी थीं। स्वाधीनता के कुछ ही समय बाद इस बात के लिए जोरदार राजनीतिक दबाव दिए जाने लगे कि भारत के राज्यों के बीच की सीमाएँ भाषाओं की भिन्नता के आधार पर पुनः बनाई जाएँ। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने सन् 1953 तक दृढ़ता से इसका विरोध किया। उनकी दलील यह थी कि नए राष्ट्र के सामने इससे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ पड़ी हुई हैं और हर स्थिति में भाषा पर आधारित क्षेत्रीय निष्ठाओं के सामने राष्ट्रीय निष्ठा को अधिक प्रमुखता दी जानी चाहिए। सन् 1955 में विशेषतः तेलगु भाषी लोगों में आन्दोलन बहुत ही तीव्र हो उठा। इसमें से अधिकांश इस समय भी मद्रास राज्य के अन्तर्गत पड़ते थे, जिसमें तमिल भाषाओं का बोलबाला था। एक प्रतिष्ठित तेलगु नेता पोट्टी श्री रामालु ने उन क्षेत्रों को लेकर जहाँ तेलगु भाषियों का बहुमत था, एक अलग राज्य बनाने की अपनी माँग मनवाने के लिए गाँधी का आमरण अनशन का तरीका अपनाया। अनशन के परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु हो गई और इससे इतने जोर का हंगामा उठ खड़ा हुआ कि नेहरू जी को भाषा के आधार पर एक राज्य का निर्माण करने के लिए झुकना पड़ा। इसका नाम आन्ध्र प्रदेश रखा गया। यह नाम वहाँ के स्थानीय राज्यों के गौरवों की याद दिलाता था जो लगभग 250 ई. पू. से लेकर सन् 250 ई. तक फूलता-फलता रहा था।

एक बार तेलगु भाषा-भाषियों की माँग पर सरकार के झुक जाने के बाद देश के विभिन्न भागों में उसी तरह भाषा के आधार पर राज्य बनाने की माँगें बढ़ने लगीं। इन भागों की जाँच-पड़ताल करने और नए राज्यों की सीमाएँ निर्धारित करने के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त किया गया और इसने अपनी रिपोर्ट नवम्बर 1955 में दी। इसके एक साल बाद इस रिपोर्ट के आधार पर राज्यों की नई सीमाओं का निर्धारण किया गया। मुख्यतः भाषाओं की सीमाओं का ही निर्वाह किया गया। इसके पहले के सत्ताईस राज्य घटकर 14 हो गए। इनमें दो को छोड़कर शेष सभी भाषा की दृष्टि से अपेक्षाकृत एक रूप थे, यद्यपि बड़े नगरों में और राज्यों की सीमाओं के पास के स्थान में दूसरी भाषाएँ बोलने वाले अल्पसंख्यकों की संख्या भी कम थी। ऐसी भाषाओं के बोलने वाले लोग चूँकि टुट-पुट बहुत दूर-दूर तक फैले हुए हैं इसलिए कोई भी ऐसी रेखा नहीं खींची जा सकती थी जिससे कि इन्हें बनाया जा सके। इनमें से दो नए राज्यों में अल्पसंख्यक भाषा-भाषियों में से काफी लोग अपनी आवाज उठाते रहे और राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय बने रहे। बम्बई के

निर्भर बनने एवं गरीबी हटाने के संकल्पों को ग्रहण किया गया। आदर्श महान थे किन्तु संकीर्ण स्वार्थों की राजनीति के कारण लक्ष्य प्राप्ति धूमिल पड़ती ही गई एव जनता मे निराशा का प्रसार हुआ। परिणामस्वरूप अन्याय, गरीबी एवं आर्थिक विषमता के दोष समाज को ग्रसित करते रहे। सम्पूर्ण राष्ट्र के हितो के संवर्द्धन की अपेक्षा ऐसी परिस्थितियो मे सकीर्ण क्षेत्रीयता का पनपना स्वाभाविक था एवं राष्ट्रीय हितों की तुलना मे क्षेत्रीयतावाद का विकास एक अवश्यम्भावी तथ्य के रूप मे उदित हुआ।"

"नेहरू के युग में भारत आधुनिकीकरण (Modernization) के मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा था एव कॉंग्रेस दल के एकछत्र शासन तथा प्रभावशाली नेतृत्व के कारण देश मे पृथकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नही मिला। राष्ट्रीय एकीकरण मे कॉंग्रेस की एक दलीय व्यवस्था का विशिष्ट योगदान रहा है जिसके मच पर क्षेत्रीयता 'एकता' के रूप मे विद्यमान थी किन्तु राजनीतिक परिवर्तन तथा योजनाओं की असफलता में बढती हुई निराशा के वातावरण मे शक्ति के नए सघर्ष का प्रारम्भ हुआ। कॉंग्रेस के विशाल संगठन से ही नये दलो का जन्म हुआ जिन्होंने क्षेत्रीय हितो को अपने सिद्धान्तो का आधार बनाकर शक्ति पर नियन्त्रण प्राप्त करने की चेष्टा की। तमिलनाडु में द्रविड-मुनेत्र-कषघम, उत्तर प्रदेश मे भारतीय क्रान्ति दल, बिहार में झारखण्ड, पंजाब मे अकाली दल, महाराष्ट्र मे शिव सेना ऐसे ही क्षेत्रीय दलो के उदाहरण है जिनका मुख्य लक्ष्य क्षेत्रीयता की आवाज पर शक्ति नियन्त्रण करना रहा है। केन्द्रीय शक्ति के ह्रास एवं प्रान्तों में बढती हुई राजनीतिक अस्थिरता भी क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के विकास में सहायक सिद्ध हुई जैसे कि 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् की सयुक्त दलीय राजनीति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।"

"भारत अन्य देशों की तुलना मे एक गरीब तथा पिछड़ा हुआ देश है। प्रति व्यक्ति औसत आय एव रहन-सहन का स्तर इसका प्रतीक है। पचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से जिस क्रान्ति की अपेक्षा थी वह नही हुई। यद्यपि तात्कालिक उद्देश्यो (Immediate ends) को प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त हुई। राजनीतिक सत्ता का दुरुपयोग व्यक्ति विशेष द्वारा, क्षेत्र विशेष के लिए हुआ। शिक्षा, रोजगार, उद्योगों के मामलों में विकास राजनीतिक सन्तुलन के अनुरूप हुआ न कि समग्र विकास की दृष्टि से, जिसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय विकास का असन्तुलन उत्पन्न हुआ। आन्ध्र प्रदेश का सकट इस सन्दर्भ का ज्वलंत उदाहरण है जिसके मूल मे समाज की आर्थिक दशा है एव इन विषमताओं से जातिगत, भाषागत, वैमनस्य का विकास होता है जिसकी अभिव्यक्ति स्वतन्त्र राज्य अथवा पूर्ण राज्य स्तर की माँग मे होती है। भारतीय राजनीति के पिछले दशक पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाएगा कि मेघालय, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा केन्द्र शासित प्रदेशो की जनता द्वारा पूर्ण राज्य के दर्जे की माँग के मूल में आर्थिक विकास के प्रश्न सन्निहित है यद्यपि यह विवादास्पद विषय है कि क्या राज्य दर्जा (Statehood) प्राप्त करने से ही किसी

क्षेत्र का चहुँमुखी विकास सम्भव है ? फिर भी यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास की अवहेलना क्षेत्रीयता की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण कारक (Factor) रहा है।"

भाषा भी क्षेत्रीयतावाद का एक प्रमुख आधार रही है। भाषाओं की विभिन्नताओं में संघर्ष का प्रारम्भ ब्रिटिश युग से ही हो गया था और कांग्रेस संगठन ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के गठन के सिद्धान्त को मान लिया था। सन् 1920 में ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने को भाषा के आधार पर संगठित किया था। इसकी प्रान्तीय सीमाएँ क्षेत्रीय भाषाओं के आधार पर बनी थीं। स्वाधीनता के कुछ ही समय बाद इस बात के लिए जोरदार राजनीतिक दबाव दिए जाने लगे कि भारत के राज्यों के बीच की सीमाएँ भाषाओं की भिन्नता के आधार पर पुनः बनाई जाएँ। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने सन् 1953 तक दृढ़ता से इसका विरोध किया। उनकी दलील यह थी कि नए राष्ट्र के सामने इससे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ पड़ी हुई हैं और हर स्थिति में भाषा पर आधारित क्षेत्रीय निष्ठाओं के सामने राष्ट्रीय निष्ठा को अधिक प्रमुखता दी जानी चाहिए। सन् 1955 में विशेषतः तेलगु भाषी लोगों में आन्दोलन बहुत ही तीव्र हो उठा। इनमें से अधिकांश इस समय भी मद्रास राज्य के अन्तर्गत पड़ते थे, जिसमें तमिल भाषाओं का बोलबाला था। एक प्रतिष्ठित तेलगु नेता पोट्टी श्री रामालु ने उन क्षेत्रों को लेकर जहाँ तेलगु भाषियों का बहुमत था, एक अलग राज्य बनाने की अपनी माँग मनवाने के लिए गाँधी का आमरण अनशन का तरीका अपनाया। अनशन के परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु हो गई और इससे इतने जोर का हँगामा उठ खड़ा हुआ कि नेहरू जी को भाषा के आधार पर एक राज्य का निर्माण करने के लिए झुकना पड़ा। इसका नाम आन्ध्र प्रदेश रखा गया। यह नाम वहाँ के स्थानीय राज्यों के गौरवों की याद दिलाता था जो लगभग 250 ई. पू. से लेकर सन् 250 ई. तक फूलता-फलता रहा था।

एक बार तेलगु भाषा-भाषियों की माँग पर सरकार के झुक जाने के बाद देश के विभिन्न भागों में उसी तरह भाषा के आधार पर राज्य बनाने की माँगें बढ़ने लगीं। इन माँगों की जाँच-पड़ताल करने और नए राज्यों की सीमाएँ निर्धारित करने के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त किया गया और इसने अपनी रिपोर्ट नवम्बर 1955 में दी। इसके एक साल बाद इस रिपोर्ट के आधार पर राज्यों की नई सीमाओं का निर्धारण किया गया। मुख्यतः भाषाओं की सीमाओं का ही निर्वाह किया गया। इसके पहले के सत्ताईस राज्य घटकर 14 हो गए। इनमें दो को छोड़कर शेष सभी भाषा की दृष्टि से अपेक्षाकृत एक रूप थे, यद्यपि बड़े नगरों में और राज्यों की सीमाओं के पास के स्थान से दूसरी भाषाएँ बोलने वाले अल्पसंख्यकों की संख्या भी कम थी। ऐसी भाषाओं के बोलने वाले लोग चूँकि छुट-पुट बहुत दूर-दूर तक फैले हुए हैं इसलिए कोई भी ऐसी रेखा नहीं खींची जा सकती थी जिससे कि इन्हें बचाया जा सके। इनमें से दो नए राज्यों में अल्पसंख्यक भाषा-भाषियों में से काफी लोग अपनी आवाज उठाते रहे और राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय बने रहे।

नए राज्य में भाषा के प्रश्न को लेकर निरन्तर असन्तोष बना रहा, अतः सन् 1960 में इसे दो राज्यों में बांटना पड़ा। वास्तव में सन् 50 के दशक में भाषावार प्रान्तों के निर्माण और 60 के दशक में राजभाषा के प्रश्न पर जो विवाद छिड़ा, उससे लगता था कि देश की एकता भंग हो जाएगी। पर इससे मतभेद खुले में आ गया और खुलकर वाद-विवाद से एक रास्ता निकल आया। देश दोनों सकटों को पार कर गया और आगे भाषावाद से पैदा होने वाली समस्याओं को सुलझाने के लिए ज्यादा तैयार हो गया। पजाबी सूबे की समस्या बनी रही। सिक्खों द्वारा यह मांग की जाती रही कि हम सिक्ख बहुमत के क्षेत्र नही चाहते और न ही हमें प्रतिशत की चिन्ता है, हम ऐसा पजाबी सूबा चाहते है जहाँ पजाबी भाषा बोली जाती हो चाहे वहाँ सिक्खों का बहुमत रहे अथवा न रहे। लम्बे समय तक गहरा तनाव रहा और अन्त में 18 सितम्बर, 1966 को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद जो पंजाब पुनर्गठन विधेयक बना, उसके अधीन 1 नवम्बर, 1966 से भारत संघ में पजाब तथा हरियाणा नाम के पुनर्गठित राज्य शामिल हुए। चण्डीगढ केन्द्र शासित क्षेत्र हो गया। पंजाब के विभाजन से सिक्खों को सन्तोष न हो सका, वे बराबर मांग करते रहे कि चण्डीगढ पजाब को सौंप दिया जाए और पजाबी क्षेत्र पजाब में शामिल कर दिया जाए, हरियाणा भी चण्डीगढ़ पर अपना दावा जताता रहा। अन्त मे 29 जनवरी, 1970 को केन्द्र सरकार ने एक घोषणा की जिसके अन्तर्गत चण्डीगढ पजाब को देने तथा हरियाणा को पंजाब की फाजिल्का तहसील के कुछ हिन्दी भाषी क्षेत्र देने का प्रावधान था। चण्डीगढ को पाँच वर्षों तक केन्द्र शासित प्रदेश और संयुक्त राजधानी बनाए रखने तथा हरियाणा को राजधानी निर्माण के लिए केन्द्रीय वित्तीय सहायता देने की व्यवस्था की गई। इस केन्द्रीय घोषणा से भी पंजाब और हरियाणा दोनों ही सन्तुष्ट नही हुए तथापि उनका विरोध समय की गति के साथ क्षीण पड़ता गया— यद्यपि विचार का स्थाई समाधान अभी शेष है। इसी समस्या के समानान्तर हरियाणा में पृथकतावादी शक्तियों ने राव वीरेन्द्रसिंह के नेतृत्व में 'विशाल हरियाणा' का नारा लगाया। हरियाणा के पूर्ण राज्य-स्तर की मांग की पूर्ति के पश्चात् क्षेत्रीयतावाद का यह दूसरा विघ्न था जो अपेक्षित राजनीतिक समर्थन के अभाव में स्वय समाप्त हो गया। 1967 के चौथे आम चुनाव के लगभग 1 वर्ष पूर्व ही महाराष्ट्र में मैसूर प्रान्त के उन सीमान्त प्रदेशों को मिलाने के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जहाँ की बहुसंख्यक जनसख्या मराठी भाषी थी। अक्तूबर, 1966 में केन्द्रीय सरकार ने भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन की अध्यक्षता में एक सदस्यीय आयोग नियुक्त किया जिसके क्षेत्राधिकार में मैसूर-महाराष्ट्र विवाद और मैसूर-केरल सीमा विवाद सम्मिलित किए गए।

क्षेत्रीयतावाद का एक विशिष्ट पहलू विभिन्न राज्यों में होने वाले वे पारस्परिक विवाद भी हैं जिनका सम्बन्ध सिंचाई एवं विद्युत से है। नर्मदा नदी के जल प्रयोग पर मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच गहरा विवाद रहा जिसका बहुत कुछ सीमा तक समाधान हो चुका है। राजस्थान और पंजाब के बीच भाखरा

जल विद्युत के उपयोग पर और हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान के बीच पोंग बांध के प्रश्न पर भी विवाद रहे जो प्रभावशाली केन्द्रीय नेतृत्व के कारण अधिक उभर नहीं पाए और किसी न किसी रूप में उनका समाधान हुआ। उल्लेखनीय है कि राज्यों की पारस्परिक समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राज्यीय परिषद् की सांविधानिक व्यवस्था के अतिरिक्त क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना भी की गई है। राज्य और संघीय क्षेत्र (उन्हें छोड़कर जो कि पूर्वोत्तर प्रदेश में हैं) कई क्षेत्रों में बाँट दिए गए हैं। प्रत्येक क्षेत्र में एक उच्च स्तरीय सलाहकार संस्था होती है जिसे क्षेत्रीय परिषद् कहते हैं। इस परिषद् में उस क्षेत्र के राज्यों और संघीय क्षेत्रों के समान हितों पर विचार-विमर्श का अवसर मिलता है। उत्तरी क्षेत्र में हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, जम्मू तथा कश्मीर, पंजाब और राजस्थान राज्य तथा चण्डीगढ और दिल्ली संघीय क्षेत्र शामिल हैं। मध्य क्षेत्र में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश राज्य शामिल हैं। पूर्वी क्षेत्र में बिहार, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल राज्य शामिल हैं। गुजरात और महाराष्ट्र राज्य तथा गोआ, दमन और दीव एवं दादरा और नगर हवेली संघीय क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र में है। दक्षिणी क्षेत्र में आन्ध्र प्रदेश, केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु राज्य और पांडिचेरी संघीय क्षेत्र शामिल हैं। पूर्वोत्तर प्रदेशों के लिए क्षेत्रीय परिषद् की तरह की ही एक संस्था है जो असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड और त्रिपुरा राज्यों और अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम संघीय राज्य क्षेत्रों के समान हित के मामलों पर विचार करती है। पूर्वोत्तर परिषद्, जिसकी स्थापना अगस्त, 1972 में की गई थी, कुछ और भी कार्य करती है। वह समान हित के मामलों के बारे में एक एकीकृत तथा समन्वित प्रादेशिक योजना बनाती है (जो कि राज्य योजनाओं के अलावा होती है)। जो परियोजनाएँ या योजनाएँ दो से अधिक राज्यों को लाभ पहुँचाने के लिए बनाई जाती है, उनके बारे में यह परिषद् यह सिफारिश करती है कि उन्हें किस प्रकार कार्यान्वित किया जाना चाहिए, किस प्रकार उनका प्रबन्ध किया जाना चाहिए या उन्हें चलाए रखा जाना चाहिए, किस प्रकार उनसे होने वाले फायदों को परस्पर बांटना चाहिए और किस काम में हिस्सा बँटाना चाहिए। इस प्रादेशिक योजना को कार्यान्वित करने तथा उस पर होने वाले व्यय पर यह परिषद् निगरानी रखती है। परिषद् राज्यों द्वारा सुरक्षा और लोक व्यवस्था के लिए किए गए उपायों की समय-समय पर पुनरीक्षा करती है और जब भी आवश्यक हो इस सम्बन्ध में किए जाने वाले और उपायों के बारे में सिफारिश करती है।

क्षेत्रीय भावनाओं का सबसे चिन्ताप्रद विस्फोट छोटे-छोटे राज्यों का निर्माण है। अपने-अपने क्षेत्र को पृथक् प्रान्तीय रूप प्रदान करने की माँग को लेकर उठने वाली समस्याएँ भारतीय राजनीति का एक अंग बन चुकी हैं। अधिकांश राजनीतिक नेताओं और जन-साधारण के बहुमत की धारणा यही है कि क्षेत्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट करने के लिए, अथवा अन्य किसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए छोटे-छोटे राज्यों के निर्माण से विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे ... को भारी क्षति होगी।

पृथकता की भावना उनमें ज्यादा बलवान और खतरनाक है, जहां ऐसी मार्जिनल जातियाँ है जो भारतीय संस्कृति की धारा मे पूरी तरह मिल नही पायी हैं। जैसे उत्तरपूर्व की आदिम जातियो का इलाका। यहाँ पर भारतीय लोकतन्त्री व्यवस्था और सरकारी विकास कार्यक्रमों का प्रभाव पड़ा है और धीमे-धीमे इन क्षेत्रो के लोग भी देश की राजनीति मे भाग लेने लगे हैं। पर राजनीतिकरण की यह प्रवृत्ति अभी शुरू हुई है। दूसरी ओर आधुनिकता के प्रसार से अपने पृथक् अस्तित्व की भावना उभरती भी है। इसलिए इनको सम्भालने के लिए विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है। इस प्रकार की व्यवस्था की भी जा रही है। इसी उद्देश्य से नागालैंड का अलग राज्य बनाया गया और नागा विद्रोहियो के प्रति नरमी का रुख अपनाया गया। इसी तरह असम के अन्तर्गत पहाड़ी इलाको का मेघालय नामक उपराज्य स्थापित किया गया। जम्मू-कश्मीर को विशेष दर्जा भी इसी उद्देश्य से दिया गया था। कुछ क्षेत्रों में अभी भी असन्तोष है, जैसे—उत्तरपूर्व में मीजो जाति, बिहार में छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाके और गुजरात व उडीसा में आदिवासियों का स्वायत्तता का आन्दोलन। राजनीतिक गतिविधि बढने और शिक्षा तथा आर्थिक विकास के फलस्वरूप छोटे समूहो मे जो अब तक दबे या पिछड़े हुए थे अधिकार और स्वायतता की आकांक्षाओ का उठना स्वाभाविक है। समस्या इस बात से उलझ गई है कि कुछ आदिवासी इलाके चीन और पाकिस्तान से लगे हुए हैं और वहाँ से असन्तुष्ट तत्त्वों को छापामार युद्ध की ट्रेनिंग देने की कोशिश की गई है। यह खतरा काफी दिनों तक रहने वाला है और सीमान्त इलाको की राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा।

इस प्रकार देश के एकीकरण की समस्या अभी बनी हुई है। राज्यो के भीतर विशिष्ट क्षेत्रो के अलगाव के आन्दोलन उठ रहे हैं। दबे हुए वर्गों और समूहो के राजनीतिक क्षेत्र मे आने से अधिकार के लिए उनकी आकांक्षाओ से नई समस्याएँ खड़ी हो रही है तथा केन्द्रीय सरकार को इन समस्याओ से निबटने के लिए नई नीति और उपाय निकालने पड़ते है।

22 राज्य-राजनीति

(STATE-POLITICS)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से भारत की राष्ट्रीय और राज्य-राजनीति घटनाचक्रों से परिपूर्ण रही, विशेषकर 1967 के चौथे आम चुनावों के बाद के वर्षों को तो तूफानी युग कहा जा सकता है। पं० जवाहरलाल नेहरू के और श्री लाल बहादुर शास्त्री के प्रधानमन्त्रित्व काल में राष्ट्रीय और राष्ट्रीय-राजनीति में तूफानी लहरें यदा-कदा आईं, लेकिन श्रीमती गाँधी का प्रधान मन्त्रित्वकाल, प्रारम्भिक कुछ वर्षों को छोड़कर, राष्ट्रीय और राज्य-राजनीति का तूफानी काल रहा। मार्च, 1977 के ऐतिहासिक चुनावों में श्रीमती गाँधी की सरकार के पतन के बाद श्री मोरारजी देसाई नए प्रधान मन्त्री बने और जनता पार्टी की सरकार ने देश की बागडोर सम्भाली। आपात्काल समाप्त हुआ, तानाशाही के दिन गुजर गए और लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना हुई। लेकिन 15 जुलाई, 1979 को श्री देसाई के त्याग-पत्र के साथ देश के राजनीतिक नेताओं ने ऐसा आचरण प्रदर्शित किया जो भारत जैसे राष्ट्र के लिए शोभनीय नहीं माना जा सकता। 29 जुलाई, 1979 को चौधरी चरणसिंह ने प्रधान मन्त्री पद की शपथ ली किन्तु उन्हें राष्ट्रपति का स्पष्ट निर्देश था कि वे अधिक से अधिक अगस्त के तीसरे सप्ताह तक लोकसभा की बैठक बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करें। 20 अगस्त को प्रधान मन्त्री श्री चरणसिंह ने लोकसभा का विश्वास मत प्राप्त करने के बजाय अपने पद से इस्तीफा देकर, राष्ट्रपति से लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश कर दी। राष्ट्रपति ने निवर्तमान प्रधान मन्त्री की सिफारिश स्वीकार करते हुए मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा कर दी और चरणसिंह सरकार को कामचलाऊ सरकार के रूप में रहने दिया। जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में ये चुनाव सम्पन्न हुए। कांग्रेस (इ) ने लोकसभा में 351 सीटें (दो-तिहाई बहुमत से भी अधिक) प्राप्त कीं। 14 जनवरी, 1980 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने प्रधान मन्त्री पद ग्रहण की।

कांग्रेस युग और उसके बाद के युग में राष्ट्रीय और राज्य-राजनीति इतनी घटनाचक्रों से परिपूर्ण रही है कि यह उचित होगा कि हम दोनों स्तरों की राजनीति के प्रमुख बिन्दुओं पर अलग-अलग प्रकाश डालें। हमें यह निरन्तर स्मरण रखना होगा कि राष्ट्रीय और राज्य-राजनीति में इतना चोली-दामन का साथ है कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता—दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव अवश्यम्भावी है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय से राष्ट्रीय राजनीति के विकास पर एक दृष्टि
(National Politics after Independence at a Glance)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से जनवरी, 1980 के प्रारम्भ होने तक राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख प्रवृत्तियों और विकासों को, जो राज्यों की राजनीति को स्वाभाविक रूप से प्रभावित करते रहे, हम निम्नानुसार प्रकट कर सकते हैं—

नेहरू युग में राष्ट्रीय राजनीति

स्वतन्त्रता के साथ नई समस्याएँ आईं—साम्प्रदायिक दंगों और उपद्रवों के शमन के साथ-साथ पाकिस्तान से उद्भासित लाखों आदमियों को बसाने का कठिन कार्य तथा तेलंगाना में कम्युनिस्ट प्रेरित किसानों का बलवा, निजाम हैदराबाद के खिलाफ पुलिस कार्यवाही। सरकार को अंग्रेजी जमाने के सरकारी नौकरों और सेनाओं का विश्वास और वफादारी प्राप्त करनी थी। इसके अलावा साम्प्रदायिक शक्तियों को भी दबाना था, जो देश के विभाजन के बाद उमड़ आई थी। असन्तुष्ट प्रादेशिक और राजनीतिक समूहों को सन्तुष्ट करना था। सबसे बड़ा काम था देशी रियासतों को मिलाने का। इसमें राजनीतिक कुशलता और संगठन-पटुता की जरूरत थी। संक्षेप में नेताओं के सामने यह काम था कि देश को विघटित होने से बचाएँ और उसके विभिन्न भागों और तत्त्वों को मिलाकर एक राष्ट्र की रचना करें। नेताओं की समझदारी और दूरदर्शिता की तारीफ है कि उन्होंने देश के समक्ष उपस्थित कठिन समस्याओं को काफी जल्दी सुलझा लिया और आर्थिक एवं राजनीतिक मोर्चे पर ऐसे कदम बढ़ाए जो भारत की शक्ति सम्पन्नता, प्रगति और समृद्धि की आधारशिलाएँ थे। नेहरू युग में राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार रहे—

1. लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या को सुलझाने में राज्य सरकारों ने केन्द्र के साथ पूरा सहयोग किया। इस प्रकार देश को राजनीतिक स्थिरता के वातावरण से बचा लिया गया।

2. जूनागढ़ और हैदराबाद की रियासतों को भारत में मिलाया गया। नवाब जूनागढ़ ने रियासत को पाकिस्तान के साथ मिलाना चाहा, अतः जनता ने विद्रोह कर दिया और जूनागढ़-प्रशासन की प्रार्थना पर नवम्बर, 1947 में भारत सरकार ने रियासत का शासन स्वयं सम्भाल लिया और बाद में लगभग शत-प्रतिशत जनमत ने इसकी पुष्टि की। हैदराबाद में रजाकारों ने भारी अराजकता की स्थिति

पैदा कर दी और तब जनता और निजाम की खातिर भारत सरकार ने विलय का कदम उठाया। अब यह स्पष्ट हो गया है कि भारत सरकार 'राष्ट्रीय अखण्डता' मे कोई भी बाधा स्वीकार नही करेगी।

3. मार्च, 1950 में योजना आयोग नियुक्त करके पंचवर्षीय योजना की नीति लागू कर दी गई। राष्ट्रीय राजनीति का यह बिन्दु वास्तव मे बहुत महत्वपूर्ण था कि आर्थिक विकास में राज्य को सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। नियोजन की राजनीति में दूरगामी उद्देश्य सन्निहित थे, जिनमें सर्वोपरि यह था कि भारत में समाजवादी समाज के आदर्श की स्थापना की जाए। राष्ट्रीय राजनीति के इसी सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य की दिशा मे आगे बढने के लिए 1948 की औद्योगिक नीति मे परिवर्तन करके 1956 मे नई औद्योगिक नीति घोषित की गई।

4. सामाजिक न्याय की स्थापना और एकता को बल देने के लिए कल्याणकारी विधि-निर्माण का शुभारम्भ हुआ। केन्द्र ने राज्य सरकारो को भी प्रेरित किया कि वे सामतवाद और जागीरदारी को समाप्त करने के लिए तथा समाज के दबे हुए वर्गों को विशेष सुविधाएँ देने के लिए आवश्यक कदम उठाएँ। राष्ट्रीय राजनीति का यह स्पष्ट लक्ष्य था कि राष्ट्रीय एकता के लिए सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा मे ठोस कार्य करना होगा तथा एकीकरण की शक्तियों को सुगठित बनाना होगा।

5. सैकडों रियासतों के कारण एक बड़ा खतरा यह था कि देश कहीं टुकडों मे न बँट जाए। सरदार पटेल ने भारत की 584 देशी रियासतों का एकीकरण करके कुछ राज्यो का निर्माण किया।

6. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के पहले दशक में ही राज्यों का भाषायी आधार पर पुनर्गठन किया गया। 1953 मे राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त किया गया और 1956 मे संविधान मे सातवाँ संशोधन हुआ जिसके फलस्वरूप राज्यों की सभी श्रेणियो को समाप्त कर समान स्तर के पन्द्रह नए राज्य स्थापित किए गए। बाद मे, विभिन्न प्रशासनिक-राजनीतिक कारणों से दिसम्बर, 1963 तक भारत में राज्यो की कुल सख्या 16 हो गई। केन्द्र-शासित क्षेत्रों मे 1956 मे राज्य पुनर्गठन के समय देहली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह और लक्ष द्वीप, मिनिकाय तथा अमिन द्वीप समूह सम्मिलित थे। अगस्त, 1961 में दादरा और नगर हवेली भारतीय संघ के साथ एकीकृत किए गए। तत्पश्चात् दिसम्बर, 1961 मे गोआ, दमन और दीव भी केन्द्र-शासित क्षेत्र बन गए और इस प्रकार देश मे पुर्तगाली उपनिवेशवाद के अवशिष्ट चिन्ह भी समाप्त हो गए।

7. प० नेहरू के प्रधान मंत्री काल मे, 1952, 1957 और 1962 में आम निर्वाचन हुए जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि भारत मे बहुदलीय व्यवस्था होते हुए एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था देश की पार्टी का अंग बन चुकी है। 1967 आम चुनावों से पूर्व तक केन्द्र और राज्यों मे एक ही दल कांग्रेस के अन्तर्गत

बहुमत और श्री नेहरू के प्रभावशाली नेतृत्व के कारण केन्द्रीय सरकार की सत्ता अप्रतिहित और राज्य सरकारों की स्थिति अपेक्षाकृत नगण्य बनी रही।

8. पं० नेहरू ने अपने सर्वमान्य नेतृत्व के बावजूद राज्यों को साथ लेकर चलने और उनका सहयोग अर्जित करने की नीति ही अपनाई। एक ही दल के प्रभुत्व के कारण केन्द्र और राज्य सरकारों में नेताओं की दोहरी भूमिका (सरकार में भी और दल मे भी) बनी रही। एक ही व्यक्ति का मन्त्री के नाते सरकार में और दलीय सदस्य के नाते दल में महत्त्व बने रहने से 'सामञ्जस्य और सहयोग' की नीति को बल मिला तथा केन्द्र और राज्य सरकारों में अप्रिय विवाद तूल नहीं पकड़ पाया। राष्ट्रीय नेतृत्व अधिकांशतः इसलिए सफल हुआ कि उसने समायोजन और अनुग्रह की राजनीति (*Politics of Accommodation*) पर चलते हुए गम्भीर विवादों पर संयमित, कठोरता और दृढ़-निश्चय का परिचय दिया।

9. देश मे लोकतन्त्र के विकास में पचायती राज्य एक और ऐतिहासिक कदम था। गाँवों के विकास और ग्रामीणों को राजनीतिक कार्य की शिक्षा देने के लिए 1952 मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम चालू किए गए और देश भर मे विकास खण्डों का जाल बिछाया गया। बाद मे पचायती राज्य या लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का सूत्रपात हुआ। पंचायती राज्य के माध्यम से गाँवो मे लोकतन्त्र पहुँचाने और छोटे गाँव से लेकर दिल्ली तक लोकतान्त्रिक संघवाद का पद सोपान निश्चित करने की महान् प्रक्रिया का शुभारम्भ हुआ। फलस्वरूप आज के गाँव राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता के प्रतीक बनते जा रहे हैं।

10. दिसम्बर, 1954 मे लोकसभा मे एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसमे भारत की आर्थिक-सामाजिक नीतियो का लक्ष्य समाजवाद निर्धारित किया गया। तद्नुसार दूसरी पंचवर्षीय योजना में समाजवादी समाज-व्यवस्था को राष्ट्रीय लक्ष्य माना गया।

मई, 1964 में पं० नेहरू का 74 वर्ष की अवस्था मे देहान्त हो गया। नेहरू युग में 'राजनीतिक एकता' और संस्थाओं की स्थापना की दिशा मे काफी काम हुआ, जिस कारण देश आगे आने वाले दशक मे और कठिन समस्याओं का सामना कर सका। तनावों और कठिनाइयो के बावजूद देश मे एक हद तक स्थिरता बनी रही। विकास जारी रहा और संविधान द्वारा जो संस्थाएँ कायम हुई उन्हें जड़ जमाने का अवसर मिला। आगे जो विकास हुए, वे इसी ढाँचे मे हुए।

शास्त्री युग मे राष्ट्रीय राजनीति

लाल बहादुर शास्त्री लगभग 19 महीने की अल्प अवधि तक ही भारत के प्रधान मन्त्री रह सके और जनवरी, 1966 मे उनका स्वर्गवास हो गया। फिर भी इस छोटी सी अवधि में लोगो के अन्दर आत्म-विश्वास की भावना जाग्रत हुई।

पण्डित नेहरू की मृत्यु के बाद राष्ट्रीय राजनीति मे एक जबर्दस्त परिवर्तन नजर आया—

1. अब राष्ट्रीय नेतृत्व के स्थान पर राज्यिक नेतृत्व उभरने लगा। प्रधान मन्त्री के उत्तराधिकारी के चयन में मुख्य मन्त्रियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। श्री शास्त्री का प्रधान मन्त्रित्वकाल बहुत थोड़ा रहा, अतः उन्हें समय ही न मिल सका कि वे श्री नेहरू की भाँति स्वयं को एक अत्यन्त शक्तिशाली प्रधान मन्त्री सिद्ध कर पाते। इसलिए उन्होंने समझा-बुझाकर राष्ट्रीय नीतियों का अनुपालन कराने की नीति पर अधिक बल दिया।

2. केन्द्र में श्री नेहरू के समय का 'एकल नेतृत्व' कायम नहीं रह सका। उसके स्थान पर 'बहुल अथवा सामूहिक नेतृत्व' (Plural or Collective Leadership) का आभास होने लगा। श्री शास्त्री ने विरोधी पक्ष को विश्वास में लेकर राष्ट्रीय नीति निर्धारित करने का मार्ग अपनाया।

इन्दिरा युग (जनवरी, 1967 से मार्च, 1977 तक) में राष्ट्रीय राजनीति

1. श्रीमती इन्दिरा गाँधी के समय राष्ट्रीय स्तर पर 'एकल नेतृत्व' की पुनर्स्थापना हुई। प्रारम्भिक वर्षों में श्रीमती गाँधी कुछ दबी-दबी सी रहीं और केन्द्र में बहुल अथवा सामूहिक नेतृत्व जैसी स्थिति चलती रही। लेकिन दिसम्बर, 1969 में कांग्रेस के विभाजन के बाद श्रीमती गाँधी ने अपना निर्द्वन्द्व नेतृत्व कायम कर लिया। श्रीमती गाँधी का 'एकल नेतृत्व' पूरी तरह छा गया। जून, 1975 में श्रीमती गाँधी के चुनाव को अवैध घोषित करने वाले इलाहाबाद हाई कोर्ट के निर्णय के उपरान्त कांग्रेस दल ने, राज्यों के मुख्य मन्त्रियों और केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने जिस प्रकार श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में अटूट आस्था प्रकट की, वह अभूतपूर्व घटना थी। दुर्भाग्यवश श्रीमती गाँधी ने अधिनायकवादी रवैया अपनाते हुए समूचे देश में आन्तरिक आपात् स्थिति लागू कर दी। फलस्वरूप मार्च, 1977 के चुनावों में श्रीमती गाँधी और उनके समर्थकों की करारी हार हुई।

2. केन्द्र दुर्बलता के भंवर में फँसकर पुनः सुदृढ़ हुआ। 1967 के चौथे आम चुनावों में 'संयुक्त मोर्चे की राजनीति' (United Front Politics) को बल मिला। डॉ० राम मनोहर लोहिया ने यह विश्वास व्यक्त किया कि यदि विरोधी दल संयुक्त होकर कांग्रेस का विरोध करें तो एकदलीय प्रमुख-व्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है। चौथे आम चुनावों के परिणामस्वरूप भारतीय राजनीति पर कांग्रेस दल का एकाधिकार समाप्त हो गया। केन्द्र में उसका बहुमत पहले से कम हो गया और लगभग आधे राज्यों में कांग्रेस विरोधी दल की मिली-जुली सरकारें बनीं। बहुदलीय राजनीति का विकास हुआ और सत्ता का केन्द्र नई दिल्ली से हटकर राज्यों की राजधानियों में पहुँच गया। केन्द्रीय नेतृत्व को गहरा आघात लगा।

राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से चौथे आम चुनावों के कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले—(1) कुछ अर्से तक कांग्रेस के विरुद्ध 'निषेधात्मक दृष्टिकोण' की प्रधानता

रही। (2) राष्ट्रीय प्रश्नों के स्थान पर स्थानीय और क्षेत्रीय प्रश्नों का महत्त्व बढ़ने लगा। (3) 'शासन में बाजार की नीति' (Market Policy in Government) ने जोर पकड़ा और सत्ता प्राप्ति के लिए भाव-ताव होने लगे। (4) ध्रुवीकरण की राजनीति (Politics of Polarisation) शुरू हुई। राज्य ध्रुवीकरण की राजनीति के आधार और संयुक्त सरकारों की राजनीति के प्रयोग-स्थल बन गए। (5) राजनीतिक वातावरण इतना बदल गया कि कांग्रेस के राज्य भी केन्द्र के नियन्त्रण में अधिक स्वतन्त्रता की मांग करने लगे। गैर-कांग्रेसी सरकारें राज्यों की स्वायत्तता की मांग जोर-शोर से उठाने लगी। (6) राष्ट्रपति और राज्यपाल अधिक सक्रिय और महत्त्वपूर्ण रूप से प्रकट हुए। राष्ट्रपति का पद प्रभावशाली बन गया और अनेक राज्यों में राष्ट्रपति शासन स्थापित करने में राष्ट्रपति ने विशेष भूमिका अदा की। (7) राजनीतिक दाव-पेचों की लड़ाई बहुत बढ़ गई, राष्ट्रीय प्रश्न ओझल हो गए।

आम चुनावों के बाद की राष्ट्रीय राजनीति में, जिसने राज्यों की सम्पूर्ण राजनीति को प्रबल रूप से प्रभावित किया, कांग्रेस के भीतर चलने वाला सत्ता संघर्ष ही केन्द्र था। इसमें श्रीमती गांधी निर्णायक रूप से विजयी हुई। मार्च, 1971 के मध्यावधि चुनावों ने केन्द्र की दुर्बलता के दौर को निर्णायक रूप से समाप्त कर दिया। तदुपरान्त श्रीमती गांधी के नेतृत्व में केन्द्र निरन्तर अधिकाधिक सुदृढ़ और शक्तिशाली होता गया।

3. कांग्रेस में आन्तरिक संघर्ष की राजनीति ने तेजी पकड़ी। इन्दिरा गुट और सिण्डीकेट गुट में मतभेदों की खाई चौड़ी होती गई। आखिर दिसम्बर, 1969 में कांग्रेस का विभाजन हो गया। इस प्रकार कांग्रेस के चौरासी वर्ष लम्बे इतिहास का एक युग समाप्त हुआ और कांग्रेस विधिवत् दो गुटों में विभक्त हो गई। कांग्रेस विभाजन के बाद श्रीमती गांधी ने अपने राजनीतिक कौशल के बल पर अपने दल की स्थिति बहुत मजबूत बना ली। जब श्रीमती गांधी को यह विश्वास हो गया कि राजनीतिक हवा उनके पक्ष में है तो 27 दिसम्बर, 1970 को लोकसभा भंग कर मार्च, 1971 के मध्यावधि चुनाव कराया जाना तय किया गया।

4. 1971 के मध्यावधि चुनाव में भारत के राजनीतिक इतिहास में पहली बार अखिल भारतीय स्तर के राजनीतिक दल सत्तारूढ़ दल के विरोध में संगठित हुए। जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, पुरानी कांग्रेस तथा संसोपा के 'महान् चौगुटे' ने 'इन्दिरा हटाओ, लोकतन्त्र को बचाओ' का नारा दिया। राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति की कुछ ऐसी धारा बही कि विरोधी पक्ष का सम्पूर्ण चुनाव-दंगल 'इन्दिरा हटाओ' पर केन्द्रित हो गया। पर जनता ने निःसंदिग्ध रूप में फैसला कर दिया कि उनका विश्वास श्रीमती गांधी के नेतृत्व में है। लोकसभा के 518 स्थानों में से नई कांग्रेस को 350, चौगुटे को 49 (पुरानी कांग्रेस 16, जनसंघ 22, स्वतन्त्र 8 और संसोपा 3) स्थान मिले।

5. मार्च, 1971 के चुनावों के बाद राष्ट्रीय राजनीति सामाजिक-आर्थिक सुधारों की दिशा में कुछ तेज हो गई। एक महत्त्वपूर्ण कदम राजा-महाराजाओं के वेतन-भत्तों (प्रिवीपर्स) तथा विशेषाधिकारों की समाप्ति था।

6. 1970 और 1971 के वर्ष देश के लिए कठिन वर्ष थे। आंतरिक रूप से राजनीतिक तनाव का वातावरण बना रहा और कई राज्यों में राष्ट्रपति शासन का सहारा लेना पड़ा। बाह्य रूप से बंगलादेश की घटनाओं ने राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया। बंगलादेश के शरणार्थियों ने देश की अर्थ-व्यवस्था पर इतना बोझा डाला कि राष्ट्रीय विकास और सुरक्षा दोनों ही खतरे में पड़ गई। राष्ट्रीय नेतृत्व ने समस्या का सामना बहुत ही साहस और संकल्प के साथ किया। एक ओर बंगला देश को मान्यता देकर और आवश्यक सैनिक सहायता के बल पर 'एक नए राज्य' के उदय में सहायता की गई तो दूसरी ओर 1972 में पाकिस्तान के साथ शिमला-समझौता करके स्थिति में सुधार लाया गया।

7. 1969-74 के दौरान राष्ट्रीय नीति की दृष्टि से कतिपय राजनीतिक उपलब्धियाँ ये रहीं—असम, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा के विकास और सुरक्षा में तालमेल बैठाने के लिए उत्तर-पूर्वी परिषद् स्थापित की गई। हिमाचल प्रदेश और मेघालय को पूरे राज्य का दर्जा दिया गया और मिजोरम को भी एक विधानसभा और मंत्रि-परिषद् देकर ऊँचा दर्जा दिया गया। जनवरी, 1972 में उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश के दो संघीय प्रदेश बनाए गए। अगस्त, 1972 में उत्तर-पूर्वी परिषद् नामक एक उच्च स्तरीय परिषद् बनाई गई, जिसमें प्रदेश के राज्यों और प्रशासनिक इकाइयों के प्रतिनिधि शामिल थे। एक अन्य मुख्य समस्या, जिसको सफलतापूर्वक सुलझाया गया, वह तेलंगाना की समस्या थी। भारतीय संविधान में 32वां संशोधन पास किया गया ताकि आन्ध्र प्रदेश में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो सकें जिनसे वहाँ के लोग अपने राज्य को शान्तिमय ढंग से प्रगति और समृद्धि की ओर ले जा सकें।

8. 1974 में शेख अब्दुल्ला के साथ समझौता करके कश्मीर में सद्भावना और सहयोग का वातावरण बनाया गया। मई, 1975 में 36वें संविधान संशोधन द्वारा सिक्किम को भारतीय संघ का 22वां राज्य बनाकर सिक्किम की जनता की आकांक्षा पूरी की गई। 1974-76 के वर्ष राष्ट्र के लिए बड़े खतरनाक रहे। सत्तारूढ दल की बढ़ती हुई निरंकुशता के विरुद्ध श्री जयप्रकाश नारायण ने बिहार में आन्दोलन छेड़ दिया जिसने सारे देश के राजनीतिक जीवन में हलचल मचा दी। उधर नक्सलपंथी फिर उग्र हो गए और हिंसा तथा तोड़फोड़ की घटनाओं ने बंगाल और बिहार के जीवन को बहुत कुछ अशान्त कर दिया। देश में निरंकुश तत्त्व जड़ जमाने लगे और जब लोकतन्त्र को बचाने वाली ताकतों ने सिर [illegible] आन्तरिक विघटन और अशान्ति के खतरे का नारा देकर सरकार ने अनुच्छेद 392 के अन्तर्गत आपात् स्थिति की घोषणा कर दी। देश राष्ट्रीय आपात् की घोषणा बाहरी हमले के कारण की गई थी, [illegible]

से उत्पन्न इस प्रकार की घोषणा का यह प्रथम अवसर था। जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, आचार्य कृपलानी और ऐसे ही अन्य नेताओं को, जिन्होंने भारत की आज़ादी की लड़ाई लड़ी थी, जेल में ठूँस दिया गया। विपक्षी दलों के नेताओं को कारागार में डाल दिया गया और सारे देश में पूरी तरह तानाशाही लाद दी गई। श्रीमती गाँधी को उनके विश्वस्त अनुचरों ने सम्भवतः इस कदर अन्धकार में रखा कि उन्हें इस बात का सही अन्दाजा नहीं हो सका कि प्रशासन कितना निरंकुश बन गया है और जनता पर कितने जुल्म किए जा रहे हैं।

9. अचानक ही राष्ट्रीय राजनीति में एक भूचाल उठा। जनवरी, 1977 में आकस्मिक रूप से आम चुनावों की घोषणा कर दी गई और समयान्तर से अधिकांश विपक्षी नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया गया और आपात्कालीन नियमों में कुछ ढील दे दी गई। सारे देश में एक बार फिर चुनाव का माहौल बन गया और श्रीमती गाँधी तथा कांग्रेस की आशा के सर्वथा विपरीत चार प्रमुख विपक्षी दलों ने मिलकर जनता पार्टी का निर्माण कर लिया। इसी दौरान जगजीवन राम ने मन्त्री-पद और कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ दल को गहरा आघात पहुँचाया। उन्होंने कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी के नाम से एक नया दल गठित किया जिसने जनता पार्टी के चुनाव चिन्ह पर चुनाव लड़ा और जिसका चुनावों के बाद जनता पार्टी में विलय भी हो गया। मार्च, 1977 के ऐतिहासिक आम चुनावों ने कांग्रेस के 30 वर्ष के एकाधिकारी शासन की समाप्ति कर दी और केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बनी। लगभग 82 वर्षीय वयोवृद्ध नेता श्री मोरारजी देसाई प्रधान मन्त्री बने। इस प्रकार मार्च, 1977 के ये आम चुनाव इन्दिरा युग की समाप्ति का सदेश लेकर आए।

जनता सरकार और राष्ट्रीय राजनीति

1. श्रीमती गाँधी के पद-त्याग से पूर्व ही 21 मार्च, 1977 को आपात्-स्थिति समाप्त कर दी गई। जिन दलों और संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाए गए थे, उन्हें मुक्त कर दिया। बाह्य आक्रमण के सन्दर्भ में 1971 में जो आपात् स्थिति लागू की गई थी उसे भी 21 मार्च, 1977 को समाप्त कर दिया गया।

2. नागरिक स्वतन्त्रताओं को, जिन्हें आपात् स्थिति के दौरान प्रतिबन्धित कर दिया गया था, बहाल कर दिया गया। पीड़ित व्यक्तियों को यथासाध्य सहायता देने की नीति अपनाई गई।

3. राजनीतिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध बड़े पैमाने पर अभियान चलाया गया। आपात् स्थिति की ज्यादतियों की जाँच के लिए जगन मोहन रेड्डी आयोग की नियुक्ति, मारुति मामलों की जाँच के लिए ए० सी० गुप्त जाँच आयोग की नियुक्ति, आंध्र प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री और उनके सहयोगियों के विरुद्ध आरोपों की जाँच के लिए विमद लाल जाँच आयोग की नियुक्ति और कर्नाटक के मुख्य मन्त्री और उनके मन्त्रिमण्डल के सहयोगियों के विरुद्ध आरोपों की जाँच के लिए ग्रोवर आयोग की नियुक्ति की गई। और भी विभिन्न आयोग बैठाए गए। 'आयोगों की राजनीति' का चौदिक दौर निकला।

4. प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई अपना निर्द्वन्द्व नेतृत्व स्थापित नहीं कर सके और मुख्यतः चौधरी चरणसिंह, मोरारजी देसाई एवं जगजीवन बाबू में 'महत्त्वाकांक्षा' के टकराव की स्थिति बनी रही। जनता पार्टी के घटकों में वास्तविक एकता बनी नहीं रह सकी और प्रत्येक घटक अकेले अथवा अन्य किसी घटक के साथ मिलकर सत्ता पर छाने का प्रयत्न करने लगा। केन्द्र में वास्तविक रूप में न तो 'एकल नेतृत्व' वाली बात रही और न 'सामूहिक नेतृत्व' जैसी बात ही रही। राष्ट्रीय दलों में गुटबन्दी की जितनी गन्दी राजनीति खेली गई उससे इन दलों के नैतिक चरित्र के प्रति जनता में आस्था निश्चित रूप से कम हुई।

5 जनता पार्टी मतदाताओं को दिया गया वचन निभा नहीं सकी। वह निरन्तर आपसी फूट और अवसरवादी राजनीति की शिकार बनी रही। चौधरी चरणसिंह और मोरारजी देसाई में तनाव बढ़ता गया। 9 जुलाई, 1979 को श्री राजनारायण के नेतृत्व में जनता पार्टी के कुछ सदस्यों ने मिलकर 'जनता (सैक्यूलर)' नए दल का गठन किया। उसके बाद के तीन दिनों में 70 से अधिक संसद्-सदस्यों ने जनता पार्टी से रिश्ते तोड़ लिए। श्री देसाई के सामने सिवाय पद-त्याग के कोई विकल्प नहीं रहा। 15 जुलाई, 1979 को श्री देसाई ने प्रधान मन्त्री पद से त्याग-पत्र दे दिया।

चरणसिंह सरकार और जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों की घोषणा

नया प्रधान मन्त्री चुने जाने तक श्री देसाई की कामचलाऊ सरकार बनी रही। प्रधान मन्त्री पद पाने की जो रस्सा-कशी चली उसमें विजयी होकर 29 जुलाई, 1979 को चौधरी चरणसिंह ने प्रधान मन्त्री पद की शपथ ली। राष्ट्रपति का उन्हें स्पष्ट निर्देश था कि वे अधिक से अधिक अगस्त के तीसरे सप्ताह तक लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करें। 20 अगस्त को लोकसभा की बैठक आमन्त्रित की गई, किन्तु उस दिन सदन का विश्वास-मत प्राप्त किए बिना ही श्री चरणसिंह ने राष्ट्रपति को त्याग-पत्र दे दिया और साथ ही मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश भी कर दी। श्री चरणसिंह को त्याग-पत्र देने के लिए इसलिए बाध्य होना पड़ा कि श्रीमती गाँधी ने उन्हें अपना दिया हुआ समर्थन वापस ले लिया। इन्दिरा कांग्रेस के समर्थन के अभाव में श्री चरणसिंह लोकसभा का विश्वास मत नहीं जीत सकते थे। जिस प्रधान मन्त्री ने सदन का सामना न किया हो और जो कामचलाऊ प्रधान मन्त्री के रूप में हो उसकी सिफारिश को राष्ट्रपति स्वीकार करने को बाध्य है या नहीं—इस पर राजनीतिज्ञों, न्याय-शास्त्रियों और संविधान विशेषज्ञों द्वारा पक्ष और विपक्ष में मत प्रकट किए गए। देश गहरे सांविधानिक संकट में फँस गया, जिसकी समाप्ति तभी हुई जब 22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति ने निवर्तमान प्रधान मन्त्री की सलाह मानते हुए मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा कर दी। राष्ट्रपति ने चरणसिंह की कामचलाऊ सरकार को बने रहने दिया।

जनवरी, 1980 के चुनाव और कांग्रेस (इ) की अभूतपूर्व विजय

जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में सातवीं लोकसभा के लिए मध्यावधि चुनाव क्रमशः 3 और 6 जनवरी को सम्पन्न हुए। मतदाताओं ने कांग्रेस (अर्स), जनता पार्टी, लोकदल आदि सभी दलों को बुरी तरह ठुकरा दिया और कांग्रेस (इ) को प्रचण्ड बहुमत प्रदान किया। लोकसभा की कुल निर्वाचित 542 सीटों में से 525 सीटों के लिए चुनाव हुए जिनमें कांग्रेस (इ) ने 351 सीटें जीतीं और 66 85 प्रतिशत मत प्राप्त किए। इस प्रकार कांग्रेस (इ) को दो तिहाई से भी अधिक बहुमत प्राप्त हो गया। 14 जनवरी, 1980 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने प्रधान मन्त्री पद की शपथ ग्रहण की और साथ ही 15 केबिनेट मन्त्रियों तथा 7 राज्य मन्त्रियों ने शपथ ली। जनवरी, 1980 के लोकसभाई चुनावों ने यह पुन: स्पष्ट कर दिया कि मतदाता केन्द्र में सुदृढ़ और स्थायी सरकार चाहते हैं। कांग्रेस (इ) की इस प्रचण्ड विजय के साथ ही भारत में पुनः 'एकदलीय प्रभुत्व वाली व्यवस्था' (One Party Dominant System) स्थापित हो गई है। लोकसभा की शेष 17 सीटों के चुनाव होना बाकी है और उनमें भी कांग्रेस (इ) के अनेक सीटों पर विजयी होने की प्रबल सम्भावना है। कांग्रेस (इ) की प्रचण्ड विजय के साथ ही यह भी प्रमाणित हो गया कि असली कांग्रेस श्रीमती गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस ही है। स्वयं कांग्रेस (अर्स) के अध्यक्ष श्री देवराज अर्स ने इस तथ्य को स्वीकार किया। श्रीमती गाँधी की विजय के साथ ही देश और विदेश में यह आशा बलवती हुई है कि भारत में केन्द्र में पुन: एक स्थायी सरकार पूरी अवधि के लिए कायम रहेगी और अब राजनीतिक अस्थिरता का दौर समाप्त हो गया है।

भारत में राज्य-राजनीति
(State Politics in India)

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक त्रि-स्तरीय व्यवस्था (Three Tier System) कही जा सकती है जिसके शीर्ष पर केन्द्रीय स्तर (Central Tier) है, मध्य में राज्य स्तर (State Tier) है और धरातल पर स्थानीय स्तर (Local Tier) है। 'राज्य स्तर' की राजनीति का केन्द्र व स्थानीय स्तर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राज्य-स्तरीय राजनीतिक व्यवस्था की प्रजातान्त्रिकता, सांविधानिकता, स्वस्थता एवं सुचारुता ही अन्ततः सम्पूर्ण देश के प्रत्येक स्तर को प्रभावित करेगी।

भारत में राज्य-राजनीति (State Politics) का विषय प्राय: अब तक उपेक्षित रहा है। भारत में इस विषय पर सबसे पहले सेमिनार (Seminar) का आयोजन दिसम्बर, 1965 में राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग द्वारा किया गया था, यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका में 'भारत में राज्य राजनीति' (State Politics in India) विषय पर एक सेमिनार का आयोजन इससे 4 वर्ष पूर्व ही किया जा चुका था। इस विषय की उपेक्षा का एक स्पष्ट कारण यह रहा है कि राज्य (States, the Units of the Indian Federation) अपना कोई

अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International Personality) नही रखते। राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय परिवार मे एक इकाई के रूप मे भारत (India as one Unit) ही सदस्य है अत राज्य प्रायः प्रकाश मे नही आते।[1]

भारत में राज्यों की राजनीति को जिन विभिन्न तत्वों ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से प्रभावित किया है, जहाँ राज्य-राजनीति का जो स्वरूप है, जो नए-नए मर्मस्थल इसे स्पर्श कर रहे है और जो नई दिशाएँ तथा प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही है, उन्हें पृथक्-पृथक् शीर्षकों में विभाजित करके देखना उपयुक्त होगा।

(1) राज्यों का निर्माण और विकास

भारत मे राज्यो का निर्माण और उनका वर्तमान स्वरूप 1947-50 के बीच एकीकरण, 1956 मे भाषायी आधार पर उनके पुनर्गठन और तत्पश्चात् समयान्तर से नए-नए राज्यो के उदय से प्रभावित हुआ है। सर्वप्रथम सैकड़ो देशी रियासतों के एकीकरण के फलस्वरूप श्रेणीवार राज्यों का विभाजन हुआ और 1953 मे राज्यों की कुल सख्या 28 पर पहुँच गई। तत्पश्चात् 1956 मे श्रेणियो को समाप्त कर समान स्तर के 14 नए राज्यो की स्थापना की गई जिनकी सख्या दिसम्बर, 1963 में 16 हो गई। मार्च, 1971 के मध्यावधि लोकसभायी चुनावो मे 18 राज्यो और 10 केन्द्र-शासित प्रदेशो के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए। वर्तमान मे राज्यो की कुल सख्या 22 है। सिक्किम 26 अप्रेल, 1975 को ससद् द्वारा सविधान मे 38वाँ सशोधन पारित कर देने के उपरान्त देश का 22वाँ राज्य बना था।

(2) संविधान का प्रभाव

राज्यो के आन्तरिक राजनीतिक विकास पर सविधान मुख्यतः तीन प्रकार से प्रभाव डालता रहा है—(1) राज्यों का शासन भारतीय सविधान के अनुकूल है। सभी राज्य एक ही सविधान के अन्तर्गत प्रशासित होते है। केवल जम्मू-कश्मीर के लिए, अपवादस्वरूप कुछ भिन्न व्यवस्था है, (2) संकटकालीन अवस्था मे संविधान एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेता है, (3) सभी राज्य अपने नित्य प्रति के मामलों में सशक्त और स्वतन्त्र है किन्तु सविधान के प्रतिकूल नही कहे जा सकते। अनेक सांविधानिक व्यवस्थाएँ केन्द्र और राज्यो मे घनिष्ठ सम्पर्क सुनिश्चित करती है और साथ ही हर क्षेत्र मे संविधान ने केन्द्र की सर्वोपरिता स्थापित की है।

(3) एकदलीय प्रभुत्व व्यवस्था का प्रभाव

बहुदलीय व्यवस्था के बावजूद भारत मे, चौथे आम चुनाव के बाद के कुछ समय को छोड़कर, कांग्रेस का एकदलीय प्रभुत्व व्याप्त रहा जिसकी समाप्ति मार्च, 1977 के ऐतिहासिक आम चुनावों में हुई। इन चुनावों से पूर्व केन्द्र मे तो कांग्रेस दल निरन्तर सत्तारूढ रहा, राज्यो में कभी-कभी गैर-कांग्रेसी सरकारें बनी और संविद सरकारों का भी बोलबाला रहा। 1967 के चुनावो के पूर्व राज्य-राजनीति का एक स्वरूप रहा, दूसरा स्वरूप 1967 के चुनावों के उपरान्त उभरा

1 State Politics in India, edited by Iqbal Narain

और तब मार्च, 1971 के मध्यावधि लोकसभायी चुनावों ने तीसरा नया नक्शा प्रस्तुत किया। 1967 के चौथे आम चुनावों से पूर्व केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस का प्रचण्ड बहुमत रहा और नेहरू का सर्वमान्य नेतृत्व देश पर छाया रहा। उस समय राज्य सरकारों की स्थिति, केन्द्र की तुलना में कमजोर और नगण्य सी रही। श्री शास्त्री और तत्पश्चात् श्रीमती गांधी के प्रधान मन्त्रित्व के प्रारम्भिक वर्षों में केन्द्र उतना सबल नहीं रह सका। राज्य उभरे, मुख्य मन्त्री अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए। 1967 के आम चुनाव, कांग्रेस के भीतर चल रहे सत्ता-संघर्ष के कारण, कांग्रेस के लिए दुखदायी रहे। केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस की शक्ति दुर्बल हो गई और बहुत-से राज्यों में उसकी कुर्सी छिन गई। राज्यों की गैर-कांग्रेसी सरकारों ने अनेक मसलों पर केन्द्र के साथ सहयोग करने से इनकार कर दिया। मार्च, 1971 के मध्यावधि चुनावों ने फिर पासा पलट दिया, केन्द्र में कांग्रेस को प्रबल बहुमत मिला और श्रीमती गांधी सर्वमान्य नेता के रूप में उभरीं। तत्पश्चात् राज्यों में चुनाव हुए और गैर-कांग्रेसी सरकारें धराशायी हो गईं। संयुक्त सरकारों को जनता ने ठुकरा दिया।

शक्ति के मद में आकर कांग्रेस दल लोकतान्त्रिक आचरण से दूर होता गया। 26 जून, 1975 से आपातकाल की आड़ में भारत की जनता पर तानाशाही थोप दी गई और तब मार्च, 1977 के चुनावों ने इस तानाशाही को समाप्त कर जनता पार्टी को सत्तारूढ़ कर दिया। लोकसभा में जनता पार्टी का प्रबल बहुमत था। इस प्रकार केन्द्र में पुनः 'एकदलीय प्रभुत्व' वाली स्थिति पैदा हो गई, यद्यपि राज्यसभा का अंकुश बना रहा क्योंकि वहाँ अब भी कांग्रेस का ही बहुमत था। जून, 1977 में जो विधानसभाई चुनाव हुए उनमें भी जनता पार्टी ने भारी बहुमत से विजय प्राप्त की और यह पार्टी लगभग सारे उत्तर भारत पर हावी हो गई। तथापि, कांग्रेस के एक दलीय प्रभुत्व में भारी अन्तर विद्यमान था क्योंकि जनता पार्टी अनेक घटकों से मिलकर बनी थी और प्रारम्भ से ही आपसी फूट के कारण डगमगा रही थी। आखिर जून, 1979 से जनता पार्टी का विघटन अथवा विभाजन शुरू हो गया और जुलाई में जनता पार्टी को केन्द्र में सत्ताच्युत होना पड़ा। चौधरी चरणसिंह और उनके समर्थकों ने जनता पार्टी से अलग होकर जनता (सेक्यूलर) नामक नई पार्टी का गठन किया जिसने आगे चलकर लोकदल नाम धारण किया और कांग्रेस संगठन के साथ मिलकर उसने अपनी सरकार बनाई। इस प्रकार जुलाई, 1979 के मध्य से देश में एकदलीय प्रभुत्व जैसी कोई बात नहीं रही है। जनता पार्टी के विभाजन के बाद राजनीतिक दलों का राष्ट्रव्यापी स्वरूप संदिग्ध हो गया है—कोई भी एक दल ऐसा नहीं है जिसकी 'अखिल भारतीय तस्वीर' हो। जनवरी, 1980 में होने वाले मध्यावधि चुनाव ही यह निर्णय करेंगे कि देश की बहुदलीय व्यवस्था में एकदलीय प्रभुत्व की स्थापना हो सकेगी अथवा नहीं या मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार बनेगी।

(4) गैर-सांविधानिक संस्थाओं का प्रभाव

राज्य-राजनीति को प्रभावित करने वाली गैर-सांविधानिक संस्थाओं (Extra-Constitutional Institutions) की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उदाहरणार्थ, योजना आयोग (Planning Commission) राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था (National Economy) को प्रभावित करने की विशाल शक्तियां रखता है। राज्यों को योजना आयोग द्वारा किए गए परिवर्तनों को स्वीकार करना पड़ा है। योजना आयोग के निर्देश इस प्रकार राज्य सरकार की शक्तियों को घटाते हैं।

(5) विकन्द्रीकरण की प्रक्रिया

राज्यों में राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण अथवा विलगाव की प्रक्रिया प्रभावशील रही है। डॉ रजनी कोठारी के अनुसार इसके लिए चार कारण मुख्य रूप से उत्तरदायी है—

प्रथम, नियोजन कार्यक्रम के प्रशासन का क्रियान्वयन निम्नस्तर स्तरों पर (At lower levels) निर्भर होता जा रहा है। राज्य-स्तर पर प्रशासन केवल विशेष मसलों पर राज्य और राष्ट्रीय सरकारों के नीति सम्बन्धी निर्णयों (Policy Decisions) का खाका खींच देता है और तब उन नीति-निर्णयों के क्रियान्वयन का भार जिला प्रशासन और निम्न स्तरो पर आ पड़ता है। स्वतन्त्रता के बाद से ही राज्यों में राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण में जिला विकास बोर्डों, सामुदायिक विकास खण्डो, विकास अभिकरणों, साख सहकारिताओं, पंचायतो आदि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

दूसरे, राज्यों में ठेठ देहाती क्षेत्रों तक संरक्षण (Patronage) का जाल-सा बिछ गया है जिसने सरकारी मशीनरी को बहुत प्रभावित किया है, और उसे राजनीतिक अर्थ (Political Meaning) प्रदान किया है। राज्य-स्तर पर नेताओं ने इस प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया है। अपनी स्थिति को प्रभावित बनाए रखने के लिए शासकीय समूह (Ruling Group) ग्रामीण मतो पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है और इसीलिए देहातो में दूर-दूर तक अपने संरक्षण का प्रसार करने, स्थानीय अधिकारियो पर नियन्त्रण रखने, शैक्षणिक संस्थाओ और अन्य विकास अभिकरणों को अपने पक्ष में रखने की नीति पर चलता है। जब चुनाव आते है तो राज्य के नेताओ की उन व्यक्तियों पर अधिकाधिक निर्भर रहना पड़ता है जो नियोजित परिवर्तन की संस्थाओं में प्रभावशाली स्थान धारण किए होते है। नेताओं को सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली स्थानीय लोगो और समूहो के निकट सम्पर्क में रहना पड़ता है और चुनाव जिताने के बदले उन्हें विभिन्न प्रकार से अनुग्रहीत करना पड़ता है। यह स्थिति राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण और विस्तार में सहायक है।

तीसरे, निर्वाचन व्यवस्था की जटिलता भी विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी है। भारत में निर्वाचित संस्थाओं (Elected Bodies) के अनेक स्तर है—राष्ट्रीय संसद, राज्य विधान-मण्डल, जिला खण्ड, और ग्राम पंचायतें तथा नगर-पालिकाएँ। महत्त्वपूर्ण निर्वाचित संस्थाएँ, जो विशाल आर्थिक शक्ति का नियन्त्रण करती है, जिला सहकारी बैंक, विपणन सहकारिताएँ तथा जिला पंचायतो में विनि· आर्थिक समितियाँ है। इनमें से कुछ का लोगो द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन होता है

कुछ का अप्रत्यक्ष। जो व्यक्ति राज्य विधान-मण्डल के प्रत्याशी होते हैं उन्हें निम्न स्तरों पर छितरी शक्तियों के सहयोग पर निर्भर करना पड़ता है।

चौथे, राजनीति के सामाजिक धरातल में अनेक परिवर्तन आ गए हैं जिनमें राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण और प्रसार की प्रक्रिया अधिक गतिशील हुई है। उन लोगों अथवा वर्गों ने संख्या-बल के महत्त्व को (वोट के महत्त्व को) समझ लिया है जो कुछ समय पूर्व तक राजनीति को पढ़े-लिखे वर्ग की थाती समझते थे। ऐसे वर्गों ने, राजनीतिक चेतना से सम्पन्न होकर, स्वयं को अपने संघों और नेताओं के माध्यम से संगठित कर लिया है। डॉ० रजनी कोठारी ने इसे राजनीति में 'Newly Enfranchised' का उदय कहा है।[1] समाज के नेताओं पर राजनीतिक प्रतियोगिता और विकास कार्यक्रमों के प्रभावस्वरूप उन दलीय राजनीतिज्ञों और सामुदायिक नेताओं के बीच, जो आर्थिक और राजनीतिक संसाधनों के आवंटन में अपनी अधिक आवाज बनाए रखने को इच्छुक होते हैं, पारस्परिक सजगता और सावधानी का उदय हो गया है। राजनीतिक संगठन और ग्रामीण भारत के सामाजिक ढाँचे के बीच इस प्रकार की निकटता राज्य एवं राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाला एक शक्तिशाली तत्त्व है।

(6) राज्य सजातीय इकाइयाँ नहीं

राज्य-राजनीति की दृष्टि से यह भी ध्यान में रखना होगा कि भारत में राज्य सजातीय इकाइयाँ नहीं हैं। सजातीय एकता की भावना न होने अथवा बहुत कम होने से इनमें परस्पर विरोध पाया जाता है। बहुत कुछ इसी कारण प्रायः एक ही राज्य में विभिन्न प्रकार की राजनीति का विकास होता रहा है जिससे अलगाव की भावना उत्पन्न होती है। राज्य-राजनीति का एक कार्य विभिन्नता में एकता स्थापित करना है। भविष्य ही इस बात का निर्णय करेगा कि भारत में राज्य-राजनीति यह भाग कहाँ तक अदा कर पाएगी।

(7) राज्यों की प्रवृत्तियों को प्रभावित करने वाली चार मुख्य बातें

डॉ० कोठारी के अनुसार राज्यों की प्रवृत्तियों को चार मुख्य बातों ने प्रभावित किया है—स्वतन्त्रता के पहले का राजनीतिक स्वरूप, कांग्रेस के विरोधी या प्रतिपक्षी तत्त्वों का स्वरूप और शक्ति, राज्यों की, कांग्रेस की राजनीति पर प्रभाव डालने वाले आन्तरिक विरोध या विभिन्नता और प्रदेशों के सामाजिक ढाँचे में अन्तर।

(8) गुटबन्दी, सामन्तवाद, प्रदेशवाद और जातिवाद का प्रभाव

लगभग सभी राज्यों में गुटबन्दी और सामन्तवाद ने आरम्भ से ही राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला है। मन्त्रिमण्डलीय गुट और असन्तुष्ट गुट सत्ता के लिए अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता, पारस्परिक विग्रह आदि के कारण सत्तारूढ़ दल और विपक्ष

1 *Rajni Kothari* : Politics in India, p. 128

दोनों को ही कई अवसरों पर भारी हानि उठानी पड़ी है तो कभी-कभी अस्थायी तौर पर अवसरवादिता ने उन्हें लाभ भी पहुँचाया है। सिद्धान्तों और विचार-धाराओं का प्रश्न राज्य-स्तरीय राजनीति में अधिकांशतः विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं रह सका है।

(9) दल-बदल की राजनीति

राज्य-राजनीति दल-बदल की राजनीति से बहुत अधिक प्रभावित रही है, विशेषकर 1967 के आम चुनावों के बाद से। दल-बदल का रोग सभी दलों को लग गया और दल-बदल की घटनाएँ सभी राज्यों में हुई। राजस्थान में 1952, 1957 और 1967 के चुनावों में कांग्रेस विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने में असफल रही, लेकिन हर बार दल बदलने के सहयोग से उसने अपनी सरकारें बनाईं और संकीर्ण बहुमत के बावजूद ये सरकारें स्थिर रहीं। हरियाणा ने दल-बदल के राजनीतिक क्षेत्र में कई नए प्रतिमान स्थापित किए। बिहार, पंजाब, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, हरियाणा आदि विभिन्न राज्यों में दल-बदल और प्रति दल-बदल बराबर होते रहे। फलस्वरूप स्थिर मन्त्रिमण्डल नहीं बन सके और अधिकांश राज्यों में समय-समय पर राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। 1971 के मध्यावधि लोकसभायी चुनावों के बाद कर्नाटक, उड़ीसा, मध्य प्रदेश आदि राज्यों में कुछ दल-बदल की घटनाएँ हुईं, लेकिन अब दल-बदल की राजनीति का वह स्वरूप नहीं रहा जो चौथे आम चुनावों के बाद कुछ वर्षों तक रहा। दल-बदल की छुटपुट घटनाएँ मुख्यत. कांग्रेस के पक्ष में होती रहीं और तब आया आपात्काल के लगभग 19 महीने का शासन जिसमें सत्तारूढ दल की निरंकुशता देश पर पूरी तरह छा गई। 18 जनवरी, 1977 को आम चुनाव की घोषणा किए जाने के बाद देश का राजनीतिक नक्शा तेजी से बदलने लगा और दल-बदल की सामान्य घटनाओं के बीच बाबू जगजीवनराम ने राजनीतिक धमाका किया और वे अपने समर्थकों और अनुयायियों की एक बड़ी जमात के साथ कांग्रेस से अलग हो गए। आम चुनावों में कांग्रेस बुरी तरह हारी और दल-बदल का रुख पूरी तरह जनता पार्टी की ओर हो गया। जनता पार्टी भी दल-बदल पर अंकुश नहीं लगा सकी और दो साल से कुछ ही अधिक अर्से बाद वह स्वयं दल-बदल की शिकार हो गई। जनता पार्टी के कुछ स्तम्भों ने इस पार्टी को छोड़कर जनता (एस) के नाम से नया दल बनाया और साथ ही विभिन्न राजनीतिक दलों में दल-बदल की प्रवृत्ति ने फिर जोर पकड़ लिया, जनता पार्टी और उसकी सरकार का पतन हुआ और देश राजनीतिक अस्थिरता तथा सांविधानिक संकट के गहरे दौर में फँस गया। केन्द्र में दल-बदल के प्रभाव स्वरूप अनेक राज्यों में भी जनता पार्टी को उसके बहुत से सदस्यों ने छोड़ दिया और दल-बदल की लहर राज्यों में पुनः फैल गई। दल-बदल के फलस्वरूप कांग्रेस (इ) का पलड़ा निरन्तर भारी होता गया। जनवरी, 1980 के चुनावों में कांग्रेस (इ) ने लोकसभा में दो-तिहाई से भी अधिक बहुमत की प्रचण्ड जीत दर्ज की। अतः भविष्य में अब दल-बदल कांग्रेस (इ) के पक्ष में ही अधिकाधिक हो

रहने की सम्भावना है। यह देखना है कि क्या श्रीमती गाँधी की सरकार दल-बदल पर अंकुश सम्बन्धी अधिनियम बनाएगी।

(10) चौथे आम चुनाव और राज्य

चुनाव गठबन्धन, उसमे होने वाले परिवर्तन, संयुक्त सरकारो के बनने बिगड़ने की प्रक्रिया, चुनाव गठबन्धनो का संयुक्त या मिश्रित सरकारों पर प्रभाव, चुनाव-सन्धियों व अस्थाई मेल-मिलाप का दलीय आदर्शों व सरकार-निर्माण पर प्रभाव आदि ऐसे तत्व है जो राजनीतिक विश्लेषण के लिए रोचक क्षेत्रों का निर्माण करते हैं और राजकीय राजनीति को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। चौथे आम चुनावों के बाद इन्ही विभिन्न प्रभावों के फलस्वरूप भारत में राज्य-स्तर पर सरकारों के कुछ विभिन्न रूप उभरे जो मोटे रूप में इस प्रकार इंगित किए जा सकते है—

(क) बहुमत दलीय सरकारें, उदाहरणार्थ मद्रास मे डी. एम के सरकार व अन्य राज्यों में स्थिर कांग्रेस सरकारें।

(ख) चुनाव गठबन्धनो के फलस्वरूप बनी सयुक्त सरकारो मे कही दक्षिणपन्थियो का अधिक प्रभाव हो सकता है तो कही वामपन्थियो का। इसके लिए चुनावों के बाद क्रमशः उडीसा एवं केरल व पश्चिमी बगाल का उदाहरण दिया जा सकता है।

राज्य सरकारों के विभिन्न रूपो की ही तरह राज्यो में द्विदलीय व्यवस्थाएँ गोड़ लेती प्रतीत हुईं। प्रथम, कुछ राज्यों में द्विदलीय व्यवस्था विकसित होती प्रतीत हुई। दूसरे, कुछ राज्यों मे बहुदलीय या सयुक्त दलीय प्रथाएँ पनपी, जहाँ कांग्रेस या कोई अन्य दल एकमात्र सबसे बड़े दल के रूप मे उभरा हो। तीसरे, एक-दलीय प्रभुत्व व्यवस्था भी रही, जिसमे केवल एक दल ही प्रबल बहुमत के साथ विद्यमान था और विरोधी शक्ति विभाजित तथा अस्त-व्यस्त थी।

(11) मार्च, 1971 के मध्यावधि चुनाव और राज्य राजनीति

लोकसभायी मध्यावधि चुनावो मे सत्तारूढ कांग्रेस दल के मुकाबले दूसरे राजनीतिक दलों के किले ताश के पत्तो पर बने महल की तरह ढह गए। देश के लगभग सभी राज्यो मे हवा पुनः नई कांग्रेस की ओर बहने लगी। मध्यावधि चुनावों के फलस्वरूप राज्य-राजनीति के सन्दर्भ मे कुछ बाते स्पष्ट उभर कर सामने आईं। उदाहरणार्थ यह स्पष्ट हो गया कि पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी राजनीति की जड़ें गहरी बैठी हुई हैं और राज्यो की राजनीति मे मुस्लिम लीग स्वातन्त्र्योत्तर अवधि में पहले किसी भी समय की अपेक्षा अधिक सक्रिय हुई है। 1971 के लोकसभायी चुनावों का राज्य-राजनीति पर प्रभाव हर तरह से कांग्रेस के पक्ष मे रहा। सगठन कांग्रेस एकदम फीकी पड गई तो अन्य दल कांग्रेस के साथ दौड में बहुत पीछे रह गए। वस्तुतः चौथे आम चुनावो के बाद कुछ वर्षों तक यह लगा कि राज्य "ध्रुवीकरण की राजनीति के आधार और राजनीतिक सयोग की राजनीति के प्रयोगस्थल" बन गए है।

(12) मार्च, 1972 के चुनाव और राज्य-राजनीति का नया मोड़

मार्च, 1972 मे भारत के शेष सोलह राज्यो और संघ-शासित क्षेत्रों मे आम चुनाव सम्पन्न हुए। कांग्रेस को 14 राज्यों तथा 1 संघ-शासित क्षेत्र में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ, फलस्वरूप वहाँ स्थाई सरकारो का निर्माण किया जा सका। जिन राज्यो तथा केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो सका, वे थे—मणिपुर, नागालैण्ड तथा गोआ। अतः इन राज्यो की राजनीति मे अस्थिरता के बादल छाए रहे। 1971 और 1972 के चुनावों के फलस्वरूप दल-बदल की राजनीति का युग प्राय. समाप्त हो हो गया। इस काल मे अधोमुखी संघवाद का स्वरूप तेजी से उभरा जिससे राज्य-राजनीति को आघात पहुँचना स्वाभाविक था।

(13) 1974 में पुर्ननिर्वाचन और राज्य-राजनीति

फरवरी, 1974 मे मणिपुर, उड़ीसा, पाण्डिचेरी, नागालैण्ड तथा उत्तरप्रदेश में पुनः निर्वाचन हुए। कांग्रेस को उत्तर प्रदेश तथा उड़ीसा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। मणिपुर, पाण्डिचेरी तथा नागालैण्ड मे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने से मिली-जुली सरकारो का निर्माण हुआ। इन चुनावों के फलस्वरूप राज्य-राजनीति की उस स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया जो 1971 के बाद उत्पन्न हुई थी। इन चुनावो से यह पुनः सिद्ध हो गया कि भारत मे राज्य-राजनीति प्रधानत केन्द्र द्वारा ही निर्देशित है।

(14) मार्च, 1977 और जून, 1977 का सत्ता परिवर्तन तथा जनवरी, 1980 में स्थिति

मार्च, 1977 के लोकसभायी आम चुनावों ने जनता पार्टी को सत्तारूढ़ कर दिया जिसका अनिवार्य प्रभाव राज्य-राजनीति पर पड़ा और राज्यों में कांग्रेस सरकारो की स्थिति दुर्बल हो गई। जून, 1977 में 11 राज्यों और तीन संघीय क्षेत्रो मे चुनाव कराए गए और जनता पार्टी ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। अब कांग्रेस का प्रभाव दक्षिण भारत के राज्यो में ही रह गया। राजनीति की बदलती हुई परिस्थिति यह संकेत करने लगी कि दक्षिण मे भी कांग्रेस निकट भविष्य में अपना प्रभाव खो देगी और उसे संगठित विपक्ष के रूप मे अपनी भूमिका अदा करनी पड़ेगी। लेकिन राजनीतिक घटनाचक्र तेजी से घूमता गया और जुलाई, 1979 मे जनता पार्टी को सत्ता-च्युत होना पड़ा। जनता (एस) तथा कांग्रेस संगठन का गठबन्धन हुआ, चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में सरकार बनी, 22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति ने मध्यावधि चुनाव कराए जाने की घोषणा की और चुनावों तक चौधरी चरणसिंह की कामचलाऊ सरकार को बने रहने दिया गया। जनवरी, 1980 के चुनावों में कांग्रेस (इ) ने प्रचण्ड बहुमत प्राप्त कर केन्द्र मे पुनः स्थिर सरकार की आशा जाग्रत की। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 14 जनवरी, 1980 को प्रधान मन्त्री पद की शपथ ली। श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार बनने के साथ ही जनता में नई आशा का संचार हुआ।

(15) राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता, सांविधानिक संकट और राष्ट्रपति शासन

भारत संघ के राज्यों में अक्षम नेतृत्व, दल-बदल, दलों की आन्तरिक गुटबंदी आदि के कारण राजनीतिक स्थायित्व प्रायः कम ही रहा है। अधिकांश राज्य काफी हद तक राजनीतिक अस्थिरता के शिकार रहे है, वहां सांविधानिक संकट पैदा होते रहे हैं और फलस्वरूप बार-बार राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा है। पर राज्यों में सांविधानिक शासन की असफलता के कारण जितनी बार संकटकालीन घोषणाएँ करनी पड़ी, उनके इतिहास से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति द्वारा अपनी शक्ति का कभी दुरुपयोग नहीं किया गया वरन् ये उद्घोषणाएँ देश को अराजकता की स्थिति से बचाने में सहायक हुईं। सम्बन्धित राज्य में स्थिर प्रशासन देने में इनसे सहायता मिली। राष्ट्रपति ने राज्यों में आपात् की घोषणा प्रायः तभी की जब उन्हें निम्नलिखित परिस्थिति अथवा परिस्थितियों का विश्वास हो गया—

1. राज्य में राजनीतिक अस्थिरता और संसदीय शासन-पद्धति में गतिरोध उत्पन्न हो गया है।

2. राजनीतिक अस्थिरता का पर्यवेक्षण संघ सतर्कतापूर्वक करेगा और नए मन्त्रिमण्डल के निर्माण का अवसर भली प्रकार दे सकेगा।

3. राज्य मन्त्रिमण्डल को राज्य विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त नहीं है और वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल की रचना असम्भव है।

4. एक निर्वाचन तक की अवधि के लिए पराजित मन्त्रिमण्डल कार्य करने को प्रस्तुत नहीं है।

5. राज्य की राजनीतिक स्थिति के उत्तरदायी शासन के योग्य होते ही, राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना सम्भव होगा।

यह कहा जा सकता है कि राज्यों के शासन में केन्द्रीय हस्तक्षेप का आयोजन करने वाले सांविधानिक आपात्कालीन उपबन्ध राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर राज्यों में संसदीय शासन-व्यवस्था की स्थापना और सुरक्षा के लिए श्रेष्ठ साधन सिद्ध हुए हैं।

(16) छोटे राज्यों के निर्माण की वकालत

देश में छोटे-छोटे राज्यों के निर्माण की मांग उठती रही है। श्री जयप्रकाश नारायण ने अक्टूबर-नवम्बर, 1977 में, सरकार और जनता के बीच की दूरी कम करने के उद्देश्य से, छोटे राज्यों के निर्माण की सलाह दी थी। उन्होंने तर्क दिया कि यदि छोटे राज्यों की स्थापना कर दी जाए तो मुख्य मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों के साथ राज्य की आम जनता का सम्पर्क ज्यादा आसान हो जाएगा। बड़े राज्यों को तोड़कर छोटे राज्यों के निर्माण के प्रश्न पर राष्ट्रीय नेताओं के विचारों को कोरा बचकाना नहीं कहा जा सकता था क्योंकि इस दलील में दम है। छोटे राज्यों के निर्माण से शासन का विकेन्द्रीयकरण होगा तथा जनता की आवाज शासकों तक पहुँच जाएगी। छोटे राज्यों के निर्माण की विचारधारा को जनता पार्टी के कुछ नेताओं द्वारा बल मिला जबकि शीर्षस्थ नेतृत्व ने ऐसी मांग को हतोत्साहित किया।

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में कुंवरसिंह परिहार विधायक जनता पार्टी के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश के विभाजन की माँग उठाई गई। अगस्त, 1977 में राष्ट्रपति को एक ज्ञापन दिया गया जिसमें भारत सरकार से निवेदन किया गया कि आबादी के हिसाब से उत्तरप्रदेश विश्व का सातवाँ राज्य है। इतनी बड़ी आबादी वाले राज्य को प्रदेश मानकर सफलता के साथ प्रशासन नहीं चलाया जा सकता है और न ही इसका सांगोपांग विकास ही सम्भव है। इस प्रदेश का कोई भी मुख्य मन्त्री सभी जिला प्रशासकों, पुलिस कप्तानों और अन्य अधिकारियों के साथ दैनिक कौन कहे, साप्ताहिक सम्पर्क भी नहीं कर सकता है। अतएव प्रदेश की जनता को स्वच्छ प्रशासन देने और प्रदेश के आर्थिक विकास के लिए उत्तर प्रदेश को चार राज्यों में बाँट देना चाहिए।

उत्तर प्रदेश के आठों पर्वतीय जिलों को एक राज्य का स्वरूप दिया जाए, इस माँग पर जोर देने के लिए नैनीताल जनपद के रामनगर में 24 अक्तूबर, 1977 को 'उत्तराखण्ड राज्य सम्मेलन' हुआ था जिसमें विधायकों, साँसदों के साथ ही 200 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। गढ़वाल के पाँच जिलों टिहरी, गढ़वाल, चमोली, उत्तरकाशी व देहरादून तथा कुमाऊँ के नैनीताल, अल्मोड़ा व पिथौरागढ़ जनपदों का एक अलग राज्य बनाने की माँग काफी पुरानी है। यह माँग पहाड़ की समस्याओं तथा उनके समाधान के लिए किए गए प्रयासों की अब तक की विफलता पर आधारित है। यह धारणा दिनों-दिन और पकड़ती जा रही है कि पहाड़ को मात्र औपनिवेशिक दृष्टि से ही देखा जाता है। विकास कार्य परोक्ष में शोषण की प्रक्रिया में सहयोगी ही बनते हैं।

भारत का जो राजनीतिक चरित्र है उसे देखते हुए छोटे राज्यों के निर्माण की माँग स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। कुछ नेताओं का ऐसा विचार है कि बड़े राज्यों की तुलना में छोटे राज्यों का विकास अधिक अच्छे ढंग से हो सकता है। इस सम्बन्ध में प्रायः हरियाणा और पंजाब का उदाहरण दिया जाता है। लेकिन छोटे राज्यों के समर्थक इस तरफ ध्यान नहीं देते हैं कि उड़ीसा भी एक छोटा राज्य है तब उसका विकास क्यों नहीं हुआ। हरियाणा के विकास का श्रेय [illegible] की नीति को है जिन्होंने भाखड़ा बाँध का निर्माण करवाया, जिससे पंजाब और हरियाणा के विकास के लिए बुनियादी चीजें (बिजली और पानी) सुलभ हो सकीं। इसके साथ ही पंजाब और हरियाणा के मुख्य मन्त्री भी विशेष [illegible] रहे। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और उड़ीसा का [illegible] मुख्यतः [illegible] नहीं हुआ कि इन राज्यों के नेतागण राजनीतिक [illegible] बनाते रहे कि [illegible] कार्यों की ओर समुचित ध्यान नहीं दे सके।

[illegible] दृष्टि से राज्यों का पुनर्गठन [illegible] हो सकता है, लेकिन पुनर्गठन का यह प्रश्न देश की अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं [illegible] चाहिए। छोटे राज्यों के गठन को [illegible] [illegible] सकता है। भावात्मक [illegible] अधिक समस्याएँ [illegible]

जयप्रकाश ने प० नेहरू के सामने उत्तर प्रदेश को तोड़कर दो राज्यों के निर्माण का प्रस्ताव रखा था और स्वय प० नेहरू उत्तर प्रदेश को तीन भागो मे विभाजित करने के पक्ष मे थे किन्तु उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री गोविन्द वल्लभ पत की स्पष्ट प्रतिक्रिया थी—गगा और यमुना की जमीन का विभाजन कैसे किया जा सकता है ? पत जी भावात्मक आधार पर उत्तर प्रदेश के विभाजन के विरुद्ध थे। भाषाई आधार पर राज्यो के पुनर्गठन का प्रश्न भी लोगों के भावात्मक चरित्र से जुड़ा है। असम मे बसे हुए बंगालियो और असमियो के बीच भाषा-विवाद अभी समाप्त नही हुआ है और मैसूर तथा महाराष्ट्र के बीच लम्बे समय से सीमा-विवाद चला आ रहा है। इन परिस्थितियो में छोटे राज्यो के निर्माण मे राष्ट्रीय एकता को कहाँ तक बल मिलेगा—यह विचारणीय है। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने, जिन्होंने जुलाई, 1979 मे त्याग-पत्र दिया, यह स्पष्ट कर दिया था कि केन्द्रीय सरकार राज्य पुनर्गठन के प्रश्न को अहमियत देने के पक्ष मे नहीं है। तत्कालीन गृह मन्त्री और बाद मे प्रधान मन्त्री चौधरी चरणसिंह का भी तब यही विचार था कि बड़े राज्यो को छोटे राज्यों का रूप देने का सरकार का कोई इरादा नही है। तथापि प्रधान मन्त्री के रूप मे श्री चरणसिंह ने छोटे राज्यो के निर्माण की जोरदार वकालत की। प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी देश को छोटे-छोटे टुकड़ो मे बाँटने के पक्ष में सम्भवतः नहीं हैं।

राज्य-राजनीति के सन्दर्भ मे यह हमे तथ्य सदैव ध्यान मे रखना होगा कि सुदृढ़ द्विदलीय व्यवस्था और केन्द्र तथा राज्यो के आपसी सहयोग पर ही राष्ट्र का उज्ज्वल भविष्य निर्भर करता है।

जनवरी, 1980 के चुनाव के आईने में : भारत

जनवरी, 1980 के आम चुनाव भारतीय चुनाव-इतिहास मे अभूतपूर्व रहे है। हम पृष्ठभूमि को देखते हुए चलें तो अधिक उपयुक्त होगा। 1971 मे प्रगनादेश विजय के कारण लोगों मे अत्यधिक उत्साह था—इन्दिराजी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा का भाव भी। किन्तु 1977 तक आते-आते यह भाव बिल्कुल बदल गया था। 'जनता लहर' यानी 'इन्दिरा विरोधी लहर' ने देश की राजनीति का सारा नक्शा ही बदल डाला था। उम्मीदवारो का दूर-दूर तक पता नही था। हाँ, दक्षिण मे इन्दिरा समर्थक लोगो ने जो रूप और रुख दिखलाया, उससे लगता था कि इन्दिराजी का वर्चस्व अभी भी बना हुआ है। शायद आपात्काल की ज्यादतियो का वहाँ असर नहीं हुआ था—इसका एक कारण यह भी बतलाया गया था, किन्तु तीन साल भी जनता प्रशासन के पूरे नही हुए कि सारा ढाँचा डगमगाने लगा। जनवरी, 1980 के आम चुनाव चौंकाने वाले सिद्ध हुए। कांग्रेस (इ) ने आन्ध्र में 42 मे से 41, बिहार मे 54 में से 30, गुजरात मे 26 मे से 25, हरियाणा मे 10 मे से 5, हिमाचल प्रदेश मे 4 मे से 3, कर्नाटक मे 28 [illegible] ध्य प्रदेश मे 40 मे से 35, महाराष्ट्र मे 48 में से 39, उड़ीसा मे 21 [illegible] मे 13 मे से 12,

राजस्थान में 25 मे से 18, तमिलनाडु में 39 में में 20, उत्तर प्रदेश मे 85 में से 81 सीटें प्राप्त की। इस प्रकार इन्दिरा कांग्रेस ने नये चुनाव कीर्तिमान स्थापित किए। पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी मोर्चे ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। वहां 42 मे से केवल 4 सीटें कांग्रेस (इ) को मिली जबकि मार्क्सवादियों ने 27, फारवर्ड ब्लॉक ने 3, साम्यवादी दल ने 3 और रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी ने 4 सीटें प्राप्त की। इसी प्रकार केरल में कांग्रेस (इ) को 20 में से 5 सीटें मिली, जबकि 6 मार्क्सवादियों ने, साम्यवादी दल ने 2, कांग्रेस (अर्स) ने 3 सीटों पर विजय हासिल की। कुल मिलाकर उत्तरी और दक्षिणी भारत में 'इन्दिरा लहर' छायी रही जिसके तूफान में लोकदल, जनता पार्टी और कांग्रेस (अर्स) तथा अन्य छोटे-मोटे दलों का सफाया हो गया। कांग्रेस (इ) दो-तिहाई बहुमत प्राप्त कर अब इस स्थिति में आ गई है कि बिना किसी दूसरे दल के सहयोग के स्वयं ही संविधान में संशोधन कर सके। विश्व के इतिहास मे यह पहली घटना है कि चुनावों में पराजय के सिर्फ पौने तीन साल बाद किसी राजनेता ने पुनः प्रचण्ड बहुमत से राष्ट्र के शासन की बाग-डोर अपने हाथ में ले ली। साथ ही इन चुनावों से भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था की गरिमा और शक्ति भी प्रकट होती है। यह आशा की जानी चाहिए कि श्रीमती गांधी के नेतृत्व में भारतीय लोकतन्त्र को नई समृद्धि और जीवन-शक्ति प्राप्त होगी। जनवरी, 1980 के चुनावों में देश के मतदाता ने लगातार तीसरी बार अपना इकतरफा फैसला दिया है। 1971 में उसने 'गरीबी हटाओ' के नारे पर श्रीमती गांधी को भारी-भरकम बहुमत के साथ शासन सौंपा। 1977 में आपातकालीन घटनाओं से क्रुद्ध जनमत ने 'आजादी और रोटी' के नारे पर जनता पार्टी को अन्धाधुंध समर्थन दिया और फिर 'स्थिर सरकार' के नारे पर जनवरी, 1980 में मतदाता श्रीमती गांधी के साथ हो गया। श्रीमती गांधी जन-आकांक्षाओं की पूर्ति कर पाती है, यह भविष्य के गर्भ मे है। किन्तु यह अवश्य दिखाई देता है कि केन्द्र मे अस्थिर शासन और शर्मनाक राजनीति का दौर समाप्त हो गया है।

---

23 दलीय व्यवस्था एवं दबाव समूह

(PARTY SYSTEM AND PRESSURE GROUPS)

भारत एक बहुदलीय व्यवस्था वाला देश है, जिसमे मार्च, 1977 के चुनाव परिणामों तक कांग्रेस के रूप में एकदलीय प्रभुत्व बना रहा और तत्पश्चात् जनता पार्टी के रूप में एकदलीय प्रभुत्व कायम हुआ जो जुलाई, 1979 में जनता सरकार के पतन के समय तक बना रहा। जुलाई, 1979 में जनता पार्टी के विभाजन के बाद राजनीतिक दलों का राष्ट्रव्यापी स्वरूप संदिग्ध हो गया और कोई भी एक दल ऐसा नहीं रहा जिसकी 'अखिल भारतीय तस्वीर' हो। 22 अगस्त, 1979 को लोकसभा भंग करके मध्यावधि चुनाव कराए जाने की घोषणा हुई। ये चुनाव जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में सम्पन्न होंगे और तभी यह स्थापित हो सकेगा कि देश की दलीय व्यवस्था किस ओर जा रही है। भारत जैसे विशाल देश मे अनेक दलो का होना स्वाभाविक है, लेकिन भारतीय लोकतन्त्र की सुरक्षा इसी में है कि दो शक्तिमान राष्ट्रीय दल कायम रहें जो सदैव एक दूसरे का विकल्प बन सकें। जून, 1975 के बाद के इतिहास ने यही चेतावनी दी है कि भारत के लिए 'एकदलीय प्रभुत्व वाली बहुदलीय व्यवस्था' (Multy Party System with One Party-Dominance) उपयुक्त नही है। यहाँ दो सशक्त राष्ट्रीय दलों सहित बहुदलीय व्यवस्थाएँ कायम होनी चाहिए किन्तु जनवरी, 1980 के चुनाव परिणामो ने यही स्पष्ट किया है कि मतदाता केन्द्र में सुदृढ़ और स्थिर सरकार के लिए 'एकदलीय प्रभुत्व वाली व्यवस्था' के पक्ष मे है। चूंकि देश की बहुदलीय व्यवस्था का समाप्त होना सम्भव नहीं दिखाई देता, अतः अपेक्षित यही है कि बहुदलीय व्यवस्था में दो शक्तिशाली अखिल भारतीय दलों का उदय हो जिनमें एक सत्तारूढ़ रहे और दूसरा प्रभावी विपक्ष के रूप में प्रस्तुत रहे और किसी भी क्षण सत्तारूढ़ दल का विकल्प बनने में सक्षम हो।

स्वतन्त्र भारत में राजनीतिक दल का विकास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय देश मे राष्ट्रीय स्तर पर दो ही दल थे—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और साम्यवादी दल। कांग्रेस का संगठन और जाल व्यापक तथा

विशाल था। साम्यवादी दल एक सीमित स्तर पर कार्य कर रहा था। आजादी के बाद राजनीतिक दलों का जो विकास आरम्भ हुआ उसमें सबसे पहले 1948 में रामराज्य परिषद् की स्थापना हुई। 1949 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदय हुआ। 1950 में श्री जयप्रकाश नारायण ने भारतीय समाजवादी दल की और कुछ ही समय बाद आचार्य कृपलानी ने किसान मजदूर प्रजा पार्टी की स्थापना की। 1951 में डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई। दलों का विकास बड़ी तेजी से हुआ। 1952 के आम चुनावों में 14 दलों ने राष्ट्रीय स्तर पर और 51 दलों ने राज्यस्तर पर भाग लिया।

1962 और 1967 के बीच राजनीतिक दलों की संख्या उत्तरोत्तर घटती गई। कुछ दलों के विलयन, कुछ के विघटन तथा कुछ के नए जन्म के कारण दल-व्यवस्था का रूप बहुत कुछ बदल गया। 1952 में ही भारतीय समाजवादी दल तथा किसान मजदूर प्रजा पार्टी के विलय के फलस्वरूप प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (प्रसोपा) का जन्म हुआ। देश के इतिहास में दो दलों के विलय की यह पहली घटना थी। 1959 में स्वतन्त्र पार्टी ने जन्म लिया। राज्य स्तर पर अनेक नए-नए दल उभर आए।

स्वाधीन भारत के राजनीतिक रंगमंच पर सबसे महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी घटना 1969 में कांग्रेस का दो भागों में विभाजन था—नई कांग्रेस (श्रीमती गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस), एवं संगठन कांग्रेस (जिसे पुरानी कांग्रेस कहा जाता था और जिसका नेतृत्व निजलिंगप्पा, कामराज, मोरारजी देसाई आदि के हाथों में था)। संगठन कांग्रेस के मुकाबले नई कांग्रेस ने अधिकाधिक शक्ति अर्जित की। 1972 में सोशलिस्ट पार्टी तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के पुनः मिलने के फलस्वरूप सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया नामक नया दल अस्तित्व में आया। कुछ समय बाद ही इसमें फूट पड़ गई और दिसम्बर, 1972 में श्री राजनारायण तथा उनके समर्थकों ने पुरानी संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी (संसोपा) को पुनर्जीवित किया। जनसंघ से अलग होकर अप्रैल, 1973 में बलराज मधोक ने राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक मोर्चा नामक दल बनाया।

कांग्रेस-विभाजन के बाद राजनीतिक दलों के इतिहास में कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण घटना अगस्त, 1974 में 'भारतीय लोक दल' का उदय था जिसमें भारतीय क्रान्ति दल के अलावा स्वतन्त्र पार्टी (पीलू मोदी गुट), उत्कल कांग्रेस (बीजू पटनायक), किसान मजदूर पार्टी (चाँदराम), संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ([illegible]) और पंजाब खेतीबाड़ी जमींदारी यूनियन (बाबा महेन्द्रसिंह) [illegible] अस्तित्व को खत्म करके मिल गए।

26 जून, 1975 को राष्ट्रीय आपात् स्थिति लागू [illegible] राजनीतिक दलों के नेता और सक्रिय कार्यकर्ता जेलों में [illegible] 1977 को श्रीमती गाँधी ने अकस्मात् ही मार्च, 1977 [illegible] कराने की घोषणा की। दूसरे ही दिन 'जनता पार्टी' [illegible]

जिसमे संगठन कांग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोकदल और समाजवादी दल शामिल हुआ। 2 फरवरी, 1977 को श्री जगजीवनराम ने कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर 'कॉंग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' की स्थापना की। कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी ने जनता पार्टी के साथ मिलकर चुनाव लड़ा। चुनावो मे जनता पार्टी ने विजय प्राप्त की और श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व मे अपनी सरकार बनाई। उल्लेखनीय है कि मार्च, 1977 के चुनावो से पूर्व भारत सरकार द्वारा 'आम चुनाव 1977' नामक जो सन्दर्भ पुस्तिका प्रकाशित की गई थी उसमें सात राष्ट्रीय और 17 राज्यीय दलो के नाम गिनाए थे। गैर-मान्यता प्राप्त पजीकृत राजनीतिक दल 39 थे। जिन राष्ट्रीय दलों के नाम गिनाए गए थे, वे ये—(1) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, (2) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (स), (3) भारतीय जनसंघ, (4) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, (5) सोशलिस्ट पार्टी, (6) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) एवं (7) भारतीय लोकदल। आम चुनावो के बाद कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी का भी जनता पार्टी मे विधिवत् विलय हो गया।

जनता पार्टी भी जुलाई, 1979 के विभाजन का शिकार बन गई। श्री राजनारायण की अध्यक्षता मे जनता (सेक्यूलर) नामक नए दल का गठन हुआ और 15 जुलाई को जनता पार्टी की सरकार का पतन हो गया। इसके बाद किसी भी राजनीतिक दल का स्वरूप 'अखिल भारतीय स्तर' का नही रहा, राष्ट्रीय दलों के क्षेत्रीय पैमानों की ओर से ही हमारा ध्यान आकर्षित हुआ। 26 सितम्बर, 1979 को जनता (एस.) अर्थात् (सेक्यूलर), सोशलिस्ट पार्टी तथा उड़ीसा की जनता पार्टी को मिलाकर नई दिल्ली में एक नई पार्टी लोकदल के गठन की घोषणा की गई। प्रधान मन्त्री श्री चरणसिंह लोकदल के प्रथम अध्यक्ष और जनता (एस) के अध्यक्ष श्री राजनारायण सर्व सम्मति से उसके कार्यकारी अध्यक्ष चुने गए।

उल्लेखनीय है कि दिसम्बर, 1969 के बाद 2 जनवरी, 1978 को कांग्रेस का पुनः विभाजन हुआ और दो कांग्रेस अस्तित्व मे आई—इन्दिरा कांग्रेस एव ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली कांग्रेस। पुरानी कांग्रेस के अधिकांश नेता—देसाई, स्वर्ण सिंह, चव्हाण आदि श्री रेड्डी की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय कांग्रेस मे ही बने रहे। पर यह कांग्रेस प्रभावशाली रूप में नही उभर सकी। इन्दिरा कांग्रेस अधिकाधिक प्रभाव अर्जित करती गई और देश के राजनीतिक वातावरण ने यही संकेत दिया कि जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावो मे असली टक्कर जनता पार्टी और इन्दिरा कांग्रेस के बीच ही होगी लेकिन इन चुनावो में 'इन्दिरा लहर' नहीं बल्कि 'इन्दिरा भूकम्प' आया। लोकसभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या 542 मे से 525 स्थानों के लिए चुनाव हुए जिनमे कांग्रेस (इ) ने 351 स्थान प्राप्त किए, इस प्रकार उसे स्पष्ट दो-तिहाई बहुमत प्राप्त हो गया और वह स्वय बिना किसी अन्य दल की सहायता के संविधान में संशोधन की स्थिति में आ गई। सोमवार, दिनांक 14 जनवरी, 1980 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधान मन्त्री बनी। विश्व के इतिहास मे यह पहली घटना है कि चुनावों मे भीषण पराजय के सिर्फ पौने

तीन साल बाद किसी राजनेता ने इतने प्रचण्ड बहुमत से राष्ट्र के शासन की बाग-डोर अपने हाथों में ली हो। चुनावों में क्षेत्रीय दलों का सफाया हो गया। लोकदल 41 स्थान प्राप्त करके दूसरा बडा दल रहा, मार्क्सवादियों ने 35 स्थान प्राप्त किए और जनता पार्टी ने केवल 31 स्थान जीते।

भारतीय दलीय व्यवस्था की विशेषताएं
(मार्च, 1977 से पूर्व तक)

1. भारत में बहुदलीय व्यवस्था चलती रही और राष्ट्रीय, प्रादेशिक एवं स्थानीय स्तरों पर प्राय 80 से भी ऊपर दल रहे।

2. बहुदलीय व्यवस्था के बावजूद एकदलीय प्रधानता रही। 1967 से 1970 के समय को छोड़कर एकमात्र कांग्रेस ही भारतीय राजनीति पर छाई रही और प्रशासक दल बनी रही।

3. सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनाव ने भारतीय राजनीति में वह स्थिति पैदा की जिसे बहुदलीय पद्धति का स्वाभाविक परिणाम माना जा सकता है। लेकिन मिली-जुली तथा संविद सरकारें सफल नहीं हो सकी और सत्ता फिर कांग्रेस के हाथों में सरक गई।

4 एकदलीय प्रमुत्व व्यवस्था के बावजूद जून, 1975 में आपात्काल लादे जाने और इससे पूर्व के कुछ समय को छोड़कर, शासक दल, लोकतान्त्रिक संस्थाओं और परम्पराओं को आगे बढाता रहा।

5. सत्तारूढ दल में अन्त:दलीय गुटीय प्रतियोगिता बनी रही और विरोधी दल भी आन्तरिक फूट के शिकार बने रहे।

6. सन् 1977 के आम चुनावों से पूर्व विरोधी दलों का स्वरूप मुख्यतया दबाव समूहों जैसा रहा। सत्तारूढ़ दल के आन्तरिक विरोधों का लाभ उठाकर यदाकदा ही वे प्रभावशाली बनते रहे।

7. राजनीतिक दलों में विभाजन और ध्रुवीकरण चलता रहा।

8 अनेक राजनीतिक दल साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय दलों के रूप में गठित रहे, यथा—अकाली दल, द्रविड मुनेत्र कषघम, हिन्दू महासभा, मजलिस मुस्लिम, मुस्लिम लीग, परिगणित जाति संघ आदि।

9. अधिकांश राजनीतिक दलों में कार्यक्रम की अपेक्षा नेतृत्व को प्रमुखता दी जाती रही।

10. एक ही दल देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रायः अलग-अलग नीतियों का अनुसरण करता रहा अर्थात् दलों में समरूप नीति न अपनाने की प्रवृत्ति प्रबल रही।

11. दल बदल की प्रवृत्ति इतनी अधिक रही कि जिसका उदाहरण विश्व में अन्यत्र शायद ही देखने को मिले।

12. अनेक दल साम्प्रदायिक भावना और स्वार्थ से प्रेरित होकर राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण को विषाक्त बनाते रहे। राष्ट्रीय दलों के प्रान्तीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ती रही।

13. लोकसभा और राज्य विधान-सभाओं में निर्दलीय सदस्यों की संख्या बहुत अधिक रही। सन् 1971 के लोकसभायी चुनावों में निर्दलीय प्रत्याशियों ने 8·3 प्रतिशत मत प्राप्त किए और लगभग 30 निर्दलीय सदस्यों ने लोकसभा में स्थान जीत लिए। सन् 1972 में जिन 17 राज्यों की विधान-सभाओं के चुनाव हुए उनमें 2,722 स्थानों में से 230 स्थान निर्दलीय प्रत्याशियों ने प्राप्त किए। निर्दलीय सदस्य अवसरवादिता का परिचय देते हुए राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ाते रहे।

मार्च, 1977 के चुनावों के बाद से दिसम्बर, 1979 तक दलीय व्यवस्था की विशेषताएँ

मार्च, 1977 के आम चुनावों में विरोधी दलों ने पहली बार एक होकर सत्तारूढ़ कांग्रेस के विरुद्ध मोर्चा जमाया और द्विदलीय व्यवस्था जैसी स्थिति पैदा कर दी। ऐतिहासिक चुनावों के बाद में सन् 1978 के मध्य भारतीय दलीय व्यवस्था का जो चित्र उभर कर सामने आया उसके विशिष्ट बिन्दुओं को निम्नवत् रखा जा सकता है—

1 कांग्रेस के एकछत्र प्रभुत्व का अन्त हो गया और एक बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में जनता पार्टी का उदय हुआ।

2. कांग्रेस पहली बार एक शक्तिशाली विपक्ष के रूप में लोकसभा में और जनता के सामने आई।

3. मार्च, 1977 के चुनावों के बाद एक सगठित विरोधी दल के उदय की सम्भावना प्रबल हो गई थी, किन्तु 2 जनवरी, 1978 को कांग्रेस के पुनर्विभाजन ने इस सम्भावना को पुन: धक्का पहुँचाया।

4 राजनीतिक ध्रुवीकरण की दिशा में कुछ प्रगति हुई। राजनीतिक ध्रुवीकरण का आशय यह है कि देश की राजनीति मे दो ही प्रमुख राजनीतिक दल हों जो एक दूसरे का विकल्प बन सके। 1977 में लोकसभा के चुनावों की घोषणा के तुरन्त बाद कुछ दलों का विधिवत् जनता पार्टी मे विलय हुआ। 1978–79 में कांग्रेस (सगठन) और इन्दिरा कांग्रेस में पुनः एकता स्थापित होने सम्बन्धी वार्ताएँ चली और कुछ प्रगति भी हुई, तथापि अन्त में जाकर एकता-वार्ता बुरी तरह असफल हो गई। इस प्रकार 1977 का वर्ष जहाँ राजनीतिक ध्रुवीकरण की दिशा में प्रगति का वर्ष रहा वहाँ 1978 और 1979 पुन: इस दिशा में अवनति के वर्ष रहे।

5. 1977 के लोकसभाई चुनावों के पहले दलीय व्यवस्था में व्यक्तिपूजा का जोर था किन्तु अब सामूहिक नेतृत्व की प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी। इन्दिरा कांग्रेस में भी निरंकुश एकल नेतृत्व वाली बात नहीं रही।

6. प्रारम्भ में दल-बदल पर वैधानिक रोक के आसार स्पष्ट हो गए, लेकिन आगे चलकर यह आशा नष्ट हो गई और जुलाई, 1979 में दल-बदल की प्रवृत्ति ने पुनः इतना जोर पकड़ लिया कि राष्ट्रीय दलों की अखिल भारतीय तस्वीर ही बिगड़ गई।

7. दलों की आन्तरिक गुटबन्दी निरन्तर प्रबल होती गई, जनता पार्टी आपसी फूट की सबसे अधिक शिकार बनी।

8. साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बना रहा।

9. 1977 के लोकसभाई चुनावों में निर्दलीय सदस्यों की संख्या में भारी कमी हुई जो देश की दलीय व्यवस्था में एक स्वस्थ सुधार का संकेत था।

10. जनता पार्टी में आन्तरिक घटकवाद और पार्टी की शक्ति निरन्तर क्षीण होती चली गई। आजादी के तीस वर्षों के बाद बनी भारत की पहली गैर-कांग्रेस सरकार यद्यपि 'पूर्ण बहुमत प्राप्त जनता पार्टी की सरकार थी' तथापि इसके शासन के 843 दिनों को पार्टी के अन्तरविरोध, असन्तोष, टूटन और अवसरवादिता राजनीतिक चरित्र के लिए हमेशा याद किया जाएगा। 23 जून, 1979 को श्री राजनारायण ने जनता पार्टी छोड़ी और 9 जुलाई को पार्टी के कुछ सदस्यों ने सदन में जनता पार्टी से अलग बैठने की इच्छा व्यक्त की। वे अब समानान्तर जनता पार्टी के सदस्य थे—राजनारायण के नेतृत्व वाली जनता (सेक्यूलर)। उसके बाद के तीन दिनों में 70 से अधिक संसद् सदस्यों ने जनता पार्टी से रिश्ते तोड़ लिए और जनता सरकार का 15 जुलाई को पतन हो गया। राज्यों में भी जनता पार्टी के विभाजन की प्रक्रिया तेज हो गई।

11. 29 जुलाई, 1979 को जनता (एस) के नेता चौधरी चरणसिंह ने प्रधान मन्त्री पद की शपथ ली और कांग्रेस (संगठन) सत्ता का एक मुख्य भागीदार बना। दोनों दलों में भी मतभेद पैदा हो गए और जनवरी, 1980 के चुनावों के सन्दर्भ में उनका संयुक्त मोर्चा स्थापित नहीं हो सका। 26 सितम्बर, 1979 को जनता (एस), सोशलिस्ट पार्टी तथा उड़ीसा की जनता पार्टी को मिलाकर एक नए दल 'लोकदल' का निर्माण हुआ। इसके प्रथम अध्यक्ष चौधरी चरणसिंह और कार्यकारी अध्यक्ष श्री राजनारायण बने।

जनवरी, 1980 में पुनः एकदलीय प्रभुत्व की स्थापना

जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनाव परिणामों में देश में पुनः एकदलीय प्रभुत्व वाली व्यवस्था स्थापित कर दी गई। कांग्रेस (इ) को लोकसभा में 351 स्थान प्राप्त हुए हैं और ये स्थान 525 सीटों में से प्राप्त हुए हैं। 17 सीटों के लिए चुनाव होना अभी बाकी है जिनमें अभी कांग्रेस (इ) सम्भवतः अनेक स्थानों पर विजय प्राप्त करेगी। लोकसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 542 है। चुनाव परिणामों के फलस्वरूप अन्तिम दलीय स्थिति इस प्रकार रही है—

कुल सीटें	542	
सीटें (चुनाव हुआ)	525	
कांग्रेस (इ)	351	66.85 प्रतिशत मत
लोकदल	41	7.80 „
भाकपा (मार्क्सवादी)	35	6.66 „
जनता पार्टी	31	5.90 „

कांग्रेस (अर्स)	13	2·47 प्रतिशत मत
भाकपा (भारतीय क. पार्टी)	11	2·09 ,,
अन्य	40	7·61 ,,
निर्दलीय	3	0·57 ,,

(अन्य दलों में द्रमुक 16, अन्ना द्रमुक 2, अकाली दल 1, मुस्लिम लीग 3, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी 3, फार्वर्ड ब्लॉक 3, नेशनल कांफ्रेंस 3 भी शामिल हैं।)

वर्तमान समय में भारत के प्रमुख राजनीतिक दल

जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों के पूर्व, आम चुनाव 1980 की सन्दर्भ पुस्तिका के अनुसार, राष्ट्रीय दल निम्नलिखित थे—

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (अ)	कांग्रेस (अ)
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इ)	कांग्रेस (इ)
3. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी	भा. क. पा.
4. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)	भा. क. पा.
5. जनता पार्टी	जनता
6. जनता पार्टी (सेक्यूलर)	जनता (एस)

जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों के फलस्वरूप कांग्रेस (इ) ने प्रचण्ड बहुमत (दो-तिहाई) प्राप्त किया है। उसे 66·85 प्रतिशत मत प्राप्त हुए हैं। लोकदल ने 41 स्थान और 7·80 प्रतिशत मत प्राप्त करके राष्ट्रीय दल के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखा है। उल्लेखनीय है कि लोकदल को ही, चुनावों के सन्दर्भ में जनता(एस) के रूप में मान्यता प्राप्त थी। जनता पार्टी ने 31 स्थान और 5·90 प्रतिशत मत प्राप्त किए हैं जबकि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने 35 स्थान और 6·66 प्रतिशत मत हासिल किए हैं। कांग्रेस (अर्स) केवल 13 स्थान प्राप्त कर सकी और उसे केवल 2·47 प्रतिशत मत मिले हैं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी उससे भी नीचे रही है जिसे 11 स्थान और 2·09 प्रतिशत मत मिले हैं।

जनता पार्टी

जनता पार्टी का निर्माण

आपात् स्थिति के दौरान 18 जनवरी, 1977 को छठी लोकसभा का चुनाव कराने की आकस्मिक घोषणा की गई और 19 जनवरी को श्री जयप्रकाश नारायण ने आशा व्यक्त की कि नई स्थिति में विभिन्न विरोधी दल अपनी एक संगठित पार्टी बना कर चुनाव लड़ेंगे। राजनीति के जल में हलचल बढ़ी और 23 जनवरी, 1977 को 'जनता पार्टी' के निर्माण की घोषणा हो गई। 4 विरोधी दलों—संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, भारतीय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर नई पार्टी में विलय का निर्णय किया। 2 फरवरी, 1977 को जगजीवन राम, हेमवती नन्दन बहुगुणा, नन्दिनी सत्पथी तथा अनेक कांग्रेसी नेताओं ने दल में आन्तरिक लोकतन्त्र के हनन का आरो[illegible] हुए कांग्रेस से त्याग-पत्र दे

दिया। उन्होंने अपनी अलग लोकतन्त्री कांग्रेस के निर्माण की घोषणा की, परन्तु जल्दी ही यह बात स्पष्ट हो गई कि चुनाव के मोर्चे पर जनता पार्टी और लोकतन्त्री कांग्रेस के बीच न सिर्फ अपनी सहमति रहेगी, बल्कि वे दोनों एक ही चुनाव चिन्ह पर चुनाव लड़ेंगी।

जनता पार्टी ने 'चक्र हलधर' चुनाव चिन्ह पर चुनाव लड़ा और कांग्रेस को अपदस्थ कर दिया। कुल मतदान का 43·17 प्रतिशत उसने प्राप्त किया। यह प्रतिशत इससे भी ज्यादा रहता यदि दक्षिण भारत में भी जनता लहर जोर पकड़ जाती। 24 मार्च, 1977 को मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी ने सरकार बनाई। मई, 1977 के प्रथम सप्ताह में जनता पार्टी में उन दलों का विधिवत् विलय हो गया जिनसे मिलकर इस पार्टी का निर्माण हुआ था और 11 मई, 1977 को भारतीय निर्वाचन आयोग ने जनता पार्टी को एक राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता दे दी। इसके साथ ही आयोग ने पार्टी के लिए 'चक्र हलधर' चुनाव चिन्ह ही सुरक्षित कर दिया। इस मान्यता के साथ ही राष्ट्रीय दल के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और जनता पार्टी ही सर्वप्रथम रह गए।

नीति और कार्यक्रम (1977 का चुनाव घोषणा-पत्र)

दल के उपाध्यक्ष चौधरी चरणसिंह ने 13 फरवरी, 1977 को नई दिल्ली में पार्टी का चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया जिससे जनता पार्टी की नीति और कार्यक्रम का ज्ञान हुआ। घोषणा-पत्र के दो मुख्य आधार थे—अर्थ तन्त्र और प्रशासन का पूर्ण विकेन्द्रीयकरण। यह कहा गया कि भारत का प्रमुख उद्योग कृषि है, अतः इस क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाएगी। औद्योगिक क्षेत्र में भारी उद्योगों की तुलना में छोटे और ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाएगा। घोषणा-पत्र में 'राज्यों की स्वायत्तता' पुन: स्थापित करने का आश्वासन दिया गया। जनता को 'रोटी और स्वतन्त्रता गांधीवादी विकल्प' देने का वायदा किया गया।

राजनीतिक क्षेत्र में जनता पार्टी ने बारह सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की जिसकी मुख्य बातें ये थीं—आपात् स्थिति हटाली जाएगी, मौलिक अधिकारों के निलम्बन के आदेश वापिस लिए जाएँगे, सभी राजनीतिक बन्दियों को मुक्त किया जाएगा, 42वें संविधान संशोधन को रद्द किया जाएगा, किसी व्यक्ति या गुट के विरुद्ध अनुचित रूप से इस्तेमाल को रोकने के लिए अनुच्छेद 356 को संशोधित कि । जाएगा, अनुच्छेद 352 का ऐसा संशोधन होगा कि सत्तारूढ़ दल अपने स्वार्थ के लिए राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की व्यवस्था का दुरुपयोग न करें, मताधिकार की आयु 18 वर्ष कर दी जाएगी, चुनाव-नियमों में तारकुण्डे समिति और अन्य विशेषज्ञों की सिफारिशों के आधार पर सुधार किए जाएँगे, कानून का शासन स्थापित किया जाएगा, पत्र-पत्रिकाओं से सेन्सर हटा लिया जाएगा, संविधान के मौलिक अधिकारों की सूची में से सम्पत्ति के अधिकार को निकाल कर काम के अधिकार को जोड़ा जाएगा, ऐसी व्यवस्था की जाएगी कि सरकारी कर्मचारियों को गैर-कानूनी आदेश मानने के लिए बाध्य न किया जा सके।

आर्थिक क्षेत्र में जनता पार्टी ने 13 सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की, जिसकी मुख्य बातें ये थी—व्यक्तिगत सम्पत्ति के मौलिक अधिकार का अन्त और काम के अधिकार का समर्थन, कृषि तथा कुटीर एवं छोटे उद्योगों को प्राथमिकता, गाँधीवादी आस्था के अनुसार अर्थ-व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण, ऐसी आर्थिक नीति और आयोजन को अपनाना कि सभी व्यक्तियों को पूर्ण रोजगार की प्राप्ति हो, उत्पादकता के अनुपात में मजदूर को लाभ, न्यूनतम आय मे वृद्धि, दस साल मे गरीबी की समाप्ति, शहर और गाँवों की आर्थिक विषमताओं मे कमी, आवश्यक वस्तुओं का विशाल पैमाने पर उत्पादन, दस हजार वार्षिक आमदनी पर आय-कर की छूट, ढाई एकड तक की जोत पर लगान माफ, जल तथा ऊर्जा के प्रसग मे राष्ट्र व्यापी नीति तथा वातावरण को शुद्ध रखने का कार्यक्रम।

सामाजिक क्षेत्र मे जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र की मुख्य बातें थीं—शिक्षा में सुधार और बारह वर्ष के भीतर सभी बच्चों की माध्यमिक निरक्षरता की समाप्ति, सभी के लिए पीने योग्य पानी की व्यवस्था, राष्ट्रव्यापी स्वास्थ्य व्यवस्था और स्वास्थ्य सम्बन्धी बीमा, ग्राम विकास का नया आन्दोलन, कम मूल्य के मकान और सार्वजनिक आवास व्यवस्था, शहरीकरण के सम्बन्ध मे एक नई नीति, सामाजिक न्याय की एक व्यापक योजना, बिना जोर-जबरदस्ती के परिवार नियोजन, औरतों के अधिकारों तथा युवको के लिए कल्याण कार्यक्रम, गरीबो के लिए कानूनी सहायता और कम खर्चीली न्याय-व्यवस्था, जनता की पहल और स्वयंसेवी प्रवृत्ति का विकास।

जनता पार्टी ने अपने चुनावी वायदों के अनुरूप आपात् स्थिति को समाप्त किया, नागरिक स्वतन्त्रताओ को बहाल किया, 42वें सविधान सशोधन के आपत्तिजनक प्रावधानों को सुधारा, पत्र-पत्रिकाओ से सेन्सर हटा दिया और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कदम उठाए। लेकिन धीरे-धीरे जनता पार्टी का आन्तरिक घटकवाद जोर पकडता गया और यह राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक कार्यक्रमो पर अपनी पकड खोने लगी। जनता पार्टी का विग्रह उसे विघटन की दिशा मे खीचता गया और फलस्वरूप जुलाई, 1979 मे यह पार्टी विभाजित हो गई और सत्ता से हाथ धो बैठी।

जनता पार्टी का विभाजन और जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों के सम्बन्ध में चुनाव घोषणा-पत्र

जनता पार्टी निरन्तर आपसी फूट की शिकार रही। चौधरी चरणसिंह तथा मोरारजी देसाई मे कभी बन नही सकी। चरणसिंह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से हटे और उस में पुन: शामिल हुए और प्रधान मन्त्री की कुर्सी के लिए लड़ाई चलती रही। 11 मार्च, 1979 को श्री राजनारायण ने सकेत दिया कि वे समानान्तर जनता पार्टी बनाएँगे। मई मे जनता पार्टी की अनुशासन समिति ने राजनारायण को पार्टी की कार्य समिति से बरखास्त कर दिया। 23 जून को राजनारायण ने जनता पार्टी छोड़ दी और 9 जुलाई को कुछ सदस्यो के साथ जनता (सेक्यूलर) का गठन किया। उसके बाद तीन दिनो में ही सत्तर से अधिक ससद् सदस्यों ने जनता पार्टी

से नाता तोड़ लिया और फलस्वरूप 15 जुलाई, 1979 को जनता सरकार का पतन हो गया। 29 जुलाई, 1979 को जनता (एस) तथा कांग्रेस (संगठन) ने चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में मिली-जुली सरकार गठित की। 20 अगस्त, 1979 को चौधरी चरणसिंह ने प्रधान मन्त्री पद से त्याग-पत्र देते हुए मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश राष्ट्रपति को की जिसे 22 अगस्त, 1979 को स्वीकार कर लिया गया और चुनावों तक श्री चरणसिंह की कामचलाऊ सरकार द्वारा कार्य सम्भालने की व्यवस्था की गई। जनता पार्टी को इस बात पर बड़ा क्षोभ हुआ कि जनता संसदीय दल के नेता श्री जगजीवनराम को सरकार बनाने का मौका नहीं दिया गया।

30 नवम्बर, 1979 को श्री जगजीवनराम ने नई दिल्ली में जनता पार्टी का चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(1) सत्ता में आने पर जनता पार्टी समाजवादी समाज की स्थापना के लिए पूरे जोर-शोर से कार्य करेगी।

(2) गाँवों के समन्वित विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाएगी। कुल योजना व्यय का 45 प्रतिशत भाग समन्वित विकास कार्यक्रमों पर खर्च किया जाएगा।

(3) बेरोजगार स्नातकों को भत्ता दिया जाएगा। हर परिवार के कम से कम एक व्यक्ति को रोजगार दिया जाएगा। गाँव में फालतू भूमि को पाँच साल के भीतर ही भूमिहीनों में बाँट दिया जाएगा।

(4) कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन के मूल्य में समता लाई जाएगी। ग्रामीण रोजगार योजना का विस्तार किया जाएगा।

(5) ऐसा समाजवाद लाने का प्रयत्न किया जाएगा जिसमें निर्धनतम व्यक्तियों को ज्यादा से ज्यादा लाभ हो।

(6) अल्पसंख्यकों तथा पिछड़े वर्ग को विकास के लाभ में उचित भाग प्रदान किया जाएगा। सार्वजनिक क्षेत्र को महत्त्व दिया जाएगा।

(7) दल-बदल पर रोक के लिए कानून बनाया जाएगा।

(8) संविधान और कानून में ऐसा संशोधन किया जाएगा जिसे राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, अन्य उच्चाधिकारियों अथवा कामचलाऊ सरकार लोकतन्त्री परम्परा को तोड़ कर सत्ता का दुरुपयोग न कर पाएँ।

(9) समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता को संरक्षण देने के लिए संविधान में संशोधन किया जाएगा।

(10) सम्पत्ति में महिलाओं के स्वामित्व, अधिकार और उत्तराधिकार के अधिकार की रक्षा की जाएगी। दहेज-विरोधी कानूनों को कड़ाई के साथ लागू किया जाएगा।

(11) वक्फ कानूनों को जनतान्त्रिक और सुदृढ़ बनाया जाएगा, .. वक्फ-सम्पत्ति की रक्षा हो।

(12) हरिजन आदिवासियों की आर्थिक दशा सुधारने के स. . ..।

बराबरी का दर्जा दिलाने का प्रयत्न किया जाएगा। अस्पृश्यता कानून प्रभावी ढंग से लागू किया जाएगा।

(13) जब तक सभी राज्य सर्वसम्मति से अंग्रेजी को हटाने के लिए सहमत नही हो जाते तब तक अंग्रेजी अतिरिक्त सरकारी कामकाज की भाषा बनी रहेगी।

(14) अलीगढ़ विश्वविद्यालय के मुस्लिम स्वरूप को बनाए रखने के लिए ठोस कानूनी उपाय किया जाएगा। धर्म-स्वतन्त्रता के अधिकार की रक्षा की जाएगी।

(15) अन्त्योदय कार्यक्रम को सभी पांच लाख गांवों मे और 125 लाख निर्धनतम परिवारों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाएगा।

(16) पांच वर्षों मे खुद-काश्त मे लगे पट्टेदारों और बटाईदारो को, उस भूमि पर स्वामित्व का अधिकार दिया जाएगा।

(17) गुट-निरपेक्षता की नीति की रक्षा की जाएगी और सभी देशों से—विशेषकर पड़ौसी देशों से मैत्री सम्बन्ध कायम रखे जाएँगे।

(18) बोनस कानून की असंगतियो को दूर किया जाएगा।

जनवरी, 1980 के चुनाव परिणाम और जनता पार्टी

जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावो मे जनता पार्टी ने मतदाताओं के हाथ बुरी मार खाई। 525 घोषित परिणामों मे से जनता पार्टी ने कांग्रेस (इ) के 351 के मुकाबले केवल 31 स्थान प्राप्त किए और उसके पक्ष मे कांग्रेस (इ) के 66 85 प्रतिशत के मुकाबले केवल 5 90 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। जनता पार्टी की अनेक तोपें लुढक गईं। जनता पार्टी ने आपसी फूट और सत्ता के लिए कुर्सी की छीना-झपटी से ग्रस्त होकर मतदाताओं का यह विश्वास खो दिया जो कि उसने मार्च, 1977 में प्राप्त किया था। तथापि जनता पार्टी के नेता श्री जगजीवनराम ने यह विश्वास प्रकट किया कि उनकी पार्टी लोकतन्त्र की रक्षा के लिए सतत् सचेष्ट रहेगी और जनता को पुनः अपने विश्वास मे लेगी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

कांग्रेस का संगठन

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की यह भी एक विशेषता है कि जहाँ शासन का ढाँचा संघात्मक है वहाँ राजनीतिक दलो का ढाँचा एकात्मक। कांग्रेस की सभी इकाइयाँ, स्थानीय से लेकर राष्ट्रीय तक, हाई कमान के सर्वोच्च नेतृत्व के अधीन है। ग्राम या मुहल्ला कांग्रेस कमेटी कांग्रेस संगठन की आधारभूत इकाई (Basic Unit) है जिसके ऊपर तहसील या तालुका समितियाँ, उन पर जिला समितियाँ और उनके भी ऊपर प्रदेश या प्रान्तीय कांग्रेस समितियाँ होती है। प्रदेश या प्रान्तीय कांग्रेस समिति के अन्तर्गत प्रत्येक प्रान्त मे जिला और मध्यम समितियाँ होती है जिनका क्षेत्र प्रदेश कांग्रेस समिति निर्धारित करती है। प्रान्तीय कांग्रेस समितियों के ऊपर कांग्रेस का राष्ट्रीय अथवा अखिल भारतीय संगठन होता है जो एक अध्यक्ष, एक कार्यकारिणी

समिति, एक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और कांग्रेस के खुले वार्षिक अधिवेशन से मिलकर बना है। कार्यकारिणी समिति दल की सर्वोच्च कार्यपालिका अंग है जिसमे कांग्रेस अध्यक्ष के अतिरिक्त 20 और सदस्य अर्थात् कुल 21 सदस्य होते हैं। इनमें प्रधान मन्त्री सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और प्रधान मन्त्री के प्रमुख साथी ही केन्द्रीय सरकार के महत्त्वपूर्ण विभागो को सम्भाले हुए हैं और दल की सर्वोच्च संस्था मे अपना विशिष्ठ स्थान रखते है। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति (Congress Working Committee) वास्तव में न केवल कांग्रेस की कार्यकारिणी है बल्कि एक छाया मन्त्रिमण्डल (A Shadow Cabinet) है जिसके पास नियमित मन्त्रिमण्डल (The Regular Cabinet) की तुलना मे अधिक वास्तविक शक्ति और प्रभाव है। कार्यकारिणी समिति में प्रधान मन्त्री का इतना महत्वपूर्ण स्थान होता है कि पण्डित नेहरू के समय कहा जाता था कि "वह अनेक टोप धारण करता है और अनेक सीटो पर बैठता है, लेकिन चाहे जो भी टोप धारण करे या चाहे किसी सीट पर वह बैठे, वह भारत का सर्वोच्च निर्णयकर्त्ता है।" यही बात श्रीमती गाँधी जैसी शक्तिशाली प्रधान मन्त्री और नेता पर लागू होती है। कांग्रेस वकिंग समिति ही वस्तुतः निर्णयकारी संस्था है, प्रमुख नीति-निर्माता और दल का हृदय है। यद्यपि दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी मे विपुल शक्तियाँ सन्निहित है, तथापि राज्य के दलीय प्रमुख भी कुछ तरीको से अपना प्रभाव जमा लेते है।

कांग्रेस के संसदीय कार्यों के नियन्त्रण और समन्वय के लिए कांग्रेस कार्यकारिणी समिति एक संसदीय बोर्ड (Parliamentary Board) की स्थापना करती है जिसमें कांग्रेस अध्यक्ष तथा पांच अन्य सदस्य रहते है। इसके अतिरिक्त संसदीय बोर्ड के सदस्यो और अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के द्वारा चुने गए सदस्यों को मिलाकर एक केन्द्रीय निर्वाचन समिति का भी गठन किया गया है जो देश मे केन्द्र और राज्यो की विधान-सभाओ का चुनाव लड़ने के लिए योग्य प्रत्याशियों की छँटनी के बारे मे अपना अन्तिम निर्णय देती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सन् 1885 मे जिस राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई वह दिसम्बर, 1969 में विभाजन से पूर्व तक भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर सबसे बड़ी शक्ति के रूप में काम करती रही। पर कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं और आन्तरिक गुटों मे मतभेद भी बढ़ते रहे और दिसम्बर, 1969 मे वह दो धड़ों मे विभाजित हो गई—संगठन कांग्रेस तथा सत्ता कांग्रेस या इन्दिरा कांग्रेस। जैसा कि हम दलीय विकास के सन्दर्भ मे देख चुके हैं, इन्दिरा कांग्रेस ने तेजी से लोकप्रियता हासिल की और 1971 के मध्यावधि चुनावों मे तो उसने लोकसभा की 518 मे से 350 सीटें जीत कर अपना प्रचण्ड बहुमत स्थापित कर लिया। पिछले चुनावों में स्थिति इस प्रकार रही थी—1952 मे 489 मे से 157 सीटें, 1957 मे 494 मे से 371 सीटें, 1962 मे 494 मे से 361 सीटें, 1967 मे 523 मे से 283 सीटे। वोट प्रतिशत इस प्रकार रहा—1952 मे 45, 1967 में 43 48 1962 मे 43·61 1967 मे 40·

1971 में 40.64। लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस के मतदाताओं का बहुमत यद्यपि किसी चुनाव में प्राप्त नहीं हुआ तथापि सीटों की बहुसंख्या बराबर मिलती रही। 1952 के राज्य विधान-सभाओं के चुनावों में भी कांग्रेस ने फिर अपनी प्रधानता स्थापित कर ली। 26 जून, 1975 को आपात् उद्घोषणा और फिर प्रधान मन्त्री श्रीमती गांधी के 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के विन्यास के बाद कांग्रेस दल तेजी से निरंकुशता के मार्ग पर बढ़ता गया। लोकसभा के चुनाव, जो मार्च, 1976 में होने थे, एक वर्ष के लिए आगे सरका दिए गए।

1977 में श्रीमती गांधी ने एकाएक ही लोकसभाई चुनाव कराने की घोषणा कर दी। श्रीमती गांधी को यह विश्वास था कि विरोधी दल इतने कुचले जा चुके हैं और जनता भी इतनी भयाक्रान्त है कि कांग्रेस की एकाधिकारी स्थिति पर कोई आंच नहीं आएगी।

मार्च, 1977 के आम चुनाव का कांग्रेसी घोषणा-पत्र

8 फरवरी, 1977 को श्रीमती गांधी ने कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र जारी कर दिया जिसके कुछ प्रमुख बिन्दु इस प्रकार थे—

1. कांग्रेस की 1971 के बाद की उपलब्धियों का गुणगान करते हुए यह दावा किया गया कि चुनाव में किए गए सभी वायदों को कांग्रेस ने पूरा किया है।

2. गरीबी हटाने का सम्बन्ध जनसंख्या-वृद्धि से है। विकास कार्यों को जनसंख्या-वृद्धि द्वारा समाप्त हो जाने देना उचित नहीं होगा, मगर कांग्रेस स्पष्ट रूप से यह कहना चाहती है कि परिवार नियोजन आन्दोलन स्वेच्छा से चलाया जाने वाला आन्दोलन होगा।

3. हरिजनों के हितों के लिए विशेष कदम उठाए गए है। उन्हें जमीन, होस्टल सुविधाएँ, पीने का पानी, कर्जा और कानूनी सहायता प्रदान की गई है। इसी प्रकार के विशेष कार्यक्रम अनुसूचित जनजातियों के बारे में भी जारी किए गए हैं। कांग्रेस स्त्रियों को जीवन के हर क्षेत्र में समान अवसर देने के लिए प्रतिबद्ध है। युवक राष्ट्र की बहुत बड़ी शक्ति है। कांग्रेस के कार्यक्रमों में युवकों को राष्ट्र के विकास कार्यों में खींच लिया गया है। यह दल ऐसे प्रगतिशील समाज में विश्वास करता है जिसमें युवकों की क्षमता का सही इस्तेमाल होता रहे। कांग्रेस अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए वचनबद्ध है।

4. कांग्रेस उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देगी ताकि भारत शीघ्रता से प्रगतिशील देशों की श्रेणी में अपना स्थान प्राप्त करे।

5. मजदूर वर्ग के हितों की रक्षा के लिए कांग्रेस सभी कदम उठाएगी। मजदूरों को उचित आवास देने के लिए कांग्रेस एक राष्ट्रीय आवास कोष शुरू करेगी जिसमें मालिक और मजदूर दोनों हिस्सा लेंगे।

6. कांग्रेस की यह नीति है कि भूमि सुधार इस प्रकार हो कि अन्त में जमीन पर किसान का स्वामित्व हो। स्वामित्व के अतिरिक्त छोटे किसान को अपने खेत से अधिकतम उत्पादन प्राप्त हो, इसके लिए कृषि और ग्रामीण ऋण व्यवस्था को अधिक सरल किया जाएगा।

7. कांग्रेस यह कोशिश करेगी कि विकास का लाभ गाँवों के निम्न स्तर पर पहुँचे। शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा की सुविधाओं के विकास और समाज कल्याण के कार्यक्रमों से आम आदमी की जिन्दगी को बेहतर बनाने की कोशिश की जाएगी।

8. संविधान के 42वें संशोधन का उद्देश्य आर्थिक और राजनीतिक निहित स्वार्थों द्वारा पैदा की गई बाधाओं को दूर करना है। संशोधन ने संविधान के निर्देशात्मक सिद्धान्तों को प्रमुखता दी है। मौलिक अधिकारों का महत्व कम करने के लिए नहीं अपितु व्यापक सामाजिक और राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता प्रदान करने के लिए है;

9 विदेश सम्बन्धों के क्षेत्र में कांग्रेस गुट निरपेक्षता की नीति को जारी रखेगी। कांग्रेस नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग करती है। अमीर और गरीब देशों के बीच बहुत बड़ी खाई को भरना जरूरी है।

10. अन्त में घोषणा-पत्र में यह बताया गया कि कांग्रेस का लक्ष्य गरीबी हटाना, असमानता और अन्याय को दूर करना, चुनाव का उद्देश्य केन्द्र में शक्तिशाली सरकार स्थापित करना होना चाहिए जिससे भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा हो।

भारतीय मतदाताओं ने कांग्रेस और उसके चुनावी घोषणा-पत्र को लगभग ठुकरा दिया। उत्तरी भारत में तो कांग्रेस का सफाया ही हो गया। पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा ने कांग्रेस तथा उससे सम्बन्धित उम्मीदवारों को जनता ने पूर्ण या अधिकांशत: अस्वीकार कर दिया। दक्षिण भारत में कांग्रेस ने अपने पैर जमाए रखे। सारे भारत में कांग्रेस ने न केवल 34·54 प्रतिशत वोट प्राप्त किए जो कांग्रेस के अब तक के इतिहास में सबसे कम थे। जून, 1977 में जो विधान-सभाई चुनाव हुए उनमें भी कांग्रेस को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल की विधान-सभाओं के कुल 2219 स्थानों में से कांग्रेस ने केवल 329 स्थान प्राप्त किए जबकि जनता पार्टी को 1246 स्थान मिले और शेष अन्य दलों में विभाजित हो गए।

कांग्रेस का पुन: विभाजन (2 जनवरी 1978) और इन्दिरा कांग्रेस की स्थापना

मार्च और जून, 1977 की घोर पराजय से भी कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं ने कोई सबक नहीं लिया और उनमें आन्तरिक मतभेद प्रखर होते गए। 2 जनवरी, 1978 को लगभग आठ वर्ष बाद, कांग्रेस का दूसरी बार विभाजन श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में दिल्ली में विट्ठल भाई पटेल भवन के प्रांगण में उसी स्थान पर हुआ जहाँ पहले 1969 में हुआ था। अब दो कांग्रेस अस्तित्व में आ गई–ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस। पुरानी कांग्रेस के अधिकांश नेता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ही बने रहे। इन नेताओं और राजनीति में रुचि रखने वाले एक बहुत बड़े वर्ग का यही विचार रहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही जनता

1971 में 40 64 । लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस के मतदाताओं का बहुमत यद्यपि किसी चुनाव में प्राप्त नहीं हुआ तथापि सीटों की बहुसंख्या बराबर मिलती रही। 1952 के राज्य विधान-सभाओं के चुनावों मे भी कांग्रेस ने फिर अपनी प्रधानता स्थापित कर ली । 26 जून, 1975 को आपात् उद्घोषणा और फिर प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी के 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के विन्यास के बाद कांग्रेस दल तेजी से निरकुशता के मार्ग पर बढता गया । लोकसभा के चुनाव, जो मार्च, 1976 में होने थे, एक वर्ष के लिए आगे सरका दिए गए ।

1977 मे श्रीमती गाँधी ने एकाएक ही लोकसभाई चुनाव कराने की घोषणा कर दी । श्रीमती गांधी को यह विश्वास था कि विरोधी दल इतने कुचले जा चुके है और जनता भी इतनी भयाक्रान्त है कि कांग्रेस की एकाधिकारी स्थिति पर कोई आंच नही आएगी ।

मार्च, 1977 के आम चुनाव का कांग्रेसी घोषणा-पत्र

8 फरवरी, 1977 को श्रीमती गाँधी ने कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र जारी कर दिया जिसके कुछ प्रमुख बिन्दु इस प्रकार थे—

1. कांग्रेस की 1971 के बाद की उपलब्धियो का गुणगान करते हुए यह दावा किया गया कि चुनाव मे किए गए सभी वायदों को कांग्रेस ने पूरा किया है ।

2. गरीबी हटाने का सम्बन्ध जनसंख्या-वृद्धि से है । विकास कार्यों को जनसंख्या-वृद्धि द्वारा समाप्त हो जाने देना उचित नही होगा, मगर कांग्रेस स्पष्ट रूप से यह कहना चाहती है कि परिवार नियोजन आन्दोलन स्वेच्छा से चलाया जाने वाला आन्दोलन होगा ।

3. हरिजनों के हितो के लिए विशेष कदम उठाए गए है । उन्हें जमीन, होस्टल सुविधाएँ, पीने का पानी, कर्जा और कानूनी सहायता प्रदान की गई है । इसी प्रकार के विशेष कार्यक्रम अनुसूचित जनजातियो के बारे मे भी जारी किए गए है । कांग्रेस स्त्रियों को जीवन के हर क्षेत्र मे समान अवसर देने के लिए प्रतिबद्ध है । युवक राष्ट्र की बहुत बडी शक्ति है । कांग्रेस के कार्यक्रमो मे युवको को राष्ट्र के विकास कार्यों में खींच दिया गया है । यह दल ऐसे प्रगतिशील समाज मे विश्वास करता है जिसमे युवको की क्षमता का सही इस्तेमाल होता रहे । कांग्रेस अल्पसख्यको के अधिकारो की रक्षा करने के लिए वचनबद्ध है ।

4. कांग्रेस उद्योगो के विकास को प्राथमिकता देगी ताकि भारत शीघ्रता से प्रगतिशील देशों की श्रेणी मे अपना स्थान प्राप्त करे ।

5. मजदूर वर्ग के हितों की रक्षा के लिए कांग्रेस सभी कदम उठाएगी । मजदूरो को उचित आवास देने के लिए कांग्रेस एक राष्ट्रीय आवास कोष शुरू करेगी जिसमें मालिक और मजदूर दोनों हिस्सा लेंगे ।

6. कांग्रेस की यह नीति है कि भूमि सुधार इस प्रकार हो कि अन्त मे जमीन पर किसान का स्वामित्व हो । स्वामित्व के अतिरिक्त छोटे किसान को अपने खेत से अधिकतम उत्पादन प्राप्त हो, इसके लिए कृषि और ग्रामीण ऋण व्यवस्था को सशक्त किया जाएगा ।

7. कांग्रेस यह कोशिश करेगी कि विकास का लाभ गाँवों के निम्न स्तर पर पहुँचे। शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा की सुविधाओं के विकास और समाज कल्याण के कार्यक्रमों से आम आदमी की जिन्दगी को बेहतर बनाने की कोशिश की जाएगी।

8. संविधान के 42वें संशोधन का उद्देश्य आर्थिक और राजनीतिक निहित स्वार्थों द्वारा पैदा की गई बाधाओं को दूर करना है। संशोधन ने संविधान के निर्देशात्मक सिद्धान्तों को प्रमुखता दी है। मौलिक अधिकारों का महत्व कम करने के लिए नहीं अपितु व्यापक सामाजिक और राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता प्रदान करने के लिए है;

9 विदेश सम्बन्धों के क्षेत्र में कांग्रेस गुट निरपेक्षता की नीति को जारी रखेगी। कांग्रेस नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग करती है। अमीर और गरीब देशों के बीच बहुत बड़ी खाई को भरना जरूरी है।

10. अन्त में घोषणा-पत्र में यह बताया गया कि कांग्रेस का लक्ष्य गरीबी हटाना, असमानता और अन्याय को दूर करना, चुनाव का उद्देश्य केन्द्र में शक्तिशाली सरकार स्थापित करना होना चाहिए जिसमें भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा हो।

भारतीय मतदाताओं ने कांग्रेस और उसके चुनावी घोषणा-पत्र को लगभग ठुकरा दिया। उत्तरी भारत में तो कांग्रेस का सफाया ही हो गया। पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा ने कांग्रेस तथा उससे सम्बन्धित उम्मीदवारों को जनता ने पूर्ण या अधिकांशतः अस्वीकार कर दिया। दक्षिण भारत में कांग्रेस ने अपने पैर जमाए रखे। सारे भारत में कांग्रेस ने न केवल 34·54 प्रतिशत वोट प्राप्त किए जो कांग्रेस के अब तक के इतिहास में सबसे कम थे। जून, 1977 में जो विधान-सभाई चुनाव हुए उनमें भी कांग्रेस को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल की विधान-सभाओं के कुल 2219 स्थानों में से कांग्रेस ने केवल 329 स्थान प्राप्त किए जबकि जनता पार्टी को 1246 स्थान मिले और शेष अन्य दलों में विभाजित हो गए।

कांग्रेस का पुनः विभाजन (2 जनवरी 1978) और इन्दिरा कांग्रेस की स्थापना

मार्च और जून, 1977 की घोर पराजय से भी कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं ने कोई सबक नहीं लिया और उनमें आन्तरिक मतभेद प्रखर होते गए। 2 जनवरी, 1978 को लगभग आठ वर्ष बाद, कांग्रेस का दूसरी बार विभाजन श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में दिल्ली में विट्ठल भाई पटेल भवन के प्रांगण में उसी स्थान पर हुआ जहाँ पहले 1969 में हुआ था। अब दो कांग्रेस अस्तित्व में आ गई—ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस। पुरानी कांग्रेस के अधिकांश नेता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ही बने रहे। इन नेताओं और राजनीति में रुचि रखने वाले एक बहुत बड़े वर्ग का यही विचार रहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही जनता

1971 में 40.64। लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस के मतदाताओं का बहुमत यद्यपि किसी चुनाव में प्राप्त नहीं हुआ तथापि सीटों की बहुसंख्या बराबर मिलती रही। 1952 के राज्य विधान-सभाओं के चुनावों में भी कांग्रेस ने फिर अपनी प्रधानता स्थापित कर ली। 26 जून, 1975 को आपात् उद्घोषणा और फिर प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी के 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के विन्यास के बाद कांग्रेस दल तेजी से निरंकुशता के मार्ग पर बढ़ता गया। लोकसभा के चुनाव, जो मार्च, 1976 में होने थे, एक वर्ष के लिए आगे सरका दिए गए।

1977 में श्रीमती गाँधी ने एकाएक ही लोकसभाई चुनाव कराने की घोषणा कर दी। श्रीमती गाँधी को यह विश्वास था कि विरोधी दल इतने कुचले जा चुके है और जनता भी इतनी भयाक्रान्त है कि कांग्रेस की एकाधिकारी स्थिति पर कोई आँच नहीं आएगी।

मार्च, 1977 के आम चुनाव का काँग्रेसी घोषणा-पत्र

8 फरवरी, 1977 को श्रीमती गाँधी ने कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र जारी कर दिया जिसके कुछ प्रमुख बिन्दु इस प्रकार थे—

1. कांग्रेस की 1971 के बाद की उपलब्धियों का गुणगान करते हुए यह दावा किया गया कि चुनाव में किए गए सभी वायदों को कांग्रेस ने पूरा किया है।

2. गरीबी हटाने का सम्बन्ध जनसंख्या-वृद्धि से है। विकास कार्यों को जनसंख्या-वृद्धि द्वारा समाप्त हो जाने देना उचित नहीं होगा, मगर कांग्रेस स्पष्ट रूप से यह कहना चाहती है कि परिवार नियोजन आन्दोलन स्वेच्छा से चलाया जाने वाला आन्दोलन होगा।

3. हरिजनों के हितों के लिए विशेष कदम उठाए गए है। उन्हें जमीन, होस्टल सुविधाएँ, पीने का पानी, कर्जा और कानूनी सहायता प्रदान की गई है। इसी प्रकार के विशेष कार्यक्रम अनुसूचित जनजातियों के बारे में भी जारी किए गए हैं। कांग्रेस स्त्रियों को जीवन के हर क्षेत्र में समान अवसर देने के लिए प्रतिबद्ध है। युवक राष्ट्र की बहुत बड़ी शक्ति है। कांग्रेस के कार्यक्रमों में युवकों को राष्ट्र के विकास कार्यों में खींच दिया गया है। यह दल ऐसे प्रगतिशील समाज में विश्वास करता है जिसमें युवकों की क्षमता का सही इस्तेमाल होता रहे। कांग्रेस अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए वचनबद्ध है।

4. कांग्रेस उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देगी ताकि भारत शीघ्रता से प्रगतिशील देशों की श्रेणी में अपना स्थान प्राप्त करे।

5. मजदूर वर्ग के हितों की रक्षा के लिए कांग्रेस सभी कदम उठाएगी। मजदूरों को उचित आवास देने के लिए कांग्रेस एक राष्ट्रीय आवास कोष शुरू करेगी जिसमें मालिक और मजदूर दोनों हिस्सा लेंगे।

6. कांग्रेस की यह नीति है कि भूमि सुधार इस प्रकार हों कि अन्त में जमीन पर किसान का स्वामित्व हो। स्वामित्व के अतिरिक्त छोटे किसान को अपने खेत से अधिकतम उत्पादन प्राप्त हो, इसके लिए कृषि और ग्रामीण ऋण व्यवस्था को अधिक सरल किया जाएगा।

7. कांग्रेस यह कोशिश करेगी कि विकास का लाभ गाँवों के निम्न स्तर पर पहुँचे। शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा की सुविधाओं के विकास और समाज कल्याण के कार्यक्रमों से आम आदमी की जिन्दगी को बेहतर बनाने की कोशिश की जाएगी।

8 संविधान के 42वें संशोधन का उद्देश्य आर्थिक और राजनीतिक निहित स्वार्थों द्वारा पैदा की गई बाधाओं को दूर करना है। संशोधन ने संविधान के निर्देशात्मक सिद्धान्तो को प्रमुखता दी है। मौलिक अधिकारो का महत्त्व कम करने के लिए नही अपितु व्यापक सामाजिक और राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता प्रदान करने के लिए है.

9 विदेश सम्बन्धो के क्षेत्र में कांग्रेस गुट निरपेक्षता की नीति को जारी रखेगी। कांग्रेस नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग करती है। अमीर और गरीब देशों के बीच बहुत बडी खाई को भरना जरूरी है।

10. अन्त मे घोषणा-पत्र में यह बताया गया कि कांग्रेस का लक्ष्य गरीबी हटाना, असमानता और अन्याय को दूर करना, चुनाव का उद्देश्य केन्द्र में शक्तिशाली सरकार स्थापित करना होना चाहिए जिससे भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा हो।

भारतीय मतदाताओ ने कांग्रेस और उसके चुनावी घोषणा-पत्र को लगभग ठुकरा दिया। उत्तरी भारत मे तो कांग्रेस का सफाया ही हो गया। पजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उडीसा ने कांग्रेस तथा उससे सम्बन्धित उम्मीदवारो को जनता ने पूर्ण या अधिकांशतः अस्वीकार कर दिया। दक्षिण भारत में कांग्रेस ने अपने पैर जमाए रखे। सारे भारत मे कांग्रेस ने न केवल 34 54 प्रतिशत वोट प्राप्त किए जो कांग्रेस के अब तक के इतिहास मे सबसे कम थे। जून, 1977 मे जो विधान-सभाई चुनाव हुए उनमे भी कांग्रेस को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल की विधान-सभाओ के कुल 2219 स्थानो मे से कांग्रेस ने केवल 329 स्थान प्राप्त किए जबकि जनता पार्टी को 1246 स्थान मिले और शेष अन्य दलों मे विभाजित हो गए।

कांग्रेस का पुनः विभाजन (2 जनवरी 1978) और इन्दिरा कांग्रेस की स्थापना

मार्च और जून, 1977 की घोर पराजय से भी कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओ ने कोई सबक नही लिया और उनमे आन्तरिक मतभेद प्रखर होते गए। 2 जनवरी, 1978 को लगभग आठ वर्ष बाद, कांग्रेस का दूसरी बार विभाजन श्रीमती गांधी के नेतृत्व में दिल्ली मे विट्ठल भाई पटेल भवन के प्रांगण मे उसी स्थान पर हुआ जहाँ पहले 1969 में हुआ था। अब दो कांग्रेस अस्तित्व मे आ गई–ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस। पुरानी कांग्रेस के अधिकांश नेता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मे ही बने रहे। इन नेताओ और राजनीति में रुचि रखने वाले एक बहुत बडे वर्ग का यही विचार रहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही जनता

में प्रमुख कांग्रेस की स्थिति प्राप्त करेगी और इन्दिरा कांग्रेस एक छोटी राजनीतिक इकाई बन कर रह जाएगी। लेकिन राष्ट्रीय कांग्रेस (जिसे प्रायः संगठन कांग्रेस के नाम से जाना जाता है) का प्रभाव क्षीण होता गया और 1978 में दक्षिण राज्यों की विधान-सभाओं के चुनाव परिणाम उसके लिए बहुत बुरे रहे। इन चुनावों में इन्दिरा कांग्रेस ने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की और ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली कांग्रेस का लगभग सफाया हो गया। इन्दिरा कांग्रेस के मुकाबले संगठन कांग्रेस की स्थिति उस राजनीतिक बीमार जैसी हो गई जिसका जीवन एक धागे पर लटका हुआ हो।

एकीकरण के असफल प्रयास, संगठन कांग्रेस का सरकार में पुनः प्रवेश, लोकसभाई मध्यावधि चुनाव (1980) के लिए तैयारी

कांग्रेस के पुनः विभाजन के बाद समय-समय पर कांग्रेस (इ) और कांग्रेस (संगठन) में एकता के प्रयत्न होते रहे, किन्तु अन्तिम परिणाम असफलता में ही निकला। राजनीतिक क्षेत्रों में कहा गया कि कांग्रेस (इ) की अध्यक्षा श्रीमती गांधी ने हठी रवैये के कारण ही एकता प्रयासों को बुरी तरह आघात पहुँचा, लेकिन कांग्रेस (इ) की तरफ से इस प्रकार के आरोपों का प्रतिवाद किया गया। जुलाई, 1979 में देसाई सरकार के पतन के बाद जनता (एस) और कांग्रेस (संगठन) में सरकार बनाने के सम्बन्ध में गठजोड़ हुआ और चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में मिली-जुली सरकार बनी। संगठन कांग्रेस के नेता श्री यशवन्तराव चव्हाण उप प्रधान मन्त्री और गृह मन्त्री बने। इस प्रकार 28 महीने से कुछ अधिक अन्तराल के बाद एक मुख्य भागीदार के रूप में कांग्रेस ने सत्ता में पुनः प्रवेश किया। 20 अगस्त, 1979 को लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराए जाने की सिफारिश इसी सरकार ने की जिसे 22 अगस्त को राष्ट्रपति ने स्वीकार कर लिया। राष्ट्रपति द्वारा यह भी घोषणा की गई कि चरणसिंह की कामचलाऊ सरकार चुनावों तक कार्य सम्भालेगी। 26 सितम्बर, 1979 को जनता (एस) का नाम बदल गया और जनता (एस), सोशलिस्ट पार्टी तथा उड़ीसा की जनता पार्टी को मिलाकर एक नए दल 'लोकदल' की स्थापना हुई। कांग्रेस (संगठन) सत्ता में भागीदार अवश्य बना रहा लेकिन जनता (एस) अथवा लोकदल में उसका विलय नहीं हुआ। पहले यह सम्भावना थी कि दोनों दल संयुक्त मोर्चा बनाते हुए संयुक्त चुनाव घोषणा-पत्र जारी करेंगे, लेकिन आपसी मतभेदों ने यह सम्भावना खत्म कर दी। कांग्रेस अध्यक्ष श्री देवराज अर्स (ब्रह्मानन्द रेड्डी के बाद सरदार स्वर्णसिंह और उनके बाद देवराज अर्स कांग्रेस अध्यक्ष बने) ने अपना अलग चुनाव घोषणा पत्र जारी किया।

कांग्रेस (अर्स) का जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों के सम्बन्ध में चुनाव घोषणा-पत्र

देश के मतदाताओं से स्पष्ट शासनादेश की मांग करते हुए कांग्रेस ने 7 दिसम्बर, 1979 को अपना अलग चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया। कांग्रेस (अर्स) ने वायदा किया कि—

(1) सभी को काम देने के लिए सारे देश में महाराष्ट्र जैसी योजना लागू की जाएगी।

(2) ग्रामीण ऋण को खत्म करने के लिए तत्काल कदम उठाए जाएँगे। बढ़ती हुई महँगाई को देखते हुए कृषि मजदूरों को उचित मजदूरी दिलाई जाएगी। कमजोर वर्गों की उन्नति के लिए विशेष आर्थिक कार्यक्रम शुरू किए जाएँगे।

(3) कुटीर और छोटे उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया जाएगा। ऐसी टैक्नोलोजी का विकास किया जाएगा जो खर्चीली कम हो और जिससे अधिक लोगों को काम मिल सके।

(4) औद्योगिक नीति में आवश्यक सुधार किया जाएगा पर पुरानी नीति से बिल्कुल भिन्न नीति नहीं अपनाई जाएगी।

(5) समान काम के लिए समान मजदूरी का सिद्धान्त सभी धन्धों में लागू किया जाएगा।

(6) अल्पसंख्यकों को अपनी शैक्षणिक संस्थाएँ चलाने की पूरी स्वतन्त्रता दी जाएगी। अल्पसंख्यक आयोग को कानूनी दर्जा दिया जाएगा।

(7) उर्दू को उन राज्यों में दूसरी भाषा घोषित कर दिया जाएगा जहाँ काफी संख्या में लोग उर्दू बोलते हों। किसी भी राज्य या जनता पर कोई भी भाषा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नहीं लादी जाएगी।

(8) अलीगढ़ विश्वविद्यालय के अल्पसंख्यक स्वरूप को वापस लाया जाएगा और अल्पसंख्यक व्यक्तिगत कानूनों में राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(9) दहेज जैसी सामाजिक बुराइयों को कानून और शिक्षा के द्वारा दूर किया जाएगा। गर्भवती स्त्रियों, विधवाओं तथा परित्यक्त महिलाओं पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

कांग्रेस (अर्स) का चुनाव घोषणा-पत्र कांग्रेस के महासचिव मोहम्मद यूनिस सलीम ने जारी किया। प्रधान मन्त्री चौधरी चरणसिंह ने अलग चुनाव घोषणा-पत्र जारी करने के लिए कांग्रेस पार्टी की निन्दा की।

जनवरी, 1980 के चुनाव परिणाम और कांग्रेस (अर्स)

जनवरी 1980 के मध्यावधि लोकसभायी चुनावों में श्री देवराज अर्स की अध्यक्षता वाली कांग्रेस का पत्ता साफ कर दिया। 525 घोषित परिणामों में से कांग्रेस (इ) के 351 स्थानों के मुकाबले कांग्रेस (अर्स) को केवल 13 स्थान प्राप्त हुए। दक्षिणी भारत के वे राज्य भी, जो कांग्रेस (अर्स) का गढ़ समझे जाते थे, कांग्रेस (इ) के पक्ष में गए। कांग्रेस (इ) ने 66·85 प्रतिशत मत प्राप्त किए जबकि कांग्रेस (अर्स) को केवल 2·47 प्रतिशत मत मिले। इस प्रकार कांग्रेस (अर्स) की स्थिति एक क्षेत्रीय दल जैसी हो गई। कांग्रेस (अर्स) के अध्यक्ष देवराज अर्स ने 12 जनवरी, 1980 को अपनी कार्य समिति के सदस्यों से स्पष्ट शब्दों में कहा "इस आम चुनाव में अपनी इस भयंकर हार के बाद भी यदि हम अपने को

कांग्रेस' कहते रहेंगे तो कोई हमारी बातों को गम्भीरता से नही लेगा और लोग हम पर हँसेंगे। मतदाताओं ने वास्तव में अपना यह निर्णय दे दिया कि कांग्रेस (इ) ही असली कांग्रेस अर्थात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है। भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष सरदार स्वर्णसिंह और अन्य अनेक नेताओं ने कांग्रेस (इ) के बहुमत का स्वागत किया। 13 जनवरी, 1980 को सरदार स्वर्णसिंह ने इस विचार का जबरदस्त विरोध किया किया कांग्रेस (अर्स) को किसी गैर कांग्रेसी पार्टी मे मिलकर विपक्ष को काफी सशक्त बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

कांग्रेस (इ) अथवा इन्दिरा कांग्रेस

मार्च, 1977 में सत्ताच्युत् होने के बाद से ही श्रीमती गाँधी अपना राजनीतिक अस्तित्व बनाए रखने और अपनी राजनीतिक साख पुनः जमाने को जी-जान से सचेष्ट हो गई। कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं से उनका तालमेल नहीं बैठ सका और 2 जनवरी, 1978 को कांग्रेस का पुनः विभाजन हुआ और दो कांग्रेस अस्तित्व मे आ गई—ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय कांग्रेस तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अध्यक्षता वाली कांग्रेस (इ)। कांग्रेस (इ) को लघु रूप मे 'इका' कहा जाने लगा।

श्रीमती गाँधी का संसद् मे प्रवेश और निष्कासन (1979)

कांग्रेस (इ) अथवा इन्दिरा कांग्रेस निरन्तर लोकप्रिय होती गई और सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी उसने कुछ महत्त्वपूर्ण उपचुनाव जीते। जनता पार्टी के आन्तरिक राजनीतिक विग्रह का कांग्रेस (इ) ने पूरा फायदा उठाया। 8 नवम्बर, 1978 को श्रीमती इन्दिरा गांधी चिकमगलूर उपचुनाव में विजयी घोषित की गईं। मार्च, 1977 मे लोकसभा के आम चुनाव मे श्रीमती गाँधी रायबरेली मे 55202 मतों से श्री राजनारायण से हार गई थी किन्तु नवम्बर 1978 मे चिकमगलूर मे श्रीमती गाँधी ने जनता पार्टी के वीरेन्द्र पाटिल को 77333 मतो से पराजित किया।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी संसद् मे अधिक समय तक नही रह सकी। लोकसभा विशेषाधिकार समिति ने भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को उनके कार्य-काल मे सदन की मर्यादा-भंग का दोषी पाकर उनके विरुद्ध सजा की सिफारिश की। 19 दिसम्बर, 1978 को लोकसभा मे 454 उपस्थित सदस्यो ने 138 के मुकाबले 270 मत से (37 तटस्थ) श्रीमती इन्दिरा नेहरू गाँधी को (जैसा कि प्रस्ताव मे उल्लिखित था) लोकसभा की मर्यादा के विरुद्ध घोर दुराचरण का दण्ड-सदस्या मे निष्कासन और सत्रावसान पर्यन्त जेल दे दिया।

इन्दिरा कांग्रेस के प्रभाव में वृद्धि और मध्यावधि लोकसभाई चुनावो (जनवरी, 1980) के सम्बन्ध में चनाव घोषणा-पत्र

सरदार स्वर्णसिंह की अध्यक्षता वाली कांग्रेस (पहले ब्रह्मानन्द रेड्डी अध्यक्ष थे) के साथ कांग्रेस (इ) के एकीकरण अथवा दोनो कांग्रेसो की एकता के प्रयत्न काफी समय तक चले किन्तु अन्तिम परिणाम निराशा के रहे। इस बीच कांग्रेस (इ)

की साख निरन्तर बढ़ती गई। कर्नाटक में श्री देवराज अर्स द्वारा श्रीमती गाँधी का साथ छोड़ देने से इन्दिरा कांग्रेस को धक्का पहुँचा लेकिन उसने शीघ्र ही अपने को सम्भाल लिया। 29 जुलाई, 1979 को चौधरी चरणसिंह श्रीमती इन्दिरा गाँधी के समर्थन के कारण ही प्रधान मन्त्री बन सके और 20 अगस्त, 1979 को उन्हें त्याग-पत्र देने पर इसीलिए मजबूर होना पड़ा कि श्रीमती गाँधी ने अपना समर्थन वापिस ले लिया। इस प्रकार जुलाई और अगस्त, 1979 के महीनों में इन्दिरा कांग्रेस ने प्रधान मन्त्री को बनाने और बिगाड़ने की दिशा में निर्णायक भूमिका अदा की। 22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति द्वारा मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा की गई जिसका इन्दिरा कांग्रेस ने स्वागत किया। तथापि इन्दिरा कांग्रेस इस पक्ष में नहीं थी कि चुनाव तक श्री चरणसिंह की कामचलाऊ सरकार कार्य सम्भाले। इन्दिरा कांग्रेस का बल बढ़ता गया क्योंकि देश में कई भागों के विभिन्न दल श्रीमती गाँधी के दल में मिलने लगे।

1 दिसम्बर, 1979 कांग्रेस (इ) की अध्यक्षा श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अपनी पार्टी का चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया। सत्ता में आने की सूरत में चुनाव घोषणा-पत्र में निम्नलिखित वायदे किए गए—

(1) देश को पुनः गतिशील, सार्थक एवं क्रमबद्ध सामाजिक परिवर्तन के पथ पर लाया जाएगा। स्थायित्व को सुदृढ़ किया जाएगा। कानून और व्यवस्था को कायम किया जाएगा।

(2) प्रेस पर सेंसर कभी नहीं लगाया जाएगा। प्रेस की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाएगी। देश की समस्याएँ लोकतन्त्री तरीकों से हल की जाएँगी।

(3) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाएगी और गरीबों के लिए कम खर्चीले न्याय की व्यवस्था की जाएगी।

(4) महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू द्वारा चलाए गए लोकतन्त्र, धर्म निरपेक्षता और गुट-निरपेक्षता के मूलभूत सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की जाएगी। धर्म-निरपेक्ष समाज के निर्माण के लिए ठोस कदम उठाया जाएगा। बिखराव की प्रवृत्तियों का मुकाबला किया जाएगा।

(5) जिला प्रशासन पर पूरी जिम्मेदारी डाली जाएगी कि साम्प्रदायिक झगड़ों पर प्रभावकारी और समय पर नियन्त्रण किया जा सके।

(6) अल्पसंख्यक आयोग को मजबूत किया जाएगा। उसे सांविधानिक दर्जा प्रदान किया जाएगा। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप बहाल किया जाएगा।

(7) पुलिस तथा सुरक्षा सेनाओं सहित सरकारी सेवाओं में रोजगार के समान अवसर अल्पसंख्यकों के लिए सुनिश्चित किए जाएँगे। अल्पसंख्यकों के व्यक्तिगत कानून में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा।

(8) वर्तमान कानूनों में आवश्यक सुधार करके वक्फ सम्पत्तियों की समुचित व्यवस्था की जाएगी।

(9) उर्दू भाषा को उसका सांविधानिक दर्जा प्रदान किया जाएगा जो उसके ऐतिहासिक, सामाजिक और साहित्यिक महत्त्व के अनुरूप होगा।

(10) सार्वजनिक क्षेत्र की आत्मनिर्भरता पुनः लाई जाएगी।

(11) मांग और पूर्ति के सम्बन्ध में दो तरफा चढाई की जाएगी। फिजूल खपत को नियन्त्रित किया जाएगा और गिरते हुए उत्पादन स्तर को रोका जाएगा। उत्पादन को बढाने का प्रभावकारी कार्यक्रम लागू किया जाएगा।

(12) कृषि को आधुनिक बनाया जाएगा और कृषि उत्पादन तेजी से बढ़ाया जाएगा। बड़े-बड़े भू-स्वामियों के हितों की कीमत पर छोटे किसानों के हितों का बलिदान नही होगा। छोटी जोत के किसानों को आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ आम वर्ग माना जाएगा।

(13) उत्पादन और प्रबन्ध में मजदूरों और कर्मचारियों की साझेदारी बढाई जाएगी।

(14) प्रत्येक परिवार के कम से कम एक बालिग सदस्य को औसत सामाजिक आय-स्तर के अनुरूप रोजगार अवश्य दिया जाएगा। इसके लिए एक निश्चित समयबद्ध कार्यक्रम तैयार किया जाएगा।

(15) वैज्ञानिकों को विशेषज्ञता हासिल करने के लिए हर सम्भव प्रोत्साहन और सहयोग दिया जाएगा। ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत खोजने के लिए अनुसंधान कार्यक्रम आरम्भ किए जाएँगे।

(16) जन्म-दर घटाने के सस्ते और आसान उपायों को प्रोत्साहन दिया जाएगा। तकनीकी ज्ञान को बढ़ाया जाएगा और संक्रामक रोगों को रोका जाएगा।

(17) शिक्षा को समतामूलक आधार पर नियोजित किया जाएगा। स्कूलों में स्वास्थ्य कार्यक्रमों का विस्तार किया जाएगा और पुस्तक बैंक योजना फिर से लागू की जाएगी।

(18) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे भारत के इस सार्वभौम अधिकार की रक्षा की जाएगी कि हम आणविक तकनीक का विकास शान्तिपूर्ण क्षेत्रों के लिए करते रहेंगे। कम्पूचिया की क्रान्तिकारी सरकार को मान्यता प्रदान की जाएगी। चीन से सम्बन्ध करने के बारे मे श्रीमती गांधी की सरकार ने प्रारम्भिक कदम उठाए थे, इस बारे मे पीछे नही हटा जाएगा।

(19) बीस सूत्री कार्यक्रम फिर चालू किया जाएगा और उसे अधिक मजबूत बनाया जाएगा।

जनवरी 1980 के चुनाव परिणाम और कांग्रेस (इ)

जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावों मे कांग्रेस (इ) ने प्रचण्ड बहुमत से निर्णायक विजय प्राप्त की। लोकसभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या 542 है, किन्तु केवल 525 स्थानों के लिए चुनाव हुए और उनमें भी कांग्रेस (इ) ने 351 स्थान प्राप्त किए। शेष 17 स्थानों के लिए जो चुनाव होंगे उनमे भी अनेक

स्थान कांग्रेस (इ) के पक्ष में जाने की प्रबल सम्भावना है। कांग्रेस (इ) ने लोकसभा में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार वह संविधान में संशोधन लाने के लिए अब किसी अन्य दल के सहयोग पर निर्भर नहीं है। विश्व इतिहास में यह पहली घटना है कि चुनावों में पराज्य के सिर्फ पौने तीन साल बाद किसी राजनेता ने पुनः प्रचण्ड बहुमत से राष्ट्र के शासन की बागडोर अपने हाथों में ली हो। कांग्रेस (इ) की अध्यक्षा श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 14 जनवरी, 1980 को प्रधान मन्त्री पद की शपथ ग्रहण की।

लोकदल

जुलाई, 1979 में जनता पार्टी के बहुत से सदस्यों ने दल छोड़कर श्री राजनारायण की अध्यक्षता में एक नया दल जनता (एस) अर्थात् सेक्यूलर अर्थात् धर्म-निरपेक्ष का गठन किया था। इसके नेता श्री चौधरी चरणसिंह ने 29 जुलाई, 1979 को प्रधान मन्त्री पद की शपथ ली और कांग्रेस (सगठन) सत्ता का एक मुख्य भागीदार बना। 26 सितम्बर, 1979 को जनता (एस), सोशलिस्ट पार्टी तथा उड़ीसा की जनता पार्टी को मिलाकर नई दिल्ली में एक राजनीतिक सम्मेलन में एक नई पार्टी 'लोकदल' के गठन की घोषणा की गई। प्रधान मन्त्री श्री चरणसिंह लोकदल के प्रथम अध्यक्ष और जनता (एस) के अध्यक्ष श्री राजनारायण सर्वसम्मति से उसके कार्यकारी अध्यक्ष चुने गए। इस बात के प्रयत्न चलते रहे कि हेमवती नन्दन बहुगुणा की कांग्रेस फार डेमोक्रेसी लोकदल में शामिल हो जाए, लेकिन सफलता नहीं मिली। श्री बहुगुणा अपने दल सहित इन्दिरा कांग्रेस में शामिल हो गए।

जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनाव के सम्बन्ध में चुनाव घोषणा-पत्र

2 नवम्बर, 1979 को चुनाव आयोग ने अपने एक फैसले में लोकदल को जनता (एस) के रूप में मान्यता प्रदान की तथा चुनाव चिन्ह (खेत जोतते हुए किसान) को बरकरार रखा। चुनाव आयोग के इस निर्णय के सन्दर्भ में लोकदल को लोकसभा का जनवरी, 1980 का मध्यावधि चुनाव जनता (एस) के नाम और उसके चुनाव-चिन्ह पर लड़ना निश्चित हुआ।

11 दिसम्बर, 1979 को लोकदल के महासचिव श्री मधु लिमये ने दल का चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया। इसमें निम्नलिखित कार्यक्रमों और वायदों पर बल दिया गया—

(1) कृषि तथा ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाएगी और विषमता दूर की जाएगी। इस उद्देश्य से आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाएगा।

(2) पिछड़े वर्गों के लिए केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में 25 प्रतिशत आरक्षण दिया जाएगा।

(3) सार्वजनिक जीवन को स्वच्छ बनाने के लिए हर स्तर पर भ्रष्टाचार के खिलाफ सख्त कार्यवाही की जाएगी।

(4) वेतन को उत्पादन के आधार पर बांधने का प्रयत्न किया जाएगा। सब तरह की फिज़ूलखर्ची खत्म की जाएगी।

(5) गरीबी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता तथा नैतिक मूल्यों में आई गिरावट को दूर करने के लिए क्रांतिकारी कदम उठाए जाएँगे। राजनीतिक-आर्थिक ढांचे तथा आयोजन की प्रक्रिया में आमूल परिवर्तन लाया जाएगा।

(6) व्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक समानता पर आधारित समाजवादी समाज की स्थापना का प्रयत्न होगा।

(7) प्रेस की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाएगी।

(8) प्रत्येक नागरिक को रोजगार देने का लक्ष्य ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योगों का विस्तार करके प्राप्त किया जाएगा।

(9) पूंजी के एकाधिकार तथा आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति पर रोक लगाई जाएगी। भविष्य में देश में पूंजी-प्रधान उद्योगों की स्थापना नहीं की जाएगी। ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के लिए बड़े उद्योग खड़े नहीं किए जाएँगे जिनका उत्पादन लघु अथवा कुटीर उद्योगों में किया जा सकता है।

(10) भूमि सुधार कानूनों को संविधान की नवीं सूची में शामिल किया जाएगा ताकि इन कानूनों को अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती।

(11) प्रशासन में सुधार के लिए छोटे राज्यों के गठन का प्रयत्न किया जाएगा।

(12) अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को उसका पुराना स्वरूप लौटाने के लिए आवश्यक कानूनी कदम उठाया जाएगा।

(13) अनुसूचित जन-जातियों के भूमि एवं वन सम्बन्धी अधिकारों की सुरक्षा की जाएगी। जाति प्रथा तोड़ने की भावना से सरकारी नौकरियों में उन्हें प्राथमिकता दी जाएगी जो अन्तर्जातीय विवाह करेंगे।

(14) लोकतन्त्र को बढ़ावा दिया जाएगा, समाजवादी समाज की स्थापना की जाएगी।

(15) विदेशी सहायता को न्यूनतम करने के लिए प्रयत्न किया जाएगा। विदेशी सहयोग वाले बहु राष्ट्रीय निगमों के विस्तार को रोका जाएगा। जिन उद्योगों में भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, उनमें विदेशी कम्पनियों को प्रवेश नहीं दिया जाएगा।

(16) बेरोजगारी दूर करने के लिए औद्योगिक नीति में परिवर्तन किया जाएगा। नई नीति ऐसी होगी कि जो वस्तुएँ बड़े उद्योगों के विकेन्द्रीकरण के बाद भी दक्षतापूर्वक बनाई जा सकती है, उनके उत्पादन के लिए बड़े उद्योग न लगाए जाएँ।

(17) अन्त्योदय कार्यक्रम का व्यापक विस्तार किया जाएगा और श्रम आधारित लघु कुटीर उद्योगों की स्थापना की जाएगी।

(18) ईमानदार और स्वच्छ प्रशासन प्रदान करने के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाएगी। कर्मचारियों की आय मे कुछ अपवादों को छोड़कर, एक और साढ़े सात से अधिक का अनुपात नही रहने दिया जाएगा। अन्य आय के मामले मे भी जहाँ तक सम्भव होगा मापदण्ड लागू किया जाएगा।

(19) महानगरो का विस्तार रोकने के लिए कारगर कदम किए जाएँगे। 1971 की जनगणना के अनुसार पाँच लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरो मे गहन पंजी निवेश वाले उद्योगों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगाया जाएगा।

(20) हरिजनों और आदिवासियो के उत्थान पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

(21) लड़कियों की शिक्षा को बढ़ावा देने, ग्रामीण महिलाओ को सहूलियत देने के लिए धुँआरहित चूल्हे और सुलभ शौचालयों की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाएगा।

(22) विलासिता की वस्तुओ के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाया जाएगा तथा अनिवार्य वस्तुओ का उत्पादन बढ़ाया जाएगा।

(23) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति और पदोन्नति के नियमों मे परिवर्तन किया जाएगा। अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों को कोई कार्य नही सौपा जाएगा।

जनवरी, 1980 के चुनाव परिणाम और लोकदल

जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावों मे लोकदल ने 41 स्थान प्राप्त किए। इस दल ने 7·80 प्रतिशत मत प्राप्त किए। इस प्रकार लोकसभा मे कांग्रेस (इ) के बाद दूसरा बड़ा दल लोकदल ही रहा। लोकदल के अध्यक्ष चौधरी चरणसिंह ने 10 जनवरी, 1980 को अपने एक भाषण मे एक बार फिर 'पुरानी अविभाजित जनता पार्टी के लोकतान्त्रिक तत्त्वो की एकता के लिए प्रयास' करने का सुझाव रखा है। तथापि जनता पार्टी, कांग्रेस (अर्स) और अन्य राजनीतिक क्षेत्रो मे इस सुझाव का स्वागत नही किया। लोकदल के दिग्गज चुनावों में हार गए। स्वय कार्यकारी अध्यक्ष श्री राजनारायण कांग्रेस (इ) के प्रत्याशी श्री कमलापति त्रिपाठी के हाथों पराजित हो गए।

जनसंघ

भारतीय जनसघ की स्थापना प्रथम आम चुनावों के कुछ ही पूर्व 1951 मे हुई। इसके संस्थापक डॉ. श्याम प्रसाद मुकर्जी किसी समय कांग्रेस में भी रह चुके थे। मुकर्जी और कुछ अन्य हिन्दू नेताओ को एक नए दल की आवश्यकता महसूस हुई जिसका संगठन अखण्ड भारत की कल्पना और भारतीय राष्ट्र और संस्कृति के आधार पर किया जाए। इस कार्य में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कुछ प्रमुख कार्यकर्त्ताओ की ओर से मुकर्जी को पूरे सहयोग का आश्वासन मिला। राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ संस्था की हैसियत से राजनीति में आने के लिए तैयार नही था, किन्तु इसके कार्यकर्त्ताओं को व्यक्तिगत हैसियत से राजनीति मे भाग लेने की छूट थी। अतः सघ की ओर से बसंतराव ओक और दीन दयाल उपाध्याय तथा :

कुछ हिन्दू महासभायी अनुयायियों के सहयोग से मुकर्जी ने भारतीय जनसंघ के नाम से एक नए राजनीतिक दल की स्थापना का निश्चय किया। पहला सम्मेलन कलकत्ता में हुआ जिसमें मुकर्जी को अध्यक्ष चुना गया। इससे कुछ पूर्व पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली के प्रतिनिधि जालन्धर में मिलकर एक और 'जनसंघ' का सूत्रपात कर चुके थे। दोनों के बीच विलय की बातचीत शुरू हुई और 1 अक्तूबर, 1951 को यह विलय सम्पन्न हो गया और मुकर्जी ही इस अखिल भारतीय जनसघ के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

1952 के बाद के चुनावों में जनसंघ ने अच्छी सफलता अर्जित की। लोकसभा में इसने 1957, 1962, 1967 और 1971 (मध्यावधि) मे क्रमशः 4, 14, 35 और 22 सीटें प्राप्त की। विधान-सभाओं में इसने 1957, 1962, 1967 और 1972 मे क्रमशः 46, 116, 264 और 237 सीटें प्राप्त कीं।

जनसंघ भी अपनी एकता को बनाए नही रख सका। दल से निष्कासित होने के बाद इसके वरिष्ठ नेता बलराज मधोक ने अप्रेल, 1973 मे राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक संघ नामक एक नए दल का निर्माण कर लिया जो आगे चल कर भारतीय लोकदल मे विलीन हो गया।

जून, 1975 मे देश मे राष्ट्रीय आपात् स्थिति लाद दी गई और जनसंघ के नेताओं को भी जेल में डाल दिया गया। भारी सख्या मे इसके सदस्यो को कारावास भी भोगना पड़ा। 18 जनवरी, 1977 को छठी लोकसभा का चुनाव कराने की घोषणा के बाद ही सगठन कांग्रेस, जनसघ, भारतीय लोकदल और समाजवादी दल ने 'जनता पार्टी' के नाम से अपना एक संयुक्त संगठन स्थापित किया। मार्च, 1977 के चुनावो में जनता पार्टी सत्तारूढ़ हुई और मई के प्रथम सप्ताह तक जनता पार्टी के विभिन्न घटकों ने पार्टी में अपना विधिवत् विलय कर लिया।

जनता पार्टी के विभिन्न घटकों मे खींच-तान चलती रही। जनसघ की 'दुहरी सदस्यता' का प्रश्न विवाद का एक मुख्य मुद्दा रहा। जनता पार्टी के अन्य घटको ने इस बात पर आपत्ति की कि जनसंघ के सदस्य जनता पार्टी और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ दोनों के सदस्य बने रहे और सत्ता का उपयोग करें। और भी अनेक मुद्दों पर जनसंघ तथा अन्य घटको की विचारधारा मे मेल नही बैठ सका। जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावों में जनता पार्टी की करारी हार हुई और साथ ही जनसंघ को भी मतदाताओं ने ठुकरा दिया। जनसघ के सुप्रतिष्ठित नेता श्री अटलबिहारी बाजपेयी भी बड़ी मुश्किल से अपनी सीट बचा सके। चुनाव परिणाम के बाद जनवरी, 1980 के मध्य तक स्थिति यही है कि जनसंघ यद्यपि जनता पार्टी मे बना हुआ है, तथापि पार्टी का आन्तरिक विग्रह विद्यमान है।

भारतीय साम्यवादी दल

संगठन

भारतीय साम्यवादी दल (C.P.I) तथा मार्क्सवादी साम्यवादी दल (C.P.M.) के संगठन लगभग समान है। इनका संगठन रूस के साम्यवादी दल जैसा

त्रिकोणात्मक है। दल का आधार छोटी-छोटी इकाइयों का समूह है। दल की सबसे छोटी इकाई सेल (Cell) कहलाती है जिसमें दो या तीन सदस्य हो सकते है और जिसकी स्थापना किसी भी कारखाने या अन्य स्थान मे, जहाँ परिस्थितियाँ साम्यवाद के प्रचार के अनुकूल हों, हो सकती है। साम्यवादी दल के सगठन की सीढी में ग्राम, नगर, जिला और प्रान्तीय समितियाँ क्रमशः एक के ऊपर एक होती है। प्रत्येक स्तर पर कार्यकारिणी समिति भी होती है जिसमे प्रायः 5 सदस्य और एक निर्वाचन सचिव हाते हैं।

राष्ट्रीय सगठन के रूप में साम्यवादी दल की एक अखिल भारतीय कांग्रेस है जिसका अधिवेशन प्रतिवर्ष होता है। यह कांग्रेस अपने वार्षिक अधिवेशन मे मुख्य सचिव (General Secretary) तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति (Central Executive Committee) का निर्वाचन करती है। इस केन्द्रीय समिति का प्रत्येक सदस्य दल के कार्य के किसी न किसी विभाग का उत्तरदायित्व ग्रहण करता है। इस केन्द्रीय समिति का एक अतरग समूह (Inner Circle) है जिसे उसी परम्परा के अनुसार पोलित ब्यूरो (Polit Bureau) कहते है। पोलित ब्यूरो में दल का मुख्य सचिव और कुछ अन्य सदस्य होते है। पोलित ब्यूरो ही सम्पूर्ण दल की नीति और कार्यक्रम का निर्धारण करता है। दल मे भरती के नियम काफी कठोर हैं। पक्के साम्यवादी कार्यकर्त्ता ही उसके सदस्य बन सकते है। कोई भी व्यक्ति जिसकी आयु 18 वर्ष या इससे अधिक हो, जो साम्यवादी विचारधारा मे पूर्ण विश्वास रखता हो और दल का सक्रिय सदस्य बनने को तैयार हो, साम्यवादी दल का सदस्य बन सकता है।

नीति एवं कार्यक्रम (1977) और सफलता

मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनाव के सन्दर्भ में भारतीय साम्यवादी दल ने जो चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया उसमें लोकतन्त्र की रक्षा और विस्तार, सामान्य जनता के जीवन-स्तर की परिस्थितियो मे सुधार तथा राष्ट्र के आर्थिक विकास मे स्थायित्व लाने के लिए निम्नलिखित दस सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया—

1. आपात् स्थिति समाप्त की जाए, प्रेस-सेन्सरशिप हटाई जाए, आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (मीसा) और आपत्यजनक सामग्री प्रकाशन अधिनियम को रद्द किया जाए, 42 वें सविधान संशोधन की जनविरोधी धाराओं को रद्द किया जाए, भूमि सुधार तथा अन्य लोकतन्त्री कार्यक्रमो को लागू करने के लिए लोकप्रिय समितियों की स्थापना की जाए।

2. मूल्य-स्थिरता की दृष्टि से सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत बनाने और उसका विस्तार करने तथा खाद्य एव अनिवार्य वस्तुओं के थोक व्यापार को सरकार द्वारा अपने हाथ में लेने की बात कही गई।

3. अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने हेतु तीव्र औद्योगीकरण और रोजगार की बात कही गई। यह मांग की गई कि कपडा, चीनी, पटसन, विदेशी

कम्पनियों तथा बैंक उद्योग का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हो और लोगों पर करों का बोझ कम किया जाए।

4. श्रमिक वर्ग के लिए न्यूनतम मजदूरी और निश्चित बोनस की व्यवस्था की जाए, अनिवार्य जमा योजना को समाप्त किया जाए, कारखानों में तालाबन्दी तथा छँटनी पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।

5 किसानों को उत्पादन का सही मूल्य मिले, उन्हें ऋण और सिंचाई की व्यवस्था सुलभ हो तथा कृषि सामग्री सस्ते दाम पर प्राप्त हो, कृषि-श्रमिकों को जीवन-यापन योग्य मजदूरी दी जाए तथा पूर्ण भूमि-सुधार लागू किया जाए।

6. बुनकरो एव कारीगरो को सस्ते दाम पर कच्चा माल मिले, दस्तकारी की प्रभावी सहकारी संस्थाएँ बनाई जाएँ।

7. महिलाओं को वास्तविक समान दर्जा मिले, समान कार्य के लिए समान वेतन होवे, व्यापक परिवार कल्याण कार्यक्रम बनाया जाए, जबरन परिवार नियोजन बन्द किया जाए।

8. सभी को काम का अधिकार मिले, 18 वर्ष की आयु पर मताधिकार हो, धर्म-निरपेक्षता तथा समाजवाद के आधार पर शिक्षा में सुधार किया जाए, सभी स्तरो पर अध्यापको के वेतन में वृद्धि हो और उन्हें लोकतान्त्रिक अधिकार प्रदान किए जाएँ।

9 मुसलमानो, अल्पसंख्यको तथा हरिजनो के अधिकार सुरक्षित हो तथा अनुसूचित जातियों पर अनाचार ढाने वालो के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था हो।

10 भारत की साम्राज्यवाद विरोधी नीति को और मजबूत किया जाए, विदेशी अड्डो के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाए तथा रूस एव अन्य साम्यवादी देशों के साथ भारत की मैत्री को अधिक मजबूत बनाया जाए।

1969–76 की अवधि मे भारतीय साम्यवादी दल ने कांग्रेस के साथ सहयोग किया था, किन्तु मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों मे दोनो दलो के बीच चुनाव समझौता केवल तीन राज्यो—केरल, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु मे ही हो सका। चुनावो मे केरल तथा तमिलनाडु को छोड़कर अन्य राज्यों मे भारतीय साम्यवादी दल अपना कोई प्रभाव नही दिखा सका। केरल मे इसे चार स्थान और तमिलनाडु में तीन स्थान प्राप्त हुए। इस प्रकार लोकसभा की कुल सात सीटें इसने जीती। 8 जून, 1977 के विधान-सभाई चुनावो मे पंजाब, तमिलनाडु एवं विहार में कांग्रेस तथा साम्यवादी दल के बीच समझौता हुआ जिससे विहार में साम्यवादी दल को कुछ लाभ प्राप्त हुआ। बिहार विधान-सभा के 324 स्थानों में से इस दल ने 21 स्थान प्राप्त किए। तमिलनाडु विधान-सभा में 234 मे से इसे 5 स्थान और पंजाब मे इसे 17 मे से 7 स्थान प्राप्त हुए। राजस्थान मे इसने 200 में से 1, उत्तर प्रदेश में 425 में से 9, उडीसा मे 147 मे से 1 स्थान प्राप्त किए। भारतीय साम्यवादी दल ने 1969–76 के दौरान शासक दल के भीतर अथवा शासक दल पर एक दबाव गुट की भूमिका अदा की थी, लेकिन बाद के काल मे वह इस स्थिति

में नहीं रहा। जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों मे भारतीय साम्यवादी दल ने लोकसभा मे केवल 11 स्थान और 2.09 प्रतिशत मत प्राप्त किए।

साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)

1964 में अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के एक बहुत बड़े वर्ग ने रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों से प्रभावित होकर एक नवीन दल का गठन किया जो सोवियत संघ के 'संशोधनवाद' का घोर विरोधी था। इस नवीन दल का नाम 'मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी' रखा गया और घोषणा की गई कि यह नवीन दल भारतवर्ष मे समाजवाद एवं साम्यवाद की स्थापना करने के लिए उन भारतीय श्रमजीवियों का प्रभावी संगठन होगा जो कि मार्क्सवाद और लेनिनवाद के प्रति अटूट आस्था रखते हैं तथा जो प्राथमिक चरण के रूप में इस देश मे जनवादी लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना चाहते है।

दलीय नीति एवं कार्यक्रम (1977 तक)

1971 के चुनाव घोषणा-पत्र मे साम्यवादी दल ने बैंक उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने, निजी क्षेत्र को समाप्त करने तथा जीवनोपयोगी वस्तुओं पर कर घटाने का आश्वासन दिया। साम्यवादी दल की भाँति ही मार्क्सवादी भी सामन्तवादी व्यवस्था का पूरी तरह उन्मूलन कर क्रान्तिकारी भूमि-सुधारों के समर्थक है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे वर्ग संघर्ष और जन-आन्दोलन की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हैं।

मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों के समय मार्क्सवादियोंने जो चुनाव घोषणा-पत्र जनता के सामने रखा वह एक प्रकार से 'राष्ट्रीयकरण का अर्थतन्त्र' था। फरवरी, 1977 के प्रारम्भ मे भारतीय मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने अपना 12 सूत्री घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इस घोषणा-पत्र में आपात् स्थिति समाप्त करने, सभी राजनीतिक बन्दियों को मुक्त करने, संविधान के 42वें संशोधन को वापस लेने और आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम आदि कानूनों को रद्द करने की माँग की गई। दल ने आर्थिक स्तर पर मूल्य घटाने, आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं से कर कम करने, अनाज के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने, जमींदारों से बेचे जाने वाला सारा अनाज वसूल करने आदि का आश्वासन दिया।

घोषणा-पत्र मे कहा गया कि मार्क्सवादी दल विदेशी पूंजी का राष्ट्रीयकरण करेगा और भारतीय व्यापार में बहुद्देशीय व्यापार संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाएगा। विदेशी ऋण की अदायगी पर सीमाएँ बाँधी जाएँगी। चीनी, कपड़ा, पटसन, सीमेंट और औषध उद्योगों मे काम करने वाली एकाधिकार सम्पन्न व्यापारिक संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा, विदेशी व्यापार को सरकार अपने हाथ मे लेगी और सार्वजनिक क्षेत्र मे भ्रष्टाचार तथा अफसरशाही को समाप्त किया जाएगा।

दल ने यह आश्वासन दिया कि मजदूर संघों को यह अधिकार दिया जाएगा कि वे सामूहिक सौदेबाजी से अपने अधिकारों को प्राप्त करें और इन संघों के प्रतिनिधित्व का फैसला गुप्त मतदान से किया जाएगा। सभी मजदूरों के लिए

आवश्यकता के आधार पर न्यूनतम मजदूरी तय की जाएगी और जीवन स्तर में महँगाई का बराबर मुआवजा दिया जाएगा। हाल ही में पारित बोनस कानून को समाप्त कर दिया जाएगा और मजदूर नेताओं के विरुद्ध प्रतिशोधात्मक कार्यवाहियाँ समाप्त कर दी जाएँगी।

किसानों और जमीन के बारे में मार्क्सवादी दल ने घोषणा की कि जमींदारों की सारी जमीन सरकार लेगी और उसका बँटवारा भूमिहीनों, मजदूरों और गरीब किसानों में किया जाएगा। कृषि मजदूरों के लिए कम से कम आठ रुपये प्रतिदिन की मजदूरी निश्चित की जाएगी। गरीब किसानों के सभी ऋण माफ कर दिए जाएँगे और गाँवों में रहने वाले गरीब किसानों, मजदूरों और भूमिहीनों के लिए आसान ऋण की व्यवस्था की जाएगी। उन्हें खेती में काम आने वाली कच्ची सामग्री और उपकरण सस्ते दामों पर उपलब्ध कराए जाएँगे। इन लोगों के उत्पादन से उन्हें उचित दाम मिले, इसके लिए सरकार उचित दाम पर किसानों का उत्पादन खरीदेगी, किसानों पर कर कम करेगी तथा हरिजनों के विरुद्ध अत्याचार करने वालों के विरुद्ध सख्त कदम उठाएगी।

घोषणा-पत्र में कहा गया है कि काम करने का अधिकार संविधान में मौलिक अधिकार माना जाएगा और इसलिए बेकारी भत्ता की व्यवस्था की जाएगी। 14 वर्ष की आयु तक निःशुल्क शिक्षा आवश्यक मानी जाएगी और इस प्रकार निरक्षरता को समाप्त किया जाएगा।

घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया कि विदेश नीति के सिलसिले में नियमित रूप से साम्राज्यवाद विरोधी नीति अपनाई जाएगी तथा समाजवादी देशों के साथ सहयोग किया जाएगा।

संविधान के 24वें संशोधन के बारे में दल ने मत व्यक्त किया कि इससे संविधान का संघीय ढाँचा क्षतिग्रस्त होता है और केन्द्रीय सरकार के हाथों में बहुत अधिक शक्ति केन्द्रित होती है। इस सिलसिले में कार्यपालिका पर संसद की वरीयता समाप्त हो गई है। मन्त्रिमण्डल और नौकरशाही सारा काम करती है। संसद बाहरी दुनिया को दिखाने के लिए एक सजावटी चीज बन गई है।

यह भी कहा गया कि पिछले बीस वर्षों में लोगों की हालत और भी खराब हो गई। सरकारी आँकड़ों के अनुसार गरीबी की रेखा से नीचे रहने वालों का अनुपात 70 प्रतिशत हो गया है। महँगाई के विरुद्ध कार्यवाही करते समय सरकार ने आम आदमी को क्षति पहुँचाई है। मजदूरों और कर्मचारियों के महँगाई भत्ते और वेतन को रोक लिया गया है। जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएँ—खाना, तेल, चीनी, मिट्टी का तेल, दूध, दवाइयाँ, कपड़ा आदि आदमी की पहुँच से बाहर हो गया है।

यह कहा गया कि उपरोक्त सभी कारणों से मार्क्सवादी दल ने विरोधी दलों के साथ जहाँ सम्भव हो, समझौता करके कांग्रेस के विरुद्ध पड़ने वाले मतों के बँटवारे को रोकने का निश्चय किया है। यह दल उन सभी दलों और गुटों के साथ सहयोग करने के लिए तैयार है जो प्रजातन्त्र के लिए लड़ने के लिए तैयार है।

चुनावी सफलताएँ

सन् 1967 के चुनावों में मार्क्सवादी दल ने लोकसभा में 19 स्थान प्राप्त किए। 1971 में इसे 25 स्थान और मार्च, 1977 मे 22 स्थान मिले। जून, 1977 में जो विधान-सभाई चुनाव हुए उनमें मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने बिहार मे 4, उड़ीसा में 1, पंजाब मे 8, राजस्थान मे 1, तमिलनाडु मे 12, उत्तर प्रदेश में 1 और पश्चिमी बंगाल मे 178 स्थान अर्जित किए। पश्चिमी बंगाल मे ज्योति बसु के नेतृत्व मे दल ने अपनी सरकार बनाई। दिसम्बर, 1977 के अन्त में त्रिपुरा विधान-सभा के जो चुनाव हुए उनमें 60 सदस्यीय सदन मे मार्क्सवादियों ने अपने 55 उम्मीदवार खड़े किए और उनके 49 उम्मीदवार जीत गए।

जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावों में मार्क्सवादी दल ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। इसने 35 स्थान जीते और 6·66 प्रतिशत मत प्राप्त किए। इस प्रकार लोकसभा में कांग्रेस (इ) और लोकदल के बाद तीसरा सबसे बड़ा दल मार्क्सवादी दल रहा। मार्क्सवादियों ने पश्चिमी बंगाल में अपना अभूतपूर्व वर्चस्व स्थापित किया।

सातवीं नई लोकसभा मे यद्यपि कोई भी दल इस स्थिति में नहीं है कि उसे विपक्ष की अधिकृत मान्यता मिल सके, तथापि चुनावों के बाद के समाचारों से ये संकेत मिल रहे है कि मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेतृत्व वाला मोर्चा, जिसके 53 सदस्य हैं (मार्क्सवादियों के 35 और शेष उनके साथ मिलकर चुनाव लड़ने वाले अन्य दलों के) इसके लिए कोशिश करेगा। विपक्ष की अधिकृत मान्यता के लिए लोकसभा के कुल सदस्यों (542 निर्वाचित और 2 मनोनीत अर्थात् कुल 544) का 10 प्रतिशत प्राप्त करना जरूरी है। नई लोकसभा मे अभी केवल 525 सदस्य ही होंगे (शेष 17 सीटों के लिए चुनाव बाद मे होंगे)। वामपंथी मोर्चे में अर्थात् मार्क्सवादी कम्युनिस्ट वाले मोर्चे में मार्क्सवादियों के 35, भारतीय साम्यवादी दल के 10, फारवर्ड ब्लाक के 3, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी के 4 और केरल कांग्रेस (मणि गुट) का 1 सदस्य है।

लोकतन्त्री कांग्रेस (कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी)

2 फरवरी, 1977 को जगजीवनराम, हेमवती नन्दन बहुगुणा, नन्दिनी सतपथी तथा अनेक कांग्रेसी नेताओं ने दल में आन्तरिक लोकतन्त्र के हनन का आरोप लगाते हुए कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया और अपनी अलग लोकतन्त्री कांग्रेस (कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी) के निर्माण की घोषणा की। यह नया दल बाबू जगजीवनराम की अध्यक्षता मे स्थापित हुआ। 5 मई, 1977 को इसका जनता पार्टी में औपचारिक तौर पर विलय हो गया। पर इसने तत्कालीन राजनीति मे अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित की और जनता पार्टी के चुनाव चिन्ह 'चक्र हलधर' से ही चुनाव लड़ा। श्री बहुगुणा और श्रीमती सतपथी को लोकतन्त्री कांग्रेस न महासचिव बनाया गया था।

लोकतन्त्री कांग्रेस के गठन का मुख्य उद्देश्य भारतीय राजनीि

सर्वाधिकारवादी और सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना घोषित किया गया। 21 फरवरी को लोकतन्त्री कांग्रेस के महामन्त्री हेमवती नन्दन बहुगुणा ने अपना घोषणा-पत्र जारी किया जिसमें लगभग वे ही बातें थी जो जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र मे थीं।

जुलाई, 1979 में जनता पार्टी की देसाई सरकार का पतन हो गया और 29 जुलाई को चौधरी चरणसिंह ने जो सरकार बनाई उसमें लोकतन्त्री कांग्रेस के श्री बहुगुणा ने वित्त मन्त्री का पद सम्भाला। लोकतन्त्री कांग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोकदल, सोशलिस्ट पार्टी और संगठन कांग्रेस ने यद्यपि 5 मई, 1977 को जनता पार्टी में विधिवत् विलय की घोषणा कर दी थी और निर्वाचन आयोग ने इन विभिन्न घटकों से मिले इस दल को मान्यता प्रदान करते हुए चुनाव चिन्ह 'चक्र हलधर' दिया था, लेकिन जनता पार्टी का यह एकीकरण व्यवहार मे 'पूर्ण' नही था क्योंकि पार्टी के घटकों मे अपना-अपना प्रभाव बनाने की होड़ लगी रही और वे आपसी मतभेदों के शिकार बने रहे। श्री देसाई के जनता संसदीय दल के नेता से हटने के बाद उनका स्थान श्री जगजीवन बाबू ने लिया और अब लोकतन्त्री कांग्रेस पूरी तरह श्री बहुगुणा के नेतृत्व मे आ गई। यह आशा की जाती थी कि श्री चरणसिंह और श्री बहुगुणा मे 1980 के लोकसभाई मध्यावधि चुनावों के सन्दर्भ मे मेल-जोल रहेगा और उनका संयुक्त मोर्चा बनेगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सीटो के बँटवारे तथा कुछ अन्य प्रश्नो पर दोनो के मतभेद काफी बढ गए और 19 अक्टूबर, 1979 को प्रधान मन्त्री श्री चरणसिंह की माँग पर वित्त मन्त्री श्री बहुगुणा ने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से त्याग दे दिया। इसे राष्ट्रपति ने स्वीकार कर लिया। इसके कुछ दिन बाद ही श्री बहुगुणा अपने साथियों सहित कांग्रेस(इ) मे मिल गए। जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावो ने यह स्पष्ट कर दिया कि श्री बहुगुणा ने कांग्रेस(इ) में सम्मिलित होकर राजनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया था। श्री बहुगुणा ने यद्यपि अवसरवादिता दिखाई तथापि इससे कांग्रेस(इ) की स्थिति उत्तर प्रदेश मे अधिक मजबूत बनी।

अन्य राजनीतिक दल

द्रविड मुनेत्र कषघम (D M K)

तमिलनाडु का द्रविड मुनेत्र कषघम क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों में अपना विशेष महत्त्व और प्रभाव रखता है। सन् 1949 में सी. एन. अन्नादुराई ने द्रविड कषघम से अलग होकर द्रविड मुनेत्र कषघम दल की स्थापना की थी। इसका उद्देश्य द्रविड़ परम्परा और संस्कृति की रक्षा करना और तमिल समुदाय को राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावी स्थिति प्रदान करना है। 1965 में सम्पूर्ण मद्रास राज्य मे (मद्रास राज्य का कालान्तर में नामकरण तमिलनाडु हो गया) हिन्दी विरोधी आन्दोलन करते हुए इस दल ने भारी प्रभाव और शक्ति प्राप्त कर ली। हिन्दी विरोध के साथ ही 'राज्यों के लिए स्वायत्तता' भी इस दल की नीति और कार्यक्रम का एक प्रमुख आधार है। द्रमुक औद्योगिक लाइसेंस देने की प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन चाहता

है। द्रमुक की माँग है कि लाइसेंस बाँटने का कार्य राज्यों को सौंपा जाना चाहिए। यह दल मिश्रित अर्थतन्त्र का समर्थक है और चाहता है कि देश की योजना में त्रिपक्षीय साझेदारी होनी चाहिए जिसमें सरकार, मालिक और श्रमिक सम्मिलित है।

नवम्बर, 1972 में दल का विभाजन हो गया और एम. जी. रामचन्द्रन ने अन्ना द्रविड मुनेत्र कषघम (अन्ना द्रमुक) की स्थापना की। विभाजन के बाद द्रमुक की लोकप्रियता घट गई, फिर भी 1967 से 1976 के प्रारम्भ तक प्रदेश की सत्ता पर इसी दल का एकाधिकार रहा। 1967 में राज्य विधान-सभा के 234 में से 138 स्थान और लोकसभा के 25 में से 25 स्थान इस दल ने प्राप्त किए। 1967 के प्रारम्भ में तमिलनाडु की द्रमुक सरकार को बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। मार्च, 1977 के छठे लोकसभाई चुनावों में द्रमुक अपनी सारी भूतपूर्व सफलताएँ खो बैठा और इसे केवल 1 स्थान ही प्राप्त हुआ। जून, 1977 में *तमिलनाडु विधान-सभा के चुनाव हुए और 234 स्थानों में से द्रमुक ने केवल 48* स्थान प्राप्त किए। अन्ना द्रमुक ने द्रमुक को लोकसभा और राज्य-सभा दोनों में ही गौण स्थिति में डाल दिया। जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावों में द्रमुक ने अपनी स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार लाकर 16 स्थान प्राप्त किए। कांग्रेस (इ) को तमिलनाडु में 39 में से 20 स्थान मिले। इससे स्पष्ट हो गया कि तमिलनाडु में किसी भी राष्ट्रीय दल की अपेक्षा अभी क्षेत्रीय दल द्रमुक का अधिक प्रभाव है।

अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषघम (A. D. M. K.)

द्रमुक (D. M. K) के अध्यक्ष करुणानिधि और कोषाध्यक्ष एम. जी. रामचन्द्रन के बीच तीव्र मतभेद उत्पन्न हो जाने पर नवम्बर, 1972 में रामचन्द्रन ने अपने पृथक् दल अन्ना द्रमुक (A. D. M. K.) का निर्माण किया। दल का पूरा नाम अखिल भारतीय अन्ना द्रविड मुनेत्र कषघम् है। लेकिन वास्तव में यह क्षेत्रीय दल है, जिसका प्रभाव क्षेत्र तमिलनाडु और पाण्डिचेरी है। इस दल की नीति कुछ इस प्रकार की है कि राज्य में सत्तारूढ़ होने और अपने हाथ में सत्ता सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है कि केन्द्र में शासक दल के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाए रखे जाएँ। आपात्काल के दौरान अन्ना द्रमुक श्रीमती गाँधी का समर्थक रहा और जब केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बन गई तो दल ने उसे समर्थन देने की घोषणा की। अन्ना द्रमुक ने अपना कोई चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित नहीं किया, लेकिन ग्रामीण महिलाओं और युवकों में यह दल और उसके नेता रामचन्द्रन की भारी लोकप्रियता है।

मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों में जहाँ द्रमुक ने केवल 1 स्थान प्राप्त किया वहाँ अन्ना द्रमुक ने 19 स्थान जीते। जून, 1977 में तमिलनाडु विधान-सभा के 234 स्थानों में से जहाँ द्रमुक ने केवल 48 स्थान जीते, वहाँ अन्ना द्रमुक ने 130 स्थान प्राप्त कर अपनी सरकार बनाई। जून में ही पाण्डिचेरी विधान-सभा में चुनाव हुए और 30 में से 14 स्थान अन्ना द्रमुक ने जीते। तमिलनाडु विधान-सभाई चुनाव के दौरान जो प्रचार किया गया उसमें कांग्रेस, द्रमुक, अन्ना द्रमुक सभी ने प्रान्तीयता

की मशाल को खूब प्रज्वलित किया। इस प्रकार का असर तमिलनाडु की जनता पर इतना पड़ा कि उसने सभी नीतियों को नकार कर प्रान्तीय दल को ही स्वीकार किया। जनता पार्टी ने विधान-सभा की 234 सीटों के लिए 233 उम्मीदवार खड़े किए थे। पर उसे केवल 10 सीटों पर सफलता मिली। कांग्रेस के 198 प्रत्याशियों में से केवल 27 जीते। अन्ना द्रमुक के 200 प्रत्याशियों में से 129 ने विजय प्राप्त की। मत-प्रतिशत को लें तो अन्ना द्रमुक को 37½, द्रमुक को 21, कांग्रेस को 20 और जनता को 10 प्रतिशत के लगभग मत मिले। जनवरी, 1980 के आम चुनावों में लोकसभा में अन्ना द्रमुक ने केवल 2 स्थान पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार वह मार्च, 1977 के अपने लाभ को बुरी तरह खो बैठी। लोकप्रियता और विजय की दौड़ में द्रमुक ने अन्ना द्रमुक को पछाड़ दिया।

अकाली दल

अकाली दल पंजाब का एक क्षेत्रीय तथा साम्प्रदायिक दल है जिसने मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों और जून, 1977 के पंजाब विधान-सभाई चुनावों में जनता पार्टी और मार्क्सवादी दल के साथ समझौता किया और अच्छी सफलता अर्जित की। अकाली दल ने राज्य विधान-सभा में 1967 में 104 स्थानों में से 96, 1969 में 43 और 1972 में 24 स्थान प्राप्त किए। मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों में पंजाब के 13 स्थानों में से इसने 8 स्थानों पर विजय प्राप्त की। जून, 1977 के पंजाब विधान-सभाई चुनावों में अकाली दल ने 117 स्थानों में से 58 स्थान जीते। जनवरी, 1980 के लोकसभाई चुनावों में अकाली दल केवल 1 स्थान प्राप्त कर सका है।

मुस्लिम लीग

सन् 1906 में स्थापित यह दल देश के विभाजन के बाद भारत से लगभग समाप्त हो गया किन्तु 1970 के लगभग यह पहले केरल और फिर तमिलनाडु में सक्रिय हो गया। मार्च, 1977 के चुनावों में इसने लोकसभा की दो सीटें (तमिलनाडु और केरल) जीतीं। केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तर भारत के कुछ राज्यों में यह दल अपने प्रभाव के लिए सचेष्ट है। मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य भारतीय मुसलमानों के हितों और मुस्लिम समुदाय के विशेष सामाजिक कानूनों आदि की रक्षा है। जनवरी, 1980 के चुनावों में मुस्लिम लीग ने लोकसभा की 3 सीटें जीतीं। इनमें 2 केरल से तथा 1 तमिलनाडु से मिली।

विशाल हरियाणा पार्टी, कृषक एवं मजदूर दल, महाराष्ट्रवादी गोमान्तक दल, परिगणित जाति संघ या रिपब्लिकन दल आदि

क्षेत्रीय दलों में विशाल हरियाणा पार्टी हरियाणा राज्य में अपना अच्छा प्रभाव रखती है और जून, 1977 के हरियाणा विधान-सभा चुनावों में इसने 5 स्थान प्राप्त किए। महाराष्ट्रवादी गोमान्तक दल का गोवा में प्रभाव है और वहाँ यह दल सत्ता में भी है। मार्च, 1977 में इसने लोकसभा में 1 सीट जीती। परिगणित जाति संघ की स्थापना डॉ. अम्बेडकर ने की थी। इसलिए इसे अब रिपब्लिकन पार्टी

ऑफ इण्डिया कहा जाता है। इसका एकमात्र लक्ष्य अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा करना है। महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र, उत्तर प्रदेश और पंजाब में इसका सीमित प्रभाव है। कृषक एवं मजदूर दल का प्रभाव क्षेत्र मुख्यतः महाराष्ट्र और सीमित रूप में मध्य प्रदेश तथा आन्ध्र प्रदेश है। यह दल किसानों और मजदूरों के लोकतान्त्रिक शासन की स्थापना, बिना क्षतिपूर्ति के मजदूरी प्रथा की समाप्ति, भूमि के पुर्नवितरण और भूमिहीन श्रमिकों के लिए न्यूनतम वेतन निर्धारण का पक्षधर है। मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों में इस दल ने जनता पार्टी के सहयोगी के रूप में चुनाव लड़ा। महाराष्ट्र में इसने 5 लोकसभाई सीटें जीती।

मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों मे क्षेत्रीय दलो तथा अन्य को 59 स्थान प्राप्त हुए जबकि जनवरी, 1980 के लोकसभाई चुनावों मे घोषित 525 स्थानो मे से क्षेत्रीय दल तथा निर्दलियों को कुल 43 स्थान ही मिल सके हैं। अनेक प्रमुख क्षेत्रीय दलो का सफाया हो गया है। 1977 में अकाली दल ने लोकसभा मे 9 स्थान प्राप्त किए थे जबकि 1980 में उसे केवल 1 स्थान मिला है। अन्ना द्रमुक ने 1977 मे लोकसभा मे 19 स्थानों के मुकाबले जनवरी, 1980 मे केवल 2 स्थान प्राप्त किए है। द्रमुक ने अपनी स्थिति में अवश्य भारी सुधार किया है। 1977 में लोकसभा मे द्रमुक को केवल 1 स्थान मिला था जबकि इस बार वह 16 स्थान प्राप्त कर सका है। मुस्लिम लीग ने 1977 मे 2 स्थानो के मुकाबले 1980 मे 3 स्थान प्राप्त किए है। रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी ने भी अपनी स्थिति को सुधारा है और 1977 के 1 स्थान के मुकाबले 1980 मे 4 स्थान प्राप्त किए है। फारवर्ड ब्लाक ने 1977 के 3 स्थानो की स्थिति बरकरार रखी है। नेशनल कॉन्फ्रेन्स (जम्मू-कश्मीर) को 1977 के मुकाबले 1980 मे 3 स्थान प्राप्त हुए है। महाराष्ट्र मे कृषक एव मजदूर दल ने 1977 मे लोकसभा मे 5 सीटे प्राप्त की थीं जबकि इस बार उसका सफाया हो गया है। इसी प्रकार और भी अनेक क्षेत्रीय दल अपनी पूर्व स्थिति को खो बैठे है। अनेक राज्यों के अनेक छोटे और आंचलिक उपदल जनवरी, 1980 के चुनावो में लुप्त हो गए है। इसमे सन्देह नही कि इस बार लोकसभा चुनावो मे, कुछ क्षेत्रीय दलो को छोड़कर, अधिकांश क्षेत्रीय दलों पर गहरा आघात हुआ है और राष्ट्रीय दलो तथा राजनीति को अवसर दिया है कि वह संकीर्ण हितों पर आधारित दलो की प्रासंगिकता को समाप्त कर दें।

दलबदल की राजनीति
(Politics of Defection)

दल-बदल की घटनाएँ ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा जैसे उन्नत और परिपक्व लोकतान्त्रिक देशों मे भी होती रहती है, लेकिन भारत की तरह ऐसा नही होता कि लोग आयेदिन राजनीतिक चोले बदलते रहते हो अपनी आस्थाओ और आदर्शों को ताश के बावन पत्ते बना लें। यह रोग पिछले एक दशक से भारतीय दलगत राजनीति पर जिस तरह से हावी रहा है वह स्वयं मे अभूतपूर्व है। सभी राजनीतिक दल दल-बदल मे इस हद तक फँस चुके हैं कि वे इससे मुक्ति पाने के लिए कानून बनाए जाने के पक्ष में है। सभी यह बात मानते है कि दल-बदल का

भारतीय लोकतन्त्र की जड़ें खोखली कर रहा है। परन्तु फिर भी कोई ऐसा कदम उठाने के लिए वे सहमत नहीं हो पा रहे हैं जिससे कि दल-बदल करने वाले हतोत्साहित हो। सत्ता पर अधिकार करने और सत्ता को हाथ से खिसकने न देने की राजनीतिक दलों की आकांक्षा वस्तुतः दल-बदल को उत्तरोत्तर प्रोत्साहित ही करती रही है।

आंकड़े इस बात के गवाह हैं कि दल-बदल से सत्तारूढ दल को ही अधिक लाभ पहुँचता है। भारत में दल-बदल का सबसे घातक दौर 1967 के चौथे आम चुनावों के बाद आया जो 1971 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावों के पूर्व तक चलता रहा। मध्यावधि चुनावों के बाद दल-बदल की रफ्तार धीमी हो गई और दल-बदल अधिकतर सत्तारूढ़ कांग्रेस के पक्ष में हुआ। आपात्काल मे कांग्रेस 'सर्वाधिकारवादी' रही और जनवरी, 1977 में आम चुनावों की घोषणा और फिर 'जनता पार्टी' के निर्माण के बाद कांग्रेस के विरुद्ध सभी वर्गों और दलों का आक्रोश फूट पड़ा और कांग्रेस के विरुद्ध दल-बदल व्यापक स्तर पर हुआ। बाबू जगजीवनराम द्वारा कांग्रेस छोड़कर नया दल बनाए जाने के बाद दल-बदल के देश व्यापी सिलसिले का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि 'यह चौमुखी था और इससे प्रायः सभी प्रमुख राजनीतिक दल प्रभावित हो रहे थे।' जनवरी, 1978 मे कांग्रेस के पुनः विभाजन के बाद रेड्डी कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस मे भी एक पक्ष से दूसरे पक्ष में दल-बदल बड़े पैमाने पर चल पड़ा।

1967 और 1977 के बीच जो बड़े पैमाने पर दल-बदल हुआ उसके मूल मे सत्ता लोलुपता ही अधिक रही। गृह मन्त्रालय द्वारा किए गए एक विश्लेषण के अनुसार चौथी लोकसभा मे 63 दल-बदल हुए और 1969 से 1975 के बीच विभिन्न राज्यो मे 1400 से भी अधिक विधायकों ने दल-बदल किया। उस समय मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलो मे हुए इस व्यापक दल-बदल से तत्कालीन सत्तारूढ कांग्रेस को ही सर्वाधिक लाभ पहुँचा। पाँचवी लोकसभा में पांच संसद सदस्य कांग्रेस में शामिल हुए जबकि उसे छोड़कर एक भी नही गया। कांग्रेस (स०), जनसंघ और द्रमुक के क्रमश. 5, 6 और 11 संसद सदस्य दल छोड़ गए। यह इनकी शुद्ध हानि हुई। अन्ना द्रमुक मे 6 संसद् सदस्य शामिल हुए। मार्च, 1977 मे जो छठी लोकसभा गठित हुई वह 21 अगस्त, 1979 तक चली। जनता पार्टी की देसाई सरकार का पतन 15 जुलाई, 1979 को हुआ। मार्च, 1979 से लेकर जून, 1979 की समाप्ति तक दल-बदल की घटनाएँ बहुत कम हुई और अधिकांश ऐसी ही हुई कि कुछ संसद् सदस्यों ने कांग्रेस छोडी तो कुछ उसमें शामिल हुए। लेकिन जुलाई, 1979 से ही दल-बदल की घटनाएँ पुनः तेज हो गईं जिसे कुछ क्षेत्रो ने दल-बदल न कहकर दल-विभाजन की संज्ञा दी। 9 जुलाई, 1979 को जनता पार्टी के दस संसद् सदस्यों ने पार्टी का त्याग कर दिया और वे राजनारायण की 'जनता (एस)' मे जा मिले। तीन दिनों मे ही 70 से अधिक संसद् सदस्यो ने जनता पार्टी से रिश्ते तोड लिए और इस दल-बदल ने, देसाई सरकार के पतन को सुनिश्चित बना दिया। इसके बाद दल-बदल की घटनाएँ एक आम बात हो गई और कोई भी राजनीतिक दल सुनिश्चित

रूप से यह दावा करने की स्थिति में नहीं रहा कि कब कौन-सा सदस्य दूसरे दल में जा मिलेगा और इसी कारण राष्ट्रपति को नई सरकार बनाने मे काफी दिक्कत और अभूतपूर्व सकट का सामना करना पडा और दल-बदल की राजनीति के अभिशाप के कारण ही उन्हे अन्ततोगत्वा यह विश्वास हो गया कि कोई भी दल स्थाई सरकार नही बना सकेगा और इसीलिए लोकसभा को भग करके मध्यावधि चुनाव कराना ही श्रेयस्कर है। इसके बाद कांग्रेस (इ) के पक्ष मे भारी दल-बदल होता रहा। जनवरी, 1980 के चुनावों मे कांग्रेस (इ) ने दो-तिहाई से भी अधिक बहुमत (351 सीटे) प्राप्त किया। और 17 शेप सीटो मे भी, जिनके चुनाव होना बाकी है, वह कुछ सीटें प्राप्त कर लेगी। कांग्रेस (इ) के प्रचण्ड बहुमत के कारण इस दल मे से अन्य दलों मे जाने की प्रवृत्ति तो रुक जाएगी, पर अन्य दलो से इस दल मे प्रवेश की प्रवृत्ति जारी रहेगी।

दल-बदल के कारण

1 चौथे आम चुनाव मे विरोधी दलों को आशातीत सफलता मिली और अधिकांश राज्यो मे विरोधी दलो के विधायकों की सख्या इतनी हो गई कि उनमे से एक-दो अथवा अधिक दल मिलकर कांग्रेसी शासन का स्थान ले सकते थे। अतः दल-बदल की प्रक्रिया बहुत तेज हो गई।

2. सत्तारूढ कांग्रेस दल में फूट लम्बे अर्से से चली आ रही थी। जब फरवरी, 1969 के चौथे आम चुनावो के बाद भारतीय राजनीति पर कांग्रेस दल का एकाधिकार समाप्त हो गया तो दल के असन्तुष्ट सदस्यों को यह अवसर हाथ लगा कि वे दूसरे दलो मे मिलकर मन्त्री-पद अथवा अन्य वांछित लाभ प्राप्त करें।

3. अनेक राज्यों मे कांग्रेस और विपक्ष के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक सन्तुलित सी हो गई कि एक अथवा दो विधायको के इधर-उधर मिलने मात्र से सरकार का पतन और निर्माण सम्भव हो गया। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक विधायक स्वयं को मन्त्रिमण्डल का सूत्रधार समझने लगा। उसके सामने स्वार्थपूर्ति के रास्ते खुल गए। अपने दल-बदल के लिए विधायक ऊँची से ऊँची 'कीमत' माँगने लगे। इस प्रकार राजनीतिक निष्ठा और सिद्धान्त व्यापार की वस्तु बन गए।

4. विधायकों और दलीय नेताओ के बीच व्यक्ति सघर्ष भी पहले के दशको की अपेक्षा अधिक तीव्र हो गए जिससे दल-बदल को प्रोत्साहन मिला।

5. चौथे आम चुनावों के बाद कांग्रेस के केन्द्रीय संसदीय मण्डल ने अपनी नीति मे कुछ इस प्रकार का परिवर्तन किया जिससे दल-बदलू सुगमता से कांग्रेस मे प्रवेश कर सकें। स्वाभाविक था कि अन्य दलों मे भी इसकी प्रतिक्रिया हुई।

6. जब कभी किसी वरिष्ठ अथवा अन्य सदस्य को चुनाव लड़ने के लिए अपने दल मे टिकट न मिला तो उसने दल-बदल का आश्रय लिया।

7. मन्त्रिपद और साधारण विधायक पद की प्राप्तियों, स्थिति आदि पहले से ही भारी अन्तर चला आ रहा था। अतः चौथे आम चुनावो के बाद

विधायकों में इस अन्तर को पाटने अथवा अपने महत्त्व को बढाने के लिए सुनहरी मौके हाथ आए जिन्हें खोना उन्होंने मुनासिब नहीं समझा।

8. कुछ दल-बदल के मामले सैद्धान्तिक आधार पर भी घटित हुए।

9. दल-परिवर्तनों के प्रति जनता की उदासीनता ने भी दल-बदल की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।

10. मार्च, 1977 के चुनावों में मतदाता ने दल-बदलुओं के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया और जनता पार्टी ने भी इस सम्बन्ध में कुछ मर्यादाएँ रखीं, किन्तु व्यक्तिगत मतभेदों और महत्त्वाकांक्षाओं ने दल-बदल का सिलसिला फिर तेज कर दिया। जनता पार्टी भी दल-बदल पर रोक लगाने सम्बन्धी अधिनियम नहीं बना सकी जिससे यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय राजनीति में अभी दल-बदल का दौर समाप्त होने वाला नहीं है। जनता पार्टी 5 विभिन्न घटकों से मिलकर बनी थी लेकिन यह मिलन 'सम्पूर्ण और आत्मिक' नहीं था। अतः इस बार भी स्पष्ट आसार थे कि देर-सवेर इन घटकों में तीव्र मतभेद उभरेंगे, सत्ता संघर्ष छिड़ेगा और दल-बदल की लहर पुनः व्याप्त होगी। हुआ भी यही कि जनता पार्टी में ही अनुशासनहीनता एवं दल-बदलाव का ऐसा अभियान चला कि आखिर पार्टी को सत्ताच्युत होना पड़ा। अधिकांश दल-बदल कांग्रेस (इ) के पक्ष में हुआ। जिसने जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावों में दो-तिहाई से भी अधिक मत प्राप्त किए।

11. दल-बदलाव को इस बात से निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा कि सत्तारूढ़ किसी भी पार्टी ने इस पर कानूनी प्रतिबन्ध नहीं लगाए। बात उठी, वातावरण तैयार हुआ, और बात वापिस गिर गई। यह विषय चर्चा एवं बहस के आगे नहीं बढ़ सका क्योंकि राजनेताओं में दल-बदलाव की राजनीति के पटु लोग भी हैं तथा इसके द्वारा लाभान्वित होने की महत्त्वाकांक्षाएँ भी जहाँ-तहाँ छिपी है। ऐसी स्थिति में इस विषयक कानून में दल-बदलाव की परिभाषा पर ही सहमति नहीं हो पायी।

दल-बदल के कुप्रभाव

हमारे देश में दल-बदल की राजनीति ने स्थापित लोकतन्त्र की प्रभा एवं प्रतिभा का भयावह रूप से क्षय किया है। केवल पद एवं सत्ता के लिए दल-बदलाव एवं आयाराम-गयाराम के जो अवांछनीय दृश्य 1967 के आम चुनावों के बाद विभिन्न राज्यों में देखे गए थे, वे हमारे यहाँ प्रचलित राजनीतिक-व्यवहार की गिरावट के तथा पद-पिपासु नेताओं के अनैतिक आचरण के निकृष्ट उदाहरण थे। आये दिन हमने विधायकों के भरे बाजार बिकने और नीलामी पर चढ़े होने की घटनाएँ सुनी एवं देखी हैं और दल-बदलाव का यह सिलसिला जो अब तक राज्य स्तर पर ही प्रभावी एवं प्रचलित था अब केन्द्र स्तर तक पहुँच गया है। यह दल-बदलाव की निष्कृति है कि प्रधान मन्त्री पद तक इसमें प्रभावी हो गया है और दल-बदल की राजनीति प्रधान मन्त्री को सत्तारूढ़ एवं सत्ताच्युत करने लगी है। दल-बदल के जो कुप्रभाव और कुपरिणाम प्रकट हुए हैं, उन्हें बिन्दु रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

1 दल-बदल के घातक दौर ने राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दिया है। 1967 के चुनावो के बाद प्रथम 17 महीनो मे 17 राज्य सरकारों का पतन हुआ, अतः अनेक राज्यों मे राष्ट्रपति शासन लागू करना पडा, पुनः चुनाव हुए और इस प्रकार धन तथा शक्ति का अपव्यय हुआ। 1977 के आम चुनावो में मतदाता ने दल-बदलुओं के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया। पर समय के साथ सब कुछ बदल गया। स्वय जनता पार्टी में ही अनुशासनहीनता और दल-बदलाव का ऐसा अभियान चला कि आखिर पार्टी को सत्ताच्युत् होना पड़ा। दल-बदल की राजनीति ने एक ऐसी राजनीतिक अस्थिरता पैदा कर दी और अप्रत्यक्ष रूप से सांविधानिक संकट लाने मे सहायता पहुँचाई कि डेढ महीने मे देश की सारी राजनीति का सारा नक्शा ही बदल गया और लोकसभा के जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों का बोझा जनता पर आ पड़ा।

2. राजनीतिक दल और विधायक अपने राजनीतिक उत्तरदायित्वों को भूलने लगे है। प्रत्येक दल के सामने अपने राजनीतिक अस्तित्व को बनाए रखने की गम्भीर समस्या पैदा हो गई है। दल-बदल के कारण राजनीतिक दलो के विभाजन को प्रोत्साहन मिला है। सौदेबाजी का व्यापार गरम हो गया है।

3. सरकार को पतन से बचाने के लिए शासक दल में मन्त्रिमण्डल का अनावश्यक विस्तार करने की प्रवृत्ति पनपी है। असन्तुष्ट विधायको को सन्तुष्ट करने का यह तरीका अधिक सरल लगा है।

4. अधिकतर राज्यो मे मन्त्रिगण प्रायः कुर्सी बचाने की फिक्र में लगे रहे अतः शासन व्यवस्था बिगड़ती गई, सार्वजनिक धन का अपव्यय बढ़ता गया, नीतियों का समुचित क्रियान्वयन नहीं हो पाया। शासन की अस्थिरता के जो कुपरिणाम हो सकते है वे सब तेजी से प्रकट होने लगे।

5. छोटे-छोटे गुटों के नए दल पनपने लगे। चौधरी चरणसिंह ने भारतीय क्रान्ति दल बनाया तो अजय मुखर्जी ने बगला कांग्रेस का निर्माण किया और कुम्भाराम आर्य राजस्थान मे जनता पार्टी बना कर दल निर्माताओं की बारात मे शामिल हो गए। आगे चलकर, दल-बदल के कारण, नए-नए दलों का उदय हुआ यथा 1978 मे इन्दिरा कांग्रेस तो 1979 मे जनता (एस) और फिर लोकदल। तकनीकी रूप से चाहे हम इसे दल-विभाजन कहें, लेकिन नैतिक रूप मे इसे दल-बदल ही माना जाएगा।

6. जन-साधारण की लोकतान्त्रिक आस्थाओं पर कुठाराघात हुआ है। दल-बदलुओं के प्रति निर्वाचकों के दिल में कोई प्रतिष्ठा नही रही है। फलस्वरूप जिन राज्यों मे राष्ट्रपति शासन के बाद पुनः निर्वाचन हुए उनमे अधिकांश दल-बदलुओं को पराजय का मुख देखना पड़ा है।

7. विदेशो मे भारत के सम्मान को ठेस पहुँची है और बाह्य तत्त्वों को देश की राजनीति मे हस्तक्षेप करने के अधिक उत्साहजनक अवसर मिले हैं।

दल-बदल को रोकने के उपाय और दल-बदल निषेध की समस्याएँ

दल-बदल के वीभत्स रूप और घातक परिणाम राजनीतिज्ञों को मजबूर करते रहे है कि वे दल-बदल को रोकने की दिशा में सक्रिय हों। अतः सबसे पहले मार्च, 1968 में एक सर्वदलीय समिति नियुक्त की गई जिसमें प्रमुख-प्रमुख राजनीतिक दलों के सदस्यों के अलावा निर्मल चन्द्र चटर्जी, सी० के० दफ्तरी जैसे विधिवेत्ता और सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण भी सम्मिलित थे। समिति की मुख्य सिफारिशें थी—(i) राजनीतिक दलों को एक आचरण संहिता बनानी चाहिए, (ii) प्रतिनिधि को उसी दल से सम्बद्ध समझा जाना चाहिए जिसके टिकट पर उसने चुनाव जीता है, (iii) जो व्यक्ति निम्न सदन का सदस्य न हो वह प्रधान मन्त्री या मुख्य मन्त्री नहीं बनाया जाना चाहिए, (iv) दल-बदलुओं को मन्त्रि-पद नहीं दिया जाना चाहिए, एवं (v) मन्त्रि-मण्डल के आकार की सीमा निश्चित कर दी जानी चाहिए। समिति ने दल-बदल की परिभाषा भी प्रस्तावित की। यह कहा गया कि "यदि कोई व्यक्ति किसी राजनीतिक-दल के सुरक्षित चुनाव-चिन्ह पर चुनाव द्वारा संसद् के किसी सदन अथवा किसी राज्य या संघ शासित क्षेत्र की विधान-सभा या विधान-परिषद् का सदस्य निर्वाचित होने के बाद स्वेच्छा से उस राजनीतिक दल के प्रति अपनी निष्ठा का परित्याग करता है अथवा उस राजनीतिक दल से सम्बन्ध विच्छेद करता है और उसका यह कार्य उसके दल के किसी सामूहिक निर्णय का परिणाम नहीं है तो यह माना जा सकता है कि उसने दल-बदल किया है।"

दल-बदल को रोकने के लिए 16 मई, 1973 को लोकसभा में तत्कालीन गृह मन्त्री श्री उमाशंकर दीक्षित ने एक दल-बदल निषेधी विधेयक पेश किया। यह विधेयक 'संविधान-संशोधन (बत्तीसवां) विधेयक' के रूप में प्रस्तुत हुआ जिसमें निम्नलिखित मुख्य व्यवस्थाएँ प्रस्तावित की गई—

1. संसद् या विधान-सभाओं के जो सदस्य स्वेच्छा से अपना दल (जिस दल के टिकट पर वह चुनाव जीता था) छोड़ना चाहते है वह विधान-मण्डल की सदस्यता से वंचित कर दिया जाएगा।

2. इसी प्रकार जो सदस्य विधान-मण्डल में अपने 'दल या दल द्वारा अधिकृत व्यक्ति के द्वारा जारी किए गए निर्देश के विरुद्ध मत देता है या मतदान नहीं करता', वह भी विधान-मण्डल की सदस्यता से हाथ धो बैठेगा। अलबत्ता, यदि उसने अपने दल से 'विरुद्ध आचरण' के लिए पूर्वानुमति प्राप्त कर ली है तो वह दल-बदल नहीं माना जाएगा।

3. दल-बदल अथवा सचेतक के निर्देश के विरुद्ध आचरण संसद् की सदस्यता को जोखिम में नहीं पड़ने देती तभी यह अनुज्ञेय है जब राजनीतिक दल टूट या विभाजित हो रहा हो।

4. राजनीतिक दल में विभाजन होने पर नए दल के सदस्य किसी सम्बद्ध नियम-उप-नियम, आदेश या अधिसूचना के अधीन दल का पंजीकरण करा लेंगे तब

मूल दल के निर्देश के विरुद्ध मतदान करने पर सदस्यता से वंचित नहीं किए जा सकेंगे।

5. राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल दल-बदल के मामलों पर तभी विचार कर सकेंगे जब सम्बद्ध राजनीतिक दल या उसकी ओर से अधिकृत व्यक्ति मसला उठाए।

दल-बदल पर वैधानिक अंकुश लगाने का प्रश्न विचाराधीन रहा, इस सम्बन्ध में कोई अधिनियम बन नहीं सका। मार्च, 1977 में सत्तारूढ होने के बाद जनता पार्टी इस दिशा में सक्रिय हुई। अनेक सदस्यों ने दल-बदल रोक विधेयक लाने पर बल दिया। 1978 के मध्य सरकार द्वारा दल-बदल विधेयक पेश किया गया जिसमे यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई सदस्य पार्टी के निर्देश के प्रतिकूल मतदान करने पर पार्टी से निकाला जाएगा तो वह सदन की सदस्यता से भी वंचित होगा। दल-बदल को रोकने के लिए कुछ और भी व्यवस्थाएँ विधेयक में की गई है। लेकिन विधेयक का जनता पार्टी के सांसदो ने इतना विरोध किया कि आखिर विधेयक वापिस ले लिया गया। इस विधेयक मे कुछ ऐसी बातें थी, जो दल-बदल को रोकते-रोकते दलो को ही खत्म करने का मार्ग प्रशस्त कर देती। इसके द्वारा वैचारिक मतभेद व्यक्त करने और अन्तरात्मा की स्वीकृति के अनुसार व्यवहार करने पर भी रोक लग जाती तथा दलो में आकाशाही को बढावा मिलता। इस प्रकार विधेयक मे दल-बदल के रोग का उपचार रोग से बदतर सिद्ध हो सकता था।

लोकतान्त्रिक देशों में दल-बदल कोई नई चीज नहीं है। वैचारिक आधार पर राजनीतिक दलों के विकास के साथ राजनीतिक चिन्तकों और नेताओं को समय-समय पर अपने चिन्तन के विकास के आधार पर दल-बदल करना पड़ता रहा है। ब्रिटेन के तो विख्यात प्रधान मन्त्रियों—रॉबर्ट पील, ग्लैडस्टन तथा डिजरायली ने दल-बदल किया था। उनके दल-बदल के कारण विचारधारा और नीति सम्बन्धी थे और उनके दल-बदल के कारण ब्रिटेन की राजनीति और संसदीय प्रणाली पर कोई कु-प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु जब कोई सदस्य लालचवश अथवा किसी ओहदे के आकर्षण से दल बदलता है, तो इससे लोकतंत्र और दलीय प्रणाली को धक्का लगता है। दल-बदल के निषेध का प्रश्न हमारे सामने कुछ समस्याएँ पैदा करता है जिन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा। ये समस्याएँ मुख्यतः इस प्रकार है—

(क) संसदीय लोकतन्त्र मे राजनीतिक दल का महत्त्व इसलिए अधिक है कि सदन मे जिस दल का बहुमत होता है उसी का नेता सरकार बनाता है। इसलिए कभी-कभी संख्या का जोड़-तोड़ किसी भी राजनीतिक दल के लिए महत्त्वपूर्ण बन सकता है।

(ख) दल या उसका आन्तरिक अनुशासन बड़ा है अथवा वे जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है। हमेशा हर जगह राजनीतिक दल को नहीं, वरन् व्यक्ति को, उम्मीदवार के व्यक्तित्व को मत मिलते है। इसके अलावा भारतीय संविधान में राजनीतिक दलों और उनके प्रति आस्थाओं को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है।

(ग) यदि दल-बदलू को ही सजा मिलने की व्यवस्था हो, उस दल को जिसमें शामिल होने की गरज से वह अपने मतभेदों को 'दल की टूट' की संज्ञा

अपनी पार्टी छोड़ता है, तो इस बात की आशंका बनी रहेगी कि विधेयक छोटी पार्टियों को तोड़कर बड़ी ताकतवर पार्टियों को अयाचित लाभ पहुँचाएँगे। अतः व्यवस्था यह भी होनी चाहिए कि दल टूटने के बाद नए या मूल दल के लोग किसी अन्य राजनीतिक दल मे शामिल नही किए जा सकेंगे।

श्री बलराज मधोक ने लिखा है कि "दल-बदल पर रोक लगाना आवश्यक है और इसके लिए दल-बदल विरोधी विधेयक बहुत समय पहले पारित हो जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा विधेयक बनाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि विधेयक के किन्ही प्रावधानों के कारण विधायको की वैचारिक स्वतन्त्रता कुण्ठित न हो और दलो के आकार मे तानाशाही प्रवृत्ति को बढ़ावा न मिले। प्रामाणिक विचार भिन्नता के आधार पर किसी विधायक का दल बदलना लोकतंत्र के लिए हानिकारक नही हो सकता। इस प्रकार के दल-बदल का प्रभावी इलाज एक ही है और वह यह है कि वैचारिक आधार पर दलों का पुनर्गठन हो और विधायक तथा अन्य राजनीतिक लोग विचारधारा और नीतियों के आधार पर दलों का चयन करें। जब तक ऐसा नही होता किसी न किसी रूप में दल-बदल की प्रक्रिया जारी रहेगी। दल-बदल विरोधी समिति की रिपोर्ट के अनुसार बनाया गया विधेयक ही इस स्थिति मे उपयुक्त और काफी हद तक सर्वमान्य हो सकता है।"

वास्तव मे दल-बदल की समस्या का यथार्थ निदान न तो निषेधात्मक विधान मे है और न राजनीतिक नेताओ और राजनीतिक दलो के सदस्यो की भावनात्मक प्रतिज्ञाओ और घोषणाओ मे। समस्या का स्थायी समाधान तो इस बात में है कि भारत के मतदाताओ और निर्वाचितो के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया जाए, देश के लोगो को परिपक्व राजनीतिक शिक्षण मिले। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के शब्दो में, "जनता के प्रकोप द्वारा और निर्वाचन के समय दल-बदलू को लोकमत के माध्यम से उसके अपराध की सजा देकर ही इस रोग का निदान सम्भव है। जब तक लोकतन्त्र के मूल्यो का प्रतिनिधियो और मतदाताओ में व्यापक सामाजीकरण नही होता तब तक दल-बदल पर पूर्ण प्रभावी सीमाएँ लगना कठिन है।"

भारत में दबाव समूह
(Pressure Groups in India)

दबाव समूह क्या है ?

एक लोकतान्त्रिक समाज की राजनीति मे राजनीतिक दलों के अतिरिक्त अन्य संगठनों और समूहो का भी कार्य भाग (Role) होता है। शासन की प्रक्रिया पर, विशेष तौर पर नीति-निर्धारण और विधि-निर्माण पर समाज के विभिन्न समूह अपने विशेष हितो की पूर्ति के लिए दबाव डालते है। इस प्रकार दबाव या प्रभाव डालने वाले समूहो या संगठनो या गुटों को राजनीतिक भाषा में दबाव समूह, हित समूह या प्रभावक समूह आदि की संज्ञा दी जाती है। जिन व्यक्तियों के व्यावसायिक, आर्थिक आदि हित एक से होते हैं वे हित-समूह बन जाते हैं। कुछ हित-समूह बड़े

सुदृढ ढंग से गठित होते है और जब वे अपने विशेष हितों के लिए सक्रिय रूप से शासन पर दबाव डालते है तो उनका स्वरूप दबाव-गुट का हो जाता है। मायरन वीनर की परिभाषा के अनुसार, "हित अथवा दबाव समूह वह स्वेच्छित सगठित समूह है जो प्रशासकीय ढाँचे से बाहर हो और जो सरकारी कर्मचारियों के नामांकन अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक रीतियो को अपनाए जाने, उनके प्रशासन और निर्वाचन को प्रभावित करने का प्रयास करता हो।" कार्टर एव हर्ज के शब्दों मे, "विभिन्न आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक, नैतिक एव अन्य समूहो से भरे आधुनिक बहुलवादी समाज के सामने अनिवार्य रूप से एक बड़ी समस्या यही है कि इन विविध हितों तथा शासन और राजनीति के बीच सम्बन्ध क्या हो। एक स्वतन्त्र समाज मे हित समूहों को स्वतन्त्र रूप से संगठित होने की अनुमति होती है और जब ये समूह सरकारी यन्त्र और प्रक्रिया पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते है और इस प्रकार कानूनों, नियमो, लाइसेंस, करारोपण तथा अन्य विधायी और प्रशासकीय कार्यों को अपने अनुकूल ढालने की चेष्टा करते है तो स्पष्ट ही ये हित (Interests) 'दबाव-समूहों' (Pressure Groups) मे बदल जाते है। अब हित समूहो की गतिविधियाँ सरकार पर दबाव (Pressure) डालने की हो जाती है।"[1]

दबाव-समूहों की कार्य-शैली

दबाव-समूह राजनीतिक दल नही होते और उनकी कार्य-शैली भी राजनीतिक दलों से भिन्न होती है और उनके लक्ष्य भी। दबाव-समूह चुनावों मे अपने उम्मीदवार खड़े करके राजनीति मे प्रत्यक्ष भाग तो नही लेते किन्तु अपनी शक्ति और साधनों के अनुसार अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की नीतियो को प्रभावित करते रहते है। राजनीतिक दलों का लक्ष्य होता है सत्ता का स्वामित्व और दबाव-समूहों का सत्ता का नियन्त्रण। किसी भी दल का काम वोट और पैसे के बिना नही चलता और प्रत्येक दल को अपने कार्यक्रम की सफलता के लिए नैतिक समर्थन की भी आवश्यकता रहती है। अतः जो दबाव समूह जिस हद तक किसी राजनीतिक दल की इन आवश्यकताओं को पूरी कर पाता है उसी हद तक उस दल को उसकी बात भी माननी पड़ती है। ये दबाव-समूह केवल सगठित दलो को ही नही बल्कि अपने प्रचार द्वारा सीधे मतदाताओं को भी प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार ससद् सदस्यों और जब किसी दल की सरकार बन जाती है तो मन्त्रियो को अपने पक्ष मे करने की ये कोशिश करते है। कभी-कभी विभिन्न समूहो के अपने व्यक्ति किसी दल की ओर से अथवा निर्दलीय निर्वाचित होकर संसद् मे पहुँच जाते है और अपने समूह के हित का समर्थन करते है। साथ ही बडे समूहों की ओर से ससद्-सदस्यो, ससद्-समितियो और मन्त्रालयों से सम्पर्क रखने के लिए विशेष एजेन्ट नियुक्त रहते है जो निरन्तर अपना काम करते रहते है। इस प्रकार के सम्पर्क तथा प्रभावीकरण को अमेरिका मे 'लॉबीइंग' का नाम दिया जाता है। इस प्रणाली का वहाँ इतना जोर है कि इसके

1 *Carter & Herz:* Government and Politics in the Twentieth Century, pp. 167-68.

द्वारा जिस कानून का विरोध होता है उसके पारित होने की कोई आशा नहीं रहती और जिसका समर्थन होता है वह सहज ही पारित हो जाता है। इसलिए दबाव-समूहों को वहाँ 'नायब सरकार' भी कहा जाता है।[1]

दबाव-समूह का महत्त्व

दबाव-समूह आज एक संस्था के रूप में कार्य करते हैं। ये विधायकों को इतना प्रभावित कर लेते हैं कि सामान्य कानून में संशोधन अथवा किसी कानून का निर्माण करते समय वे उनके हितों का ध्यान रखते हैं। दबाव-समूह निर्वाचन के लिए उम्मीदवार खड़े नहीं करते लेकिन बड़े-बड़े नेता और संसद सदस्य इनका समर्थन प्राप्त कर चुनावों में विजय प्राप्त करते हैं। दलीय उम्मीदवारों को इनसे चुनावों के लिए धन मिलता है। अतः वे संसद में पहुँचकर उनके हितों की रक्षा करते हैं।

दबाव-समूह अपने हितों के विरुद्ध व्यवस्थापन का यथाशक्ति विरोध करते हैं। इस प्रक्रिया में प्रायः ऐसे विधायकों का पुनर्मूल्यांकन हो पाता है जो जनता की आकांक्षाओं अथवा हितों के प्रतिकूल हैं। आज दलीय अनुशासन की कठोरता के फलस्वरूप व्यक्तिगत विधायक का महत्त्व घटता जा रहा है और दबाव-समूह का प्रभाव परोक्ष रूप से बढ़ रहा है। हर्मन फाइनर के अनुसार, "जहाँ सिद्धान्त तथा संगठन में राजनीतिक दल कमजोर होंगे, दबाव-समूह पनपेंगे। जहाँ दबाव-समूह शक्तिशाली होंगे वहाँ राजनीतिक दल कमजोर होंगे। जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे वहाँ दबाव-समूह दबा दिए जाएँगे।"

एक लोकतन्त्रात्मक राज्य में विभिन्न वर्गों के अलग-अलग हितों की रक्षा में दबाव-समूह बहुमूल्य सिद्ध हुए हैं। वी० ओ० की० शब्दों में "दबाव-समूह दलीय पद्धति में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के कार्य को सम्पन्न करते हैं और क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की कमी को दूर कर देते हैं।" इनके द्वारा चुनावों के बीच के काल में लोकतन्त्र को जीवित रखने का कार्य किया जाता है। दबाव-समूहों के माध्यमों में जन-साधारण के बीच सम्पर्क सूत्र स्थापित होता है। ये समूह सामान्य जनता को शासन तक पहुँचाने का मार्ग प्रदान करते हैं और इस तरह शासन-व्यवस्था को साधारण जनता के प्रति संवेदी (Responsive) बनाते हैं। दबाव-समूह वास्तव में राजनीतिक वातावरण के मापक यन्त्र हैं जिनके आधार पर नीति-निर्माता अपनी नीतियों का निर्माण और मूल्यांकन कर सकते हैं।

भारत में दबाव-समूहों के विभिन्न प्रकार

भारत में दबाव एवं हित-समूहों को अभी तक वह प्रभावपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं हो सकी है जो पश्चिमी राष्ट्रों में उन्हें सहज ही प्राप्त है। इनका विकास मन्द गति से हुआ है और जो अस्तित्व में हैं ये पाश्चात्य हित-समूहों की तुलना में दुर्बल हैं। यह दुर्बलता ब्रिटिश विरासत के रूप में मिली है तथापि राजनीतिक चेतना के विकास के साथ-साथ अब देश में दबाव-समूह अधिकाधिक सक्रिय बनते जा रहे हैं।

1 रघुकुल तिलक : वही, पृष्ठ 516–517.

भारत में विद्यमान दवाव-समूहों को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) परम्परागत दवाव-समूह (Traditional Pressure Groups);

(ख) आधुनिक दवाव-समूह (Modern Pressure Groups) यथा व्यापारिक एवं औद्योगिक दवाव-समूह, श्रमिक सघ, किसान सगठन, विद्यार्थी सगठन, महिला एव प्रशासनिक कर्मचारी सघ आदि।

(क) भारत मे परम्परागत दवाव-समूहों (Traditional Pressure Groups) में जाति एव धर्म पर आधारित दवाव-समूहो का उल्लेख किया जा सकता है। जाति और धर्म मूलतः सामाजिक-सांस्कृतिक सस्थाएँ हैं, अतः राजनीति में इनकी भूमिका नगण्य होनी चाहिए, किन्तु भारत के सार्वजनिक जीवन मे धर्म और जाति के तत्त्वो का अपना विशिष्ट स्थान है और इन पर आधारित दवाव-समूह अनेक अवसरो पर राजनीतिक एव सार्वजनिक क्षेत्रो मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। सांस्कृतिक दवाव-समूहों के रूप मे विगत वर्षों में भारत-चीन मैत्री समाज, भारत-रूस सांस्कृतिक सघ, अखिल भारतीय शान्ति परिषद् आदि सांस्कृतिक सगठन विशेष रूप मे सक्रिय रहे हैं। राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ भी एक प्रभावशाली दवाव-समूह है जो भूतपूर्व जनसंघ दल का सहयोगी है। जातीय धार्मिक एवं दवाव-समूहो मे उल्लेखनीय हैं—भारतीय इसाइयो के अखिल भारतीय सम्मेलन, आंग्ल-भारतीय ऐसोसिएशन, सनातन धर्म रक्षिणी सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, मारवाड़ी एसोसिएशन, हरिजन सेवक सघ, जाट सभा, वैश्य महासभा, वगाली समाज आदि। ये सभी दवाव एवं हित-समूह अपनी जाति और सदस्यो के हितों की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते है तथा देश की राजनीति और चुनाव अभियानों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। कुछ राजनीतिक दलों, यथा—अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कषघम, मुस्लिम मजलिस, जमीयत उल-उलेमा-ए-हिन्द, झारखण्ड दल, परिगणित जाति सघ आदि का उदय मुख्यतः दवाव-समूहों के रूप मे ही हुआ था और आज भी अपने स्वरूप और कार्यों की दृष्टि से वे थोडी सीमा तक राजनीतिक दल और अधिक सीमा तक दवाव-समूह माने जा सकते हैं। शिवसेना भी जातीयता पर आधारित दवाव-समूह ही है। अनुसूचित जातियों के समूह अपने हितो की रक्षा के लिए शासन पर निरन्तर दवाव डालते रहते है। उनका प्रयत्न रहता है कि अनुसूचित जाति के लोगो को अधिकाधिक राजनीतिक एवं प्रशासनिक पद प्राप्त हों। महाराष्ट्र में एक शक्तिशाली दवाव-समूह के रूप में 'दलित पेंथर' का उदय हुआ है। भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश डॉ. गजेन्द्र गडकर ने इस दवाव-समूह को 'दलितोद्धार की दिशा मे कार्य करने वाली महान् शक्ति' कहा है।

(ख) भारत में आधुनिक दवाव-समूहों (Modern Pressure Groups) मे व्यावसायिक एव औद्योगिक दबाव-समूह, श्रमिक संघ, किसान संगठन, शिक्षित वर्ग के संगठन आदि तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, गांधीवादी संगठन भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भारत में भी ये दवाव-समूह व्यवस्थापन समितियों को प्रभावित

करते है। हम प्रायः सत्ताधारी दल पर बिड़ला बन्धुओं आदि को विशेष सुविधाएँ तथा लाइसेंस आदि देने के आरोपों की बात सुनते है। यह सब दबाव-समूहों के कारण ही सम्भव होता है। दबाव-समूहों को मन्त्रिमण्डलो के निर्णय तक को बदल देने की क्षमता है।

(i) व्यापारिक दबाव-समूहों के रूप में टाटा, बिडला, डालमिया आदि परिवारों ने देश के व्यापार और व्यवसाय को अपने हाथो में केन्द्रित कर रखा है। ये परिवार चंदा देकर, राजनीतिक दलों को उपहार देकर, सार्वजनिक कोषों मे दान देकर, औद्योगिक तथा शिक्षण संस्थाओं मे उचित वेतन वाले पद देकर, अपने समर्थक प्रत्याशियों को निर्वाचन मे विजयी बनाकर सार्वजनिक नीति को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखते है। व्यापारिक जातियाँ भी है जो सार्वजनिक नीति को प्रभावित करती है, जैसे मारवाड़ी, जैन, पारसी, दक्षिण भारत में चेट्टियार आदि। इसके अतिरिक्त अनेक व्यापारिक सगठन है जिनमे कुछ तो कार्यों के आधार पर संगठित हैं, जैसे एम्पलायर्स फैडरेशन ऑफ इण्डिया (Employers Federation of India), बीमा बिल ओनर्स एसोसिएशन (Insurance Bill Owners Association) आदि एव कुछ धर्म अथवा जाति के आधार पर सगठित है, जैसे मुस्लिम एवं मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कॉमर्स आदि। ये सगठन व्यापारिक दृष्टिकोण मे एकरूपता लाने और व्यापार के स्तर की वृद्धि करने मे कार्यरत रहते है। इन सभी व्यापारिक संगठनो के शीर्ष पर 'फैडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' (Federation of Indian Chamber of Commerce & Industry) है। इन व्यापारिक दबाव- समूहों का सार्वजनिक नीति पर काफी दबाव रहता है। सभी सभाओं मे निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओ पर इन्हीं का नियन्त्रण है, अतः व्यापारिक दृष्टिकोण के प्रचार और प्रसार मे कोई बाधा नही होती।

भारत में निकलने वाले मुख्य पत्र जैसे हिन्दुस्तान टाइम्स, टाइम्स ऑफ इण्डिया, कॉमर्स, कैपीटल, इण्डियन फाइनेन्स, ईस्टर्न इकोनोमिस्ट आदि पर इन्ही कुछ व्यापारिक घरानो का आधिपत्य है। अधिकांश चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स अपने-अपने पत्र अलग-अलग पत्र निकालते है। समाचार एजेन्सियाँ भी अधिकतर इन्ही के द्वारा नियन्त्रित होती है। हमारे यहाँ सचिवालयो मे नियुक्त उच्च अधिकारियों की पृष्ठभूमि भी इन्ही घरानो से पूर्णतया प्रभावित है। यहाँ तक कि भारतीय संसद् मे भी इन घरानों का प्रभाव व्याप्त है और इस प्रकार देश के राजनीतिक प्रबन्ध मे इन्ही का हाथ रहता है। इन्ही विचारों के अनेक समर्थको जैसे टी० टी० कृष्णमाचारी, होमी मोदी, ए० डी० सर्राफ, पुरुषोत्तमदास, ठाकुरदास, जी० एल० मेहता आदि ने प्रशासन मे महत्वपूर्ण पद प्राप्त किए है। वास्तव में सरकार में अनेक ऐसे व्यक्ति प्रशासकीय और प्रभावशाली राजनीतिक पदो पर रहे है जो पूँजीपतियो के समर्थक हैं। सत्तारूढ दल में होने के कारण उन्होंने देश की नीतियों पर पूँजीपति वर्ग के हित में अपना प्रभाव डाला है। लाइसेन्स प्राप्त करने, अपने

अनुकूल कानून करवाने तथा सुविधाजनक नीतियों को बनवाने के लिए ये सरकार पर अनेक प्रकार से निरन्तर दबाव डालते रहते हैं। विपिनचन्द्र बोस आयोग की रिपोर्ट को, जिसमें डालमिया जैन उद्योगों की जाँच स्वरूप रामकृष्ण डालमिया तथा उनके सम्बन्धियों द्वारा अपनाए गए अनुचित उपायों का पर्दाफाश किया गया था, छिपाने के लिए केन्द्रीय सरकार पर अत्यधिक जोर डाला गया था। डॉ० हजारी की रिपोर्ट से ऐसे ही तथ्य बिड़ला घराने के सम्बन्ध मे भी सामने आए, परन्तु सरकार पर दबाव होने के कारण लीपा-पोती कर दी गई। अतएव यह स्पष्ट है कि इन व्यापारिक सगठनों का प्रभाव सरकार तथा सरकारी नीतियो पर पूरी तरह से रहता है।

(ii) श्रमिक संगठनों (ट्रेड यूनियन्स) का देश की राजनीति पर काफी प्रभाव है—विशेषकर उन नगरो और क्षेत्रो पर जहाँ कि सगठित श्रमिकों की सख्या काफी है। आज श्रमिको के चार अखिल भारतीय सगठन क्रियाशील हैं—इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस, ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, हिन्द मजदूर सभा तथा यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस। इनमें से प्रत्येक सगठन के साथ बड़ी सख्या मे मजदूर सघ सम्बद्ध है और प्रत्येक सगठन की सदस्य सख्या भी लाखो में है।

एकता की कमी, पारस्परिक अविश्वास, प्रतिस्पर्द्धा आदि के कारण पाश्चात्य देशों के ट्रेड यूनियनो के मुकाबले भारतीय ट्रेड यूनियनो का प्रभाव बहुत कम है। एक बड़ा अन्तर यह भी है कि भारतीय ट्रेड यूनियनें राजनीतिक दलो की सहायक सस्थाएँ बन कर रह गई हैं, अभी तक अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विकास नहीं कर सकी हैं और न ही कोई सर्वमान्य आचार सहिता बना सकी है। यहाँ तक कि ट्रेड यूनियनें न तो पूरी तरह दबाव-समूह की ही भूमिका निभाती हैं और न राजनीतिक दल की भाँति ही कार्य करती है। यूनियनों के कार्यक्रम रचनात्मक कम है। हड़तालों, प्रदर्शनो और निर्वाचन कार्यों मे ये अपने आपको अधिक व्यस्त रखते हैं।

(iii) अन्य देशो के समान ही भारत मे भी **शिक्षित वर्ग के लोगों ने अपने-अपने दबाव-समूहों** अथवा हित-सगठनो का निर्माण किया है। इसमे अखिल भारतीय मेडिकल कौंसिल (All India Medical Council), अखिल भारतीय रेलवे मेन्स एसोसिएशन (All India Railway Men's Association), अखिल भारतीय पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ्स यूनियन (All India Postal & Telegraphs Union) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बार एसोसिएशन, शिक्षक संघ तथा मेडिकल कौंसिल के सदस्य विधि-निर्माण-प्रक्रिया को अपने हितों के अनुकूल प्रभावित करने को सचेष्ट रहते है।

(iv) **महिलाओं के दबाव-समूह और सगठन** भी भारत मे अर्से से सक्रिय रहे हैं। अखिल भारतीय स्त्री सम्मेलन (All India Women's Conference) की शाखाएँ देश-भर मे फैली हुई हैं। पहले इस पर साम्यवादियों का प्रभाव था, किन्तु अब यह कांग्रेस से सम्बद्ध है। एक दबाव-समूह के रूप मे यह सम्मेलन स्त्री-समाज के कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करता है और

कानूनी व सामाजिक पद को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। भारतीय संसद् में हिन्दू कोड-बिल पर विचार होते समय इस सम्मेलन ने एक दबाव-समूह के रूप में बड़ा सक्रिय कार्य किया था।

(v) **विद्यार्थी संगठनों** मे अखिल भारतीय छात्र संगठन, राज्य विशेष या विश्वविद्यालय विशेष के अपने छात्र संगठन, युवक कांग्रेस आदि सम्मिलित हैं। राज्यों में विश्वविद्यालय स्तरों पर विद्यार्थी समूह उभर आए हैं और स्थानीय स्तरों के विद्यार्थी समूह उच्चतर विद्यार्थी समूहों से सम्बद्ध है। छात्रों की अलग-अलग यूनियनें भी है जो परस्पर सहयोग भी करती हैं और विरोध भी। छात्र सगठन राजनीतिक रूप से अधिक सचेष्ट हैं, किन्तु उनमे दिशा-निर्देश और सुसगतता का अभाव है। देश के छात्र सगठन राजनीतिक दलो की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के केन्द्र बने हुए है और फलस्वरूप शिक्षण सस्थाओं के वातावरण पर बुरा प्रभाव पड़ा है। छात्र सगठनों के माध्यम से छात्रो की अनेक गतिविधियाँ राजनीतिक आन्दोलनों से जुड़ी हुई है।

(vi) **कृषक और ग्रामीण संगठन** और समूह अब अपना प्रभाव दिखाने लगे हैं और भारत का प्रत्येक राजनीतिक दल इन दबाव या हित-समूहो के समर्थन का आकांक्षी है। प्रमुख राजनीतिक दलों से अनुबद्ध जो किसान एव ग्रामीण संगठन है वे हित स्पष्टीकरण के दृष्टि से उतना महत्त्व नही रखते जितना राजनीतिक दलो के पक्ष में समर्थन जुटाने की दृष्टि से। साम्यवादियों के प्रभाव मे ग्रामीण क्षेत्रो में दो कृषि संगठन कार्यरत रहे है—किसान सभा और कृषि मजदूर यूनियन। इन संगठनों की प्रकृति वास्तव मे दबाव-समूहों जैसी न होकर दलीय एजेन्सियो जैसी रही है।

(vii) **गाँधीवादी संगठन** देश मे काफी प्रतिष्ठित है। सर्वोदय समाज, सर्व सेवा संघ, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, तालीमी सघ, भूदान आन्दोलन आदि गाँधीवादी संगठन है। ये दबाव-समूह नशाबन्दी, बुनियादी शिक्षा, सामाजिक नीतियों आदि के सम्बन्ध मे सरकार पर निरन्तर दबाव डालते रहते है। गाँधीवादी सगठन औपचारिक रूप मे सारे दबाव-समूहो की तरह राजनीतिक सस्थाओं को प्रभावित करने का कार्य नही करते। इनका प्रयत्न यह रहता है कि समाज मे आवश्यक नैतिक जागरण पैदा कर वांछित परिवर्तन लाया जाए। वैसे केन्द्रीय तथा राज्य सरकार से घनिष्ठ वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा ये सरकारी नीतियों पर गहरा प्रभाव डालने में सक्षम है।

भारत मे कुछेक दबाव-समूहो ने सार्वजनिक व्यवस्था को खतरा उत्पन्न किया है और सरकारी नीतियो पर अनुचित दबाव डालने की चेष्टा की है। दबाव-समूहो की अलोकतान्त्रिक गतिविधियों पर नियन्त्रण अपेक्षित है।

24 निर्वाचन

(ELECTIONS)

साधारणतः संविधान में निर्वाचनों के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नही की जाती और इस कार्य का पूरा भार विधान-मण्डलो पर ही छोड़ दिया जाता है।[1] किन्तु भारत के संविधान-निर्माता नागरिकों के इस राजनीतिक अधिकार को पूर्णतः सुरक्षित करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। अतः उन्होंने संविधान का एक पूरा भाग 15 निर्वाचनों से ही सम्बद्ध किया। इस भाग में अनुच्छेद 324 से 329 तक निर्वाचनों के सम्बन्ध में विभिन्न सांविधानिक व्यवस्थाएँ उपबन्धित की गई हैं।

निर्वाचनों का वैधानिक ढाँचा
(Legal Framework of Elections)

भारत में निर्वाचन की व्यवस्था के लिए एक स्वतन्त्र प्रशासकीय तन्त्र (An Independent Administrative Machinery) की स्थापना संविधान द्वारा की गई है। यद्यपि भारत एक संघात्मक राज्य है, लेकिन निर्वाचन के लिए प्रशासकीय तन्त्र एकात्मक शासन-प्रणाली के आधार पर स्थापित है, अर्थात् यह सम्पूर्ण भारत के लिए समान है। निर्वाचन का कार्य प्रशासनिक प्रकृति का अधिक है, अतः संविधान ने मुख्य चुनाव आयुक्त (Chief Election Commissioner) के रूप में एक ऐसे अधिकारी की व्यवस्था की है जो बड़ा प्रभावशाली हो, राजनीतिक दबाव से मुक्त हो और जिसके आदेशों का पालन अधीनस्थ अधिकारी पूर्ण निष्ठा के साथ करें।

निर्वाचन तन्त्र के प्रमुख कार्य

निर्वाचन तन्त्र के अथवा निर्वाचन की व्यवस्था करने वाले प्रशासकीय तन्त्र के (जिसमें निर्वाचन आयोग और उसके अधिकार, राज्य स्तर पर निर्वाचन विभाग आदि सम्मिलित हैं) प्रमुख कार्य अग्रलिखित हैं—

1 एम. वी. पायली : वही, पृष्ठ 327.

(1) निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन, (2) मतदाताओं की सूचियाँ तैयार करना तथा उनका प्रकाशन करना, (3) चुनाव चिन्हों की व्यवस्था करना, (4) निर्वाचन सामग्री का प्रबन्ध करना, जैसे मतपत्र, मतदान पेटी, स्याही, मोहर आदि की व्यवस्था, (5) निर्वाचन कार्यक्रम तैयार करना, (6) नामजदगियों की व्यवस्था करना, (7) अभिकर्त्ता-व्यवस्था, (8) मतदान व्यवस्था, (9) गणना और परिणाम की उद्घोषणा, (10) जमा एवं उसका प्रबन्ध, (11) निर्वाचन व्यय पर सीमाओं का आरोपण, एवं (12) याचिकाओं के लिए प्रबन्ध आदि।

निर्वाचन तन्त्र का गठन

निर्वाचन सम्बन्धी उपर्युक्त सभी कार्यों के सम्पादन के लिए जिस स्वतन्त्र प्रशासकीय तन्त्र का गठन किया गया है, वह इस प्रकार है—

(क) निर्वाचन आयोग।
(ख) राज्य स्तर पर निर्वाचन विभाग।

(क) निर्वाचन आयोग
(Election Commission)

संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देश और नियन्त्रण करने के लिए एक निर्वाचन आयोग (Election Commission) की स्थापना की गई है। निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र निकाय है। संविधान इस बात को सुनिश्चित करता है कि यह आयोग उच्चतम और उच्च न्यायालयों की भाँति कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्यों को सम्पादित कर सके। अनुच्छेद 324 में ही व्यवस्था है कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner) को उसके पद से उसी प्रकार हटाया जा सकता है, जिस प्रकार उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को। किन्तु जहाँ न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते हैं वहाँ मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति किसी सीमित अवधि के लिए की जा सकती है।

निर्वाचन आयोग के गठन को लें तो यह मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयुक्तों से मिलकर बनता है, जितनी संख्या राष्ट्रपति समय-समय पर नियत करे। इन अन्य आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति संसद् द्वारा विहित कानून के अन्तर्गत करता है। राज्य विधान-मण्डलों के निर्वाचनों में आयोग की सहायता के लिए चुनाव आयोग के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा प्रादेशिक आयुक्तों (Regional Commissioners) की भी नियुक्ति की जा सकती है। निर्वाचन आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त के अतिरिक्त अन्य आयुक्तों का तो सभापतित्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त ही करता है। आयुक्तों की सेवा-शर्तों, पदावधि आदि का निर्धारण भी राष्ट्रपति नियम बनाकर करता है, लेकिन यह आवश्यक है कि नियम संसद् द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार हो। नियुक्ति के पश्चात् मुख्य निर्वाचन अधिकारी की सेवा-शर्तों में ऐसे कोई परिवर्तन नहीं किए जा सकते जो उसको अलाभकारी हों। निर्वाचन आयुक्त या प्रादेशिक आयुक्त को मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश के बिना पद से

नही हटाया जा सकता । इस प्रकार सविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियो की पदावधि को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है ताकि वे अपने कार्यों का सम्पादन निडरता के साथ कर सकें ।

निर्वाचन आयोग के कार्य

सविधान के अनुच्छेद 324 के अनुसार निर्वाचन आयोग के मुख्य कार्य ये है—

"(1) संसद् राज्य विधान-मण्डलों के निर्वाचन के लिए निर्वाचक नामावली और राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति के पदो के निर्वाचनो का अधीक्षण, निदेश और नियन्त्रण करना ।

(2) उक्त निर्वाचनो का संचालन ।

(3) ससद् तथा राज्य विधान-मण्डलों के निर्वाचन सम्बन्धी सदेहो और विवादो के निर्णय के लिए निर्वाचन न्यायाधिकरण की नियुक्ति करना ।

(4) संसद् तथा राज्य विधान-मण्डलो के सदस्यो की अनर्हताओ के प्रश्न पर राष्ट्रपति और राज्यपालों को परामर्श देना ।"

अनुच्छेद 325 मे व्यवस्था है कि प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक सामान्य निर्वाचन-नामावली होगी । कोई भी व्यक्ति केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिंग के आधार पर किसी नामावली मे सम्मिलित होने से नही रोका जाएगा । यह व्यवस्था है कि ससद् और राज्य विधान-मण्डलो के लिए निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा । 21 वर्ष की आयु का भारत का प्रत्येक नागरिक, जो अनिवास, पागलपन, अपराध या भ्रष्ट या अवैध आचार के आधार पर अयोग्य घोषित नही कर दिया गया हो, निर्वाचन मे मतदाता के रूप में पंजीबद्ध किए जाने का हकदार होगा (अनुच्छेद 326) ।

निर्वाचन आयोग के प्रमुख कार्यो का विवेचन तनिक विस्तार से अपेक्षित है :

(1) चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन (Delimitation of Constituencies) —चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन है । प्रथम आम चुनाव मे चुनाव क्षेत्रो का सीमांकन 'जन प्रतितिधित्व अधिनियम 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेश के आधार पर किया गया था, लेकिन बाद मे ससद् ने 'परिसीमन आयोग अधिनियम 1952' पारित किया जिसमें यह प्रावधान किया गया कि 10 वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त चुनाव क्षेत्रों का सीमाँकन किया जाना चाहिए । मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अलावा इसमे सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयो के दो अवकाश प्राप्त न्यायाधीश भी होते है। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सहायक सदस्य भी होते है । ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोकसभा अथवा राज्य विधान-सभा के लिए निर्वाचित [illegible] में से चुने जाते हैं । जनता को अधिकार है कि वह व्यक्तिगत प्रयत्न [illegible] परिसीमन आयोग के सम्मुख सुझाव या आपत्तियाँ प्रस्तुत करे । इन

आपत्तियों पर खुली बैठकों में विचार आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त ही आयोग 'सीमांकन आदेश' की घोषणा करता है जो अन्तिम होता है और जिसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नही की जा सकती।

(2) मतदाता सूचियाँ तैयार करना (To Prepare Election Rolls)— चुनाव आयोग द्वारा लोकसभा अथवा विधान-सभा के प्रत्येक चुनाव या किसी भी मध्यावधि चुनाव से पहले मतदाता सूचियाँ तैयार करवाई जाती हैं। मतदाता सूचियाँ तैयार होने पर ही चुनाव सम्भव होते हैं। इन सूचियो को तैयार करने में मुख्य अन्तर्निहित उद्देश्य यह होता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रह जाए जो मताधिकार की योग्यता रखता है। मतदाता सूचियो के सम्बन्ध में आयोग का कार्य इन सूचियो को तैयार करवाना और उन्हें नवीनतम बनाए रखने हेतु निदेशन तथा नियन्त्रण करना है।

(3) निर्वाचन आयोग ससद्, राज्य विधान-मण्डलो, राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के चुनावों का अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण करता है।

(4) विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना (To Recognize Different Political Parties)— चुनाव आयोग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। प्रथम आम चुनाव के बाद आयोग ने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक कसौटी तैयार की जिसके अनुसार राष्ट्रीय दल के रूप मे केवल उसी दल को मान्यता दी जा सकती थी जिसने ससद् के चुनाव के कुल डाले गए मतों के कम से कम 3 प्रतिशत मत प्राप्त किए हों। इसी प्रकार राज्यीय दल के रूप में मान्यता उसी दल को प्राप्त हो सकती थी जिसे विधान-सभा के लिए कुल डाले गए मतो के 3 प्रतिशत मत प्राप्त हो। इस व्यवस्था के अनुसार उस समय केवल 4 दलो को राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई—कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, प्रजा समाजवादी पार्टी तथा भारतीय जनसघ। 19 दलों को राज्यीय दलो के रूप में स्वीकार किया गया। तीसरे आम चुनाव के लिए निर्वाचन आयोग ने विभिन्न दलो की स्थिति पर पुनर्विचार किया और आरक्षित चुनाव-चिन्ह *प्रदान करने के लिए लोकसभा तथा राज्यों की विधान-सभाओ के चुनाव में 16 दलों* को मान्यता प्रदान की।

चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त किए जाने के आधार समय-समय पर परिवर्तित किए जा सकते है और किए जाते रहे हैं। वर्तमान नियम के अनुसार किसी भी राजनीतिक दल को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि आम चुनाव में उसे कम से *कम 4 राज्यों में से 4 प्रतिशत* मत मिले हों। 1977 के चुनावो के बाद, नियम के आधार पर, मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय दल 4 ही रहे हैं—कांग्रेस, जनता पार्टी, भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल। जुलाई, 1979 में जनता पार्टी का विभाजन हो गया और वह दो टुकड़ों में बँट गई—जनता (एस.) एव जनता पार्टी। 26 सितम्बर, 1979 को निर्वाचन आयोग द्वारा जनता (एस अर्थात् सेक्युलर) को राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता दी गई।

(5) राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव-चिह्न प्रदान करना (To Allot Reserve Election Symbols to Political Parties)—राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव-चिन्ह प्रदान करना आयोग का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है। यदि चुनाव-चिन्ह के बारे में किन्ही दो राजनीतिक दलों के बीच विवाद उत्पन्न हो जाए तो आयोग निष्पक्ष ढग से विवाद का निपटारा करने का प्रयत्न करता है। 1971 के लोकसभाई मध्यावधि चुनावों के समय सत्तारूढ़ कांग्रेस और सगठन कांग्रेस के बीच अविभाजित कांग्रेस के चुनाव-चिन्ह (दो बैलों की जोड़ी) पर विवाद उत्पन्न हो गया और निर्वाचन आयोग ने अपना निर्णय सत्तारूढ़ कांग्रेस के पक्ष में दिया। संगठन कांग्रेस ने निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जिसने मुख्य चुनाव आयुक्त के निर्णय को लागू होने से रोक दिया, लेकिन बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अपना जो अन्तिम निर्णय दिया उसमें चुनाव आयुक्त के फैसले को दोहराया गया। इस प्रकार दो बैलों की जोड़ी चुनाव-चिन्ह सत्तारूढ़ दल के पास रहा। 3 नवम्बर, 1979 को चुनाव आयोग ने 'लोकदल' के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, पर यह स्वीकार कर लिया कि जनता (एम) अस्तित्व में है और इसलिए आगामी चुनावों में जनता (एम) को 'खेत जोतते हुए किसान' के चुनाव-चिन्ह के इस्तेमाल की इजाजत दे दी।[1]

(6) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव भाषणों के प्रसारण की सुविधाओं की व्यवस्था करने, राजनीतिक दलों के लिए चुनाव आचार-संहिता का निर्माण करना, प्रत्याशियों द्वारा चुनाव व्यय की राशि का निर्धारण करना, चुनाव याचिकाओं आदि के बारे में सरकार को आवश्यक परामर्श या सुझाव देना भी मुख्य चुनाव आयुक्त का कार्य है। जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में सम्पन्न होने वाले मध्यावधि चुनाव के सन्दर्भ में 4 अक्टूबर, 1979 को 23 सूत्री आचार-संहिता जारी की गई।

(7) अर्द्ध-न्यायिक कार्य (Quasi-Judicial Functions)—संविधान द्वारा चुनाव आयोग को कुछ अर्द्ध-न्यायिक कार्य भी सौंपे गए हैं जिसमें मुख्य दो उल्लेखनीय है—अनुच्छेद 103 के अनुसार राष्ट्रपति संसद् के सदस्यों की निर्योग्यताओं (Disqualifications) से सम्बद्ध किसी भी प्रश्न पर परामर्श माँग सकता है, एवं अनुच्छेद 192 के अनुसार राज्य विधान-मण्डलों के सदस्यों के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया गया है। किन्तु संविधान अथवा जनप्रतिनिधित्व अधिनियम में इस कार्य को करने की कोई प्रक्रिया निश्चित नहीं की गई है, अतः इस कार्य के सम्पादन में आयोग ने कठिनाइयाँ अनुभव की हैं।

(8) आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहे और चुनाव-प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव दे।

1 हिन्दुस्तान, 3 नवम्बर, 1979, पृष्ठ 1.

निर्वाचन प्रक्रिया का आरम्भ राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई अधिसूचना से होता है, जिसके सम्बन्ध में चुनाव आयोग, आवश्यक तैयारियों के बाद, राष्ट्रपति को सिफारिश करता है। तदुपरान्त चुनाव आयोग मतदान की तिथियो की घोषणा करते हैं जिसे निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। घोषणा मे नामजदगी पत्रों की जाँच की तिथि, चुनाव संघर्ष से नाम वापस लेने की तिथि, आदि का उल्लेख होता है। 1966 के बाद से ही उम्मीदवारो को चुनाव अभियान के लिए कम से कम 20 दिन का समय दिया जाता है।

निर्वाचन विषयों पर न्यायालयों द्वारा हस्तक्षेप पर रोक

अनुच्छेद 329 यह उपबन्धित करता है कि संसद् द्वारा अनुच्छेद 327 या 328 के अधीन निर्मित किसी विधि की, जो निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन या ऐसे निर्वाचन क्षेत्रो के स्थानों को बाँटने से सम्बद्ध है, मान्यता पर किसी न्यायालय मे आपत्ति नही की जा सकती है। इस अनुच्छेद के खण्ड (ख) में ऐसे विषयो की मान्यता को चुनौती देने का प्रावधान किया गया है। इसके अनुसार संसद् या राज्य विधान-मण्डल के किसी सदन के किसी निर्वाचन पर ऐसी निर्वाचन-याचिका के बिना कोई आपत्ति न का जाएगी जो ऐसे प्राधिकारो तथा ऐसी रीति से उपस्थित की गई है जो समुचित विधान-मण्डल द्वारा निर्मित विधि के द्वारा या अधीन उपबन्धित हैं। खण्ड (ख) के अन्तर्गत प्राप्त शक्तियो के प्रयोग मे ससद् ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम पास किया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत निर्वाचन-विषयो पर आयोग का निर्णय अन्तिम माना गया है।"[1]

संविधान के 19वें संशोधन अधिनियम द्वारा अब खण्ड (ख) के अन्तर्गत स्थापित निर्वाचन न्यायाधिकरणो के निर्वाचन सम्बन्धी विवादो के निपटाने के क्षेत्राधिकार को समाप्त कर दिया गया है। सशोधन ने इस शक्ति को उच्च न्यायालय में निहित कर दिया है। ऐसा निर्वाचन न्यायाधिकरण विवादों के शीघ्रमेव निपटारे के उद्देश्य से किया गया है। निर्वाचन-न्यायाधिकरणों को इन विवादों के निपटाने मे अनावश्यक विलम्ब होता था।

प्रधान मन्त्री और लोकसभा के अध्यक्ष के निर्वाचन के लिए विशेष उपबन्ध

संविधान के 44वें सशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 329 (क) को लुप्त कर दिया गया है और प्रधान मन्त्री तथा लोकसभा के अध्यक्ष के निर्वाचन-विवादों पर न्यायालय को अधिकारिता प्रदान कर दी गई है। उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 329 (क) को 29वें संशोधन द्वारा जोडा गया है जिसने प्रधान मन्त्री और लोकसभा के अध्यक्ष के निर्वाचन-विवाद को न्यायालय की अधिकारिता से परे कर दिया था।

निर्वाचन आयोग का अपना सचिवालय होता है जिसमें कर्मचारी इस प्रकार होते है—मुख्य चुनाव आयुक्त, उप-चुनाव आयुक्त, सचिव, अवर सचिव, अनुभाग

1 राजनारायण पाण्डेय : वही, पृष्ठ 396.

राज्य के निर्वाचन विभाग को दो शाखाओं में विभक्त किया जाता है—प्रथम व्यवस्थापिकाओं के लिए और द्वितीय स्थानीय संस्थाओं के लिए। व्यवहार में दोनों शाखाओं का सम्पर्क स्थापित कर दिया जाता है। जिला स्तर पर भी निर्वाचन कार्यालय में ये दोनों शाखाएँ होती हैं, तथापि वे निकट सहयोग से कार्य करती हैं। राज्य का मुख्य निर्वाचन अधिकारी ही सरकार के निर्वाचन विभाग का निदेशक होता है और स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचन-कार्य उसी के अधीन होते हैं। स्थानीय संस्थाओं के लिए चुनाव अधिकारी तथा निर्वाचन पंजीयन अधिकारी स्वयं जिलाधीश होता है।

निर्वाचन-विधि के सम्बन्ध में संघ एवं राज्य विधान-मण्डलों की शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद 327 द्वारा संसद् तथा राज्यों के विधान-मण्डलों के निर्वाचनों से सम्बद्ध सभी मामलों में विधि निर्माण करने की सर्वोत्तम सत्ता संसद् में निहित है। राज्य विधान-मण्डलों को इस सम्बन्ध में कुछ सीमित-सी शक्ति अनुच्छेद 328 द्वारा दी गई है। किन्तु राज्य विधान-मण्डलों द्वारा पारित ऐसा कोई विधान संसद् द्वारा पारित विधान के विरुद्ध नहीं हो सकता।

निर्वाचनों की व्यवस्था करने के लिए संसद् ने दो मुख्य विधियाँ पारित की हैं। जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा मतदाताओं की अर्हताएँ तथा मतदाता-सूची तैयार करने के सम्बन्ध में निर्णय किया गया। इस विधि द्वारा निर्वाचन क्षेत्र को परिसीमित करने की प्रक्रिया, संसद् में विभिन्न राज्यों के स्थानों की संख्या तथा प्रत्येक राज्य के विधान-मण्डलों में सदस्यों की संख्या भी निर्धारित की गई। दूसरे, अर्थात् जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के द्वारा निर्वाचनों का संचालन एवं प्रबन्ध करने की प्रशासनिक व्यवस्था, मतदान (Poll), निर्वाचन सम्बन्धी विवाद, उप-निर्वाचन (By-election) इत्यादि विषयों का विस्तृत रूप से प्रबन्ध किया गया। इन दोनों अधिनियमों के आधार पर केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित नियम (Statutory Rules) बनाए गए, जिन्हें जन-प्रतिनिधित्व (मतदाता सूची निर्माण) नियम 1950 तथा जन-प्रतिनिधित्व (निर्वाचन संचालन तथा निर्वाचन याचिका) नियम 1951 कहा जाता है। इसके बाद आवश्यकतानुसार दोनों अधिनियमों तथा नियमों में संशोधन हुए हैं। उदाहरण के लिए पहले यह निश्चित किया गया था कि संसदीय एवं विधान-मण्डलीय निर्वाचनों के लिए पृथक्-पृथक् मतदाता-सूचियाँ तैयार की जाएँ, किन्तु संशोधन द्वारा एक ही मतदाता-सूची तैयार करने का फैसला किया गया जिससे बहुत-सा अनावश्यक कार्य तथा व्यय बच गया।

एक ही सामान्य मतदाता सूची

संविधान के अनुच्छेद 325 ने ब्रिटिश शासनकालीन साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलों की व्यवस्था को अन्तिम रूप से तिलांजलि दे दी है। फलस्वरूप अब प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक ही सामान्य मतदाता सूची (One General Election Roll) होती है। भारत का प्रत्येक नागरिक, जो कानून के अन्तर्गत किसी निर्धारित तिथि पर 21 वर्ष का है तथा किसी भी दृष्टि से निर्योग्य नहीं है, अपने निर्वाचन क्षेत्र

की मतदाता सूची का अंग होता है। जाति, धर्म, लिंग आदि को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। संविधान ने एक ही सामान्य मतदाता सूची की व्यवस्था द्वारा भारत में वस्तुतः 'एक संग्रहित राजनीतिक समुदाय' (A Composite Political Community) की स्थापना कर दी है। एक व्यक्ति, एक मत तथा एक मूल्य का सिद्धान्त अब भारत के नागरिक का एक सांविधानिक आधार बन गया है।

निर्वाचन प्रक्रिया

निर्वाचन प्रक्रिया (The Electoral Procedure) के मुख्य चरण ये है— (1) मताधिकार, (2) निर्वाचन-क्षेत्रों का सीमांकन, (3) निर्वाचन सूचियों की तैयारी, (4) निर्वाचन आयोग के परामर्शानुसार राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचन की घोषणा जो कि गजट ऑफ इण्डिया में प्रकाशित की जाती है, (5) राजनीतिक दलों द्वारा अपने उम्मीदवारों का चयन, निर्दलीय उम्मीदवार भी हो सकते हैं, (6) नामांकन पत्रों की जाँच, उम्मीदवारो (प्रत्याशियों) की घोषणा तथा चुनाव-चिन्हों का आवटन, (7) चुनाव से पूर्व राजनीतिक दलो द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्रों का प्रचार-प्रसार, (8) चुनाव अभियान और मतदाताओं को अपने-अपने पक्ष में जुटाना, (9) चुनाव के दिन मतदाताओं द्वारा मतदान का प्रयोग, एवं (10) अन्तिम चरण के रूप मे मतो की गणना करने के उपरान्त चुनाव परिणामों की घोषणा और सफल प्रत्याशियों को बाद मे अपने-अपने पदों की शपथ दिलाना।

आम चुनाव
(General Elections)

भारत मे 1951–52, 1957, 1962, 1967, 1971, 1977 और 1980 मे सात आम चुनाव हो चुके हैं। पहली बार लोकसभा के मध्यावधि चुनाव 1971 मे और दूसरी बार जनवरी, 1980 में कराए गए।

प्रथम आम चुनाव—भारत का प्रथम ऐतिहासिक आम चुनाव 1951–52 में पूर्ण लोकतन्त्रात्मक वातावरण में सम्पन्न हुआ। लगभग 17 करोड 30 लाख व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त था। निर्वाचन क्षेत्रों की सख्या 3,293 थी। लोकसभा की 493 सीटों के लिए 18,823 और राज्यों की विधान-सभाओं की 3,278 सीटों के लिए लगभग 1 लाख 75 हजार प्रत्याशी थे। कुल मिलाकर 75 दलों ने चुनाव में भाग लिया जिनमे कुछ दल राष्ट्रीय स्तर के थे तो कुछ स्थानीय। 6 करोड़ के लगभग मत-पत्रों की देखभाल का काम लगभग 5 लाख 60 हजार कर्मचारियों ने किया। सम्पूर्ण देश में मतदान की प्रतिशत संख्या लोकसभा के लिए 44·63 और विधान-सभाओं के लिए 45·30 रही। कांग्रेस के पक्ष मे 45·01 प्रतिशत मतदान हुआ। लोकसभा में इसे 364 सीटे मिलीं। समाजवादी दल, साम्यवादी दल और जनसंघ के पक्ष मे क्रमश: 10 50, 5 06 तथा 3·05 प्रतिशत मतदान हुआ। निर्दलीय उम्मीदवारों को *15·99* प्रतिशत मत मिला। राज्यों में से कुछ मे कांग्रेस ने भारी विजय प्राप्त की और कुछ में केवल सीमा पर ही। ग्रामीण क्षेत्रों मे मतदान लगभग 60% और शहरों में 40% हुआ।

द्वितीय आम चुनाव—24 फरवरी, 1957 को शुरू होने वाले द्वितीय आम चुनावों का कार्य लगभग 17 दिन में ही पूरा हो गया जबकि प्रथम निर्वाचन में लगभग 17 सप्ताह लगे थे। मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों की संख्या 19 करोड़ 30 लाख से भी अधिक पहुँच गई। कुल निर्वाचकों के 29.2 प्रतिशत ने चुनाव में भाग लिया। चुनाव लड़ने वाले राजनीतिक दलों की संख्या लगभग 45 रही। संसदीय चुनावों में कांग्रेस ने 494 निर्वाचित स्थानों में से 371 पर विजय प्राप्त की। राष्ट्रीय स्तर पर केवल कांग्रेस, साम्यवादी, प्रजा सोशलिस्ट और जनसंघ दलों को मान्यता मिल सकी। राज्य विधान-सभाओं में कांग्रेस को 65.1 प्रतिशत स्थान मिले। इन चुनावों में केरल राज्य में साम्यवादी दल को विजय प्राप्त हुई। 1960 में केरल में मध्यावधि चुनाव हुए जिसमें कांग्रेस को पुनः बहुमत प्राप्त हुआ। द्वितीय आम चुनावों में भारत की सम्पूर्ण जनता ने, यहाँ तक कि पिछड़े कहलाने वाले क्षेत्रों की जनता ने भी बड़ी राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय दिया।

तृतीय आम चुनाव—फरवरी, 1962 में तृतीय आम चुनाव हुए जो 10 दिनों में ही समाप्त हो गए। इनमें 21 करोड़ 60 लाख व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त था। इन चुनावों में राष्ट्रीय स्तर पर 4 की जगह 5 मान्य दल हो गए। यह पाँचवाँ दल स्वतन्त्र पार्टी था जिसने लोकसभा के चुनावों में 18 स्थानों पर और राज्य विधान-सभाओं में 170 स्थानों पर विजय प्राप्त की। इन चुनावों में कांग्रेस लोकसभा में 361 स्थान प्राप्त कर सकी।

राज्य विधान-सभाओं और हिमाचल प्रदेश, मणिपुर व त्रिपुरा की स्थानीय परिषदों के कुल 3,280 स्थानों में से कांग्रेस ने 1,984 स्थान प्राप्त किए। संसदीय निर्वाचनों में मतदान लगभग 53.53 प्रतिशत रहा और राज्य विधान-सभाओं के निर्वाचनों में 53.58%। मध्य प्रदेश और राजस्थान में कांग्रेस को बड़ी हानि पहुँची। 1962 के संसदीय आम चुनावों में कांग्रेस, साम्यवादी दल, प्रजा समाजवादी दल, जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी—इन राष्ट्रीय दलों ने क्रमशः 45.06, 9.96, 6.82, 6.42 तथा 7.64 प्रतिशत मत प्राप्त किए। राज्य विधान-सभाओं में इन दलों को क्रमशः 44.33, 8.58, 7.00, 6.13 और 7.42 प्रतिशत मत मिले।

तृतीय आम चुनावों में निर्वाचन कार्य को सफल बनाने के लिए पहली बार एक मतदान पत्र (Ballot Paper) का प्रयोग किया गया जिसमें सभी प्रत्याशियों के नाम और चिन्ह थे तथा मतदाता अपने मन-पसन्द नाम के आगे यह चिन्ह (X) लगाकर मतदान पेटी में डाल देता था। एक मतदान केन्द्र में एक ही मतदान पेटी रखी गई थी।

चतुर्थ आम चुनाव—15 [illegible] 1967 [illegible] आम चुनाव में मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों की [illegible] 25 क[illegible] [illegible]। लोकसभा के 523 और राज्य विधान-सभ[illegible] [illegible]नों के लिए चुनाव लड़े गए। चुनाव परिणाम [illegible]

बदल दिया। 17 राज्यों में से केवल 9 राज्यों में कांग्रेस को बहुमत मिला और 523 सदस्यों की लोकसभा में उसे केवल 283 स्थान प्राप्त हुए। स्वतन्त्र पार्टी पिछले निर्वाचनों में राष्ट्रीय स्तर पर आ गई थी। इस बार उसने लोकसभा में 45 स्थान प्राप्त किए जबकि पिछले निर्वाचनों में उसे 18 स्थान ही मिले थे। जनसंघ को पिछले निर्वाचनों के 14 स्थानों के मुकाबले इस बार लोकसभा में 35 स्थान प्राप्त हुए। प्रतिशत की दृष्टि से कांग्रेस को 40 73 प्रतिशत वोट मिले तो जनसघ को 9·41 प्रतिशत। चौथे आम चुनावों में कांग्रेस को केवल 9 राज्यों में ही बहुमत मिल पाया।

पांचवें लोकसभाई चुनाव, 1971—मार्च, 1971 में पांचवें लोकसभाई चुनाव सम्पन्न हुए। 1967 में निर्वाचित लोकसभा अपना पंचवर्षीय कार्यकाल पूरा करने से लगभग एक वर्ष पहले ही 27 दिसम्बर, 1970 को भंग कर दी गई ताकि प्रधान मन्त्री श्रीमती गांधी की सरकार जनता से नया विश्वास प्राप्त कर सके। यह निश्चय भी किया गया कि लोकसभा के चुनाव के साथ ही पश्चिम बंगाल विधान-सभा के भी चुनाव करा दिए जाएँ। चुनाव आयुक्त ने 1 मार्च, 1971 से लोकसभाई चुनाव आरम्भ करने की घोषणा की। इस मध्यावधि चुनाव के फलस्वरूप सत्तारूढ कांग्रेस दल केन्द्र में पुन: बहुत शक्तिशाली बन गया। लोकसभा के कुल 518 स्थानों में से 516 स्थानों के परिणामों की घोषणा की गई। जीत की सीटें इस प्रकार रहीं—

सत्तारूढ कांग्रेस	350
सगठन कांग्रेस	16
स्वतन्त्र पार्टी	8
जनसघ	22
ससोपा	3
द्रमुक	23
भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी	23
मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी	25
प्रसोपा	2
अन्य	31
निर्दलीय	12
कुल घोषित स्थान	515

पांचवें लोकसभाई चुनावों के गम्भीर तात्कालिक और दूरवर्ती परिणाम निकले—(1) सुनिश्चित कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लडने की परम्परा आरम्भ हुई, (2) जातिवाद, सामंतवाद, सम्प्रदायवाद पर कडा प्रहार हुआ क्योंकि मतदान व्यवहार को जाति, क्षेत्रीयतावाद आदि तत्त्वों ने बहुत कम प्रभावित किया,

(3) कांग्रेस के एकदलीय प्रभुत्व की पुनः स्थापना हुई, (4) 1972 में राज्यों में सम्पन्न होने वाले आम चुनावों पर कांग्रेस के पक्ष में बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा, (5) संयुक्त दलीय सरकारों से जनता का विश्वास जाता रहा, (6) चौथे आम चुनावों से उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता और अशान्त वातावरण की समाप्ति हुई, (7) दल-बदल का घातक दौर समाप्त हो गया, (8) विरोधी दल बुरी तरह लड़खड़ा गए, उनके अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया, (9) जनता का इस बात में विश्वास दृढ़ हुआ कि भारत को एक शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता है, (10) केन्द्रीय नेतृत्व अधिक सबल बना और प्रधान मन्त्री पद के गौरव और महत्व में भारी वृद्धि हुई, (11) श्रीमती गांधी के नेतृत्व की धाक बैठ गई, स्वर्गीय नेहरू जैसा नेतृत्व पुनः लौट आया, एवं (12) केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में पूर्वापेक्षा सुधार हुआ।

मार्च, 1972 के चुनाव—मार्च, 1972 में भारत के 16 राज्यों और 2 संघ शासित क्षेत्रों में आम चुनाव हुए। इस बार भी गैर-साम्यवादी विरोधी दलों का 'कांग्रेस हराओ' का अभियान पूरी तरह असफल रहा। कांग्रेस को 14 राज्यों तथा एक संघ शासित क्षेत्र में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ तथा वहाँ स्थाई सरकारों का निर्माण हुआ। जिन राज्यों तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो सका, वे थे—मणिपुर, नागालैण्ड और गोआ। मणिपुर तथा नागालैण्ड में कोई भी राजनीतिक दल स्थाई सरकार का निर्माण न कर सका, फलस्वरूप अल्प-काल में ही वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। उसी समय श्रीमती नन्दिनी सतपथी के त्यागपत्र के कारण राष्ट्रपति ने उड़ीसा की विधान-सभा भंग कर केन्द्रीय शासन लागू कर दिया। इन घटनाओं के कारण 1974 में मणिपुर, उड़ीसा, पाण्डिचेरी, नागालैण्ड तथा उत्तर प्रदेश में पुन: निर्वाचन हुए। इस निर्वाचन में कांग्रेस को उत्तर प्रदेश तथा उड़ीसा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। मणिपुर, पाण्डिचेरी तथा नागालैण्ड में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ किन्तु मिली-जुली सरकारों का निर्माण हुआ।

आम चुनाव, मार्च 1977 और मतदान-व्यवहार

1971 और 1972 के चुनावों ने केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस को प्रचण्ड बहुमत से सत्तारूढ़ कर दिया था, लेकिन उसके बाद राजनीतिक घटना-चक्र तेजी से घूमा। देश को आपातकाल के निरंकुश साये में जीवन बिताना पड़ा और तब 18 जनवरी, 1977 को श्रीमती गांधी ने अकस्मात ही मार्च, 1977 में छठी लोकसभा का चुनाव कराने की घोषणा की। राष्ट्रपति द्वारा 18 जनवरी को ही पाँचवीं लोकसभा भंग कर दी गई और 10 फरवरी, 1977 को निर्वाचन आयोग ने आम चुनाव के कार्यक्रम की घोषणा कर दी।

उम्मीदवार, मतदाता, मतदान-केन्द्र, मतदान एवं मतदान का प्रतिशत

अग्रिमपृष्ठ पर दी गई तालिका 1952 से लेकर 1977 तक के लोकसभाई चुनावों के तथ्यों पर प्रकाश डालती है—

वर्ष	कुल स्थान	उम्मीदवार	कुल मतदाता	मतदान केन्द्र	मतदान	मतदान का प्रतिशत
1977	542	2,439	320,050,694	373,684	193,746,527	60 54
1971	518	2,784	274,094,493	342,944	151,536,802	55 29
1967	520	2,369	250,086,202	267,555	152,724,611	61·33
1962	494	1,985	217,693,197	238,355	119,904,315	55·42
1957	494	1,519	193,652,069	220,478	91,329,866	47·84
1952	489		173,213,635	132,560	80,709,202	45 67

दलीय सफलताएँ-विफलताएँ और मतदान व्यवहार

मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों मे दलीय सफलताओं-विफलताओं और मतदान व्यवहार का जो विश्लेषण और मूल्यांकन 29 मई-4 जून, 1977 के दिनमान मे किया गया है। वह हमारे समक्ष चुनावों का तथ्यात्मक चित्र प्रस्तुत करता है—

1971 में हुए लोकसभा चुनावों की तुलना मे अगर 1977 मे कांग्रेस की गिरी हुई साख का प्रतिशत मे हिसाब लगाया जाए तो सार्वदेशिक स्तर पर उसको मिलने वाले मतो मे लगभग 9 14 प्रतिशत की कमी हुई। 1971 के चुनाव मे कांग्रेस को 43·68 प्रतिशत मत मिले थे और 1977 मे यह आंकड़ा गिर कर 34 54 पर पहुँच गया। जनता पार्टी और लोकतांत्रिक कांग्रेस ने सम्मिलित रूप से चुनाव लड़कर 298 सीटें और 43 17 प्रतिशत मत हासिल किए।

दक्षिण भारत मे कांग्रेस ने अपनी पूर्वस्थिति को बनाए रखा और 153 जगहो मे से 92 प्राप्त की। दक्षिण मे कांग्रेस को 41 37 प्रतिशत मत मिले जबकि जनता पार्टी को केवल 24 26 प्रतिशत। जनता पार्टी में शामिल चार दलों को 1971 के चुनावो मे कुल मिलाकर 25 प्रतिशत मत मिले थे।

लोकसभा चुनावो मे मार खाने वाले दूसरे दलों में दोनों कम्युनिस्ट पार्टियां थी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 1971 के चुनावों मे 23 सीटें प्राप्त करके 4·73 प्रतिशत मत हासिल किए थे जबकि 1977 के चुनावों में मतों के मामले में उसकी प्रतिष्ठा आधी (2 82 प्रतिशत) रह गई और सीटों की संख्या सिमट कर सात हो गई। केवल पांच राज्यों—मणिपुर, केरल, पश्चिमी बंगाल, बिहार और तमिलनाडु मे इस पार्टी को 21 प्रतिशत से ज्यादा मत मिले।

हालांकि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने इस बार के चुनावों में जनता पार्टी के साथ गठबंधन किया पर उसे भी 4·3 प्रतिशत से ज्यादा मत नहीं मिले। 19[illegible] मे इस पार्टी को 5·12 प्रतिशत मत मिले थे। 1971 की तुलना में 1977 [illegible] पार्टी को तीन सीटें भी कम मिलीं। पिछली लोकसभा में इस पार्टी के पास [illegible] थीं और इस बार 22 हैं। इस दल ने भी पांच राज्यों—त्रिपुरा, [illegible] केरल, पंजाब और आन्ध्रप्रदेश में 4 प्रतिशत मत प्राप्त किए। [illegible] को 34·09 प्रतिशत मत मिले।

मार्च, 1977 के लोकसभा चुनावों में निर्दलीय उम्मीदवारों और क्षेत्रीय दलों का भी महत्त्व घट गया। पिछले चुनाव में क्षेत्रीय दलों और निर्दलीय उम्मीदवारों ने 22 13 प्रतिशत मत हासिल करके 65 सीटें हासिल की थी, जबकि इस बार उन्हें 25 सीटें और 15·17 प्रतिशत मत ही मिले। क्षेत्रीय दलों मे निश्चित ही कुछ ने अपनी पूर्वस्थिति में महत्त्वपूर्ण सुधार किया, उनमें नेशनल कॉन्फ्रेंस (जम्मू और कश्मीर), केरल कॉग्रेस और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व वाले मोर्चे में शामिल केरल के अन्य दल, कृषक और मजदूर पार्टी, जिसने महाराष्ट्र मे जनता पार्टी के साथ मिलकर चुनाव लड़ा, नागालैण्ड का संयुक्त जनतान्त्रिक मोर्चा, अकाली दल (पंजाब), अखिल भारतीय अन्नाद्रमुक (तमिलनाडु और पाण्डिचेरी) और महाराष्ट्रवादी गोमातक पार्टी (गोवा, दमन और दीव) मुख्य है, जिन्होंने अपनी स्थिति सुधारी।

प्राप्त आँकड़ों के अनुसार कुल मतदाताओं (32 करोड़) के 60 प्रतिशत से ऊपर (19 37) ने इस चुनाव मे अपने मत का उपयोग किया। यह संख्या 1971 के मतो से 5 प्रतिशत ज्यादा और 1967 के चौथे आम चुनाव के अधिकतम मतदान (61 33 प्रतिशत) से थोडी कम है।

राज्यों मे सबसे ज्यादा मतदान (79 21 प्रतिशत) केरल मे हुआ। दिल्ली मे मतदान 71 39 प्रतिशत रहा।

मार्च, 1977 के चुनावो में मतदान व्यवहार अपने आप मे ऐतिहासिक रहा। मतदाताओं ने स्पष्ट कर दिया कि वे तानाशाही को बर्दाश्त नही कर सकते। मतदाताओं ने इस मिथ्या प्रचार को ध्वस्त कर दिया कि अनपढ भूखों को रोटी चाहिए न कि व्यक्तिगत स्वाधीनता। मतदाताओं ने दिखा दिया कि अन्य किसी भी वस्तु की तुलना मे उन्हे व्यक्तिगत स्वाधीनता प्रिय है। पिछले सभी चुनावो के विपरीत मतदाताओं ने कांग्रेस के प्रति अविश्वास और उदासीनता का प्रदर्शन किया। जिन राज्यों मे जनता पार्टी को उल्लेखनीय सफलता नही मिली वहां भी लाभ कांग्रेस को नही मिला। 1977 के मतदान-व्यवहार ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत की जनता संसदीय लोकतन्त्र के विकास के लिए अपने को दलीय पद्धति के साथ जोड़ने मे विश्वास करती है। मतदाताओं ने इस बार निर्दलियों को कोई प्रोत्साहन नही दिया। महिलाओं के पक्ष में मतदान पहले की अपेक्षा कम रहा। इस चुनाव में कुल 70 महिला उम्मीदवार खड़ी हुई जिनमे से केवल 18 को ही मतदाताओं ने सफल बनाया। इसकी तुलना मे 1962 में 65 महिला उम्मीदवारों मे से 33 को, 1967 में 66 मे से 28 को और 1971 मे 86 मे से 21 को मतदाताओं ने स्वीकार किया था। मतदाताओं ने साम्यवादी दलों के प्रति भी अपनी कोई विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की।

मार्च, 1977 के मतदान ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत की जनता जबरन परिवार नियोजन के विरुद्ध है—स्वेच्छिक परिवार नियोजन के प्रयत्न ही यहाँ सफल हो सकते हैं। भाई-भतीजेवाद और राजनीति के जाति-रिश्तों का प्रभाव इस बार मतदान व्यवहार पर उतना नही पड़ा जितना पहले पड़ा करता था।

जनवरी, 1980 के मध्यावधि लोकसभाई चुनाव और मतदान व्यवहार

जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में सातवीं लोकसभा के लिए मध्यावधि चुनाव सम्पन्न हुए। मतदान का प्रथम चरण 3 जनवरी को और दूसरा व अन्तिम चरण 6 जनवरी को पूरा हुआ। मतदान के परिणाम ने सारे देश और विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया, अनुमान के सभी मापदण्ड गलत साबित हुए। चुनावों मे श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता वाली कांग्रेस (इ) ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की और लगभग 34 मास के अन्तराल के बाद शासन की बागडोर पुनः श्रीमती गांधी के हाथों मे आ गई।

चुनाव परिणाम

लोकसभा में कुल निर्वाचित सीटों की संख्या 542 है, किन्तु केवल 525 स्थानों के लिए चुनाव हुआ, शेष 17 स्थानों के लिए चुनाव बाद में होंगे। 525 स्थानों के चुनाव परिणाम इस प्रकार रहे हैं—

दल का नाम	प्राप्त स्थान	मत-प्रतिशत
कांग्रेस (इ)	351	66·85
लोकदल	41	7·80
जनता	31	5·90
कांग्रेस (अर्स)	13	2·47
भा० कम्युनिस्ट पार्टी	11	2·09
मार्क्सवादी	35	6·66
अन्य	40	7·61
निर्दलीय	3	0·57

'अन्य' के 40 स्थानों में से द्रविड़ मुनेत्र कषघम (डी० एम० के०) ने 16, अन्ना द्रमुक ने 2, अकाली दल ने 1, मुस्लिम लीग ने 3, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी (पश्चिम बंगाल) ने 4, फारवर्ड ब्लॉक ने 3, नेशनल कॉन्फ्रेन्स (जम्मू-कश्मीर) ने 3 स्थान प्राप्त किए और बाकी स्थान अन्य फुटकर क्षेत्रीय दलों को मिले।

श्रीमती गांधी द्वारा प्रधान मन्त्री पद की शपथ ग्रहण

. 10 जनवरी, 1980 को कांग्रेस (इ) की अध्यक्षा श्रीमती गांधी को संसदीय दल का नेता चुना गया और उसी दिन तीसरे पहर राष्ट्रपति ने उन्हें मन्त्रिमण्डल बनाने तथा अपने साथियों की सूची पेश करने के लिए निमन्त्रित किया। 14 जनवरी, 1980 को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधान मन्त्री पद की शपथ ली। इसके साथ ही उनके नेतृत्व में केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् के 21 अन्य सदस्यों ने भी पद और गोपनीयता की शपथ ग्रहण की। इनमें 15 कैबिनेट स्तर के मन्त्री और 7 राज्य मन्त्री थे। राष्ट्र के नाम अपने सन्देश में श्रीमती गांधी ने 'आत्म-नि' भारत के निर्माण' में सभी के सहयोग का आह्वान किया।

मतदान व्यवहार

जनवरी, 1980 के मतदान व्यवहार से स्पष्ट हो गया कि मतदाता केन्द्र में एक सुदृढ़ और स्थिर सरकार चाहते हैं। जनता पार्टी का जो विश्वास उन्होंने 1977 में प्रदान किया था, वह टूट गया और जनता पार्टी आपसी फूट तथा कुर्सी के दावपेच की शिकार होकर सत्ताच्युत् हो गई। भारतीय जनता अराजकता के दौर से ऊब गई और उसने पुनः यह विश्वास व्यक्त कर दिया कि देश को वर्तमान राजनीतिक अस्थिरता तथा आर्थिक कठिनाइयों से सिर्फ श्रीमती गाँधी ही उभार सकती है। जनता ने मत-पेटियों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया कि वह श्रीमती गाँधी को अपना पूरा सहयोग देने के लिए तैयार है।

प्रस्तुत चुनावों में देश के मतदाता ने लगातार तीसरी बार अपना इकतरफा फैसला दिया है। पहली बार 1971 में उसने 'गरीबी हटाओ' के नारे पर आँख मीच कर श्रीमती गाँधी को भरकम बहुमत के साथ शासन सौंपा, परन्तु 1977 उसे लगा कि वह ठगा का ठगा रह गया और आपात्काल की ज्यादतियों के विरुद्ध 'आजादी और रोटी' के नारे पर जनता पार्टी को अन्धाधुंध समर्थन प्रदान किया। वह फिर छला गया और 1980 में फिर श्रीमती गाँधी के साथ हो गया। इन दस सालों में मतदाता का जो इकतरफा व्यवहार रहा है वह भारतीय जनता में एक प्रश्नचिन्ह के समान है। मतदाता क्या चाहता है, यही प्रश्न है। वह हर बार आशा और विश्वास के साथ किसी के साथ होता है और हर बार छला जाता है। पिछले एक दशक के तीन चुनावों में एक तथ्य जरूर सामने आया कि मतदाता मूलतः कांग्रेस की ओर देखता है। 1977 में जो उसने कांग्रेस का साथ छोड़ा तो गैर-कांग्रेसी विकल्प का अन्तिम प्रयोग एक बार फिर असफल सिद्ध हुआ। यदि यही एक कारण माना जाए तो अब कांग्रेस के सामने फिर अवसर है कि अपनी पिछली भूलों को सुधारें।

1980 के चुनावों में जो अन्य विशेषताएँ है, वे हैं—

प्रथम, जात-पात का असर मतदान में देखने को नहीं मिला है। मतदाताओं ने, कुछ अपवादों को छोड़कर, बिना जात-पात का ख्याल किए श्रीमती गाँधी के पक्ष में मतदान किया है।

दूसरे, मतदाताओं ने क्षेत्रीय दलों को ठुकरा दिया है। अकाली, अन्ना द्रमुक आदि क्षेत्रीय दलों का वर्चस्व समाप्त हो गया। पिछले चुनावों के मुकाबले क्षेत्रीय दलों को इस बार बहुत कम स्थान मिले है और उनका मत प्रतिशत भी बहुत कम रहा है।

तीसरे, निर्दलीय उम्मीदवारों को भी मतदाताओं ने पसन्द नहीं किया। 525 में से केवल 3 स्थान निर्दलियों को मिल सके है। उन्हें केवल 0·57 प्रतिशत मत प्राप्त हुए है।

चौथे, मतदाताओं ने इन भ्रान्त धारणाओं को समाप्त कर दिया है कि किसी एक नेता की अमृतसर से पटना तक तूती बोलती है तो दूसरा नेता हरिजनों

का भाग्य-विधाता है। यदि कभी ऐसा प्रभाव रहा भी हो तो वह इन चुनावो मे समाप्त हो गया है।

पाँचवें, 1980 के चुनावों मे यह स्पष्ट कर दिया है कि लोकतन्त्र में भारतीय मतदाता की गहन आस्था है। चुनाव का आह्वान होते ही वह अपना मन मतदान केन्द्र पर पहुँच जाता है। सात चुनाव शान्तिपूर्वक हो चुके हैं। किसी भी लोकतान्त्रिक देश को मतदाता की इस परिपक्वता पर गर्व होगा।

जनवरी, 1980 के चुनाव में मतदाताओं ने स्पष्ट रूप से ऐसी सरकार के गठन के लिए मतदान किया है जो जनता का शासन चलाने में समर्थ हो और जनता को आर्थिक कठिनाइयो से राहत दे सके। पिछले एक वर्ष से लोग यह महसूस करने लगे थे कि देश मे सरकार जैसी कोई चीज ही नही रह गई है। इसी कष्टपूर्ण अनुभूति का अन्त मतदाताओ ने किया है। उन्होंने अपनी पसन्द के राष्ट्रीय नेता को चुना है और उम्मीदवारो के कार्यक्रमो तथा विचारधारा से भी हटकर वोट दिया है। वास्तव मे मत श्रीमती गांधी को अधिक दिए गए है, कांग्रेस (इ) को कम।

भारतीय निर्वाचन प्रणाली की विशेषताएँ

1. एकल सदस्य जिला बहुलता पद्धति अर्थात् प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र में एक प्रतिनिधि निर्वाचित किया जाता है और निर्वाचन, प्राप्त मान्य मतों की बहुलता के आधार पर या प्रथम सीमान्तर-स्तम्भ पद्धति के अनुसार होता है।

2 ससद् अथवा विधान-सभा निर्वाचन-क्षेत्रो को इस प्रकार परिसीमित किया गया है कि प्रत्येक ससदीय निर्वाचन-क्षेत्र विधान-सभा निर्वाचन-क्षेत्रो की एक अभिन्न सख्या से मिलकर बनता है अर्थात् प्रत्येक विधान-सभा निर्वाचन-क्षेत्र का परिसीमन इस प्रकार किया गया है कि वह पूर्णतया किसी एक ससदीय निर्वाचन क्षेत्र के अन्तर्गत आ गया है।

3 लोकसभा और राज्य विधान-सभा के निर्वाचन समसामयिक है और दोना के मतदान के लिए ही मत कोष्ठो का उपयोग किया जाता है।

4 खुली उम्मीदवारी अर्थात् राजनीतिक दलो अथवा समूहों के लिए अभ्यर्थियो को चुनने की विधि द्वारा निर्दिष्ट कोई प्रक्रिया नही है और इस प्रकार वे स्वय अपनी प्रक्रिया नियोजित करने के लिए स्वतन्त्र है। कोई भी, व्यक्ति जो विहित अर्हताओं को पूरा करता है, किसी राजनीतिक दल अथवा समूह द्वारा चुने जाने पर अथवा अन्यथा अपने आपको उम्मीदवार के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और एक या अधिक लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्रो से अथवा एक या अधिक राज्य विधान-सभा निर्वाचन-क्षेत्रों से अथवा दोनो से नाम-निर्देशन के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकता है। उसे केवल यही करना होता है कि वह विहित प्रक्रिया के अनुसार नाम-निर्देशन पत्र दाखिल करे और एक नाम-मात्र की राशि, जिसे निश्चित सख्या मे मत प्राप्त होने पर वापस पाया जा सकता है, प्रतिभूति के रूप मे जमा करे।

5. वैधानिक कार्यवाही के अधीन एवं स्वेच्छापूर्वक किए गए समझौते मे सम्बन्धित आचरण के न्यूनतम स्तर की अपेक्षा की गई है। अतएव

अभियान के संचालन से सम्बन्धित बहुत से उपबन्ध प्रतिरोधक के रूप में बनाए गए हैं।

6. सार्वभौम व्यस्क मताधिकार अर्थात् प्रत्येक नागरिक बिना किसी भेदभाव के, वैध आवश्यक आयु का होने पर मतदाता के रूप में पंजीकृत किए जाने का हकदार है, सिवाय उस दशा में जबकि वह संविधान या विधि के अधीन कतिपय विशेष कारणों से अनर्हित कर दिया गया है।

7. ऐच्छिक मतदान—अर्थात् मताधिकार का प्रयोग अनिवार्य नहीं है। मतदान से विरत रहने वाले व्यक्ति को दण्डित करने के लिए विधि में कोई उपबन्ध नहीं है।

8. किसी निर्वाचन की मान्यता से सम्बद्ध विवादों का निर्णय, निर्वाचन-याचिका उपस्थित करने पर उच्च न्यायालय करते हैं।

9. निर्वाचित प्रतिनिधि का अपनी स्वतन्त्र विवेक बुद्धि के अनुसार अपने मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार—अर्थात् ऐसी कोई विधि नहीं है जिसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि के आचरण पर निगरानी रखी जा सके और यदि प्रतिनिधि मतदाता के विश्वास को भंग करता हो तो प्रतिनिधि के आचरण का पर्दाफाश किया जा सके और उसे सुधारा जा सके।

भारत में मतदान व्यवहार
(Voting Behaviour in India)

मतदान व्यवहार से हमारा आशय यह है कि मतदाता अपना मत देते समय किन तत्त्वों से प्रभावित होता है। ये तत्त्व सभी समयों और स्थानों में समान नहीं होते, यही कारण है कि विभिन्न समयों पर विभिन्न क्षेत्रों में मतदान व्यवहार एक सा नहीं हो पाता। मतदान व्यवहार के अध्ययन का क्षेत्र व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। इसमें हम केवल मतदान करने वाले लोगों का ही नहीं बल्कि उन लोगों के व्यवहार का भी अध्ययन करते है जो मतदान नहीं करते। चुनावों से पूर्व और चुनावों के बाद विभिन्न क्षेत्रों में मतदाताओं से सम्पर्क स्थापित करके और उनसे विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछकर मतदान व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकालने के प्रयत्न किए जाते हैं। इस प्रकार यह काम समय, धन और श्रम तीनों की माँग करता है। मतदान व्यवहार का अध्ययन कोई सरल कार्य नहीं है। न केवल एक क्षेत्र का मतदान व्यवहार दूसरे क्षेत्र के मतदान व्यवहार से भिन्न होता है बल्कि मतदाताओं के उत्तर भी कई कारणों से अनुकूल और प्रतिकूल रूप में प्रभावित होते हैं। अनेक मतदाता प्रश्नों के उत्तर देने से इन्कार कर देते हैं या उदासीनतापूर्वक उत्तर देते हैं। ऐसे मतदाता भी होते हैं जो साक्षात्कारकर्त्ता को सरकारी प्रतिनिधि मानकर सही उत्तर देने से हिचकिचाते हैं। बहुत से अशिक्षित मतदाता साक्षात्कार-कर्त्ता को समुचित उत्तर ही नहीं दे पाते। जहाँ मतदाता और साक्षात्कारकर्त्ता की भाषा में अन्तर होता है वहाँ मतदान व्यवहार का सही अध्ययन कर पाना कठिन हो जाता है।

भारत में पिछले आम चुनावों और उप-चुनावों में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्त्व ये रहे है—जातिगत राजनीति, प्रदेश या प्रान्तीयतावाद, दलीय व्यवस्था, राजनीतिक स्थिरता की आकांक्षा, दल-विशेष की नीतियाँ और कार्यक्रम, दलों की विचारधारा, नेतृत्व का स्वरूप, देश की आर्थिक स्थिति, आन्दोलनों की राजनीति, सामन्तशाही व्यवस्था, विदेश नीति मे सफलता-असफलता, देश के सामने उपस्थित बाह्य अथवा आन्तरिक संकट, साम्प्रदायिकता की भावना, राजनीतिक अज्ञानता या पिछड़ापन, प्रत्याशी के गुणावगुण, चुनाव-प्रचार, आदि ।

1. प्रारम्भ से ही जातिवाद मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है । हरियाणा, पंजाब, केरल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों मे तो इस तत्त्व ने अनेक अवसरो पर निर्णायक भूमिका अदा की है । अनेक दल तो जातियों के आधार पर ही बने है और उन्हे विशेष जातियों का समर्थन प्राप्त है । उदाहरणार्थ, हरियाणा मे अनुसूचित जातियो मे चमारों की संख्या प्रभावकारी है और राजनीति तथा मतदान के क्षेत्र में कई अवसरों पर अन्य जातियों की तुलना मे उनकी अधिक चली है । इस प्रकार जाटवाद, अहीरवाद आदि के नाम पर मत बटोरे जाते है । 'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को' जैसा व्यवहार वहाँ आम बात है । मेव मुसलमानों की प्रवृत्ति भी प्रायः यही रही है कि अपने गोत्र के उम्मीदवारो को ही मत दें । भारतीय क्रान्ति दल को जाट जाति पर नाज रहा है तो अकाली दल सिक्खों के सहारे जिन्दा है । प्रथम चार आम चुनावों की तुलना मे पाँचवें लोकसभाई चुनावो में जातिवाद ने मतदान व्यवहार को बहुत कम प्रभावित किया ।

2. साक्षरता का स्तर, समुदाय का प्रकार, धर्म आदि ने मतदान व्यवहार को प्रभावित किया है । भारतीय समाज में ग्रामीणों की संख्या अधिक होने से उनमें साक्षरता का स्तर कम है जो मतों की संख्या को प्रभावित करता है । धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक भावना उकसायी जाती है जिससे व्यक्तिगत व्यवहार और फलस्वरूप मतदान व्यवहार पर्याप्त प्रभावित होता है ।

3. राजनीतिक स्थिरता की आकांक्षा मतदान व्यवहार को कहाँ तक प्रभावित करती है इसका प्रमाण भी पाँचवें लोकसभाई चुनाव और 1972 के चुनाव थे । चौथे आम चुनावों के बाद राज्यों में जिस तरह सरकारें बनने-बिगड़ने का दौर चला उससे जनता परेशान हो गई और उसने कांग्रेस को केन्द्र तथा राज्यों में प्रचण्ड बहुमत से जिताकर राजनीतिक स्थायित्व लाना श्रेयस्कर समझा । जनवरी, 1980 के चुनाव ने पुनः इस बात की पुष्टि कर दी कि भारत की जनता राजनीतिक अस्थिरता को समाप्त करने को कितनी जागरूक है ।

4. विचारधारा, कार्यक्रम और नीति मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहे है । पर साथ ही मतदाता चुनावी वादों के ... भी समझने लगे है ।

5. केन्द्र में सुदृढ़ सरकार स्थापित करने की लालसा ने मतदान व्यवहार को विशेष रूप में प्रभावित किया है। चौथे आम चुनावों के अपवाद को छोड़कर भारतीय मतदाताओं ने केन्द्र को सदैव सबल बनाए रखा। जब चौथे आम चुनाव के फलस्वरूप केन्द्र दुर्बल हो गया और जनता को अनेक कष्ट भोगने पड़े तो मतदाताओं ने अगले चुनाव में केन्द्र को पुनः सबल बना दिया।

6 मतदान व्यवहार को देश की आर्थिक स्थिति ने काफी प्रभावित किया है। 1967 के चुनावों में कांग्रेस के विरोध में मतदान अधिकांशतः इसलिए हुआ कि जनता की आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई थी, किन्तु जब 1971 के चुनावों से पूर्व श्रीमती गाँधी ने आर्थिक स्थिति सुधारने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया तो मतदान पुनः कांग्रेस के पक्ष में हुआ।

7 1971 के पाँचवें लोकसभायी चुनावों से पूर्व सामन्तशाही व्यवस्था ने मतदान व्यवहार को सकारात्मक रूप में प्रभावित किया। स्वतन्त्र पार्टी तेजी से उभरी, क्योंकि जागीरदारों, भूतपूर्व राजाओं आदि का अच्छा समर्थन मिला। लेकिन सामन्तशाही के झूठे वायदों की कलई शीघ्र ही खुल गई और 1971 के चुनावों में सामन्तशाही निर्णायक रूप से पिट गई। राजा और रानियों और जागीरदारों की स्वतन्त्र पार्टी का अब अस्तित्व भी नहीं है।

8 क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति मतदान व्यवहार को सदा से प्रभावित करती रही है।

9. भाषायी विवादों ने भी समय-समय पर मतदान व्यवहार को प्रभावित किया है। तमिलनाडु में मुख्यत. हिन्दी विरोधी प्रचार के कारण द्रमुक को 1967 के चुनावों में विधान-सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया।

10 नेतृत्व मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला निर्णायक तत्त्व रहा है। स्वर्गीय नेहरू के चमत्कारिक नेतृत्व और व्यक्तित्व ने मतदान व्यवहार को कांग्रेस के पक्ष में इतना अधिक प्रभावित किया कि यहाँ तक कहा जाने लगा कि—नेहरू के बाद देश का क्या होगा ? श्री नेहरू की मृत्यु के बाद केन्द्रीय नेतृत्व कमजोर पड़ गया अतः कांग्रेस लड़खड़ा गई। मतदाताओं के विश्वास की भूमि हिल गई और 1967 के आम चुनावों में सत्ता-परिवर्तन लाने की प्रवृत्ति जोरों से उभरी। किन्तु श्रीमती गाँधी ने शनैःशनैः अपने नेतृत्व की छाप बैठा दी और मतदाताओं ने मध्यावधि लोकसभायी चुनावों में अपने मत एक तरह से कांग्रेस को नहीं बल्कि श्रीमती गाँधी को दिए। 1977 के चुनावों में श्री जयप्रकाश नारायण की अपीलों ने जनता को सर्वाधिक प्रभावित किया।

11. साम्प्रदायिकता की भावना, विदेशी धन, चुनाव-प्रचार, उम्मीदवारों द्वारा नोट देकर वोट खरीदने की शक्ति आदि तत्त्व भी मतदान व्यवहार को किसी न किसी सीमा तक प्रभावित करते रहे हैं।

12. मार्च, 1977 के बाद और विशेषकर 1978-79 में केन्द्र में राजनीतिक अराजकता और विग्रह का जो दौर चला तथा जनता को जो आर्थिक कष्ट सहने

पड़े, इसका मतदान व्यवहार पर क्रान्तिकारी प्रभाव पडा और फलस्वरूप शक्तिशाली नेता श्रीमती गाँधी के पक्ष मे मतदान हुआ ।

यदि हम 1952 से लेकर अब तक के सभी आम चुनावों में मतदान व्यवहार की समीक्षा करें तो मोटे रूप में कहा जा सकता है कि हमारे मतदान व्यवहार के प्रभावित करने वाले मुख्य तत्त्व ये रहे है—जातिगत राजनीति, प्रदेश या प्रान्तीयतावाद, दलीय व्यवस्था, राजनीतिक स्थिरता की आकांक्षा, दल-विशेष की नीतियाँ और कार्यक्रम, दलो की विचारधारा, नेतृत्व का स्वरूप, देश की आर्थिक स्थिति, आन्दोलनों की राजनीति, सामन्तशाही व्यवस्था, विदेश नीति मे सफलता-असफलता, देश के सामने उपस्थित बाह्य अथवा आन्तरिक संकट, साम्प्रदायिकता की भावना, राजनीतिक अज्ञानता या पिछड़ापन, प्रत्याशी के गुणावगुण, चुनाव-प्रचार, आपात्-कालीन ज्यादतियों से उत्पन्न जन-आक्रोश एव राजनीतिक स्थिरता तथा आर्थिक कठिनाइयों से मुक्ति की आकांक्षा ।

भारतीय मतदाताओं के सम्बन्ध मे अनेक क्षेत्रों मे यह समझा जाता रहा है कि वे अपनी अशिक्षा, निर्धनता, आदि के कारण मताधिकार का उचित प्रयोग करने में असमर्थ हैं । लेकिन मार्च, 1977 के और फिर जनवरी, 1980 के चुनावों ने यह पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है कि देश के मतदाताओं मे 'सही समझ' है और वे पूरी क्षमता के साथ अपने मताधिकार का प्रयोग करते है । उन्हें लोकतन्त्र मे गहरी आस्था है इसलिए वे तानाशाही को बर्दाश्त नही कर सकते और इसी प्रकार उन्हें राजनीतिक अराजकता से चिढ़ है, इसलिए वे केन्द्र में दुर्बल सरकार को पसन्द नही करते । मतदाता हर बार आशा और विश्वास के साथ किसी के पक्ष में मतदान करते है, लेकिन जब उनके विश्वास को धोखा दिया जाता है तो वे फिर अपना पक्ष पलटने को बाध्य हो जाते है । मतदाता 'अपरिपक्व' नही है, वल्कि सत्तारूढ दल 'अपरिपक्व' है क्योकि वह मतदाता को धोखा देता है, उसकी आकांक्षाओं को पूरा नही करता । केवल कुछ अर्से को छोडकर देश की जनता ने श्रीमती गाँधी के नेतृत्व मे विश्वास व्यक्त किया है और जनवरी, 1980 के 'फैसले' की माँग है कि श्रीमती गाँधी देश को प्रगति और खुशहाली की तरफ ले जाने में कोई कमी न रखे । मतदाता काफी जागरुक हो गए है और उन्हे आसानी से बहलाया-फुसलाया नहीं जा सकता । जो दल मतदाताओं के सामने ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करेगा और उसे क्रियान्वित करने का दम-खम रखेगा, उसी दल को मतदाता विजयी बनाएँगे ।

निर्वाचन और भारत में राजनीतिक विकास
(Elections and Political Development in India)

निर्वाचनों ने भारत में लोकतन्त्र और राजनीतिक विकास की दिशा मे निर्णायक भूमिका अदा की है । आज लोकतन्त्र का अर्थ एक ऐसी राजनीतिक पद्धति है जिसमे राष्ट्र के लोग स्वयं सीधे-सादे शासन नहीं करते वल्कि सरकार पर असरदार नियन्त्रण भर रखते है । यही वह विशेषता है जिसके कारण किसी लोकतान्त्रिक राष्ट्र को अलोकतान्त्रिक राष्ट्र से अलग करके देखा जा सकता है । जहाँ जनता

सीधे-सादे शासन करती है या जहाँ सरकार जनता के नियन्त्रण में नहीं है, वहाँ चुनाव का महत्त्व गौण है, परन्तु जहाँ सरकार जनता से भिन्न है किन्तु फिर भी उसे जनता के नियन्त्रण में रहना पड़ता है, वहाँ चुनावों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भाग होता है। भारत में निर्वाचन वह शक्तिशाली यन्त्र सिद्ध हुआ है जिसके द्वारा जनता लोकतान्त्रिक ढंग से सरकार पर नियन्त्रण करती आ रही है। विगत आम चुनावों में चाहे वे लोकसभा के हुए हों या राज्यों के, जनता द्वारा ही यह निर्णय किया गया है कि कौन उस पर शासन करेगा। भारतीय जनता सदैव एक सुदृढ़ केन्द्र के पक्ष में रही है। अतः 1967 के चुनावों के अपवाद को छोड़कर उसने केन्द्र में शासक दल को सदैव पूरा बहुमत प्रदान किया है। 1977 के चुनावों में भी जनता ने प्रबल बहुमत से जनता पार्टी के पक्ष में मतदान किया और इस प्रकार केन्द्र में पहली बार जो गैर-कांग्रेसी सरकार बनी वह भी बहुत ही मजबूत स्थिति में थी। दुर्भाग्यवश जनता पार्टी आपसी विभाजन और फूट का शिकार बनी जिससे जुलाई, 1979 में उसका पतन हो गया, एक राजनीतिक अस्थिरता का दौर चला जिससे केन्द्र की स्थिति कमजोर बन गई और अन्ततः छठी लोकसभा को भंग कर राष्ट्रपति द्वारा सातवीं लोकसभा के लिए मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा की गई जो जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में सम्पन्न हुए। इन चुनावों में मतदाताओं ने पुनः 1971 और 1977 की तरह एकतरफा फैसला देकर केन्द्र में स्थिर सरकार की स्थितियाँ पैदा की। कांग्रेस (इ) को 351 स्थान प्राप्त हुए अर्थात् लोकसभा में दो-तिहाई से भी अधिक बहुमत उसे मतदाताओं ने प्रदान किया।

राज्यों में जनता ने अनेक बार गैर-कांग्रेसी सरकारों को पदासीन किया है। यह जनता का ही निर्णय था कि 1967 के चुनावों के परिणामस्वरूप देश के लगभग आधे राज्यों में कांग्रेस ने शासन सम्भाला तो लगभग आधे राज्यों में विपक्षी दलों की सरकार ने। जब जनता को यह अनुभूति हुई कि विपक्षी दलों ने शासन को बच्चों का खेल बना डाला है तो संयुक्त सरकारों के प्रयोग को असफल मानते हुए, जनता ने 1972 के चुनावों में 16 राज्यों में से 14 राज्यों में शासन पुनः कांग्रेस को सौंप दिया। मार्च, 1977 में लोकसभा में जनता पार्टी को प्रबल बहुमत प्रदान करने और केन्द्र में उसे शक्तिशाली रूप में सत्तारूढ़ करने के बाद मतदाताओं ने यही अनुभव किया कि विधान-सभाओं में भी जनता पार्टी को ही बहुमत प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा राजनीतिक अस्थिरता का दौर पुनः शुरू हो जाएगा। इसीलिए जून, 1977 में जिन राज्य विधान-सभाओं के चुनाव हुए उनमें कांग्रेस सत्ताच्युत हुई और अधिकांश में जनता पार्टी की ही सरकारें बनी। जनवरी, 1980 के लोकसभाई चुनावों के बाद राजनीतिक क्षेत्रों में यह सम्भावना व्यक्त की जाने लगी है कि विधान-सभाई चुनावों में भी पुनः कांग्रेस (इ) विजय प्राप्त करेगी।

वास्तविक लोकतन्त्र में निर्वाचित व्यक्तियों का कार्यकाल कुछ वर्षों तक ही सीमित होता है और यदि वे फिर से पदारूढ़ होना चाहते हैं तो उन्हें फिर से चुनाव में खड़ा होना पड़ता है। पर इसकी कोई गारण्टी नहीं रहती कि वे फिर से चुने ही

जाएँगे। भारत के आम चुनावों और उप आम चुनावों में बड़े-बड़े नेता धराशायी होते रहते है। चुनावों ने भारतीय जनता को यह स्वतन्त्रता प्रदान की है कि वह शासकों के एक गुट को हटा कर उसकी जगह पर दूसरे गुट को बैठा दे। जनमत ने दिसम्बर, 1969 के कांग्रेस विभाजन के उपरान्त तथाकथित 'सिण्डीकेट गुट' को राजनीति से जिस प्रकार दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया, वह विदेशों के लिए भी आश्चर्य की बात थी। हमारे चुनाव जनता को मौका देते रहे हैं कि वह सत्तारूढ़ लोगों के सम्बन्ध में यह निर्णय दे सके कि उन लोगों के पिछले कार्यों पर वह क्या राय रखती है। सत्तारूढ़ लोग इस पहलू को समझते हैं और इस कारण ऐसी नीतियाँ अख्तियार नहीं करते जो कि जनहित के विरुद्ध हों। इसीलिए वे आम तौर से जनमत के मार्गदर्शन को ग्रहण करते हैं। आर्थिक असन्तोष से पीड़ित जनता ने 1967 के चुनावों में अपने मतदान द्वारा शासक दल को जगा दिया, उसे मजबूर कर दिया कि वह अपने कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने की दिशा में ठोस कदम उठाए। जब जनता को ऐसा लगा कि श्रीमती गाँधी की सरकार भारत को राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान कर सकेगी तो उसने 1971 और 1972 के आम चुनावों में पुनः पूरी मजबूती प्रदान की। अधिनायकवादी दौर के बाद मार्च, 1977 में श्रीमती गाँधी का पतन हुआ और सत्ता की बागडोर जनता पार्टी के हाथों में आ गई। किन्तु जनता पार्टी और लोकदल की सरकारों ने जन-साधारण का विश्वास एक साथ बड़े पैमाने पर खो दिया। जनता सरकार को आन्तरिक विग्रह से फुरसत नहीं मिली और लोकदल की सरकार के समय भी यही स्थिति बनी रही। जन-साधारण राजनीतिक अराजकता और अस्थिरता की दृष्टि से ऊब गए। उन्हें भारी आर्थिक कष्ट सहने पड़े और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी भारत की गिरती हुई प्रतिष्ठा से उनका मन व्याकुल हो गया। परिणाम सामने था—जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनाव में सत्ता पुनः श्रीमती गाँधी को सौंप दी गई। 1977 और 1980 में मतदान के माध्यम से जनता ने यह स्पष्ट कर दिया कि न उसे अधिनायकवाद पसन्द है और न राजनीतिक अस्थिरता। उसे ऐसी सरकार चाहिए जो अधिनायकवादी प्रवृत्ति से दूर रहते हुए राष्ट्र और जन-साधारण के हित में सुदृढ़ इकाई के रूप में प्रभावी शासन दे सके। यह विश्वास किया जाना चाहिए कि श्रीमती गाँधी पिछली भूलों को नहीं दोहराएँगी और जन-आकांक्षा के अनुकूल शासन प्रदान करेंगी।

अब तक के सात आम चुनाव निरन्तर इस बात की पुष्टि कर चुके हैं कि भारत के मतदाता भारतीय लोकतन्त्र की रक्षा के लिए सदैव जागरूक है। सभी चुनाव शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुए हैं और मतदाताओं ने अपनी मनचाही सरकार चुनी है। 1977 में मतदाता ने श्रीमती गाँधी और उनके दल को इसलिए हराया कि उनके पिछले कुछ वर्षों के रवैये से लोकतन्त्र को आघात लगा था। जनवरी, 1980 में जनता पार्टी और लोकदल को मतदाता ने इसलिए हराया क्योंकि उन्होंने राजनीतिक अस्थिरता का जो वातावरण पैदा कर दिया था उससे लोकतन्त्र को खतरा पैदा हो गया था। इस प्रकार लोकतन्त्र को बनाए रखने और आगे बढ़ाने की

मंशा मतदाताओं के मन में रही और अपने मतदान से उन्होंने पहले 1977 में फिर 1980 में सारे संसार को आश्चर्यचकित कर दिया। पिछले दो आम चुनाव इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि भारत में कितना राजनीतिक विकास हो चुका है और देश के मतदाता कितने जागरुक हैं।

वैयक्तिक मतदाताओं की दृष्टि से भी चुनाव बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भारत में चुनावों ने मतदाताओं को राजनीतिक शक्ति में भाग लेने का अवसर प्रदान किया है, चाहे वह भाग कितना ही छोटा हो। बुद्धिमान तथा दिलचस्पी रखने वाले नागरिकों को यह भी सन्तोष रहता है कि उन्होंने मनपसन्द प्रतिनिधि को वोट दिया। ऐसे लोग दूसरों को भी यह अनुभव कराते है कि कम से कम कुछ समय के लिए वे अपने स्वार्थ की खोल से बाहर निकल आने में समर्थ हुए है और सार्वजनिक हित मे हाथ बंधा सकते है। जिन लोगों को साधारणतया नीची जगह से देखा जाता है, क्योंकि वे गरीब या छोटी जाति अथवा वर्ग के होते है, उन्हे भी इस समय यह सन्तोष मिलता है कि उम्मीदवार उन्हें महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में सम्मान देते हैं और इस प्रकार उन्हे यह भान होता है कि समाज में उनका एक स्थान है। इस प्रकार उनकी आत्म-सम्मान भावना में कुछ वृद्धि होती है। हमारी तरह जात-पांत और ऊँच-नीच की भावना से पीड़ित समाज में इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक सन्तोष बहुत महत्त्व रखता है और लोकतान्त्रिक समानता के आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। भारत में चुनावों ने धर्म-निरपेक्षीकरण और राजनीतिक आधुनिकीकरण को सराहनीय रूप में आगे बढाया है।

अधिकाँश लोकतान्त्रिक देशों की तरह भारत के संविधान मे भी वयस्क मताधिकार स्थापित किया है। इस प्रकार देश में ऐसी निर्वाचन व्यवस्था की गई है कि ऐसा कोई अल्पतन्त्री गुट सत्तारूढ़ नही हो सकता जिसके हाथ में सारी शक्ति आ जाए। भारतीय निर्वाचनों ने मतदाताओं और प्रत्याशियों के सम्पर्क में वृद्धि करके देश के राजनीतिक विकास को गति दी है। भारत के पहले और दूसरे आम चुनाव में राजनीतिक गतिशीलता नगण्य रही, लेकिन तीसरे और चौथे आम चुनाव में राजनीतिक गतिशीलता में भारी वृद्धि देखी गई और पांचवें एवं छठे आम चुनावों ने मतदाताओं और प्रत्याशियों को एक-दूसरे के बहुत निकट ला पटका। आम चुनावों ने भारत में राजनीतिक एकता को जो प्रोत्साहन दिया है वह देश के राजनीतिक विकास के लिए अति आवश्यक है। राजनीतिक विकास के लिए राजनीतिक स्थिरता और व्यवस्थित परिवर्तन होना जरूरी है और इस दिशा में हमारे निर्वाचनों ने सफल भूमिका अदा की है। सत्ता-परिवर्तन के लिए तलवारो के खेल से भारत बहुत कुछ इसीलिए बचा रहा है कि यहाँ निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्वाचनो की व्यवस्था है।

हमारी राजनीतिक व्यवस्था की यह विवशता है कि विकल्प बनाने का उपाय मतदाता के हाथ में नहीं है। उसे मौजूदा विकल्पों, पार्टियों और उनके उम्मीदवारों में से ही कोई विकल्प चुनना पड़ता है। यह भी विचित्र बात है कि जहाँ राजनीतिक प्रेक्षक चुनावों के समय जात-पांत, सम्प्रदाय क्षेत्र को महत्त्व देते हैं, वहाँ

एक से अधिक बार मतदाता का फैसला इन सकीर्ण दायरों से ऊपर बडे राजनीतिक मसलो के आधार पर हुआ है। 1971 और 1977 मे मतदाता ने बडे पैमाने पर राजनीतिक निर्णय लिया और 1980 में इस बार भी उसका निर्णय पूर्णतया राजनीतिक रहा है। इस बार तो जात-पांत का प्रभाव पिछले चुनावों के मुकाबले और भी कम रहा है तथा क्षेत्रीय दलों और निर्दलियो को मतदाता ने अच्छा सबक सिखाया है।

सत्तारूढ़ दल गृह और विदेश नीति का संचालन कितनी सफलतापूर्वक करता है, इस पर भी मतदाता की नजर रही है। जनता सरकार के समय सुरक्षा पुलिस में जो असन्तोष भड़का उससे यदि मतदाता प्रभावित हुए हों तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। जब देश कुछ पड़ोसी राष्ट्रों की ओर से आशंकित हो, उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्रों से विद्रोहियों की सशस्त्र कार्यवाही उग्र हो रही हो तो मतदाता का झुकाव एक डाँवाडोल और ढिलमिल-मिजाज सरकार की बजाय स्थिर सरकार की ओर ही रहना स्वाभाविक है। जनता और लोकदल की सरकारों के समय विदेशों में भारत की छवि कितनी धूमिल हुई और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की आवाज कितनी कमजोर हो गई, इस पर भी मतदाताओं का ध्यान गया और फलस्वरूप 1980 के नतीजे सामने आए। इसमें बची-खुची कमी अफगानिस्तान पर सोवियत कार्रवाई ने पूरी हो गई। पहले ईरान और बाद में अफगानिस्तान की घटनाओं ने पहली बार महाशक्तियों के उग्र शक्ति संघर्ष को ठीक देश के दरवाजे पर ला खड़ा किया है, इसे समझने में मतदाताओं को देर नहीं लगी होगी, ऐसी विकट स्थिति में स्वाभाविक ही मतदाता भीतर से टूटे हुए, कलहग्रस्त, निर्णय लेने में अक्षम दल और नेतृत्व की तुलना में ऊपर से संगठित हो और एक व्यक्ति के नेतृत्व वाली पार्टी को पसन्द करते। उन्होंने यही किया भी।

स्पष्ट है कि निर्वाचनों ने भारत में लोकतन्त्र को सुदृढ बनाया है यहां स्वस्थ राजनीतिक विकास की आधारशिलाएँ रखी हैं। निर्वाचन हमारे लोकतान्त्रिक राष्ट्र के ढाँचे और कार्यान्वयन के लिए बिलकुल [illegible] के रूप में है और [illegible] न्यायोचित तथा स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए सभी सम्भव उपाय किए जाने चाहिए।

भारतीय निर्वाचनों को और अधिक सुधारने तथा स्वस्थ बनाने सम्बन्धी सुझाव

भारतीय निर्वाचनों और निर्वाचन व्यवस्था को [illegible] है [illegible] अनेक कमियाँ विद्यमान है, जिन्हे दूर करने का प्रयत्न किया जा[illegible] मुख्य कमियाँ प्राय: ये बताई जाती हैं—चुनावों के लिए विदेशी [illegible] चुनाव-नियमों का उल्लंघन, चुनावो मे विभिन्न प्रकार के [illegible] के पास अपना स्वतन्त्र कर्मचारी वर्ग न होना, चुनाव आयुक्त के [illegible] तरह सुनिश्चित व्यवस्था न होना जिस तरह कि उच्चतम [illegible] व्यय की सीमाओं का व्यवहार मे पूरा उल्लंघन, कई बार [illegible]

स्तर का निर्वाचन प्रचार, डाक द्वारा आने वाले मत-पत्रों के बारे में पूर्ण निष्पक्षता की समुचित व्यवस्था न होना, आदि।

भारतीय चुनावों की कमियों को दूर करने के लिए समय-समय पर विभिन्न सुझाव दिए जाते रहे हैं और चुनाव आयोग ने भी विभिन्न कदम उठाए हैं।

के. सन्थानम के सुझाव

1. मुख्य निर्वाचन आयुक्त को विरोधी दल के एक प्रतिनिधि तथा भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करने के उपरान्त नियुक्त करना चाहिए।

2. राज्यों तथा जिलों में अपने नियन्त्रण में पूर्ण कालीन अधिकारियों को नियुक्त करने की शक्ति निर्वाचन आयोग को दी जानी चाहिए।

3. वयस्क मताधिकार को सीमित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। मताधिकार को ऐसे ही बने रहना चाहिए, किन्तु निर्वाचक नामावलियों को पूरे वर्ष नवीनतम रखने के लिए अधिक प्रभावकारी व्यवस्था की जानी चाहिए।

4. परिवर्तित होती हुई जनसख्या के आधार पर निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमक को समय-समय पर बदलना अवांछनीय है। क्योंकि वह जन-सम्पत्ति के पुष्ट होने में बाधक होता है और अधिक जन्म-दर वाले क्षेत्रों को महत्त्व देता है। जन्म-दर में कमी करना राष्ट्रीय नीति है, अतः निश्चित निर्वाचन क्षेत्र बनाने के लिए अनुच्छेद 81 और अनुच्छेद 170 मे उपयुक्त सशोधन होना चाहिए। भारत का विभाजन, लोकसभा के लिए, 250 निर्वाचन क्षेत्रों में किया जाना चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र में दो-दो उम्मीदवार निर्वाचित होने चाहिए। बड़े निर्वाचन क्षेत्रों के निर्माण में साम्प्रदायिक और जातीय हितों का प्रभाव कम हो जाएगा।

5. साम्प्रदायिक और जातीय हितों का प्रभाव विधान-सभाई चुनावों में और भी अधिक होता है। अतः उचित होगा कि राज्यों की विधान-सभाओं के लिए एक ही निर्वाचन क्षेत्र से दस-बारह उम्मीदवार निर्वाचित किए जाएँ।

6 दोनों दशाओं मे, निर्वाचन एकल मत द्वारा होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति बहुत कम मतों से निर्वाचित न हो सके, इसके उपाय किए जाने चाहिए। के० सन्थानम ने इसके लिए कुछ उपाय भी अपनी रिपोर्ट में सुझाए हैं—ये उपाय कुछ जटिल हैं अतः इन्हें लागू करना संभवतः बड़ा कठिन होगा।

7. उम्मीदवारों के लिए कुछ न्यूनतम अर्हताएँ निश्चित की जानी चाहिएँ।

8. राज्यसभा के सदस्यों के निर्वाचन ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों से किए जाने चाहिए जिनमें नगरपालिका से सम्बद्ध तथा पंचायती राज संस्थाओं के प्रतिनिधियों। उम्मीदवार की न्यूनतम आयु 40 वर्ष निश्चित की जानी चाहिए।

9. राजनीतिक दलों के कार्य-संचालन को वर्तमान दोषों और अफसरशाही से मुक्त किया जाना चाहिए। ऐसा कानून बनाया जाना चाहिए कि जिसमें राजनीतिक दलों के पंजीकरण व उनके संविधान, उनके संविधानों के संशोधन की प्रक्रियाएँ, सदस्य पंजीयन तथा आय-व्यय लेखे के शुद्धतापूर्वक लेखन—इन सब विषयों पर उपबन्ध हो।

अन्य सुझाव

वर्तमान निर्वाचन प्रणाली में सुधार करते समय निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

1. जो भी प्रणाली अपनाई जाए वह एक उचित अवधि में वर्तमान अराजकतापूर्ण दल-संगठन को संगत बनाए, दलों की संख्या को इस सीमा तक कम करे जिससे कि उनके बीच समुचित सन्तुलन स्थापित हो सके और जब भी आवश्यकता पड़े सरकार का परिवर्तन संघर्ष के बिना हो सके।

2. वह प्रणाली बहुत सरल हो जिससे कि साधारण एवं अशिक्षित मतदाता उसके अर्थ को समझ सकें और बिना कठिनाई के चुनाव कर सकें। वर्तमान दशा में हमारी निर्वाचन प्रणाली काफी सरल है, यद्यपि दलों, उम्मीदवारों और उनकी नीतियों के बाहुल्य के कारण मतदाता काफी भ्रमित रहता है। सरल होने के साथ-साथ प्रणाली का प्रभावशाली होना भी आवश्यक है।

3. निर्वाचन परिणाम जो भी हों, दलों के निर्वाचित सदस्यों को उन्हें स्वीकार करना चाहिए और उन वादों और निष्ठाओं की ही अपनी नहीं पीटते रहना चाहिए, जिनके आधार पर वे निर्वाचित हुए हों।

4. विरोधी दलों में छाया मन्त्रि-मण्डल की प्रथा आरम्भ की जाए ताकि उनमें उत्तरदायित्व और अनुशासन की भावना पनपे तथा सरकार पर रचनात्मक प्रभाव पड़ सके।

5. चुनाव-व्यय सीमाओं को वर्तमान सीमाओं से थोड़ा बढ़ा दिया जाए और उन पर कठोरता से अमल कराया जाए। राज्य इस सम्बन्ध में नियम बनाए कि राजनीतिक दल लोगों से किस प्रकार रकम लें और कोई व्यक्ति किस दल को अधिकतम कितना चन्दा दे। यह व्यवस्था की जाए कि राजनीतिक दल जिन सूत्रों से धन प्राप्त करें, उनको सार्वजनिक रूप से प्रकाशित कर दें। राज्य को कठोरतापूर्वक देखना चाहिए कि दल अपने आय-व्यय का सही विवरण रखें और उसे प्रकाशित करें। उल्लेखनीय है कि जनवरी, 1980 के चुनावों के कुछ समय पूर्व निर्वाचन आयोग ने संसदीय चुनाव में प्रति उम्मीदवार खर्च की सीमा 35 हजार रुपये से बढ़ाकर एक लाख करदी है। केन्द्र शासित क्षेत्रों में चुनाव खर्च की यह सीमा 75 हजार रुपये होगी। विधान-सभाई चुनावों के लिए प्रति उम्मीदवार खर्च की सीमा बढ़ाकर 35 हजार रुपये कर दी गई है।

6. शासक दल प्रशासनिक तन्त्र का दुरुपयोग न कर सकें, इसकी समुचित व्यवस्था हो। कानूनी तौर पर ऐसी व्यवस्था कर दी जाए कि चुनाव की घोषणा होने के दिन से लेकर नवीन सरकार बनने के समय तक केन्द्रीय और राज्य सरकारें केवल काम चलाऊ सरकारें (Care Taker Government) के रूप में कार्य करें, उन्हें नीति सम्बन्धी कोई घोषणा करने, किन्हीं वर्गों को [illegible] प्रदान करने अथवा सरकारी कर्मचारियों आदि के भत्तों आदि [illegible] करने का कोई अधिकार न रहे।

7. निर्वाचन अधिकारियों पर कोई राजनीतिक दबाव न रहे, इसकी व्यवस्था हो। भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त श्री सेन वर्मा ने स्वीकार किया था कि "राजनीतिक दबाव में आकर मतदान सूचियों मे गड़बडी की गई, मन्त्रियों तक ने चुनाव में हस्तक्षेप किया, ससद् सदस्यो तक के नाम मतदाता-सूची से निकाल दिए गए ताकि ये चुनाव न लड़ सकें और प्रतिपक्षी उम्मीदवारो के नामांकन पत्र भारी सख्या में रद्द कर दिए गए।"[1] चुनाव के पहले और चुनाव के बाद भी निर्वाचन अधिकारियों को तग करने की शिकायतें कम नही रही है।

चुनाव आयोग की 23-सूत्री आचार संहिता

आम चुनाव साफ सुथरे हों इसके लिए 5 अक्तूबर, 1979 को चुनाव आयोग ने एक 23-सूत्री आचार सहिता जारी की। आयोग ने आचार सहिता को छह भागों में बाँटा है जिसमे उम्मीदवारों और राजनीतिक दलों के सामान्य आचरण, आम सभाएँ आयोजित करने, जुलूस आदि निकालने, मतदान के दिन अपनाए जाने वाले नियमों, मतदान केन्द्रों में प्रवेश के सम्बन्ध में पर्यवेक्षकों की नियुक्ति तथा सत्तारूढ़ दल द्वारा स्वीकार किए गए नियमो का उल्लेख है। चुनाव आयोग ने पहली बार प्रत्येक संसदीय चुनाव क्षेत्र में एक प्रेक्षक की नियुक्ति का निर्णय किया है। विस्तृत आचार सहिता की मुख्य बाते इस प्रकार हैं—

"कोई भी उम्मीदवार अथवा राजनीतिक दल विभिन्न जातियों, समुदायों, धर्म अथवा भाषा-भाषियों के बीच व्यापक मतभेद अथवा तनाव बढ़ाने वाली कार्यवाही मे शामिल नहीं होगा।

राजनीतिक दल की आलोचना केवल नीतियों, कार्यक्रमों और पिछले कार्यों तथा रिकार्ड तक सीमित रहे। उम्मीदवारों व दल के नेताओं के व्यक्तिगत जीवन की आलोचना नही की जानी चाहिए। समुदाय की भावनाओं को आन्दोलित करने के लिए कोई अपील नही की जानी चाहिए। चुनाव प्रचार के लिए धार्मिक स्थलों का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

सभी दलों के उम्मीदवारो को भ्रष्ट कार्यों और चुनाव कानून के अन्तर्गत उन सभी अपराधों, जैसे मतदाताओं को रिश्वत देना, मतदाताओ को डराना-धमकाना, मतदाताओं को दिशाभ्रमित करना, मतदान केन्द्र के 100 मीटर में चुनाव प्रचार करना, मतदान के समय से 48 घण्टे के भीतर चुनाव सभाएँ करना तथा मतदाताओं को मतदान केन्द्र तक लाने-ले-जाने के लिए वाहनों आदि का उपयोग करना जैसे अपराधों से ईमानदारी से बचना चाहिए।

कोई भी राजनीतिक दल अथवा उम्मीदवार अपने समर्थकों को किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति पर विना अनुमति झण्डे लगाना, बैनर लगाने, नारे लिखने, और पोस्टर चिपकाने जैसे कार्य की अनुमति नही देगा।

राजनीतिक दलों अथवा उम्मीदवारों को यह सुनिश्चित कर लेना होगा कि उनके समर्थक, अन्य दलों की सभाओं तथा जुलूसों में बाधा डालने तथा उन्हें भंग करने का प्रयास नही करेंगे।

1 नवभारत टाइम्स, 4 नवम्बर, 1971.

चुनाव के लिए ग्राम सभाओ के आचार संहिता के अनुसार सभाओं के सम्बन्ध मे पुलिस को पूर्व सूचना दी जानी चाहिए। ग्राम सभाओं के प्रतिबन्धों का पालन करते हुए कानून व्यवस्था के लिए पुलिस की सहायता लेनी चाहिए।

जुलूसो के सम्बन्ध मे पूर्व सूचना पुलिस अधिकारियो को देनी चाहिए और प्रतिबन्धित क्षेत्रों मे जुलूस नही निकालने चाहिए और यातायात नियमों का पालन होना चाहिए, विरोधी दलों के जुलूस से टकराव न हो और अन्य दलो के नेताओ के पुतलों आदि जलाने जैसी भड़काने वाली कार्रवाइयाँ नही की जानी चाहिए।

मतदान दिवस पर चुनाव अधिकारियो से सहयोग करने, शान्ति और व्यवस्थित ढग से मतदान करने और मतदाताओ पर किसी भी प्रकार की बाधा और दबाव नही डाला जाना चाहिए। मतदान दिवस पर कार्यकर्ताओं को उचित परिचय-पत्र उपलब्ध किए जाने चाहिएँ।"



25 भारत की विदेश-नीति
(INDIA'S FOREIGN POLICY)

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु भारत की विदेश-नीति का सूत्रपात 2 सितम्बर, 1946 से माना जा सकता है जबकि एक अन्तरिम सरकार का निर्माण हो गया और यह समझा जाने लगा कि भारत वास्तव में अपनी विदेश-नीति का अनुसरण करने में स्वतन्त्र है।

भारतीय विदेश-नीति का ऐतिहासिक आधार

मार्च, 1950 में लोकसभा में भाषण देते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था—*यह नहीं समझा जाना चाहिए कि हम विदेश-नीति के क्षेत्र में एकदम नई शुरुआत कर रहे हैं। यह एक ऐसी नीति है जो सारे अतीत के इतिहास से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित है। इसका विकास उन सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है जिनकी घोषणा अतीत में हम समय-समय पर करते रहे हैं।*

भारतीय विदेश-नीति का निर्धारण तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से ही नहीं हुआ वरन् इसके निर्माण में भारतीय प्राचीन-प्रणाली की प्राचीन परम्परा और स्वाधीनता संग्राम के उच्च आदर्शों का भी ध्यान रखा गया है। भारतीय चिन्तन और दर्शन में सदैव भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों को स्वीकार किया गया है और सहिष्णुता उसका स्वभाव रहा है, अतः जब भारत ने अपनी विदेश-नीति में गुट-निरपेक्षता और विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तत्वों को सर्वोपरि महत्त्व दिया तो इसका कारण भारत की यही परम्परा थी। भारतीय विदेश-नीति में उपनिवेशवाद, जातिवाद, फासिज्म आदि का विरोध सन्निहित है, उसे भी स्वाधीनता संघर्ष काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अनेक प्रस्तावों द्वारा स्पष्ट कर चुकी थी। इस प्रकार यह दावा करना सर्वथा उपयुक्त है कि भारत की विदेशी-नीति कोई आकस्मिक उपज नहीं है, बल्कि इसके ऐतिहासिक आधार हैं। पामर एवं पर्किन्स के शब्दों में "भारत की विदेश-नीति की जड़ें विगत कई शताब्दियों में विकसित सभ्यताओं के मूल में छिपी हैं और इसमें चिन्तन-शैलियों, ब्रिटिश नीतियों की विरासत, स्वाधीनता आन्दोलन तथा वैदेशिक मामलों में गाँधीवादी सिद्धान्तों आदि का प्रभावशाली योग रहा है।"[1]

1 *Palmer and Perkins* : International Relations, p. 709.

विदेश-नीति के उद्देश्य एवं लक्षण

भारत की विदेश-नीति के उद्देश्य सरल और स्पष्ट हैं। भारत सरकार के एक प्रकाशन के अनुसार ये उद्देश्य हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखना तथा उसको बढ़ावा देना।

2. सभी पराधीन देशों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देना। भारत की दृष्टि से उपनिवेशवाद केवल मूल अधिकारों का उल्लंघन ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का प्रमुख कारण भी है।

3. जातिवाद का विरोध और ऐसे साम्यवादी समाज के विकास का समर्थन जिसमें रंग, जाति और वर्ग के किसी भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिपूर्ण समझौते द्वारा हल करना।

5. अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्रसंघ को सक्रिय सहयोग देना।

पामर एवं पर्किन्स ने भारत की विदेश-नीति के मुख्य लक्षण इस प्रकार गिनाए हैं—

1. जातीय भेदभाव और साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध,

2. साम्यवाद अथवा शक्ति-राजनीति की अपेक्षा राष्ट्रों के आधारभूत आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास पर बल,

3. एशियायी देशों की उपेक्षा न करने और उन पर बलात् कुछ न थोपने पर आग्रह,

4. स्वतन्त्रता अथवा असंलग्नता की नीति पर बल,

5. संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रयासों में विश्वास,

6. शीतयुद्ध तथा क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों से बचना, एवं

7. अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने वाले और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की सम्भावनाओं को बढ़ाने वाले प्रयत्नों में आस्था।

भारतीय विदेश-नीति के ये सभी लक्षण 'असंलग्नता और सहअस्तित्व की नीति' (*Policy of Non-alignment and Peaceful Co-existence*) में समाहित हैं।

भारत की विदेश-नीति के उपर्युक्त उद्देश्यों और लक्ष्यों में आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी नीतियों से राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्त्व देता है और विदेश-नीति की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी इस बात में है कि वह राष्ट्रीय हित की रक्षा करने में कहाँ तक सफल हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 30 वर्षों में, घोर कठिनाइयों के बावजूद, भारत की विदेश ने राष्ट्रीय हितों का पोषण और संवर्द्धन किया है। इजरायल के विरुद्ध का समर्थन, हंगरी और चैकोस्लोवाकिया में रूसी दमन-चक्र के विरोध अमेरिका की तुलना में सोवियत संघ को प्राथमिकता, आदि कुछ भारतीय विदेश-नीति में विरोधाभास का आरोप लगाया जाता है।

से सोचने पर विदित होगा कि भारत ने प्रत्येक अवसर पर गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का अनुपालन किया है। भारत ने सदैव न्याय का पक्ष लिया है और इस दृष्टि से ही अपना समर्थन और विरोध प्रकट किया है। यदि कभी कुछ विरोधाभास या व्यतिक्रम दिखाई भी दिया है तो उसके मूल में राष्ट्रीय हित सर्वोपरि रहा है। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से किसी देश की विदेश-नीति को कठोरता का जामा नहीं पहनाया जा सकता। यदि राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए विदेश-नीति में सामयिक मोड़ दिए जाने हैं तो यह सर्वथा युक्तिसंगत है। पर ये सामयिक हेरफेर विदेश-नीति के आधारभूत उद्देश्यों और तत्त्वों को नष्ट नहीं करते। भारत 1947 में गुट-निरपेक्ष देश था और आज भी गुट-निरपेक्ष है। भारत ने 1957 में सह-अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया था और वर्तमान में भी वह सह-अस्तित्व का प्रबल समर्थक है। इसी प्रकार भारत ने सदैव जातिवाद, उपनिवेशवाद, रंगभेद आदि का विरोध किया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत ने जो आस्था रखी है और संघ के कार्यों में जो सहयोग दिया है वह अपने आप में एक उदाहरण है। किसी भी देश की विदेश-नीति का मूल्यांकन करते समय श्री नेहरू के ये शब्द, जो उन्होंने 4 दिसम्बर, 1947 को संविधान-सभा में कहे थे, सदैव ध्यान रखने होंगे—

"आप चाहे कोई भी नीति अपनाएँ, विदेश-नीति का निर्धारण करने की कला राष्ट्रीय हित के सम्पादन में ही निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सहयोग और स्वतन्त्रता की चाहे कितनी बातें करें और उनका कैसा ही अर्थ लगाएँ, किन्तु अन्ततोगत्वा एक सरकार अपने राष्ट्र की भलाई के लिए ही कार्य करती है और कोई भी सरकार ऐसा कदम नहीं उठा सकती जो उसके राष्ट्र के लिए अहितकर हो अतः सरकार का स्वरूप चाहे साम्राज्यवादी हो अथवा समाजवादी, उसका विदेश मन्त्री मूलत. राष्ट्रीय हित में ही सोचता है।"

पुनश्च, पैडलफोर्ड एवं लिंकन के शब्दों में—

"विदेश-नीतियों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता, वरन् यह राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होती है।"

भारत की विदेश-नीति के मौलिक तत्त्व आज भी वही है जो पहले थे। अन्तर केवल इतना ही आया है कि नेहरू युग में आदर्शवाद पर अधिक बल रहा, यद्यपि अपने जीवन की संध्या में नेहरू भी यथार्थवाद को महत्त्व देने लगे, शास्त्री युग में यथार्थवाद को अधिक महत्त्व देकर तुष्टिकरण की नीति के दुर्बल चिन्हों को मिटाया जाने लगा और तत्पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में भारत की विदेश-नीति में आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर सन्तुलन दृष्टिगोचर हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं को श्रीमती गाँधी ने अच्छी तरह समझा और देश की विदेश-नीति के आदर्शवादी सिद्धान्तों की रचना करते हुए उसे पहले की तुलना में अधिक व्यावहारिक, दृढ़ और आत्मविश्वासपूर्ण बनाया। पहले बंगला देश के सन्दर्भ में, फिर पाकिस्तान के प्रति और साथ ही रूस एवं अमेरिका जैसी महाशक्तियों के प्रति श्रीमती गाँधी ने विदेश-नीति का कुशल संचालन किया। भारत ने उपनिवेशवाद

ग्रौर जाति भेद का विरोध किया ग्रौर गुट-निरपेक्षता तथा सह-ग्रस्तित्व के ग्रान्दोलन को पूर्वापेक्षा सबल बनाया।

मार्च, 1977 में कांग्रेस के पतन के साथ ही जनता पार्टी की सरकार सत्ता में ग्राई। प्रधान मन्त्री पद श्री मोरारजी देसाई ने ग्रौर विदेश मन्त्री पद श्री ग्रटल बिहारी वाजपेयी ने सम्भाला। विदेश-नीति के सन्दर्भ में नई सरकार ने ग्रपना स्पष्ट ग्रौर सुदृढ विचार व्यक्त किया कि भारत सक्रिय गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलता रहेगा। 29 जुलाई, 1979 को चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में जनता (एस) तथा कांग्रेस (संगठन) की मिली-जुली सरकार बनी जिसने भारत की विदेश-नीति पर यथापूर्व चलते रहने ग्रौर उसे ग्रौर भी ग्रधिक प्रभावी बनाने का ग्राश्वासन दिया। जनवरी, 1980 में श्रीमती गांधी के पुनः सत्तारूढ होने के साथ ही भारत की विदेशी-नीति के ग्रधिक प्रभावशील होने की ग्राशा जगी है। ग्रफगानिस्तान के प्रति ग्रपने प्रथम वक्तव्य में ही श्रीमती गांधी ने ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ग्रपनी गहरी पैठ का परिचय दिया है।

भारत की विदेश-नीति के निर्धारक तत्त्व

भारत की विदेश-नीति के भौगोलिक, ऐतिहासिक, ग्रार्थिक, वैचारिक ग्रादि निर्धारक तत्त्वों (Determining factors) पर संक्षेप में विवेचन ग्रपेक्षित है।

भौगोलिक तत्त्व

भारत एक सुविशाल देश है जिसकी लगभग 3500 मील लम्बी समुद्री सीमा ग्रौर 8200 मील लम्बी स्थल सीमा है जो विभिन्न राष्ट्रों की सीमाग्रों से मिली हुई है। ग्रपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत की विदेश-नीति का निर्धारण निम्नलिखित हितों को ध्यान में रखकर हुग्रा है—(1) जिन सीमावर्ती एवं ग्रन्य देशों से देश की सुरक्षा को भय हो, उनके साथ सहग्रस्तित्व ग्रथवा मित्रता का व्यवहार। ये देश हैं—ईरान, ईराक, ग्रफगानिस्तान, तिब्बत-चीन, साम्यवादी चीन ग्रादि, (2) मध्यपूर्व, बर्मा, रूस, हिन्द एशिया ग्रादि से देश की शान्ति, (3) सीमावर्ती राज्यों में ग्रपने शान्ति सम्बन्धों का सम्मान ग्रौर सांस्कृतिक सम्पर्क का विस्तार, (4) हिन्दमहासागर में भारत की सुरक्षा ग्रौर व्यापार के फलस्वरूप समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा, (5) ग्रन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथा ग्रन्य राष्ट्रों के मामलों में ग्रपने देश के इतिहास, हित ग्रौर संस्कृति के ग्रनुरूप ग्रपनी भूमिका ग्रदा करना।

(ii) भारत के नीति-निर्माताओं ने यह भली प्रकार समझ लिया कि उनका देश विश्व के पूंजीवादी और साम्यवादी शिविरों के बीच सन्तुलनकारी भूमिका निभाकर दोनों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। अतः भारत ने यही नीति अपनाई कि किसी भी पक्ष के साथ सैनिक सन्धि में न बंधा जाए, किसी भी गुट के साथ ऐसी सन्धि न की जाए जिससे देश की गुट-निरपेक्षता और सम्प्रभुता पर आँच आए। भारत ने विदेशों से जो भी आर्थिक और प्राविधिक सहायता प्राप्त की वह राजनीतिक शर्तों से मुक्त रही।

(iii) नवोदित भारत सैनिक दृष्टि से निर्बल था, अतः विदेश-नीति के निर्धारकों ने यह उपयुक्त समझा कि दोनों गुटों की सहानुभूति अर्जित की जाए। यह तभी सम्भव था जब गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति अपनाई जाती।

(iv) भारत जैसे सुविशाल और महान् देश के लिए यह स्वाभाविक था कि वह ऐसी नीति का अनुसरण करता जिससे उसकी स्वयं की निर्णय-शक्ति पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ सके।

जिन आर्थिक और सैनिक तत्वों ने 1947 में भारत की विदेश-नीति के निर्धारण में योग दिया है वे तत्व आज भी उतने ही सजीव हैं।

ऐतिहासिक परम्पराएँ

अतीत से ही भारत सहिष्णु और शान्तिप्रिय देश रहा है। इतिहास साक्षी है कि भारत ने कभी किसी देश पर राजनीतिक प्रभाव लादने या उसकी प्रादेशिक अखण्डता को भंग करने की चेष्टा नहीं की। यह ऐतिहासिक परम्परा भारत की विदेश-नीति का महत्त्वपूर्ण निर्माणक तत्व है। पी. एन. हक्सर ने ठीक ही लिखा है—"भारतीय विदेश-नीति का मूल तत्व सह-अस्तित्व की धारणा की जड़ भारत की भूमि, उसके निवासियों के मस्तिष्क और दृष्टिकोण में निहित है, जिनको ऐतिहासिक परम्परा की विविधताओं के बीच सामंजस्य प्राप्त करने की रही है।"

वैचारिक तत्व

सहिष्णुता, उदारता आदि तत्त्वों को ऐतिहासिक परम्परा के साथ वैचारिक तत्त्वों में भी रखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त भारत की विदेश-नीति गाँधीवाद से काफी प्रभावित है। इस पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी कम नहीं है। समाजवादी शिविर के प्रति भारत की सहानुभूति बहुत कुछ मार्क्सवादी प्रभाव का परिणाम मानी जा सकती है। गृह-नीति के क्षेत्र में भी भारत ने समाजवादी ढाँचे के समाज की स्थापना का लक्ष्य सामने रखा है। पश्चिम के उदारवाद का भी भारत की विदेश-नीति पर काफी प्रभाव पड़ा। हमारी विदेश-नीति के कर्णधार श्री नेहरू पाश्चात्य लोकतन्त्रीय परम्पराओं से बहुत प्रभावित थे। वे पश्चिमी लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद दोनों की अच्छाइयों को पसन्द करते थे और उनकी बुराइयों से बचना चाहते थे। इस प्रकार की समन्वयकारी विचारधारा ने गुट-निरपेक्षता की नीति को प्रोत्साहित किया।

राष्ट्रीय संघर्ष

भारत के स्वाधीनता संघर्ष ने विदेश-नीति के निर्धारण में उल्लेखनीय योग दिया क्योंकि—(*i*) इसके कारण भारत में महाशक्तियों के संघर्ष का मोहरा बनने से बचने का विचार उत्पन्न हुआ, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में गुट-निरपेक्ष रहते हुए महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने की भावना जाग्रत हुई, (iii) हर प्रकार के उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेद का विरोध करने का अद्भुत साहस उत्पन्न हुआ, एवं (iv) स्वाधीनता-आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई।

वैयक्तिक तत्त्व

भारत की विदेश-नीति पर वैयक्तिक तत्त्वों का, विशेषकर पण्डित नेहरू का व्यापक प्रभाव रहा है। प. नेहरू साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के विरोध तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के समर्थक थे। वे मैत्री, सहयोग और सह-अस्तित्व के पोषक थे, लेकिन अन्यायपूर्ण आक्रमण को रोकने के लिए शक्ति के प्रयोग को भी उतना ही महत्त्व देते थे। महाशक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए वे असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश-नीति का निर्माण किया। इसका वर्तमान स्वरूप पण्डित नेहरू के विचारों का ही प्रतीक है। पण्डित नेहरू के अतिरिक्त डॉ राधाकृष्णन, कृष्ण मेनन, पणिक्कर के नाम भी उन विशिष्ट व्यक्तियों में सम्मिलित किए जाते हैं जिन्होंने भारत की विदेश-नीति को प्रभावित किया। साम्यवादी चीन के प्रति भारत की प्रारम्भिक नीति के निर्धारण में सरदार पणिक्कर का विशेष हाथ रहा था। उनके गलत मूल्यांकन के कारण ही तिब्बत और चीन के बारे में भारत की विदेश-नीति पथ-भ्रष्ट हो गई तथा चीन पर अन्धविश्वास कर बैठी। श्री लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में भारत की विदेश-नीति में अधिक निखार आया। श्रीमती गाँधी के सहायक के रूप में पी. एन. हक्सर, डी. पी. धर आदि ने विदेश-नीति पर पर्याप्त प्रभाव डाला। मार्च, 1977 के उपरान्त प्रधान मन्त्री श्री देसाई और विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भारत की विदेश-नीति को नई दिशा देने का प्रयत्न किया। श्री वाजपेयी के समय यात्रा-कूटनीति का विशेष महत्त्व रहा। 14 जनवरी, 1980 को श्रीमती गाँधी के मन्त्रिमण्डल में श्री नरसिंह राव ने विदेश मन्त्री पद की शपथ ली है। विदेश-नीति पर श्री राव की छाप क्या पड़ेगी यह अभी भविष्य के गर्भ में है, किन्तु यह निश्चित है कि विदेश-नीति का वास्तविक नियन्त्रण श्रीमती गाँधी अपने ही हाथों में रखना चाहेंगी।

राष्ट्रीय हित

विदेश-नीति का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता। यह राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होती है। भारत की विदेश-नीति में राष्ट्रीय हित को सदैव सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है और दिया जाता रहेगा। राष्ट्रीय हित समय और परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, अतः भारत की विदेश-नीति में कभी जड़ता नहीं आई है। भारत न किसी साम्राज्य का आकांक्षी

है, न उसे अपने किसी उपनिवेश की रक्षा करनी है। भारत ने न अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद माओवाद की क्रान्ति का बीड़ा उठाया है और न ही किसी विचारधारा अथवा शासन-प्रणाली के विरोध मे कोई सैनिक संगठन स्थापित किया है। भारत का राष्ट्रीय हित तो इस बात में निहित है कि राष्ट्र की एकता, अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा की जाए, देश मे लोकतन्त्र को सुदृढ बनाया जाए, देश के नागरिकों को आर्थिक और सामाजिक न्याय प्रदान किया जाए एव अन्य राष्ट्रों के साथ यथासम्भव मैत्री का विकास किया जाए। भारत ने स्वाधीनता के अपने 32 वर्षों मे इन्ही लक्ष्यो की साधना की है। बाह्य आक्रमण से रक्षा करना राष्ट्र के अस्तित्व की पहली शर्त है और इतिहास साक्षी है कि भारत ने देश पर आए हर संकट का मुँह तोड़ जवाब दिया है।

विदेश-नीति के महत्त्वपूर्ण पक्ष और उनका कार्यकरण

गुट-निरपेक्षता—1947 मे जब भारत का स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय रंगमच पर दो विरोधी शक्तियां थी। अपनी परम्परा के अनुरूप, भारत ने उन शक्ति-गुटो से तटस्थ या अलग रहने और किसी का पिछलग्गू न बनने का निर्णय किया। श्री नेहरू ने कहा था—"जहां तक सम्भव हो, हम उन शक्ति-गुटो से अलग रहना चाहते हैं, जिनके कारण पहले भी महायुद्ध हुए है और भविष्य मे भी हो सकते है।"

किन्तु गुटो से अलग रहने की नीति का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे तटस्थता कदापि नही है। निश्चित रूप मे इसका यह भी अर्थ नही है कि हम संसार की घटनाओ को उदासीन बैठे देखते रहें और दुनिया से कटे रहें। इसका मतलब है, ऐसी स्पष्ट, क्रियात्मक तथा रचनात्मक नीति अपनाना, जिससे ससार में शान्ति बनी रहे। वास्तव मे सामूहिक सुरक्षा इसी पर निर्भर है। वस्तुत. गुट-निरपेक्षता का अर्थ है, अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति। गुटो से अलग रहने से, हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है, न कि किसी एक गुट के साथ जुडकर, उचित-अनुचित का ख्याल किए बिना आँख मूँद कर उसके पीछे-पीछे चलना।

भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति का कार्यकरण और उसकी सफलता निम्नलिखित प्रमुख बिन्दुओ से स्पष्ट है—

(1) कोरिया का युद्ध—सर्वप्रथम कोरिया युद्ध के समय भारत को दुनिया के सामने अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति के ठोस पहलू को दिखाने का अवसर मिला। भारत ने उस समय युद्ध-कैदियो को लौटाने के लिए तटस्थ राष्ट्रों के प्रत्यावर्तन आयोग के अध्यक्ष की हैसियत से महत्त्वपूर्ण काम किया और एक बहुत ही कठिन कार्य को बडी सफलता के साथ पूरा कर दिखाया।

(2) हिन्द चीन का संकट—गुट-निरपेक्ष नीति की उपयोगिता हिन्द चीन के संघर्ष के समय पुन: प्रकट हुई। यद्यपि भारत जेनेवा कॉन्फ्रेंस का सदस्य नही था, किन्तु शान्ति के लिए जो समझौता हुआ उसमे उसने विशिष्ट योगदान किया। भारत ने हिन्द चीन विवाद के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए एक 6 सूत्री योजना प्रस्तुत की।

(6) **पाकिस्तान का आक्रमण, 1965**—भारत-चीन संघर्ष के बाद सितम्बर, 1965 में भारत और पाकिस्तान के युद्ध में गुट-निरपेक्षता की नीति की शक्ति को एक बार फिर सही सिद्ध कर दिया गया। पाकिस्तान सीटो और सैंटो जैसे शक्तिशाली सैनिक गुटों का सदस्य होने पर भी किसी से कोई प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त नहीं कर सका। इस युद्ध में पाक-दृष्टिकोण से यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गुटों में सम्मिलित होने की नीति गलत है। बात यहीं तक सीमित नही रही। पाकिस्तान के बहुत बड़े समर्थक संयुक्तराज्य अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान दोनों पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिए और यह घोषणा की कि जब तक दोनों पक्ष युद्ध बन्द नही कर देंगे तब तक उन्हें किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता नही दी जाएगी। स्पष्ट ही अमेरिका ने अपनी इस घोषणा द्वारा एक साथी राज्य और गुट-निरपेक्ष राज्य को एक ही कोटि मे रखा। जब गुटों में सम्मिलित होने से पाकिस्तान को भी लाभ नही पहुँच सका तो फिर भारत को लाभ पहुँचने की क्या आशा की जा सकती थी। वास्तव में देखा जाए तो यह गुट-निरपेक्षता की नीति का ही परिणाम था कि संकट की अवस्था मे भारत को अनेक क्षेत्रों से पूरा समर्थन मिला और युद्ध के समय उसकी कूटनीतिक स्थिति किसी तरह कमजोर नही हुई। सुरक्षा परिषद् में युद्ध पर बहस के दौरान भी सोवियत संघ द्वारा उसे पर्याप्त समर्थन दिया गया।

(7) **तटस्थ देशों के सम्मेलन और गुट-निरपेक्षता की लोकप्रियता**—भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति के बल पर कठिनाइयों और संघर्षों पर जो विजय पाई उससे अफ्रीका तथा एशिया के देशों में गुट-निरपेक्षता के विचार को काफी समर्थन मिला। सितम्बर, 1961 में बेलग्रेड में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के पहले शिखर सम्मेलन के बाद 1964 मे काहिरा में दूसरा शिखर सम्मेलन हुआ। बेलग्रेड सम्मेलन में 25 राष्ट्रों ने भाग लिया था जबकि काहिरा सम्मेलन में 46 राष्ट्रों के प्रतिनिधि आए। 1970 के लुसाका सम्मेलन में 54 देशों के प्रतिनिधि उपस्थित हुए और 1973 के अल्जीरिया सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष देशों की सख्या 76 तक जा पहुँची है। कोलम्बो के 16 से 20 अगस्त, 1976 तक के ऐतिहासिक निर्गुट शिखर सम्मेलन के लिए 85 सदस्यों को औपचारिक तौर पर निमन्त्रण-पत्र भेजे गए। सम्मेलन में भारत की तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा—सम्मेलन को अधिक न्यायसंगत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण का सन्देश प्रसारित करना चाहिए। भारत की नीति की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत ने सदैव अपनी कथनी और करनी में स्वतन्त्रता, न्याय, समता तथा सहयोग का पक्ष लिया है। अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी अपने विचारों और सिद्धान्तों पर भारत सदैव दृढ़ रहा है। भारत ने उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के सभी स्वरूपों के खिलाफ जोरदार संघर्ष किया है और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से डाले गए सभी राजनीतिक और आर्थिक दबावों का विरोध किया है। उन्होंने कहा कि 'मानवता की अन्तरात्मा' के रूप में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की अब तक की

उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है, फिर भी हमे व्यापक परिप्रेक्ष्य में सोचना है और विघटनकारी प्रवृत्तियो से परे रहना है। उन्होंने कहा—यह सर्वथा उचित ही है कि एशिया, जिसने विदेशी शासनकाल मे यंत्रणा भोगी है, गुट-निरपेक्षता की भावना अंगीकार करने वालो में अग्रणी है। श्रीमती गाँधी ने सदस्य-देशों से एकजुट होकर शान्ति की रक्षापंक्ति मजबूत बनाने की अपील की।

(8) भारत-पाक युद्ध, 1977—बंगलादेश को लेकर दिसम्बर, 1971 में भारत और पाकिस्तान का युद्ध हुआ जिसमे गुट-निरपेक्षता की नीति फिर खरी उतरी। पाकिस्तान की सैनिक-गुटबन्दी की नीति को पूरी तरह धराशायी हुई। उसे अपने पूर्वी भाग से हाथ धोना पड़ा और लगभग एक लाख पाक सैनिको ने भारतीय सेनाओं के सामने आत्म-समर्पण किया। अमेरिका और चीन के बल पर कूदने वाले पाकिस्तान को गुट-निरपेक्ष देशों के हाथो फिर झुकना पड़ा। सोवियत रूस ने, भारत की गुट-निरपेक्षता का पूरा सम्मान करते हुए, भारत को भरपूर कूटनीतिक समर्थन दिया। यदि भारत किसी सैनिक सन्धि में बँधा होता तो भारत-पाक युद्ध दो सैनिक गुटों का युद्ध बन जाता। इस प्रसंग में भारत और रूस की उस मैत्री सन्धि का उल्लेख आवश्यक है जो अगस्त, 1971 में सम्पन्न हुई। यह मैत्री-सन्धि भारत की विदेश-नीति और कूटनीति की एक महान् उपलब्धि है। यह कोई सैनिक सन्धि नही है, जैसा कि आरोप लगाया जाता है। समानता के सिद्धान्तों पर आधारित इस सन्धि में भारत की गुट-निरपेक्षता का पूरा सम्मान करते हुए विभिन्न क्षेत्रो में सहयोग की बात कही गई है। इस 20 वर्षीय सन्धि ने दोनो देशों की दोस्ती में नया जीवन फूँका है जिससे दोनो देश न केवल एशिया और विश्व में शान्ति स्थापना और जातिवाद एव उपनिवेशवाद को खत्म करने में पहले से अधिक सहयोग कर सकेंगे अपितु यह सहयोग शिक्षा, संस्कृति और व्यापार के क्षेत्रों में भी पहले से अधिक विस्तार पा सकेंगे। इस सन्धि की सबसे बड़ी बात इस निश्चय में है कि यदि कोई तीसरा देश दोनो में से किसी एक पर आक्रमण करता है तो वे उसके प्रतिकार के लिए एक-दूसरे से परामर्श करेंगे। इसका सीधा मतलब यह जरूरी नहीं है कि उनमें से एक आक्रमणकारी पर हमला कर देगा, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि यह अर्थशून्य है। जब आक्रमण होगा तो उसमें आक्रमण के प्रतिकार का उपाय सोचा और निकाला जाएगा। इसलिए उसका अर्थ सैनिक सहायता भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि इस उपाय का स्वरूप कुछ और भी हो। मतलब आक्रमण या आक्रमण की आशंका के खत्म होने से है। यदि यह खत्म हो जाता है तो शान्ति के लिए और क्या अभीष्ट है।

(9) सैनिक गुटों का विरोध—भारत की नीति गुटबन्दी का विरोध करना है क्योंकि उसके विचार में इससे 'युद्ध-ज्वर' पैदा होता है और हथियारों के लिए दौड़ शुरू हो जाती है। उसके विचार में इससे केवल अन्तर्राष्ट्रीय तनाव ही बढ़ता है। यही कारण है कि भा- समझौते, सीटो और बगदाद समझौते तथा अन्य सैनिक गुटों [illegible]

भारत और राष्ट्रमण्डल

भारत को स्वतन्त्र होने के बाद जल्दी ही एक विचित्र परिस्थिति का सामना करना पड़ा। उसे तुरन्त यह तय करना था कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहे या उसे छोड़ दे। भारत ने यही निश्चय किया कि राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहना चाहिए क्योंकि उसकी नीति उन लोगों से भी मित्रता और सहयोग की है, जिनके विरुद्ध वह पहले आजादी के लिए लड़ता रहा है किन्तु राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को उसने विश्व-शान्ति में और जातीय भेदभाव तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति के अपने उद्देश्य में बाधक होने नहीं दिया। भारत के विचार में राष्ट्रमण्डल एक ऐसा उपयोगी मंच है, जहाँ से वह अपनी नीतियों और प्रमुख उद्देश्यों के लिए कार्य कर सकता है। राष्ट्रमण्डल-सम्मेलनों में भारत ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाई है।

भारत और अफ्रीकी-एशियाई एकता—अफ्रीकी-एशियाई एकता भारत की विदेश-नीति का एक और महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है क्योंकि भारत विदेशी गुलामी से स्वाधीन था, इसलिए उसने हमेशा गुलाम लोगों के दुःख को समझा और उनके लिए आवाज उठाई। इण्डोनेशिया सम्मेलन बुलाना और अफ्रीका में पुर्तगाली उपनिवेशवाद का निरन्तर विरोध करना इस बात का प्रमाण है कि भारत पराधीन लोगों की आकांक्षाओं से कितनी हमदर्दी रखता है।

भारत द्वारा उपनिवेशवाद का विरोध और जातीय समानता का पोषण—भारत ने अपनी विदेश-नीति में उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाया है। 1946 से भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ (महासभा में हर साल इस बात पर जोर देता रहा है कि दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार द्वारा या संसार में कहीं भी, किसी भी रूप में जातीय पृथक्करण मूल मानव अधिकारों का उल्लंघन है। रोडेशिया में श्वेत अल्पसंख्यकों की हुकूमत की भारत ने जो निन्दा की है, वह उसके जातिवाद तथा जातीय भेदभाव के विरोध की साक्षी है। राष्ट्र मण्डलीय सम्मेलनों में भारत ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध पुरजोर आवाज उठाई है और अफ्रीकी मुक्ति आन्दोलन का समर्थन किया है।

भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ—भारत उन देशों में से है जिन्होंने 1945 में सान फ्रांसिसको में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। संयुक्त राष्ट्र के जन्म से ही भारत उसके आदर्शों के लिए निरन्तर कार्य करता रहा है। भारत सदा इस बात का इच्छुक रहा है कि संयुक्तराष्ट्र सच्चे अर्थों में सारे संसार की प्रतिनिधि संस्था बने। इसी कारण उसने चीन को संयुक्तराष्ट्र में स्थान देने का पक्ष लिया, भले ही चीन के साथ उसका क्षेत्रीय विवाद क्यों न हो। संयुक्तराष्ट्र में भारत ने हमेशा शान्ति-स्थापना के सभी कार्यों का हार्दिक समर्थन किया है। कोरिया और स्वेज के संकटों के समय भारत के कार्य को सभी ने सराहा। कोरिया में भारत का मुख्य रूप से बीच-बचाव का काम रहा। कांगो में भारत ने जो काम किया, वह ठोस था। वहाँ उसने संयुक्तराष्ट्र की अपील पर अपने सैनिक भेजे। कुल मिलाकर

भारत की विदेश-नीति का मूल्यांकन

भारत की विदेश-नीति पर अत्यधिक आदर्शवादी और भावना-प्रधान होने का आरोप लगाया जाता रहा है। यह भी कहा जाता है कि हमारी विदेश-नीति सोवियत संघ से प्रभावित है और इजराइल, अरब राज्यों आदि के सन्दर्भ में इसका रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि हमारी नीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध हुई है।

भारतीय विदेश-नीति की आलोचनाएँ नेहरू-काल और कुछ-कुछ शास्त्री-काल में अधिक तीव्र थीं। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के मौलिक सिद्धान्तो की पूर्ण रक्षा करते हुए उसे नई दिशा दी, यथार्थवादी चश्मे से देखा और राष्ट्रीय हितो के सर्वथा अनुकूल सिद्ध कर दिखाया। किसी भी नीति की सफलता उसके कुशल क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। नेहरू-काल मे आवश्यक था कि नवोदित भारत-राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला रखी जाए, विभाजन-जन्य परिस्थितियो को निपटाया जाए और पड़ोसी शत्रु राष्ट्रो के प्रति भी तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए युद्ध की सम्भावनाओ को यथा साध्य टाला जाए। इसलिए चीन के साम्राज्यवादी इरादों को कुछ-कुछ भाँपते हुए भी और पाकिस्तान की शत्रुता को भली-भाँति समझते हुए भी श्री नेहरू ने भारत को ऐसे नैतिक धरातल पर खड़ा करने की चेष्टा की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे भारत को प्रतिष्ठा भी मिले, पूँजीवादी और साम्यवादी दोनो ही शिविर उसकी आवाज सुनें और उसकी सहायता के लिए तत्पर रहें तथा साथ ही युद्ध की सम्भावना भी टलती रहे ताकि भारत भविष्य मे शक्तिशाली बनने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके। श्री नेहरू को अपने उद्देश्य में 1962 से पूर्व तक पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। 1962 के चीनी आक्रमण ने उनकी शान्तिवादी नीति को गहरा आघात पहुँचाया, लेकिन गुट-निरपेक्षता की उपयोगिता मे उनकी आस्था समाप्त नही हुई क्योकि संकट-काल में सोवियत गुट और पश्चिमी गुट दोनो ने भारत को अपना समर्थन दिया। फिर भी इस आक्रमण ने श्री नेहरू को यह अनुभूति करा दी कि अब विदेश-नीति को यथार्थवाद की ओर मोड़ा जाए तथा गुट-निरपेक्षता पर अमल करते हुए सैनिक दृष्टि से भी भारत को शक्तिशाली बनाया जाए। श्री नेहरू यथार्थवादी नीति का अनुसरण कर भारत को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से आवश्यक आर्थिक और सैनिक उद्योगों तथा कल-कारखानों की आधार-भूमि का पहले ही निर्माण कर चुके थे। अब बीज का वृक्ष रूप में परिणाम होना था।

दुर्भाग्यवश श्री नेहरू का 1964 में आकस्मिक निधन हो गया। उनके उत्तराधिकारी श्री शास्त्री ने नेहरू की नीति को आगे बढ़ाया और भारतीय विदेश-नीति में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय किया। पाकिस्तान को उसके आक्रमण का मुँह तोड़ उत्तर देकर तथा अमेरिका जैसी महाशक्ति के दबाव के आगे न झुककर जहाँ श्री शास्त्री ने यथार्थवादी नीति का परिचय दिया वहाँ ताशकन्द-

श्रीमती गांधी परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग की पक्षपाती हैं, तथापि राष्ट्रीय हित में उनके निर्णयों की आकस्मिकता और दृढ़ता सभी को ज्ञात है।

जनवरी, 1980 : श्रीमती गांधी की अफगान नीति

27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में एका-एक हुई सैनिक क्रान्ति में राष्ट्रपति अमीन अपदस्थ हुए और मारे गए। बबरक करमाल नए राष्ट्रपति बने। बताया जाता है कि करमाल ने सत्ता सम्भालते ही राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक और सैनिक सहायता के लिए रूस को पुकारा और फलस्वरूप भारी संख्या में रूसी सैनिक और शस्त्रास्त्र अफगानिस्तान पहुँच गए। अफगानिस्तान में रूस के इस हस्तक्षेप की पश्चिमी देशों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अमेरिका ने पाकिस्तान को भारी मात्रा में आधुनिकतम युद्ध सामग्री देने का निर्णय लिया और चीन को भी इस बात के लिए प्रेरित किया। इसी वातावरण के दौरान 14 जनवरी, 1980 को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधान मन्त्री पद सम्भाला। उन्होंने तुरन्त ही अफगानिस्तान के प्रति अपनी विदेश-नीति का संकेत दिया। उन्होंने कहा कि अफगानिस्तान के लोग अपने बारे में स्वयं ही निर्णय करेंगे। भारत ने सोवियत संघ के इस कथन को भी स्वीकार किया कि अफगान सरकार ने उससे सैनिक सहायता मांगी थी। संयुक्त राष्ट्र महासभा में 12 जनवरी को भारतीय प्रतिनिधि ब्रजेश चन्द्र मिश्र ने कहा—"हम किसी भी देश में विदेशी सैनिकों और अड्डों के रहने के खिलाफ हैं। लेकिन सोवियत सरकार ने हमारी सरकार को आश्वस्त कर दिया है कि उसने 26 दिसम्बर, 1979 को राष्ट्रपति अमीन के अनुरोध पर और फिर 28 दिसम्बर, 1979 को उनके उत्तराधिकारी के अनुरोध पर अपने सैनिक अफगानिस्तान में भेजे थे।" इसके साथ ही प्रतिनिधि ने आशा भी प्रकट कर दी कि सोवियत संघ अफगानिस्तान की स्वाधीनता का खण्डन नहीं करेगा और उसके सैनिक वहाँ जरूरत से ज्यादा एक दिन भी नहीं टिकेंगे। श्री मिश्र ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारत सरकार को अफगानिस्तान के अन्दरूनी मामलों में दखल देने के लिए उपद्रव करने वाले तत्त्वों का अस्त्र प्रशिक्षण और बढ़ावा दिया जाना पसन्द नहीं है।

कहा जा सकता है कि वर्तमान परिस्थितियों में भारत सरकार के सामने सिवाय यह कहने के कि अफगानिस्तान के लोग अपनी नियत का निपटारा आप करें और सोवियत संघ का यह आश्वासन स्वीकार कर लेने के कि एक तो वह अफगान सरकार के निमन्त्रण पर आया है और दूसरे वह उसी सरकार के कहने पर जाएगा, कोई चारा नहीं है। जब भारत के प्रति बंगला-देश, पाकिस्तान और चीन का रवैया विश्वसनीय नहीं माना जा सकता और अमेरिका पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर हथियार दे रहा है तथा चीन की सैनिक कुमुक भी पाकिस्तान को पहुँच रही है तो भारत-रूस मैत्री का विशेष महत्त्व हो जाता है। अफगानिस्तान का यह संघर्ष पाकिस्तान की सीमा पर पहुँच चुका है और भारत भी इससे प्रभावित होगा। भारत के नीति-निर्माताओं के लिए यह निश्चित ही एक चुनौती है कि एक ओर तो देश की सुरक्षा की जाए और दूसरी ओर दोनों महाशक्तियों के बीच अपनी स्वतन्त्र गुट-निरपेक्ष नीति को बनाए रखा जाए।

भारत की विदेश-नीति का मूल्यांकन

भारत की विदेश-नीति पर अत्यधिक आदर्शवादी और भावना-प्रधान होने का आरोप लगाया जाता रहा है। यह भी कहा जाता है कि हमारी विदेश-नीति सोवियत संघ से प्रभावित है और इजराइल, अरब राज्यो आदि के सन्दर्भ मे इसका रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि हमारी नीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध हुई है।

भारतीय विदेश-नीति की आलोचनाएँ नेहरू-काल और कुछ-कुछ शास्त्री-काल में अधिक तीव्र थी। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के मौलिक सिद्धान्तों की पूर्ण रक्षा करते हुए उसे नई दिशा दी, यथार्थवादी चश्मे से देखा और राष्ट्रीय हितों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध कर दिखाया। किसी भी नीति की सफलता उसके कुशल क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। नेहरू-काल मे आवश्यक था कि नवोदित भारत-राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला रखी जाए, विभाजन-जन्य परिस्थितियों को निपटाया जाए और पड़ोसी शत्रु राष्ट्रों के प्रति भी तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए युद्ध की सम्भावनाओं को यथा साध्य टाला जाए। इसलिए चीन के साम्राज्यवादी इरादों को कुछ-कुछ भाँपते हुए भी और पाकिस्तान की शत्रुता को भली-भाँति समझते हुए भी श्री नेहरू ने भारत को ऐसे नैतिक धरातल पर खड़ा करने की चेष्टा की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत को प्रतिष्ठा भी मिले, पूँजीवादी और साम्यवादी दोनो ही शिविर उसकी आवाज सुनें और उसकी सहायता के लिए तत्पर रहें तथा साथ ही युद्ध की सम्भावना भी टलती रहे ताकि भारत भविष्य मे शक्तिशाली बनने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके। श्री नेहरू को अपने उद्देश्य में 1962 से पूर्व तक पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। 1962 के चीनी आक्रमण ने उनकी शान्तिवादी नीति को गहरा आघात पहुँचाया, लेकिन गुट-निरपेक्षता की उपयोगिता मे उनकी आस्था समाप्त नही हुई क्योंकि संकट-काल में सोवियत गुट और पश्चिमी गुट दोनो ने भारत को अपना समर्थन दिया। फिर भी इस आक्रमण ने श्री नेहरू को यह अनुभूति करा दी कि अब विदेश-नीति को यथार्थवाद की ओर मोड़ा जाए तथा गुट-निरपेक्षता पर अमल करते हुए सैनिक दृष्टि से भी भारत को शक्तिशाली बनाया जाए। श्री नेहरू यथार्थवादी नीति का अनुसरण कर भारत को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से आवश्यक आर्थिक और सैनिक उद्योगों तथा कल-कारखानों की आधार-भूमि का पहले ही निर्माण कर चुके थे। अब बीज का वृक्ष रूप में परिणाम होना था।

दुर्भाग्यवश श्री नेहरू का 1964 में आकस्मिक निधन हो गया। उनके उत्तराधिकारी श्री शास्त्री ने नेहरू की नीति को आगे बढ़ाया और भारतीय विदेश-नीति में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय किया। पाकिस्तान को उसके आक्रमण का मुँह तोड़ उत्तर देकर तथा अमेरिका जैसी महाशक्ति के दबाव से आगे न झुककर जहाँ श्री शास्त्री ने यथार्थवादी नीति का परिचय दिया वहाँ ताशकन्द-

समझौता करके आदर्शवाद को भी कायम रखा। यद्यपि ताशकन्द-समझौता व्यावहारिक रूप मे सफल नही हुआ, तथापि प्रत्येक युद्ध के बाद इस प्रकार के समझौते न्यूनाधिक हेर-फेर के साथ करने ही पड़ते हैं। यदि पराजित राष्ट्र पर वर्साय की सन्धि जैसा कोई समझौता थोपा जाए तो उसके क्या दुष्परिणाम निकल सकते हैं, इसका इतिहास साक्षी है।

श्री शास्त्री का प्रधानमन्त्रित्व काल इतना अल्प रहा कि उनकी नीति का पूर्ण मूल्यांकन नही किया जा सकता। उनके निधन के बाद भारत की बागडोर श्रीमती इन्दिरा गांधी के हाथों मे आई और हम इस बात से भली प्रकार परिचित हैं कि बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन, बंगलादेश को मान्यता, अमेरिका के प्रति दृढ़ता, रूस के साथ सम्मानजनक तथा गुट-निरपेक्षता पर आधारित मैत्री-सन्धि, पाक शत्रुता का मुँह तोड़ उत्तर आदि कार्यों द्वारा उन्होंने भारत के राष्ट्रीय हितों की किस कुशलता से रक्षा की। साथ ही शिमला-समझौते द्वारा उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि भारत साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का बिलकुल समर्थक नही है तथा पड़ोसी देशो के साथ और विश्व के हर राष्ट्र के साथ मैत्री का इच्छुक है।

कम्बोडिया और वियतनाम मे जो कुछ हुआ उसे भी भारतीय विदेश-नीति की सफलता माना जाएगा। भारत उन गिने-चुने देशों में से है जिन्होंने शुरू से ही कम्बोडिया और वियतनाम के मुक्ति-आन्दोलनों का समर्थन किया था। ऐसा करते हुए भारत ने अमेरिका तथा कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की अप्रसन्नता भी मोल ली, लेकिन बदले में उसे दक्षिणी एशिया की जनता से जो सद्भावना प्राप्त हुई वह कुछ कम नही थी। अब कम्बोडिया का गृह-युद्ध समाप्त हो चुका है, वियतनाम से अमेरिका पलायन कर चुका है और उत्तर तथा दक्षिण वियतनाम का एकीकरण हो चुका है। आरम्भ मे जिन देशों ने दक्षिण एशिया के सन्दर्भ मे भारतीय विदेश-नीति को आत्मघाती बताया था, आज वे अवश्य अनुभव कर रहे होंगे कि भारतीय विदेश-नीति नही, बल्कि उनकी अपनी विदेश-नीति गलत बुनियाद पर खड़ी थी। सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों का अधिकाधिक दृढ होते जाना भारत की विदेश-नीति की आश्चर्यजनक सफलता है। वास्तव मे भारत का विकास सोवियत विदेश-नीति का भी एक आवश्यक अंग बन गया है। सोवियत रूस चाहता है कि एशिया मे चीन एकमात्र महाशक्ति न रहे। उसका मुकाबला करने के लिए कम से कम एक देश का होना जरूरी है। सोवियत नेता इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित है कि यह देश केवल भारत ही हो सकता है और इसीलिए न केवल यान्त्रिकी के क्षेत्र मे बल्कि वाणिज्य, उद्योग तथा अन्य क्षेत्रो मे भी सोवियत रूस भारत की सहायता कर रहा है। यह कहना गलत होगा कि भारत ने इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। सोवियत रूस से सहायता लेते हुए भी भारत ने अपनी प्रभुसत्ता को दाव पर नही लगाया है।

गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की व्यापक पृष्ठभूमि मे भारत ने अपने पड़ोसी देशों के साथ तथा विश्व के अन्य देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध

विकसित करने में सफलता प्राप्त की है। चीन और पाकिस्तान के प्रति भी भारत का रवैया बहुत ही रचनात्मक रहा है। उसके फलस्वरूप 1976 में दोनों देशो के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध कायम हो सके है। पड़ोसियों के प्रति भारत की नीति का लक्ष्य सदैव यही रहा है कि परस्पर विश्वास, समझ-बूझ और सहयोग के आधार पर उनके साथ घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध विकसित किए जाएँ। भारत ने विश्व के सभी भागों में राष्ट्रवादी शक्तियों की विजय का सदैव स्वागत किया है। इसी प्रकार कोरिया और वियतनाम के एकीकरण की प्रक्रिया भारत के लिए स्वागत योग्य रही है। भारत नि सन्देह गुट-निरपेक्ष और विकासशील देशो की आशा बन चुका है। भारत का निश्चित मत है कि विकासशील राष्ट्रो के सहयोग न केवल वृहतर आत्म-विश्वास के लिए अनिवार्य है बल्कि बडे राष्ट्रों के उस दबाव का मुकाबला करने के लिए भी आवश्यक है जो विकासशील देशों को अपने प्रभाव क्षेत्र मे लाने के लिए डाला जा रहा है ताकि विश्व के विभिन्न भागों मे उनके अपने हित अधिकाधिक विस्तृत हो सकें। विकासशील देश आत्म-विश्वास, सहयोग और विकास के माध्यम से ही शान्ति और स्थिरता की दिशा मे अपना योगदान दे सकते है और तभी वे एक ऐसी नई आर्थिक व्यवस्था की स्थापना मे सहायक हो सकते है जो विश्व के सभी राष्ट्रो के बीच सहयोग और मित्रता के आधार पर स्थित हो।

मार्च, 1977 मे कांग्रेस-शासन के पतन के बाद प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार ने सत्ता सम्भाली। नई सरकार ने भारत के बुनियादी हितो को ध्यान में रखते हुए विदेश-नीति मे मौलिक परिवर्तन न करने का निर्णय कर बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। प्रारम्भ मे यथार्थ निर्गुटता की नीति की घोषणा के परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रो मे आशका प्रकट की गई थी, किन्तु जनता सरकार जिस ढंग से विदेश-नीति के क्षेत्र मे अग्रसर हुई उससे स्पष्ट हो गया कि इनमे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया जाएगा। भारत की नई सरकार ने भारत-रूस मैत्री के समर्थन द्वारा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को यथावत कायम रखने की घोषणा कर रूसी शासकों को आश्वासित कर दिया कि जनता सरकार अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल नीति का अनुसरण करेगी। रूस के साथ घनिष्ठ सम्बन्धो के बावजूद अन्य देशो के साथ सम्बन्धो मे सुधार करेगी और किसी एक देश की मित्रता अन्य देश के साथ सम्बन्धो में बाधक नहीं बनेगी। जनवरी, 1980 मे श्रीमती गाँधी के पुन: सत्तारूढ होने के बाद देश की विदेश-नीति और भी प्रभावी बन सकेगी, यही आशा है।

APPENDIX-1

भंग लोकसभा में दलों की स्थिति

भंग लोकसभा में कुल 544 सदस्य थे। इनमें दो मनोनीत सदस्य व अध्यक्ष शामिल हैं। 22 अगस्त, 1979 को लोकसभा के भंग होने के समय आठ स्थान रिक्त थे।

नीचे दिए गए विवरण में पाँचवीं व छठी लोकसभा के भंग होने के समय दलों की स्थिति दिखाई गई है—

दल का नाम	18–1–77 को	22–8–79 को
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस	355	56
जनता	—	203
जनता (एस)	—	77
भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी	24	7
भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्स)	26	22
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (अर्स)	11	—
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इ)	—	80
भारतीय जनसंघ	16	—
प्रजा सोशलिस्ट	3	—
अन्य दल	44	57
निर्दलीय	28	33
रिक्त स्थान	18	8
कुल	524	543

अन्य दलों का विवरण इस प्रकार है—

	1977	1979
द्रमुक	12	—
भालोद	9	—
केरल कांग्रेस	3	—
अन्ना द्रमुक	6	17
फारवर्ड ब्लॉक	3	3
मुस्लिम लीग	3	2
संयुक्त पार्टी मोर्चा	8	4
अकाली दल	—	8
पीजेंट्स एण्ड वर्कर्स पार्टी	—	6
रिसोपा	—	4
नेशनल कांग्रेस	—	2
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (असली)	—	11

(स्रोत—आम चुनाव, 1980 : सन्दर्भ पुस्तिका, पृष्ठ 7–8)

APPENDIX-2

सातवीं लोकसभा में सीटों की संख्या

नीचे दिए गए विवरण मे लोकसभा मे सीटों की सख्या दर्शाई गई है—

क्रम सं. और राज्य/ केन्द्र शासित प्रदेश का नाम	कुल योग	अनु जाति	अनु जनजाति
1	2	3	4
राज्य			
1. आन्ध्र प्रदेश	42	6	
2. असम	14	1	2
3. बिहार	54	8	5
4. गुजरात	26	2	4
5. हरियाणा	10	2	—
6. हिमाचल प्रदेश	4	1	—
7. जम्मू-कश्मीर	6	—	—
8. कर्नाटक	28	4	—
9. केरल	20	2	—
10. मध्य प्रदेश	40	[illegible]	9
11. महाराष्ट्र	48	3	4
12. मणिपुर	2	—	1
13 मेघालय	2	—	—
14. नागालैण्ड	1	—	—
15. उड़ीसा	21	3	5
16. पंजाब	13	3	—
17. राजस्थान	25	4	3
18. सिक्किम	1	—	—
19. तमिलनाडु	39	7	—
20. त्रिपुरा	2	—	1
21. उत्तर प्रदेश	85	18	
22. पश्चिम बंगाल	42	8	

सातवीं लोकसभा में सीटों की संख्या

1	2	3	4
केन्द्र शासित प्रदेश			
23. अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	1	—	—
24. अरुणाचल प्रदेश	2	—	—
25. चंडीगढ़	1	—	—
26. दादरा एवं नगर हवेली	1	1	—
27 दिल्ली	7	1	—
28. गोआ, दमन व दीव	2	—	—
29. लक्षद्वीप	1	—	1
30 मिजोरम	1	—	—
31. पांडिचेरी	1	—	—
कुल योग	542	79	40

(स्रोत—भारत सरकार प्रेस विज्ञप्ति, दिनांक 1 नवम्बर, 1979)

APPENDIX-3

आम चुनाव 1980 : दलों और उनके संक्षिप्त नामों की सूची

राष्ट्रीय दल

1.	इंडियन नेशनल कांग्रेस (अ)	कांग्रेस (अ)
2.	इंडियन नेशनल कांग्रेस (इ)	कांग्रेस (इ)
3.	भारत की कम्युनिस्ट पार्टी	कम्यु
4.	भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)	भाकम्यु
5.	जनता पार्टी	जनता
6.	जनता पार्टी (सेक्युलर)	जनता (स)

राज्यीय दल

1.	प्लेन्स ट्राइबल कौंसिल ऑफ असम	ट्राइबल्स
2.	विशाल हरियाणा	विहार
3	जम्मू कश्मीर नेशनल कांफ्रेंस	कांफ्रेंस
4.	ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग	मुलीग
5.	केरल कांग्रेस	केकांग्रेस
6.	केरल कांग्रेस (पिल्लई ग्रुप)	पिकांग्रेस
7.	मुस्लिम लीग	लीग
8.	रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी	रिसोपा
9.	पीजेन्ट्स एण्ड वर्कर्स पार्टी	पीवपा
10.	कुकी नेशनल एसेम्बली	कुकी
11.	मणिपुर पीपुल्स पार्टी	मणिपा
12.	ऑल इण्डिया हिल लीडर्स कांफ्रेंस	हिलीकांफ्रेंस
13.	हिल स्टेट पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी	हिपीडेपा
14.	पब्लिक डिमांड्स इम्प्लिमेंटेशन कन्वेंशन	कन्वेंशन
15.	नेशनल कन्वेंशन ऑफ नागालैण्ड	नकन्वेंशन
16.	यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट	यूडेफ्रन्ट
17.	शिरोमणि अकाली दल	अकाली
18.	सिक्किम कांग्रेस (आर)	कांग्रेसआर
19.	सिक्किम शिड्यूल्ड कास्टस् लीग	सिकास्ट्सलीग
20.	त्रिपुरा उपजाति जुबा समिति	त्रिजुस
21.	ऑल इण्डिया फारवर्ड ब्लॉक	फारवर्ड

22	पीपुल्स पार्टी ऑफ अरुणाचल	पीपाअ
23	महाराष्ट्रवादी गोमातक	मगोमा
24.	पीपुल्स कॉन्फ्रेंस	पीकॉन्फ्रेंस
25.	ऑल इण्डिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम	अद्रमुक
26.	द्रविड़ मुनेत्र कषगम	द्रमुक
27	सिक्किम जनता परिषद्	सजप

मान्यता प्राप्त पंजीकृत राजनीतिक दल

1.	अखिल भारतीय राम राज्य परिषद्	रामराज्य
2.	अखिल भारतीय लेबर पार्टी	भालेपा
3.	भारतीय सोशलिस्ट पार्टी	सोशलिस्ट
4.	झारखंड पार्टी	झारखंड
5	मुस्लिम मजलिस	मुमज
6.	भारत की रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी	रिकम्यु
7.	भारत की रिपब्लिकन पार्टी	रिपा
8.	भारत की रिपब्लिकन पार्टी (खोब्रागाडे)	रिपाखो
9.	सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर ऑफ इण्डिया	सोयूसे
10	शिवसेना	शिसेना
11.	शोषित समाज दल (अखिल भारतीय)	शोसद
12.	सिक्किम प्रजातन्त्र कांग्रेस	सिप्रकां
13.	त्रिपुरा स्टेट कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी	त्रिकांग्रेस

(स्रोत—आम चुनाव 1980, सन्दर्भ पुस्तिका, पृष्ठ 4–6)

APPENDIX-4

चुनाव आँकड़े : 1952 से 1980

पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व मे जब 1952 मे लोकसभा के पहले चुनाव हुए थे, तब कांग्रेस को केवल 44·99 प्रतिशत मत मिले थे। 1957 मे 47·78 प्रतिशत, 1962 मे 44·73 प्रतिशत, 1967 मे 40 82 प्रतिशत मत मिले थे और 1961 मे 67 प्रतिशत से अधिक मत मिले थे, जिसके लिए बगलादेश के निर्माण मे श्रीमती इन्दिरा गाँधी की निर्णायक भूमिका बताई गई। जहाँ तक स्थानों का सम्बन्ध है, सन् 1952 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 364 उम्मीदवार चुने गए थे और 1957 मे 371। देखने मे यह लगता है कि इस वर्ष सफलता अधिक थी, पर यदि यह तुलना की जाए कि 1952 मे कांग्रेस ने केवल 479 उम्मीदवार खड़े किए थे, जिनमें 364 जीत गए, जबकि 1957 में 490 खड़े किए थे जिनमे 371 ही जीते, तो प्राप्त स्थानो और प्राप्त मतो की तुलना मे अर्थहीन हो जाती है। सन् 1962 मे कांग्रेस ने 488 उम्मीदवार खड़े किए जिनमे 361 ही जीते और सन् 1967 मे जो इन्दिराजी के नेतृत्व मे पहला चुनाव था, 516 उम्मीदवारो मे से 283 ही सफल हुए और यही वह साल था, जिस वर्ष देर-अबेर पजाब से लेकर बगाल तक एक भी ऐसा राज्य नही बचा था, जहाँ कांग्रेस का शासन न हो। कर्नाटक, राजस्थान, असम जैसे सीमा कांग्रेस गुजरात, महाराष्ट्र आन्ध्रवर्ती क्षेत्रों में ही दिखाई देती थी। राजस्थान मे भी किस तरह कांग्रेस अपना शासन स्थापित कर सकी, इसे बाबू सम्पूर्णानन्द ही जानते थे या सुखाडिया जी ही जानते है। ज्यादा पूछना हो तो राजमाता गायत्री देवी से पूछिए। लेकिन जब 1971 के चुनाव हुए तब लोकसभा के लिए कांग्रेस के 441 उम्मीदवारो मे से 352 उम्मीदवार विजयी हुए थे और फिर 1977 आया, जो यदि श्रीमती इन्दिरा गाँधी चाहती तो कानून की रूह से 1978 में चुनाव हो सकता था, उस समय 492 उम्मीदवार खड़े किए जिनमें से 154 ही जीते। हालांकि उस समय भी कांग्रेस को लगभग 30 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। उस वक्त कांग्रेस ने देश को निर्वाचन पद्धति का रोना नही रोया था। बल्कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉर्ड कैल्हन ने जब जनता पार्टी विभाजित नहीं हुई थी, तभी ससद्-सदस्यों को सम्बोधित करते हुए कहा था, "भारत ने किस प्रकार शान्तिपूर्वक इतने वर्षों की सरकार लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का आदर कर दूसरे को सौप दी, यह देख उन्हे आश्चर्य हुआ है। इस क्षेत्र में ऐसा पहले कभी नही हुआ।"

सम्पूर्ण भारत का सही प्रतिबिम्ब

फिर भी जनवरी, 1980 का मतदान पिछले मतदानो से कई मायनो मे सम्पूर्ण भारत का सही प्रतिबिम्ब अधिक प्रखरता से प्रकट करता है। 1977 मे देश दो भागों में बँट गया था। इस बार ऐसी बात नही हुई। कांग्रेस

इन्दिरा-कांग्रेस को, प० बंगाल को छोड़कर और गोआ तथा लक्षद्वीप को छोड़कर ऐसे ही नागालैण्ड को भी गिन लें, जहाँ कांग्रेस है नहीं। सभी स्थानों पर बहुमत प्राप्त हुआ, चाहे वह थोड़ा हो या बहुत। कर्नाटक में श्री देवराज अर्स ने ठीक ही त्याग-पत्र दिया, क्योंकि उन्होंने देख लिया था कि उनकी पार्टी को इस चुनाव में एक भी स्थान नहीं मिला, जो एक स्थान मिला, वह जनता पार्टी को, पर इसके यह मायने नहीं कि कांग्रेस अर्स-कांग्रेस या जनता पार्टी के ऊपर इसलिए विजयी हो गई कि त्रिकोणात्मक या चतुष्कोणीय संघर्ष था। वहाँ भी इन्दिरा-कांग्रेस को 57 प्रतिशत मत मिले, जनता को 23 प्रतिशत और अर्स-कांग्रेस को 16 प्रतिशत। लोकदल, दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों, रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवारों और 90 निर्दलीय उम्मीदवारों को कुल मिलाकर 4 प्रतिशत मत मिले। एक को छोड़कर *शेष सब की जमानतें जब्त हो गईं। अर्स-कांग्रेस के 12 और जनता पार्टी के* 6 उम्मीदवारों की भी जमानतें जब्त हो गईं। 190 उम्मीदवारों में से 124 की जमानतें जब्त हो गई। यह बताता है कि कर्नाटक में, जो देवराज अर्स का गढ़ था और जहाँ उनकी सरकार थी और जहाँ पिछड़े वर्गों के लिए उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किए थे, जिन्हें चिकमगलूर की श्रीमती इन्दिरा गांधी के विजय के लिए मुख्यतया उत्तरदायी कहा गया था, वहाँ जनता की दृष्टि में उनका क्या बाजार-भाव रह गया?

आन्ध्र प्रदेश में भी 271 उम्मीदवारों में से दो-तिहाई की जमानतें जब्त हो गई। लोकदल के 14, जनता के 12, संगठन कांग्रेस के 2 और मार्क्सवादी दल के 1 उम्मीदवार की जमानतें जब्त हो गईं। वैसे यू० एन० आई० ने जब 15 परिणाम घोषित नहीं थे, तब अन्दाज यह लगाया था कि इन्दिरा कांग्रेस ने 67 प्रतिशत स्थान ले लिए थे, जो कि सम्पूर्ण कांग्रेस की 1971 में स्थिति थी। इन 15 परिणामों में कुछ परिणाम और भी इन्दिरा-कांग्रेस के पक्ष में गए और कुछ यानि 16 स्थानों पर चुनाव होना या मतगणना अभी शेष है। सही स्थिति का आँकड़ा तो तब लगेगा जब पूरे 542 स्थानों के चुनाव पूर्ण हो जाएँगे। पर आज का बाजार यह है कि श्रीमती इन्दिरा गांधी के पास लोकसभा में अपने ही दल में 351 सदस्य हैं, जिनकी सहायता से वह संविधान में संशोधन कर सकती है। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि सातवीं लोकसभा का पहला कार्य संविधान में संशोधन कर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के संरक्षणकाल को बढ़ाना होगा। वैसे यह बात अलबत्ता दूसरी है कि श्रीमती गांधी को सहायता करने के लिए चुनाव में उनके सहयोगी द्रमुक के 16 व अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के 3 सदस्य भी उपस्थित रहेंगे और फिर यह ऐसा मुद्दा है, जिस पर किसी पक्ष को विपक्ष में मत देने की जरूरत महसूस नहीं होती।

(जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, जनवरी, 1980)

हीं एक थीं। यहाँ श्रीमती गांधी की तरफ 0 13 प्रतिशत झुकाव रहा। अविभाजित कांग्रेस ने इसी राज्य में 29 96 प्रतिशत वोट 1977 के चुनाव में प्राप्त किए थे। कांग्रेस (अर्स) को सिर्फ 5 97 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए और उसका सिर्फ एक ही प्रत्याशी सफल रहा। 13 निर्दलीय व 9 अन्य उम्मीदवारों ने भी 8·06 प्रतिशत वोट प्राप्त किए। यह बात और है कि सभी की जमानतें जब्त हुईं।

बिहार

बिहार में कांग्रेस (इ) ने जनता पार्टी व लोकदल को तोड़कर 30 सीटें प्राप्त की। 1977 के चुनाव में जनता तथा लोकदल ने मिलकर सभी 54 सीटें प्राप्त की थी। लोकदल को 5 तथा जनता को 8 सीटें मिली। लोकदल तथा कांग्रेस (अर्स) में समझौता न होने के कारण लोकदल को कुछ सीटों पर नुकसान उठाना पड़ा।

हरियाणा

कांग्रेस (इ), जनता, लोकदल के त्रिकोणात्मक सघर्ष मे लोकदल को 33·52 प्रतिशत, कांग्रेस (इ) को 32 55 प्रतिशत तथा जनता पार्टी को 28·14 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। जाट बहुल क्षेत्र होने के कारण लोकदल को अधिक सीटें प्राप्त हुईं।

1977 के चुनाव मे कांग्रेस (इ) को सिर्फ 18 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। जनता पार्टी को 70 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। इस समय जनता व लोकदल को सम्मिलित रूप से 61 66 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए।

(राजेन्द्र काला : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, जनवरी, 1980)



पश्चिमी बंगाल

पश्चिमी बंगाल में पहली बार मार्क्सवादी मोर्चे तथा उसके सहयोगी दलों ने 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त किए तथा 41 सीटों में से 39 सीटें प्राप्त कीं।

1972 की अविभाजित कांग्रेस ने सर्वाधिक 49·1 प्रतिशत मत प्राप्त किए थे, तो 1977 में घटकर यह प्रतिशत 22·53 प्रतिशत रह गया। यह प्रतिशत अब बढ़कर 38 हो गया।

चुनाव आँकड़े यह स्पष्ट करते है कि वोटो का विभाजन मुख्यत: मार्क्सवादी मोर्चे व कांग्रेस (इ) के बीच हुआ। जनता पार्टी व कांग्रेस (अर्स) के उम्मीदवारों की उपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मार्क्सवादी मोर्चे की सफलता का एक कारण यह था कि मध्यवर्गीय किसानों का उनको समर्थन मिला। दूसरी ओर इन्दिरा कांग्रेस ग्रामीण, सामाजिक व आर्थिक वर्गों मे अपना समर्थन जुटाने में पूरी तरह सफल हुई।

कर्नाटक

पिछले चुनाव विश्लेषण से स्पष्ट है कि श्रीमती गांधी के दल को 1962 के सिवाय शेष सभी चुनावो में 50 प्रतिशत से अधिक वोट प्राप्त हुए। 1962 में 50 प्रतिशत से थोड़े कम वोट उन्हें प्राप्त हुए।

1971 के चुनाव मे जबकि इन्दिरा लहर अपनी चरम सीमा पर थी, श्रीमती गांधी को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। 1977 के चुनाव में कांग्रेस (इ) पार्टी ने 56·8 प्रतिशत वोट प्राप्त किए। दक्षिण में श्रीमती गांधी के प्रबल सहयोगी श्री देवराज अर्स के अलग हो जाने पर भी उनकी स्थिति में कोई विशेष फर्क नहीं आया। 1980 के चुनाव में कांग्रेस ने अपने को तीन रूपों मे प्रस्तुत किया—राष्ट्रीय, राज्य स्तरीय एवं तटस्थ। राज्य-स्तरीय सभी वोट श्रीमती गांधी के पक्ष मे रहे।

तमिलनाडु

डी० एम० के० के साथ गठबन्धन होने से कुल मिलाकर 54·6 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। इस गठबन्धन ने 39 में से 36 सीटें प्राप्त की। दोनों पार्टियों में अधिकतर वोट अल्पसंख्यकों के थे। इन्दिरा कांग्रेस की पहली बार 22 में से 20 सीटें प्राप्त हुईं।

इन्दिरा कांग्रेस को 31 62 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। कुल वोट 4821411 थे। डी० एम० के० को 18·06 वोट प्राप्त हुए। 1977 मे इसी दल को 23·1 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए।

राजस्थान

कांग्रेस (इ) को 42·66 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। उसे 25 सीटों में से 18 सीटें प्राप्त हुईं। लोकदल को सिर्फ एक सीट प्राप्त हुई।

42·66 प्रतिशत वोट लेकर श्रीमती गांधी ने 18 सीटें जीतीं जबकि जनता तथा लोकदल का संयुक्त प्रतिशत 42·53 प्रतिशत था। 1977 में दोनों पार्टियां

हीं एक थी। यहाँ श्रीमती गांधी की तरफ 0 13 प्रतिशत झुकाव रहा। अविभाजित कांग्रेस ने इसी राज्य मे 29 96 प्रतिशत वोट 1977 के चुनाव में प्राप्त किए थे। कांग्रेस (अर्स) को सिर्फ 5 97 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए और उसका सिर्फ एक ही प्रत्याशी सफल रहा। 13 निर्दलीय व 9 अन्य उम्मीदवारो ने भी [illegible] 06 प्रतिशत वोट प्राप्त किए। यह बात और है कि सभी की जमानतें जब्त हुईं।

विहार

बिहार मे कांग्रेस (इ) ने जनता पार्टी व लोकदल को तोड़कर 30 सीटें प्राप्त की। 1977 के चुनाव में जनता तथा लोकदल ने मिलकर सभी 54 सीटें प्राप्त की थी। लोकदल को 5 तथा जनता को 8 सीटें मिली। लोकदल तथा कांग्रेस (अर्स) में समझौता न होने के कारण लोकदल को कुछ सीटों पर नुकसान उठाना पड़ा।

हरियाणा

कांग्रेस (इ), जनता, लोकदल के त्रिकोणात्मक संघर्ष मे लोकदल को 33·52 प्रतिशत, कांग्रेस (इ) को 32 55 प्रतिशत तथा जनता पार्टी को 28·14 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। जाट बहुल क्षेत्र होने के कारण लोकदल को अधिक सीटें प्राप्त हुईं।

1977 के चुनाव में कांग्रेस (इ) को सिर्फ 18 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। जनता पार्टी को 70 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। इस समय जनता व लोकदल को सम्मिलित रूप से 61·66 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए।

(राजेन्द्र काला : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, जनवरी, 1980)



APPENDIX-6

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल : 14 जनवरी, 1980

प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व मे गठित केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने जिनमें केबिनेट-स्तर के 15 और राज्य-स्तर के 7 मन्त्रियो ने 14 जनवरी, 1980 को शपथ ली, उनकी सूची इस प्रकार है—

केबिनेट मन्त्री

(1)	श्रीमती इन्दिरा गाँधी	:	प्रधान मन्त्री
(2)	श्री राव वीरेन्द्र सिंह		कृषि मन्त्री
(3)	श्री बी. शंकरानन्द	:	शिक्षा मन्त्री
(4)	श्री अब्दुल गनी चौधरी	.	ऊर्जा मन्त्री
(5)	श्री पी. वी नरसिंह राव	:	विदेश मन्त्री
(6)	श्री कमलापति त्रिपाठी	:	रेल मन्त्री
(7)	श्री बसन्त साठे	·	सूचना एवं प्रसारण मन्त्री
(8)	श्री शिवशंकर	·	विधि और न्याय मन्त्री
(9)	श्री आर वेंकटरमन	·	वित्त मन्त्री
(10)	श्री ज्ञानी जैलसिंह	:	गृह मन्त्री
(11)	श्री ए. पी. शर्मा	·	जहाजरानी एव परिवहन मन्त्री
(12)	श्री जे. बी. पटनायक	:	पर्यटन एव नागरिक उड्डयन मन्त्री
(13)	श्री प्रकाश चन्द्र सेठी	:	निर्माण एव आवास मन्त्री
(14)	श्री भीष्म नारायण सिंह	:	ससदीय कार्य मन्त्री
(15)	श्री प्रणव मुखर्जी	:	वाणिज्य मन्त्री

राज्य मन्त्री

(1)	श्री आर. वी. स्वामीनाथन	·	कृषि मन्त्री
(2)	श्री जगन्नाथ पहाड़िया	:	वित्त मन्त्री
(3)	श्री निहार रंजन लस्कर	.	स्वास्थ्य मन्त्री
(4)	श्री वेंकट सुबैया		गृह मन्त्री
(5)	श्री योगेन्द्र मकवाना	:	शिक्षा मन्त्री
(6)	श्री जफर शरीफ	:	रेल मन्त्री
(7)	श्री कार्तिक औराव	-	पर्यटन एवं नागरिक उड्डयन मन्त्री

प्रश्नावली
(UNIVERSITY QUESTIONS)

अध्याय 1 (राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ)

1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कारण बताइए और इसके राष्ट्रीय स्वरूप के दावे का विवेचन कीजिए।
Account for the establishment of the Indian National Congress. Discuss its claim to be considered national in charter.

2 भारत की स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारणों का परीक्षण करें।
Examine the main causes for the growth of national movement. (1977

3 भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए उत्तरदायी कारणों का विवेचन कीजिए।
Discuss the causes which were responsible for the growth of National Consciousness in India. (1979)

4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्देश्यों को स्पष्ट कीजिए। स्थापना के प्रथम दो दशकों में उनकी प्राप्ति में उसे कितनी सफलता मिली ?
Explain the aims of the Indian National Congress How far did it succeed in achieving them during the first two decades of its establishment ?

5 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मूल का विवेचन कीजिए। इसकी स्थापना में ह्यूम का क्या योगदान था ?
Discuss the origins of the Indian National Congress. What role did Hume play in its foundation ?

6 सन् 1885 और 1905 के बीच भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की क्या मुख्य माँगें थीं ? उनकी प्राप्ति में कांग्रेस को क्या सफलता मिली ?
What were the main demands of the Indian National Congress between 1885 and 1905 ? How far did it succeed in realising them ?

अध्याय–2 (राष्ट्रीय आन्दोलन का उदारवादी युग)

7 भारतीय उदारवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए और इस बात पर प्रकाश डालिए कि उस विचारपन्थ का मूल उद्गम कहाँ से हुआ ?
Describe the principles of Indian Liberalism, stating clearly the sources from which they derived ?

8 भारत के उदारवादी विचारों में पाए जाने वाले सामान्य तत्वों की विवेचना कीजिए।
Discuss the common elements found in the liberalistic thinkers of Ind

9 "प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस पूर्ण रूप से नरम दल वालों के प्रभाव में थी, जिनका विश्वास शुद्ध संवैधानिक विधियों में था तथा जो भारतीय शासन में क्रमिक सुधार के लिए आन्दोलन करते थे।" विवेचना कीजिए। (1979)

"During the early years the Congress was completely under the influence of the Moderates, who believed in purely constitutional methods and agitated for piecemeal reforms in the Indian Administration." Comment.

10 "भारतीय उदारवादियों का सर्वोत्कृष्ट योगदान, उनके संवैधानिक साधनों, समाज सुधार, आर्थिक न्याय, धर्म-निरपेक्षता एवं व्यक्ति की गरिमा के सन्दर्भ में प्रतिबद्धता था।" विवेचना कीजिए।

"The greatest contribution of Indian Liberals was their commitment to constitutional means, social reform, economic justice, secularism and dignity of the individual" Discuss.

11 1885–1919 युग में, भारतीय उदारवादियों के प्रमुख प्रयोजनों एवं साधनों का परीक्षण कीजिए।

Examine the major objectives and methods of the Indian Liberals during 1885–1919. (1979)

12 फीरोजशाह मेहता के राजनीतिक विचारों का वर्णन कीजिए।

Describe the political ideas of Pheroze Shah Mehta.

13 'गोखले एक नरमवादी थे।' गोपाल कृष्ण गोखले की राजनीतिक विचारधारा और कार्य-प्रणाली का विवेचन करके उनके बारे में उपरोक्त सम्मति का समर्थन कीजिए।

'Gokhale was a moderate' Describe his political Ideas and methods in support of this view about Gopal Krishan Gokhale.

14 इस विचार का मूल्यांकन कीजिए कि प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी में गोखले भारत में उदारवादी चिन्तन के नेता थे।

Examine the view that Gokhale was the leader of Liberal thought in India in the early 20th century.

अध्याय–3 (राष्ट्रीय आन्दोलन का उग्रवादी युग)

15 भारत में उग्रवाद का उदय किन कारणों से हुआ ? किन बातों से उग्रपन्थी उदारवादियों से भिन्न थे ?

What led to the rise of Extremism in India ? In what ways did the Extremists differ from the Moderates ?

16 भारत में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में उग्रवादी नेताओं का क्या योगदान था ?

Describe the contribution of extremist leaders in the development of national consciousness in India.

17 भारतीय राजनीति में 'नरम' और 'गरम' दलों की नीति औरकार्य पद्धति की तुलना कीजिए और इन दोनों दलों के 1905 से 1916 ई. तक के पारस्परिक सम्बन्धों [illegible] इतिहास का वर्णन कीजिए।

Compare the policy and methods of the 'Moderates' and the 'Extremists' and trace the history of their mutual relations from 1905 to 1916. (1979)

18 भारतीय राजनीति में प्रारम्भ के उदारवादियों तथा उग्रवादियों के प्रयोजनों एवं साधनों का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

Give a comparative estimate of the objectives and methods of the early moderates and extremists in Indian Politics.

19 उन परिस्थितियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए जिनके कारण भारतीय राजनीति मे उग्रवादी विचारधारा का उदय हुआ। इसने कांग्रेस आन्दोलन की प्रकृति को किस प्रकार परिवर्तित किया ?

Review briefly the circumstances that led to the rise of the extremist school of thought in Indian Politics. How did it ultimately change the character of the Congress Movement ?

20 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में बाल गंगाधर तिलक के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate the contributions of Bal Gangadhar Tilak to the Indian National Movement. (1979)

21 गए (नरम) दल के सिद्धान्तों के विषय मे तिलक के विचारो की समीक्षा करें।
Critically assess the importance of the political ideas of Pal and Lajpat Rai.

22 "भारतीय असन्तोष के जनक, देशभक्तों के राजकुमार" बाल गंगाधर तिलक के सम्बन्ध मे इन विचारों से आप कहाँ तक सहमत हैं ? भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे उनकी जो देन हैं, उनका मूल्यांकन कीजिए।

"The Father of Indian Unrest, A Prince of Patriots" How far do you agree with these views about Bal Gangadhar Tilak ? Give your own estimate of the contribution he made to the Indian National Movement

23 आतंकवादियो की स्वातन्त्र्य संघर्ष मे भूमिका का वर्णन कीजिए। उनके आन्दोलन के क्या कारण थे ?

What were the causes of National Movement ? Describe the role of National Movement or in the Independence Movement.

24 राष्ट्रीय आन्दोलन मे होम रूल लीग का क्या महत्त्व है ?
What role did Home Rule Leagues play in the National Movement ?

25 एनी बेसेन्ट ने किन उद्देश्यो से प्रेरित होकर होम रूल आन्दोलन संगठित किया ? इस आन्दोलन के क्या परिणाम हुए ?

What were the motives which led Annie Besant to organise the Home Rule Movement ? What were its consequences ?

26 भारत मे अराजकतावादी एवं हिंसक आन्दोलनों के उदय के कारणो को स्पष्ट करें। इन आन्दोलनों के योगदान का परीक्षण करे।

27 भारत के 'होम रूल' आन्दोलन के प्रयोजन, साधनो एव योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate the objects, methods and contribution of the Home Rule Movement in India. (1978)

28 'देशभक्तो में राजकुमार', बाल गंगाधर तिलक के विषय मे यह कथन कहाँ तक सही है ?
'Prince among Patriots' How far is it true of Bal Ganghadhar Tilak ? (1978)

29 1916 की कांग्रेस-लीग योजना का परीक्षण कीजिए तथा उसके महत्त्व को समझाइए।
Examine the Congress-League Scheme of 1916 and point out its ficance. (1:

अध्याय–4 (राष्ट्रीय आन्दोलन का गांधीवादी युग)

30 भारत द्वारा किए गए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संघर्ष मे महात्मा गाँधी के योगदान का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

Describe briefly the contribution of Mahatma Gandhi to the struggle of India for her national Independence. (1976)

31 कांग्रेस द्वारा 1920 मे आरम्भ किए हुए असहयोग आन्दोलन की विचारधारा तथा कार्यक्रम का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। यह आन्दोलन सफल क्यो नही हो सका ?

Give a brief account of the ideology and programme of the Non-Co-operation Movement launched by the Congress in 1920 Why could it not succeed ? (1975)

32 असहयोग आन्दोलन के कारणो का संक्षिप्त स्पष्टीकरण करें एवं आन्दोलन के कार्यक्रम का मूल्यांकन करें।

Briefly explain the causes leading to the Non-Co-operation Movement and evaluate its programme. (1977)

33 किन कारणो से महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया ? भारतीय राजनीति पर इसके स्थगन का क्या प्रभाव पड़ा ?

What factors led Gandhiji to start the Non-Co-operation Movement ? What was the reaction of its suspension on Indian politics ?

34 गाँधीजी को सहयोगी से असहयोगी बनाने वाली परिस्थितियो को अनुरेखित कीजिए।

Trace the circumstances which turned Gandhiji from a Cooperator to Non-Cooperator

35 1920 मे कांग्रेस द्वारा आरम्भ किए गए असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम की विवेचना कीजिए। क्या आप इस मत से सहमत हैं कि गाँधीजी ने इस आन्दोलन को स्थगित करके एक भूल की ?

Discuss the programme of Non-Co-operation launched by the Congress in 1920 Do you agree with the view that Gandhiji committed a mistake in suspending the Movement ?

36 क्या आप गाँधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन के स्थगन को उचित ठहरा सकते हैं ? भारतीय राजनीति पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

Can you justify the suspension of the Non-Co-operation Movement by Gandhiji ? What was its impact on Indian politics ?

37 1920 के असहयोग के क्या कारण थे ? इसे क्यो वापस लिया गया ?

What were the reasons which led to the Non-Co-operation Movement of 1920 ? Why was it withdrawn ?

38 प्रथम विश्व युद्ध का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा ? विवेचना कीजिए।

Discuss the impact of the First World War on the growth of the Nationalist Movement in India ?

39 खिलाफत आन्दोलन क्या था ? क्या इसको असहयोग आन्दोलन के साथ जोड़ना उचित था ?

What was the Khailafat Movement ? Was it proper to join it with the Non-Co-operation Movement ?

40 "स्वराज्य दल ने ही केवल एकमात्र असहयोग आन्दोलन का विकल्प प्रस्तुत किया।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
"The Swarajists provided only alternative to the Non-Cooperation movement" Discuss

41 कौंसिल प्रवेश पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओ के बीच मतभेद को रेखांकित कीजिए। उन्होंने आखिर मे क्यो कौंसिलो मे प्रवेश किया ?
Trace the differences between the Congress leaders on the question of Council entry What ultimately led them to join the Councils ?

42 स्वराज्य दल के कार्यों और उपलब्धियो पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
Write a short essay on the work and achievements of the Swarajists

43 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा स्वराज्य दल के साधनो एव कार्यक्रम के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
State the basic difference in method and programme of Indian National Congress and the Swarajist Party (1977)

44 भारत छोड़ो आन्दोलन की क्या विशेषताएँ थी ?
What were the features of the Quit India Movement ?

45 भारत छोड़ो आन्दोलन क्यो चलाया गया ? इसके क्या परिणाम हुए ?
Why was the Quit India Movement launched ? What are its consequences ?

46 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के स्वरूप की व्याख्या कीजिए। क्या यह स्वप्रेरित था ?
Discuss the nature of the Quit India Movement of 1942 Was it spontaneous ?

47 1927 मे साइमन आयोग की नियुक्ति के कारणो का परीक्षण करें तथा 1930 की साइमन कमीशन रिपोर्ट का सक्षेप मे परीक्षण करें।
Examine the reasons for the appointment of the Simon Commission of 1927 and briefly examine the Simon Commission Report of 1930. (1977)

48 "यह दिवालिया बैंक के नाम भविष्य मे भुनने वाला चैक था।" क्रिप्स प्रस्तावों के सन्दर्भ मे गाँधीजी के इस कथन की समीक्षा कीजिए।
"It was a post-dated cheque on a failing bank." (Gandhiji) Discuss Gandhiji's comment in context of Cripps Proposals (1977)

49 1928 की नेहरू की रिपोर्ट की सिफारिशो का सक्षेप मे परीक्षण कीजिए। (1977)
Briefly examine the recommendations of the Nehru Report of 1928

50 उन कारणों का वर्णन कीजिए जिनके कारण भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1929 ई में पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना अन्तिम ध्येय घोषित किया।
Trace the factors leading to the declaration of complete Independence as its ultimate aim by the Indian National Congress in 1929.

51 केबिनेट मिशन योजना की प्रमुख धाराओ का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। इसे सम्बन्धित दलों ने क्यों अस्वीकृत किया ?
Give a brief acount of the important provisions of the Cabinet Mission Plan Why was it rejected by the parties concerned ?

52 माउन्ट बेटन योजना के महत्व की समीक्षा कीजिए। भारत के इतिहास पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?
Discuss the importance of the Mountbatten Plan What was its impact on the history of India ?

अध्याय–5 (भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति)

53 देश विभाजन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का वर्णन कीजिए। क्या इसे टाला जा सकता था ? कारण बताइए।
What were the circumstances that led to the partition of the country ? Could it have had been avoided ? Give reasons for your views.

54 1947 में भारत का विभाजन क्यों हुआ ? क्या यह उचित था और क्या अब इसका अन्त हो सकता है ?
Why was Indian partitioned in 1947 ? Was it proper and can it be undone now ?

55 1947 का वर्ष भारतीय इतिहास का एक निर्णायक वर्ष था। विवेचना करें।
1947 was a fateful year in the history of India. Discuss.

56 "दूसरे महायुद्ध के बाद क्या स्थिति ऐसी थी कि अंग्रेजों से भारतीयों के हाथों में सत्ता हस्तान्तरण पूर्ण और अत्यन्त शीघ्र हो।" इसकी व्याख्या उन घटनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा के साथ कीजिए जो भारत के विभाजन के लिए 1947 में उत्तरदायी थी।
"The situation at the end of the war was such as to demand that transfer of power from British to Indian hands should be speedy and complete" Discuss it with a critical appraisal of the events that led to the partition of India in 1947.

57 भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947 पर संक्षिप्त लेख लिखिए।
Write a short note on India Independence Act 1947.

58 भारत में 1947 में आने वाली स्वतन्त्रता तथा विभाजन के कारणों की सम्यक् विवेचना कीजिए।
Discuss critically the factors responsible for the partition and independence of India in the year 1947.

अध्याय–6 (मुस्लिम साम्प्रदायिकता : उदय और विकास)

59 1906 से 1916 तक मुस्लिम लीग के जन्म तथा विकास के इतिहास का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।
Give a critical account of the history of birth and growth of the Muslim League from 1906 to 1916.

60 1917 से 1937 तक मुस्लिम लीग के कार्यकलापों का विवरण दीजिए।
Trace and activities of the Muslim League from 1917 to 1937.

61 उन कारणों का विश्लेषण कीजिए जिन्होंने मुस्लिम लीग को 1936 के पश्चात् भारतीय मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था बनने में सहायता दी।
Analyse the reasons which led to the emergence of the Muslim League as the sole representative body of the Indian Muslims after 1936

62 1937 ई. से 1947 ई. तक मुस्लिम पार्थक्य प्रवृत्ति के विकास का वर्णन कीजिए।
Trace the growth of Muslim separatist tendencies from 1937 to 1947.

63 मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित करने में अंग्रेज प्रशासकों और गैर-सरकारी अंग्रेज व्यक्तियों की भूमिका की विवेचना करते हुए लॉर्ड मिन्टो की गतिविधियों पर विशेष प्रकाश डालिए।
Discuss the role of British administrators and non-officials in encouraging Muslim Communalism in India with special reference to the activities of Lord Minto.

64 भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता आरम्भ कैसे हुई ? अंग्रेज शासक इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी थे ?
How was Muslim Communalism introduced in India ? How far the British rulers were responsible for it ? (1979)

65 "भारत का विभाजन (1947) साम्प्रदायिक राजनीति का अन्त-परिणाम था।" विवेचना करें। (1978)

66 1905-1947 के युग मे साम्प्रदायिक राजनीति के विकास की समीक्षा करें।
Trace the growth of Communal politics in India from 1905 to 1947. (1978)

67 1940 ई. से 1947 ई. के काल में साम्प्रदायिक समस्या के पहलुओं का विश्लेषण कीजिए।
Analyse the various facts of the communal problem during 1940-1947.

68 मोहम्मद अली जिन्ना पर एक लेख लिखिए।
Write an essay on Mohammad Ali Zinnah

69 "हिन्दू मुस्लिम मतभेदो को दूर करने का एक ही व्यावहारिक और यथार्थवादी मार्ग है वह यह है कि भारत को दो प्रभुत्वसम्पन्न भागों मे विभाजित करना—एक पाकिस्तान और दूसरा हिन्दुस्तान।" जिन्ना भारत के विभाजन के लिए कहाँ तक उत्तरदायी था ?
"There is only one practical, realistic way of resolving Muslim Hindu difference. This is to divide India into two sovereign parts of Pakistan and Hindustan" Zinnah. How far Zinnah was responsible for the partition of India ?

70 पाकिस्तान निर्माण के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
Discuss in detail the circumstances leading to the formation of Pakistan

71 1906-1940 के बीच मुस्लिम सम्प्रदायवाद के विभिन्न कारणो की चर्चा कीजिए और यह बतलाइए कि ब्रिटिश नीति से किस प्रकार इसे प्रोत्साहन मिला ?
Trace the various phases through which Muslim Communalism passed from 1906 to 1940 and show it was encouraged by the policy followed by the British Government.

अध्याय–7 (भारत सरकार का 1909 का अधिनियम)

72 "1909 की मार्ले-मिन्टो सुधार योजना, साम्प्रदायिक समस्या को अति उग्र बनाने के लिए उत्तरदायी थी।" विवेचना कीजिए।
"The Morley-Minto Reform Scheme of 1909 was responsible for making the communal problem more acute." Discuss. (1978)

73 "मार्ले-मिन्टो सुधार भारत की राजनीतिक समस्याओं के लिए कोई हल नहीं था।" इस कथन को समझाइए।
"Morley-Minto Reforms afforded no answer and could affort no answer to Indian problems" Explain. (1979)

74 1909 की मार्ले-मिन्टो सुधार योजना के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण करें।
Examine the main characteristics of the Morley-Minto Reform Scheme of 1909. (1977)

75 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधार के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की आलोचनात्मक व्याख्या करिए। साथ ही सुधारों का मूल्यांकन कीजिए।
Critically examine the circumstances leading to the Morley-Minto Reforms of 1909. Also attempt a critique of the reforms.

76 "मार्ले-मिण्टो सुधारो ने भारतीय राजनीतिक समस्या का कोई उत्तर प्रस्तुत नहीं किया और न ही ये इसका उत्तर प्रस्तुत कर सकते थे।" व्याख्या और विवेचना कीजिए।

"Morley-Minto Reforms did not express her response about the Indian Political Problem nor she can submit her responses." Discuss and explain this statement.

77 1909 के मिण्टो-मार्ले सुधारों की उत्पत्ति तथा प्रकृति का विवेचन कीजिए।
Discuss the origin and nature of Minto-Morley Reforms of 1909.

78 "मिण्टो-मार्ले सुधार जनतन्त्रात्मक तथा नौकरशाही के मध्य एक अधूरा तथा अल्पकालिक समझौता था।" विवेचना कीजिए।

"It was a compromise between bureaucracy and democracy, invertiably a short lived experiment." Discuss it in context of Minto-Morley Reforms (1977)

79 "सुधारों में निहित परिवर्तन केवल मात्रा के थे, प्रकार के नहीं।" 1909 के सुधारों के सम्बन्ध में इस कथन की विवेचना कीजिए।
"The Reforms implied a change of degree and not of kind" Examine this statement with regard to the Reforms of 1909.

अध्याय–8 (भारत सरकार का 1919 का अधिनियम)

80 उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनके कारण 1919 ई. का भारत सरकार अधिनियम पारित हुआ।
Describe the circumstances that led to the enactment of Government of India Act 1919.

81 1919 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर की शक्तियों का वर्णन कीजिए।
Give a critical estimate of the Reforms of 1919. (1979)

82 "1919 के अधिनियम ने स्वशासन एवं उत्तरदायित्व के प्रयोजन की उपेक्षा की।" विवेचना कीजिए।
"The Act of 1919 defeated the purpose of introducing self-government and responsibility Discuss. (1977)

83 भारत सरकार अधिनियम 1919 के अन्तर्गत द्वैध शासन प्रणाली का परीक्षण कीजिए तथा इसकी असफलता के कारणों को भी इंगित कीजिए।

Examine the Scheme of Dyarchy as embodied in the Government of India Act 1919 and also identify the causes of its failure. (1979)

84 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत द्वैध शासन व्यवस्था की विवेचना करें।
Discuss the system of Dyarchy in the Act of 1919. (1978)

85 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत द्वैध शासन की असफलताओं के कारणों को इंगित करें।
Identify the causes for the failure of dyarchy in the Act of 1919. (1977)

86 "दोहरा शासन बोझीला, जटिल तथा अव्यवस्थित शासन-प्रणाली था जिसका कोई तार्किक आधार नहीं था।" व्याख्या कीजिए।

"Dyarchy was a cumbrous, complex and confused system having no logical basis." Comment

87 दोहरे शासन की कार्य-विधि का आलोचनात्मक सिंहावलोकन कीजिए। क्या यह अपने अन्दरूनी दोषों के कारण असफल हो गया अथवा उन खराब परिस्थितियों के कारण जिनमें यह आरम्भ किया गया।

Give critical review of the Dyarchy in action Was it un-workable due to its internal defects or did it fail because of the unhappy circumstances under which it was launched ?

88 "1919 ई. के भारत अधिनियम के अनुसार जो दोहरा शासन शुरू किया गया, वह सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत और अव्यावहारिक था।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

"Dyarchy embodied in the Government of India Act 1919, was unsound in principle and unworkable in practice." Comment

89 भारत सरकार अधिनियम 1919 के द्वारा गृह सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों में किए गए परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।

Discuss the important changes made by the Government of India Act 1919 in the Home Government and Provincial Governments (1977)

90 1919 के भारतीय शासन अधिनियम के द्वारा लागू की गई शासन-व्यवस्था के प्रमुख प्रावधानों की एव उनके दोषों की विवेचना कीजिए।

Discuss the main provisions and defects of the system of government introduced by the Government of India Act of 1919.

अध्याय–9 (भारत सरकार का 1935 का अधिनियम)

91 1935 के भारत सरकार अधिनियम की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

Critically examine the main features of the Government of India Act 1935 ?

92 1935 के अधिनियम के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण करें।

Examine the major characteristics of the Act of 1935. (1977)

93 भारत सरकार का अधिनियम 1935 के अन्तर्गत ब्रिटिश प्रान्तीय गवर्नर की शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।

Describe the powers and position of the Governor of a British province under the Government of India Act 1935. (1975)

94 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय व्यवस्थापिका के संगठन एवं शक्तियों का परीक्षण कीजिए।

Examine the composition and powers of the Federal Legislative under the Act of 1935.

95 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की शक्तियों तथा स्थिति का विवेचन कीजिए।

Discuss the powers and position of[the [Governor General under the Act of 1935. (1979)

96 "1935 का भारत सरकार का अधिनियम अविश्वास पर आधारित था।" टिप्पणी कीजिए।

"The Government of India Act 1935 was based on distrust." Comment.

97 भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्तता के स्वरूप वर्णन कीजिए।

Discuss the nature and working of the Provincial Autonor Government of India Act 1935.

76 "मार्ले-मिण्टो सुधारों ने भारतीय राजनीतिक समस्या का कोई उत्तर प्रस्तुत नहीं किया और न ही वे इसका उत्तर प्रस्तुत कर सकते थे।" व्याख्या और विवेचना कीजिए।

"Morley-Minto Reforms did not express her response about the Indian Political Problem nor she can submit her responses." Discuss and explain this statement.

77 1909 के मिण्टो-मार्ले सुधारों की उत्पत्ति तथा प्रकृति का विवेचन कीजिए।
Discuss the origin and nature of Minto-Morley Reforms of 1909.

78 "मिण्टो-मार्ले सुधार जनतन्त्रात्मक तथा नौकरशाही के मध्य एक अधूरा तथा अल्पकालिक समझौता था।" विवेचना कीजिए।

"It was a compromise between bureaucracy and democracy, invertiably a short lived experiment." Discuss it in context of Minto-Morley Reforms. (1977)

79 "सुधारों में निहित परिवर्तन केवल मात्रा के थे, प्रकार के नहीं।" 1909 [redacted] सुधारों के सम्बन्ध में इस कथन की विवेचना कीजिए।
"The Reforms implied a change of degree and not of kind." Examine this statement with regard to the Reforms of 1909.

अध्याय-8 (भारत सरकार का 1919 का अधिनियम)

80 उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनके कारण 1919 ई. का भारत सरकार अधिनियम पारित हुआ।
Describe the circumstances that led to the enactment of Government of India Act 1919.

81 1919 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर की शक्तियों का वर्णन कीजिए।
Give a critical estimate of the Reforms of 1919. (1979)

82 "1919 के अधिनियम ने स्वशासन एवं उत्तरदायित्व के प्रयोजन की उपेक्षा की।" विवेचना कीजिए।
"The Act of 1919 defeated the purpose of introducing self-government and responsibility Discuss. (1977)

83 भारत सरकार अधिनियम 1919 के अन्तर्गत द्वैध शासन प्रणाली का परीक्षण कीजिए तथा इसकी असफलता के कारणों को भी इंगित कीजिए।

Examine the Scheme of Dyarchy as embodied in the Government of India Act 1919 and also identify the causes of its failure. (1979)

84 *1919 के अधिनियम के अन्तर्गत द्वैध शासन व्यवस्था की विवेचना करें।*
Discuss the system of Dyarchy in the Act of 1919. (1978)

85 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत द्वैध शासन की असफलताओं के कारणों को इंगित करें।
Identify the causes for the failure of dyarchy in the Act of 1919. (1977)

86 "दोहरा शासन बोझीला, जटिल तथा अव्यवस्थित शासन-प्रणाली था जिसका कोई तार्किक आधार नहीं था।" व्याख्या कीजिए।

"Dyarchy was [redacted] cumbrous, complex and confused system having no logical basis." Comment.

87 दोहरे शासन की कार्य-विधि का आलोचनात्मक सिंहावलोकन कीजिए। क्या यह अपने अन्दरूनी दोषों के कारण असफल हो गया अथवा उन खराब परिस्थितियों के कारण जिनमें यह आरम्भ किया गया।
Give critical review of the Dyarchy in action. Was it un-workable due to its internal defects or did it fail because of the unhappy circumstances under which it was launched ?

88 "1919 ई. के भारत अधिनियम के अनुसार जो दोहरा शासन शुरू किया गया, वह सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत और अव्यावहारिक था।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
"Dyarchy embodied in the Government of India Act 1919, was unsound in principle and unworkable in practice " Comment.

89 भारत सरकार अधिनियम 1919 के द्वारा गृह सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों में किए गए परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।
Discuss the important changes made by the Government of India Act 1919 in the Home Government and Provincial Governments (1977)

90 1919 के भारतीय शासन अधिनियम के द्वारा लागू की गई शासन-व्यवस्था के प्रमुख प्रावधानों की एवं उनके दोषों की विवेचना कीजिए।
Discuss the main provisions and defects of the system of government introduced by the Government of India Act of 1919.

अध्याय–9 (भारत सरकार का 1935 का अधिनियम)

91 1935 के भारत सरकार अधिनियम की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
Critically examine the main features of the Government of India Act 1935 ?

92 1935 के अधिनियम के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण करें।
Examine the major characteristics of the Act of 1935. (1977)

93 भारत सरकार का अधिनियम 1935 के अन्तर्गत ब्रिटिश प्रान्तीय गवर्नर की शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।
Describe the powers and position of the Governor of a British province under the Government of India Act 1935. (1975)

94 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय व्यवस्थापिका के संगठन एवं शक्तियों का परीक्षण कीजिए।
Examine the composition and powers of the Federal Legislative under the Act of 1935.

95 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की शक्तियाँ तथा स्थितियों का विवेचन कीजिए।
Discuss the powers and position of[the [Governor General under the Act of 1935. (1979)

95 "1935 का भारत सरकार का अधिनियम अविश्वास पर आधारित था।" टिप्पणी कीजिए।
"The Government of India Act 1935 was based on distrust." Comment. (1979)

97 भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्तता के स्वरूप तथा व्यवहार का वर्णन कीजिए।
Discuss the nature and working of the Provincial Autonomy under the Government of India Act 1935.

98 1935 के भारत शासन अधिनियम के मुख्य प्रावधानों का परीक्षण कीजिए तथा यह बताइए कि इस अधिनियम ने भारत में संसदीय परम्परा के विकास में किस तरह योगदान दिया था ?

Examine the main provisions of the Government of India Act 1935 and point out the extent to which it contributed to the growth of Parliamentary tradition in India ? (1979)

99 "1935 की संघीय योजना सैद्धान्तिक स्तर पर त्रुटिपूर्ण थी एवं क्रियान्वयन में लोकतन्त्र विरोधी थी।" *विवेचना कीजिए।*

"The federal scheme under the Act of 1935 was defective in principle and undemocractic in practice " Discuss (1978)

100 "गवर्नर जनरल को हिटलर या मुसोलिनी की समस्त शक्तियों से सुसज्जित किया गया था।" इस कथन की, *भारतीय अधिनियम 1935 के सन्दर्भ में विवेचना कीजिए।*

"The Governor-General was armed with all the powers of Hitler or Mussolini." Discuss the statement in the light of the Government of India Act 1935 (1976)

101 "1935 के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्तता के क्रियान्वयन से सिद्ध हो गया कि गवर्नर अधिनायक की भाँति व्यवहार करता रहा एवं उत्तरदायी शासन तत्व अर्थहीन शब्द बन गए।" विवेचना करें।

"The operational aspects of Provincial Autonomy under the Act of 1935 proved that the Governor continued to act like an autocrat and elements *of responsible Government became irrelevant words." Discuss.* (1977)

102 भारतीय सरकार अधिनियम, 1935 की *मुख्य विशेषताएँ* क्या थी ? इस अधिनियम का 1950 के संविधान के निर्माण में कहाँ तक प्रभाव पड़ा ?

What were the main features of the Government of India Act of 1935 ? How far did this Act influence the making of the Constitution of 1950 ? (1979)

103 1935 के भारत सरकार अधिनियम में प्रस्तावित संघात्मक व्यवस्था की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

Examine critically the main features of the Indian federation in the *Government of India Act 1935.*

104 भारत सरकार के 1935 के अधिनियम द्वारा गृह सरकार के ढाँचे में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनका वर्णन कीजिए।

Describe the important changes made by the Government of India Act 1935 in the Constitution of Home Government.

105 भारत सरकार के 1935 के अधिनियम के अनुसार संघीय न्यायालय की रचना और शक्तियों का वर्णन कीजिए।

Describe the composition and powers of the proposed federal legislative under the Government of India Act 1935

106 प्रान्तीय स्वराज्य से आपका क्या अभिप्राय है ? इस पर कौनसी रुकावटें लगाई गई थी ?

What do you mean by Provincial Autonomy ? What were the limitations imposed upon it ?

107 प्रान्तीय विधान मण्डल की रचना तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए। इसकी शक्तियों पर कौनसी रुकावटें लगाई गई थी ?

Describe the composition and powers of the Provincial Legislative. What were the limitations imposed upon it ?

108 "संघीय ढाँचा इस प्रकार से बनाया गया था कि कोई भी वास्तविक प्रगति असम्भव हो जाए और अंग्रेजों द्वारा नियन्त्रित शासन-पद्धति में भारतीय जनता के प्रतिनिधियों के हस्तक्षेप अथवा परिवर्तन करने के लिए कोई गुंजाइश न रह जाए।" 1935 के एक्ट की संघात्मक योजना को ध्यान में रखते हुए इस कथन को समझाइए।

"The federal structure was so envisaged as to make any real advance impossible and no loop-hole was left for the representatives of the Indian people to interfere with or modify the system of British controlled administration." Discuss this statement with reference to the federal scheme under the Act of 1935.

109 प्रान्तीय स्वराज्य की कार्य-विधि तथा स्वराज्य की कार्य-विधि तथा स्वरूप पर एक टिप्पणी लिखिए।

Write an essay on the nature and working of provincial autonomy.

110 क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि 1935 के संविधान के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वराज्य गवर्नरों के लिए मन्त्रियों की तुलना में अधिक स्वराज्य था ?

Do you agree with the view that the Provincial Autonomy under the Act of 1935 was more an autonomy for the Governors than for the Ministers?

111 भारत सरकार के 1935 ई. के विधेयक की क्या विसंगतियाँ थीं ?

What were the anomalies of the Government of India Act of 1935? (1978)

112 1935 के एक्ट में निरूपित स्वायत्त शासन की प्रकृति तथा उसके कार्य-क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

Discuss the nature and scope of Provincial Autonomy as envisaged in the Act of 1935. (1976)

अध्याय-10 (संविधान सभा : रचना और दृष्टिकोण)

113 संविधान सभा का निर्माण किस प्रकार हुआ तथा अपने कार्य-सम्पादन में इसे किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ?

How was the Constituent Assembly composed and what d[illegible] it face in its working ?

114 "1946 की संविधान सभा ने जो अर्जित किया सर्वोत्तम नहीं था, [illegible] द्वितीय श्रेणी का था।" विवेचना कीजिए।

"What the Constituent Assembly of 1946 achieved was [illegible] the second best." Discuss.

115 "1946 की संविधान सभा का योगदान उसके सीमित [illegible] था।" विवेचना कीजिए।

"The contribution of the Constituent Ass[illegible] with its limited composition and short-[illegible]

115 1946 की संविधान सभा का संगठन, [illegible] कीजिए।

Give an evaluation of the Constituent Assembly of 1946 with special reference to its Composition, Objectives and the challanges it faced

117 भारतीय संविधान सभा : रचना एवं दृष्टिकोण पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

Write a short note on the 'Indian Constituent Assembly : its Structure and Approach

118 संविधान सभा का निर्माण किस प्रकार हुआ तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक उसे अपने कार्य चलाने मे क्या बाधाएँ पड़ी ?

How was the Constituent Assembly composed and what difficulties did it faced in its working ?

119 ग्रेनविल आस्टिन का विचार है कि भारत की संविधान-निर्मात्री सभा का दृष्टिकोण तीन सिद्धान्तो पर आधारित था और वे थे सर्वसम्मति, सहनशीलता तथा परिवर्तन के साथ चयन। क्या आप इस मत से सहमत हैं ? अपने पक्ष के सम्बन्ध मे तर्क तथा उदाहरण दीजिए।

Granville Austin thinks that three principles characterized the approach of the Constituent Assembly in India and they were consensus, accommodation and selection and modification Do you agree? Give reasons and illustrations to support the position that you take

120 भारतीय संविधान के निर्माण मे जिन मुख्य दृष्टिकोणों, मतों एवं प्रवृत्तियों का प्रदर्शन हुआ, उन पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

Write a critical note on the main attitudes, approaches and trends in the making of the Indian Constitution.

अध्याय–11 (भारतीय संविधान : संघवाद)

121 भारतीय संविधान मे संघवाद के प्रमुख लक्षणो को इंगित करते हुए उनकी सीमाओ का परीक्षण कीजिए।

Identify the major characteristics of federalism in the Indian Constitution and examine their limitations (1977, 1979)

122 भारतीय संघ और राज्यो के बीच विधायी, प्रशासनिक तथा वित्तीय सम्बन्धो का विवेचन कीजिए।

Discuss the legislative, administrative and financial relations between the Union and the States in India. (1975)

123 क्या आप इस मत से सहमत हैं कि संघ-राज्य वित्तीय सम्बन्धों ने सन्तुलन को संघ सरकार के पक्ष में झुका दिया है ?

Do you agree with the view that the Union-State Financial relations have titled the balance in favour of the Union Government (1979)

124 "भारतीय संविधान केवल सिद्धान्त मे संघीय है, वह क्रियान्वयन में अर्ध-संघीय है, एवं यदि आवश्यकता हो तो उसमें एकात्मक व्यवस्था में रूपान्तरण करने का लचीलापन भी है।" विवेचना कीजिए।

"The Indian Constitution is federal only in theory, quasi-federal in operation, and has the flexibility to run into a unitary system when conditions demand so" Discuss.

125 भारतीय संविधान में संघीय उपबन्धों की प्रमुख चुनौतियों का परीक्षण कीजिए।
Examine the major challanges to federalism in the Indian Constitution.

126 इस कथन की विवेचना कीजिए कि "भारत के संविधान का रूप संघात्मक है परन्तु आत्मा एकात्मक है।"
"Indian Constitution is federal in form but unitary in spirit" Discuss the statement. (1978)

127 संविधान बाह्य उन राजनीतिक एवं आर्थिक तत्त्वों का वर्णन कीजिए जो संघीय राज-व्यवस्था को व्यवहार में प्रभावित करते हैं ?
Discuss the extra-constitutional political and economic factor influencing the working of federal policy in India.

128 भारतीय संघवाद के स्वरूप पर नियोजन और उभरती हुई बहुदल प्रणाली का क्या प्रभाव पड़ा है ? क्या आप एक शक्तिशाली केन्द्र का पक्ष लेते हैं ? यदि ऐसा है तो उसके क्या कारण हैं ?
What has been the impact of planning and emerging multiparty system on the pattern of Indian federalism ? Do you advocate a strong Centre ? If so, on what grounds ?

129 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ कौनसी हैं ? भारत में अर्द्ध-संघ राज्य पद्धति है, इस दृष्टिकोण से क्या आप सहमत हैं ? सकारण उत्तर लिखिए।
What are the main features of the Indian political system ? Do you accept the view that India is a quasi-federation ? Give reasons

130 "ये अध्ययन संकेत करते हैं कि बहुत से तत्त्व भारत के संघीय संविधान के व्यावहारिक स्वरूप से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। ये तत्त्व हैं—राज्यों के स्तर पर राजनीतिक दलों का संगठन, राज्यों के स्तर पर दलीय व्यवस्था का स्वरूप, समाज में वर्ग संगठन, आर्थिक व्यवस्था का बँटवारा और राजनीतिक संस्कृति।" (मार्कस एफ फ्रेन्डा)
इस कथन के प्रकाश में संविधान के बाहर के उन तत्त्वों पर प्रकाश डालिए जिनसे भारत की संघीय व्यवस्था में प्रभावित होती हैं।
"The case studies indicate that a number of factors—the structure of political parties at the state level, the nature of the party system at the state level, sucial class composition, economic distribution and political culture–are closely related to the working of India's federal constitution" (Marcus F. Franda).
Discuss in the light of this statement the extra-constitutional factors influencing the working of federal polity in India

131 "भारतीय संविधान उधार का थैला है, इसी कारण यह पेचीदा, जटिल तथा अस्पष्ट हो गया है।" कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
"The Indian Constitution is a bag of borrowings and this is what has made it cumbersome, complicated and incongrous"
Examine critically the above statement.

132 भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अध्याय–12 (संविधान में मौलिक अधिकार एवं निदेशक तत्त्व)

133 मूलाधिकारों तथा राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन कीजिए। विभिन्न संवैधानिक संशोधनों का इस सम्बन्ध पर क्या प्रभाव पड़ा है ?
Discuss the relationship between Fundamental Rights and Directive Principles of State Policy, and the impact of various constitutional amendments on this issue (1979)

Give an evaluation of the Constituent Assembly of 1946 with special reference to its Composition, Objectives and the challanges it faced.

117 भारतीय संविधान सभा : रचना एवं दृष्टिकोण पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

Write a short note on the 'Indian Constituent Assembly : its Structure and Approach

118 संविधान सभा का निर्माण किस प्रकार हुआ तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक उसे अपने कार्य चलाने में क्या बाधाएँ पड़ीं ?

How was the Constituent Assembly composed and what difficulties did it faced in its working ?

119 ग्रेनविल आस्टिन का विचार है कि भारत की संविधान-निर्मात्री सभा का दृष्टिकोण तीन सिद्धान्तों पर आधारित था और वे थे सर्वसम्मति, सहनशीलता तथा परिवर्तन के साथ चयन। क्या आप इस मत से सहमत हैं ? अपने पक्ष के सम्बन्ध में तर्क तथा उदाहरण दीजिए।

Granville Austin thinks that three principles characterized the approach of the Constituent Assembly in India and they were consensus, accommodation and selection and modification. Do you agree? Give reasons and illustrations to support the position that you take.

120 भारतीय संविधान के निर्माण में जिन मुख्य दृष्टिकोणों, मतों एवं प्रवृत्तियों का प्रदर्शन हुआ, उन पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

Write a critical note on the main attitudes, approaches and trends in the making of the Indian Constitution.

अध्याय–11 (भारतीय संविधान : संघवाद)

121 भारतीय संविधान में संघवाद के प्रमुख लक्षणों को इंगित करते हुए उनकी सीमाओं का परीक्षण कीजिए।

Identify the major characteristics of federalism in the Indian Constitution and examine their limitations. (1977, 1979)

122 भारतीय संघ और राज्यों के बीच विधायी, प्रशासनिक तथा वित्तीय सम्बन्धों का विवेचन कीजिए।

Discuss the legislative, administrative and financial relations between the Union and the States in India. (1975)

123 क्या आप इस मत से सहमत हैं कि संघ-राज्य वित्तीय सम्बन्धों ने सन्तुलन को संघ सरकार के पक्ष में झुका दिया है ?

Do you agree with the view that the Union-State Financial relations have titled the balance in favour of the Union Government (1979)

124 "भारतीय संविधान केवल सिद्धान्त में संघीय है, वह क्रियान्वयन में अर्ध-संघीय है, एवं यदि आवश्यकता हो तो उसमें एकात्मक व्यवस्था में रूपान्तरण करने का लचीलापन भी है।" विवेचना कीजिए।

"The Indian Constitution is federal only in theory, quasi-federal in operation, and has the flexibility to run into a unitary system when conditions demand so" Discuss

144 "भारत का राष्ट्रपति राजनीतिक व्यवस्था एवं राजनीतिक प्रक्रिया का अंग है।" (राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी)। इस वक्तव्य की समालोचना कीजिए।

"The President of India is a part of the political system and of the political process." (President N Sanjiva Reddy). Comment (1979)

145 "भारत में आपातकालीन शक्तियों का पूर्णतया दुरुपयोग किया गया है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

Examine the statement that "the emergency powers have been thoroughly misused in India." (1979)

6 किन परिस्थितियों में राष्ट्रपति राज्यों में सांविधानिक संकट की घोषणा कर सकता है ? 1967 के पश्चात् से उसका सदुपयोग तथा दुरुपयोग उदाहरण देकर बताइए।

Mention the circumstances under which the President can declare breakdown of the constitutional machinery in the States Discuss with illustration the uses and misuses of this provision since 1967

"राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियाँ राष्ट्रपति के हाथ में भरी हुई बन्दूक की भाँति है सका उपयोग वह नागरिकों की स्वतन्त्रता के संरक्षण व विनाश दोनों ही के लिए कर ता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

he provision of the emergency powers leaves in the hands of the ident a loaded gun which can be used both to protect and to destroy berty of the citizens" Explain

134 "मौलिक अधिकारों के स्वरूप एवं अर्थ के सन्दर्भ में भारतीय संसद्, जो जनवादी एवं प्रतिनिधि संस्था है, न कि सर्वोच्च न्यायालय को निर्णायक अधिकार होने चाहिए।" विवेचना करें।

"The Indian Parliament being a popular and representative institution, and not the Supreme Court, should be empowered to decide the nature *and meaning of Fundamental Rights.*" Discuss. (1978)

135 "कोई भी मौलिक अधिकार निरपेक्ष (सार्वभौमिक) नहीं है।" भारत के सन्दर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिए।

"No Fundamental right is absolute." Discuss this statement in context of India. (1977)

136 भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों का संक्षिप्त परीक्षण करें एवं इस आलेख की सीमाओं को इंगित करें।

Briefly examine the Fundamental Rights in the Indian Constitution and identify the limitations on the scheme. (1977)

137 "संवैधानिक उपचारों का अधिकार (न्यायालयों द्वारा मौलिक अधिकारों की रक्षा के उपाय) सारे संविधान की आत्मा और दिल है।" इस कथन पर बहस कीजिए।

"The provision of Constitutional remedies is the heart and sound of the whole Constitution" (Dr. B.R. Ambedkar) Discuss.

138 भारतीय संविधान में निहित राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों के संवैधानिक तथा सामाजिक व राजनीतिक महत्व की विवेचना कीजिए।

Discuss the constitutional and socio-political significance of the Directive Principles of State Policy as embodied in the Indian Constitution. (1979)

अध्याय–13 (भारतीय राष्ट्रपति)

139 भारत के राष्ट्रपति का चुनाव कैसे होता है? राष्ट्रपति के चुनाव में दलीय समर्थन की व्यवस्था और उससे सम्बन्धित आधारभूत प्रश्नों की व्याख्या कीजिए।

How is the President of India elected? Discuss the noture of party *alignments and issues involved in the Presidential election.*

140 भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों एवं कार्यों का परीक्षण कीजिए।
Examine the process of amending the Indian Constitution. (1979)

141 भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
Critically examine the emergency powers of the Indian President. (1979)

142 भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों का वर्णन कीजिए और उन अवस्थाओं की विवेचना कीजिए जिनमें वह शक्तिशाली बन सकता है।
Describe the powers of the Indian *President* and discuss the circumstances in which he can become powerful. (1976)

143 भारत के राष्ट्राध्यक्ष की चुनाव प्रणाली को स्पष्ट करते हुए भारत के राष्ट्राध्यक्ष पद के स्वरूप का परीक्षण कीजिए।

Explain the election process of the Indian President and examine the nature of presidency in India. (1976)

144 "भारत का राष्ट्रपति राजनीतिक व्यवस्था एवं राजनीतिक प्रक्रिया का अंग है।" (राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी)। इस वक्तव्य की समालोचना कीजिए।

"The President of India is a part of the political system and of the political process." (President N. Sanjiva Reddy) Comment (1979)

145 "भारत में आपातकालीन शक्तियों का पूर्णतया दुरुपयोग किया गया है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

Examine the statement that "the emergency powers have been thoroughly misused in India." (1979)

146 किन परिस्थितियों में राष्ट्रपति राज्यों में सांविधानिक संकट की घोषणा कर सकता है ? 1967 के पश्चात् से उसका सदुपयोग तथा दुरुपयोग उदाहरण देकर बताइए।

Mention the circumstances under which the President can declare breakdown of the constitutional machinery in the States Discuss with illustration the uses and misuses of this provision since 1967

147 "राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियाँ राष्ट्रपति के हाथ में भरी हुई बन्दूक की भाँति है जिसका उपयोग वह नागरिकों की स्वतन्त्रता के संरक्षण व विनाश दोनों ही के लिए कर सकता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

"The provision of the emergency powers leaves in the hands of the President a loaded gun which can be used both to protect and to destroy the liberty of the citizens" Explain

148 "भारतीय राष्ट्रपति राज्य का प्रभावशाली अध्यक्ष न होकर भारतीय एकता का प्रतीक है।" संक्षेप में राष्ट्रपति की शक्तियों तथा स्थिति को कानून तथा परम्पराओं द्वारा स्पष्ट कीजिए।

"The president is the symbol of India's oneness rather than an effective head of the State." Discuss briefly the powers and position of the Indian President as groverned both by law and conventions.

अध्याय–14 (प्रधान मन्त्री और मन्त्रि-परिषद्)

149 "प्रधान मन्त्री संवैधानिक महराब की धुरी है।" भारतीय प्रधान मंत्री के सन्दर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिए।

"The Prime Minister is the keystone of the Constitutional Arch" Discuss the statement with reference to the Indian Prime Minister (1976)

150 "भारत का राष्ट्रपति सामान्य स्थिति में अशक्त कार्यपालक है, आपात्काल में भी वह शक्तिहीन शासक है, क्योंकि वास्तविक शक्तियाँ सदैव ही प्रधान मन्त्री में निहित हैं।" विवेचना कीजिए।

"The President of the India is a powerless executive during normal times; even in emergency, he is a powerless head, for the real power always belongs to the Prime Minister" Discuss. (1978)

151 भारत के प्रधान मन्त्री की शक्तियों एवं पद-स्थिति का परीक्षण कीजिए।

Examine the powers and position of the Prime Minister of India. (1979)

152 पिछले 25 वर्षों में भारतीय मन्त्रि-मण्डल के संगठन और कार्य-संचालन के प्रकाश में भारतीय मन्त्रि-मण्डल की प्रमुख विशेषताओं का परीक्षण कीजिए।

Examine the salient features of the Indian Cabinet in the light of its composition and working during the last 25 years. (1979)

153 भारतीय संघ के मन्त्रि-परिषद् के गठन, शक्तियों, कार्यों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।

Describe the composition, functions and position of Indian Union Council of Ministers

134 "मौलिक अधिकारों के स्वरूप एव अर्थ के सन्दर्भ में भारतीय संसद्, जो जनवादी एवं प्रतिनिधि संस्था है, न कि सर्वोच्च न्यायालय को निर्णायक अधिकार होने चाहिए।" विवेचना करें।

"The Indian Parliament being a popular and representative institution, and not the Supreme Court, should be empowered to decide the nature and meaning of Fundamental Rights." Discuss. (1978)

135 "कोई भी मौलिक अधिकार निरपेक्ष (सार्वभौमिक) नहीं है।" भारत के सन्दर्भ मे इस कथन की विवेचना कीजिए।

"No Fundamental right is absolute" Discuss this statement in context of India. (1977)

136 भारतीय संविधान मे वर्णित मौलिक अधिकारो का संक्षिप्त परीक्षण करें एव इस आलेख की सीमाओं को इंगित करें।

Briefly examine the Fundamental Rights in the Indian Constitution and identify the limitations on the scheme. (1977)

137 "सांविधानिक उपचारो का अधिकार (न्यायालयो द्वारा मौलिक अधिकारो की रक्षा के उपाय) सारे संविधान की आत्मा और दिल है।" इस कथन पर बहस कीजिए।

"The provision of Constitutional remedies is the heart and sound of the whole Constitution" (Dr. B.R. Ambedkar) Discuss.

138 भारतीय संविधान में निहित राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो के सांविधानिक तथा सामाजिक व राजनीतिक महत्त्व की विवेचना कीजिए।

Discuss the constitutional and socio-political significance of the Directive Principles of State Policy as embodied in the Indian Constitution. (1979)

अध्याय–13 (भारतीय राष्ट्रपति)

139 भारत के राष्ट्रपति का चुनाव कैसे होता है? राष्ट्रपति के चुनाव मे दलीय समर्थन की व्यवस्था और उससे सम्बन्धित आधारभूत प्रश्नों की व्याख्या कीजिए।

How is the President of India elected? Discuss the noture of party alignments and issues involved in the Presidential election.

140 भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों एव कार्यों का परीक्षण कीजिए।
Examine the process of amending the Indian Constitution. (1979)

141 भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियो की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
Critically examine the emergency powers of the Indian President. (1979)

142 भारत के राष्ट्रपति की शक्तियो का वर्णन कीजिए और उन अवस्थाओ की विवेचना कीजिए जिनमे यह शक्तिशाली बन सकता है।
Describe the powers of the Indian President and discuss the circumstances in which he can become powerful. (1976)

143 भारत के राष्ट्राध्यक्ष की चुनाव प्रणाली को स्पष्ट करते हुए भारत के राष्ट्राध्यक्ष पद के स्वरूप का परीक्षण कीजिए।

Explain the election process of the Indian President and examine the nature of presidency in India. (1976)

144 "भारत का राष्ट्रपति राजनीतिक व्यवस्था एवं राजनीतिक प्रक्रिया का अंग है।" (राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी)। इस वक्तव्य की समालोचना कीजिए।

"The President of India is a part of the political system and of the political process." (President N. Sanjiva Reddy). Comment (1979)

145 "भारत में आपातकालीन शक्तियों का पूर्णतया दुरुपयोग किया गया है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

Examine the statement that "the emergency powers have been thoroughly misused in India" (1979)

146 किन परिस्थितियों में राष्ट्रपति राज्यों में सांविधानिक संकट की घोषणा कर सकता है ? 1967 के पश्चात् से उसका सदुपयोग तथा दुरुपयोग उदाहरण देकर बताइए।

Mention the circumstances under which the President can declare breakdown of the constitutional machinery in the States Discuss with illustration the uses and misuses of this provision since 1967

147 "राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियाँ राष्ट्रपति के हाथ में भरी हुई बन्दूक की भाँति है जिसका उपयोग वह नागरिकों की स्वतन्त्रता के संरक्षण व विनाश दोनों ही के लिए कर सकता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

"The provision of the emergency powers leaves in the hands of the President a loaded gun which can be used both to protect and to destroy the liberty of the citizens" Explain

148 "भारतीय राष्ट्रपति राज्य का प्रभावशाली अध्यक्ष न होकर भारतीय एकता का प्रतीक है।" संक्षेप में राष्ट्रपति की शक्तियों तथा स्थिति को कानून तथा परम्पराओं द्वारा स्पष्ट कीजिए।

"The president is the symbol of India's oneness rather than an effective head of the State." Discuss briefly the powers and position of the Indian President as groverned both by law and conventions

अध्याय–14 (प्रधान मन्त्री और मन्त्रि-परिषद्)

149 "प्रधान मन्त्री वैधानिक महराब की धुरी है।" भारतीय प्रधान मन्त्री के सन्दर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिए।

"The Prime Minister ■ the keystone of the Constitutional Arch" Discuss the statement with reference to the Indian Prime Minister (1976)

150 "भारत का राष्ट्रपति सामान्य स्थिति में अशक्त कार्यपालक है, आपात्काल में भी वह शक्तिहीन शासक है, क्योंकि वास्तविक शक्तियाँ सदैव ही प्रधान मन्त्री में निहित हैं।" विवेचना कीजिए।

"The President of the India is a powerless executive during normal times; even in emergency, he is a powerless head, for the real power always belongs to the Prime Minister" Discuss. (1978)

151 भारत के प्रधान मन्त्री की शक्तियों एवं पद-स्थिति का परीक्षण कीजिए।

Examine the powers and position of the Prime Minister of India. (1979)

152 पिछले 25 वर्षों में भारतीय मन्त्रि-मण्डल के संगठन और कार्य-संचालन के प्रकाश में भारतीय मन्त्रि-मण्डल की प्रमुख विशेषताओं का परीक्षण कीजिए।

Examine the salient features of the Indian Cabinet in the light of its composition and working during the last 25 years (1979)

153 भारतीय संघ के मन्त्रि-परिषद् के गठन, शक्तियों, कार्यों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।

Describe the composition, functions and position of Indian Ur Council of Ministers.

154 भारतीय संघीय सरकार में प्रधान मन्त्री की स्थिति का वर्णन कीजिए। "क्या वह छोटे तारों में चमकते हुए चन्द्रमा के समान साथियों में सर्वोच्च है।" आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
Explain the position which the Prime Minister occupies in the Union Government. "Is he a shining moon along the lesser stars of the greatest among the equals" Discuss.

अध्याय–15 (भारतीय संसद्)

155 'लोक सभा' की शक्तियों का परीक्षण कीजिए तथा क्या यह सार्वभौम व्यवस्थापिका है, इसकी विवेचना कीजिए।
Examine the powers of the 'Lok Sabha' and discuss whether it is a sovereign legislature. (1979)

156 लोक सभा के सम्बन्ध की विवेचना निम्नलिखित से करें—
(अ) प्रधान मन्त्री तथा (ब) सर्वोच्च न्यायालय
Discuss the relations of the Lok Sabha with— (1978)
(a) The Prime Minister and (b) Tho Supreme Court.

157 भारतीय लोक सभा की रचना, उसकी शक्तियों तथा कार्यों का वर्णन कीजिए। क्या यह एक सम्प्रभु संस्था है ?
Describe the composition, powers and functions of Indian Lok Sabha. Is it a sovereign body ? (1979)

158 राज्यसभा के संगठन तथा शक्तियों का विवेचन कीजिए, तथा इसके कार्य संचालन पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
Discuss the composition and powers of Rajyasabha, and write a critical note on its working. (1979)

159 पिछले आम चुनावों के उपरान्त राज्य सभा की कार्यवाही के विशेष सन्दर्भ में, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राज्यसभा की भूमिका की विवेचना कीजिए।
Discuss the role of the Rajya Sabha in the Indian political system with special reference to its activities since the last general election. (1979)

160 राज्य सभा की शक्तियों का परीक्षण करें एवं द्वितीय सदन के सन्दर्भ में उसकी भूमिका को इंगित करें।
Examine the powers of the Rajya Sabha and identify its role as a second chamber. (1978)

161 भारत की संघीय संसद् में विधि-निर्माण की प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
State in brief the process of law-making in the Union Parliament in India. (1977)

162 भारतीय संसद् में समिति व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिए।
Write a short essay on the Committee System in the Indian Parliament.

163 भारतीय लोक सभा के अध्यक्ष के कार्यों एवं शक्तियों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
Explain critically the functions and powers of Indian Lok Sabha's speaker.

164 आप स्थगन प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव प्रस्ताव, संकल्प तथा समापन प्रस्ताव के विषय में क्या जानते हैं ?
What do you now about Adjournment Motion, Motion of No-Confidence, Resolution and Closer Motions ?

अध्याय 16 (सर्वोच्च न्यायालय)

164 "भारत का सर्वोच्च न्यायालय विश्व के अन्य किसी संघात्मक शासन के सर्वोच्च न्यायालय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।" भारत तथा अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय की तुलना करते हुए इस कथन की सत्यता प्रकट कीजिए।

165 उच्चतम न्यायालय के संगठन का वर्णन कीजिए तथा संविधान की सुरक्षा एवं मूल अधिकारों के संरक्षण को ध्यान में रखते हुए उसके कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
Describe the composition of the Supreme Court and examine ite role, with special reference to the protection of the Constitution and guardianship of Fundamental Rights.

166 भारत में सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार एवं उसकी शक्तियों का मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate the jurisdiction and powers of the Supreme Court of India. (1979)

167 न्यायिक पुनरावलोकन' से आप क्या समझते हैं? भारत में न्यायिक पुनरावलोकन के स्वरूप, प्रयोग तथा उसकी स्थिति की व्याख्या कीजिए।
What do you mean by 'Judicial review'? Discuss the nature, scope and practice of Judicial review in India.

168 "संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था संविधान की आत्मा तथा हृदय है" (डॉ. बी आर. अम्बेडकर)। इस कथन का विवेचन भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका कि वह कैसे 'संविधान के अभिभावक तथा नागरिक अधिकारों के संरक्षक हैं' के सन्दर्भ में कीजिए।
"The provision of Constitutional remedies is the heart and soul of the whole Constitution." (Dr B R. Ambedkar). Discuss it with reference to the role of the Supreme Court of India as "guardian of the Constitution and the protector of the rights of the citizens." (1979)

अध्याय 17 (संशोधन एवं संशोधन प्रक्रिया)

169 भारतीय संविधान में संशोधन पद्धति का परीक्षण करें।
Examine the method of amending the Indian Constitution. (1978, 1979)

170 भारतीय संविधान में अब तक जो संशोधन हुए हैं, उनका संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
Describe briefly the amendments made so far in the Indian Constitution.

171 42वें संविधानिक संशोधन के सन्दर्भ में निम्नलिखित वक्तव्यों में से किसी एक पर अपने विचार प्रकट कीजिए—
(अ) "जिस समय संसद् द्वारा यह विधेयक स्वीकार कर लिया जाएगा वह संसद् के इतिहास में सबसे अधिक सुन्दर काल होगा।" (श्री गोखले)
(ब) "यह अत्यधिक अन्धकारमय समय है।" (शिब्बन लाल सक्सेना)
Comment on one of the following statements with regard to the 42nd Constitutional Amendment—
(a) When this amendment is passed it will be the finest hour in the history of Parliament." (Gokhle)
(b) "It is the darkest hour." (Shibban Lal Saxena) (1977)

172 संविधान के 44वें संशोधन द्वारा लाए गए परिवर्तनों को बताइए। इस संशोधन का मूल्यांकन कीजिए।

अध्याय 18, 19 व 20 (राज्यपाल, मुख्य मन्त्री, विधान मण्डल एवं न्यायाधीश)

173 "भारतीय संघ व्यवस्था के संरक्षण हेतु मनोनीत राज्यपाल पद अनिवार्य है।" विवेचना करें।
"A nominated Governor is essential for the preservation of the Indian Federal System." Discuss. (1978)

174 "राज्यपाल पद का स्वरूप, सम्बद्ध राज्य की राजनीति पर निर्भर है।" विवेचना कीजिए।
"The nature of the office of the Governor depends on the politics obtainable in the State." Discuss. (1977)

175 उन परिस्थितियों को स्पष्ट कीजिए जिनके फलस्वरूप राज्यपाल सशक्त एवं प्रभावी बन सकता है।
Explain the circumstances in which the Governor can become powerful and effective. *(1977)*

176 "यद्यपि राज्यपाल से यह आशा की जाती थी कि वह राज्य की राजनीति में विलग्न रहेगा लेकिन वास्तव में इस सिद्धान्त का उल्लंघन किया गया है।" टिप्पणी कीजिए। *(1979)*
"Though it was expected that the Governor would remain neutral in State Politics, yet in practice this principle has been violated." Comment

177 "सामान्य परिस्थिति में राज्यपाल सांविधानिक कार्यपालक होता है परन्तु सांविधानिक अव्यवस्था के वातावरण में वह शक्तिशाली एवं प्रभावी कार्यपालक बन सकता है।" विवेचना करें।
"In normal condition the Governor is a Constitutional Executive, but in the case of Constitutional crisis he can become a powerful and effective executive." Discuss. (1977, 1979)

178 भारत में राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति किस प्रकार होती है? उसकी शक्तियों, कार्यों व स्थिति का वर्णन कीजिए।
How is Governor of a State in India appointed? Describe his powers, functions and position. *(1976)*

179 इस मत का परीक्षण कीजिए कि सांविधानिक संकट की स्थिति में ही राज्यपाल का पद उभरता है।
Examine the view that it is in a Constitutional crisis that the office of the Governor emerges (1979)

180 राज्यों की राजनीति में गवर्नर के स्थान के सम्बन्ध में उत्पन्न प्रश्नों की विवेचना 1967-71 के अनुभव के विशेष सन्दर्भ में कीजिए।
Discuss the important issues that have arisen in regard to the position of the Governor in State politics with particular reference to experience during 1967-1971.

181 "राज्यपाल अपने मन्त्रियों के परामर्श के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

182 भारतीय राज्य के मुख्य मन्त्री की शक्तियों एवं भूमिका का परीक्षण कीजिए।
Examine the powers and role of Chief Minister of State in India.

183 "राज्यपाल केवल मुख्य मन्त्री का मुखिया नहीं है, उसे संविधान को सुरक्षित रखना है।" इस कथन के प्रकाश में राज्यपाल तथा मुख्य मन्त्री के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
"The Governor is not merely a mouthpiece of the Chief Minister, he is to safeguard Constitution." In the light of this statement discuss the relationship between the Governor and the Chief Minister.

184 "कुछ वर्षों तक राज्यपाल पद नगण्य व्यावहारिक महत्त्व का था, किन्तु राजनीतिक वातावरण में परिवर्तन के फलस्वरूप, राज्यपाल पद का महत्त्व बढ़ गया है।" उचित उदाहरणों सहित इस कथन को स्पष्ट करें।
"The Office of the Governor, for some years, was indeed of little practical importance; but with the change of political environment the Governor's Office has become significant" Give suitable examples and explain the relevance of the statement (1978)

185 राज्य विधान-मण्डल की रचना, कार्यों और अधिकारों पर प्रकाश डालिए।

186 राज्य न्यायपालिका के संगठन और अधिकारों पर प्रकाश डालिए।

अध्याय 21 (भारतीय राजनीति का स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्व)

187 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख निर्धारक तत्त्वों को इंगित करें एवं उनके महत्त्व का परीक्षण कीजिए।
Identify the major determinants of Indian Political System and evaluate their significance (1979)

188 आज भारत में जाति और राजनीति के मध्य अन्त:क्रिया का परीक्षण कीजिए।
Examine the inter-action between caste and politics in India today (1979)

189 राज्य राजनीति में निम्नलिखित में से केवल एक की भूमिका को स्पष्ट कीजिए—
(अ) क्षेत्रवाद (ब) राजनीतिक दल-बदल (स) संयुक्त दलीय (कोएलीशन) राजनीति।
Explain the role of any one of the following in State Politics— (1979)
(a) Regionalism (b) Political Defection. (c) Coalition Politics

190 1964 से पूर्व और पश्चात् की भारतीय राजनीति की विशेषताओं की तुलना कीजिए।
Compare the features of Indian Politics before and after 1964. (1976)

191 1950 से भारतीय राजनीति में विरोध की भूमिका समझाइए।
Discuss the role of opposition in Indian Politics since 1950 (1976)

192 नेहरू और इन्दिरा गाँधी कालों की भारतीय राजनीति की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
Describe the main achievements of the Indian Politics in Nehru and Indira Gandhi period. (1976)

अध्याय 22 (राज्य राजनीति)

193 भारत में राज्य राजनीति के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण कीजिए।
Examine the main characteristics of State Politics in India. (1979)

194 भारत में राज्य राजनीति के प्रमुख निर्धारक तत्त्वों को इंगित करें एवं उनका मूल्यांकन करें।
Identify the major determinants of State Politics in India and add an evaluation. (1979)

195 भारत में राज्य राजनीति की प्रमुख चुनौतियों को इंगित करें एवं समस्या के निवारण के सुझाव दें।
Identify the major challenges to State Politics in India and suggest remedial measures. (1977)

196 राज्य राजनीति पर निम्नलिखित में से केवल एक के प्रभाव का परीक्षण करें—
(अ) एकदलीय प्रधान व्यवस्था (ब) प्रधान दलीय व्यवस्था।
Examine the impact of any one of the following—
(a) One party dominance system. (b) Dominant party system. (1977)

अध्याय 23 (दलीय व्यवस्था एवं दबाव समूह)

197 भारत की राजनीतिक प्रक्रिया मे दल व्यवस्था की भूमिका का परीक्षण करें।
Identify the role of Party system in the political process of India.

198 'राजनीतिक दल-बदल' प्रवृत्ति के कारणों की आलोचनात्मक समीक्षा करें। राजनीतिक दल-बदल प्रवृत्ति ने भारत मे राज्य राजनीति की प्रक्रिया को किस प्रकार प्रभावित किया है ?
Critically examine the causes resulting in 'Political Defection'. How has political defection affected the working of State Politics in India? (1978)

199 1977 के पश्चात् भारत मे दल-व्यवस्था के स्वरूप एव लक्षणो का परीक्षण कीजिए।
Examine the nature and characteristics of party-system in India after 1977. (1979)

200 1967 से पूर्व भारत में दल-व्यवस्था के स्वरूप एव लक्षणो का परीक्षण कीजिए।
Examine the nature and characteristics of the party system in India before 1967.

201 भारतीय राजनीति मे प्रादेशिक दलो की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate the role of regional parties in Indian politics. (1979)

202 जनता पार्टी के उदय, विकास और उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

203 जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावो के सन्दर्भ में जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र का मूल्यांकन कीजिए।

204 इन्दिरा कांग्रेस के जनवरी, 1980 के चुनावो के सन्दर्भ में चुनाव घोषणा-पत्र का मूल्यांकन कीजिए।

205 भारत में एकदलीय प्रभुत्व के कारणो का परीक्षण कीजिए तथा राज्यो की राजनीति से उसके परिणामो को बताइए।
Examine the reasons of one party dominance in India and point out its consequences with regard to State Politics in India

206 "विरोधी दल की अनुपस्थिति में राज्यो मे एक स्वस्थ ससदीय सरकार सम्भव नहीं है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? उन कारणो का वर्णन कीजिए, जिनकी वजह से एक सशक्त विरोधी दल का विकास नही हो सका है ?
"Healthy Parliamentary system of Government in the State is not possible in the absence of opposition party." Do you agree with this view? Discuss the factors which have not allowed the development of strong opposition

207 भारत की एक दल-प्राधान्य पद्धति के लक्षण तथा प्रकृति का वर्णन कीजिए।
Discuss the nature and attributes of one-party dominant system in India

208 भारत के प्रमुख राजनीतिक दलो के सगठन, कार्य-पद्धति एव प्रभाव का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
Describe critically the composition, working method and influence of the chief political parties of India.

209 चौथे आम चुनाव के पश्चात् दल-परिवर्तन के स्वरूप तथा प्रकारो की विवेचना कीजिए। आपके विचार में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में इसका क्या प्रभाव पड रहा है ? इस स्थिति को सुधारने के लिए आप क्या सुझाव देंगे।
Examine the nature and types of defections in the post IV General Election period. What according to you is its impact on the Indian Political System ? What measures would you suggest to the situation ?

210 एकदलीय प्रधान व्यवस्था से आप क्या समझते है ? 1947 से 1967 तक क्या लक्षण थे, और लोकसभा के चुनाव (1971) के बाद उनके लक्षणो मे क्या अन्तर आया ?
What do you understand by one party dominant system ? Bring out its characteristics in India from 1947 to 1967 and distinguish them from its features in the post Loksabha Elections (1971) period.

211 कांग्रेस में श्रीमती इन्दिरा गांधी की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
Examine the role of Smt. Indira Gandhi in Congress.

212 राजनीतिक दलों और दबाव समूहों मे क्या भेद है ? आज की भारतीय राजनीति में दबाव समूहो की क्या भूमिका है ?
Destinguish between political parties and pressure groups. Describe the role of pressure groups in Indian politics today. (1979)

213 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव समूहो के प्रभाव की विवेचना कीजिए। (1977)
Discuss the impact of pressure groups on the Indian political system

214 दबाव समूहो के प्रमुख लक्षणों तथा उनकी कार्यविधियो का वर्णन कीजिए।
Describe the main distinguishing features of pressure groups and their techniques. (1976)

अध्याय 24 (चुनाव व्यवस्था, चुनाव और मतदान व्यवहार)

215 भारत के राजनीतिक विकास मे चुनाव की भूमिका को 1967 के सामान्य चुनाव और पिछली लोकसभा और एसेम्बली के चुनावो के सन्दर्भ मे उद्धृत कीजिए।
Discuss the role of elections in India's political development and illustrate your answer with 1967 General Elections and the last Loksabha and Assembly Elections.

216 भारत में 1972 के राज्य की विधान-सभाओ के चुनाव के मुख्य लक्षणो पर चर्चा कीजिए। राज्यो मे कांग्रेस का प्रभुत्व दुबारा किन कारणो से स्थापित हो गया ?
Discuss the main features of 1972 State Assembly Elections in India. What factors contributed to the restoration of Congress heremony in the State ?

217 भारत मे जून, 1977 के राज्य विधान-सभाओ के चुनावो का परीक्षण कीजिए। राज्यो मे जनता पार्टी का प्रभुत्व किन कारणो से स्थापित हो गया ?
Examine the Assembly Elections of June, 1977. What factors were responsible for dominance of the Janta Party in States?

218 मार्च, 1977 के छठे लोकसभायी चुनावो का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। कांग्रेस के पतन के लिए क्या कारण उत्तरदायी थे ?
Critically examine the general elections of the Sixth Loksabha in March, 1977 What were the causes of the downfall of Congress ?

219 छठी लोकसभा निर्वाचनों के महत्त्व को संक्षेप मे स्पष्ट कीजिए।
Discuss the importance of 6th Lok Sabha Elections in brief,

220 भारतीय चुनाव-व्यवस्था की प्रमुख सीमाओं की विवेचना कीजिए तथा उनके सुधार के लिए सुझाव दीजिए।
Discuss some of the major limitations of the Electoral System in India and suggest remedial measures

221 "भारतीय चुनाव व्यवस्था की सीमाएँ मूलतः भारतीय राजनीतिक दल व्यवस्था की सीमाएँ हैं।" विवेचना करें।
"The limitations of India's electoral system are mainly the limitations of the political party system." Discuss. *(1978)*

222 भारत की चुनाव व्यवस्था की सीमाओं को इंगित करें एवं निदान स्वरूप सुझाव दें।
Identify some major limitations of the Electoral system in India and suggest remedial measures (1977)

223 *भारत के राजनीतिक विकास की प्रक्रिया में, चुनावों एवं मतदान व्यवहार की भूमिका की* समीक्षा कीजिए।
Give an assessment *of the role of elections and electoral behaviour in the* process of political development in India. (1977)

224 *भारत में मताचार को प्रभावित करने वाले तत्वों का परीक्षण करें।* *(1979)*
Examine the factors which influence the voting behaviour in India.

225 "*मतदान आचरण परम्परा और आधुनिकता के मध्य एक द्वन्द्व समझा जाना चाहिए।*" राजस्थान सम्बन्धी कुछ विशिष्ट निर्वाचन-अध्ययनों का हवाला देते हुए इस कथन का परीक्षण कीजिए।
"Voting behaviour is to be treated as a dialogue between tradition and modernity." Examine this statement with reference to some specific election studies relating to Rajasthan. (1979)

226 1971 तथा 1977 के लोकसभा के चुनाव की उनके स्वरूप, जनता के सम्मुख रखे गए मसलों और उसके राजनीतिक महत्त्व के सन्दर्भ में तुलना कीजिए।
Compare 1971 and 1977 elections to the Loksabha in context of their nature, issues before the electorate and their political significance.

227 'भारत में आम चुनाव' पर एक निबन्ध लिखिए।
Write an essay on 'The General Elections of India'.

228 मतदाता का व्यवहार किन बातों से निर्धारित होता है ? 1971 और 1977 के आम चुनाव से उदाहरण देकर समझाइए।
What are the determinants of voting behaviour ? Illustrate it with 1971 and *1977* General Elections in India.

229 निर्वाचन आयोग के सगठन, कार्यों और उसकी शक्तियों का वर्णन कीजिए।

अध्याय 25 (भारतीय विदेश-नीति)

230 भारत की विदेश-नीति के निर्धारक तत्त्व क्या हैं ? 1947 के बाद से उसके विकास के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

231 "भारत की निरपेक्षता नीति के फलस्वरूप भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को लाभ हुआ है।" इसका विवेचन करें।
"The Indian political system has gained owing to Indian policy of non-alignment." Discuss. (1979)

232 भारत की 'असंलग्नता' की नीति का संक्षेप में वर्णन कीजिए। क्या भारत-रूस सन्धि(*1971*) ने इस पर प्रभाव डाला है ? तर्क दीजिए।
Discuss in brief Indian policy of non-alignment. *Has it been influenced* by Indo-Soviet Treaty (1971) ? Advance arguments. (1977)

233 1970-76 की अवधि में संयुक्त राज्य अमेरिका एवं रूस के प्रति भारतीय विदेश-नीति का परीक्षण करें।
Examine India's foreign policy towards the U.S.A. and the U.S.S.R. during 1970-1976 (1977)

234 1962 से 1971 की अवधि में भारतीय विदेश-नीति की प्रमुख असफलताओं तथा उपलब्धियों को इंगित करें।
Identify the major limitations or achievements of India's foreign policy during 1962-1971. (1978)

235 भारत की विदेश-नीति के निर्धारक तत्व के रूप में असंलग्नता के औचित्य को इंगित कीजिए।
Identify the relevance of non-alignment as a determinant of India's foreign policy (1979)

236 1971-1976 की अवधि में पाकिस्तान एवं बंगलादेश के प्रति भारतीय विदेश-नीति का परीक्षण करें।
Examine India's foreign policy towards Pakistan and Bangladesh during 1971-1976. (1977)

237 विश्व शक्तियों के प्रति भारत की वैदेशिक नीतियों का विवेचन कीजिए।
Discuss India's foreign policy towards the world powers. (1979)

238 1962-1976 की अवधि में साम्यवादी चीन के प्रति भारतीय विदेश-नीति का परीक्षण करें।
Examine India's foreign policy towards Communist China during 1962-1976 (1978)

239 क्या भारत की विदेश-नीति तीव्रता से बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुकूल अपने आपको ढाल सकी है ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
Has the Indian foreign policy stood the test of a fast changing world order ? Give reasons in support of your answer.

240 भारत की विदेश-नीति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
Critically examine the Indian Foreign Policy.

241 1967 से भारत की विदेश-नीति का मूल्यांकन कीजिए।
Give an assessment of India's Foreign Policy since 1967.

242 1969 के बाद से 'महाशक्तियों' के प्रति भारत की जो नीति रही है उसकी मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
Discuss the main features of India's Foreign Policy towards the Super Powers since 1969.

अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न एवं टिप्पणियाँ

243 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए—
(अ) द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त, (ब) द्वैध-शासन प्रणाली, (स) लोक सभा का स्पीकर, (द) दबाव समूह।
Write short notes on any two of the following— (1976)
(a) Two-Nation Theory, (b) Dyarchy, (c) The Speaker of Lok Sabha, (d) Pressure Groups.

244 निम्नलिखित में से केवल एक के विचारों एवं योगदान का परीक्षण करें—
(अ) दादाभाई नौरोजी, (ब) महादेव गोविन्द रानाडे, (स) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, (द) गोपाल कृष्ण गोखले।
Examine the ideas and contribution of any one of the following—
(a) Dadabhai Nauroji, (b) Mahadev Govind Ranade, (c) Surendra Nath Banerji, (d) Gopal Krishna Gokhale. (1978)

245 किन्ही दो पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
(अ) राष्ट्रीय आन्दोलन की विरासत (ब) छठी लोकसभा निर्वाचन (स) राष्ट्रपति कार्टर की भारत यात्रा (द) छठी लोकसभा निर्वाचनों के उपरान्त भारत के पाकिस्तान तथा चीन के साथ सम्बन्ध (य) भारतीय राजनीति में 'दबाव समूह'।
Write short notes on any two of the following— (1978)
(a) Legacy of National Movement. (b) Sixth Lok Sabha Elections. (c) President Carter's visit to India. (d) India's relations with Pakistan and China after VI Lok Sabha Elections. (e) Pressure Groups in Indian Politics.

246 क्या भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक समीक्षा के अधिकार का उचित प्रयोग किया है ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।
Has the Supreme Court of India properly used the power of Judicial Review ? Give arguments in support of your answer. (1979)

247 भारत में 1935 से 1947 तक हुए स्वतन्त्रता आन्दोलन का वर्णन कीजिए। (1976)
Give an account of the freedom movement in India from 1935 to 1947

248 1950 के पश्चात् से भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।
Discuss the Centre-State relations in India since 1950. (1976)

249 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए—
(अ) गाँधी-इरविन-पैक्ट 1931, (ब) कांग्रेस-लीग-योजना 1916, (स) भारत सचिव, (द) जलियांवाला बाग दुर्घटना, 1919.
Write notes on any two of the following—
(a) Gandi-Irwin Pact 1931, (b) Congress-League-Scheme 1916, (c) Secretary of State for India, (d) Jallianwala Bagh Tragedy, 1919.

250 निम्नलिखित में से किन्ही दो पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
(अ) भारत का सर्वोच्च न्यायालय, (ब) भारतीय साम्यवादी दल (सी पी.आई.), (स) मुख्य मन्त्री का पद, (द) लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियाँ व स्थिति।
Write short notes on any two of the following—
(a) Supreme Court of India, (b) The Communist Party of India (C P.I.), (c) The Office of the Chief Minister, (d) Powers and position of the Speaker of Lok Sabha. (1975)

251 राजनीतिक व्यवस्था से क्या तात्पर्य है ? भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के मूल तत्वों की विवेचना कीजिए।
What do you mean by a political system ? What are the main ingredients of the Indian political system ? (1979)

252 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में वित्त आयोग की भूमिका का विवेचन कीजिए। (1979)
Discuss the role of the Finance Commission in the Indian Political System.

253 निम्न में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिए—
(अ) योजना आयोग, (ब) संविधान-सभा, (स) राष्ट्रीय विकास सभा, (द) सुप्रीम कोर्ट (उच्चतम न्यायालय)।
Write short notes on any two of the following— (1979)
(a) Planning Commission, (b) The Constituent Assembly, (c) National Development Council, (d) Supreme Court.